अध्याय सत्रह



श्रद्धा के विभाग

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

अर्जुनःउवाच—अर्जुन ने कहा; ये—जो; शास्त्र-विधिम्—शास्त्रों के विधान को; उत्सृज्य—त्यागकर; यजन्ते—पूजा करते हैं; श्रद्धया—पूर्ण श्रद्धा से; अन्वितः—युक्त; तेषाम्—उनकी; निष्ठा—श्रद्धा; तु—लेकिन; का—कौनसी; कृष्ण—हे कृष्ण; सत्त्वम्—सतोगुणी; आहो—अथवा अन्य; रजः—रजोगुणी; तमः—तमोगुणी।

अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण! जो लोग शास्त्र के नियमों का पालन न करके अपनी कल्पना के अनुसार पूजा करते हैं, उनकी स्थिति कौन सी है? वे सतोगुणी हैं, रजोगुणी हैं या तमोगुणी?

तात्पर्य : चतुर्थ अध्याय के उन्तालीसवें श्लोक में कहा गया है कि किसी विशेष प्रकार की पूजा में निष्ठावान् व्यक्ति क्रमशः ज्ञान की अवस्था को प्राप्त होता है और शान्ति

तथा सम्यग्रता की सर्वोच्च सिद्धावस्था तक पहुँचता है। सोलहवें अध्याय में यह निष्कर्ष निकलता है कि जो शास्त्रों के नियमों का पालन नहीं करता, वह असुर है और जो निष्ठापूर्वक इन नियमों का पालन करता है, वह देव है। अब यदि कोई ऐसा निष्ठावान व्यक्ति हो, जो ऐसे कतिपय नियमों का पालन करता हो, जिनका शास्त्रों में उल्लेख न हो, तो उसकी स्थिति क्या होगी? अर्जुन के इस सन्देह का स्पष्टीकरण कृष्ण द्वारा होना है। क्या वे लोग जो किसी व्यक्ति को चुनकर उस पर किसी भगवान् के रूप में श्रद्धा दिखाते हैं, सतो, रजो या तमोगुण में पूजा करते हैं? क्या ऐसे व्यक्तियों को जीवन की सिद्धावस्था प्राप्त हो पाती है? क्या वे वास्तविक ज्ञान प्राप्त करके उच्चतम सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो पाते हैं? जो लोग शास्त्रों के विधि-विधानों का पालन नहीं करते, किन्तु जिनकी किसी पर श्रद्धा होती है और जो देवी, देवताओं तथा मनुष्यों की पूजा करते हैं, क्या उन्हें सफलता प्राप्त होती है? अर्जुन इन प्रश्नों को श्रीकृष्ण से पूछ रहा है।

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥२॥

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; त्रि-विधा—तीन प्रकार की; भवति—होती है; श्रद्धा—श्रद्धा; देहिनाम्—देहधारियों की; सा—वह; स्व-भाव-जा—प्रकृति के गुण के अनुसार; सात्त्विकी—सतोगुणी; राजसी—रजोगुणी; च—भी; एव—निश्चय ही; तामसी—तमोगुणी; च—तथा; इति—इस प्रकार; ताम्—उसको; शृणु—मुझसे सुनो।

भगवान् ने कहा—देहधारी जीव द्वारा अर्जित गुणों के अनुसार उसकी श्रद्धा तीन प्रकार की हो सकती है—सतोगुणी, रजोगुणी अथवा तमोगुणी। अब इसके विषय में मुझसे सुनो।

तात्पर्य: जो लोग शास्त्रों के विधि-विधानों को जानते हैं, लेकिन आलस्य या कार्यविमुखतावश इनका पालन नहीं करते, वे प्रकृति के गुणों द्वारा शासित होते हैं। वे अपने सतोगुणी, रजोगुणी या तमोगुणी पूर्वकर्मों के अनुसार एक विशेष प्रकार का स्वभाव प्राप्त करते हैं। विभिन्न गुणों के साथ जीव की संगति शाश्वत चलती रही है। चूँकि जीव प्रकृति के संसर्ग में रहता है, अतएव वह प्रकृति के गुणों के अनुसार ही विभिन्न प्रकार की मनोवृत्तियाँ अर्जित करता है। लेकिन यदि कोई प्रामाणिक गुरु की संगति करता है और उसके तथा शास्त्रों के विधि-विधानों का पालन करता है, तो उसकी यह मनोवृत्ति बदल सकती है। वह क्रमशः अपनी स्थिति तमोगुण से सतोगुण या रजोगुण से सतोगुण में परिवर्तित कर सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति के किसी गुण विशेष में अंधविश्वास करने से ही व्यक्ति सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। उसे प्रामाणिक गुरु की संगति में रहकर बुद्धिपूर्वक बातों पर विचार करना होता है। तभी वह उच्चतर गुण की स्थिति को प्राप्त हो सकता है।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥३॥

सत्त्व-अनुरूपा–अस्तित्व के अनुसार; सर्वस्य–सवों की; श्रद्धा–श्रद्धा, निष्ठा; भवति–हो जाती है; भारत–हे भरतपुत्र; श्रद्धा–श्रद्धा; मयः–से युक्त; अयम्–यह; पुरुषः–जीवात्मा; यः–जो; यत्–जिसके होने से; श्रद्धः–श्रद्धा; सः–इस प्रकार; एव–निश्चय ही; सः–वह।

हे भरतपुत्र! विभिन्न गुणों के अन्तर्गत अपने अपने अस्तित्व के अनुसार मनुष्य एक विशेष प्रकार की श्रद्धा विकसित करता है। अपने द्वारा अर्जित गुणों के अनुसार ही जीव को विशेष श्रद्धा से युक्त कहा जाता है।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति में चाहे वह जैसा भी हो, एक विशेप प्रकार की श्रद्धा पाई जाती है। लेकिन उसके द्वारा अर्जित स्वभाच के अनुसार उसकी श्रद्धा उत्तम (सतोगुणी), राजस (रजोगुणी) अथवा तामसी कहलाती है। इस प्रकार अपनी विशेष प्रकार की श्रद्धा के अनुसार ही वह कतिपय लोगों से संगति करता है। अव वास्तविक तथ्य तो यह है कि, जैसा पंद्रहवें अध्याय में कहा गया है, प्रत्येक जीव परमेश्वर का अंश है, अतएव वह मूलतः इन समस्त गुणों से परे होता है। लेकिन जव वह भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाता है और वद्ध जीवन में भौतिक प्रकृति के संसर्ग में आता है, तो वह विभिन्न प्रकार की प्रकृति के साथ संगति करके अपना स्थान वनाता है। इस प्रकार से प्राप्त कृत्रिम श्रद्धा तथा अस्तित्व मात्र भौतिक होते हैं। भले ही कोई किसी धारणा या देहात्मवोध द्वारा प्रेरित हो, लेकिन मूलतः वह निर्गुण या दिव्य होता है। अतएव भगवान् के साथ अपना सम्वन्ध फिर से प्राप्त करने के लिए उसे भौतिक कल्मप से शुद्ध होना पड़ता है। यही एकमात्र मार्ग है, निर्भय होकर कृष्णभावनामृत में लौटने का। यदि कोई कृष्णभावनामृत में स्थित हो, तो उसका सिद्धि प्राप्त करने के लिए वह मार्ग प्रशस्त हो जाता है। यदि वह आत्म-साक्षात्कार के इस पथ को ग्रहण नहीं करता, तो वह निश्चित रूप से प्रकृति के गुणों के साथ वह जाता है।

इस श्लोक में *श्रद्धा* शव्द अत्यन्त सार्थक है। श्रद्धा मूलतः सतोगुण से उत्पन्न होती है। मनुष्य की श्रद्धा किसी देवता, किसी कृत्रिम ईश्वर या मनोधर्म में हो सकती है लेकिन प्रवल श्रद्धा सात्त्विक कार्यो से उत्पन्न होती है। किन्तु भौतिक वद्धजीवन में कोई भी कार्य पूर्णतया शुद्ध नहीं होता। वे सव मिश्रित होते हैं। वे शुद्ध सात्त्विक नहीं होते। शुद्ध सत्त्व दिव्य होता है, शुद्ध सत्त्व में रहकर मनुष्य भगवान् के वास्तविक स्वभाव को समझ सकता है। जव तक श्रद्धा पूर्णतया सात्त्विक नहीं होती, तव तक वह प्रकृति के किसी भी गुण से दूपित हो सकती है। प्रकृति के दूपित गुण हृदय तक फैल जाते हैं, अतएव किसी विशेप गुण के सम्पर्क में रहकर हृदय जिस स्थिति में होता है, उसी के अनुसार श्रद्धा स्थापित होती है। यह समझना चाहिए कि यदि किसी का हृदय सतोगुण में स्थित है, तो उसकी श्रद्धा भी सतोगुणी है। यदि हृदय रजोगुण में स्थित है, तो उसकी श्रद्धा रजोगुणी है और यदि हृदय तमोगुण में स्थित है तो उसकी श्रद्धा तमोगुणी होती है। इस प्रकार हमें संसार में विभिन्न प्रकार की श्रद्धाएँ मिलती हैं और विभिन्न प्रकार

की श्रद्धाओं के अनुसार विभिन्न प्रकार के धर्म होते हैं। धार्मिक श्रद्धा का असली सिद्धान्त सतोगुण में स्थित होता है। लेकिन चूँकि हृदय कलुषित रहता है, अतएव विभिन्न प्रकार के धार्मिक सिद्धान्त पाये जाते हैं। श्रद्धा की विभिन्नता के कारण ही पूजा भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ ४॥

यजन्ते—पूजते हैं; सात्त्विकाः—सतोगुण में स्थित लोग; देवान्—देवताओं को; यक्ष-रक्षांसि—असुरगण को, राजसाः—रजोगुण में स्थित लोग; प्रेतान्—मृतकों की आत्माओं को; भूत-गणान्—भूतों को; च—तथा; अन्ये—अन्य, यजन्ते—पूजते हैं, तामसाः—तमोगुण में स्थित; जनाः—लोग।

सतोगुणी व्यक्ति देवताओं को पूजते हैं, रजोगुणी यक्षों व राक्षसों की पूजा करते हैं और तमोगुणी व्यक्ति भूत-प्रेतों को पूजते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् विभिन्न बाह्य कर्मों के अनुसार पूजा करने वालों के प्रकार बता रहे हैं। शास्त्रों के आदेशानुसार केवल भगवान् ही पूजनीय हैं। लेकिन जो शास्त्रों के आदेशों से अभिज्ञ नहीं, या उन पर श्रद्धा नहीं रखते, वे अपनी गुण-स्थिति के अनुसार विभिन्न वस्तुओं की पूजा करते हैं। जो लोग सतोगुणी हैं, वे सामान्यतया देवताओं की पूजा करते हैं। इन देवताओं में ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवता, यथा इन्द्र, चन्द्र तथा सूर्य सम्मिलित हैं। देवता कई हैं। सतोगुणी लोग किसी विशेष अभिप्राय से किसी विशेष देवता की पूजा करते हैं। इसी प्रकार जो रजोगुणी हैं, वे यक्ष-राक्षसों की पूजा करते हैं। हमें स्मरण है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के समय कलकत्ता का एक व्यक्ति हिटलर की पूजा करता था, क्योंकि, भला हो उस युद्ध का, उसने उसमें काले धन्धे से प्रचुर धन संचित कर लिया था। इसी प्रकार जो रजोगुणी तथा तमोगुणी होते हैं, वे सामान्यतया किसी प्रबल मनुष्य को ईश्वर के रूप में चुन लेते हैं। वे सोचते हैं कि कोई भी व्यक्ति ईश्वर की तरह पूजा जा सकता है और फल एकसा होगा।

यहाँ पर इसका स्पष्ट वर्णन है कि रजोगुणी लोग ऐसे देवताओं की सृष्टि करके उन्हें पूजते हैं और जो तमोगुणी हैं—अंधकार में हैं—वे प्रेतों की पूजा करते हैं। कभी-कभी लोग किसी मृत प्राणी की कब्र पर पूजा करते हैं। मैथुन सेवा भी तमोगुणी मानी जाती है। इसी प्रकार भारत के सुदूर ग्रामों में भूतों की पूजा करने वाले हैं। हमने देखा है कि भारत के निम्नजाति के लोग कभी-कभी जंगल में जाते हैं और यदि उन्हें इसका पता चलता है कि कोई भूत किसी वृक्ष पर रहता है, तो वे उस वृक्ष की पूजा करते हैं और बलि चढ़ाते हैं। ये पूजा के विभिन्न प्रकार वास्तव में ईश्वर-पूजा नहीं हैं। ईश्वरपूजा तो सात्त्विक पुरुषों के लिए है। *श्रीमद्भागवत* में (४.३.२३) कहा गया है—*सत्त्वं विशुद्धं वसुदेव-शब्दितम्*—जब व्यक्ति सतोगुणी होता है, तो वह वासुदेव की पूजा करता है। तात्पर्य यह है कि जो लोग गुणों से पूर्णतया शुद्ध हो चुके हैं और दिव्य पद को प्राप्त हैं, वे ही भगवान् की पूजा कर सकते हैं।

निर्विशेषवादी सतोगुण में स्थित माने जाते हैं और वे पंचदेवताओं की

हैं। वे भौतिक जगत में निराकार विष्णु को पूजते हैं, जो सिद्धान्तीकृत विष्णु कहलाता है। विष्णु भगवान् के विस्तार हैं, लेकिन निर्विशेषवादी अन्ततः भगवान् में विश्वास न करने के कारण सोचते हैं कि विष्णु का स्वरूप निराकार ब्रह्म का दूसरा पक्ष है। इसी प्रकार वे यह मानते हैं कि ब्रह्माजी रजोगुण के निराकार रूप हैं। अतः वे कभी-कभी पाँच देवताओं का वर्णन करते हैं, जो पूज्य हैं। लेकिन चूँकि वे लोग निराकार ब्रह्म को ही वास्तविक सत्य मानते हैं, इसलिए वे अन्ततः समस्त पूज्य वस्तुओं को त्याग देते हैं। निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रकृति के विभिन्न गुणों को दिव्य प्रकृति वाले व्यक्तियों की संगति से शुद्ध किया जा सकता है।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥ ५॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ ६॥

अ-शास्त्र—जो शास्त्रों में नहीं है; **विहितम्**—निर्देशित; **घोरम्**—अन्यों के लिए हानिप्रद; **तप्यन्ते**—तप करते हैं; **ये**—जो लोग; **तपः**—तपस्या; **जनाः**—लोग; **दम्भ**—घमण्ड; **अहङ्कार**—तथा अहंकार से; **संयुक्ताः**—प्रवृत्त; **काम**—काम; **राग**—तथा आसक्ति का; **बल**—बलपूर्वक; **अन्विताः**—प्रेरित; **कर्षयन्तः**—कष्ट देते हुए; **शरीर-स्थम्**—शरीर के भीतर स्थित; **भूत-ग्रामम्**—भौतिक तत्त्वों का संयोग; **अचेतसः**—भ्रमित मनोवृत्ति वाले; **माम्**—मुझको; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **अन्तः**—भीतर; **शरीर-स्थम्**—शरीर में स्थित; **तान्**—उनको; **विद्धि**—जानो; **आसुर-निश्चयान्**—असुर।

जो लोग दम्भ तथा अहंकार से अभिभूत होकर शास्त्रविरुद्ध कठोर तपस्या और व्रत करते हैं, जो काम तथा आसक्ति द्वारा प्रेरित होते हैं जो मूर्ख हैं तथा जो शरीर के भौतिक तत्त्वों को तथा शरीर के भीतर स्थित परमात्मा को कष्ट पहुँचाते हैं, वे असुर कहे जाते हैं।

तात्पर्य : कुछ पुरुष ऐसे हैं जो ऐसी तपस्या की विधियों का निर्माण कर लेते हैं, जिनका वर्णन शास्त्रों में नहीं है। उदाहरणार्थ, किसी स्वार्थ के प्रयोजन से, यथा राजनीतिक कारणों से उपवास करना शास्त्रों में वर्णित नहीं है। शास्त्रों में तो आध्यात्मिक उन्नति के लिए उपवास करने की संस्तुति है, किसी राजनीतिक या सामाजिक उद्देश्य के लिए नहीं। *भगवद्गीता* के अनुसार जो लोग ऐसी तपस्याएँ करते हैं वे निश्चित रूप से आसुरी हैं। उनके कार्य शास्त्रविरुद्ध हैं और सामान्य जनता के हित में नहीं हैं। वास्तव में वे लोग गर्व, अहंकार, काम तथा भौतिक भोग के प्रति आसक्ति के कारण ऐसा करते हैं। ऐसे कार्यों से न केवल शरीर के उन तत्त्वों को विक्षोभ होता है जिनसे शरीर बना है, अपितु शरीर के भीतर निवास कर रहे परमात्मा को भी कष्ट पहुँचता है। ऐसे अवैध उपवास से या किसी राजनीतिक उद्देश्य से की गई तपस्या आदि से निश्चय ही अन्य लोगों की शान्ति भंग होती है। उनका उल्लेख वैदिक साहित्य में नहीं है। आसुरी व्यक्ति सोचता है कि इस विधि से वह अपने शत्रु या विपक्षियों को अपनी इच्छा पूरी करने के लिए बाध्य कर सकता है, लेकिन कभी-कभी ऐसे उपवास से व्यक्ति की मृत्यु भी हो जाती

है। ये कार्य भगवान् द्वारा अनुमत नहीं हैं, वे कहते हैं कि जो इन कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, वे असुर हैं। ऐसे प्रदर्शन भगवान् के अपमानस्वरूप हैं, क्योंकि इन्हें वैदिक शास्त्रों के आदेशों का उल्लंघन करके किया जाता है। इस प्रसंग में *अचेतसः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। सामान्य मानसिक स्थिति वाले पुरुषों को शास्त्रों के आदेशों का पालन करना चाहिए। जो ऐसी स्थिति में नहीं हैं वे शास्त्रों की उपेक्षा तथा अवज्ञा करते हैं और तपस्या की अपनी विधि निर्मित कर लेते हैं। मनुष्य को सदैव आसुरी लोगों की चरम परिणति को स्मरण करना चाहिए, जैसा कि पिछले अध्याय में वर्णन किया गया है। भगवान् ऐसे लोगों को आसुरी व्यक्तियों के यहाँ जन्म लेने के लिए बाध्य करते हैं। फलस्वरूप वे भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को जाने बिना जन्मजन्मान्तर आसुरी जीवन में रहते हैं। किन्तु यदि ऐसे व्यक्ति इतने भाग्यशाली हुए कि कोई गुरु उनका मार्गदर्शन करके उन्हें वैदिक ज्ञान के मार्ग पर ले जा सके, तो वे इस भवबन्धन से छूट कर अन्ततोगत्वा परमगति को प्राप्त होते हैं।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥ ७॥

आहारः–भोजन, तु–निश्चय ही, अपि–भी, सर्वस्य–हर एक का; त्रि-विधः–तीन प्रकार का; भवति–होता है, प्रियः–प्यारा, यज्ञः–यज्ञ, तपः–तपस्या, तथा–और; दानम्–दान, तेषाम्–उनका, भेदम्–अन्तर, इमम्–यह, शृणु–सुनो।

यहाँ तक कि प्रत्येक व्यक्ति जो भोजन पसन्द करता है, वह भी प्रकृति के गुणों के अनुसार तीन प्रकार का होता है। यही बात यज्ञ, तपस्या तथा दान के लिए भी सत्य है। अब उनके भेदों के विषय में सुनो।

तात्पर्य : प्रकृति के भिन्न-भिन्न गुणों के अनुसार भोजन, यज्ञ, तपस्या और दान में भेद होते हैं। वे सब एक से नहीं होते। जो लोग यह समझ सकते हैं कि किस गुण में क्या क्या करना चाहिए, वे वास्तव में बुद्धिमान हैं। जो लोग सभी प्रकार के यज्ञ, भोजन या दान को एकसा मान कर उनमें अन्तर नहीं कर पाते, वे अज्ञानी हैं। ऐसे भी प्रचारक लोग हैं, जो यह कहते हैं कि मनुष्य जो चाहे वह कर सकता है और सिद्धि प्राप्त कर सकता है। लेकिन ये मूर्ख मार्गदर्शक शास्त्रों के आदेशानुसार कार्य नहीं करते। ये अपनी विधियाँ बनाते हैं और सामान्य जनता को भ्रान्त करते रहते हैं।

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ ८॥

आयुः–जीवन काल, सत्त्व–अस्तित्व, बल–बल, आरोग्य–स्वास्थ्य, सुख–सुख, प्रीति–तथा संतोष, विवर्धनाः–बढ़ाते हुए, रस्याः–रस से युक्त, स्निग्धाः–चिकना, स्थिराः–सहिष्णु, हृद्याः–हृदय को भाने वाले, आहाराः–भोजन, सात्त्विक–सतोगुणी, प्रियाः–अच्छे लगने वाले।

जो भोजन सात्त्विक व्यक्तियों को प्रिय होता है, वह आयु बढ़ाने वाला, जीवन को शुद्ध करने वाला तथा बल, स्वास्थ्य, सुख तथा तृप्ति प्रदान करने वाला होता है।

ऐसा भोजन रसमय, स्निग्ध, स्वास्थ्यप्रद तथा हृदय को भाने वाला होता है।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

कटु—कडुवे, तीते; **अम्ल**—खट्टे; **लवण**—नमकीन; **अति-उष्ण**—अत्यन्त गरम; **तीक्ष्ण**—चटपटे; **रूक्ष**—शुष्क; **विदाहिनः**—जलाने वाले; **आहाराः**—भोजन; **राजसस्य**—रजोगुणी के; **इष्टाः**—रुचिकर; **दुःख**—दुख; **शोक**—शोक; **आमय**—रोग; **प्रदाः**—उत्पन्न करने वाले।

अत्यधिक तिक्त, खट्टे, नमकीन, गरम, चटपटे, शुष्क तथा जलन उत्पन्न करने वाले भोजन रजोगुणी व्यक्तियों को प्रिय होते हैं। ऐसे भोजन दुख, शोक तथा रोग उत्पन्न करने वाले हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ १० ॥

यात-यामम्—भोजन करने से तीन घंटे पूर्व पकाया गया; **गत-रसम्**—स्वादरहित; **पूति**—दुर्गंधयुक्त; **पर्युषितम्**—विगड़ा हुआ; **च**—भी; **यत्**—जो; **उच्छिष्टम्**—अन्यों का जूठन; **अपि**—भी; **च**—तथा; **अमेध्यम्**—अस्पृश्य; **भोजनम्**—भोजन; **तामस**—तमोगुणी को; **प्रियम्**—प्रिय।

खाने से तीन घंटे पूर्व पकाया गया, स्वादहीन, वियोजित एवं सड़ा, जूठा तथा अस्पृश्य वस्तुओं से युक्त भोजन उन लोगों को प्रिय होता है, जो तामसी होते हैं।

तात्पर्य : आहार (भोजन) का उद्देश्य आयु को वढ़ाना, मस्तिष्क को शुद्ध करना तथा शरीर को शक्ति पहुँचाना है। इसका यही एकमात्र उद्देश्य है। प्राचीन काल में विद्वान पुरुष ऐसा भोजन चुनते थे, जो स्वास्थ्य तथा आयु को वढ़ाने वाला हो, यथा दूध के व्यंजन, चीनी, चावल, गेंहूँ, फल तथा तरकारियाँ। ये भोजन सतोगुणी व्यक्तियों को अत्यन्त प्रिय होते हैं। अन्य कुछ पदार्थ, जैसे भुना मक्का तथा गुड़ स्वयं रुचिकर न होते हुए भी दूध या अन्य पदार्थों के साथ मिलने पर स्वादिष्ट हो जाते हैं। तव वे सात्त्विक हो जाते हैं। ये सारे भोजन स्वभाव से ही शुद्ध हैं। ये मांस तथा मदिरा जैसे अस्पृश्य पदार्थों से सर्वथा भिन्न हैं। आठवें श्लोक में जिन स्निग्ध (चिकने) पदार्थों का उल्लेख है, उनका पशु-वध से प्राप्त चर्वी से कोई नाता नहीं होता। यह पशु चर्वी (वसा) दुग्ध के रूप में उपलव्ध है, जो समस्त भोजनों में परम चमत्कारी है। दुग्ध, मक्खन, पनीर तथा अन्य पदार्थो से जो पशु चर्वी मिलती है, उससे निर्दोप पशुओं के मारे जाने का प्रश्न नहीं उठता। यह केवल पाशविक मनोवृत्ति है, जिसके कारण पशुवध चल रहा है। आवश्यक चर्वी प्राप्त करने की सुसंस्कृत विधि दूध से है। पशुवध तो अमानवीय है। मटर, दाल, दलिया आदि से प्रचुर मात्रा में प्रोटीन उपलव्ध होता है।

जो राजस भोजन कटु, वहुत लवणीय या अत्यधिक गर्म, चरपरा होता है, वह आमाशय की श्लेष्मा को घटा कर रोग उत्पन्न करता है। तामसी भोजन अनिवार्यतः वासी होता है। खाने से तीन घंटे पूर्व वना कोई भी भोजन (भगवान् को अर्पित प्रसादम्

को छोड़कर) तामसी माना जाता है। बिगड़ने के कारण उससे दुर्गंध आती है, जिसमें तामसी लोग प्रायः आकृष्ट होते हैं, किन्तु सात्त्विक पुरुष उससे मुख मोड़ लेते हैं।

उच्छिष्ट (जूठा) भोजन उसी अवस्था में किया जा सकता है, जब वह उस भोजन का एक अंश हो जो भगवान् को अर्पित किया जा चुका हो, या कोई साधुपुरुष, विशेष रूप से गुरु द्वारा, ग्रहण किया जा चुका हो। अन्यथा ऐसा जूठा भोजन तामसी होता है और वह संदूषण या रोग को बढ़ाने वाला होता है। यद्यपि ऐसा भोजन तामसी लोगों को स्वादिष्ट लगता है, लेकिन सतोगुणी उसे न तो छूना पसन्द करते हैं, न खाना। सर्वोत्तम भोजन तो भगवान् को समर्पित भोजन का उच्छिष्ट है। *भगवद्गीता* में परमेश्वर कहते हैं कि वे तरकारियाँ, आटे तथा दूध की बनी वस्तुएँ भक्तिपूर्वक भेंट किये जाने पर स्वीकार करते हैं। *पत्रं पुष्पं फलं तोयम्*। निस्सन्देह भक्ति तथा प्रेम ही प्रमुख वस्तुएँ हैं, जिन्हें भगवान् स्वीकार करते हैं। लेकिन इसका भी उल्लेख है कि प्रसादम् को एक विशेष विधि से बनाया जाय। कोई भी भोजन, जो शास्त्रीय ढंग से तैयार किया जाता है और भगवान् को अर्पित किया जाता है, ग्रहण किया जा सकता है, भले ही वह कितने ही घंटे पूर्व क्यों न तैयार हुआ हो, क्योंकि ऐसा भोजन दिव्य होता है। अतएव भोजन को रोगाणुरोधक, खाद्य तथा सभी मनुष्यों के लिए रुचिकर बनाने के लिए सर्वप्रथम भगवान् को अर्पित करना चाहिए।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदिष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥११॥

अफल-आकाङ्क्षिभिः—फल की इच्छा से रहित; **यज्ञः**—यज्ञ; **विधि-दिष्टः**—शास्त्रों के निर्देशानुसार; **यः**—जो; **इज्यते**—सम्पन्न किया जाता है; **यष्टव्यम्**—सम्पन्न किया जाना चाहिए; **एव**—निश्चय ही; **इति**—इस प्रकार; **मनः**—मन में; **समाधाय**—स्थिर करके; **सः**—वह; **सात्त्विकः**—सतोगुणी।

यज्ञों में वही यज्ञ सात्त्विक होता है, जो शास्त्र के निर्देशानुसार कर्तव्य समझ कर उन लोगों के द्वारा किया जाता है, जो फल की इच्छा नहीं करते।

तात्पर्य : सामान्यतया यज्ञ किसी प्रयोजन से किया जाता है। लेकिन यहाँ पर बताया गया है कि यज्ञ बिना किसी इच्छा के सम्पन्न किया जाना चाहिए। इसे कर्तव्य समझ कर किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, मन्दिरों या गिरजाघरों में मनाये जाने वाले अनुष्ठान सामान्यतया भौतिक लाभ को दृष्टि में रख कर किये जाते हैं, लेकिन यह सतोगुण में नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि वह कर्तव्य मानकर मन्दिर या गिरजाघर में जाए, भगवान् को नमस्कार करे और फूल तथा प्रसाद चढ़ाए। प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि केवल ईश्वर की पूजा करने के लिए मन्दिर जाना व्यर्थ है। लेकिन शास्त्रों में आर्थिक लाभ के लिए पूजा करने का आदेश नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि केवल अर्चाविग्रह को नमस्कार करने जाए। इससे मनुष्य सतोगुण को प्राप्त होगा। प्रत्येक सभ्य नागरिक का कर्तव्य है कि वह शास्त्रों के आदेशों का पालन करे और भगवान् को नमस्कार करे।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥१२॥

अभिसन्धाय—इच्छा कर के; **तु**—लेकिन; **फलम्**—फल को; **दम्भ**—घमंड; **अर्थम्**—के लिए; **अपि**—भी; **च**—तथा; **एव**—निश्चय ही; **यत्**—जो; **इज्यते**—किया जाता है; **भरत-श्रेष्ठ**—हे भरतवंशियों में प्रमुख; **तम्**—उस; **यज्ञम्**—यज्ञ को; **विद्धि**—जानो; **राजसम्**—रजोगुणी।

लेकिन हे भरतश्रेष्ठ! जो यज्ञ किसी भौतिक लाभ के लिए या गर्ववश किया जाता है, उसे तुम राजसी जानो।

तात्पर्य : कभी-कभी स्वर्गलोक पहुँचने या किसी भौतिक लाभ के लिए यज्ञ तथा अनुष्ठान किये जाते हैं। ऐसे यज्ञ या अनुष्ठान राजसी माने जाते हैं।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥१३॥

विधि-हीनम्—शास्त्रीय निर्देश के विना; **असृष्ट-अन्नम्**—प्रसाद वितरण किये विना; **मन्त्र-हीनम्**—वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किये विना; **अदक्षिणम्**—पुरोहितों को दक्षिणा दिये विना; **श्रद्धा**—श्रद्धा; **विरहितम्**—विहीन; **यज्ञम्**—यज्ञ को; **तामसम्**—तामसी; **परिचक्षते**—माना जाता है।

जो यज्ञ शास्त्र के निर्देशों की अवहेलना करके, प्रसाद वितरण किये विना, वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किये विना, पुरोहितों को दक्षिणा दिये विना तथा श्रद्धा के विना सम्पन्न किया जाता है, वह तामसी माना जाता है।

तात्पर्य : तमोगुण में श्रद्धा वास्तव में अश्रद्धा है। कभी-कभी लोग किसी देवता की पूजा धन अर्जित करने के लिए करते हैं और फिर वे इस धन को शास्त्र के निर्देशों की अवहेलना करके मनोरंजन में व्यय करते हैं। ऐसे धार्मिक अनुष्ठानों को सात्त्विक नहीं माना जाता। ये तामसी होते हैं। इनसे तामसी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और मानव समाज को कोई लाभ नहीं पहुँचता।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥१४॥

देव—परमेश्वर; **द्विज**—ब्राह्मण; **गुरु**—गुरु; **प्राज्ञ**—तथा पूज्य व्यक्तियों की; **पूजनम्**—पूजा; **शौचम्**—पवित्रता; **आर्जवम्**—सरलता; **ब्रह्मचर्यम्**—ब्रह्मचर्य; **अहिंसा**—अहिंसा; **च**—भी; **शारीरम्**—शरीर सम्बन्धी; **तपः**—तपस्या; **उच्यते**—कहा जाता है।

परमेश्वर, ब्राह्मणों, गुरु, माता-पिता जैसे गुरुजनों की पूजा करना तथा पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा ही शारीरिक तपस्या है।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् तपस्या के भेद बताते हैं। सर्वप्रथम वे शारीरिक तपस्या का वर्णन करते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह ईश्वर या देवों, योग्य ब्राह्मणों, गुरु तथा माता-पिता जैसे गुरुजनों या वैदिक ज्ञान में पारंगत व्यक्ति को प्रणाम करे या प्रणाम करना

सीखे। इन सबका समुचित आदर करना चाहिए। उसे चाहिए कि आंतरिक तथा बाह्य रूप में अपने को शुद्ध करने का अभ्यास करे और आचरण में सरल बनना सीखे। वह कोई ऐसा कार्य न करे, जो शास्त्र-सम्मत न हो। वह वैवाहिक जीवन के अतिरिक्त मैथुन में रत न हो, क्योंकि शास्त्रों में केवल विवाह में ही मैथुन की अनुमति है, अन्यथा नहीं। यह ब्रह्मचर्य कहलाता है। ये सब शारीरिक तपस्याएँ हैं।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥१५॥

अनुद्वेग-करम्–क्षुब्ध न करने वाले; वाक्यम्–शब्द; सत्यम्–सच्चे, प्रिय–प्रिय; हितम्–लाभप्रद; च–भी; यत्–जो; स्वाध्याय–वैदिक अध्ययन का; अभ्यसनम्–अभ्यास; च–भी; एव–निश्चय ही, वाक्-मयम्–वाणी की; तपः–तपस्या, उच्यते–कही जाती है।

सच्चे, भाने वाले, हितकर तथा अन्यों को क्षुब्ध न करने वाले वाक्य बोलना और वैदिक साहित्य का नियमित पारायण करना–यही वाणी की तपस्या है।

तात्पर्य : मनुष्य को ऐसा नहीं बोलना चाहिए कि दूसरों के मन क्षुब्ध हो जाएँ। निस्सन्देह जब शिक्षक बोले तो वह अपने विद्यार्थियों को उपदेश देने के लिए सत्य बोल सकता है, लेकिन उसी शिक्षक को चाहिए कि यदि वह उनसे बोले जो उसके विद्यार्थी नहीं हैं, तो उनके मन को क्षुब्ध करने वाला सत्य न बोले। यही वाणी की तपस्या है। इसके अतिरिक्त प्रलाप (व्यर्थ की वार्ता) नहीं करना चाहिए। आध्यात्मिक क्षेत्रों मे बोलने की विधि यह है कि जो भी कहा जाय वह शास्त्र-सम्मत हो। उसे तुरन्त ही अपने कथन की पुष्टि के लिए शास्त्रों का प्रमाण देना चाहिए। इसके साथ-साथ वह बात सुनने में अति प्रिय लगनी चाहिए। ऐसी विवेचना से मनुष्य को सर्वोच्च लाभ और मानव समाज का उत्थान हो सकता है। वैदिक साहित्य का विपुल भण्डार है और इसका अध्ययन किया जाना चाहिए। यही वाणी की तपस्या कही जाती है।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥१६॥

मनः-प्रसादः–मन की तुष्टि; सौम्यत्वम्–अन्यों के प्रति कपट भाव से रहित; मौनम्–गम्भीरता, आत्म–अपना, विनिग्रहः–नियन्त्रण, संयम, भाव–स्वभाव का, संशुद्धिः–शुद्धीकरण, इति–इस प्रकार; एतत्–यह, तपः–तपस्या; मानसम्–मन की, उच्यते–कही जाती है।

तथा संतोष, सरलता, गम्भीरता, आत्म-संयम एवं जीवन की शुद्धि–ये मन की तपस्याएँ हैं।

तात्पर्य : मन को संयमित बनाने का अर्थ है, उसे इन्द्रियतृप्ति से विलग करना। उसे इस तरह प्रशिक्षित किया जाना चाहिए जिससे वह सदैव परोपकार के विषय में सोचे। मन के लिए सर्वोत्तम प्रशिक्षण विचारों की श्रेष्ठता है। मनुष्य को कृष्णभावनामृत से विचलित नहीं होना चाहिए और इन्द्रियभोग से सदैव बचना चाहिए। अपने स्वभाव को शुद्ध बनाना कृष्णभावनाभावित होना है। इन्द्रियभोग के विचारों से मन को अलग रख करके ही मन

की तुष्टि प्राप्त की जा सकती है। हम इन्द्रियभोग के बारे में जितना सोचते हैं, उतना ही मन अतृप्त होता जाता है। इस वर्तमान युग में हम मन को व्यर्थ ही अनेक प्रकार के इन्द्रियतृप्ति के साधनों में लगाये रखते हैं, जिससे मन संतुष्ट नहीं हो पाता। अतएव सर्वश्रेष्ठ विधि यही है कि मन को वैदिक साहित्य की ओर मोड़ा जाय, क्योंकि यह संतोष प्रदान करने वाली कहानियों से भरा है—यथा पुराण तथा महाभारत। कोई भी इस ज्ञान का लाभ उठा कर शुद्ध हो सकता है। मन को छल-कपट से मुक्त होना चाहिए और मनुष्य को सबके कल्याण (हित) के विषय में सोचना चाहिए। मौन (गम्भीरता) का अर्थ है कि मनुष्य निरन्तर आत्मसाक्षात्कार के विषय में सोचता रहे। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति पूर्ण मौन इस दृष्टि से धारण किये रहता है। *मन-निग्रह* का अर्थ है—मन को इन्द्रियभोग से पृथक् करना। मनुष्य को अपने व्यवहार में निष्कपट होना चाहिए और इस तरह उसे अपने जीवन (भाव) को शुद्ध बनाना चाहिए। ये सब गुण मन की तपस्या के अन्तर्गत आते हैं।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ १७॥

श्रद्धया—श्रद्धा समेत; **परया**—दिव्य; **तप्तम्**—किया गया; **तपः**—तप; **तत्**—वह; **त्रि-विधम्**—तीन प्रकार के; **नरैः**—मनुष्यों द्वारा; **अफल-आकाङ्क्षिभिः**—फल की इच्छा न करने वाले; **युक्तैः**—प्रवृत्त; **सात्त्विकम्**—सतोगुण में; **परिचक्षते**—कहा जाता है।

भौतिक लाभ की इच्छा न करने वाले तथा केवल परमेश्वर में प्रवृत्त मनुष्यों द्वारा दिव्य श्रद्धा से सम्पन्न यह तीन प्रकार की तपस्या सात्त्विक तपस्या कहलाती है।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥ १८॥

सत्-कार—आदर; **मान**—सम्मान; **पूजा**—तथा पूजा; **अर्थम्**—के लिए; **तपः**—तपस्या; **दम्भेन**—घमंड से; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **यत्**—जो; **क्रियते**—किया जाता है; **तत्**—वह; **इह**—इस संसार में; **प्रोक्तम्**—कहा जाता है; **राजसम्**—रजोगुणी; **चलम्**—चलायमान; **अध्रुवम्**—क्षणिक।

जो तपस्या दंभपूर्वक तथा सम्मान, सत्कार एवं पूजा कराने के लिए सम्पन्न की जाती है, वह राजसी (रजोगुणी) कहलाती है। यह न तो स्थायी होती है न शाश्वत।

तात्पर्य : कभी-कभी तपस्या इसलिए की जाती है कि लोग आकर्षित हों तथा उनसे सत्कार, सम्मान तथा पूजा मिल सके। रजोगुणी लोग अपने अधीनस्थों से पूजा करवाते हैं और उनसे चरण धुलवाकर धन चढ़वाते हैं। तपस्या करने के बहाने ऐसे कृत्रिम आयोजन राजसी माने जाते हैं। इनके फल क्षणिक होते हैं, वे कुछ समय तक रहते हैं। वे कभी स्थायी नहीं होते।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥ १९॥

मूढ–मूर्ख, ग्राहेण–प्रयत्न से; आत्मनः–अपने ही, यत्–जो; पीडया–उत्पीड़न द्वारा; क्रियते–की जाती है; तपः–तपस्या; परस्य–अन्यों को, उत्सादन-अर्थम्–विनाश करने के लिए, वा–अथवा, तत्–वह, तामसम्–तमोगुणी; उदाहृतम्–कही जाती है।

मूर्खतावश आत्म-उत्पीड़न के लिए या अन्यों को विनष्ट करने या हानि पहुँचाने के लिए जो तपस्या की जाती है, वह तामसी कहलाती है।

तात्पर्य : मूर्खतापूर्ण तपस्या के ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं, जैसे कि हिरण्यकशिपु जैसे असुरों ने अमर बनने तथा देवताओं का वध करने के लिए कठिन तप किए। उसने ब्रह्मा से ऐसी ही वस्तुएँ माँगी थीं, लेकिन अन्त में वह भगवान् द्वारा मारा गया। किसी असम्भव वस्तु के लिए तपस्या करना निश्चय ही तामसी तपस्या है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥२०॥

दातव्यम्–देने योग्य, इति–इस प्रकार, यत्–जो; दानम्–दान, दीयते–दिया जाता है, अनुपकारिणे–प्रत्युपकार की भावना के बिना, देशे–उचित स्थान में, काले–उचित समय में; च–भी, पात्रे–उपयुक्त व्यक्ति को, च–तथा, तत्–वह; दानम्–दान, सात्त्विकम्–सतोगुणी, सात्त्विक, स्मृतम्–माना जाता है।

जो दान कर्तव्य समझकर, किसी प्रत्युपकार की आशा के बिना, समुचित काल तथा स्थान में और योग्य व्यक्ति को दिया जाता है, वह सात्त्विक माना जाता है।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य में ऐसे व्यक्ति को दान देने की संस्तुति है, जो आध्यात्मिक कार्यों में लगा हो। अविचारपूर्ण ढग से दान देने की संस्तुति नहीं है। आध्यात्मिक सिद्धि को सदैव ध्यान मे रखा जाता है। अतएव किसी तीर्थ स्थान में, सूर्य या चन्द्रग्रहण के समय, मासान्त में या योग्य ब्राह्मण अथवा वैष्णव (भक्त) को, या मन्दिर में दान देने की संस्तुति है। बदले में किसी प्रकार की प्राप्ति की अभिलाषा न रखते हुए ऐसे दान किये जाने चाहिए। कभी-कभी निर्धन को दान करुणावश दिया जाता है। लेकिन यदि निर्धन दान देने योग्य (पात्र) नहीं होता, तो उससे आध्यात्मिक प्रगति नहीं होती। दूसरे शब्दों में, वैदिक साहित्य में अविचारपूर्ण दान की संस्तुति नहीं है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥२१॥

यत्–जो; तु–लेकिन, प्रति-उपकार-अर्थम्–बदले में पाने के उद्देश्य से, फलम्–फल को, उद्दिश्य–इच्छा करके, वा–अथवा, पुनः–फिर, दीयते–दिया जाता है, च–भी; परिक्लिष्टम्–पश्चाताप के साथ, तत्–उस, दानम्–दान को, राजसम्–रजोगुणी, स्मृतम्–माना जाता है।

किन्तु जो दान प्रत्युपकार की भावना से या कर्म फल की इच्छा से या अनिच्छापूर्वक किया जाता है, वह रजोगुणी (राजस) कहलाता है।

तात्पर्य : दान कभी स्वर्ग जाने के लिए दिया जाता है, तो कभी अत्यन्त कष्ट से तथा कभी इस पश्चात्ताप के साथ कि "मैंने इतना व्यय इस तरह क्यों किया?" कभी-कभी अपने वरिष्ठजनों के दबाव में आकर भी दान दिया जाता है। ऐसे दान रजोगुण में दिये गये माने जाते हैं।

ऐसे अनेक दातव्य न्यास हैं, जो उन संस्थाओं को दान देते हैं, जहाँ इन्द्रियभोग का बाजार गर्म रहता है। वैदिक शास्त्र ऐसे दान की संस्तुति नहीं करते। केवल सात्त्विक दान की संस्तुति की गई है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

अदेश—अशुद्ध स्थान; **काले**—तथा अशुद्ध समय में; **यत्**—जो; **दानम्**—दान; **अपात्रेभ्यः**—अयोग्य व्यक्तियों को; **च**—भी; **दीयते**—दिया जाता है; **असत्-कृतम्**—सम्मान के विना; **अवज्ञातम्**—समुचित ध्यान दिये विना; **तत्**—वह; **तामसम्**—तमोगुणी; **उदाहृतम्**—कहा जाता है।

तथा जो दान किसी अपवित्र स्थान में, अनुचित समय में, किसी अयोग्य व्यक्ति को या विना समुचित ध्यान तथा आदर से दिया जाता है, वह तामसी कहलाता है।

तात्पर्य : यहाँ पर मद्यपान तथा द्यूतक्रीड़ा में व्यसनी के लिए दान देने को प्रोत्साहन नहीं दिया गया। ऐसा दान तामसी है। ऐसा दान लाभदायक नहीं होता, वरन् इससे पापी पुरुषों को प्रोत्साहन मिलता है। इसी प्रकार, यदि विना सम्मान तथा ध्यान दिये किसी उपयुक्त व्यक्ति को दान दिया जाय, तो वह भी तामसी है।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥ २३॥

ॐ—परम का सूचक; **तत्**—वह; **सत्**—शाश्वत; **इति**—इस प्रकार; **निर्देशः**—संकेत; **ब्रह्मणः**—ब्रह्म का; **त्रि-विधः**—तीन प्रकार का; **स्मृतः**—माना जाता है; **ब्राह्मणाः**—ब्राह्मण लोग; **तेन**—उससे; **वेदाः**—वैदिक साहित्य; **च**—भी; **यज्ञाः**—यज्ञ; **च**—भी; **विहिताः**—प्रयुक्त; **पुरा**—आदिकाल में।

सृष्टि के आदिकाल से ॐ तत् सत् ये तीन शब्द परब्रह्म को सूचित करने के लिए प्रयुक्त किये जाते रहे हैं। ये तीनों सांकेतिक अभिव्यक्तियाँ ब्राह्मणों द्वारा वैदिक मंत्रों का उच्चारण करते समय तथा ब्रह्म को संतुष्ट करने के लिए यज्ञों के समय प्रयुक्त होती थीं।

तात्पर्य : यह बताया जा चुका है कि तपस्या, यज्ञ, दान तथा भोजन के तीन-तीन भेद हैं—सात्त्विक, राजस तथा तामस। लेकिन चाहे ये उत्तम हों, मध्यम हों या निम्न हों, ये सभी बद्ध तथा भौतिक गुणों से कलुषित हैं। किन्तु जब ये ब्रह्म—*ॐ तत् सत्* को लक्ष्य करके किये जाते हैं तो आध्यात्मिक उन्नति के साधन बन जाते हैं। शास्त्रों में ऐसे लक्ष्य का संकेत हुआ है। *ॐ तत् सत्* ये तीन शब्द विशेष रूप में परम सत्य भगवान् के सूचक हैं। वैदिक मन्त्रों में ॐ शब्द सदैव रहता है।

जो व्यक्ति शास्त्रों के विधानों के अनुसार कर्म नहीं करता, उसे परब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती। भले ही उसे क्षणिक फल प्राप्त हो जाये, लेकिन उसे परमगति प्राप्त नहीं हो पाती। तात्पर्य यह है कि दान, यज्ञ तथा तप को सतोगुण में रहकर करना चाहिए। रजो या तमोगुण में सम्पन्न करने पर ये निश्चित रूप से निम्न कोटि के होते हैं। ॐ *तत् सत्* शब्दों का उच्चारण परमेश्वर के पवित्र नाम के साथ किया जाता है, उदाहरणार्थ, *ॐ तद्विष्णोः*। जब भी किसी वैदिक मंत्र का या परमेश्वर का नाम लिया जाता है, तो उसके साथ ॐ जोड दिया जाता है। यह वैदिक साहित्य का सूचक है। ये तीन शब्द वैदिक मंत्रों से लिए जाते हैं। *ॐ इत्येतद्ब्रह्मणो नेदिष्ठं नाम* (*ऋग्वेद*) प्रथम लक्ष्य का सूचक है। फिर *तत् त्वमसि* (*छान्दोग्य उपनिषद* ६.८.७) दूसरे लक्ष्य का सूचक है। तथा *सद् एव सौम्य* (*छान्दोग्य उपनिषद* ६.२.१) तृतीय लक्ष्य का सूचक है। ये तीनों मिलकर ॐ तत् सत् हो जाते हैं। आदिकाल में जब प्रथम जीवात्मा ब्रह्मा ने यज्ञ किये, तो उन्होंने इन तीनों शब्दों के द्वारा भगवान् को लक्षित किया था। अतएव गुरु-परम्परा द्वारा उसी सिद्धान्त का पालन किया जाता रहा है। अतः इस मन्त्र का अत्यधिक महत्त्व है। अतएव *भगवद्गीता* के अनुसार कोई भी कार्य ॐ तत् सत् के लिए, अर्थात् भगवान् के लिए, किया जाना चाहिए। जब कोई इन तीनों शब्दों के द्वारा तप, दान तथा यज्ञ सम्पन्न करता है, तो वह कृष्णभावनामृत में कार्य करता है। कृष्णभावनामृत दिव्य कार्यों का वैज्ञानिक कार्यान्वयन है, जिससे मनुष्य भगवद्धाम वापस जा सके। ऐसी दिव्य विधि से कर्म करने में शक्ति का क्षय नहीं होता।

तस्माद् ॐ इत्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ २४॥

तस्मात्–अतएव, ॐ–ओम् से प्रारम्भ करके, इति–इस प्रकार, उदाहृत्य–संकेत करके, यज्ञ–यज्ञ, दान–दान, तपः–तथा तप की, *क्रियाः*–क्रियाएँ, प्रवर्तन्ते–*प्रारम्भ होती हैं*, *विधान-उक्ताः*–*शास्त्रीय* विधान के अनुसार, सततम्–सदैव, ब्रह्म-वादिनाम्–अध्यात्मवादियों या योगियों की।

अतएव योगीजन ब्रह्म की प्राप्ति के लिए शास्त्रीय विधि के अनुसार यज्ञ, दान तथा तप की समस्त क्रियाओं का शुभारम्भ सदैव ओम् से करते हैं।

तात्पर्य : *ॐ तद् विष्णोः परमं पदम्* (*ऋग्वेद* १.२२.२०)। विष्णु के चरणकमल परम भक्ति के आश्रय हैं। भगवान् के लिए सम्पन्न हर एक क्रिया सारे कार्यक्षेत्र की सिद्धि निश्चित कर देती है।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥ २५॥

तत्–वह, इति–इस प्रकार, अनभिसन्धाय–बिना इच्छा किये, फलम्–फल, यज्ञ–यज्ञ, तपः–तथा तप की, क्रियाः–क्रियाएँ, दान–दान की क्रियाः–क्रियाएँ, च–भी, विविधाः–विभिन्न, क्रियन्ते–की जाती हैं, मोक्ष-काङ्क्षिभिः–मोक्ष चाहने वालों के द्वारा।

मनुष्य को चाहिए कि कर्मफल की इच्छा किये बिना विविध प्रकार के यज्ञ, तप

तथा दान को 'तत्' शब्द कह कर सम्पन्न करे। ऐसी दिव्य क्रियाओं का उद्देश्य भव-बन्धन से मुक्त होना है।

तात्पर्य : आध्यात्मिक पद तक उठने के लिए मनुष्य को चाहिए कि किसी लाभ के निमित्त कर्म न करे। सारे कार्य भगवान् के परम धाम वापस जाने के उद्देश्य से किये जायँ, जो चरम उपलब्धि है।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ २६॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥ २७॥

सत्-भावे—ब्रह्म के स्वभाव के अर्थ में; **साधु-भावे**—भक्त के स्वभाव के अर्थ में; **च**—भी; **सत्**—सत् शब्द; **इति**—इस प्रकार; **एतत्**—यह; **प्रयुज्यते**—प्रयुक्त किया जाता है; **प्रशस्ते**—प्रामाणिक; **कर्मणि**—कर्मों में; **तथा**—भी; **सत्-शब्दः**—सत् शब्द; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **युज्यते**—प्रयुक्त किया जाता है; **यज्ञे**—यज्ञ में; **तपसि**—तपस्या में; **दाने**—दान में; **च**—भी; **स्थितिः**—स्थिति; **सत्**—ब्रह्म; **इति**—इस प्रकार; **च**—तथा; **उच्यते**—उच्चारण किया जाता है; **कर्म**—कार्य; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **तत्**—उस; **अर्थीयम्**—के लिए; **सत्**—ब्रह्म; **इति**—इस प्रकार; **एव**—निश्चय ही; **अभिधीयते**—कहा जाता है।

परम सत्य भक्तिमय यज्ञ का लक्ष्य है और उसे सत् शब्द से अभिहित किया जाता है। हे पृथापुत्र! ऐसे यज्ञ का सम्पन्नकर्ता भी 'सत्' कहलाता है जिस प्रकार यज्ञ, तप तथा दान के सारे कर्म भी जो परमपुरुष को प्रसन्न करने के लिए सम्पन्न किये जाते हैं, 'सत्' हैं।

तात्पर्य : *प्रशस्ते कर्मणि* अर्थात् "नियत कर्तव्य" सूचित करते हैं कि वैदिक साहित्य में ऐसी कई क्रियाएँ निर्धारित हैं, जो गर्भाधान से लेकर मृत्यु तक संस्कार के रूप में हैं। ऐसे संस्कार जीव की चरम मुक्ति के लिए होते हैं। ऐसी सारी क्रियाओं के समय *ॐ तत् सत्* उच्चारण करने की संस्तुति की जाती है। सद्भाव तथा साधुभाव आध्यात्मिक स्थिति के सूचक हैं। कृष्णभावनामृत में कर्म करना सत् है और जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत के कार्यों के प्रति सचेष्ट रहता है, वह साधु कहलाता है। *श्रीमद्भागवत* में (३.२५.२५) कहा गया है कि भक्तों की संगति से आध्यात्मिक विषय स्पष्ट हो जाता है। इसके लिए *सतां प्रसङ्गात्* शब्द व्यवहृत हुए हैं। विना सत्संग के दिव्य ज्ञान उपलब्ध नहीं हो पाता। किसी को दीक्षित करते समय या यज्ञोपवीत धारण कराते समय *ॐ तत् सत्* शब्दों का उच्चारण किया जाता है। इसी प्रकार सभी प्रकार के यज्ञ करते समय *ॐ तत् सत्* या ब्रह्म ही चरम लक्ष्य होता है। *तदर्थीयम्* शब्द ब्रह्म का प्रतिनिधित्व करने वाले किसी भी कार्य में सेवा करने का सूचक है, जिसमें भगवान् के मन्दिर में भोजन पकाना तथा सहायता करने जैसी सेवाएँ या भगवान् के यश का प्रसार करने वाला अन्य कोई भी कार्य सम्मिलित है। इस तरह *ॐ तत् सत्* शब्द समस्त कार्यों को पूरा करने के लिए कई प्रकार से प्रयुक्त किये जाते हैं।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥२८॥

अश्रद्धया–श्रद्धारहित; हुतम्–यज्ञ में आहुति किया गया; दत्तम्–प्रदत्त; तपः–तपस्या; तप्तम्–सम्पन्न; कृतम्–किया गया; च–भी; यत्–जो; असत्–झूठा; इति–इस प्रकार; उच्यते–कहा जाता है; पार्थ–हे पृथापुत्र; न–कभी नहीं; च–भी; तत्–वह; प्रेत्य–मर कर; न उ–न तो; इह–इस जीवन में।

हे पार्थ! श्रद्धा के विना यज्ञ, दान या तप के रूप में जो भी किया जाता है, वह नश्वर है। वह 'असत्' कहलाता है और इस जन्म तथा अगले जन्म–दोनों में ही व्यर्थ जाता है।

तात्पर्य : चाहे यज्ञ हो, दान हो या तप हो, विना आध्यात्मिक लक्ष्य के व्यर्थ रहता है। अतएव इस श्लोक में यह घोषित किया गया है कि ऐसे कार्य कुत्सित हैं। प्रत्येक कार्य कृष्णभावनामृत में रहकर ब्रह्म के लिए किया जाना चाहिए। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में भगवान् में श्रद्धा की संस्तुति की गई है। ऐसी श्रद्धा तथा समुचित मार्गदर्शन के विना कोई फल नहीं मिल सकता। समस्त वैदिक आदेशों के पालन का चरम लक्ष्य कृष्ण को जानना है। इस सिद्धान्त का पालन किये विना कोई सफल नहीं हो सकता। इसीलिए सर्वश्रेष्ठ मार्ग यही है कि मनुष्य प्रारम्भ से ही किसी प्रामाणिक गुरु के मार्गदर्शन में कृष्णभावनामृत में कार्य करे। सब प्रकार से सफल होने का यही मार्ग है।

बद्ध अवस्था में लोग देवताओं, भूतों या कुबेर जैसे यक्षों की पूजा के प्रति आकृष्ट होते हैं। यद्यपि सतोगुण रजोगुण तथा तमोगुण से श्रेष्ठ है, लेकिन जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत को ग्रहण करता है, वह प्रकृति के इन तीनों गुणों को पार कर जाता है। यद्यपि क्रमिक उन्नति की विधि है, किन्तु शुद्ध भक्तों की संगति से यदि कोई कृष्णभावनामृत ग्रहण करता है, तो यह सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। इस अध्याय में इसी की संस्तुति की गई है। इस प्रकार से सफलता पाने के लिए उपयुक्त गुरु प्राप्त करके उसके निर्देशन में प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहिए। तभी ब्रह्म में श्रद्धा हो सकती है। जब कालक्रम से यह श्रद्धा परिपक्व होती है, तो इसे ईश्वरप्रेम कहते हैं। यही प्रेम समस्त जीवों का चरम लक्ष्य है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि सीधे कृष्णभावनामृत ग्रहण करे। इस सत्रहवें अध्याय का यही संदेश है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय "श्रद्धा के विभाग" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।

अध्याय अठारह



उपसंहार—संन्यास की सिद्धि

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; **संन्यासस्य**—संन्यास (त्याग) का; **महाबाहो**—हे बलशाली भुजाओं वाले; **तत्त्वम्**—सत्य को; **इच्छामि**—चाहता हूँ; **वेदितुम**—जानना; **त्यागस्य**—त्याग (संन्यास) का; **च**—भी; **हृषीकेश**—हे इन्द्रियों के स्वामी; **पृथक्**—भिन्न रूप से; **केशि-निषूदन**—हे केशी असुर के संहर्ता।

अर्जुन ने कहा—हे महाबाहु! मैं त्याग का उद्देश्य जानने का इच्छुक हूँ और हे केशिनिषूदन, हे हृषीकेश! मैं त्यागमय जीवन (संन्यास आश्रम) का भी उद्देश्य जानना चाहता हूँ।

तात्पर्य : वास्तव में *भगवद्गीता* सत्रह अध्यायों में ही समाप्त हो जाती है। अठारहवाँ अध्याय तो पूर्वविवेचित विषयों का पूरक संक्षेप है। प्रत्येक अध्याय में भगवान् बल देकर कहते हैं कि भगवान् की सेवा ही जीवन का चरम लक्ष्य है। इसी विषय को

इस अठारहवें अध्याय में ज्ञान के परम गुह्य मार्ग के रूप में सक्षेप में वताया गया है। प्रथम छह अध्यायों में भक्तियोग पर वल दिया गया—*योगिनामपि सर्वेषाम्...* —"समस्त योगियों में से जो योगी अपने अन्तर में सदैव मेरा चिन्तन करता है, वह सर्वश्रेष्ठ है।" अगले छह अध्यायों में शुद्ध भक्ति, उसकी प्रकृति तथा कार्यों का विवेचन है। अन्त के छह अध्यायों में ज्ञान, वैराग्य अपरा तथा परा प्रकृति के कार्यों और भक्ति का वर्णन है। निष्कर्ष रूप में यह कहा गया है कि सारे कार्यों को परमेश्वर से युक्त होना चाहिए, जो *ॐ तत् सत्* शब्दों से प्रकट होता है और ये शब्द परम पुरुष विष्णु के सूचक हैं। *भगवद्गीता* के तृतीय खण्ड से यही प्रकट होता है कि भक्ति ही एकमात्र जीवन का चरम लक्ष्य है। पूर्ववर्ती आचार्यों तथा ब्रह्मसूत्र या वेदान्त-सूत्र का उद्धरण देकर इसकी स्थापना की गई है। कुछ निर्विशेषवादी वेदान्त सूत्र के ज्ञान पर अपना एकाधिकार जताते है, लेकिन वास्तव में *वेदान्त सूत्र* भक्ति को समझने के लिए है, क्योंकि ब्रह्मसूत्र के रचयिता (प्रणेता) साक्षात् भगवान् हैं और वे ही इसके ज्ञाता हैं। इसका वर्णन पन्द्रहवें अध्याय में हुआ है। प्रत्येक शास्त्र, प्रत्येक वेद का लक्ष्य भक्ति है। *भगवद्गीता* में इसी की व्याख्या है।

जिस प्रकार द्वितीय अध्याय में सम्पूर्ण विषयवस्तु की प्रस्तावना (सार) का वर्णन है, उसी प्रकार अठारहवें अध्याय में सारे उपदेश का सारांश दिया गया है। इसमें त्याग (वैराग्य) तथा त्रिगुणातीत दिव्य पथ की प्राप्ति को ही जीवन का लक्ष्य वताया गया है। अर्जुन *भगवद्गीता* के दो विषयों का स्पष्ट अन्तर जानने का इच्छुक है—ये हैं, त्याग तथा सन्यास। अतएव वह इन दोनों शब्दों के अर्थ की जिज्ञासा कर रहा है।

इस श्लोक में परमेश्वर को सम्बोधित करने के लिए प्रयुक्त *हृषीकेश* तथा *केशिनिषूदन*—ये दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। हृषीकेश कृष्ण हैं, समस्त इन्द्रियों के स्वामी, जो हमें मानसिक शान्ति प्राप्त करने में सहायक वनते हैं। अर्जुन उनसे प्रार्थना करता है कि वे सभी वातों को इस तरह सक्षिप्त कर दें, जिससे वह समभाव में स्थिर रहे। फिर भी उसके मन में कुछ सशय हैं और ये सशय असुरों के समान होते हैं। अतएव वह कृष्ण को केशि-निषूदन कहकर सम्बोधित करता है। केशी अत्यन्त दुर्जेय असुर था, जिसका वध कृष्ण ने किया था। अव अर्जुन चाहता है कि वे उसके संशय रूपी असुर का वध करें।

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २॥

श्रीभगवान् उवाच–भगवान् ने कहा, काम्यानाम्–काम्यकर्मों का, कर्मणाम्–कर्मों का, न्यासम्–त्याग, संन्यासम्–सन्यास, कवयः–विद्वान जन, विदुः–जानते हैं, सर्व–समस्त, कर्म–कर्मों का, फल–फल, त्यागम्–त्याग को, प्राहुः–कहते हैं, त्यागम्–त्याग; विचक्षणाः–अनुभवी।

भगवान् ने कहा—भौतिक इच्छा पर आधारित कर्मों के परित्याग को विद्वान लोग संन्यास कहते हैं और समस्त कर्मों के फल-त्याग को बुद्धिमान लोग त्याग कहते हैं।

तात्पर्य : कर्मफल की आकांक्षा से किये गये कर्म का त्याग करना चाहिए। यही *भगवद्गीता* का उपदेश है। लेकिन जिन कर्मों से उच्च आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हो, उनका परित्याग नहीं करना चाहिए। अगले श्लोकों से यह स्पष्ट हो जायगा। वैदिक साहित्य में किसी विशेष उद्देश्य से यज्ञ सम्पन्न करने की अनेक विधियों का उल्लेख है। कुछ यज्ञ ऐसे हैं, जो अच्छी सन्तान प्राप्त करने के लिए या स्वर्ग की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं, लेकिन जो यज्ञ इच्छाओं के वशीभूत हों, उनको बन्द करना चाहिए। परन्तु आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नति या हृदय की शुद्धि के लिए किये जाने वाले यज्ञों का परित्याग करना उचित नहीं है।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

त्याज्यम्—त्याजनीय; **दोष-वत्**—दोष के समान; **इति**—इस प्रकार; **एके**—एक समूह के; **कर्म**—कर्म; **प्राहुः**—कहते हैं; **मनीषिणः**—महान चिन्तक; **यज्ञ**—यज्ञ; **दान**—दान; **तपः**—तथा तपस्या का; **कर्म**—कर्म; **न**—कभी नहीं; **त्याज्यम्**—त्यागने चाहिए; **इति**—इस प्रकार; **च**—तथा; **अपरे**—अन्य।

कुछ विद्वान घोषित करते हैं कि समस्त प्रकार के सकाम कर्मों को दोषपूर्ण समझ कर त्याग देना चाहिए। किन्तु अन्य विद्वान् मानते हैं कि यज्ञ, दान तथा तपस्या के कर्मों को कभी नहीं त्यागना चाहिए।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक कर्म हैं जिनके विषय में मतभेद है। उदाहरणार्थ, यह कहा जाता है कि यज्ञ में पशु मारा जा सकता है, फिर भी कुछ का मत है कि पशुहत्या पूर्णतया निषिद्ध है। यद्यपि वैदिक साहित्य में पशु-वध की संस्तुति हुई है, लेकिन पशु को मारा गया नहीं माना जाता। यह बलि पशु को नवीन जीवन प्रदान करने के लिए होती है। कभी-कभी यज्ञ में मारे गये पशु को नवीन पशु-जीवन प्राप्त होता है, तो कभी वह पशु तत्क्षण मनुष्य योनि को प्राप्त हो जाता है। लेकिन इस सम्बन्ध में मनीषियों में मतभेद है। कुछ का कहना है कि पशुहत्या नहीं की जानी चाहिए और कुछ कहते हैं कि विशेष यज्ञ (बलि) के लिए यह शुभ है। अब यज्ञ-कर्म विषयक विभिन्न मतों का स्पष्टीकरण भगवान् स्वयं कर रहे हैं।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

निश्चयम्—निश्चय को; **शृणु**—सुनो; **मे**—मेरे; **तत्र**—वहाँ; **त्यागे**—त्याग के विषय में; **भरत-सत्-तम**—हे भरतश्रेष्ठ; **त्यागः**—त्याग; **हि**—निश्चय ही; **पुरुष-व्याघ्र**—हे मनुष्यों में बाघ; **त्रि-विधः**—तीन प्रकार का; **सम्प्रकीर्तितः**—घोषित किया जाता है।

हे भरतश्रेष्ठ! अब त्याग के विषय में मेरा निर्णय सुनो। हे नरशार्दूल! शास्त्रों में त्याग तीन तरह का बताया गया है।

तात्पर्य : यद्यपि त्याग के विषय में विभिन्न प्रकार के मत हैं, लेकिन परम पुरुष श्रीकृष्ण

अपना निर्णय दे रहे हैं, जिसे अन्तिम माना जाना चाहिए। निस्सन्देह, सारे वेद भगवान् द्वारा प्रदत्त विभिन्न विधान (नियम) हैं। यहाँ पर भगवान् साक्षात् उपस्थित हैं, अतएव उनके वचनों को अन्तिम मान लेना चाहिए। भगवान् कहते हैं कि भौतिक प्रकृति के तीन गुणों में से जिस गुण में त्याग किया जाता है, उसी के अनुसार त्याग का प्रकार समझना चाहिए।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥५॥

यज्ञ–यज्ञ, दान–दान, तपः–तथा तप का; कर्म–कर्म, न–कभी नहीं, त्याज्यम्–त्यागने के योग्य; कार्यम्–करना चाहिए; एव–निश्चय ही; तत्–उसे, यज्ञः–यज्ञ, दानम्–दान; तपः–तप, च–भी; एव–निश्चय ही, पावनानि–शुद्ध करने वाले, मनीषिणाम्–महात्माओं के लिए भी।

यज्ञ, दान तथा तपस्या के कर्मों का कभी परित्याग नहीं करना चाहिए, उन्हें अवश्य सम्पन्न करना चाहिए। निस्सन्देह यज्ञ, दान तथा तपस्या महात्माओं को भी शुद्ध बनाते हैं।

तात्पर्य : योगी को चाहिए कि मानव समाज की उन्नति के लिए कर्म करे। मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन तक ऊपर उठाने के लिए अनेक संस्कार (पवित्र कर्म) हैं। उदाहरणार्थ, विवाहोत्सव एक यज्ञ माना जाता है। यह विवाह-यज्ञ कहलाता है। क्या एक संन्यासी, जिसने अपना पारिवारिक सम्बन्ध त्याग कर सन्यास ग्रहण कर लिया है, विवाहोत्सव को प्रोत्साहन दे? भगवान् कहते हैं कि कोई भी यज्ञ जो मानव कल्याण के लिए हो, उसका कभी भी परित्याग न करे। विवाह-यज्ञ मानव मन को संयमित करने के लिए है, जिससे आध्यात्मिक प्रगति के लिए वह शान्त बन सके। सन्यासी को भी चाहिए कि इस विवाह-यज्ञ की संस्तुति अधिकांश मनुष्यों के लिए करें। संन्यासियों को चाहिए कि स्त्रियों का संग न करें, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि जो व्यक्ति अभी जीवन की निम्न अवस्थाओं में है, अर्थात् जो तरुण है, वह विवाह-यज्ञ में पत्नी न स्वीकार करे। सारे यज्ञ परमेश्वर की प्राप्ति के लिए हैं। अतएव निम्नतर अवस्थाओं में यज्ञों का परित्याग नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार दान हृदय की शुद्धि (संस्कार) के लिए है। यदि दान सुपात्र को दिया जाता है, तो इससे आध्यात्मिक जीवन में प्रगति होती है, जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥६॥

एतानि–ये सब, अपि–निश्चय ही, तु–लेकिन, कर्माणि–कार्य सङ्गम्–संगति को, त्यक्त्वा–त्यागकर; फलानि–फलों को, च–भी, कर्तव्यानि–कर्तव्य समझ कर करने चाहिए, इति–इस प्रकार, मे–मेरा, पार्थ–हे पृथापुत्र, निश्चितम्–निश्चित, मतम्–मत, उत्तमम्–श्रेष्ठ।

इन सारे कार्यों को किसी प्रकार की आसक्ति या फल की आशा के बिना सम्पन्न करना चाहिए। हे पृथापुत्र! इन्हें कर्तव्य मानकर सम्पन्न किया जाना चाहिए। यही

मेरा अन्तिम मत है।

तात्पर्य : यद्यपि सारे यज्ञ शुद्ध करने वाले हैं, लेकिन मनुष्य को ऐसे कार्यों से किसी फल की इच्छा नहीं करनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, जीवन में जितने सारे यज्ञ भौतिक उन्नति के लिए हैं, उनका परित्याग करना चाहिए। लेकिन जिन यज्ञों से मनुष्य का अस्तित्व शुद्ध हो और जो आध्यात्मिक स्तर तक उठाने वाले हों, उनको कभी बन्द नहीं करना चाहिए। जिस किसी वस्तु से कृष्णभावनामृत तक पहुँचा जा सके, उसको प्रोत्साहन देना चाहिए। *श्रीमद्भागवत* में भी यह कहा गया है कि जिस कार्य से भगवद्भक्ति का लाभ हो, उसे स्वीकार करना चाहिए। यही धर्म की सर्वोच्च कसौटी है। भगवद्भक्त को ऐसे किसी भी कर्म, यज्ञ या दान को स्वीकार करना चाहिए, जो भगवद्भक्ति करने में सहायक हो।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

नियतस्य—नियत, निर्दिष्ट (कार्य) का; **तु**—लेकिन; **संन्यासः**—संन्यास, त्याग; **कर्मणः**—कर्मों का; **न**—कभी नहीं; **उपपद्यते**—योग्य होता है; **मोहात्**—मोहवश; **तस्य**—उसका; **परित्यागः**—त्याग देना; **तामसः**—तमोगुणी; **परिकीर्तितः**—घोषित किया जाता है।

निर्दिष्ट कर्तव्यों को कभी नहीं त्यागना चाहिए। यदि कोई मोहवश अपने नियत कर्मों का परित्याग कर देता है, तो ऐसे त्याग को तामसी कहा जाता है।

तात्पर्य : जो कार्य भौतिक तुष्टि के लिए किया जाता है, उसे अवश्य ही त्याग दे, लेकिन जिन कार्यों से आध्यात्मिक उन्नति हो, यथा भगवान् के लिए भोजन बनाना, भगवान् को भोग अर्पित करना, फिर प्रसाद ग्रहण करना, उनकी संस्तुति की जाती है। कहा जाता है कि संन्यासी को अपने लिए भोजन नहीं बनाना चाहिए। लेकिन अपने लिए भोजन पकाना भले ही वर्जित हो, परमेश्वर के लिए भोजन पकाना वर्जित नहीं है। इसी प्रकार अपने शिष्य की कृष्णभावनामृत में प्रगति करने में सहायक बनने के लिए संन्यासी विवाह-यज्ञ सम्पन्न करा सकता है। यदि कोई ऐसे कार्यों का परित्याग कर देता है, तो यह समझना चाहिए कि वह तमोगुण के अधीन है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

दुःखम्—दुखी; **इति**—इस प्रकार; **एव**—निश्चय ही; **यत्**—जो; **कर्म**—कार्य; **काय**—शरीर के लिए; **क्लेश**—कष्ट के; **भयात्**—भय से; **त्यजेत्**—त्याग देता है; **सः**—वह; **कृत्वा**—करके; **राजसम्**—रजोगुण में; **त्यागम्**—त्याग; **न**—नहीं; **एव**—निश्चय ही; **त्याग**—त्याग; **फलम्**—फल को; **लभेत्**—प्राप्त करता है।

जो व्यक्ति नियत कर्मों को कष्टप्रद समझ कर या शारीरिक क्लेश के भय से त्याग देता है, उसके लिए कहा जाता है कि उसने यह त्याग रजोगुण में किया है। ऐसा

करने से कभी त्याग का उच्चफल प्राप्त नहीं होता।

तात्पर्य : जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत को प्राप्त है, उसे इस भय से अर्थोपार्जन बन्द नहीं करना चाहिए कि वह सकाम कर्म कर रहा है। यदि कोई कार्य करके कमाये धन को कृष्णभावनामृत में लगाता है, या यदि कोई प्रातःकाल जल्दी उठकर दिव्य कृष्णभावनामृत को अग्रसर करता है, तो उसे चाहिए कि वह डर कर या यह सोचकर कि ऐसे कार्य कष्टप्रद हैं, उन्हें त्यागे नहीं। ऐसा त्याग राजसी होता है। राजसी कर्म का फल सदैव दुखद होता है। यदि कोई व्यक्ति इस भाव से कर्म त्याग करता है, तो उसे त्याग का फल कभी नहीं मिल पाता।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥९॥

कार्यम्–करणीय; इति–इस प्रकार; एव–निस्सन्देह; यत्–जो; कर्म–कर्म; नियतम्–निर्दिष्ट; क्रियते–किया जाता है; अर्जुन–हे अर्जुन; सङ्गम्–संगति, संग; त्यक्त्वा–त्याग कर; फलम्–फल; च–भी, एव–निश्चय ही, सः–वह, त्यागः–त्याग, सात्त्विकः–सात्त्विक, सतोगुणी; मतः–मेरे मत से।

हे अर्जुन! जब मनुष्य नियत कर्तव्य को करणीय मान कर करता है और समस्त भौतिक संगति तथा फल की आसक्ति को त्याग देता है, तो उसका त्याग सात्त्विक कहलाता है।

तात्पर्य : नियत कर्म इसी मनोभाव से किया जाना चाहिए। मनुष्य को फल के प्रति अनासक्त होकर कर्म करना चाहिए, उसे कर्म के गुणों से विलग हो जाना चाहिए। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में रहकर कारखाने में कार्य करता है, वह न तो कारखाने के कार्य से अपने को जोड़ता है, न ही कारखाने के श्रमिकों से। वह तो मात्र कृष्ण के लिए कार्य करता है। और जब वह इसका फल कृष्ण को अर्पण कर देता है, तो वह दिव्य स्तर पर कार्य करता है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥१०॥

न–नहीं, द्वेष्टि–घृणा करता है, अकुशलम्–अशुभ, कर्म–कर्म, कुशले–शुभ में, न–न तो, अनुषज्जते–आसक्त होता है; त्यागी–त्यागी, सत्त्व–सतोगुण में, समाविष्टः–लीन; मेधावी–बुद्धिमान, छिन्न–छिन्न हुए, संशयः–समस्त संशय या संदेह।

सतोगुण में स्थित बुद्धिमान त्यागी, जो न तो अशुभ कर्म से घृणा करता है, न शुभकर्म से लिप्त होता है, वह कर्म के विषय में कोई संशय नहीं रखता।

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित व्यक्ति या सतोगुणी व्यक्ति न तो किसी व्यक्ति से घृणा करता है, न अपने शरीर को कष्ट देने वाली किसी बात से। वह उपयुक्त स्थान पर तथा उचित समय पर, बिना डरे, अपना कर्तव्य करता है। ऐसे व्यक्ति को, जो अध्यात्म को प्राप्त-

है, सर्वाधिक बुद्धिमान तथा अपने कर्मों में संशयरहित मानना चाहिए।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥११॥

न—कभी नहीं; **हि**—निश्चय ही; **देह-भृता**—देहधारी द्वारा; **शक्यम्**—सम्भव है; **त्यक्तुम्**—त्यागने के लिए; **कर्माणि**—कर्म; **अशेषतः**—पूर्णतया; **यः**—जो; **तु**—लेकिन; **कर्म**—कर्म के; **फल**—फल का; **त्यागी**—त्याग करने वाला; **सः**—वह; **त्यागी**—त्यागी; **इति**—इस प्रकार; **अभिधीयते**—कहलाता है।

निस्सन्देह किसी भी देहधारी प्राणी के लिए समस्त कर्मों का परित्याग कर पाना असम्भव है। लेकिन जो कर्मफल का परित्याग करता है, वह वास्तव में त्यागी कहलाता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि मनुष्य कभी भी कर्म का त्याग नहीं कर सकता। अतएव जो कृष्ण के लिए कर्म करता है और कर्मफलों को भोगता नहीं तथा जो कृष्ण को सब कुछ अर्पित करता है, वही वास्तविक त्यागी है। अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ में अनेक सदस्य हैं, जो अपने अपने कार्यालयों, कारखानों या अन्य स्थानों में कठिन श्रम करते हैं और वे जो कुछ कमाते हैं, उसे संघ को दान दे देते हैं। ऐसे महात्मा व्यक्ति वास्तव में संन्यासी हैं और वे संन्यास में स्थित होते हैं। यहाँ स्पष्ट रूप से बताया गया है कि कर्मफलों का परित्याग किस प्रकार और किस प्रयोजन के लिए किया जाय।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥१२॥

अनिष्टम्—नरक ले जाने वाले; **इष्टम्**—स्वर्ग ले जाने वाले; **मिश्रम्**—मिश्रित; **च**—तथा; **त्रि-विधम्**—तीन प्रकार; **कर्मणः**—कर्म का; **फलम्**—फल; **भवति**—होता है; **अत्यागिनाम्**—त्याग न करने वालों को; **प्रेत्य**—मरने के बाद; **न**—नहीं; **तु**—लेकिन; **संन्यासिनाम्**—संन्यासी के लिए; **क्वचित्**—किसी समय, कभी।

जो त्यागी नहीं है, उसके लिए इच्छित (इष्ट), अनिच्छित (अनिष्ट) तथा मिश्रित—ये तीन प्रकार के कर्मफल मृत्यु के बाद मिलते हैं। लेकिन जो संन्यासी हैं, उन्हें ऐसे फल का सुख-दुख नहीं भोगना पड़ता।

तात्पर्य : जो कृष्णभावनामय व्यक्ति कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को जानते हुए कर्म करता है, वह सदैव मुक्त रहता है। अतएव उसे मृत्यु के पश्चात् अपने कर्मफलों का सुख-दुख नहीं भोगना पड़ता।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥१३॥

पञ्च—पाँच; **एतानि**—ये; **महा-बाहो**—हे महाबाहु; **कारणानि**—कारण; **निबोध**—जानो; **मे**—मुझसे; **साङ्ख्ये**—वेदान्त में; **कृत-अन्ते**—निष्कर्ष रूप में; **प्रोक्तानि**—कहा गया; **सिद्धये**—सिद्धि के लिए; **सर्व**—समस्त; **कर्मणाम्**—कर्मों का।

हे महाबाहु अर्जुन! वेदान्त के अनुसार समस्त कर्म की पूर्ति के लिए पाँच कारण हैं। अब तुम इन्हें मुझसे सुनो।

तात्पर्य : यहाँ पर प्रश्न पूछा जा सकता है कि चूँकि प्रत्येक कर्म का कुछ न कुछ फल होता है, तो फिर यह कैसे सम्भव है कि कृष्णभावनामय व्यक्ति को कर्म के फलों का सुख-दुख नहीं भोगना पड़ता? भगवान् वेदान्त दर्शन का उदाहरण यह दिखाने के लिए देते हैं कि यह किस प्रकार सम्भव है। वे कहते हैं कि समस्त कर्मों के पाँच कारण होते हैं। अतएव किसी कर्म में सफलता के लिए इन पाँचों कारणों पर विचार करना होगा। सांख्य का अर्थ है ज्ञान का आधारस्तम्भ और वेदान्त अग्रणी आचार्यों द्वारा स्वीकृत ज्ञान का चरम आधारस्तम्भ है यहाँ तक कि शंकर भी वेदान्तसूत्र को इसी रूप में स्वीकार करते हैं। अतएव ऐसे शास्त्र की राय ग्रहण करनी चाहिए।

चरम नियन्त्रण परमात्मा में निहित है। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः*—वे प्रत्येक व्यक्ति को उसके पूर्वकर्मों का स्मरण करा कर किसी न किसी कार्य में प्रवृत्त करते रहते हैं। और जो कृष्णभावनाभावित कर्म अन्तर्यामी भगवान् के निर्देशानुसार किये जाते हैं, उनका फल न तो इस जीवन में, न ही मृत्यु के पश्चात् मिलता है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥१४॥

अधिष्ठानम्–स्थान, तथा–और, कर्ता–करने वाला; करणम्–उपकरण यन्त्र (इन्द्रियाँ), च–तथा, पृथक्-विधम्–विभिन्न प्रकार के, विविधाः–नाना प्रकार के; च–तथा, पृथक्–पृथक पृथक, चेष्टाः–प्रयास; दैवम्–परमात्मा, च–भी, एव–निश्चय ही, अत्र–यहाँ, पञ्चमम्–पाँचवा।

कर्म का स्थान (शरीर), कर्ता, विभिन्न इन्द्रियाँ, अनेक प्रकार की चेष्टाएँ तथा परमात्मा—ये पाँच कर्म के कारण हैं।

तात्पर्य : *अधिष्ठानम्* शब्द शरीर के लिए आया है। शरीर के भीतर आत्मा कर्म करता है, जिससे कर्मफल होता है। अतएव यह कर्ता कहलाता है। आत्मा ही ज्ञाता तथा कर्ता है, इसका उल्लेख श्रुति में है। *एष हि द्रष्टा स्रष्टा* (*प्रश्न उपनिषद्* ४.९)। वेदान्तसूत्र में भी *ज्ञोऽतएव* (२.३.१८) *तथा कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्* (२.३. ३३) श्लोकों से इसकी पुष्टि होती है। कर्म के उपकरण इन्द्रियाँ हैं और आत्मा इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा विभिन्न कर्म करता है। प्रत्येक कर्म के लिए पृथक चेष्टा होती है। लेकिन सारे कार्यकलाप परमात्मा की इच्छा पर निर्भर करते हैं, जो प्रत्येक हृदय में मित्र रूप में आसीन है। परमेश्वर परम कारण है। अतएव जो इन परिस्थितियों में अन्तर्यामी परमात्मा के निर्देश के अन्तर्गत कृष्णभावनामय होकर कर्म करता है, वह किसी कर्म से बँधता नहीं। जो पूर्ण कृष्णभावनामय हैं, वे अन्ततः अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं होते। सब कुछ परम इच्छा, परमात्मा, भगवान् पर निर्भर है।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥१५॥

शरीर–शरीर से; **वाक्**–वाणी से; **मनोभिः**–तथा मन से; **यत्**–जो; **कर्म**–कर्म; **प्रारभते**–प्रारम्भ करता है; **नरः**–व्यक्ति; **न्याय्यम्**–उचित, न्यायपूर्ण; **वा**–अथवा; **विपरीतम्**–(न्याय)विरुद्ध; **वा**–अथवा; **पञ्च**–पाँच; **एते**–ये सब; **तस्य**–उसके; **हेतवः**–कारण।

मनुष्य अपने शरीर, मन या वाणी से जो भी उचित या अनुचित कर्म करता है, वह इन पाँच कारणों के फलस्वरूप होता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *न्याय्य* (उचित) तथा *विपरीत* (अनुचित) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। सही कार्य शास्त्रों में निर्दिष्ट निर्देशों के अनुसार किया जाता है और अनुचित कार्य में शास्त्रीय आदेशों की अवहेलना की जाती है। किन्तु जो भी कर्म किया जाता है, उसकी पूर्णता के लिए इन पाँच कारणों की आवश्यकता पड़ती है।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥१६॥

तत्र–वहाँ; **एवम्**–इस प्रकार; **सति**–होकर; **कर्तारम्**–कर्ता; **आत्मानम्**–स्वयं का; **केवलम्**–केवल; **तु**–लेकिन; **यः**–जो; **पश्यति**–देखता है; **अकृत-बुद्धित्वात्**–कुबुद्धि के कारण; **न**–कभी नहीं; **सः**–वह; **पश्यति**–देखता है; **दुर्मतिः**–मूर्ख।

अतएव जो इन पाँचों कारणों को न मान कर अपने आपको ही एकमात्र कर्ता मानता है, वह निश्चय ही बहुत बुद्धिमान नहीं होता और वस्तुओं को सही रूप में नहीं देख सकता।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् अर्जुन को बताते हैं कि युद्ध न करने की इच्छा अहंकार से उत्पन्न होती है। अर्जुन स्वयं को कर्ता मान बैठा था, लेकिन उसने अपने भीतर तथा बाहर परम (परमात्मा) के निर्देश पर विचार नहीं किया था। यदि कोई यह न जाने कि कोई परम निर्देश भी है, तो वह कर्म क्यों करे? लेकिन जो व्यक्ति कर्म के उपकरणों को, कर्ता रूप में अपने को तथा परम निर्देशक के रूप में परमेश्वर को मानता है, वह प्रत्येक कार्य को पूर्ण करने में सक्षम है। ऐसा व्यक्ति कभी मोहग्रस्त नहीं होता। जीव में व्यक्तिगत कार्यकलाप तथा उसके उत्तरदायित्व का उदय मिथ्या अहंकार से तथा ईश्वरविहीनता या कृष्णभावनामृत के अभाव में होता है। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में परमात्मा या भगवान् के आदेशानुसार कर्म करता है, वह वध करता हुआ भी वध नहीं करता। न ही वह कभी ऐसे वध के फल भोगता है। जब कोई सैनिक अपने श्रेष्ठ अधिकारी सेनापति की आज्ञा से वध करता है, तो उसको दण्डित नहीं किया जाता। लेकिन यदि वही सैनिक स्वेच्छा से वध कर दे, तो निश्चित रूप से न्यायालय द्वारा उसका निर्णय होता है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥१८॥

ज्ञानम्–ज्ञान, ज्ञेयम्–ज्ञान का लक्ष्य (जानने योग्य); परिज्ञाता–जानने वाला, त्रि-विधा–तीन प्रकार के, कर्म–कर्म की, चोदना–प्रेरणा (अनुप्रेरणा), करणम्–इन्द्रियाँ, कर्म–कर्म; कर्ता–कर्ता, इति–इस प्रकार; त्रि-विधः–तीन प्रकार के; कर्म–कर्म के, सङ्ग्रहः–संग्रह, संचय।

ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता—ये तीनों कर्म को प्रेरणा देने वाले कारण हैं। इन्द्रियाँ (करण), कर्म तथा कर्ता—ये तीन कर्म के संघटक हैं।

तात्पर्य : दैनिक कार्य के लिए तीन प्रकार की प्रेरणाएँ हैं—ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता। कर्म का उपकरण (करण), स्वयं कर्म तथा कर्ता—ये तीनों कर्म के संघटक कहलाते हैं। किसी भी मनुष्य द्वारा किये गये किसी कर्म में ये ही तत्त्व रहते हैं। कर्म करने के पूर्व कुछ न कुछ प्रेरणा होती है। किसी भी कर्म से पहले प्राप्त होने वाला फल कर्म के सूक्ष्म रूप में वास्तविक बनता है। इसके बाद वह क्रिया का रूप धारण करता है। पहले मनुष्य को सोचने, अनुभव करने तथा इच्छा करने जैसी मनोवैज्ञानिक विधियों का सामना करना होता है, जिसे प्रेरणा कहते हैं और यह प्रेरणा चाहे शास्त्रों से प्राप्त हो, या गुरु के उपदेश से, एकसी होती है। जब प्रेरणा होती है और जब कर्ता होता है, तो इन्द्रियों की सहायता से, जिनमें मन सम्मिलित है और जो समस्त इन्द्रियों का केन्द्र है, वास्तविक कर्म सम्पन्न होता है। किसी कर्म के समस्त संघटकों को कर्म-संग्रह कहा जाता है।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥१९॥

ज्ञानम्–ज्ञान; कर्म–कर्म; च–भी, कर्ता–कर्ता, च–भी, त्रिधा–तीन प्रकार का, एव–निश्चय ही गुण-भेदतः–प्रकृति के विभिन्न गुणों के अनुसार, प्रोच्यते–कहे जाते हैं गुण-सङ्ख्याने–विभिन्न

गुणों के रूप में; यथा-वत्—जिस रूप में हैं उसी में; शृणु—सुनो; तानि—उन सबों को; अपि—भी।

प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार ही ज्ञान, कर्म तथा कर्ता के तीन-तीन भेद हैं। अब तुम मुझसे इन्हें सुनो।

तात्पर्य : चौदहवें अध्याय में प्रकृति के तीन गुणों का विस्तार से वर्णन हो चुका है। उस अध्याय में कहा गया था कि सतोगुण प्रकाशक होता है, रजोगुण भौतिकवादी तथा तमोगुण आलस्य तथा प्रमाद का प्रेरक होता है। प्रकृति के सारे गुण बन्धनकारी हैं, वे मुक्ति के साधन नहीं हैं। यहाँ तक कि सतोगुण में भी मनुष्य बद्ध रहता है। सत्रहवें अध्याय में विभिन्न प्रकार के मनुष्यों द्वारा विभिन्न गुणों में रहकर की जाने वाली विभिन्न प्रकार की पूजा का वर्णन किया गया। इस श्लोक में भगवान् कहते हैं कि वे तीनों गुणों के अनुसार विभिन्न प्रकार के ज्ञान, कर्ता तथा कर्म के विषय में बताना चाहते हैं।

सर्वभूतेषु येनेकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥२०॥

सर्व-भूतेषु—समस्त जीवों में; येन—जिससे; एकम्—एक; भावम्—स्थिति; अव्ययम्—अविनाशी; ईक्षते—देखता है; अविभक्तम्—अविभाजित; विभक्तेषु—अनन्त विभागों में बँटे हुए में; तत्—उस; ज्ञानम्—ज्ञान को; विद्धि—जानो; सात्त्विकम्—सतोगुणी।

जिस ज्ञान से अनन्त रूपों में विभक्त सारे जीवों में एक ही अविभक्त आध्यात्मिक प्रकृति देखी जाती है, उसे ही तुम सात्त्विक जानो।

तात्पर्य : जो व्यक्ति हर जीव में, चाहे वह देवता हो, मनुष्य हो, पशु-पक्षी हो या जलजन्तु अथवा पौधा हो, एक ही आत्मा को देखता है, उसे सात्त्विक ज्ञान प्राप्त रहता है। समस्त जीवों में एक ही आत्मा है, यद्यपि पूर्व कर्मों के अनुसार उनके शरीर भिन्न-भिन्न हैं। जैसाकि सातवें अध्याय में वर्णन हुआ है, प्रत्येक शरीर में जीवनी शक्ति की अभिव्यक्ति परमेश्वर की पराप्रकृति के कारण होती है। उस एक पराप्रकृति, उस जीवनी शक्ति को प्रत्येक शरीर में देखना सात्त्विक दर्शन है। यह जीवनी शक्ति अविनाशी है, भले ही शरीर विनाशशील हों। जो आपसी भेद है, वह शरीर के कारण है। चूँकि बद्धजीवन में अनेक प्रकार के भौतिक रूप हैं, अतएव जीवनी शक्ति विभक्त प्रतीत होती है। ऐसा निराकार ज्ञान आत्म-साक्षात्कार का एक पहलू है।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥२१॥

पृथक्त्वेन—विभाजन के कारण; तु—लेकिन; यत्—जो; ज्ञानम्—ज्ञान; नाना-भावान्—अनेक प्रकार की अवस्थाओं को; पृथक्-विधान—विभिन्न; वेत्ति—जानता है; सर्वेषु—समस्त; भूतेषु—जीवों में; तत्—उस; ज्ञानम्—ज्ञान को; विद्धि—जानो; राजसम्—राजसी।

जिस ज्ञान से कोई मनुष्य विभिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न प्रकार का जीव देखता है, उसे तुम राजसी जानो।

तात्पर्य : यह धारणा कि भौतिक शरीर ही जीव है और शरीर के विनष्ट होने पर चेतना भी नष्ट हो जाती है, राजसी ज्ञान है। इस ज्ञान के अनुसार एक शरीर दूसरे शरीर से भिन्न है, क्योंकि उनमें चेतना का विकास भिन्न प्रकार से होता है, अन्यथा चेतना को प्रकट करने वाला पृथक् आत्मा न रहे। शरीर स्वयं आत्मा है और शरीर के परे कोई पृथक् आत्मा नहीं है। इस ज्ञान के अनुसार चेतना अस्थायी है। या यह कि पृथक आत्माएँ नहीं होतीं; एक सर्वव्यापी आत्मा है, जो ज्ञान से पूर्ण है और यह शरीर क्षणिक अज्ञानता का प्रकाश है। या यह कि इस शरीर के परे कोई विशेष जीवात्मा या परम आत्मा नहीं है। ये सब धारणाएँ रजोगुण से उत्पन्न हैं।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहेतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

यत्–जो; तु–लेकिन, कृत्स्नवत्–पूर्ण रूप से, एकस्मिन्–एक, कार्ये–कार्य में; सक्तम्–आसक्त, अहेतुकम्–बिना हेतु के, अतत्त्व-अर्थ-वत्–वास्तविकता के ज्ञान से रहित, अल्पम्–अति तुच्छ; च–तथा, तत्–वह, तामसम्–तमोगुणी, उदाहृतम्–कहा जाता है।

और वह ज्ञान, जिससे मनुष्य किसी एक प्रकार के कार्य को, जो अति तुच्छ है, सब कुछ मान कर, सत्य को जाने बिना उसमें लिप्त रहता है, तामसी कहा जाता है।

तात्पर्य : सामान्य मनुष्य का 'ज्ञान' सदैव तामसी होता है, क्योंकि प्रत्येक बद्धजीव तमोगुण में ही उत्पन्न होता है। जो व्यक्ति प्रमाणों से या शास्त्रीय आदेशों के माध्यम से ज्ञान अर्जित नहीं करता, उसका ज्ञान शरीर तक ही सीमित रहता है। उसे शास्त्रों के आदेशानुसार कार्य करने की चिन्ता नहीं होती। उसके लिए धन ही ईश्वर है और ज्ञान का अर्थ शारीरिक आवश्यकताओं की तुष्टि है। ऐसे ज्ञान का परम सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह बहुत कुछ साधारण पशुओं के ज्ञान यथा खाने, सोने, रक्षा करने तथा मैथुन करने का ज्ञान जैसा है। ऐसे ज्ञान को यहाँ पर तमोगुण से उत्पन्न बताया गया है। दूसरे शब्दों में, इस शरीर से परे आत्मा सम्बन्धी ज्ञान सात्त्विक ज्ञान कहलाता है। जिस ज्ञान से लौकिक तर्क तथा चिन्तन (मनोधर्म) द्वारा नाना प्रकार के सिद्धान्त तथा वाद जन्म लें, वह राजसी है और शरीर को सुखमय बनाये रखने वाले ज्ञान को तामसी कहा जाता है।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ २३॥

नियतम्–नियमित; सङ्ग-रहितम्–आसक्ति रहित, अराग-द्वेषतः–राग-द्वेष से रहित, कृतम्–किया गया, अफल-प्रेप्सुना–फल की इच्छा से रहित वाले के द्वारा, कर्म–कर्म, यत्–जो, तत्–वह, सात्त्विकम्–सतोगुणी; उच्यते–कहा जाता है।

जो कर्म नियमित है और जो आसक्ति, राग या द्वेष से रहित कर्मफल की चाह के बिना किया जाता है, वह सात्त्विक कहलाता है।

तात्पर्य : विभिन्न आश्रमों तथा समाज के वर्णों के आधार पर शास्त्रों में संस्तुत वृत्तिपरक कर्म, जो अनासक्त भाव से अथवा स्वामित्व के अधिकारों के बिना, प्रेम-घृणा-भावरहित परमात्मा को प्रसन्न करने के लिए आसक्ति या अधिकार की भावना के बिना कृष्णभावनामृत में किये जाते हैं, सात्त्विक कहलाते हैं।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ २४॥

यत्—जो; **तु**—लेकिन; **काम-ईप्सुना**—फल की इच्छा रखने वाले के द्वारा; **कर्म**—कर्म; **स-अहङ्कारेण**—अहंकार सहित; **वा**—अथवा; **पुनः**—फिर; **क्रियते**—किया जाता है; **बहुल-आयासम्**—कठिन परिश्रम से; **तत्**—वह; **राजसम्**—राजसी; **उदाहृतम्**—कहा जाता है।

लेकिन जो कार्य अपनी इच्छा पूर्ति के निमित्त प्रयासपूर्वक एवं मिथ्या अहंकार के भाव से किया जाता है, वह रजोगुणी कहा जाता है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ २५॥

अनुबन्धम्—भावी बन्धन का; **क्षयम्**—विनाश; **हिंसाम्**—तथा अन्यों को कष्ट; **अनपेक्ष्य**—परिणाम पर विचार किये बिना; **च**—भी; **पौरुषम्**—सामर्थ्य को; **मोहात्**—मोह से; **आरभ्यते**—प्रारम्भ किया जाता है; **कर्म**—कर्म; **यत्**—जो; **तत्**—वह; **तामसम्**—तामसी; **उच्यते**—कहा जाता है।

जो कर्म मोहवश शास्त्रीय आदेशों की अवहेलना करके तथा भावी बन्धन की परवाह किये बिना या हिंसा अथवा अन्यों को दुख पहुँचाने के लिए किया जाता है, वह तामसी कहलाता है।

तात्पर्य : मनुष्य को अपने कर्मों का लेखा राज्य को अथवा परमेश्वर के दूतों को, जिन्हें यमदूत कहते हैं, देना होता है। उत्तरदायित्वहीन कर्म विनाशकारी है, क्योंकि इससे शास्त्रीय आदेशों का विनाश होता है। यह प्रायः हिंसा पर आधारित होता है और अन्य जीवों के लिए दुखदायी होता है। उत्तरदायित्व से हीन ऐसा कर्म अपने निजी अनुभव के आधार पर किया जाता है। यह मोह कहलाता है। ऐसा समस्त मोहग्रस्त कर्म तमोगुण के फलस्वरूप होता है।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ २६॥

मुक्त-सङ्गः—सारे भौतिक संसर्ग से मुक्त; **अनहम्-वादी**—मिथ्या अहंकार से रहित; **धृति**—संकल्प; **उत्साह**—तथा उत्साह सहित; **समन्वितः**—योग्य; **सिद्धि**—सिद्धि; **असिद्ध्योः**—तथा विफलता में; **निर्विकारः**—बिना परिवर्तन के; **कर्ता**—कर्ता; **सात्त्विकः**—सतोगुणी; **उच्यते**—कहा जाता है।

जो व्यक्ति भौतिक गुणों के संसर्ग के बिना अहंकाररहित, संकल्प तथा उत्साहपूर्वक अपना कर्म करता है और सफलता अथवा असफलता में अविचलित रहता है, वह

सात्त्विक कर्ता कहलाता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनामय व्यक्ति सदैव प्रकृति के गुणों से अतीत होता है। उसे अपने को सौंपे गये कर्म के परिणाम की कोई आकांक्षा नहीं रहती, क्योंकि वह मिथ्या अहंकार तथा घमंड से परे होता है। फिर भी कार्य के पूर्ण होने तक वह सदैव उत्साह से पूर्ण रहता है। उसे होने वाले कष्टों की कोई चिन्ता नहीं होती, वह सदैव उत्साहपूर्ण रहता है। वह सफलता या विफलता की परवाह नहीं करता, वह सुख-दुख में समभाव रहता है। ऐसा कर्ता सात्त्विक है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ २७॥

रागी–अत्यधिक आसक्त, कर्म-फल–कर्म के फल की; प्रेप्सुः–इच्छा करते हुए; लुब्धः–लालची, हिंसा-आत्मकः–सदैव ईर्ष्यालु, अशुचिः–अपवित्र, हर्ष-शोक-अन्वितः–हर्ष तथा शोक से युक्त, कर्ता–ऐसा कर्ता, राजसः–रजोगुणी, परिकीर्तितः–घोषित किया जाता है।

जो कर्ता कर्म तथा कर्म-फल के प्रति आसक्त होकर फलों का भोग करना चाहता है तथा जो लोभी, सदैव ईर्ष्यालु, अपवित्र और सुख-दुख से विचलित होने वाला है, वह राजसी कहा जाता है।

तात्पर्य : मनुष्य सदैव किसी कार्य के प्रति या फल के प्रति इसलिए अत्यधिक आसक्त रहता है, क्योंकि वह भौतिक पदार्थों, घर-बार, पत्नी तथा पुत्र के प्रति अत्यधिक अनुरक्त होता है। ऐसा व्यक्ति जीवन में ऊपर उठने की आकांक्षा नहीं रखता। वह इस संसार को यथासम्भव आरामदेह बनाने में ही व्यस्त रहता है। सामान्यतः वह अत्यन्त लोभी होता है और सोचता है कि उसके द्वारा प्राप्त की गई प्रत्येक वस्तु स्थायी है और कभी नष्ट नहीं होगी। ऐसा व्यक्ति अन्यों से ईर्ष्या करता है और इन्द्रियतृप्ति के लिए कोई भी अनुचित कार्य कर सकता है। अतएव ऐसा व्यक्ति अपवित्र होता है और वह इसकी चिन्ता नहीं करता कि उसकी कमाई शुद्ध है या अशुद्ध। यदि उसका कार्य सफल हो जाता है तो वह अत्यधिक प्रसन्न और असफल होने पर अत्यधिक दुखी होता है। रजोगुणी कर्ता ऐसा ही होता है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥ २८॥

अयुक्तः–शास्त्रों के आदेशों को न मानने वाला, प्राकृतः–भौतिकवादी, स्तब्धः–हठी, शठः–कपटी, नैष्कृतिकः–अन्यों का अपमान करने में पटु, अलसः–आलसी, विषादी–खिन्न, दीर्घ-सूत्री–ऊँघ ऊँघ कर काम करने वाला, देर लगाने वाला, च–भी, कर्ता–कर्ता, तामसः–तमोगुणी; उच्यते–कहलाता है।

जो कर्ता सदा शास्त्रों के आदेशों के विरुद्ध कार्य करता रहता है, जो भौतिकवादी, हठी, कपटी तथा अन्यों का अपमान करने में पटु है तथा जो आलसी, सदैव

तात्पर्य : विभिन्न आश्रमों तथा समाज के वर्णों के आधार पर शास्त्रों में संस्तुत वृत्तिपरक कर्म, जो अनासक्त भाव से अथवा स्वामित्व के अधिकारों के विना, प्रेम-घृणा-भावरहित परमात्मा को प्रसन्न करने के लिए आसक्ति या अधिकार की भावना के विना कृष्णभावनामृत में किये जाते हैं, सात्त्विक कहलाते हैं।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ २४॥

यत्—जो; **तु**—लेकिन; **काम-ईप्सुना**—फल की इच्छा रखने वाले के द्वारा; **कर्म**—कर्म; **स-अहङ्कारेण**—अहंकार सहित; **वा**—अथवा; **पुनः**—फिर; **क्रियते**—किया जाता है; **बहुल-आयासम्**—कठिन परिश्रम से; **तत्**—वह; **राजसम्**—राजसी; **उदाहृतम्**—कहा जाता है।

लेकिन जो कार्य अपनी इच्छा पूर्ति के निमित्त प्रयासपूर्वक एवं मिथ्या अहंकार के भाव से किया जाता है, वह रजोगुणी कहा जाता है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ २५॥

अनुबन्धम्—भावी वन्धन का; **क्षयम्**—विनाश; **हिंसाम्**—तथा अन्यों को कष्ट; **अनपेक्ष्य**—परिणाम पर विचार किये विना; **च**—भी; **पौरुषम्**—सामर्थ्य को; **मोहात्**—मोह से; **आरभ्यते**—प्रारम्भ किया जाता है; **कर्म**—कर्म; **यत्**—जो; **तत्**—वह; **तामसम्**—तामसी; **उच्यते**—कहा जाता है।

जो कर्म मोहवश शास्त्रीय आदेशों की अवहेलना करके तथा भावी बन्धन की परवाह किये विना या हिंसा अथवा अन्यों को दुख पहुँचाने के लिए किया जाता है, वह तामसी कहलाता है।

तात्पर्य : मनुष्य को अपने कर्मों का लेखा राज्य को अथवा परमेश्वर के दूतों को, जिन्हें यमदूत कहते हैं, देना होता है। उत्तरदायित्वहीन कर्म विनाशकारी है, क्योंकि इससे शास्त्रीय आदेशों का विनाश होता है। यह प्रायः हिंसा पर आधारित होता है और अन्य जीवों के लिए दुखदायी होता है। उत्तरदायित्व से हीन ऐसा कर्म अपने निजी अनुभव के आधार पर किया जाता है। यह मोह कहलाता है। ऐसा समस्त मोहग्रस्त कर्म तमोगुण के फलस्वरूप होता है।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ २६॥

मुक्त-सङ्गः—सारे भौतिक संसर्ग से मुक्त; **अनहम्-वादी**—मिथ्या अहंकार से रहित; **धृति**—संकल्प; **उत्साह**—तथा उत्साह सहित; **समन्वितः**—योग्य; **सिद्धि**—सिद्धि; **असिद्ध्योः**—तथा विफलता में; **निर्विकारः**—विना परिवर्तन के; **कर्ता**—कर्ता; **सात्त्विकः**—सतोगुणी; **उच्यते**—कहा जाता है।

जो व्यक्ति भौतिक गुणों के संसर्ग के विना अहंकाररहित, संकल्प तथा उत्साहपूर्वक अपना कर्म करता है और सफलता अथवा असफलता में अविचलित रहता है, वह

तथा काम करने में दीर्घसूत्री है, वह तमोगुणी कहलाता है।

तात्पर्य : शास्त्रीय आदेशों से हमें पता चलता है कि हमें कौन सा काम करना चाहिए और कौन सा नहीं करना चाहिए। जो लोग शास्त्रों के आदेशों की अवहेलना करके अकरणीय कार्य करते हैं, प्रायः भौतिकवादी होते हैं। वे प्रकृति के गुणों के अनुसार कार्य करते हैं, शास्त्रों के आदेशों के अनुसार नहीं। ऐसे कर्ता भद्र नहीं होते और सामान्यतया सदैव कपटी (धूर्त) तथा अन्यों का अपमान करने वाले होते हैं। वे अत्यन्त आलसी होते हैं, काम होते हुए भी उसे ठीक से नहीं करते और बाद में करने के लिए उसे एक तरफ रख देते हैं, अतएव वे खिन्न रहते हैं। जो काम एक घंटे में हो सकता है, उसे वे वर्षों तक घसीटते जाते हैं—वे दीर्घसूत्री होते हैं। ऐसे कर्ता तमोगुणी होते हैं।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥ २९॥

बुद्धेः—बुद्धि का; **भेदम्**—अन्तर; **धृतेः**—धैर्य का; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **गुणतः**—गुणों के द्वारा; **त्रि-विधम्**—तीन प्रकार के; **शृणु**—सुनो; **प्रोच्यमानम्**—जैसा मेरे द्वारा कहा गया; **अशेषेण**—विस्तार से; **पृथक्त्वेन**—भिन्न प्रकार से; **धनञ्जय**—हे सम्पत्ति के विजेता।

हे धनञ्जय! अब मैं प्रकृति के तीनों गुणों के अनुसार तुम्हें विभिन्न प्रकार की बुद्धि तथा धृति के विषय में विस्तार से बताऊँगा। तुम इसे सुनो।

तात्पर्य : ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता की व्याख्या प्रकृति के गुणों के अनुसार तीन-तीन पृथक् विभागों में करने के बाद अब भगवान् कर्ता की बुद्धि तथा उसके संकल्प (धैर्य) के विषय में उसी प्रकार से बता रहे हैं।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३०॥

प्रवृत्तिम्—कर्म को; **च**—भी; **निवृत्तिम्**—अकर्म को; **च**—तथा; **कार्य**—करणीय; **अकार्ये**—तथा अकरणीय में; **भय**—भय; **अभये**—तथा निडरता में; **बन्धम्**—बन्धन; **मोक्षम्**—मोक्ष; **च**—तथा; **या**—जो; **वेत्ति**—जानता है; **बुद्धिः**—बुद्धि; **सा**—वह; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **सात्त्विकी**—सतोगुणी।

हे पृथापुत्र! वह बुद्धि सतोगुणी है, जिसके द्वारा मनुष्य यह जानता है कि क्या करणीय है और क्या नहीं है, किससे डरना चाहिए और किससे नहीं, क्या बाँधने वाला है और क्या मुक्ति देने वाला है।

तात्पर्य : शास्त्रों के निर्देशानुसार कर्म करने को या उन कर्मों को करना जिन्हें किया जाना चाहिए, प्रवृत्ति कहते हैं। जिन कार्यों का इस तरह निर्देश नहीं होता वे नहीं किये जाने चाहिए। जो व्यक्ति शास्त्रों के निर्देशों को नहीं जानता, वह कर्मों तथा उनकी प्रतिक्रिया से बँध जाता है। जो बुद्धि अच्छे बुरे का भेद बताती है, वह सात्त्विकी है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ ३१॥

यया–जिसके द्वारा; धर्मम्–धर्म को; अधर्मम्–अधर्म को, च–तथा, कार्यम्–करणीय, च–भी, अकार्यम्–अकरणीय को; एव–निश्चय ही; च–भी; अयथा-वत्–अधूरे ढंग से, प्रजानाति–जानती है; बुद्धिः–बुद्धि; सा–वह; पार्थ–हे पृथापुत्र; राजसी–रजोगुणी।

हे पृथापुत्र! जो बुद्धि धर्म तथा अधर्म, करणीय तथा अकरणीय कर्म में भेद नहीं कर पाती, वह राजसी है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ ३२॥

अधर्मम्–अधर्म को; धर्मम्–धर्म; इति–इस प्रकार; या–जो; मन्यते–सोचती है; तमसा–भ्रम से, आवृता–आच्छादित, ग्रस्त, सर्व-अर्थान्–सारी वस्तुओं को, विपरीतान्–उल्टी दिशा में, च–भी; बुद्धिः–बुद्धि, सा–वह, पार्थ–हे पृथापुत्र, तामसी–तमोगुण से युक्त।

जो बुद्धि मोह तथा अंधकार के वशीभूत होकर अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म मानती है और सदैव विपरीत दिशा में प्रयत्न करती है, हे पार्थ! वह तामसी है।

तात्पर्य : तामसी बुद्धि को जिस दिशा में काम करना चाहिए, उससे सदैव उल्टी दिशा में काम करती है। यह उन धर्मों को स्वीकारती है, जो वास्तव में धर्म नहीं हैं और वास्तविक धर्म को ठुकराती है। अज्ञानी मनुष्य महात्मा को सामान्य व्यक्ति मानते हैं और सामान्य व्यक्ति को महात्मा स्वीकार करते हैं। वे सत्य को असत्य तथा असत्य को सत्य मानते हैं। वे सारे कार्मों में कुपथ ग्रहण करते हैं, अतएव उनकी बुद्धि तामसी होती है।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३३॥

धृत्या–संकल्प, धृति द्वारा; यया–जिससे, धारयते–धारण करता है, मनः–मन का, प्राण–प्राण, इन्द्रिय–तथा इन्द्रियों के, क्रियाः–कार्यकलापों को; योगेन–योगाभ्यास द्वारा, अव्यभिचारिण्या–तोड़े बिना, निरन्तर, धृतिः–धृति; सा–वह, पार्थ–हे पृथापुत्र, सात्त्विकी–सात्त्विक।

हे पृथापुत्र! जो अटूट है, जिसे योगाभ्यास द्वारा अचल रहकर धारण किया जाता है और जो इस प्रकार मन, प्राण तथा इन्द्रियों के कार्यकलापों को वश में रखती है, वह धृति सात्त्विक है।

तात्पर्य : योग परमात्मा को जानने का साधन है। जो व्यक्ति मन, प्राण तथा इन्द्रियों को परमात्मा में एकाग्र करके दृढ़तापूर्वक उनमें स्थित रहता है, वही कृष्णभावना में तत्पर होता है। ऐसी धृति सात्त्विक होती है। *अव्यभिचारिण्या* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह सूचित करता है कि कृष्णभावनामृत में तत्पर मनुष्य कभी किसी दूसरे कार्य द्वारा विचलित नहीं होता।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥ ३४॥

यया—जिससे; तु—लेकिन; धर्म—धार्मिकता; काम—इन्द्रियतृप्ति; अर्थान्—तथा आर्थिक विकास को; धृत्या—संकल्प या धृति से; धारयते—धारण करता है; अर्जुन—हे अर्जुन; प्रसङ्गेन—आसक्ति के कारण; फल-आकाङ्क्षी—कर्मफल की इच्छा करने वाला; धृतिः—संकल्प या धृति; सा—वह; पार्थ—हे पृथापुत्र; राजसी—रजोगुणी।

लेकिन हे अर्जुन! जिस धृति से मनुष्य धर्म, अर्थ तथा काम के फलों में लिप्त बना रहता है, वह राजसी है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति धार्मिक या आर्थिक कार्यों में कर्मफलों का सदैव आकांक्षी होता है, जिसकी एकमात्र इच्छा इन्द्रियतृप्ति होती है तथा जिसका मन, जीवन तथा इन्द्रियाँ इस प्रकार संलग्न रहती हैं, वह रजोगुणी होता है।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥ ३५॥

यया—जिससे; स्वप्नम्—स्वप्न; भयम्—भय; शोकम्—शोक; विषादम्—विषाद, खिन्नता; मदम्—मोह को; एव—निश्चय ही; च—भी; न—कभी नहीं; विमुञ्चति—त्यागती है; दुर्मेधा—दुर्बुद्धि; धृतिः—धृति; सा—वह; पार्थ—हे पृथापुत्र; तामसी—तमोगुणी।

हे पार्थ! जो धृति स्वप्न, भय, शोक, विषाद तथा मोह के परे नहीं जाती, ऐसी दुर्बुद्धिपूर्ण धृति तामसी है।

तात्पर्य : इससे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि सतोगुणी मनुष्य स्वप्न नहीं देखता। यहाँ पर स्वप्न का अर्थ अति निद्रा है। स्वप्न सदा आता है, चाहे वह सात्त्विक हो, राजस हो या तामसी, स्वप्न तो प्राकृतिक घटना है। लेकिन जो अपने को अधिक सोने से नहीं बचा पाते, जो भौतिक वस्तुओं को भोगने के गर्व से नहीं बचा पाते, जो सदैव संसार पर प्रभुत्व जताने का स्वप्न देखते रहते हैं और जिनके प्राण, मन तथा इन्द्रियाँ इस प्रकार लिप्त रहतीं हैं, वे तामसी धृति वाले कहे जाते हैं।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥ ३६॥

सुखम्—सुख; तु—लेकिन; इदानीम्—अब; त्रि-विधम्—तीन प्रकार का; शृणु—सुनो; मे—मुझसे; भरत-ऋषभ—हे भरतश्रेष्ठ; अभ्यासात्—अभ्यास से; रमते—भोगता है; यत्र—जहाँ; दुःख—दुख का; अन्तम्—अन्त; च—भी; निगच्छति—प्राप्त करता है।

हे भरतश्रेष्ठ! अब मुझसे तीन प्रकार के सुखों के विषय में सुनो, जिनके द्वारा बद्धजीव भोग करता है और जिसके द्वारा कभी-कभी दुखों का अन्त हो जाता है।

तात्पर्य : बद्धजीव भौतिक सुख भोगने की बारम्बार चेष्टा करता है। इस प्रकार वह चर्वित चर्वण करता है। लेकिन कभी कभी ऐसे भोग के अन्तर्गत वह किसी महापुरुष की संगति से भवबन्धन से मुक्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में, बद्धजीव सदा ही किसी न किसी इन्द्रियतृप्ति में लगा रहता है, लेकिन जब सुसंगति से यह समझ लेता है कि यह तो एक ही वस्तु की पुनरावृत्ति है और उसमें वास्तविक कृष्णभावनामृत का उदय होता है, तो कभी-कभी वह ऐसे तथाकथित आवृत्तिमूलक सुख से मुक्त हो जाता है।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ ३७॥

यत्—जो; तत्—वह; अग्रे—आरम्भ में; विषम्-इव—विष के समान; परिणामे—अन्त में; अमृत—अमृत; उपमम्—सदृश; तत्—वह; सुखम्—सुख; सात्त्विकम्—सतोगुणी; प्रोक्तम्—कहलाता है; आत्म—अपनी; बुद्धि—बुद्धि की; प्रसाद-जम्—तुष्टि से उत्पन्न।

जो प्रारम्भ में विष जैसा लगता है, लेकिन अन्त में अमृत के समान है और जो मनुष्य में आत्म-साक्षात्कार जगाता है, वह सात्त्विक सुख कहलाता है।

तात्पर्य : आत्म-साक्षात्कार के साधन में मन तथा इन्द्रियों को वश में करने तथा मन को आत्मकेन्द्रित करने के लिए नाना प्रकार के विधि-विधानों का पालन करना पड़ता है। ये सारी विधियाँ बहुत कठिन और विष के समान अत्यन्त कड़वी लगने वाली हैं, लेकिन यदि कोई इन नियमों के पालन में सफल हो जाता है और दिव्य पद को प्राप्त हो जाता है, तो वह वास्तविक अमृत का पान करने लगता है और जीवन का सुख प्राप्त करता है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ ३८॥

विषय—इन्द्रिय विषयों; इन्द्रिय—तथा इन्द्रियों के; संयोगात्—संयोग से; यत्—जो; तत्—वह; अग्रे—प्रारम्भ में; अमृत-उपमम्—अमृत के समान; परिणामे—अन्त में; विषम् इव—विष के समान; तत्—वह; सुखम्—सुख; राजसम्—राजसी; स्मृतम्—माना जाता है।

जो सुख इन्द्रियों द्वारा उनके विषयों के संसर्ग से प्राप्त होता है और जो प्रारम्भ में अमृततुल्य तथा अन्त में विषतुल्य लगता है, वह रजोगुणी कहलाता है।

तात्पर्य : जब कोई युवक किसी युवती से मिलता है, तो इन्द्रियाँ युवक को प्रेरित करती हैं कि वह उस युवती को देखे, उसका स्पर्श करे और उससे संभोग करे। प्रारम्भ में इन्द्रियों को यह अत्यन्त सुखकर लग सकता है, लेकिन अन्त में या कुछ समय बाद वही विष तुल्य बन जाता है। तब वे विलग हो जाते हैं या उनमें तलाक (विवाह विच्छेद) हो जाता है। फिर शोक, विषाद इत्यादि उत्पन्न होता है। ऐसा सुख सदैव राजसी होता है। जो सुख इन्द्रियों और विषयों के संयोग से प्राप्त होता है, वह सदैव दुख का कारण बनता है, अतएव इससे सभी तरह से बचना चाहिए।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ ३९॥

यत्–जो; **अग्रे**–प्रारम्भ में; **च**–भी; **अनुबन्धे**–अन्त में; **च**–भी; **सुखम्**–सुख; **मोहनम्**–मोहमय; **आत्मनः**–अपना; **निद्रा**–नींद; **आलस्य**–आलस्य; **प्रमाद**–तथा मोह से; **उत्थम्**–उत्पन्न; **तत्**–वह; **तामसम्**–तामसी; **उदाहृतम्**–कहलाता है।

तथा जो सुख आत्म-साक्षात्कार के प्रति अन्धा है, जो प्रारम्भ से लेकर अन्त तक मोहकारक है और जो निद्रा, आलस्य तथा मोह से उत्पन्न होता है, वह तामसी कहलाता है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति आलस्य तथा निद्रा में ही सुखी रहता है, वह निश्चय ही तमोगुणी है। जिस व्यक्ति को इसका कोई अनुमान नहीं है कि किस प्रकार कर्म किया जाय और किस प्रकार नहीं, वह भी तमोगुणी है। तमोगुणी व्यक्ति के लिए सारी वस्तुएँ भ्रम (मोह) हैं। उसे न तो प्रारम्भ में सुख मिलता है, न अन्त में। रजोगुणी व्यक्ति के लिए प्रारम्भ में कुछ क्षणिक सुख और अन्त में दुख हो सकता है, लेकिन जो तमोगुणी है, उसे प्रारम्भ में तथा अन्त में दुख ही दुख मिलता है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ ४०॥

न–नहीं; **तत्**–वह; **अस्ति**–है; **पृथिव्याम्**–पृथ्वी पर; **वा**–अथवा; **दिवि**–उच्चतर लोकों में; **देवेषु**–देवताओं में; **वा**–अथवा; **पुनः**–फिर; **सत्त्वम्**–अस्तित्व; **प्रकृति-जैः**–प्रकृति से उत्पन्न; **मुक्तम्**–मुक्त; **यत्**–जो; **एभिः**–इनके प्रभाव से; **स्यात्**–हो; **त्रिभिः**–तीन; **गुणैः**–गुणों से।

इस लोक में, स्वर्ग लोकों में या देवताओं के मध्य में कोई भी ऐसा व्यक्ति विद्यमान नहीं है, जो प्रकृति के तीन गुणों से मुक्त हो।

तात्पर्य : भगवान् इस श्लोक में समग्र ब्रह्माण्ड में प्रकृति के तीन गुणों के प्रभाव का संक्षिप्त विवरण दे रहे हैं।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ ४१॥

ब्राह्मण–ब्राह्मण; **क्षत्रिय**–क्षत्रिय; **विशाम्**–तथा वैश्यों का; **शूद्राणाम्**–शूद्रों का; **च**–तथा; **परन्तप**–हे शत्रुओं के विजेता; **कर्माणि**–कार्यकलाप; **प्रविभक्तानि**–विभाजित हैं; **स्वभाव**–अपने स्वभाव से; **प्रभवैः**–उत्पन्न; **गुणैः**–गुणों के द्वारा।

हे परन्तप! ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों में प्रकृति के गुणों के अनुसार उनके स्वभाव द्वारा उत्पन्न गुणों के द्वारा भेद किया जाता है।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ ४२॥

शमः—शान्तिप्रियता; दमः—आत्मसंयम; तपः—तपस्या, शौचम्—पवित्रता, क्षान्तिः—सहिष्णुता, आर्जवम्—सत्यनिष्ठा, एव—निश्चय ही; च—तथा, ज्ञानम्—ज्ञान, विज्ञानम्—विज्ञान, आस्तिक्यम्—धार्मिकता; ब्रह्म—ब्राह्मण का, कर्म—कर्तव्य, स्वभावजम्—स्वभाव से उत्पन्न स्वाभाविक।

शान्तिप्रियता, आत्मसंयम, तपस्या, पवित्रता, सहिष्णुता, सत्यनिष्ठा, ज्ञान, विज्ञान तथा धार्मिकता—ये सारे स्वाभाविक गुण हैं, जिनके द्वारा ब्राह्मण कर्म करते हैं।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥

शौर्यम्—वीरता; तेजः—शक्ति; धृतिः—संकल्प, धैर्य; दाक्ष्यम्—दक्षता; युद्धे—युद्ध में; च—तथा; अपि—भी; अपलायनम्—विमुख न होना; दानम्—उदारता, ईश्वर—नेतृत्व का; भावः—स्वभाव, च—तथा, क्षात्रम्—क्षत्रिय का; कर्म—कर्तव्य, स्वभाव-जम्—स्वभाव से उत्पन्न, स्वाभाविक।

वीरता, शक्ति, संकल्प, दक्षता, युद्ध में धैर्य, उदारता तथा नेतृत्व—ये क्षत्रियों के स्वाभाविक गुण हैं।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ ४४॥

कृषि—हल जोतना, गो—गायों की, रक्ष्य—रक्षा, वाणिज्यम्—व्यापार, वैश्य—वैश्य का, कर्म—कर्तव्य, स्वभाव-जम्—स्वाभाविक, परिचर्या—सेवा, आत्मकम्—से युक्त, कर्म—कर्तव्य, शूद्रस्य—शूद्र के, अपि—भी; स्वभाव-जम्—स्वाभाविक।

कृषि करना, गो-रक्षा तथा व्यापार वैश्यों के स्वाभाविक कर्म हैं और शूद्रों का कर्म श्रम तथा अन्यों की सेवा करना है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ ४५॥

स्वे स्वे—अपने अपने, कर्मणि—कर्म में, अभिरतः—संलग्न, संसिद्धिम्—सिद्धि को लभते—प्राप्त करता है, नरः—मनुष्य, स्व-कर्म—अपने कर्म में, निरतः—लगा हुआ सिद्धिम् सिद्धि को यथा—जिस प्रकार, विन्दति—प्राप्त करता है तत्—वह, शृणु—सुनो।

अपने अपने कर्म के गुणों का पालन करते हुए प्रत्येक व्यक्ति सिद्ध हो सकता है। अब तुम मुझसे सुनो कि यह किस प्रकार किया जा सकता है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ ४६॥

यतः—जिससे; **प्रवृत्तिः**—उद्भव; **भूतानाम्**—समस्त जीवों का; **येन**—जिससे; **सर्वम्**—समस्त; **इदम्**—यह; **ततम्**—व्याप्त है; **स्व-कर्मणा**—अपने कर्म से; **तम्**—उसको; **अभ्यर्च्य**—पूजा करके; **सिद्धिम्**—सिद्धि को; **विन्दति**—प्राप्त करता है; **मानवः**—मनुष्य।

जो सभी प्राणियों का उद्गम है और सर्वव्यापी है, उस भगवान् की उपासना करके मनुष्य अपना कर्म करते हुए पूर्णता प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य : जैसा कि पन्द्रहवें अध्याय में बताया जा चुका है, सारे जीव परमेश्वर के भिन्नांश हैं। इस प्रकार परमेश्वर ही सभी जीवों के आदि हैं। *वेदान्त सूत्र* में इसकी पुष्टि हुई है—*जन्माद्यस्य यतः*। अतएव परमेश्वर प्रत्येक जीव के जीवन के उद्गम हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* के सातवें अध्याय में कहा गया है, परमेश्वर अपनी परा तथा अपरा, इन दो शक्तियों के द्वारा सर्वव्यापी हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि उनकी शक्तियों सहित भगवान् की पूजा करे। सामान्यतया वैष्णवजन परमेश्वर की पूजा उनकी अन्तरंगा शक्ति समेत करते हैं। उनकी वहिरंगा शक्ति उनकी अन्तरंगा शक्ति का विकृत प्रतिविम्ब है। वहिरंगा शक्ति पृष्ठभूमि है, लेकिन परमेश्वर परमात्मा रूप में पूर्णांश का विस्तार करके सर्वत्र स्थित हैं। वे सर्वत्र समस्त देवताओं, मनुष्यों और पशुओं के परमात्मा हैं। अतएव मनुष्य को यह जानना चाहिए कि परमेश्वर का भिन्नांश होने के कारण उसका कर्तव्य है कि वह भगवान् की सेवा करे। प्रत्येक व्यक्ति को कृष्णभावनामृत में भगवान् की भक्ति करनी चाहिए। इस श्लोक में इसी की संस्तुति की गई है।

प्रत्येक व्यक्ति को सोचना चाहिए कि इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश द्वारा वह विशेष कर्म में प्रवृत्त किया गया है। अतएव जो जिस कर्म में लगा है, उसीके फल के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण को पूजना चाहिए। यदि वह इस प्रकार से कृष्णभावनामय हो कर सोचता है, तो भगवत्कृपा से वह पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है। यही जीवन की सिद्धि है। भगवान् ने *भगवद्गीता* में (१२.७) कहा है—*तेषामहं समुद्धर्ता*। परमेश्वर स्वयं ऐसे भक्त का उद्धार करते हैं। यही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है। कोई चाहे जिस वृत्तिपरक कार्य में लगा हो, यदि वह परमेश्वर की सेवा करता है, तो उसे सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त होती है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ ४७॥

श्रेयान्—श्रेष्ठ; **स्व-धर्मः**—अपना वृत्तिपरक कार्य; **विगुणः**—भली भाँति सम्पन्न न होकर; **पर-धर्मात्**—दूसरे के वृत्तिपरक कार्य से; **सु-अनुष्ठितात्**—भलीभाँति किया गया; **स्वभाव-नियतम्**—स्वभाव के अनुसार संस्तुत; **कर्म**—कर्म; **कुर्वन्**—करने से; **न**—कभी नहीं; **आप्नोति**—प्राप्त करता है; **किल्बिषम्**—पापों को।

अपने वृत्तिपरक कार्य को करना, चाहे वह कितना ही त्रुटिपूर्ण ढंग से क्यों न किया जाय, अन्य किसी के कार्य को स्वीकार करने और अच्छी प्रकार करने की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। अपने स्वभाव के अनुसार निर्दिष्ट कर्म कभी भी पाप से प्रभावित नहीं होते।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में मनुष्य के वृत्तिपरक कार्य (स्वधर्म) का निर्देश है। जैसा कि पूर्ववर्ती श्लोकों में वर्णन हुआ है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के कर्तव्य उनके विशेष प्राकृतिक गुणों (स्वभाव) के द्वारा निर्दिष्ट होते हैं। किसी को दूसरे के कार्य का अनुकरण नहीं करना चाहिए। जो व्यक्ति स्वभाव से शूद्र के द्वारा किये जाने वाले कर्म के प्रति आकृष्ट हो, उसे अपने आपको झूठे ही ब्राह्मण नहीं कहना चाहिए, भले ही वह ब्राह्मण कुल में क्यों न उत्पन्न हुआ हो। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि अपने स्वभाव के अनुसार कार्य करे, कोई भी कर्म निकृष्ट (गर्हित) नहीं है, यदि वह परमेश्वर की सेवा के लिए किया जाय। ब्राह्मण का वृत्तिपरक कार्य निश्चित रूप से सात्त्विक है, लेकिन यदि कोई मनुष्य स्वभाव से सात्त्विक नहीं है, तो उसे ब्राह्मण के वृत्तिपरक कार्य (धर्म) का अनुकरण नहीं करना चाहिए। क्षत्रिय या प्रशासक के लिए अनेक गर्हित बातें हैं—क्षत्रिय को शत्रुओं का वध करने के लिए हिंसक होना पड़ता है और कभी-कभी कूटनीति में झूठ भी बोलना पड़ता है। ऐसी हिंसा तथा कपट राजनीतिक मामलों में चलता है, लेकिन क्षत्रिय से यह आशा नहीं की जाती कि वह अपने वृत्तिपरक कर्तव्य त्याग कर ब्राह्मण के कार्य करने लगे।

मनुष्य को चाहिए कि परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए कार्य करे। उदाहरणार्थ, अर्जुन *क्षत्रिय* था। वह दूसरे पक्ष से युद्ध करने से बच रहा था। लेकिन यदि ऐसा युद्ध भगवान् कृष्ण के लिए करना पड़े, तो पतन से घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। कभी-कभी व्यापारिक क्षेत्र में भी व्यापारी को लाभ कमाने के लिए झूठ बोलना पड़ता है। यदि वह ऐसा नहीं करे तो उसे लाभ नहीं हो सकता। कभी-कभी व्यापारी कहता है, "अरे मेरे ग्राहक भाई! मैं आपसे कोई लाभ नहीं ले रहा।" लेकिन हमे यह समझना चाहिए कि व्यापारी बिना लाभ के जीवित नहीं रह सकता। अतएव यदि व्यापारी यह कहता है कि वह कोई लाभ नहीं ले रहा है तो इसे एक सरल झूठ समझना चाहिए। लेकिन व्यापारी को यह नहीं सोचना चाहिए कि चूँकि वह ऐसे कार्य में लगा है, जिसमें झूठ बोलना आवश्यक है, अतएव उसे इस व्यवसाय (वैश्य कर्म) का त्यागकर ब्राह्मण की वृत्ति ग्रहण करनी चाहिए। इसकी शास्त्रों द्वारा संस्तुति नहीं की गई। चाहे कोई *क्षत्रिय* हो, वैश्य हो या शूद्र, यदि वह इस कार्य से भगवान् की सेवा करता है तो कोई आपत्ति नहीं है। कभी-कभी विभिन्न यज्ञों का सम्पादन करते समय ब्राह्मणों को भी पशुओं की हत्या करनी होती है, क्योंकि इन अनुष्ठानों में पशु की बलि देनी होती है। इसी प्रकार यदि *क्षत्रिय* अपने कार्य में लगा रहकर शत्रु का वध करता है, तो उस पर पाप नहीं चढ़ता। तृतीय अध्याय में इन बातों की स्पष्ट एवं विस्तृत व्याख्या हो चुकी है। हर मनुष्य को यज्ञ के लिए अथवा भगवान् विष्णु के लिए कार्य करना चाहिए। निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए किया गया कोई भी कार्य बन्धन का कारण है। निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को चाहिए कि अपने द्वारा अर्जित विशेष गुण के अनुसार कार्य में प्रवृत्त हो और परमेश्वर की सेवा करने के लिए ही कार्य करने का निश्चय करे।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

सहजम्–एकसाथ उत्पन्न; **कर्म**–कर्म; **कौन्तेय**–हे कुन्तीपुत्र; **स-दोषम्**–दोषयुक्त; **अपि**–यद्यपि; **न**–कभी नहीं; **त्यजेत्**–त्यागना चाहिए; **सर्व-आरम्भाः**–सारे उद्योग; **हि**–निश्चय ही; **दोषेण**–दोष से; **धूमेन**–धुएँ से; **अग्निः**–अग्नि; **इव**–सदृश; **आवृताः**–ढके हुए।

प्रत्येक उद्योग (प्रयास) किसी न किसी दोष से आवृत होता है, जिस प्रकार अग्नि धुएँ से आवृत रहती है। अतएव हे कुन्तीपुत्र! मनुष्य को चाहिए कि स्वभाव से उत्पन्न कर्म को, भले ही वह दोषपूर्ण क्यों न हो, कभी त्यागे नहीं।

तात्पर्य : बद्ध जीवन में सारा कर्म भौतिक गुणों से दूषित रहता है। यहाँ तक कि ब्राह्मण तक को ऐसे यज्ञ करने पड़ते हैं, जिनमें पशुहत्या अनिवार्य है। इसी प्रकार क्षत्रिय चाहे कितना ही पवित्र क्यों न हो, उसे शत्रुओं से युद्ध करना पड़ता है। वह इससे बच नहीं सकता। इसी प्रकार एक व्यापारी को चाहे वह कितना ही पवित्र क्यों न हो, अपने व्यापार में बने रहने के लिए कभी-कभी लाभ को छिपाना पड़ता है, या कभी-कभी कालाबाजार चलाना पड़ता है। ये बातें आवश्यक हैं, इनसे बचा नहीं जा सकता। इसी प्रकार यदि शूद्र होकर बुरे स्वामी की सेवा करनी पड़े, तो उसे स्वामी की आज्ञा का पालन करना होता है, भले ही ऐसा नहीं होना चाहिए। इन सब दोषों के होते हुए भी, मनुष्य को अपने निर्दिष्ट कर्तव्य करते रहना चाहिए, क्योंकि वे स्वभावगत हैं।

यहाँ पर एक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण दिया जाता है। यद्यपि अग्नि शुद्ध होती है, तो भी उसमें धुआँ रहता है। लेकिन इतने पर भी अग्नि अशुद्ध नहीं होती। अग्नि में धुआँ होने पर भी अग्नि समस्त तत्त्वों में शुद्धतम मानी जाती है। यदि कोई *क्षत्रिय* की वृत्ति त्याग कर ब्राह्मण की वृत्ति ग्रहण करना पसन्द करता है, तो उसको इसकी कोई निश्चितता नहीं है कि ब्राह्मण वृत्ति में कोई अरुचिकर कार्य नहीं होंगे। अतएव कोई यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि संसार में प्रकृति के कल्मष से कोई भी पूर्णतः मुक्त नहीं है। इस प्रसंग में अग्नि तथा धुएँ का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। यदि जाड़े के दिनों में कोई अग्नि से कोयला निकालता है, तो कभी-कभी धुएँ से आँखें तथा शरीर के अन्य भाग दुखते हैं, लेकिन इन प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद भी अग्नि को तापा जाता है। इसी प्रकार किसी को अपनी सहज वृत्ति इसलिए नहीं त्याग देनी चाहिए कि कुछ बाधक तत्त्व आ गये हैं। अपितु मनुष्य को चाहिए कि कृष्णभावनामृत में रहकर अपने वृत्तिपरक कार्य से परमेश्वर की सेवा करने का संकल्प ले। यही सिद्धि अवस्था है। जब कोई भी वृत्तिपरक कार्य भगवान् को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है, तो उस कार्य के सारे दोष शुद्ध हो जाते हैं। जब भक्ति से सम्बन्धित कर्मफल शुद्ध हो जाते हैं, तो मनुष्य अपने अन्तर का दर्शन कर सकता है और यही आत्म-साक्षात्कार है।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

असक्त-बुद्धिः—आसक्ति रहित बुद्धि वाला, सर्वत्र—सभी जगह; जित-आत्मा—मन के ऊपर संयम रखने वाला, विगत-स्पृहः—भौतिक इच्छाओं से रहित, नैष्कर्म्य-सिद्धिम्—निष्कर्म की सिद्धि; परमाम्—परम, संन्यासेन—संन्यास के द्वारा, अधिगच्छति—प्राप्त करता है।

जो आत्मसंयमी तथा अनासक्त है एवं जो समस्त भौतिक भोगों की परवाह नहीं करता, वह संन्यास के अभ्यास द्वारा कर्मफल से मुक्ति की सर्वोच्च सिद्ध-अवस्था प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य : सच्चे संन्यास का अर्थ है कि मनुष्य सदा अपने को परमेश्वर का अंश मानकर यह सोचे कि उसे अपने कार्य के फल को भोगने का कोई अधिकार नहीं है। चूँकि वह परमेश्वर का अंश है, अतएव उसके कार्य का फल परमेश्वर द्वारा भोगा जाना चाहिए, यही वास्तव में कृष्णभावनामृत है। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में स्थित होकर कर्म करता है, वही वास्तव में संन्यासी है। ऐसी मनोवृत्ति होने से मनुष्य सन्तुष्ट रहता है क्योंकि वह वास्तव में भगवान् के लिए कार्य कर रहा होता है। इस प्रकार वह किसी भी भौतिक वस्तु के लिए आसक्त नहीं होता, वह भगवान् की सेवा से प्राप्त दिव्य सुख से परे किसी भी वस्तु में आनन्द न लेने का आदी हो जाता है। संन्यासी को पूर्व कार्यकलापों के बन्धन से मुक्त माना जाता है, लेकिन जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में होता है वह बिना संन्यास ग्रहण किये ही यह सिद्धि प्राप्त कर लेता है। यह मनोदशा योगारूढ़ या योग की सिद्धावस्था कहलाती है। जैसा कि तृतीय अध्याय में पुष्टि हुई है—*यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्*—जो व्यक्ति अपने में सन्तुष्ट रहता है, उसे अपने कर्म से किसी प्रकार के बन्धन का भय नहीं रह जाता।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥५०॥

सिद्धिम्—सिद्धि को; प्राप्तः—प्राप्त किया हुआ; यथा—जिस तरह; ब्रह्म—परमेश्वर; तथा—[illegible] आप्नोति—प्राप्त करता है; निबोध—समझने का यत्न करो; मे—मुझसे; समासेन—[illegible] एव—निश्चय ही; कौन्तेय—हे कुन्तीपुत्र; निष्ठा—अवस्था; ज्ञानस्य—ज्ञान की; या—[illegible]; परा—[illegible]

हे कुन्तीपुत्र! जिस तरह इस सिद्धि को प्राप्त हुआ व्यक्ति परम सिद्धावस्था अर्थात् ब्रह्म को, जो सर्वोच्च ज्ञान की अवस्था है, प्राप्त करता है, उसका मैं संक्षेप में [illegible] वर्णन करूँगा, उसे तुम जानो।

तात्पर्य : भगवान् अर्जुन को बताते हैं कि किस तरह कोई [illegible]
कार्य में लग कर परम सिद्धावस्था को प्राप्त कर सकता [illegible]
लिए किया गया हो। यदि मनुष्य अपने कर्म के फल को [illegible]
त्याग देता है, तो उसे ब्रह्म की परम अवस्था प्राप्त [illegible]
की विधि है। ज्ञान की वास्तविक सिद्धि शुद्ध [illegible]
वर्णन अगले श्लोकों में किया गया है।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥५२॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥५३॥

बुद्ध्या–बुद्धि से; विशुद्धया–नितान्त शुद्ध; युक्तः–रत; धृत्या–धैर्य से; आत्मानम्–स्व को; नियम्य–वश में करके; च–भी; शब्द-आदीन्–शब्द आदि; विषयान्–इन्द्रियविषयों को; त्यक्त्वा–त्यागकर; राग–आसक्ति; द्वेषौ–तथा घृणा को; व्युदस्य–एक तरफ रख कर; च–भी; विविक्त-सेवी–एकान्त स्थान में रहते हुए; लघु-आशी–अल्प भोजन करने वाला; यत–वश में करके; वाक्–वाणी; काय–शरीर; मानसः–तथा मन को; ध्यान-योगपरः–समाधि में लीन; नित्यम्–चौबीसों घण्टे; वैराग्यम्–वैराग्य का; समुपाश्रितः–आश्रय लेकर; अहङ्कारम्–मिथ्या अहंकार को; बलम्–झूठे बल को; दर्पम्–झूठे घमंड को; कामम्–काम को; क्रोधम्–क्रोध को; परिग्रहम्–तथा भौतिक वस्तुओं के संग्रह को; विमुच्य–त्याग कर; निर्ममः–स्वामित्व की भावना से रहित; शान्तः–शान्त; ब्रह्म-भूयाय–आत्म-साक्षात्कार के लिए; कल्पते–योग्य हो जाता है।

अपनी बुद्धि से शुद्ध होकर तथा धैर्यपूर्वक मन को वश में करते हुए, इन्द्रियतृप्ति के विषयों का त्याग कर, राग तथा द्वेष से मुक्त होकर जो व्यक्ति एकान्त स्थान में वास करता है, जो थोड़ा खाता है, जो अपने शरीर मन तथा वाणी को वश में रखता है, जो सदैव समाधि में रहता है तथा पूर्णतया विरक्त, मिथ्या अहंकार, मिथ्या शक्ति, मिथ्या गर्व, काम, क्रोध तथा भौतिक वस्तुओं के संग्रह से मुक्त है, जो मिथ्या स्वामित्व की भावना से रहित तथा शान्त है वह निश्चय ही आत्म-साक्षात्कार के पद को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : जो मनुष्य बुद्धि द्वारा शुद्ध हो जाता है, वह अपने आपको सत्त्व गुण में अधिष्ठित कर लेता है। इस प्रकार वह मन को वश में करके सदैव समाधि में रहता है। वह इन्द्रियतृप्ति के विषयों के प्रति आसक्त नहीं रहता और अपने कार्यों में राग तथा द्वेष से मुक्त होता है। ऐसा विरक्त व्यक्ति स्वभावतः एकान्त स्थान में रहना पसन्द करता है, वह आवश्यकता से अधिक खाता नहीं और अपने शरीर तथा मन की गतिविधियों पर नियन्त्रण रखता है। वह मिथ्या अहंकार से रहित होता है क्योंकि वह अपने को शरीर नहीं समझता। न ही वह अनेक भौतिक वस्तुएँ स्वीकार करके शरीर को स्थूल तथा बलवान बनाने की इच्छा करता है। चूँकि वह देहात्मबुद्धि से रहित होता है अतएव वह मिथ्या गर्व नहीं करता। भगवत्कृपा से उसे जितना कुछ प्राप्त हो जाता है, उसी से वह संतुष्ट रहता है और इन्द्रियतृप्ति न होने पर कभी क्रुद्ध नहीं होता। न ही वह इन्द्रियविषयों को प्राप्त करने के लिए प्रयास करता है। इस प्रकार जब वह मिथ्या अहंकार से पूर्णतया मुक्त हो जाता है, तो वह समस्त भौतिक वस्तुओं से विरक्त बन जाता है और यही ब्रह्म की आत्म-साक्षात्कार अवस्था है। यह ब्रह्मभूत अवस्था कहलाती

है। जब मनुष्य देहात्मबुद्धि से मुक्त हो जाता है, तो वह शान्त हो जाता है और उसे उत्तेजित नहीं किया जा सकता इसका वर्णन *भगवद्गीता* में (२.७०) इस प्रकार हुआ है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

"जो मनुष्य इच्छाओं के अनवरत प्रवाह से विचलित नहीं होता, जिस प्रकार नदियों के जल के निरन्तर प्रवेश करते रहने और सदा भरते रहने पर भी समुद्र शांत रहता है, उसी तरह केवल वही शान्ति प्राप्त कर सकता है, वह नहीं, जो ऐसी इच्छाओं की तुष्टि के लिए निरन्तर उद्योग करता रहता है।"

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥५४॥

ब्रह्म-भूतः–ब्रह्म से तदाकार होकर, प्रसन्न-आत्मा–पूर्णतया प्रमुदित, न–कभी नहीं, शोचति–खेद करता है, न–कभी नहीं, काङ्क्षति–इच्छा करता है, समः–समान भाव से; सर्वेषु–समस्त; भूतेषु–जीवों पर, मत्-भक्तिम्–मेरी भक्ति को, लभते–प्राप्त करता है, पराम्–दिव्य।

इस प्रकार जो दिव्य पद पर स्थित है, वह तुरन्त परब्रह्म का अनुभव करता है और पूर्णतया प्रसन्न हो जाता है। वह न तो कभी शोक करता है, न किसी वस्तु की कामना करता है। वह प्रत्येक जीव पर समभाव रखता है। उस अवस्था में वह मेरी शुद्ध भक्ति को प्राप्त करता है।

तात्पर्य : निर्विशेषवादी के लिए ब्रह्मभूत अवस्था प्राप्त करना अर्थात् ब्रह्म से तदाकार होना परम लक्ष्य होता है। लेकिन साकारवादी शुद्धभक्त को इससे भी आगे चलकर शुद्ध भक्ति में प्रवृत्त होना होता है। इसका अर्थ हुआ कि जो भगवद्भक्ति में रत है, वह पहले ही मुक्ति की अवस्था, जिसे ब्रह्मभूत या ब्रह्म से तादात्म्य कहते हैं, प्राप्त कर चुका होता है। परमेश्वर या परब्रह्म से तदाकार हुए बिना कोई उनकी सेवा नहीं कर सकता। परम ज्ञान होने पर सेव्य तथा सेवक में कोई अन्तर नहीं कर सकता, फिर भी उच्चतर आध्यात्मिक दृष्टि से अन्तर तो रहता ही है।

देहात्मबुद्धि के अन्तर्गत, जब कोई इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करता है, तो दुख का भागी होता है, लेकिन परम जगत् में शुद्ध भक्ति में रत रहने पर कोई दुख नहीं रह जाता। कृष्णभावनाभावित भक्त को न तो किसी प्रकार का शोक होता है, न आकांक्षा होती है। चूँकि ईश्वर पूर्ण है, अतएव ईश्वर में सेवारत जीव भी कृष्णभावना में रहकर अपने में पूर्ण रहता है। वह ऐसी नदी के तुल्य है, जिसके जल की सारी गंदगी साफ कर दी गई है। चूँकि शुद्ध भक्त में कृष्ण के अतिरिक्त कोई विचार ही नहीं उठता, अतएव वह प्रसन्न रहता है। वह न तो किसी भौतिक क्षति पर शोक करता है, न किसी लाभ की आकांक्षा करता है, क्योंकि वह भगवद्भक्ति से पूर्ण होता है। वह किसी भौतिक भोग की आकांक्षा नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि प्रत्येक जीव भगवान् का अंश है,

अतएव वह उनका नित्य दास है। वह भौतिक जगत में न तो किसी को अपने से उच्च देखता है और न किसी को निम्न। ये उच्च तथा निम्न पद क्षणभंगुर हैं और भक्त को क्षणभंगुर प्राकट्य या तिरोधान से कुछ लेना-देना नहीं रहता। उसके लिए पत्थर तथा सोना बराबर होते हैं। यह ब्रह्मभूत अवस्था है, जिसे शुद्ध भक्त सरलता से प्राप्त कर लेता है। उस अवस्था में परब्रह्म से तादात्म्य और अपने व्यक्तित्व का विलय नारकीय बन जाता है, स्वर्ग प्राप्त करने का विचार मृगतृष्णा लगता है और इन्द्रियाँ विषदंतविहीन सर्प की भाँति प्रतीत होती हैं। जिस प्रकार विषदंतविहीन सर्प से कोई भय नहीं रह जाता उसी प्रकार स्वतः संयमित इन्द्रियों से कोई भय नहीं रह जाता। यह संसार उस व्यक्ति के लिए दुखमय है, जो भौतिकता से ग्रस्त है। लेकिन भक्त के लिए समग्र जगत् वैकुण्ठ-तुल्य है। इस ब्रह्माण्ड का महान से महानतम पुरुष भी भक्त के लिए एक क्षुद्र चींटी से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होता। ऐसी अवस्था भगवान् चैतन्य की कृपा से ही प्राप्त हो सकती है, जिन्होंने इस युग में शुद्ध भक्ति का प्रचार किया।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥५५॥

भक्त्या—शुद्ध भक्ति से; **माम्**—मुझको; **अभिजानाति**—जान सकता है; **यावान्**—जितना; **यः च अस्मि**—जैसा मैं हूँ; **तत्त्वतः**—सत्यतः; **ततः**—तत्पश्चात्; **माम्**—मुझको; **तत्त्वतः**—सत्यतः; **ज्ञात्वा**—जानकर; **विशते**—प्रवेश करता है; **तत्-अनन्तरम्**—तत्पश्चात्।

केवल भक्ति से मुझ भगवान् को यथारूप में जाना जा सकता है। जब मनुष्य ऐसी भक्ति से मेरे पूर्ण भावनामृत में होता है, तो वह वैकुण्ठ जगत् में प्रवेश कर सकता है।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनके स्वांशों को न तो मनोधर्म द्वारा जाना जा सकता है, न ही अभक्तगण उन्हें समझ पाते हैं। यदि कोई व्यक्ति भगवान् को समझना चाहता है, तो उसे शुद्ध भक्त के पथदर्शन में शुद्ध भक्ति ग्रहण करनी होती है, अन्यथा भगवान् सम्बन्धी सत्य (तत्त्व) उससे सदा छिपा रहेगा। जैसा कि *भगवद्गीता* में (७.२५) कहा जा चुका है—*नाहं प्रकाशः सर्वस्य*—मैं सबों के समक्ष प्रकाशित नहीं होता। केवल पाण्डित्य या मनोधर्म द्वारा ईश्वर को नहीं समझा जा सकता। कृष्ण को केवल वही समझ पाता है, जो कृष्णभावनामृत तथा भक्ति में तत्पर रहता है। इसमें विश्वविद्यालय की उपाधियाँ सहायक नहीं होती हैं।

जो व्यक्ति कृष्ण विज्ञान (तत्त्व) से पूर्णतया अवगत है, वही वैकुण्ठजगत् या कृष्ण के धाम में प्रवेश कर सकता है। ब्रह्मभूत होने का अर्थ यह नहीं है कि वह अपना स्वरूप खो बैठता है। भक्ति तो रहती ही है और जब तक भक्ति का अस्तित्व रहता है, तब तक ईश्वर, भक्त तथा भक्ति की विधि रहती है। ऐसे ज्ञान का नाश मुक्ति के बाद भी नहीं होता। मुक्ति का अर्थ देहात्मबुद्धि से मुक्ति प्राप्त करना है। आध्यात्मिक जीवन में वैसा ही अन्तर, वही व्यक्तित्व (स्वरूप) बना रहता है, लेकिन शुद्ध कृष्णभावनामृत में ही *विशते* शब्द का अर्थ है "मुझमें प्रवेश करता है।" भ्रमवश यह नहीं सोचना चाहिए

कि यह शब्द अद्वैतवाद का पोषक है और मनुष्य निर्गुण ब्रह्म में एकाकार हो जाता है। ऐसा नहीं है। *विशते* का तात्पर्य है कि मनुष्य अपने व्यक्तित्व सहित भगवान् के धाम में, भगवान् की संगति करने तथा उनकी सेवा करने के लिए प्रवेश कर सकता है। उदाहरणार्थ, एक हरा पक्षी (शुक) हरे वृक्ष में इसलिए प्रवेश नहीं करता कि वह वृक्ष से तदाकार (लीन) हो जाय, अपितु वह वृक्ष के फलों का भोग करने के लिए प्रवेश करता है। निर्विशेषवादी सामान्यतया समुद्र में गिरने वाली तथा समुद्र से मिलने वाली नदी का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। यह निर्विशेषवादियों के लिए आनन्द का विषय हो सकता है, लेकिन साकारवादी अपने व्यक्तित्व को उसी प्रकार बनाये रखना चाहता है, जिस प्रकार समुद्र में एक जलचर प्राणी। यदि हम समुद्र की गहराई में प्रवेश करें तो हमें अनेकानेक जीव मिलते हैं। केवल समुद्र की ऊपरी जानकारी पर्याप्त नहीं है, समुद्र की गहराई में रहने वाले जलचर प्राणियों की भी जानकारी रखना आवश्यक है।

भक्त अपनी शुद्ध भक्ति के कारण परमेश्वर के दिव्य गुणों तथा ऐश्वर्य को यथार्थ रूप में जान सकता है। जैसा कि ग्यारहवें अध्याय में कहा जा चुका है, केवल भक्ति द्वारा इसे समझा जा सकता है। इसी की पुष्टि यहाँ भी हुई है। मनुष्य भक्ति द्वारा भगवान् को समझ सकता है और उनके धाम में प्रवेश कर सकता है।

भौतिक बुद्धि से मुक्ति की अवस्था—ब्रह्मभूत अवस्था—को प्राप्त कर लेने के बाद भगवान् के विषय में श्रवण करने से भक्ति का शुभारम्भ होता है। जब कोई परमेश्वर के विषय में श्रवण करता है, तो स्वतः ब्रह्मभूत अवस्था का उदय होता है और भौतिक कल्मष—यथा लोभ तथा काम—का विलोप हो जाता है। ज्यों-ज्यों भक्त के हृदय से काम तथा इच्छाएँ विलुप्त होती जाती हैं, त्यों-त्यों वह भगवद्भक्ति के प्रति अधिक आसक्त होता जाता है और इस तरह वह भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है। जीवन की उस स्थिति में वह भगवान् को समझ सकता है। *श्रीमद्भागवत* में भी इसका कथन हुआ है। मुक्ति के बाद भक्तियोग चलता रहता है। इसकी पुष्टि *वेदान्तसूत्र* से (४.१.१२) होती है—*आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्*। इसका अर्थ है कि मुक्ति के बाद भक्तियोग चलता रहता है। *श्रीमद्भागवत* में वास्तविक भक्तिमयी मुक्ति की जो परिभाषा दी गई है उसके अनुसार यह जीव का अपने स्वरूप या अपनी निजी स्वाभाविक स्थिति में पुनःप्रतिष्ठापित हो जाना है। स्वाभाविक स्थिति की व्याख्या पहले ही की जा चुकी है—प्रत्येक जीव परमेश्वर का अंश है, अतएव उसकी स्वाभाविक स्थिति सेवा करने की है। मुक्ति के बाद यह सेवा कभी रुकती नहीं। वास्तविक मुक्ति तो देहात्मबुद्धि की भ्रान्त धारणा से मुक्त होना है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ ५६॥

सर्व—समस्त; **कर्माणि**—कार्यकलाप को; **अपि**—यद्यपि; **सदा**—सदैव; **कुर्वाणः**—करते हुए; **मत्-व्यपाश्रयः**—मेरे संरक्षण में; **मत्-प्रसादात्**—मेरी कृपा से; **अवाप्नोति**—प्राप्त करता है; **शाश्वतम्**—नित्य; **पदम्**—धाम को; **अव्ययम्**—अविनाशी।

मेरा शुद्ध भक्त मेरे संरक्षण में, समस्त प्रकार के कार्यों में संलग्न रह कर भी मेरी

कृपा से नित्य तथा अविनाशी धाम को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : *मद्-व्यपाश्रयः* शब्द का अर्थ है परमेश्वर के संरक्षण में। भौतिक कल्मष से रहित होने के लिए शुद्ध भक्त परमेश्वर या उनके प्रतिनिधि स्वरूप गुरु के निर्देशन में कर्म करता है। उसके लिए समय की कोई सीमा नहीं है। वह सदा, चौवीसों घंटे, शत प्रतिशत परमेश्वर के निर्देशन में कार्यों में संलग्न रहता है। ऐसे भक्त पर जो कृष्णभावनामृत में रत रहता है, भगवान् अत्यधिक दयालु होते हैं। वह समस्त कठिनाइयों के वावजूद अन्ततोगत्वा दिव्यधाम या कृष्णलोक को प्राप्त करता है। वहाँ उसका प्रवेश सुनिश्चित रहता है, इसमें कोई संशय नहीं है। उस परम धाम में कोई परिवर्तन नहीं होता, वहाँ प्रत्येक वस्तु शाश्वत, अविनश्वर तथा ज्ञानमय होती है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥५७॥

चेतसा—वुद्धि से; **सर्व-कर्माणि**—समस्त प्रकार के कार्य; **मयि**—मुझ में; **संन्यस्य**—त्यागकर; **मत्-परः**—मेरे संरक्षण में; **बुद्धि-योगम्**—भक्ति के कार्यों की; **उपाश्रित्य**—शरण लेकर; **मत्-चित्तः**—मेरी चेतना में; **सततम्**—चौवीसों घंटे; **भव**—होओ।

सारे कार्यों के लिए मुझ पर निर्भर रहो और मेरे संरक्षण में सदा कर्म करो। ऐसी भक्ति में मेरे प्रति पूर्णतया सचेत रहो।

तात्पर्य : जव मनुष्य कृष्णभावनामृत में कर्म करता है, तो वह संसार के स्वामी के रूप में कर्म नहीं करता। उसे चाहिए कि वह सेवक की भाँति परमेश्वर के निर्देशानुसार कर्म करे। सेवक को स्वतन्त्रता नहीं रहती। वह केवल अपने स्वामी के आदेश पर कार्य करता है, उस पर लाभ-हानि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह भगवान् के आदेशानुसार अपने कर्तव्य का सच्चे दिल से पालन करता है। अव कोई यह तर्क दे सकता है कि अर्जुन कृष्ण के व्यक्तिगत निर्देशानुसार कार्य कर रहा था, लेकिन जव कृष्ण उपस्थित न हों तो कोई किस तरह कार्य करे? यदि कोई इस पुस्तक में दिये गये कृष्ण के निर्देश के अनुसार तथा कृष्ण के प्रतिनिधि के मार्गदर्शन में कार्य करता है, तो उसका फल वैसा ही होगा। इस श्लोक में *मत्परः* शव्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह सूचित करता है कि मनुष्य जीवन में कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए कृष्णभावनाभावित होकर कार्य करने के अतिरिक्त अन्य कोई लक्ष्य नहीं होता। जव वह इस प्रकार कार्य कर रहा हो तो उसे केवल कृष्ण का ही चिन्तन इस प्रकार से करना चाहिए—"कृष्ण ने मुझे इस विशेष कार्य को पूरा करने के लिए नियुक्त किया है।" और इस तरह कार्य करते हुए उसे स्वाभाविक रूप से कृष्ण का चिन्तन हो आता है। यही पूर्ण कृष्णभावनामृत है। किन्तु यह ध्यान रहे कि मनमाना कर्म करके उसका फल परमेश्वर को अर्पित न किया जाय। इस प्रकार का कार्य कृष्णभावनामृत की भक्ति में नहीं आता। मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण के आदेशानुसार कर्म करे। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वात है। कृष्ण का यह आदेश गुरु-परम्परा द्वारा प्रामाणिक गुरु से प्राप्त होता है। अतएव गुरु के आदेश को जीवन का मूल कर्तव्य समझना चाहिए। यदि किसी को प्रामाणिक गुरु प्राप्त हो जाता है और वह

निर्देशानुसार कार्य करता है, तो कृष्णभावनामय जीवन की सिद्धि सुनिश्चित है।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥५८॥

मत्–मेरी; चित्तः–चेतना में; सर्व–सारी; दुर्गाणि–बाधाओं को; मत्-प्रसादात्–मेरी कृपा से; तरिष्यसि–तुम पार कर सकोगे; अथ–लेकिन; चेत्–यदि; त्वम्–तुम; अहङ्कारात्–मिथ्या अहंकार से; न श्रोष्यसि–नहीं सुनते हो; विनङ्क्ष्यसि–नष्ट हो जाओगे।

यदि तुम मुझसे भावनाभावित होगे, तो मेरी कृपा से तुम बद्ध जीवन के सारे अवरोधों को लाँघ जाओगे। लेकिन यदि तुम मिथ्या अहंकारवश ऐसी चेतना में कर्म नहीं करोगे और मेरी बात नहीं सुनोगे, तो तुम विनष्ट हो जाओगे।

तात्पर्य : पूर्ण कृष्णभावनाभावित व्यक्ति अपने अस्तित्व के लिए कर्तव्य करने के विषय में आवश्यकता से अधिक उद्विग्न नहीं रहता। जो मूर्ख है, वह समस्त चिन्ताओं से मुक्त कैसे रहे, इस बात को नहीं समझ सकता। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में कर्म करता है, भगवान् कृष्ण उसके घनिष्ठ मित्र बन जाते हैं। वे सदैव अपने मित्र की सुविधा का ध्यान रखते हैं और जो मित्र चौबीसों घंटे उन्हें प्रसन्न करने के लिए निष्ठापूर्वक कार्य में लगा रहता है, वे उसको आत्मदान कर देते हैं। अतएव किसी को देहात्मबुद्धि के मिथ्या अहंकार में नहीं बह जाना चाहिए। उसे झूठे ही यह नहीं सोचना चाहिए कि वह प्रकृति के नियमों से स्वतन्त्र है, या कर्म करने के लिए मुक्त है। वह पहले से कठोर भौतिक नियमों के अधीन है। लेकिन जैसे ही वह कृष्णभावनाभावित होकर कर्म करता है, तो वह भौतिक दुश्चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। मनुष्य को यह भलीभाँति जान लेना चाहिए कि जो कृष्णभावनामृत में सक्रिय नहीं है, वह जन्म-मृत्यु रूपी सागर के भँवर में पड़कर अपना विनाश कर रहा है। कोई भी बद्धजीव यह सही सही नहीं जानता कि क्या करना है और क्या नहीं करना है, लेकिन जो व्यक्ति कृष्णभावनाभावित होकर कर्म अन्तर से करता है, वह कर्म करने के लिए मुक्त है, क्योंकि प्रत्येक किया हुआ कर्म कृष्ण द्वारा प्रेरित तथा गुरु द्वारा पुष्ट होता है।

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥५९॥

यत्–यदि; अहङ्कारम्–मिथ्या अहंकार की; आश्रित्य–शरण लेकर; न योत्स्ये–मैं नहीं लड़ूँगा; इति–इस प्रकार; मन्यसे–तुम सोचते हो; मिथ्या एष–तो यह सब झूठ है; व्यवसायः–संकल्प; ते–तुम्हारा; प्रकृतिः–भौतिक प्रकृति; त्वाम्–तुमको; नियोक्ष्यति–लगा लेगी।

यदि तुम मेरे निर्देशानुसार कर्म नहीं करते और युद्ध में प्रवृत्त नहीं होते हो, तो तुम कुमार्ग पर जाओगे। तुम्हें अपने स्वभाववश युद्ध में लगना होगा।

तात्पर्य : अर्जुन एक सैनिक था और क्षत्रिय स्वभाव लेकर जन्मा था। अतएव उसका स्वाभाविक कर्तव्य था कि वह युद्ध करे। लेकिन मिथ्या अहंकारवश वह डर था

कि अपने गुरु, पितामह तथा मित्रों का वध करके वह पाप का भागी होगा। वास्तव में वह अपने को अपने कर्मों का स्वामी जान रहा था, मानो वही ऐसे कर्मों के अच्छे-वुरे फलों का निर्देशन कर रहा हो। वह भूल गया कि वहाँ पर साक्षात् भगवान् उपस्थित हैं और उसे युद्ध करने का आदेश दे रहे हैं। यही है वद्धजीव की विस्मृति। परमपुरुष निर्देश देते हैं कि क्या अच्छा है और क्या वुरा है और मनुष्य को जीवन-सिद्धि प्राप्त करने के लिए केवल कृष्णभावनामृत में कर्म करना है। कोई भी अपने भाग्य का निर्णय ऐसे नहीं कर सकता जैसे भगवान् कर सकते हैं। अतएव सर्वोत्तम मार्ग यही है कि परमेश्वर से निर्देश प्राप्त करके कर्म किया जाय। भगवान् या भगवान् के प्रतिनिधि स्वरूप गुरु के आदेश की वह कभी भी उपेक्षा न करे। भगवान् के आदेश को विना किसी हिचक के पूरा करने के लिए वह कर्म करे—इससे सभी परिस्थितियों में सुरक्षित रहा जा सकेगा।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ ६०॥

स्वभाव-जेन—अपने स्वभाव से उत्पन्न; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **निबद्धः**—वद्ध; **स्वेन**—तुम अपने; **कर्मणा**—कार्यकलापों से; **कर्तुम्**—करने के लिए; **न**—नहीं; **इच्छसि**—इच्छा करते हो; **यत्**—जो; **मोहात्**—मोह से; **करिष्यसि**—करोगे; **अवशः**—अनिच्छा से; **अपि**—भी; **तत्**—वह।

इस समय तुम मोहवश मेरे निर्देशानुसार कर्म करने से मना कर रहे हो। लेकिन हे कुन्तीपुत्र! तुम अपने ही स्वभाव से उत्पन्न कर्म द्वारा वाध्य होकर वही सव करोगे।

तात्पर्य : यदि कोई परमेश्वर के निर्देशानुसार कर्म करने से मना करता है, तो वह उन गुणों द्वारा कर्म करने के लिए वाध्य होता है, जिनमें वह स्थित होता है। प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के गुणों के विशेष संयोग के वशीभूत है और तदनुसार कर्म करता है। किन्तु जो स्वेच्छा से परमेश्वर के निर्देशानुसार कार्यरत होता है, वही गौरवान्वित होता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ ६१॥

ईश्वरः—भगवान्; **सर्व-भूतानाम्**—समस्त जीवों के; **हृत्-देशे**—हृदय में; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **तिष्ठति**—वास करता है; **भ्रामयन्**—भ्रमण करने के लिए वाध्य करता हुआ; **सर्व-भूतानि**—समस्त जीवों को; **यन्त्र**—यन्त्र में; **आरूढानि**—सवार, चढ़े हुए; **मायया**—भौतिक शक्ति के वशीभूत होकर।

हे अर्जुन! परमेश्वर प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं और भौतिक शक्ति से निर्मित यन्त्र में सवार की भाँति वैठे समस्त जीवों को अपनी माया से घुमा (भरमा) रहे हैं।

तात्पर्य : अर्जुन परम ज्ञाता न था और लड़ने या न लड़ने का उसका निर्णय उसके क्षुद्र विवेक तक सीमित था। भगवान् कृष्ण ने उपदेश दिया कि जीवात्मा (व्यक्ति) ही सर्वेसर्वा नहीं है। भगवान् या स्वयं कृष्ण अन्तर्यामी परमात्मा रूप में हृदय में स्थित होकर जीव

को निर्देश देते हैं। शरीर-परिवर्तन होते ही जीव अपने विगत कर्मों को भूल जाता है, लेकिन परमात्मा जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य का ज्ञाता है, उसके समस्त कार्यों का साक्षी रहता है। अतएव जीवों के सभी कार्यों का संचालन इसी परमात्मा द्वारा होता है। जीव जितना योग्य होता है उतना ही पाता है और उस भौतिक शरीर द्वारा वहन किया जाता है, जो परमात्मा के निर्देश में भौतिक शक्ति द्वारा उत्पन्न किया जाता है। ज्योंही जीव को किसी विशेष प्रकार के शरीर में स्थापित कर दिया जाता है, वह शारीरिक अवस्था के अन्तर्गत कार्य करना प्रारम्भ कर देता है। अत्यधिक तेज मोटरकार में बैठा व्यक्ति कम तेज कार में बैठे व्यक्ति से अधिक तेज जाता है, भले ही जीव अर्थात् चालक एक ही क्यों न हो। इसी प्रकार परमात्मा के आदेश से भौतिक प्रकृति एक विशेष प्रकार के जीव के लिए एक विशेष शरीर का निर्माण करती है, जिससे वह अपनी पूर्व इच्छाओं के अनुसार कर्म कर सके। जीव स्वतन्त्र नहीं होता। मनुष्य को यह नहीं सोचना चाहिए कि वह भगवान् से स्वतन्त्र है। व्यक्ति तो सदैव भगवान् के नियन्त्रण में रहता है। अतएव उसका कर्तव्य है कि वह शरणागत हो और अगले श्लोक का यही आदेश है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ६२॥

तम्—उसकी; एव—निश्चय ही; शरणम् गच्छ—शरण में जाओ; सर्व-भावेन—सभी प्रकार से; भारत—हे भरतपुत्र; तत्-प्रसादात्—उसकी कृपा से; पराम्—दिव्य; शान्तिम्—शान्ति को; स्थानम्—धाम को; प्राप्स्यसि—प्राप्त करोगे; शाश्वतम्—शाश्वत।

हे भारत! सब प्रकार से उसी की शरण में जाओ। उसकी कृपा से तुम परम शान्ति को तथा परम नित्यधाम को प्राप्त करोगे।

तात्पर्य : अतएव जीव को चाहिए कि प्रत्येक हृदय में स्थित भगवान् की शरण ले। इससे इस संसार के समस्त प्रकार के दुखों से छुटकारा मिल जाएगा। ऐसी शरण पाने से मनुष्य न केवल इस जीवन के सारे कष्टों से छुटकारा पा सकेगा, अपितु अन्त में वह परमेश्वर के पास पहुँच जाएगा। वैदिक साहित्य में (ऋग्वेद १ २२ २०) दिव्य जगत् *तद्विष्णोः परमं पदम्* के रूप में वर्णित है। चूँकि सारी सृष्टि ईश्वर का राज्य है, अतएव इसकी प्रत्येक भौतिक वस्तु वास्तव में आध्यात्मिक है, लेकिन *परमं पदम्* विशेषतया नित्यधाम को बताता है, जो आध्यात्मिक आकाश या वैकुण्ठ कहलाता है।

भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय में कहा गया है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः*—भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं। अतएव इस कथन कि मनुष्य अन्तःस्थित परमात्मा की शरण ले, का अर्थ है कि वह भगवान् कृष्ण की शरण ले। कृष्ण को पहले ही अर्जुन ने परम स्वीकार कर लिया है। दसवें अध्याय में उन्हें *परम ब्रह्म परम धाम* के रूप में स्वीकार किया जा चुका है। अर्जुन ने कृष्ण को भगवान् तथा समस्त जीवों के परम धाम के रूप में स्वीकार कर रखा है, इसलिए नहीं कि यह उसका निजी अनुभव है, वरन् इसलिए भी कि नारद, असित, देवल, व्यास जैसे महापुरुष इसके प्रमाण हैं।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ ६३॥

इति—इस प्रकार; **ते**—तुमको; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **आख्यातम्**—वर्णन किया गया; **गुह्यात्**—गुह्य से; **गुह्य-तरम्**—अधिक गुह्य; **मया**—मेरे द्वारा; **विमृश्य**—मनन करके; **एतत्**—इस; **अशेषेण**—पूर्णतया; **यथा**—जैसी; **इच्छसि**—इच्छा हो; **तथा**—वैसा ही; **कुरु**—करो।

इस प्रकार मैंने तुम्हें गुह्यतर ज्ञान वतला दिया। इस पर पूरी तरह से मनन करो और तव जो चाहो सो करो।

तात्पर्य : भगवान् ने पहले ही अर्जुन को *ब्रह्मभूत* ज्ञान वतला दिया है। जो इस *ब्रह्मभूत* अवस्था में होता है, वह प्रसन्न रहता है, न तो वह शोक करता है, न किसी वस्तु की कामना करता है। ऐसा गुह्यज्ञान के कारण होता है। कृष्ण परमात्मा का ज्ञान भी प्रकट करते हैं। यह व्रह्मज्ञान भी है, लेकिन यह उससे श्रेष्ठ है।

यहाँ पर *यथेच्छसि तथा कुरु*—जैसी इच्छा हो वैसा करो—यह सूचित करता है कि ईश्वर जीव की यत्किंचित स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करता। *भगवद्गीता* में भगवान् ने सभी प्रकार से यह वतलाया है कि कोई अपनी जीवन दशा को किस प्रकार अच्छी वना सकता है। अर्जुन को उनका सर्वश्रेष्ठ उपदेश यह है कि हृदय में आसीन परमात्मा की शरणागत हुआ जाए। सही विवेक से मनुष्य को परमात्मा के आदेशानुसार कर्म करने के लिए तैयार होना चाहिए। इससे मनुष्य निरन्तर कृष्णभावनामृत में स्थित हो सकेगा, जो मानव जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है। अर्जुन को भगवान् प्रत्यक्षतः युद्ध करने का आदेश दे रहे हैं। भगवत् शरणागत होना जीवों के सर्वाधिक हित में है। इसमें परमेश्वर का कोई हित नहीं है। शरणागत होने के पूर्व जहाँ तक वुद्धि काम करे मनुष्य को इस विषय पर मनन करने की छूट मिली है और भगवान् के आदेश को स्वीकार करने की यही सर्वोत्तम विधि है। ऐसा आदेश कृष्ण के प्रामाणिक प्रतिनिधिस्वरूप गुरु के माध्यम से भी प्राप्त होता है।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ ६४॥

सर्व-गुह्य-तमम्—सर्वो में अत्यन्त गुह्य; **भूयः**—पुनः; **शृणु**—सुनो; **मे**—मुझसे; **परमम्**—परम; **वचः**—आदेश; **इष्टः असि**—तुम प्रिय हो; **मे**—मेरे, मुझको; **दृढम्**—अत्यन्त; **इति**—इस प्रकार; **ततः**—अतएव; **वक्ष्यामि**—कह रहा हूँ; **ते**—तुम्हारे; **हितम्**—लाभ के लिए।

चूँकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय मित्र हो, अतएव मैं तुम्हें अपना परम आदेश, जो सर्वाधिक गुह्यज्ञान है, वता रहा हूँ। इसे अपने हित के लिए सुनो।

तात्पर्य : अर्जुन को गुह्यज्ञान (व्रह्मज्ञान) तथा गुह्यतरज्ञान (परमात्मा ज्ञान) प्रदान करने के वाद भगवान् अव उसे गुह्यतम ज्ञान प्रदान करने जा रहे हैं—यह है भगवान् के शरणागत होने का ज्ञान। नवें अध्याय के अन्त में उन्होंने कहा था—*मन्मनाः*—सदैव मेरा चिन्तन करो। उसी आदेश को यहाँ पर *भगवद्गीता* के सार के रूप में जोर देने के लिए

दुहराया जा रहा है, यह सार सामान्यजन की समझ में नहीं आता। लेकिन जो कृष्ण को सचमुच अत्यन्त प्रिय है, कृष्ण का शुद्धभक्त है, वह समझ लेता है। सारे वैदिक साहित्य में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आदेश है। इस प्रसंग में जो कुछ कृष्ण कहते हैं, यह ज्ञान का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश है और इसका पालन न केवल अर्जुन द्वारा होना चाहिए, अपितु समस्त जीवों द्वारा होना चाहिए।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥६५॥

मत्-मनाः–मेरे विषय में सोचते हुए; भव–होओ; मत्-भक्तः–मेरा भक्त; मत्-याजी–मेरा पूजक; माम्–मुझको; नमस्कुरु–नमस्कार करो; माम्–मेरे पास; एव–ही; एष्यसि–आओगे; सत्यम्–सच-सच; ते–तुमसे; प्रतिजाने–वायदा या प्रतिज्ञा करता हूँ; प्रियः–प्रिय; असि–हो; मे–मुझको।

सदैव मेरा चिन्तन करो, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो और मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार तुम निश्चित रूप से मेरे पास आओगे। मैं तुम्हें वचन देता हूँ, क्योंकि तुम मेरे परम प्रिय मित्र हो।

तात्पर्य : ज्ञान का गुह्यतम अंश है कि मनुष्य कृष्ण का शुद्ध भक्त बने, सदैव उन्हीं का चिन्तन करे और उन्हीं के लिए कर्म करे। व्यावसायिक ध्यानी बनना ठीक नहीं। जीवन को इस प्रकार ढालना चाहिए कि कृष्ण का चिन्तन करने का सदा अवसर प्राप्त हो। मनुष्य इस प्रकार कर्म करे कि उसके सारे नित्य कर्म कृष्ण के लिए हों। वह अपने जीवन को इस प्रकार व्यवस्थित करे कि चौबीसों घण्टे कृष्ण का ही चिन्तन करता रहे और भगवान् की यह प्रतिज्ञा है कि जो इस प्रकार कृष्णभावनामय होगा, वह निश्चित रूप से कृष्णधाम को जाएगा जहाँ वह साक्षात् कृष्ण के सान्निध्य में रहेगा। यह गुह्यतम ज्ञान अर्जुन को इसीलिए बताया गया, क्योंकि वह कृष्ण का प्रिय मित्र (सखा) है। जो कोई भी अर्जुन के पथ का अनुसरण करता है, वह कृष्ण का प्रिय सखा बनकर अर्जुन जैसी ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

ये शब्द इस बात पर बल देते हैं कि मनुष्य को अपना मन उस कृष्ण पर एकाग्र करना चाहिए जो दोनों हाथों से वंशी धारण किये, सुन्दर मुखवाले तथा अपने बालों में मोर पंख धारण किये हुए साँवले बालक के रूप में हैं। कृष्ण का वर्णन *ब्रह्मसंहिता* तथा अन्य ग्रंथों में पाया जाता है। मनुष्य को परम ईश्वर के आदि रूप कृष्ण पर अपने मन को एकाग्र करना चाहिए। उसे अपने मन को भगवान् के अन्य रूपों की ओर नहीं मोड़ना चाहिए। भगवान् के नाना रूप हैं, यथा विष्णु, नारायण, राम, वराह आदि। किन्तु भक्त को चाहिए कि अपने मन को उस एक रूप पर केन्द्रित करे जो अर्जुन के समक्ष था। कृष्ण के रूप पर मन की यह एकाग्रता ज्ञान का गुह्यतम अंश है जिसका प्रकटीकरण अर्जुन के लिए किया गया, क्योंकि वह कृष्ण का अत्यन्त प्रिय सखा है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥६६॥

सर्व-धर्मान्—समस्त प्रकार के धर्म; **परित्यज्य**—त्यागकर; **माम्**—मेरी; **एकम्**—एकमात्र; **शरणम्**—शरण में; **व्रज**—जाओ; **अहम्**—मैं; **त्वाम्**—तुमको; **सर्व**—समस्त; **पापेभ्यः**—पापों से; **मोक्षयिष्यामि**—उद्धार करूँगा; **मा**—मत; **शुचः**—चिन्ता करो।

समस्त प्रकार के धर्मों का परित्याग करो और मेरी शरण में आओ। मैं समस्त पापों से तुम्हारा उद्धार कर दूँगा। डरो मत।

तात्पर्य : भगवान् ने अनेक प्रकार के ज्ञान तथा धर्म की विधियाँ बताई हैं—परब्रह्म का ज्ञान, परमात्मा का ज्ञान, अनेक प्रकार के आश्रमों तथा वर्णों का ज्ञान, संन्यास का ज्ञान, अनासक्ति, इन्द्रिय तथा मन का संयम, ध्यान आदि का ज्ञान। उन्होंने अनेक प्रकार से नाना प्रकार के धर्मों का वर्णन किया है। अब, *भगवद्गीता* का सार प्रस्तुत करते हुए भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! अभी तक बताई गई सारी विधियों का परित्याग करके, अब केवल मेरी शरण में आओ। इस शरणागति से वह समस्त पापों से बच जाएगा, क्योंकि भगवान् स्वयं उसकी रक्षा का वचन दे रहे हैं।

सातवें अध्याय में यह कहा गया था कि वही कृष्ण की पूजा कर सकता है, जो सारे पापों से मुक्त हो गया हो। इस प्रकार कोई यह सोच सकता है कि समस्त पापों से मुक्त हुए बिना कोई शरणागति नहीं पा सकता है। ऐसे सन्देह के लिए यहाँ यह कहा गया है कि कोई समस्त पापों से मुक्त न भी हो तो केवल श्रीकृष्ण के शरणागत होने पर स्वतः मुक्त कर दिया जाता है। पापों से मुक्त होने के लिए कठोर प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं है। मनुष्य को बिना झिझक के कृष्ण को समस्त जीवों के रक्षक के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। उसे चाहिए कि श्रद्धा तथा प्रेम से उनकी शरण ग्रहण करे।

हरि भक्तिविलास में (११.६७६) कृष्ण की शरण ग्रहण करने की विधि का वर्णन हुआ है—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा।
आत्मनिक्षेप कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥

भक्तियोग के अनुसार मनुष्य को वही धर्म स्वीकार करना चाहिए, जिससे अन्ततः भगवद्भक्ति हो सके। समाज में अपनी स्थिति के अनुसार कोई एक विशेष कर्म कर सकता है, लेकिन यदि अपना कर्म करने से कोई कृष्णभावनामृत तक नहीं पहुँच पाता, तो उसके सारे कार्यकलाप व्यर्थ हो जाते हैं। जिस कर्म से कृष्णभावनामृत की पूर्णावस्था न प्राप्त हो सके उससे बचना चाहिए। मनुष्य को विश्वास होना चाहिए कि कृष्ण समस्त परिस्थितियों में उसकी सभी कठिनाइयों से रक्षा करेंगे। इसके विषय में सोचने की कोई आवश्यकता नहीं कि जीवन-निर्वाह कैसे होगा? कृष्ण इसको सँभालेंगे। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने आप को निस्सहाय माने और अपने जीवन की प्रगति के लिए कृष्ण को ही अवलम्ब समझे। पूर्ण कृष्णभावनाभावित होकर भगवद्भक्ति में प्रवृत्त होते ही वह प्रकृति के समस्त कल्मष से मुक्त हो जाता है। धर्म की विविध विधियाँ हैं और ज्ञान, ध्यानयोग आदि जैसे शुद्ध करने वाले अनुष्ठान हैं, लेकिन जो कृष्ण के शरणागत हो

जाता है, उसे इतने सारे अनुष्ठानों के पालन की आवश्यकता नहीं रह जाती। कृष्ण की *शरण में जाने मात्र से वह व्यर्थ समय गँवाने से बच जाएगा।* इस प्रकार वह तुरन्त सारी उन्नति कर सकता है और समस्त पापों से मुक्त हो सकता है।

श्रीकृष्ण की सुन्दर छवि के प्रति मनुष्य को आकृष्ट होना चाहिए। उनका नाम कृष्ण इसीलिए पड़ा, क्योंकि वे सर्वाकर्षक हैं। जो व्यक्ति कृष्ण की सुन्दर, सर्वशक्तिमान छवि से आकृष्ट होता है, वह भाग्यशाली है। अध्यात्मवादी कई प्रकार के होते हैं—कुछ निर्गुण ब्रह्म के प्रति आकृष्ट होते हैं, कुछ परमात्मा के प्रति लेकिन जो भगवान् के साकार रूप के प्रति आकृष्ट होता है और इससे भी बढ़कर जो साक्षात् भगवान् कृष्ण के प्रति आकृष्ट होता है, वह सर्वोच्च योगी है। दूसरे शब्दों में, अनन्यभाव से कृष्ण की भक्ति गुह्यतम ज्ञान है और सम्पूर्ण *गीता* का यही सार है। कर्मयोगी, दार्शनिक, योगी तथा भक्त सभी अध्यात्मवादी कहलाते हैं, लेकिन इनमें से शुद्धभक्त ही सर्वश्रेष्ठ है। यहाँ पर *मा शुचः* (मत डरो, मत झिझको, मत चिन्ता करो) विशिष्ट शब्दों का प्रयोग अत्यन्त सार्थक है। मनुष्य को यह चिन्ता होती है कि वह किस प्रकार सारे धर्मों को त्यागे और एकमात्र कृष्ण की शरण में जाए, लेकिन ऐसी चिन्ता व्यर्थ है।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥६७॥

इदम्–यह; **ते**–तुम्हारे द्वारा; **न**–कभी नहीं; **अतपस्काय**–असंयमी के लिए; **न**–कभी नहीं; **अभक्ताय**–अभक्त के लिए; **कदाचन**–किसी समय; **न**–कभी नहीं; **च**–भी; **अशुश्रूषवे**–जो भक्ति में रत नहीं है; **वाच्यम्**–कहने के लिए; **न**–कभी नहीं; **च**–भी; **माम्**–मेरे प्रति; **यः**–जो; **अभ्यसूयति**–द्वेष करता है।

यह गुह्यज्ञान उनको कभी भी न बताया जाय जो न तो संयमी हैं, न एकनिष्ठ, न भक्ति में रत हैं, न ही उसे जो मुझसे द्वेष करता हो।

तात्पर्य : जिन लोगों ने तपस्यामय धार्मिक अनुष्ठान नहीं किये, जिन्होंने कृष्णभावनामृत में भक्ति का कभी प्रयत्न नहीं किया, जिन्होंने किसी शुद्धभक्त की सेवा नहीं की तथा विशेषतया जो लोग कृष्ण को केवल ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं, या जो कृष्ण की महानता से द्वेष रखते हैं, उन्हें यह परम गुह्यज्ञान नहीं बताना चाहिए। लेकिन कभी-कभी यह देखा जाता है कि कृष्ण से द्वेष रखने वाले आसुरी पुरुष भी कृष्ण की पूजा भिन्न प्रकार से करते हैं और व्यवसाय चलाने के लिए *भगवद्गीता* का प्रवचन करने का धंधा अपना लेते हैं। लेकिन जो सचमुच कृष्ण को जानने का इच्छुक हो उसे *भगवद्गीता* के ऐसे भाष्यों से बचना चाहिए। वास्तव में कामी लोग *भगवद्गीता* के प्रयोजन को नहीं समझ पाते। यदि कोई कामी न भी हो और वैदिक शास्त्रों द्वारा आदिष्ट नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करता हो, लेकिन यदि वह भक्त नहीं है, तो वह कृष्ण को नहीं समझ सकता। और यदि वह अपने को कृष्णभक्त बताता है, लेकिन कृष्णभावनाभावित कार्यकलापों में रत नहीं रहता, तब भी वह कृष्ण को नहीं समझ पाता। ऐसे बहुत से लोग हैं, जो भगवान् से इसलिए द्वेष रखते हैं, क्योंकि उन्होंने *भगवद्गीता* में कहा है

कि वे परम हैं और कोई न तो उनसे बढ़कर, न उनके समान है। ऐसे बहुत से व्यक्ति हैं, जो कृष्ण से द्वेष रखते हैं। ऐसे लोगों को *भगवद्गीता* नहीं सुनाना चाहिए, क्योंकि वे उसे समझ नहीं पाते। श्रद्धाविहीन लोग *भगवद्गीता* तथा कृष्ण को नहीं समझ पाएँगे। शुद्धभक्त से कृष्ण को समझे बिना किसी को *भगवद्गीता* की टीका करने का साहस नहीं करना चाहिए।

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥६८॥

यः—जो; **इदम्**—इस; **परमम्**—अत्यन्त; **गुह्यम्**—रहस्य को; **मत्**—मेरे; **भक्तेषु**—भक्तों में से; **अभिधास्यति**—कहता है; **भक्तिम्**—भक्ति को; **मयि**—मुझको; **पराम्**—दिव्य; **कृत्वा**—करके; **माम्**—मुझको; **एव**—निश्चय ही; **एष्यति**—प्राप्त होता है; **असंशयः**—इसमें कोई सन्देह नहीं।

जो व्यक्ति भक्तों को यह परम रहस्य बताता है, वह शुद्धभक्ति को प्राप्त करेगा और अन्त में वह मेरे पास वापस आएगा।

तात्पर्य : सामान्यतः यह उपदेश दिया जाता है कि केवल भक्तों के बीच में *भगवद्गीता* की विवेचना की जाय, क्योंकि जो लोग भक्त नहीं हैं, वे न तो कृष्ण को समझेंगे, न ही *भगवद्गीता* को। जो लोग कृष्ण को तथा *भगवद्गीता* को यथारूप में स्वीकार नहीं करते, उन्हें मनमाने ढंग से *भगवद्गीता* की व्याख्या करने का प्रयत्न करने का अपराध मोल नहीं लेना चाहिए। *भगवद्गीता* की विवेचना उन्हीं से की जाय, जो कृष्ण को भगवान् के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार हों। यह एकमात्र भक्तों का विषय है, दार्शनिक चिन्तकों का नहीं, लेकिन जो कोई भी *भगवद्गीता* को यथारूप में प्रस्तुत करने का सच्चे मन से प्रयास करता है, वह भक्ति के कार्यकलापों में प्रगति करता है और शुद्ध भक्तिमय जीवन को प्राप्त होता है। ऐसी शुद्धभक्ति के फलस्वरूप उसका भगवद्धाम जाना ध्रुव है।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥६९॥

न—कभी नहीं; **च**—तथा; **तस्मात्**—उसकी अपेक्षा; **मनुष्येषु**—मनुष्यों में; **कश्चित्**—कोई; **मे**—मुझको; **प्रिय-कृत्-तमः**—अत्यन्त प्रिय; **भविता**—होगा; **न**—न तो; **च**—तथा; **मे**—मुझको; **तस्मात्**—उसकी अपेक्षा, उससे; **अन्यः**—कोई दूसरा; **प्रिय-तरः**—अधिक प्रिय; **भुवि**—इस संसार में।

इस संसार में उसकी अपेक्षा कोई अन्य सेवक न तो मुझे अधिक प्रिय है और न कभी होगा।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥७०॥

अध्येष्यते—अध्ययन या पाठ करेगा; **च**—भी; **यः**—जो; **इमम्**—इस; **धर्म्यम्**—पवित्र; **संवादम्**—वार्तालाप या संवाद को; **आवयोः**—हम दोनों के; **ज्ञान**—ज्ञान रूपी; **यज्ञेन**—यज्ञ से;

तेन–उसके द्वारा; अहम्–मैं, इष्टः–पूजित; स्याम्–होऊँगा, इति–इस प्रकार; मे–मेरा, मतिः–मत।

और मैं घोषित करता हूँ कि जो हमारे इस पवित्र संवाद का अध्ययन करता है, वह अपनी बुद्धि से मेरी पूजा करता है।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥ ७१॥

श्रद्धा-वान्–श्रद्धालु; अनसूयः–द्वेषरहित; च–तथा; शृणुयात्–सुनता है, अपि–निश्चय ही, यः–जो, नरः–मनुष्य, सः–वह; अपि–भी; मुक्तः–मुक्त होकर; शुभान्–शुभ; लोकान्–लोकों को; प्राप्नुयात्–प्राप्त करता है; पुण्य-कर्मणाम्–पुण्यात्माओं का।

और जो श्रद्धा समेत तथा द्वेषरहित होकर इसे सुनता है, वह सारे पापों से मुक्त हो जाता है और उन शुभ लोकों को प्राप्त होता है, जहाँ पुण्यात्माएँ निवास करती हैं।

तात्पर्य : इस अध्याय के ६७वें श्लोक में भगवान् ने स्पष्टतः मना किया है कि जो लोग उनसे द्वेष रखते हैं उन्हें *गीता* न सुनाई जाए। *भगवद्गीता* केवल भक्तों के लिए है। लेकिन ऐसा होता है कि कभी-कभी भगवद्भक्त आम कक्षा में प्रवचन करता है और उस कक्षा में सारे छात्रों के भक्त होने की अपेक्षा नहीं की जाती। तो फिर ऐसे लोग खुली कक्षा क्यो चलाते हैं? यहाँ यह बताया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति भक्त नहीं होता, फिर भी बहुत से लोग ऐसे हैं, जो कृष्ण से द्वेष नहीं रखते। उन्हें कृष्ण पर परमेश्वर रूप में श्रद्धा रहती है। यदि ऐसे लोग भगवान् के बारे में किसी प्रामाणिक भक्त से सुनते हैं, तो वे अपने सभी पापों से तुरन्त मुक्त हो जाते हैं और ऐसे लोक को प्राप्त होते हैं, जहाँ पुण्यात्माएँ वास करती हैं। अतएव *भगवद्गीता* के श्रवण मात्र से ऐसे व्यक्ति को भी पुण्यकर्मों का फल प्राप्त हो जाता है, जो अपने को शुद्ध भक्त बनाने का प्रयत्न नहीं करता। इस प्रकार भगवद्भक्त हर एक व्यक्ति के लिए अवसर प्रदान करता है कि वह समस्त पापों से मुक्त होकर भगवान् का भक्त बने।

सामान्यतया जो लोग पापो से मुक्त हैं, जो पुण्यात्मा हैं, वे अत्यन्त सरलता से कृष्णभावनामृत को ग्रहण कर लेते हे। यहाँ पर *पुण्यकर्मणाम्* शब्द अत्यन्त सार्थक है। यह वैदिक साहित्य में वर्णित अश्वमेध यज्ञ जैसे महान यज्ञों का सूचक है। जो भक्ति का आचरण करने वाले पुण्यात्मा हैं, किन्तु शुद्ध नहीं होते, वे ध्रुवलोक को प्राप्त होते हैं, जहाँ ध्रुव महाराज की अध्यक्षता है। वे भगवान् के महान भक्त हैं और उनका अपना विशेष लोक है, जो ध्रुव तारा या ध्रुवलोक कहलाता है।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रणष्टस्ते धनञ्जय॥ ७२॥

कच्चित्–क्या, एतत्–यह, श्रुतम्–सुना गया, पार्थ–हे पृथापुत्र, त्वया–तुम्हारे द्वारा, एक-अग्रेण–एकाग्र, चेतसा–मन से, कच्चित्–क्या, अज्ञान–अज्ञान का, सम्मोहः–मोह, भ्रम, प्रणष्टः–दूर हो गया, ते–तुम्हारा, धनञ्जय–हे सम्पत्ति के विजेता (अर्जुन)।

हे पृथापुत्र! हे धनञ्जय! क्या तुमने इसे (इस शास्त्र को) एकाग्र चित्त होकर सुना? और क्या अव तुम्हारा अज्ञान तथा मोह दूर हो गया है?

तात्पर्य : भगवान् अर्जुन के गुरु का काम कर रहे थे। अतएव यह उनका धर्म था कि अर्जुन से पूछते कि उसने पूरी *भगवद्गीता* सही ढंग से समझ ली है या नहीं। यदि नहीं समझी है, तो भगवान् उसे फिर से किसी अंश विशेप या पूरी *भगवद्गीता* वताने को तैयार हैं। वस्तुतः जो भी व्यक्ति कृष्ण जैसे प्रामाणिक गुरु या उनके प्रतिनिधि से *भगवद्गीता* को सुनता है, उसका सारा अज्ञान दूर हो जाता है। *भगवद्गीता* कोई सामान्य ग्रंथ नहीं, जिसे किसी कवि या उपन्यासकार ने लिखा हो, इसे साक्षात् भगवान् ने कहा है। जो भाग्यशाली व्यक्ति इन उपदेशों को कृष्ण से या उनके किसी प्रामाणिक आध्यात्मिक प्रतिनिधि से सुनता है, वह अवश्य ही मुक्त पुरुष वनकर अज्ञान के अंधकार को पार कर लेता है।

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥७३॥

अर्जुनःउवाच—अर्जुन ने कहा; **नष्टः**—दूर हुआ; **मोहः**—मोह; **स्मृतिः**—स्मरण शक्ति; **लब्धा**—पुनः प्राप्त हुई; **त्वत्-प्रसादात्**—आपकी कृपा से; **मया**—मेरे द्वारा; **अच्युत**—हे अच्युत कृष्ण; **स्थितः**—स्थित; **अस्मि**—हूँ; **गत**—दूर हुए; **सन्देहः**—सारे संशय; **करिष्ये**—पूरा करूँगा; **वचनम्**—आदेश को; **तव**—तुम्हारे।

अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण, हे अच्युत! अव मेरा मोह दूर हो गया। आपके अनुग्रह से मुझे मेरी स्मरण शक्ति वापस मिल गई। अब मैं संशयरहित तथा दृढ़ हूँ और आपके आदेशानुसार कर्म करने के लिए उद्यत हूँ।

तात्पर्य : जीव जिसका प्रतिनिधित्व अर्जुन कर रहा है, उसका स्वरूप यह है कि वह परमेश्वर के आदेशानुसार कर्म करे। वह आत्मानुशासन (संयम) के लिए वना है। श्रीचैतन्य महाप्रभु का कहना है कि जीव का स्वरूप परमेश्वर के नित्य दास के रूप में है। इस नियम को भूल जाने के कारण जीव प्रकृति द्वारा वद्ध हो जाता है। लेकिन परमेश्वर की सेवा करने से वह ईश्वर का मुक्त दास वनता है। जीव का स्वरूप सेवक के रूप में है। उसे माया या परमेश्वर में से किसी एक की सेवा करनी होती है। यदि वह परमेश्वर की सेवा करता है, तो वह अपनी सामान्य स्थिति में रहता है। लेकिन यदि वह वाह्यशक्ति माया की सेवा करना पसन्द करता है, तो वह निश्चित रूप से वन्धन में पड़ जाता है। इस भौतिक जगत् में जीव मोहवश सेवा कर रहा है। वह काम तथा इच्छाओं से वँधा हुआ है, फिर भी वह अपने को जगत् का स्वामी मानता है। यही मोह कहलाता है। मुक्त होने पर पुरुप का मोह दूर हो जाता है और वह स्वेच्छा से भगवान् की इच्छानुसार कर्म करने के लिए परमेश्वर की शरण ग्रहण करता है। जीव को फाँसने का माया का अन्तिम पाश यह धारणा है कि वह ईश्वर है। जीव सोचता है कि अव

वह बद्धजीव नहीं रहा, अब तो वह ईश्वर है। वह इतना मूर्ख होता है कि वह यह नहीं सोच पाता कि यदि वह ईश्वर होता तो इतना सशयग्रस्त क्यों रहता। वह इस पर विचार नहीं करता। इसलिए यही माया का अन्तिम पाश होता है। वस्तुतः माया से मुक्त होना भगवान् श्रीकृष्ण को समझना है और उनके आदेशानुसार कर्म करने के लिए सहमत होना है।

इस श्लोक में मोह शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मोह ज्ञान का विरोधी होता है। वास्तविक ज्ञान तो यह समझना है कि प्रत्येक जीव भगवान् का शाश्वत सेवक है। लेकिन जीव अपने को इस स्थिति में न समझकर सोचता है कि वह सेवक नहीं, अपितु इस *जगत् का स्वामी है, क्योंकि वह प्रकृति पर प्रभुत्व जताना चाहता है।* यह मोह भगवत्कृपा से या शुद्ध भक्त की कृपा से जीता जा सकता है। इस मोह के दूर होने पर मनुष्य कृष्णभावनामृत में कर्म करने के लिए राजी हो जाता है।

कृष्ण के आदेशानुसार कर्म करना कृष्णभावनामृत है। बद्धजीव माया द्वारा मोहित *होने के कारण यह नहीं जान पाता कि परमेश्वर स्वामी हैं, जो ज्ञानमय हैं और* सर्वसम्पत्तिवान हैं। वे अपने भक्तों को जो कुछ चाहे दे सकते हैं। वे सब के मित्र हैं और भक्तों पर विशेष कृपालु रहते हैं। वे प्रकृति तथा समस्त जीवों के अधीक्षक हैं। वे अक्षय काल के नियन्त्रक है और समस्त ऐश्वर्यों एवं शक्तियो से पूर्ण हैं। भगवान् भक्त को आत्मसमर्पण भी कर सकते हैं। जो उन्हे नहीं जानता वह मोह के वश मे है, वह भक्त नहीं बल्कि माया का सेवक बन जाता है। लेकिन अर्जुन भगवान् से *भगवद्गीता सुनकर समस्त मोह से मुक्त हो गया। वह यह समझ गया कि कृष्ण केवल उसके मित्र ही नही बल्कि भगवान् हैं और वह कृष्ण को वास्तव में समझ गया। अतएव भगवद्गीता* का पाठ करने का अर्थ है कृष्ण को वास्तविकता के साथ जानना। जब व्यक्ति को पूर्ण ज्ञान होता है, तो वह स्वभावतः कृष्ण को आत्मसमर्पण करता है। जब अर्जुन समझ गया कि यह तो जनसंख्या की अनावश्यक वृद्धि को कम करने के लिए कृष्ण की योजना थी, तो उसने कृष्ण की इच्छानुसार युद्ध करना स्वीकार कर लिया। उसने पुन. भगवान् के आदेशानुसार युद्ध करने के लिए अपना धनुष-बाण ग्रहण कर लिया।

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥ ७४॥

सञ्जयःउवाच–संजय ने कहा, इति–इस प्रकार, अहम्–मैं, वासुदेवस्य–कृष्ण का; पार्थस्य–तथा अर्जुन का, च–भी, महा-आत्मनः–महात्माओं का, संवादम्–वार्ता, इमम्–यह, अश्रौषम्–सुनी है, अद्भुतम्–अद्भुत, रोम-हर्षणम्–रोगटे खडे करन वाली।

संजय ने कहा—इस प्रकार मैंने कृष्ण तथा अर्जुन इन दोनों महापुरुषों की वार्ता सुनी। और यह सन्देश इतना अद्भुत है कि मेरे शरीर में रोमाञ्च हो रहा है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के प्रारम्भ मे धृतराष्ट्र ने अपने मन्त्री *सजय से पूछा था "कुरुक्षेत्र* के युद्धस्थल में क्या हुआ?" गुरु व्यासदेव की कृपा से संजय के हृदय में सारी घटना

स्फुरित हुई थी। इस प्रकार उसने युद्धस्थल की विषय वस्तु कह सुनायी थी। यह वार्ता आश्चर्यप्रद थी, क्योंकि इसके पूर्व दो महापुरुषों के बीच ऐसी महत्त्वपूर्ण वार्ता कभी नहीं हुई थी और न भविष्य में पुनः होगी। यह वार्ता इसलिए आश्चर्यप्रद थी, क्योंकि भगवान् भी अपने तथा अपनी शक्तियों के विषय में जीवात्मा अर्जुन से वर्णन कर रहे थे, जो परम भगवद्भक्त था। यदि हम कृष्ण को समझने के लिए अर्जुन का अनुसरण करें तो हमारा जीवन सुखी तथा सफल हो जाए। संजय ने इसका अनुभव किया और जैसे-जैसे उसकी समझ में आता गया उसने यह वार्ता धृतराष्ट्र से कह सुनाई। अब यह निष्कर्ष निकला कि जहाँ-जहाँ कृष्ण तथा अर्जुन हैं, वहीं-वहीं विजय होती है।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥ ७५॥

व्यास-प्रसादात्—व्यासदेव की कृपा से; **श्रुतवान्**—सुना है; **एतत्**—इस; **गुह्यम्**—गोपनीय; **अहम्**—मैंने; **परम्**—परम; **योगम्**—योग को; **योग-ईश्वरात्**—योग के स्वामी; **कृष्णात्**—कृष्ण से; **साक्षात्**—साक्षात्; **कथयतः**—कहते हुए; **स्वयम्**—स्वयं।

व्यास की कृपा से मैंने ये परम गुह्य बातें साक्षात् योगेश्वर कृष्ण के मुख से अर्जुन के प्रति कही जाती हुई सुनीं।

तात्पर्य : व्यास संजय के गुरु थे और संजय स्वीकार करते हैं कि व्यास की कृपा से ही वे भगवान् को समझ सके। इसका अर्थ यह हुआ कि गुरु के माध्यम से ही कृष्ण को समझना चाहिए, प्रत्यक्ष रूप से नहीं। गुरु स्वच्छ माध्यम है, यद्यपि अनुभव फिर भी प्रत्यक्ष ही होता है। गुरु-परम्परा का यही रहस्य है। जब गुरु प्रामाणिक हो तो *भगवद्गीता* का प्रत्यक्ष श्रवण किया जा सकता है, जैसा अर्जुन ने किया। संसार भर में अनेक योगी हैं, लेकिन कृष्ण योगेश्वर हैं। उन्होंने *भगवद्गीता* में स्पष्ट उपदेश दिया है, "मेरी शरण में आओ। जो ऐसा करता है वह सर्वोच्च योगी है।" छठे अध्याय के अन्तिम श्लोक में इसकी पुष्टि हुई है—*योगिनाम् अपि सर्वेषाम्।*

नारद कृष्ण के शिष्य हैं और व्यास के गुरु। अतएव व्यास अर्जुन के ही समान प्रामाणिक हैं, क्योंकि वे गुरु-परम्परा में आते हैं और संजय व्यासदेव के शिष्य हैं। अतएव व्यास की कृपा से संजय की इन्द्रियाँ विमल हो सकीं और वे कृष्ण का साक्षात् दर्शन कर सके तथा उनकी वार्ता सुन सके। जो व्यक्ति कृष्ण का प्रत्यक्ष श्रवण करता है, वह इस गुह्यज्ञान को समझ सकता है। यदि वह गुरु-परम्परा में नहीं होता तो वह कृष्ण की वार्ता नहीं सुन सकता। अतएव उसका ज्ञान सदैव अधूरा रहता है, विशेषतया जहाँ तक *भगवद्गीता* समझने का प्रश्न है।

भगवद्गीता में योग की समस्त पद्धतियों का—कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग का वर्णन हुआ है। श्रीकृष्ण इन समस्त योगों के स्वामी हैं। लेकिन यह समझ लेना चाहिए कि जिस तरह अर्जुन कृष्ण को प्रत्यक्षतः समझ सकने के लिए भाग्यशाली था, उसी प्रकार व्यासदेव की कृपा से संजय भी कृष्ण को साक्षात् सुनने में समर्थ हो सका। वस्तुतः कृष्ण से प्रत्यक्षतः सुनने एवं व्यास जैसे गुरु के माध्यम से प्रत्यक्ष सुनने में कोई अन्तर

नहीं है। गुरु भी व्यासदेव का प्रतिनिधि होता है। अतएव वैदिक पद्धति के अनुसार अपने गुरु के जन्मदिवस पर शिष्यगण व्यास पूजा नामक उत्सव रचाते हैं।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥ ७६॥

राजन्–हे राजा; संस्मृत्य–स्मरण करके; संस्मृत्य–स्मरण करके; संवादम्–वार्ता को, इमम्–इस; अद्भुतम्–आश्चर्यजनक; केशव–भगवान् कृष्ण, अर्जुनयोः–तथा अर्जुन की; पुण्यम्–पवित्र; हृष्यामि–हर्षित होता हूँ; च–भी, मुहुःमुहुः–बारम्बार।

हे राजन्! जब मैं कृष्ण तथा अर्जुन के मध्य हुई इस आश्चर्यजनक तथा पवित्र वार्ता का बारम्बार स्मरण करता हूँ, तो प्रति क्षण आह्लाद से गद्गद् हो उठता हूँ।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* का ज्ञान इतना दिव्य है कि जो भी अर्जुन तथा कृष्ण के संवाद को जान लेता है, वह पुण्यात्मा बन जाता है और इस वार्तालाप को भूल नहीं सकता। आध्यात्मिक जीवन की यह दिव्य स्थिति है। दूसरे शब्दों में, जब कोई *गीता* को सही स्रोत से अर्थात् प्रत्यक्षतः कृष्ण से सुनता है, तो उसे पूर्ण कृष्णभावनामृत प्राप्त होता है। कृष्णभावनामृत का फल यह होता है कि वह अत्यधिक प्रबुद्ध हो उठता है और जीवन का भोग आनन्द सहित कुछ काल तक नहीं, अपितु प्रत्येक क्षण करता है।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः॥ ७७॥

तत्–उस; च–भी; संस्मृत्य–स्मरण करके, संस्मृत्य–स्मरण करके, रूपम्–स्वरूप को, अति–अत्यधिक, अद्भुतम्–अद्भुत, हरेः–भगवान् कृष्ण के, विस्मयः– आश्चर्य, मे–मेरा, महान–महान, राजन्–हे राजा, हृष्यामि–हर्षित हो रहा हूँ, च–भी, पुनःपुनः–फिर-फिर, बारम्बार।

हे राजन्! भगवान् कृष्ण के अद्भुत रूप का स्मरण करते ही मैं अधिकाधिक आश्चर्यचकित होता हूँ और पुनःपुनः हर्षित होता हूँ।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि व्यास की कृपा से संजय ने भी अर्जुन को दिखाये गये कृष्ण के विराट रूप को देखा था। निस्सन्देह यह कहा जाता है कि इसके पूर्व भगवान् कृष्ण ने कभी ऐसा रूप प्रकट नहीं किया था। यह केवल अर्जुन को दिखाया गया था, लेकिन उस समय कुछ महान भक्त भी उसे देख सके थे तथा व्यास उनमें से एक थे। वे भगवान् के परम भक्तों में से हैं ओर कृष्ण के शक्त्यावेश अवतार माने जाते हैं। व्यास ने इसे अपने शिष्य संजय के समक्ष प्रकट किया जिन्होंने अर्जुन को प्रदर्शित किये गये कृष्ण के उस अद्भुत रूप को स्मरण रखा और वे बारम्बार उसका आनन्द उठा रहे थे।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ ७८॥

यत्र—जहाँ; **योग-ईश्वरः**—योग के स्वामी; **कृष्णः**—भगवान् कृष्ण; **यत्र**—जहाँ; **पार्थः**—पृथापुत्र; **धनुः-धरः**—धनुषधारी; **तत्र**—वहाँ; **श्रीः**—ऐश्वर्य; **विजयः**—जीत; **भूतिः**—विलक्षण शक्ति; **ध्रुवा**—निश्चित; **नीतिः**—नीति; **मतिः मम**—मेरा मत।

जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और जहाँ परम धनुर्धर अर्जुन है, वहीं ऐश्वर्य, विजय, अलौकिक शक्ति तथा नीति भी निश्चित रूप से रहती है। ऐसा मेरा मत है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* का शुभारम्भ धृतराष्ट्र की जिज्ञासा से हुआ। वह भीष्म, द्रोण तथा कर्ण जैसे महारथियों की सहायता से अपने पुत्रों की विजय के प्रति आशावान था। उसे आशा थी कि विजय उसके पक्ष में होगी। लेकिन युद्धक्षेत्र के दृश्य का वर्णन करने के बाद संजय ने राजा से कहा "आप अपनी विजय की बात सोच रहे हैं, लेकिन मेरा मत है कि जहाँ कृष्ण तथा अर्जुन उपस्थित हैं, वहीं सम्पूर्ण श्री होगी।" उसने प्रत्यक्ष पुष्टि की कि धृतराष्ट्र को अपने पक्ष की विजय की आशा नहीं रखनी चाहिए। विजय तो अर्जुन के पक्ष की निश्चित है, क्योंकि उसमें कृष्ण हैं। श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन के सारथी का पद स्वीकार करना एक ऐश्वर्य का प्रदर्शन था। कृष्ण समस्त ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं और इनमें से वैराग्य एक है। ऐसे वैराग्य के भी अनेक उदाहरण प्राप्त हैं, क्योंकि कृष्ण वैराग्य के भी ईश्वर हैं।

युद्ध तो वास्तव में दुर्योधन तथा युधिष्ठिर के बीच था। अर्जुन अपने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर की ओर से लड़ रहा था। चूँकि कृष्ण तथा अर्जुन युधिष्ठिर की ओर थे अतएव युधिष्ठिर की विजय ध्रुव थी। युद्ध को यह निर्णय करना था कि संसार पर शासन कौन करेगा। संजय ने भविष्यवाणी की कि सत्ता युधिष्ठिर के हाथ में चली जाएगी। यहाँ पर इसकी भी भविष्यवाणी हुई है कि इस युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद युधिष्ठिर उत्तरोत्तर समृद्धि लाभ करेंगे, क्योंकि वे न केवल पुण्यात्मा तथा पवित्रात्मा थे, अपितु वे कठोर नीतिवादी थे। उन्होंने जीवन भर कभी असत्य भाषण नहीं किया था।

ऐसे अनेक अल्पज्ञ व्यक्ति हैं, जो *भगवद्गीता* को युद्धस्थल में दो मित्रों की वार्ता के रूप में ग्रहण करते हैं। लेकिन इससे ऐसा ग्रंथ कभी शास्त्र नहीं बन सकता। कुछ लोग विरोध कर सकते हैं कि कृष्ण ने अर्जुन को युद्ध करने के लिए उकसाया, जो अनैतिक है, लेकिन वास्तविकता तो यह है कि *भगवद्गीता* नीति का परम आदेश है। यह नीति विषयक आदेश नवें अध्याय के चौंतीसवें श्लोक में है—*मन्मना भव मद्भक्तः*। मनुष्य को कृष्ण का भक्त बनना चाहिए और सारे धर्मों का सार है—कृष्ण की शरणागति (*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*)। *भगवद्गीता* का आदेश धर्म तथा नीति की परम विधि है। अन्य सारी विधियाँ भले ही शुद्ध करने वाली तथा इस विधि तक ले जाने वाली हों, लेकिन *गीता* का अन्तिम आदेश समस्त नीतियों तथा धर्मों का सार वचन है—कृष्ण की शरण ग्रहण करो या कृष्ण को आत्मसमर्पण करो। यह अठारहवें अध्याय का मत है।

भगवद्गीता से हम यह समझ सकते हैं कि ज्ञान तथा ध्यान द्वारा अपनी अनुभूति एक विधि है, लेकिन कृष्ण की शरणागति सर्वोच्च सिद्धि है। यह *भगवद्गीता* के उपदेशों का सार है। वर्णाश्रम धर्म के अनुसार अनुष्ठानों (कर्मकाण्ड) का मार्ग, ज्ञान का गुह्य

मार्ग हो सकता है। लेकिन धर्म के अनुष्ठान के गुह्य होने पर भी ध्यान तथा ज्ञान गुह्यतर हैं तथा पूर्ण कृष्णभावनाभावित होकर भक्ति में कृष्ण की शरणागति गुह्यतम उपदेश है। यही अठारहवें अध्याय का सार है।

भगवद्गीता की अन्य विशेषता यह है कि वास्तविक सत्य भगवान् कृष्ण हैं। परम सत्य की अनुभूति तीन रूपों में होती है—निर्गुण ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा भगवान् श्रीकृष्ण। परम सत्य के पूर्ण ज्ञान का अर्थ है, कृष्ण का पूर्ण ज्ञान। यदि कोई कृष्ण को जान लेता है तो ज्ञान के सारे विभाग इसी ज्ञान के अंश हैं। कृष्ण दिव्य हैं क्योंकि वे अपनी नित्य अन्तरंगा शक्ति में स्थित रहते हैं। जीव उनकी शक्ति से प्रकट हैं और दो श्रेणी के होते हैं—नित्यबद्ध तथा नित्यमुक्त। ऐसे जीवों की संख्या असंख्य है और वे सब कृष्ण के मूल अंश माने जाते हैं। भौतिक शक्ति २४ प्रकार से प्रकट होती है। सृष्टि शाश्वत काल द्वारा प्रभावित है और बहिरंगाशक्ति द्वारा इसका सृजन तथा संहार होता है। यह दृश्य जगत पुन पुन· प्रकट तथा अप्रकट होता रहता है।

भगवद्गीता में पाँच प्रमुख विषयों की व्याख्या की गई है—भगवान्, भौतिक प्रकृति, जीव, शाश्वतकाल तथा सभी प्रकार के कर्म। सब कुछ भगवान् कृष्ण पर आश्रित है। परमसत्य की सभी धारणाएँ—निराकार ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा अन्य दिव्य अनुभूतियाँ—भगवान् के ज्ञान की कोटि में सन्निहित हैं। यद्यपि ऊपर से भगवान्, जीव, प्रकृति तथा काल भिन्न प्रतीत होते हैं, लेकिन ब्रह्म से कुछ भी भिन्न नहीं है। लेकिन ब्रह्म सदैव समस्त वस्तुओं से भिन्न है। भगवान् चैतन्य का दर्शन है "अचिन्त्यभेदाभेद"। यह दर्शन पद्धति परमसत्य के पूर्णज्ञान से युक्त है।

जीव अपने मूलरूप में शुद्ध आत्मा है। वह परमात्मा का एक परमाणु मात्र है। इस प्रकार भगवान् कृष्ण की उपमा सूर्य से दी जा सकती है और जीवों की सूर्यप्रकाश से। चूँकि सारे जीव कृष्ण की तटस्था शक्ति हैं, अतएव उनका संसर्ग भौतिक शक्ति (अपरा) या आध्यात्मिक शक्ति (परा) से होता है। दूसरे शब्दों में, जीव भगवान् की दो शक्तियों के मध्य में स्थित है और चूँकि उसका सम्बन्ध भगवान् की पराशक्ति से है, अतएव उसमें किंचित् स्वतन्त्रता रहती है। इस स्वतन्त्रता के सदुपयोग से ही वह कृष्ण के प्रत्यक्ष आदेश के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार वह ह्लादिनी शक्ति की अपनी सामान्य दशा को प्राप्त होता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के अठारहवें अध्याय "उपसंहार—संन्यास की सिद्धि" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।

द्वारा पश्चिमी देशों में प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा की वैदिक प्रणाली का सूत्रपात किया। तब से, उनके निर्देशन के अनुसार श्रील प्रभुपाद के शिष्यों ने सम्पूर्ण विश्व में दस से अधिक गुरुकुल खोले हैं। श्रीवृन्दावन धाम का भक्तिवेदान्त स्वामी गुरुकुल इनमें सर्वप्रमुख है।

श्रील प्रभुपाद ने श्रीधाम-मायापुर, पश्चिम बंगाल में एक विशाल अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र के निर्माण की प्रेरणा दी। यहीं पर वैदिक साहित्य के अध्ययनार्थ सुनियोजित संस्थान की योजना है, जो अगले दस वर्ष तक पूर्ण हो जाएगा। इसी प्रकार श्रीवृन्दावन धाम में भव्य कृष्ण-बलराम मन्दिर और अन्तर्राष्ट्रीय अतिथि भवन तथा श्रील प्रभुपाद स्मृति संग्रहालय का निर्माण हुआ है। ये वे केन्द्र हैं जहाँ पाश्चात्य लोग वैदिक संस्कृति का मूल रूप से प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। मुंबई में भी श्री राधारासविहारीजी मन्दिर के रूप में एक विशाल सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक केन्द्र का विकास हो चुका है। इसके अतिरिक्त भारत में बारह अन्य महत्त्वपूर्ण स्थानों में हरे कृष्ण मन्दिर खोलने की योजना कार्याधीन है।

किन्तु, श्रील प्रभुपाद का सबसे बड़ा योगदान उनके ग्रन्थ हैं। ये ग्रन्थ विद्वानों द्वारा अपनी प्रामाणिकता, गम्भीरता और स्पष्टता के कारण अत्यन्त मान्य हैं और अनेक महाविद्यालयों में उच्चस्तरीय पाठ्यग्रन्थों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। श्रील प्रभुपाद की रचनाएँ ५० से अधिक भाषाओं में अनूदित हैं। १९७२ ई. में केवल श्रील प्रभुपाद के ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए स्थापित भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, भारतीय धर्म और दर्शन के क्षेत्र में विश्व का सबसे बड़ा प्रकाशक हो गया है। इस ट्रस्ट का एक अत्यधिक आकर्षक प्रकाशन श्रील प्रभुपाद द्वारा केवल अठारह मास में पूर्ण की गई उनकी एक अभिनव कृति है जो बंगाली धार्मिक महाग्रन्थ श्रीचैतन्यचरितामृत का सत्रह खण्डों में अनुवाद और टीका है।

बारह वर्षों में, अपनी वृद्धावस्था की चिन्ता न करते हुए परिव्राजक (व्याख्यान-पर्यटक) के रूप में श्रील प्रभुपाद ने विश्व के छहों महाद्वीपों की चौदह परिक्रमाएँ कीं। इतने व्यस्त कार्यक्रम के रहते हुए भी श्रील प्रभुपाद की उर्वरा लेखनी अविरत चलती रहती थी। उनकी रचनाएँ वैदिक दर्शन, धर्म, साहित्य और संस्कृति के एक यथार्थ पुस्तकालय का निर्माण करती हैं। ❀

श्लोकानुक्रमणिका

अ

ऐ

ओ

क

ग

च

छ

ज

झ

त

द

ध

न

प

ब

भ

म

य

र

ल

ह

क्ष

ज्ञ

गीतोपनिषद्

श्रीमद्भगवद्गीता

यथारूप

कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद द्वारा विरचित वैदिक ग्रंथरत्न :

- श्रीमद्‌भगवद्‌गीता यथारूप
- श्रीमद्‌भागवतम् (१८ भागों में)
- श्रीचैतन्य-चरितामृत (७ भागों में)
- लीला पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण
- श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु
- भगवान् चैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत
- श्रीउपदेशामृत
- श्रीईशोपनिषद्
- अन्य ग्रहों की सुगम यात्रा
- भागवत का प्रकाश
- आत्म-साक्षात्कार का विज्ञान
- कृष्णभावनामृत : सर्वोत्तम योगपद्धति
- पूर्ण प्रश्न पूर्ण उत्तर
- देवहूतिनन्दन भगवान् कपिल का शिक्षामृत
- महारानी कुन्ती की शिक्षा
- राजविद्या
- जीवन का स्रोत जीवन
- जन्म-मृत्यु से परे
- कर्मयोग
- रसराज श्रीकृष्ण
- प्रह्लाद महाराज की दिव्य शिक्षा
- आत्मा का प्रवास
- कृष्ण की ओर
- कृष्णभावनामृत की प्राप्ति
- कृष्णभावनामृत - एक अनुपम उपहार
- पुनरागमन - पुनर्जन्म का विज्ञान
- योगपथ
- मृत्यु की पराजय
- प्रकृति के नियम
- हरे कृष्ण चुनौती
- योग की पूर्णता
- ज्ञान की तलवार
- नारद भक्ति-सूत्र
- गीतासार
- अध्यात्म और २१वीं सदी
- प्रचार ही सार है
- गीतार गान (बंगला)
- भगवद्दर्शन पत्रिका (संस्थापक)

अधिक जानकारी तथा सूचीपत्र के लिए लिखें :

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, हरे कृष्ण धाम, जुहू, मुंबई ४०० ०४९.

ये पुस्तकें हरे कृष्ण केन्द्रों पर भी उपलब्ध है। कृपया अपने निकटस्थ केन्द्र से सम्पर्क करें।

गीतोपनिषद्

श्रीमद्भगवद्गीता

यथारूप

संपूर्ण एवं अखण्ड संस्करण
परिवर्धित एवं परिशोधित

मूल संस्कृत पाठ, शब्दार्थ,
अनुवाद तथा विस्तृत तात्पर्य सहित

द्वारा
कृष्णकृपाश्रीमूर्ति
श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
संस्थापकाचार्य : अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ



भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट
लॉस एंजिलिस • लंदन • स्टॉकहोम • सिडनी • हॉंग कॉंग • मुंबई

इस ग्रंथ की विषयवस्तु में जिज्ञासु पाठकगण अपने निकटस्थ किसी भी इस्कॉन केन्द्र से अथवा निम्नलिखित पते पर पत्र-व्यवहार करने के लिए आमंत्रित हैं :

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट
हरे कृष्ण धाम
जुहू, मुंबई ४०० ०४९

ई-मेल : bbtmumbai@pamho.net

Bhagavad-gītā As It Is (Hindi)

अनुवादक (अंग्रेजी-हिन्दी) : डॉ. शिवगोपाल मिश्र

द्वितीय परिशोधित एवं परिवर्धित अंग्रेजी संस्करण, १९८३, पर आधारित अखण्ड परिशोधित एवं परिवर्धित द्वितीय हिन्दी संस्करण।

पहला मुद्रण : १०,००० प्रतियाँ

दूसरे से ३३वें मुद्रण तक : ११,७५,००० प्रतियाँ

३४वाँ मुद्रण, सितम्बर २००५ : २,००,००० प्रतियाँ

भगवद्गीता यथारूप के अरबी, चीनी, डच, फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेजी, इतालवी, जापानी, पुर्तगाली, स्पेनी, स्विडिश, बंगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलगू तथा अन्य अनेक भाषाओं के संस्करण भी उपलब्ध हैं।

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट-मुंबई के लिए भीम दास द्वारा प्रकाशित एवं रेखा प्रिन्टर्स प्रा. लि. नई दिल्ली ११० ०२० में मुद्रित।

समर्पण

वेदान्त दर्शन पर

अति अद्भुत गोविन्द भाष्य के प्रणेता

श्रील बलदेव विद्याभूषण

को

आलोचकों द्वारा 'भगवद्गीता यथारूप' की प्रशंसा

(अंग्रेजी संस्करण)

"इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यह संस्करण गीता तथा भक्ति के विषय में प्राप्त समस्त ग्रंथों में सर्वश्रेष्ठ है। प्रभुपाद द्वारा किया गया यह अंग्रेजी अनुवाद शाब्दिक यथार्थता तथा धार्मिक अन्तर्दृष्टि का आदर्श मिश्रण है।"

डॉ. थॉमस एच. हॉपकिन्स
अध्यक्ष, धार्मिक अध्ययन विभाग
फ्रैंकलिन तथा मार्शल कालेज

"गीता को विश्व की सबसे प्राचीन जीवित संस्कृति, भारत की महान धार्मिक सभ्यता के प्रमुख साहित्यिक प्रमाण के रूप में देखा जा सकता है। प्रस्तुत अनुवाद तथा टीका गीता के चिरस्थायित्व की अन्य अभिव्यक्ति है। स्वामी भक्तिवेदान्त पाश्चात्य जगत को स्मरण दिलाते हैं कि हमारी अत्यधिक क्रियाशील तथा एकांगी संस्कृति के समक्ष ऐसा संकट उपस्थित है, जिसमें आत्म-विनाश हो सकता है क्योंकि इसमें मौलिक आध्यात्मिक चेतना की गहराई का अभाव है। ऐसी गहराई के बिना हमारे चारित्रिक तथा राजनीतिक विरोध शब्दजाल बनकर रह जाते हैं।"

थॉमस मर्टन
लेट कैथॉलिक थियोलॉजियन, मॅङ्क, लेखक

"पाश्चात्य जगत में भारतीय साहित्य का कोई भी ग्रंथ इतना अधिक उद्धरित नहीं होता जितना कि भगवद्गीता, क्योंकि यही सर्वाधिक प्रिय है। ऐसे ग्रंथ के अनुवाद के लिए न केवल संस्कृत का ज्ञान आवश्यक है, अपितु विषय-वस्तु के प्रति आन्तरिक सहानुभूति तथा शब्दचातुरी भी चाहिए। श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद निश्चित रूप से विषय-वस्तु के प्रति अतीव सहानुभूतिपूर्ण हैं। उन्होंने भक्ति परम्परा को एक नवीन तार्किक शक्ति प्रदान की है। इस भारतीय महाकाव्य को नया अर्थ प्रदान करके स्वामीजी ने विद्यार्थियों के लिए असली सेवाकार्य किया है। उन्होंने जो श्रम किया है उसके लिए हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए।"

डॉ. गेड्डीज मेकग्रेगर
दर्शन के विख्यात प्रतिष्ठित प्रोफेसर
दक्षिणी कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय

विषय-सूची

पृष्ठभूमि

यद्यपि *भगवद्गीता* का व्यापक प्रकाशन और पठन होता रहा है, किन्तु मूलतः यह संस्कृत महाकाव्य महाभारत की एक उपकथा के रूप में प्राप्त है। महाभारत में वर्तमान कलियुग तक की घटनाओं का विवरण मिलता है। इसी युग के प्रारम्भ में आज से लगभग ५,००० वर्ष पूर्व भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने मित्र तथा भक्त अर्जुन को *भगवद्गीता* का उपदेश दिया था।

उनकी यह वार्ता, जो मानव इतिहास की सबसे महान दार्शनिक तथा धार्मिक वार्ताओं में से एक है, उस महायुद्ध के शुभारम्भ के पूर्व हुई, जो धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों तथा उनके चचेरे भाई पाण्डवों के मध्य होने वाला भ्रातृघातक संघर्ष था।

धृतराष्ट्र तथा पाण्डु भाई-भाई थे जिनका जन्म कुरुवंश में हुआ था और वे राजा भरत के वंशज थे, जिनके नाम पर ही महाभारत नाम पड़ा। चूँकि बड़ा भाई धृतराष्ट्र जन्म से अंधा था, अतएव राजसिंहासन उसे न मिलकर उसके छोटे भाई पाण्डु को मिला।

पाण्डु की मृत्यु बहुत ही कम आयु में हो गई, अतएव उसके पाँच पुत्र-युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव धृतराष्ट्र की देखरेख में रख दिये गये, क्योंकि उसे कुछ काल के लिए राजा बना दिया गया था। इस तरह धृतराष्ट्र तथा पाण्डु के पुत्र एक ही राजमहल में बड़े हुए। दोनों ही को गुरु द्रोण द्वारा सैन्यकला का प्रशिक्षण दिया गया और पूज्य भीष्म पितामह उनके परामर्शदाता थे।

तथापि धृतराष्ट्र के पुत्र, विशेषतः सबसे बड़ा पुत्र दुर्योधन पाण्डवों से घृणा और ईर्ष्या करता था। अन्धा तथा दुर्बलहृदय धृतराष्ट्र पाण्डुपुत्रों के स्थान पर अपने पुत्रों को राज्य का उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। इस तरह धृतराष्ट्र की सहमति से दुर्योधन ने पाण्डु के युवा पुत्रों की हत्या करने का षड्यन्त्र रचा। पाँचों पाण्डव अपने चाचा विदुर तथा अपने ममेरे भाई भगवान् कृष्ण के संरक्षण में रहने के कारण अनेक प्राणघातक आक्रमणों के बाद भी अपने प्राणों को सुरक्षित रख पाये।

भगवान् कृष्ण कोई सामान्य व्यक्ति नहीं, अपितु साक्षात् परम ईश्वर हैं जिन्होंने इस धराधाम में अवतार लिया था और अब एक समकालीन राजकुमार होने का अभिनय कर रहे थे। वे पाण्डु की पत्नी कुन्ती या पृथा, पाण्डवों की माता के भतीजे थे। इस तरह सम्बन्धी के रूप में तथा धर्म के शाश्वत पालक होने के कारण वे धर्मपरायण पाण्डुपुत्रों का पक्ष लेते रहे और उनकी रक्षा करते रहे।

किन्तु अन्ततः चतुर दुर्योधन ने पाण्डवों को जुआ खेलने के लिए ललकारा। उस निर्णायक स्पर्धा में दुर्योधन तथा उसके भाइयों ने पाण्डवों की सती पत्नी द्रौपदी पर अधिकार प्राप्त कर लिया और फिर उसे राजाओं तथा राजकुमारों की सभा के मध्य निर्वस्त्र करने का प्रयास किया। कृष्ण के दिव्य हस्तक्षेप से उसकी रक्षा हो सकी। उस द्यूतक्रीडा में छल के प्रयोग के कारण पाण्डव हार गए तथा उन्हें अपने राज्य से वंचित होना पड़ा और तेरह वर्ष तक वनवास के लिए जाना पड़ा।

वनवास से लौटकर पाण्डवों ने धर्मसम्मत रूप से दुर्योधन से अपना राज्य माँगा, किन्तु उसने देने से इनकार कर दिया। क्षत्रियों के शास्त्रोनुमोदित कर्त्तव्य को पूर्ण करने के लिए पाँचों पाण्डवों ने अन्त में अपना पूरा राज्य न माँगकर केवल पाँच गाँवों की माँग रखी, किन्तु दुर्योधन सुई की नोक भर भी भूमि देने के लिए सहमत नहीं हुआ।

अभी तक तो पाण्डव सहनशील बने रहे, लेकिन अब उनके लिए युद्ध करना अवश्यम्भावी हो गया।

विश्वभर के राजकुमारों में से कुछ धृतराष्ट्र के पुत्रों के पक्ष में थे, तो कुछ पाण्डवों के पक्ष में। उस समय कृष्ण स्वयं पाण्डुपुत्रों के संदेशवाहक बनकर शान्ति का सन्देश लेकर धृतराष्ट्र की राजसभा में गये। जब उनकी याचना अस्वीकृत हो गई, तो युद्ध निश्चित था।

अत्यन्त सच्चरित्र पाँचों पाण्डवों ने कृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में स्वीकार कर लिया था, किन्तु धृतराष्ट्र के दुष्ट पुत्र उन्हें नहीं समझ पाये थे। तथापि कृष्ण ने विपक्षियों की इच्छानुसार ही युद्ध में सम्मिलित होने का प्रस्ताव रखा। ईश्वर के रूप में वे युद्ध नहीं करना चाहते थे, किन्तु जो भी उनकी सेना का उपयोग करना चाहे, कर सकता था। प्रतिबन्ध यह था कि एक ओर कृष्ण की सम्पूर्ण सेना होगी तथा दूसरी ओर वे स्वयं—एक परामर्शदाता तथा सहायक के रूप में उपस्थित रहेंगे। राजनीति में कुशल दुर्योधन ने आतुरता से कृष्ण की सेना झपट ली, जबकि पाण्डवों ने कृष्ण को उतनी ही आतुरता से ग्रहण किया।

इस प्रकार कृष्ण अर्जुन के सारथी बने और उन्होंने उस सुप्रसिद्ध धनुर्धर का रथ हाँकना स्वीकार किया। इस तरह हम उस बिन्दु तक पहुँच जाते हैं जहाँ से *भगवद्गीता* का शुभारम्भ होता है—दोनों ओर की सेनाएँ युद्ध के लिए तैयार खड़ी हैं और धृतराष्ट्र अपने सचिव सञ्जय से पूछ रहा है कि उन सेनाओं ने क्या किया?

इस तरह सारी पृष्ठभूमि तैयार है। आवश्यकता है केवल इस अनुवाद तथा भाष्य के विषय में संक्षिप्त टिप्पणी की।

भगवद्गीता के अंग्रेजी अनुवादकों में यह सामान्य प्रवृत्ति पाई जाती है कि वे अपनी विचारधारा तथा दर्शन को स्थान देने के लिए कृष्ण नामक व्यक्ति को ताक पर रख देते हैं। वे महाभारत के इतिहास को असंगत पौराणिक कथा मानते हैं तथा कृष्ण को किसी अज्ञात प्रतिभाशाली व्यक्ति के विचारों को पद्य रूप में प्रस्तुत करने का निमित्त बनाते हैं अथवा श्रेष्ठतम संदर्भ में कृष्ण को एक गौण ऐतिहासिक पुरुष बना दिया जाता है। किन्तु साक्षात् कृष्ण *भगवद्गीता* के लक्ष्य तथा विषयवस्तु दोनों हैं जैसा कि *गीता* स्वयं अपने विषय में कहती है।

अतः यह अनुवाद तथा इसी के साथ संलग्न भाष्य पाठक को कृष्ण की ओर निर्देशित करता है, उनसे दूर नहीं ले जाता। इस दृष्टि से *भगवद्गीता* यथारूप अनुपम है। साथ ही इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस तरह यह पूर्णतया ग्राह्य तथा संगत बन जाती है। चूँकि *गीता* के वक्ता एवं उसी के साथ चरम लक्ष्य भी स्वयं कृष्ण हैं अतएव यही एकमात्र ऐसा अनुवाद है जो इस महान शास्त्र को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है।

—प्रकाशक

आमुख

सर्वप्रथम मैंने *भगवद्गीता* यथारूप इसी रूप में लिखी थी जिस रूप में अब यह प्रस्तुत की जा रही है। दुर्भाग्यवश जब पहली बार इसका प्रकाशन हुआ तो मूल पाण्डुलिपि को छोटा कर दिया गया जिससे अधिकांश श्लोकों की व्याख्याएँ छूट गई थीं। मेरी अन्य सारी कृतियों मे पहले मूल श्लोक दिये गये हैं, फिर उनका अंग्रेजी में लिप्यन्तरण, तब संस्कृत शब्दों का अंग्रेजी मे अर्थ, फिर अनुवाद और अन्त में तात्पर्य रहता है। इससे कृति प्रामाणिक तथा विद्वत्तापूर्ण बन जाती है और उसका अर्थ स्वतः स्पष्ट हो जाता है। अतः जब मुझे अपनी मूल पाण्डुलिपि को छोटा करना पडा तो मुझे कोई प्रसन्नता नहीं हुई। किन्तु जब *भगवद्गीता* यथारूप की माँग बढी तब तमाम विद्वानों तथा भक्तो ने मुझसे अनुरोध किया कि मै इस कृति को इसके मूल रूप में प्रस्तुत करूँ। अतएव ज्ञान की इस महान कृति को मेरी मूल पाण्डुलिपि का रूप प्रदान करने के लिए वर्तमान प्रयास किया गया है जो पूर्ण परम्परागत व्याख्या से युक्त है, जिससे कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन की अधिक प्रगतिशील एवं पुष्ट स्थापना की जा सके।

हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन मौलिक ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक, सहज तथा दिव्य है क्योंकि यह *भगवद्गीता* यथारूप पर आधारित है। यह सम्पूर्ण जगत में, विशेषतया नई पीढी के बीच, अति लोकप्रिय हो रहा है। यह प्राचीन पीढ़ी के बीच भी अधिकाधिक सुरुचि प्रदान करने वाला है। प्रौढ़ इसमे इतनी रुचि दिखा रहे है कि हमारे शिष्यों के पिता तथा पितामह हमारे संघ के आजीवन सदस्य बनकर *हमारा उत्साहवर्धन कर रहे हैं। लॉस एंजिलिस में अनेक माताएँ तथा पिता मेरे पास* यह कृतज्ञता व्यक्त करने आते थे कि मै सारे विश्व मे कृष्णभावनामृत आन्दोलन की अगुआई कर रहा हूँ। उनमें से कुछ लोगों ने कहा कि अमरीकी लोग बडे ही भाग्यशाली हैं कि मैंने अमरीका में कृष्णभावनामृत आन्दोलन का शुभारम्भ किया है।

किन्तु इस आन्दोलन के आदि प्रवर्तक तो स्वयं भगवान् कृष्ण हैं, क्योंकि यह आन्दोलन बहुत काल पूर्व प्रवर्तित हो चुका था और परम्परा द्वारा यह मानव समाज में चलता आ रहा है। यदि इसका किंचित्मात्र श्रेय है तो वह मुझे नहीं, अपितु मेरे गुरु कृष्णकृपाश्रीमूर्ति ॐ विष्णुपाद परमहंस परिव्राजकाचार्य १०८ श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज प्रभुपाद के कारण है।

यदि इसका कुछ भी श्रेय मुझे है तो बस इतना ही कि मैंने बिना किसी मिलावट के *भगवद्गीता* को यथारूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। मेरे इस प्रस्तुतीकरण के पूर्व *भगवद्गीता* के जितने भी अंग्रेजी संस्करण निकले हैं उनमें व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा को व्यक्त करने के प्रयास दिखते हैं। किन्तु *भगवद्गीता* यथारूप प्रस्तुत करते हुए हमारा प्रयास भगवान् कृष्ण के सन्देश (मिशन) को प्रस्तुत करना रहा है। हमारा कार्य तो कृष्ण की इच्छा को प्रस्तुत करना है, न कि किसी राजनीतिज्ञ, दार्शनिक या विज्ञानी की संसारी इच्छा को, क्योंकि इनमें चाहे कितना ही ज्ञान क्यों न हो, कृष्ण विषयक ज्ञान रंचमात्र भी नहीं पाया जाता। जब कृष्ण कहते हैं—*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु*—तो हम तथाकथित पण्डितों की तरह यह नहीं कहते कि कृष्ण तथा उनकी अन्तरात्मा पृथक्-पृथक् हैं। कृष्ण परब्रह्म हैं और कृष्ण के नाम, उनके रूप, उनके गुणों, उनकी लीलाओं आदि में अन्तर नहीं है। जो व्यक्ति परम्परागत कृष्ण भक्त नहीं है उसके लिए कृष्ण के सर्वोच्च ज्ञान को समझ पाना कठिन है। सामान्यतया तथाकथित विद्वान, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक तथा स्वामी कृष्ण के सम्यक् ज्ञान के बिना *भगवद्गीता* पर भाष्य लिखते समय या तो कृष्ण को उसमें से निकाल फेंकना चाहते हैं या उनको मार डालना चाहते हैं। *भगवद्गीता* का ऐसा अप्रामाणिक भाष्य मायावादी भाष्य कहलाता है और श्री चैतन्य महाप्रभु हमें ऐसे अप्रामाणिक लोगों से सावधान कर गये हैं। वे कहते हैं कि जो भी व्यक्ति *भगवद्गीता* को मायावादी दृष्टि से समझने का प्रयास करता है वह बहुत बड़ी भूल करेगा। ऐसी भूल का दुष्परिणाम यह होगा कि *भगवद्गीता* के दिग्भ्रमित जिज्ञासु आध्यात्मिक मार्गदर्शन के मार्ग में मोहग्रस्त हो जायेंगे और वे भगवद्धाम वापस नहीं जा सकेंगे।

भगवद्गीता यथारूप को प्रस्तुत करने का एकमात्र उद्देश्य बद्ध जिज्ञासुओं को उस उद्देश्य का मार्गदर्शन कराना है, जिसके लिए कृष्ण इस धरा पर ब्रह्मा के एक दिन में एक बार अर्थात् प्रत्येक ८,६०,००,००,००० वर्ष बाद अवतार लेते हैं। *भगवद्गीता* में इस उद्देश्य का उल्लेख हुआ है और हमें उसे उसी रूप में ग्रहण कर लेना चाहिए अन्यथा *भगवद्गीता* तथा उसके वक्ता भगवान् कृष्ण को समझने का कोई अर्थ नहीं है। भगवान् कृष्ण ने सबसे पहले लाखों वर्ष पूर्व सूर्यदेव से *भगवद्गीता* का

प्रवचन किया था। हमें इस तथ्य को स्वीकार करना होगा और कृष्ण के प्रमाण की गलत व्याख्या किये बिना *भगवद्गीता* के ऐतिहासिक महत्त्व को समझना होगा। कृष्ण की इच्छा का सन्दर्भ दिये बिना *भगवद्गीता* की व्याख्या करना महान अपराध है। इस अपराध से बचने के लिए कृष्ण को भगवान् रूप में समझना होगा जिस तरह से कृष्ण के प्रथम शिष्य अर्जुन ने उन्हें समझा था। *भगवद्गीता* का ऐसा ज्ञान वास्तव में लाभप्रद है और जीवन-उद्देश्य को पूरा करने में मानव समाज के कल्याण हेतु प्रामाणिक भी होगा।

मानव समाज में कृष्णभावनामृत आन्दोलन अनिवार्य है क्योंकि यह जीवन की चरम सिद्धि प्रदान करने वाला है। ऐसा क्यों है, इसकी पूरी व्याख्या *भगवद्गीता* में हुई है। दुर्भाग्यवश संसारी झगड़ालू व्यक्तियों ने अपनी आसुरी लालसाओं को अग्रसर करने तथा लोगों को जीवन के सिद्धान्तों को ठीक से न समझने देने में *भगवद्गीता* से लाभ उठाया है। प्रत्येक व्यक्ति को जानना चाहिए कि ईश्वर या कृष्ण कितने महान हैं और जीवों की वास्तविक स्थितियाँ क्या हैं? प्रत्येक व्यक्ति को यह जान लेना चाहिए कि "जीव" नित्य दास है और जब तक वह कृष्ण की सेवा नहीं करेगा, तब तक वह जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़ता रहेगा, यहाँ तक कि मायावादी चिन्तक को भी इसी चक्र में पड़ना होगा। यह ज्ञान एक महान विज्ञान है और हर प्राणी को अपने हित के लिए इस ज्ञान को सुनना चाहिए।

इस कलियुग में सामान्य जनता कृष्ण की बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहित है और उसे यह भ्रान्ति है कि भौतिक सुविधाओं की प्रगति से हर व्यक्ति सुखी बन सकेगा। उसे इसका ज्ञान नहीं है कि भौतिक या बहिरंगा प्रकृति अत्यन्त प्रबल है, क्योंकि हर प्राणी प्रकृति के कठोर नियमों द्वारा बुरी तरह से जकड़ा हुआ है। सौभाग्यवश जीव भगवान् का अंश-रूप है अतएव उसका सहज कार्य है—भगवान् की सेवा करना। मोहवश मनुष्य विभिन्न प्रकारों से अपनी इन्द्रियतृप्ति करके सुखी बनना चाहता है, किन्तु इसमें वह कभी भी सुखी नहीं हो सकता। अपनी भौतिक इन्द्रियों को तुष्ट करने के बजाय उसे भगवान् की इन्द्रियों को तुष्ट करने का प्रयास करना चाहिए। यही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है। भगवान् यही चाहते हैं और इसी की अपेक्षा रखते हैं। मनुष्य को *भगवद्गीता* के इस केन्द्रबिन्दु को समझना होगा। हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन पूरे विश्व को इसी केन्द्रबिन्दु की शिक्षा देता है। जो भी व्यक्ति *भगवद्गीता* का अध्ययन करके लाभान्वित होना चाहता है वह हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन से इस सम्बन्ध में सहायता प्राप्त कर सकता है। अतः हमें आशा है कि हम *भगवद्गीता* यथारूप को जिस रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं, उससे मानव लाभ उठायेंगे

और यदि एक भी व्यक्ति भगवद्भक्त बन सके, तो हम अपने प्रयास को सफल मानेंगे।

ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी

१२ मई १९७१
सिडनी, आस्ट्रेलिया

भूमिका



ॐ अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः॥
श्री चैतन्यमनोऽभीष्टं स्थापितं येन भूतले।
स्वयं रूपः कदा मह्यं ददाति स्वपदान्तिकम्॥

में घोर अज्ञान के अंधकार में उत्पन्न हुआ था, और मेरे गुरु ने अपने ज्ञान रूपी प्रकाश से मेरी आँखें खोल दीं। मैं उन्हें सादर नमस्कार करता हूँ।

श्रील रूप गोस्वामी प्रभुपाद कब मुझे अपने चरणकमलों में शरण प्रदान करेंगे, जिन्होंने इस जगत् में भगवान् चैतन्य की इच्छा की पूर्ति के लिए प्रचार योजना(मिशन) की स्थापना की है?

वन्देऽहं श्रीगुरोः श्रीयुतपदकमलं श्रीगुरून् वैष्णवांश्च।
श्रीरूपं साग्रजातं सहगणरघुनाथान्वितं तं सजीवम्॥
साद्वैतं सावधूतं परिजनसहितं कृष्णचैतन्यदेवं।
श्रीराधाकृष्णपादान् सहगणललिताश्रीविशाखान्वितांश्च॥

में अपने गुरु के चरणकमलों को तथा समस्त वैष्णवों के चरणों को नमस्कार करता हूँ। मैं श्रील रूप गोस्वामी तथा उनके अग्रज सनातन गोस्वामी एवं साथ ही रघुनाथदास, रघुनाथभट्ट, गोपालभट्ट एवं श्रील जीव गोस्वामी के चरणकमलों को सादर नमस्कार करता हूँ। मैं भगवान् कृष्णचैतन्य तथा भगवान् नित्यानन्द के साथ-साथ अद्वैत आचार्य, गदाधर, श्रीवास तथा अन्य पार्षदों को सादर प्रणाम करता हूँ। मैं श्रीमती राधा रानी तथा श्रीकृष्ण को श्रीललिता तथा श्रीविशाखा सखियों सहित सादर नमस्कार करता हूँ।

हे कृष्ण करुणासिन्धो दीनबन्धो जगत्पते।
गोपेश गोपिकाकान्त राधाकान्त नमोऽस्तु ते॥

हे कृष्ण! आप दुखियों के सखा तथा सृष्टि के उद्गम हैं। आप गोपियों के स्वामी तथा राधारानी के प्रेमी हैं। मैं आपको सादर प्रणाम करता हूँ।

तप्तकाञ्चनगौरांगि राधे वृन्दावनेश्वरि।
वृषभानुसुते देवि प्रणमामि हरिप्रिये॥

मैं उन राधारानी को प्रणाम करता हूँ जिनकी शारीरिक कान्ति पिघले सोने के सदृश है, जो वृन्दावन की महारानी हैं। आप राजा वृषभानु की पुत्री हैं और भगवान् कृष्ण को अत्यन्त प्रिय हैं।

वाञ्छा कल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥

मैं भगवान् के समस्त वैष्णव भक्तों को सादर नमस्कार करता हूँ। वे कल्पवृक्ष के समान सबों की इच्छाएँ पूर्ण करने में समर्थ हैं, तथा पतित जीवात्माओं के प्रति अत्यन्त दयालु हैं।

श्रीकृष्ण-चैतन्य प्रभु-नित्यानन्द ।
श्रीअद्वैत गदाधर श्रीवासादि गौरभक्तवृन्द॥

मैं श्रीकृष्ण चैतन्य, प्रभु नित्यानन्द, श्रीअद्वैत, गदाधर, श्रीवास आदि समस्त भक्तों को सादर प्रणाम करता हूँ।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

भगवद्गीता को *गीतोपनिषद्* भी कहा जाता है। यह वैदिक ज्ञान का सार है और वैदिक साहित्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है। निस्सन्देह *भगवद्गीता* पर अँग्रेजी भाषा में अनेक भाष्य प्राप्त हैं, अतएव यह प्रश्न किया जा सकता है, कि एक अन्य भाष्य की क्या आवश्यकता है? इस प्रस्तुत संस्करण का प्रयोजन इस प्रकार बताया जा सकता है : हाल ही में एक अमरीकी महिला ने मुझसे *भगवद्गीता* के एक अँग्रेजी अनुवाद की संस्तुति चाही। निस्सन्देह अमरीका में *भगवद्गीता* के अनेक अँग्रेजी संस्करण प्राप्त हैं, लेकिन जहाँ तक मैंने देखा है, केवल अमरीका ही नहीं, अपितु भारत में भी कठिनाई से कोई प्रामाणिक संस्करण मिलेगा, क्योंकि लगभग हर एक संस्करण में भाष्यकार ने *भगवद्गीता* यथारूप के मर्म का स्पर्श किये बिना अपने मतों को व्यक्त किया है।

भगवद्गीता का मर्म *भगवद्गीता* में ही व्यक्त है। यह इस प्रकार है : यदि हमें किसी औषधि विशेष का सेवन करना हो तो उस पर लिखे निर्देशों का पालन करना होता है। हम मनमाने ढंग से या मित्र की सलाह से औषधि नहीं ले सकते। इसका सेवन लिखे हुए निर्देशों के अनुसार या चिकित्सक के आदेशानुसार करना होता है। इसी प्रकार *भगवद्गीता* को इसके वक्ता द्वारा दिये गये निर्देशानुसार ही ग्रहण या स्वीकार करना चाहिए। *भगवद्गीता* के वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण हैं। *भगवद्गीता* के प्रत्येक पृष्ठ पर उनका उल्लेख भगवान् के रूप में हुआ है। निस्सन्देह भगवान् शब्द कभी-कभी किसी भी अत्यन्त शक्तिशाली व्यक्ति या किसी शक्तिशाली देवता के लिए प्रयुक्त होता है, और यहाँ पर भगवान् शब्द निश्चित रूप से भगवान् श्रीकृष्ण को एक महान पुरुष के रूप में सूचित करता है। किन्तु साथ ही हमें यह जानना होगा कि भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, जैसा कि शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्क स्वामी, श्री चैतन्य महाप्रभु तथा भारत के वैदिक ज्ञान के अन्य विद्वान आचार्यों ने पुष्टि की है। भगवान् ने भी स्वयं *भगवद्गीता* में अपने को परम पुरुषोत्तम भगवान् कहा है और *ब्रह्म-संहिता* में तथा अन्य पुराणों में, विशेषतया *श्रीमद्भागवतम्* में, जो भागवतपुराण के नाम से विख्यात है, वे इसी रूप में स्वीकार किये गये हैं (*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*)। अतएव *भगवद्गीता* हमें भगवान् ने जैसे बताई है, वैसे ही स्वीकार करनी चाहिए।

भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में (४.१-३) भगवान् कहते हैं :

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

यहाँ पर भगवान् अर्जुन को सूचित करते हैं कि *भगवद्गीता* की यह योगपद्धति सर्वप्रथम सूर्यदेव को बताई गयी, सूर्यदेव ने इसे मनु को बताया और मनु ने इसे इक्ष्वाकु

को बताया। इस प्रकार गुरु-परम्परा द्वारा यह योगपद्धति एक वक्ता से दूसरे वक्ता तक पहुँचती रही। लेकिन कालान्तर में यह छिन्न-भिन्न हो गई, फलस्वरूप भगवान् को इसे फिर से बताना पड़ रहा है—इस बार अर्जुन को कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में।

वे अर्जुन से कहते हैं कि मैं तुम्हें यह परम रहस्य इसलिए प्रदान कर रहा हूँ, क्योंकि तुम मेरे भक्त तथा मित्र हो। इसका तात्पर्य यह है कि *भगवद्गीता* ऐसा ग्रन्थ है जो विशेष रूप से भगवद्भक्त के लिए ही है, भगवद्भक्त के निमित्त है। अध्यात्मवादियों की तीन श्रेणियाँ हैं—ज्ञानी, योगी तथा भक्त या कि निर्विशेषवादी, ध्यानी और भक्त। यहाँ पर भगवान् अर्जुन से स्पष्ट कहते हैं कि वे उसे इस नवीन परम्परा (गुरु-परम्परा) का प्रथम पात्र बना रहे हैं, क्योंकि प्राचीन परम्परा खण्डित हो गई थी। अतएव यह भगवान् की इच्छा थी कि सूर्यदेव से चली आ रही विचारधारा की दिशा में ही अन्य परम्परा स्थापित की जाय और उनकी यह इच्छा थी कि उनकी शिक्षा का वितरण अर्जुन द्वारा नये सिरे से हो। वे चाहते थे कि अर्जुन *भगवद्गीता*-ज्ञान का प्रामाणिक विद्वान बने। अतएव हम देखते हैं कि *भगवद्गीता* का उपदेश अर्जुन को विशेष रूप से दिया गया, क्योंकि अर्जुन भगवान् का भक्त, प्रत्यक्ष शिष्य तथा घनिष्ठ मित्र था। अतएव जिस व्यक्ति में अर्जुन जैसे गुण पाये जाते हैं, वह *गीता* को सबसे अच्छी तरह समझ सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भक्त को भगवान् से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होना चाहिए। ज्योंही कोई भगवान् का भक्त बन जाता है त्योंही उसका सीधा सम्बन्ध भगवान् से हो जाता है। यह एक अत्यन्त विशद विषय है, लेकिन संक्षेप में यह बताया जा सकता है कि भक्त तथा भगवान् के मध्य पाँच प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है :

१. कोई निष्क्रिय अवस्था में भक्त हो सकता है;
२. कोई सक्रिय अवस्था में भक्त हो सकता है;
३. कोई सखा-रूप में भक्त हो सकता है;
४. कोई माता या पिता के रूप में भक्त हो सकता है;
५. कोई दम्पति-प्रेमी के रूप में भक्त हो सकता है।

अर्जुन का कृष्ण से सम्बन्ध सखा-रूप में था। निस्सन्देह इस मित्रता (*सख्य-भाव*) तथा भौतिक जगत में प्राप्य मित्रता में आकाश-पाताल का अन्तर है। यह दिव्य मित्रता है जो हर किसी को प्राप्त नहीं हो सकती। निस्सन्देह प्रत्येक व्यक्ति का भगवान् से सीधा सम्बन्ध होता है और यह सम्बन्ध भक्ति की पूर्णता से ही जागृत होता है। किन्तु वर्तमान जीवन की अवस्था में हमने न केवल भगवान् को भुला दिया है, अपितु हम भगवान् के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध को भी भूल चुके हैं। लाखों-करोड़ों जीवों में से प्रत्येक जीव का भगवान् के साथ नित्य विशिष्ट सम्बन्ध है। यह स्वरूप कहलाता है। भक्तियोग की प्रक्रिया द्वारा यह स्वरूप जागृत किया जा सकता है। तब यह अवस्था स्वरूप-सिद्धि कहलाती है—यह स्वरूप की अर्थात् स्वाभाविक या मूलभूत स्थिति की पूर्णता कहलाती है। अतएव अर्जुन भक्त था और मैत्री में वह भगवान् के सम्पर्क में था।

हमें इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि अर्जुन ने *भगवद्गीता* को किस तरह ग्रहण किया। इसका वर्णन दशम अध्याय में (१०.१२-१४) इस प्रकार हुआ है :

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥

"अर्जुन ने कहा आप भगवान्, परम-धाम, पवित्रतम परम सत्य हैं। आप शाश्वत, दिव्य आदि पुरुष, अजन्मा तथा महानतम हैं। नारद, असित, देवल तथा व्यास जैसे समस्त महामुनि आपके विषय में इस सत्य की पुष्टि करते हैं और अब आप स्वयं मुझसे इसी की घोषणा कर रहे हैं। हे कृष्ण! आपने जो कुछ कहा है उसे पूर्णरूप से मैं सत्य मानता हूँ। हे प्रभु! न तो देवता और न असुर ही आपके व्यक्तित्व को समझ सकते हैं।"

भगवान् से *भगवद्गीता* सुनने के बाद अर्जुन ने कृष्ण को परम ब्रह्म स्वीकार कर लिया। प्रत्येक जीव ब्रह्म है, लेकिन परम पुरुषोत्तम भगवान् परम ब्रह्म हैं। परम् धाम का अर्थ है कि वे सबों के परम आश्रय या धाम हैं। पवित्रम् का अर्थ है कि वे शुद्ध हैं और भौतिक कल्मष से अरंजित हैं। *पुरुषम्* का अर्थ है कि वे परम भोक्ता हैं, *शाश्वतम्* अर्थात् सनातन; *दिव्यम्* अर्थात् दिव्य; *आदि देवम्*—भगवान्; *अजम्*—अजन्मा तथा विभुम् अर्थात् महानतम हैं।

कोई यह सोच सकता है कि चूँकि कृष्ण अर्जुन के मित्र थे, अतएव अर्जुन यह सब चाटुकारिता के रूप में कह रहा था। लेकिन अर्जुन *भगवद्गीता* के पाठकों के मन से इस प्रकार के सन्देह को दूर करने के लिए अगले श्लोक में इस प्रशंसा की पुष्टि करता है, जब वह यह कहता है कि कृष्ण को मैं ही भगवान् नहीं मानता, अपितु नारद, असित, देवल तथा व्यासदेव जैसे महापुरुष भी स्वीकार करते हैं। ये सब महापुरुष हैं जो समस्त आचार्यों द्वारा स्वीकृत वैदिक ज्ञान का वितरण (प्रचार) करते हैं। अतएव अर्जुन कृष्ण से कहता है कि वे जो कुछ भी कहते हैं, उसे वह पूर्ण सत्य मानता है। *सर्वमेतदृतं मन्ये*— "आप जो कुछ कहते हैं, उसे मैं सत्य मानता हूँ।" अर्जुन यह भी कहता है कि भगवान् के व्यक्तित्व को समझ पाना बहुत कठिन है, यहाँ तक कि बड़े-बड़े देवता भी उन्हें नहीं समझ पाते। अतएव मानव भक्त बने बिना भगवान् श्रीकृष्ण को कैसे समझ सकता है?

अतएव *भगवद्गीता* को भक्तिभाव से ग्रहण करना चाहिए। किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि वह कृष्ण के तुल्य है, न ही यह सोचना चाहिए कि कृष्ण सामान्य पुरुष है या कि एक महानतम व्यक्ति हैं। भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान् हैं। अतएव *भगवद्गीता* के कथनानुसार, या *भगवद्गीता* को समझने का प्रयत्न करने

वाले अर्जुन के कथनानुसार हमें सिद्धान्त रूप में कम से कम इतना तो स्वीकार कर लेना चाहिए कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं, और उसी विनीत भाव से हम *भगवद्गीता* को समझ सकते हैं। जब तक कोई *भगवद्गीता* का पाठ विनम्र भाव से नहीं करता है, तब तक उसे समझ पाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि यह एक महान रहस्य है।

तो *भगवद्गीता* है क्या? *भगवद्गीता* का प्रयोजन मनुष्य को भौतिक संसार के अज्ञान से उबारना है। प्रत्येक व्यक्ति अनेक प्रकार की कठिनाइयों में फँसा रहता है, जिस प्रकार अर्जुन भी कुरुक्षेत्र में युद्ध करने के लिए कठिनाई में था। अर्जुन ने श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण कर ली, फलस्वरूप इस *भगवद्गीता* का प्रवचन हुआ। न केवल अर्जुन वरन हममें से प्रत्येक व्यक्ति इस भौतिक अस्तित्व के कारण चिन्ताओं से पूर्ण है। हमारा अस्तित्व ही अनस्तित्व के परिवेश में है। वस्तुतः हमें अनस्तित्व से भयभीत नहीं होना चाहिए। हमारा अस्तित्व सनातन है। लेकिन हम किसी न किसी कारण से असत् में डाल दिए गये हैं। असत् का अर्थ उससे है जिसका अस्तित्व नहीं है।

कष्ट भोगने वाले अनेक मनुष्यों में केवल कुछ ही ऐसे हैं जो वास्तव में यह जानने के जिज्ञासु हैं कि वे क्या हैं और वे इस विषम स्थिति में क्यों डाल दिये गये हैं, आदि-आदि। जब तक मनुष्य को अपने कष्टों के विषय में जिज्ञासा नहीं होती, जब तक उसे यह अनुभूति नहीं होती कि वह कष्ट भोगना नहीं, अपितु सारे कष्टों का हल ढूँढना चाहता है, तब तक उसे सिद्ध मानव नहीं समझना चाहिए। मानवता तभी शुरू होती है जब मन में इस प्रकार की जिज्ञासा उदित होती है। ब्रह्म-सूत्र में इस जिज्ञासा को ब्रह्म-जिज्ञासा कहा गया है। *अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा*। मनुष्य के सारे कार्यकलाप तब तक असफल माने जाने चाहिए, जब तक वह परब्रह्म के स्वभाव के विषय में जिज्ञासा न करे। अतएव जो लोग यह प्रश्न करना प्रारम्भ कर देते हैं कि वे क्यों कष्ट उठा रहे हैं, या वे कहाँ से आये हैं और मृत्यु के बाद कहाँ जायेंगे, वे ही *भगवद्गीता* को समझने वाले सुपात्र विद्यार्थी हैं। निष्ठावान विद्यार्थी में भगवान् के प्रति आदर भाव भी होना चाहिए। अर्जुन ऐसा ही विद्यार्थी था।

जब मनुष्य जीवन के वास्तविक प्रयोजन को भूल जाता है तो भगवान् कृष्ण विशेष रूप से उस प्रयोजन की पुनर्स्थापना के लिए अवतार लेते हैं। तब भी असंख्य जागृत हुए लोगों में से कोई एक होता है जो वास्तव में अपनी स्थिति को जान पाता है और यह *भगवद्गीता* उसी के लिए कही गई है। वस्तुतः हम सभी अविद्या रूपी बाघिन के द्वारा निगल लिए गए हैं, लेकिन भगवान् जीवों पर, विशेषतया मनुष्यों पर कृपालु हैं। इसी उद्देश्य से उन्होंने अपने मित्र अर्जुन को अपना शिष्य बना कर *भगवद्गीता* का प्रवचन किया।

भगवान् कृष्ण का पार्षद होने के कारण अर्जुन समस्त अज्ञान (*अविद्या*) से मुक्त था, लेकिन कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में वह अज्ञानी बन कर भगवान् कृष्ण से जीवन की समस्याओं के विषय में प्रश्न करने लगा जिससे भगवान् उनकी व्याख्या भावी पीढ़ियों के मनुष्यों के लाभ के लिए कर दें और जीवन की योजना का निर्धारण कर दें। तब

मनुष्य तदनुसार कार्य कर पायेगा और मानव जीवन के उद्देश्य को पूर्ण कर सकेगा।

भगवद्गीता की विषयवस्तु में पाँच मूल सत्यों का ज्ञान निहित है। सर्वप्रथम ईश्वर के विज्ञान की ओर फिर जीवों की स्वरूप स्थिति की विवेचना की गई है। ईश्वर का अर्थ नियन्ता है और जीवों का अर्थ है-नियन्त्रित। यदि जीव यह कहे कि वह नियन्त्रित नहीं है, अपितु स्वतन्त्र है तो समझो कि वह पागल है। जीव सभी प्रकार से, कम से कम बद्ध जीवन में, तो नियन्त्रित है ही। अतएव *भगवद्गीता* की विषयवस्तु ईश्वर तथा जीव से सम्बन्धित है। इसमें प्रकृति, काल (समस्त ब्रह्माण्ड की कालावधि या प्रकृति का प्राकट्य) तथा कर्म की भी व्याख्या है। यह दृश्य-जगत विभिन्न कार्यकलापों से ओतप्रोत है। सारे जीव भिन्न-भिन्न कार्यों में लगे हुए हैं। *भगवद्गीता* से हमें अवश्य सीखना चाहिए कि ईश्वर क्या है, जीव क्या है, प्रकृति क्या है, दृश्य-जगत क्या है, यह काल द्वारा किस प्रकार नियन्त्रित किया जाता है, और जीवों के कार्यकलाप क्या हैं?

भगवद्गीता के इन पाँच मूलभूत विषयों में से इसकी स्थापना की गई है कि भगवान्, अथवा कृष्ण, अथवा ब्रह्म, या परमात्मा, आप जो चाहें कह लें, सबसे श्रेष्ठ हैं। जीव गुण में परम-नियन्ता के ही समान हैं। उदाहरणार्थ, जैसा कि *भगवद्गीता* के विभिन्न अध्यायों में बताया जायेगा, भगवान् भौतिक प्रकृति के समस्त कार्यों के ऊपर नियन्त्रण रखते हैं। भौतिक प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है। वह परमेश्वर की अध्यक्षता में कार्य करती है। जैसा कि भगवान् कृष्ण कहते हैं—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*—भौतिक प्रकृति मेरी अध्यक्षता में कार्य करती है। जब हम दृश्य-जगत में विचित्र-विचित्र बातें घटते देखते हैं, तो हमें यह जानना चाहिए कि इस जगत के पीछे नियन्ता का हाथ है। बिना नियन्त्रण के कुछ भी हो पाना सम्भव नहीं। नियन्ता को न मानना बचपना होगा। उदाहरणार्थ, एक बालक सोच सकता है कि स्वतोचालित यान विचित्र होता है, क्योंकि यह बिना घोडे के या खींचने वाले पशु से चलता है। किन्तु अभिज्ञ व्यक्ति स्वतोचालित यान की आभियान्त्रिक व्यवस्था से परिचित होता है। वह सदैव जानता है कि इस यन्त्र के पीछे एक व्यक्ति, एक चालक होता है। इसी प्रकार परमेश्वर वह चालक है जिसके निर्देशन में सब कुछ चल रहा है। भगवान् ने जीवों को अपने अंश-रूप में स्वीकार किया है, जैसा कि हम अगले अध्यायों में देखेंगे। सोने का एक कण भी सोना है, समुद्र के जल की बूँद भी खारी होती है। इसी प्रकार हम जीव भी परम-नियन्ता ईश्वर या *भगवान् श्रीकृष्ण के अंश होने के कारण* सूक्ष्म मात्रा में परमेश्वर के सभी गुणों से युक्त होते हैं, क्योंकि हम सूक्ष्म ईश्वर या अधीनस्थ ईश्वर हैं। हम प्रकृति पर नियन्त्रण करने का प्रयास कर रहे हैं, और इस समय हम अन्तरिक्ष या ग्रहों को वश में करना चाहते हैं, और हममें नियन्त्रण रखने की यह प्रवृत्ति इसलिए है क्योंकि यह कृष्ण में भी है। यद्यपि हममें प्रकृति पर प्रभुत्व जमाने की प्रवृत्ति होती है, लेकिन हमें यह जानना चाहिए कि हम परम-नियन्ता नहीं हैं। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* में की गई है।

भौतिक प्रकृति क्या है? *गीता* में इसकी भी व्याख्या अपरा प्रकृति के रूप में हुई

है। जीव को परा प्रकृति (उत्कृष्ट प्रकृति) कहा गया है। प्रकृति चाहे परा हो या अपरा, सदैव नियन्त्रण में रहती है। प्रकृति स्त्री-स्वरूपा है और वह भगवान् द्वारा उसी प्रकार नियन्त्रित होती है, जिस प्रकार पत्नी अपने पति द्वारा। प्रकृति सदैव अधीन रहती है, उस पर भगवान् का प्रभुत्व रहता है, क्योंकि भगवान् ही अध्यक्ष हैं। जीव तथा भौतिक प्रकृति दोनों ही परमेश्वर द्वारा अधिशासित एवं नियन्त्रित होते हैं। गीता के अनुसार यद्यपि सारे जीव परमेश्वर के अंश हैं, लेकिन वे प्रकृति ही माने जाते हैं। इनका उल्लेख *भगवद्गीता* के सातवें अध्याय में हुआ है। *अपरेयमितस्त्वन्यां*—"यह भौतिक प्रकृति मेरी अपरा प्रकृति है।" *प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीव भूताम् महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥* लेकिन इससे भी परे दूसरी प्रकृति है : जीव भूताम् अर्थात् जीव है।

प्रकृति तीन गुणों से निर्मित है—सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण। इन गुणों के ऊपर नित्य काल है। इन गुणों तथा नित्य काल के संयोग से अनेक कार्यकलाप होते हैं, जो कर्म कहलाते हैं। ये कार्यकलाप अनादि काल से चले आ रहे हैं और हम सभी अपने कार्यकलाप (कर्मों) के फलस्वरूप सुख या दुख भोग रहे हैं। उदाहरणार्थ, मान लें कि मैं व्यापारी हूँ और मैंने बुद्धि के बल पर कठोर श्रम किया है और बहुत सम्पत्ति संचित कर ली है। तब मैं सम्पत्ति के सुख का भोक्ता हूँ किन्तु यदि मान लें कि व्यापार में मेरा सब धन जाता रहा तो मैं दुख का भोक्ता हो जाता हूँ। इसी प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हम अपने कर्म के फल का सुख भोगते हैं या उसका कष्ट उठाते हैं। यह कर्म कहलाता है।

ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल तथा कर्म इन सबकी व्याख्या *भगवद्गीता* में हुई है। इन पाँचों में से ईश्वर, जीव, प्रकृति तथा काल शाश्वत हैं। प्रकृति की अभिव्यक्ति अस्थायी हो सकती है, परन्तु यह मिथ्या नहीं है। कोई-कोई दार्शनिक कहते हैं कि प्रकृति की अभिव्यक्ति मिथ्या है, लेकिन *भगवद्गीता* या वैष्णवों के दर्शन के अनुसार ऐसा नहीं है। जगत की अभिव्यक्ति को मिथ्या नहीं माना जाता। इसे वास्तविक, किन्तु अस्थायी माना जाता है। यह उस बादल के सदृश है जो आकाश में घूमता रहता है, या वर्षा ऋतु के आगमन के समान है, जो अन्न का पोषण करती है। ज्योंही वर्षा ऋतु समाप्त होती है और बादल चले जाते हैं, त्योंही वर्षा द्वारा पोषित सारी फसल सूख जाती है। इसी प्रकार यह भौतिक अभिव्यक्ति भी किसी समय में, किसी स्थान पर होती है, कुछ काल तक रहती-ठहरती है और फिर लुप्त हो जाती है। प्रकृति इस रूप में कार्यशील है। लेकिन यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। इसीलिए प्रकृति शाश्वत है, मिथ्या नहीं है। भगवान् इसे "मेरी प्रकृति" कहते हैं। यह भौतिक प्रकृति (अपरा प्रकृति) परमेश्वर की भिन्न-शक्ति है। इसी प्रकार जीव भी परमेश्वर की शक्ति हैं, किन्तु वे विलग नहीं, अपितु भगवान् से नित्य-सम्बद्ध हैं। इस तरह भगवान्, जीव, प्रकृति तथा काल, ये सब परस्पर सम्बद्ध हैं और सभी शाश्वत हैं। लेकिन कर्म शाश्वत नहीं है। हाँ, कर्म के फल अत्यन्त पुरातन हो सकते हैं। हम अनादि काल से अपने शुभ-अशुभ कर्मफलों को भोग रहे हैं, किन्तु साथ ही हम अपने कर्मों के फल को बदल भी सकते हैं और यह परिवर्तन हमारे ज्ञान की पूर्णता पर निर्भर करता है। हम विविध

प्रकार के कर्मों में व्यस्त रहते हे। निस्संदेह हम यह नहीं जानते कि किस प्रकार के कर्म करने से हम कर्मफल से मुक्ति प्राप्त कर सकते हे। लेकिन *भगवद्गीता* में इसका भी वर्णन हुआ है।

ईश्वर अर्थात् परम ईश्वर परम चेतना-स्वरूप हे। जीव भी ईश्वर का अंश होने के कारण चेतन हे। जीव तथा भौतिक प्रकृति दोनों को प्रकृति बताया गया हे, अर्थात् वे परमेश्वर की शक्ति है, किन्तु इन दोनो मे से केवल जीव चेतन है, दूसरी प्रकृति चेतन नहीं है। यही अन्तर है। इसीलिए जीव प्रकृति परा या उत्कृष्ट कहलाती हे, क्योंकि जीव, भगवान् जेसी चेतना से युक्त हे। लेकिन भगवान् की चेतना परम हे, ओर किसी को यह नहीं कहना चाहिए कि जीव भी परम चेतन हे। जीव कभी भी, यहाँ तक कि अपनी सिद्ध अवस्था में भी, परम चेतन नहीं हो सकता और यह सिद्धान्त भ्रामक हे कि जीव परम चेतन हो सकता हे। वह चेतन तो हे, लेकिन पूर्ण या परम चेतन नहीं।

जीव तथा ईश्वर का अन्तर *भगवद्गीता* के तेरहवें अध्याय मे बताया गया है। ईश्वर क्षेत्रज्ञ या चेतन हे, जेसा कि जीव भी हे, लेकिन जीव केवल अपने शरीर के प्रति सचेत रहता हे, जबकि भगवान् समस्त शरीरों के प्रति सचेत रहते हें। चूँकि वे प्रत्येक जीव के हृदय में वास करने वाले है, अतएव वे जीवविशेष की मानसिक गतिशीलता से परिचित रहते हे। हमें यह नही भूलना चाहिए। यह भी बताया गया है कि परमात्मा प्रत्येक जीव के हृदय में ईश्वर या नियन्ता के रूप में वास कर रहे हे और जेसा जीव चाहता हे वेसा करने के लिए जीव को निर्देशित करते रहते हे। जीव भूल जाता हे कि उसे क्या करना है। पहले तो वह किसी एक विधि से कर्म करने का संकल्प करता है, लेकिन फिर वह अपने ही कर्म के पाप-पुण्य में फँस जाता हे। वह एक शरीर को त्याग कर दूसरा शरीर ग्रहण करता है, जिस प्रकार हम वस्त्र उतारते तथा पहनते रहते हे। चूँकि इस प्रकार आत्मा देहान्तरण कर जाता हे, अतः उसे अपने विगत (*पूर्वकृत्*) कर्मों का फल भोगना पडता हे। ये कार्यकलाप तभी बदल सकते हे जब जीव सतोगुण में स्थित हो और यह समझे कि उसे कौन से कर्म करने चाहिए। यदि वह ऐसा करता हे तो उसके विगत (*पूर्वकृत्*) कर्मों के सारे फल बदल जाते हैं। फलस्वरूप कर्म शाश्वत नहीं हे। इसीलिए हमने यह कहा हे कि पाँच तत्त्वों ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल तथा कर्म मे से चार शाश्वत हैं, कर्म शाश्वत नहीं हे।

परम चेतन ईश्वर जीव से इस मामले में समान हे—भगवान् तथा जीव दोनों की चेतनाएँ दिव्य हैं। यह चेतना पदार्थ के सयोग से उत्पन्न नही होती हे। ऐसा सोचना भ्रान्तिमूलक हे। *भगवद्गीता* इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करती कि चेतना भौतिक संयोग की किन्हीं परिस्थितियो मे उत्पन्न होती हे। यह चेतना भौतिक परिस्थितियो के आवरण के कारण विकृत रूप से प्रतिबिम्बित हो सकती हे, जिस प्रकार रंगीन काँच से परावर्तित प्रकाश उसी रग का प्रतीत होता है। किन्तु भगवान् की चेतना भौतिकता से प्रभावित नहीं होती हे। भगवान् कहते हे—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः।* जब वे इस भौतिक विश्व में अवतरित होते है तो उनकी चेतना पर भौतिक प्रभाव नहीं पडता। यदि वे इस तरह प्रभावित होते तो दिव्य विषयों के सम्बन्ध में उस तरह बोलने के अधिकारी

न होते जैसा कि *भगवद्गीता* में बोलते हैं। भौतिक कल्मष-ग्रस्त चेतना से मुक्त हुए बिना कोई दिव्य-जगत के विषय में कुछ नहीं कह सकता। अतः भगवान् भौतिक दृष्टि से कलुषित (दूषित) नहीं हैं। *भगवद्गीता* तो शिक्षा देती है कि हमें इस कलुषित चेतना को शुद्ध करना है। शुद्ध चेतना होने पर हमारे सारे कर्म ईश्वर की इच्छानुसार होंगे और इससे हम सुखी हो सकेंगे। परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि हमें अपने सारे कार्य बन्द कर देने चाहिए। अपितु, हमें अपने कर्मों को शुद्ध करना चाहिए और शुद्ध कर्म भक्ति कहलाते हैं। भक्ति में कर्म सामान्य कर्म प्रतीत होते हैं, किन्तु वे कलुषित नहीं होते। एक अज्ञानी व्यक्ति भक्त को सामान्य व्यक्ति की भाँति कर्म करते देखता है, किन्तु ऐसा मूर्ख यह नहीं समझता कि भक्त या भगवान् के कर्म अशुद्ध चेतना या पदार्थ से कलुषित नहीं होते। वे त्रिगुणातीत होते हैं। जो भी हो, हमें यह जान लेना चाहिए कि अभी हमारी चेतना कलुषित है।

जब हम भौतिक दृष्टि से कलुषित होते हैं, तो हम बद्ध कहलाते हैं। मिथ्या चेतना का प्राकट्य इसलिए होता है कि हम अपने-आपको प्रकृति का प्रतिफल (उत्पाद) मान बैठते हैं। यह मिथ्या अहंकार कहलाता है। जो व्यक्ति देहात्मबुद्धि में लीन रहता है वह अपनी स्थिति (स्वरूप) को नहीं समझ पाता। *भगवद्गीता* का प्रवचन देहात्मबुद्धि से मनुष्य को मुक्त करने के लिए ही हुआ था और भगवान् से यह सूचना प्राप्त करने के लिए ही अर्जुनने अपने-आपको इस अवस्था में उपस्थित किया था। मनुष्य को देहात्मबुद्धि से मुक्त होना है, और अध्यात्मवादी के लिए प्रारम्भिक कर्तव्य यही है। जो मुक्त होना चाहता है, जो स्वच्छन्द रहना चाहता है, उसे सर्वप्रथम यह जान लेना होगा कि वह शरीर नहीं है। मुक्ति का अर्थ है–भौतिक चेतना से स्वतन्त्रता। *श्रीमद्भागवतम्* में भी मुक्ति की परिभाषा दी गई है। *मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः*—मुक्ति का अर्थ है–इस भौतिक जगत की कलुषित चेतना से मुक्त होना और शुद्ध चेतना में स्थित होना। *भगवद्गीता* के सारे उपदेशों का मन्तव्य इसी शुद्ध चेतना को जागृत करना है। इसीलिए हम *गीता* के अन्त में कृष्ण को अर्जुन से यह प्रश्न करते पाते हैं कि वह विशुद्ध चेतना को प्राप्त हुआ या नहीं? शुद्ध चेतना का अर्थ है–भगवान् के आदेशानुसार कर्म करना। शुद्ध चेतना का यही सार है। भगवान् का अंश होने के कारण हममें चेतना पहले से ही रहती है, लेकिन हममें निकृष्ट गुणों द्वारा प्रभावित होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। किन्तु भगवान् परमेश्वर होने के कारण कभी प्रभावित नहीं होते। परमेश्वर तथा क्षुद्र जीवों में यही अन्तर है।

यह चेतना क्या है? यह है "मैं हूँ"। तो फिर "मैं हूँ" क्या है? कलुषित चेतना में "मैं हूँ" का अर्थ है कि मैं सर्वेसर्वा हूँ, मैं ही भोक्ता हूँ। यह संसार चलायमान है, क्योंकि प्रत्येक जीव यही सोचता है कि वही इस भौतिक जगत का स्वामी तथा स्रष्टा है। भौतिक चेतना के दो मनोमय विभाग हैं। एक के अनुसार मैं ही स्रष्टा हूँ, और दूसरे के अनुसार मैं ही भोक्ता हूँ। लेकिन वास्तव में परमेश्वर स्रष्टा तथा भोक्ता दोनों है, और परमेश्वर का अंश होने के कारण जीव न तो स्रष्टा है न ही भोक्ता। वह मात्र सहयोगी है। वह सृजित तथा भुक्त है। उदाहरणार्थ, मशीन का कोई एक अंग सम्पूर्ण

मशीन के साथ सहयोग करता है, इसी प्रकार शरीर का कोई एक अंग पूरे शरीर के साथ सहयोग करता है। हाथ, पाँव, आँखें आदि शरीर के अंग हैं, लेकिन ये वास्तविक भोक्ता नहीं हैं। भोक्ता तो उदर है। पाँव चलते हैं, हाथ भोजन देते हैं, दाँत चबाते हैं और शरीर के सारे अंग उदर को तुष्ट करने में लगे रहते हैं, क्योंकि उदर ही प्रधान कारक है, जो शरीर रूपी संगठन का पोषण करता है। अतएव सारी वस्तुएँ उदर को दी जाती हैं। जड़ को सींच कर वृक्ष का पोषण किया जाता है, और उदर का भरण करके शरीर का पोषण किया जाता है, क्योंकि यदि शरीर को स्वस्थ रखना है तो शरीर के सारे अंगों को उदरपूर्ति में सहयोग देना होगा। इसी प्रकार परमेश्वर ही भोक्ता तथा स्रष्टा हैं और उनके अधीनस्थ हम उन्हें प्रसन्न रखने के निमित्त सहयोग करने के लिए हैं। इस सहयोग से हमें लाभ पहुँचता है, ठीक वैसे ही जैसे उदर द्वारा गृहीत भोजन से शरीर के सारे अंगों को लाभ पहुँचता है। यदि हाथ की अँगुलियाँ यह सोचें कि वे उदर को भोजन न देकर स्वयं ग्रहण कर लें, तो उन्हें निराश होना पड़ेगा। सृजन तथा भोग के केन्द्रबिन्दु परमेश्वर हैं, और सारे जीव उनके सहयोगी हैं। सहयोग के कारण ही वे भोग करते हैं। यह सम्बन्ध स्वामी तथा दास जैसा है। यदि स्वामी तुष्ट रहता है, तो दास भी तुष्ट रहता है। इसी प्रकार परमेश्वर को तुष्ट रखना चाहिए, यद्यपि जीवों में भी स्रष्टा बनने तथा भौतिक जगत का भोग करने की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि इस दृश्य-जगत के स्रष्टा परमेश्वर में ये प्रवृत्तियाँ हैं।

अतएव *भगवद्गीता* में हम पाएँगे कि भगवान् ही पूर्ण हैं जिनमें परम नियन्ता, नियन्त्रित जीव, दृश्य-जगत, शाश्वत-काल तथा कर्म सन्निहित हैं, और इन सबकी व्याख्या इसके मूल पाठ में की गई है। ये सब मिलकर परम पूर्ण का निर्माण करते हैं और यही परम पूर्ण परम ब्रह्म या परम सत्य कहलाता है। यही परम पूर्ण तथा परम सत्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण हैं। सारी अभिव्यक्तियाँ उनकी विभिन्न शक्तियों के फलस्वरूप हैं। वे ही पूर्ण हैं।

भगवद्गीता में यह भी बताया गया है कि ब्रह्म भी पूर्ण परम पुरुष के अधीन है (*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*)। ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म की विशद व्याख्या, सूर्य की किरणों के रूप में की गई है। निर्विशेष ब्रह्म भगवान् का प्रभामय किरणसमूह है। निर्विशेष ब्रह्म पूर्ण ब्रह्म की अपूर्ण अनुभूति है और इसी तरह परमात्मा की धारणा भी है। पन्द्रहवें अध्याय में यह देखा जायेगा कि भगवान् पुरुषोत्तम निर्विशेष ब्रह्म तथा परमात्मा की आंशिक अनुभूति से बढ़कर हैं। भगवान् को सच्चिदानन्द विग्रह कहा जाता है। ब्रह्मसंहिता का शुभारम्भ इस प्रकार से होता है—*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः। अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्।* "गोविन्द या कृष्ण सभी कारणों के कारण हैं। वे ही आदि कारण हैं और सत्, चित् तथा आनन्द के रूप हैं।" निर्विशेष ब्रह्म उनके सत् (शाश्वत) स्वरूप की अनुभूति है, परमात्मा सत्-चित् (शाश्वत-ज्ञान) की अनुभूति है। परन्तु भगवान् कृष्ण समस्त दिव्य स्वरूपों की अनुभूति हैं—सत्-चित्-आनन्द के पूर्ण विग्रह हैं।

अल्पज्ञानी लोग परम सत्य को निर्विशेष मानते हैं, लेकिन वे हैं-दिव्य पुरुष और

इसकी पुष्टि समस्त वैदिक ग्रंथों में हुई है। *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्* (*कठोपनिषद्* २.२.१३)। जिस प्रकार हम सभी जीव हैं और हम सबकी अपनी-अपनी व्यष्टि सत्ता है, उसी प्रकार परम सत्य भी अन्ततः व्यक्ति हैं और भगवान् की अनुभूति उनके पूर्ण स्वरूप में समस्त दिव्य लक्षणों की ही अनुभूति है। यह पूर्णता रूपविहीन (निराकार) नहीं है। यदि वह निराकार है, या किसी अन्य वस्तु से घट कर है, तो वह पूर्ण नहीं हो सकता। जो पूर्ण है, उसे हमारे लिए अनुभवगम्य तथा अनुभवातीत हर वस्तुओं से युक्त होना चाहिए, अन्यथा वह पूर्ण कैसे हो सकता है?

पूर्ण भगवान् में अपार शक्तियाँ हैं (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*)। कृष्ण किस प्रकार अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा कार्यशील हैं, इसकी भी व्याख्या *भगवद्गीता* में हुई है। यह दृश्य-जगत, या जिस जगत में हम रह रहे हैं, यह भी स्वयं में पूर्ण है, क्योंकि जिन चौबीस तत्त्वों से यह नश्वर ब्रह्माण्ड निर्मित है, वे सांख्य दर्शन के अनुसार इस ब्रह्माण्ड के पालन तथा धारण के लिए अपेक्षित संसाधनों से पूर्णतया समन्वित हैं। इसमें न तो कोई विजातीय तत्त्व है, न ही किसी भी वस्तु की आवश्यकता है। इस सृष्टि का अपना निजी नियत-काल है, जिसका निर्धारण परमेश्वर की शक्ति द्वारा हुआ है, और जब यह काल पूर्ण हो जाता है, तो उस पूर्ण व्यवस्था से इस क्षणभंगुर सृष्टि का विनाश हो जाता है। क्षुद्र जीवों के लिए यह सुविधा प्राप्त है कि पूर्ण की अनुभूति करें। सभी प्रकार की अपूर्णताओं का अनुभव पूर्ण विषयक ज्ञान की अपूर्णता के कारण है। इस प्रकार *भगवद्गीता* में वैदिक विद्या का पूर्ण ज्ञान पाया जाता है।

सारा वैदिक ज्ञान अमोघ (*अच्युत*) है, और सारे हिन्दू इस ज्ञान को पूर्ण तथा अमोघ मानते हैं। उदाहरणार्थ, गोबर पशुमल है और स्मृति या वैदिक आदेश के अनुसार यदि कोई पशुमल का स्पर्श करता है, तो उसे शुद्ध होने के लिए स्नान करना पड़ता है। लेकिन वैदिक शास्त्रों में गोबर को पवित्र करनेवाला माना गया है। इसे विरोधाभास कहा जा सकता है, लेकिन यह मान्य है क्योंकि यह वैदिक आदेश है और इसमें सन्देह नहीं कि इसे स्वीकार करने पर किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होगी। अब तो आधुनिक विज्ञान द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि गाय के गोबर में समस्त जीवाणुनाशक गुण पाये जाते हैं। अतएव वैदिक ज्ञान पूर्ण है, क्योंकि यह समस्त संशयों एवं त्रुटियों से परे है, और *भगवद्गीता* समस्त वैदिक ज्ञान का सार है।

वैदिक ज्ञान शोध का विषय नहीं है। हमारा शोधकार्य अपूर्ण है, क्योंकि हम अपूर्ण इन्द्रियों के द्वारा शोध करते हैं। हमें पहले से चले आ रहे पूर्ण ज्ञान को परम्परा द्वारा स्वीकार करना होता है, जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है। हमें ज्ञान को उपयुक्त स्रोत से, परम्परा से, ग्रहण करना होता है जो परम गुरु साक्षात् भगवान् से प्रारम्भ होती है, और शिष्यों-गुरुओं की यह परम्परा आगे बढ़ती जाती है। छात्र के रूप में अर्जुन भगवान् कृष्ण से शिक्षा ग्रहण करता है, और उनका विरोध किये बिना वह कृष्ण की सारी बातें स्वीकार कर लेता है। किसी को *भगवद्गीता* के एक अंश को स्वीकार करने और दूसरे अंश को अस्वीकार करने की अनुमति नहीं दी जाती। हमें *भगवद्गीता* को बिना किसी प्रकार की टीका टिप्पणी, बिना घटाए-बढ़ाए तथा विषय-

वस्तु में बिना किसी मनोकल्पना के स्वीकार करना चाहिए। *गीता* को वैदिक ज्ञान की सर्वाधिक पूर्ण प्रस्तुति समझना चाहिए। वैदिक ज्ञान दिव्य स्रोतों से प्राप्त होता है, और स्वयं भगवान् ने पहला प्रवचन किया था। भगवान् द्वारा कहे गये शब्द अपौरुषेय कहलाते हैं, जिसका अर्थ है कि वे चार दोषों से युक्त संसारी व्यक्ति द्वारा कहे गये (पौरुषेय) शब्दों से भिन्न होते हैं। संसारी पुरुष के दोष हैं—(१) वह त्रुटियाँ अवश्य करता है, (२) वह अनिवार्य रूप से भ्रमित होता है, (३) उसमें अन्यों को धोखा देने की प्रवृत्ति होती है, तथा (४) वह अपूर्ण इन्द्रियों के कारण सीमित होता है। इन चार दोषों के कारण मनुष्य सर्वव्यापी ज्ञान विषयक पूर्ण सूचना नहीं दे पाता।

ऐसे दोषपूर्ण व्यक्तियों द्वारा वैदिक ज्ञान प्रदान नहीं किया जाता। इसे पहले-पहल प्रथम सृष्ट जीव, ब्रह्मा के हृदय में प्रदान किया गया, फिर ब्रह्मा ने इस ज्ञान को अपने पुत्रों तथा शिष्यों को उसी रूप में प्रदान किया जिस रूप में उन्हें भगवान् से प्राप्त हुआ था। भगवान् पूर्ण हैं और उनका प्रकृति के नियमों के वशीभूत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव मनुष्य में इतना समझने की बुद्धि तो होनी ही चाहिए कि भगवान् ही इस ब्रह्माण्ड की सारी वस्तुओं के एकमात्र स्वामी हैं, वे ही आदि स्रष्टा तथा ब्रह्मा के भी सृजनकर्ता हैं। ग्यारहवें अध्याय में भगवान् को प्रपितामह के रूप में सम्बोधित किया गया है, क्योंकि ब्रह्मा को पितामह कहकर सम्बोधित किया गया है, और वे तो इन पितामह के भी स्रष्टा हैं। अतएव किसी को अपने-आपको किसी भी वस्तु का स्वामी नहीं मानना चाहिए, उसे केवल उन्हीं वस्तुओं को अपना मानना चाहिए जो उसके पोषण के लिए भगवान् ने अलग कर दी हैं।

भगवान् द्वारा हमारे सदुपयोग के लिए रखी गई वस्तुओं को किस तरह काम में लाया जाय, इसके अनेक उदाहरण प्राप्त हैं। इसकी भी व्याख्या *भगवद्गीता* में हुई है। प्रारम्भ में अर्जुन ने निश्चय किया था कि वह कुरुक्षेत्र के युद्ध में नहीं लड़ेगा। यह उसका निर्णय था। अर्जुन ने भगवान् से कहा कि वह अपने ही सम्बन्धियों को मार कर राज्य का भोग नहीं करना चाहता। यह निर्णय शरीर पर आधारित था, क्योंकि वह अपने-आपको शरीर मान रहा था और अपने भाइयों, भतीजों, सालों, पितामहों आदि को अपने शारीरिक सम्बन्ध या विस्तार के रूप में ले रहा था। अतएव वह अपनी शारीरिक आवश्यकताओं को तुष्ट करना चाह रहा था। भगवान् ने *भगवद्गीता* का प्रवचन इस दृष्टिकोण को बदलने के लिए ही किया, और अन्त में अर्जुन भगवान् के आदेशानुसार युद्ध करने का निश्चय करते हुए कहता है—करिष्ये वचनं तव—"मैं आपके वचन के अनुसार ही कार्य करूँगा।"

इस संसार में मनुष्य बिल्लियों तथा कुत्तों के समान लड़ने के लिए नहीं है। मनुष्यों को मनुष्य-जीवन की महत्ता समझकर सामान्य पशुओं की भाँति आचरण करना बन्द कर देना चाहिए। मनुष्य को अपने जीवन के उद्देश्य को समझना चाहिए, और इसका निर्देश वैदिक ग्रंथों में दिया गया है, जिसका सार *भगवद्गीता* में मिलता है। वैदिक ग्रंथ मनुष्यों के लिए हैं, पशुओं के लिए नहीं। एक पशु दूसरे पशु का वध करे तो कोई पाप नहीं लगता, लेकिन यदि मनुष्य अपनी अनियन्त्रित स्वादेन्द्रिय की तुष्टि के

लिए पशु वध करता है, तो वह प्रकृति के नियम को तोड़ने के लिए उत्तरदायी है। *भगवद्गीता* में स्पष्ट रूप से प्रकृति के गुणों के अनुसार तीन प्रकार के कर्मों का उल्लेख है—सात्त्विक कर्म, राजसिक कर्म तथा तामसिक कर्म। इसी प्रकार आहार के भी तीन भेद हैं—सात्त्विक आहार, राजसिक आहार तथा तामसिक आहार। इन सबका विशद वर्णन हुआ है, और यदि हम *भगवद्गीता* के उपदेशों का ठीक से उपयोग करें तो हमारा सम्पूर्ण जीवन शुद्ध हो जाए, और अन्ततः हम अपने गन्तव्य को प्राप्त हो सकते हैं, जो इस भौतिक आकाश से परे है (*यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम*)।

यह गन्तव्य सनातन आकाश, या नित्य चिन्मय आकाश कहलाता है। इस संसार में हम पाते हैं कि प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। यह उत्पन्न होता है, कुछ काल तक रहता है, कुछ गौण वस्तुएँ उत्पन्न करता है, क्षीण होता है और अन्त में लुप्त हो जाता है। भौतिक संसार का यही नियम है, चाहे हम इस शरीर का दृष्टान्त लें, या फल का या किसी अन्य वस्तु का। किन्तु इस क्षणिक संसार से परे एक अन्य संसार है, जिसके विषय में हमें जानकारी है। उस संसार में अन्य प्रकृति है, जो सनातन है। जीव भी सनातन है और ग्यारहवें अध्याय में भगवान् को भी सनातन बताया गया है। हमारा भगवान् के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, और चूँकि हम सभी गुणात्मक रूप से एक हैं—सनातन-धाम, सनातन-ब्रह्म तथा सनातन-जीव—अतएव *गीता* का सारा अभिप्राय हमारे सनातन-धर्म को जागृत करना है, जो कि जीव की शाश्वत वृत्ति है। हम अस्थायी रूप से विभिन्न कर्मों में लगे रहते हैं, किन्तु यदि हम इन क्षणिक कर्मों को त्याग कर परमेश्वर द्वारा प्रस्तावित कर्मों को ग्रहण कर लें, तो हमारे ये सारे कर्म शुद्ध हो जाएँ। यही शुद्ध जीवन कहलाता है।

परमेश्वर तथा उनका दिव्य धाम, ये दोनों ही सनातन हैं और जीव भी सनातन हैं। सनातन-धाम में परमेश्वर तथा जीव की संयुक्त संगति ही मानव जीवन की सार्थकता है। भगवान् जीवों पर अत्यन्त दयालु रहते हैं, क्योंकि वे उनके आत्मज हैं। भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में घोषित किया है *सर्वयोनिषु... अहं बीजप्रदः पिता*—"मैं सबका पिता हूँ।" निस्सन्देह अपने-अपने कर्मों के अनुसार नाना प्रकार के जीव हैं, लेकिन यहाँ पर कृष्ण कहते हैं कि वे उन सबके पिता हैं। अतएव भगवान् उन समस्त पतित बद्धजीवों का उद्धार करने तथा उन्हें सनातन-धाम वापस बुलाने के लिए अवतरित होते हैं, जिससे सनातन-जीव भगवान् की नित्य संगति में रहकर अपनी सनातन स्थिति को पुनः प्राप्त कर सकें। भगवान् स्वयं नाना अवतारों के रूप में अवतरित होते हैं या फिर अपने विश्वस्त सेवकों को अपने पुत्रों, पार्षदों या आचार्यों के रूप में इन बद्धजीवों का उद्धार करने के लिए भेजते हैं।

अतएव सनातन-धर्म किसी साम्प्रदायिक धर्म पद्धति का सूचक नहीं है। यह तो नित्य परमेश्वर के साथ नित्य जीवों के नित्य कर्म-धर्म का सूचक है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह जीव के नित्य धर्म (वृत्ति) को बताता है। श्रीपाद रामानुजाचार्य ने सनातन शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है, "वह, जिसका न आदि है और न अन्त" अतएव जब हम सनातन-धर्म के विषय में बातें करते हैं तो हमें श्रीपाद

रामानुजाचार्य के प्रमाण के आधार पर यह मान लेना चाहिए कि इसका न आदि है न अन्त।

अंग्रेजी का *'रिलीजन'* शब्द सनातन-धर्म से थोड़ा भिन्न है। *'रिलीजन'* से विश्वास का भाव सूचित होता है, और विश्वास परिवर्तित हो सकता है। किसी को एक विशेष विधि में विश्वास हो सकता है और वह इस विश्वास को बदल कर दूसरा ग्रहण कर सकता हे, लेकिन सनातन-धर्म उस कर्म का सूचक है जो बदला नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ, न तो जल से उसकी तरलता विलग की जा सकती है, न अग्नि से ऊष्मा विलग की जा सकती हे। इसी प्रकार जीव से उसके नित्य कर्म को विलग नहीं किया जा सकता। सनातन-धर्म जीव का शाश्वत अंग है। अतएव जब हम सनातन-धर्म के विषय में बात करते हैं तो हमें श्रीपाद रामानुजाचार्य के प्रमाण को मानना चाहिए कि उसका न तो आदि है न अन्त। जिसका आदि-अन्त न हो वह साम्प्रदायिक नहीं हो सकता क्योंकि उसे किसी सीमा में नही बाँधा जा सकता। जिनका सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय से होगा वे सनातन-धर्म को भी साम्प्रदायिक मानने की भूल करेंगे, किन्तु यदि हम इस विषय पर गम्भीरता से विचार करें और आधुनिक विज्ञान के प्रकाश में सोचें तो हम सहज ही देख सकते है कि सनातन-धर्म विश्व के समस्त लोगों का ही नहीं अपितु ब्रह्माण्ड के समस्त जीवो का है।

भले ही असनातन धार्मिक विश्वास का मानव इतिहास के पृष्ठों मे कोई आदि हो, लेकिन सनातन-धर्म के इतिहास का कोई आदि नहीं होता, क्योकि यह जीवों के साथ शाश्वत चलता रहता है। जहाँ तक जीवों का सम्बन्ध है, प्रामाणिक शास्त्रों का कथन हे कि जीव का न तो जन्म होता हे, न मृत्यु। *गीता* में कहा गया हे कि जीव न तो कभी जन्मता हे, न कभी मरता हे। वह शाश्वत तथा अविनाशी हे, और इस क्षणभगुर शरीर के नष्ट होने के बाद भी रहता हे। सनातन-धर्म के स्वरूप के प्रसग मे हमें धर्म की धारणा को संस्कृत की मूल धातु से समझना होगा। धर्म का अर्थ है जो पदार्थ विशेष में सदैव रहता है। हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि अग्नि के साथ ऊष्मा तथा प्रकाश सदैव रहते है, ऊष्मा व प्रकाश के बिना अग्नि शब्द का कोई अर्थ नही होता। इसी प्रकार हमे जीव के उस अनिवार्य अंग को ढूँढना चाहिए जो उसका चिर सहचर हे। यह चिर सहचर उसका शाश्वत गुण है और यह शाश्वत गुण ही उसका नित्य धर्म है।

जब सनातन गोस्वामी ने श्री चैतन्यमहाप्रभु से प्रत्येक जीव के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा की तो भगवान् ने उत्तर दिया कि जीव का स्वरूप या स्वाभाविक स्थिति भगवान् की सेवा करना है। यदि हम महाप्रभु के इस कथन का विश्लेषण करें तो हम देखेंगे कि एक जीव दूसरे जीव की सेवा मे निरन्तर लगा हुआ है। एक जीव दूसरे जीव की सेवा कई रूपों में करता हे। ऐसा करके, जीव जीवन का भोग करता है। निम्न पशु मनुष्यों की सेवा करते हे जेसे सेवक अपने स्वामी की सेवा करते है। एक व्यक्ति 'अ' अपने स्वामी 'ब' की सेवा करता हे और 'ब' अपने स्वामी 'स' की तथा 'स' अपने स्वामी 'द' की। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक मित्र दूसरे मित्र की सेवा करता है, माता पुत्र की सेवा करती है, पत्नी पति की सेवा करती हे, पति पत्नी

की सेवा करता है। यदि हम इसी भावना से खोज करते चलें तो पाएँगे कि समाज में ऐसा एक भी अपवाद नहीं है जिसमें कोई जीव सेवा में न लगा हो। एक राजनेता जनता के समक्ष अपनी सेवा करने की क्षमता का घोषणा-पत्र प्रस्तुत करता है। फलतः मतदाता उसे यह सोचते हुए मत देते हैं कि वह समाज की महत्त्वपूर्ण सेवा करेगा। दुकानदार अपने ग्राहक की सेवा करता है और कारीगर (शिल्पी) पूँजीपतियों की सेवा करते हैं। पूँजीपति अपने परिवार की सेवा करता है और परिवार शाश्वत जीव की शाश्वत सेवा क्षमता से राज्य की सेवा करता है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि कोई भी जीव अन्य जीव की सेवा करने से मुक्त नहीं है। अतएव हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सेवा जीव की चिर सहचरी है और सेवा करना जीव का शाश्वत (सनातन) धर्म है।

तथापि मनुष्य काल तथा परिस्थिति विशेष के प्रसंग में एक विशिष्ट प्रकार के विश्वास को अंगीकार करता है, और इस प्रकार वह अपने को हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध या किसी अन्य सम्प्रदाय का मानने वाला बताता है। ये सभी उपाधियाँ सनातन-धर्म नहीं हैं। एक हिन्दू अपना विश्वास बदल कर मुसलमान बन सकता है, या एक मुसलमान अपना विश्वास बदल कर हिन्दू बन सकता है या कोई ईसाई अपना विश्वास बदल सकता है, इत्यादि। किन्तु इन सभी परिस्थितियों में धार्मिक विश्वास में परिवर्तन होने से अन्यों की सेवा करने का शाश्वत-धर्म (वृत्ति) प्रभावित नहीं होता। हिन्दू, मुसलमान या ईसाई समस्त परिस्थितियों में किसी न किसी के सेवक हैं। अतएव किसी विशेष विश्वास को अंगीकार करना अपने सनातन-धर्म को अंगीकार करना नहीं है। सेवा करना ही सनातन-धर्म है।

वस्तुतः भगवान् के साथ हमारा सम्बन्ध सेवा का सम्बन्ध है। परमेश्वर परम भोक्ता हैं और हम सारे जीव उनके सेवक हैं। हम सब उनके भोग (सुख) के लिए बने हैं और यदि हम भगवान् के साथ उस नित्य भोग में भाग लेते हैं, तो हम सुखी बनते हैं। हम किसी अन्य प्रकार से सुखी नहीं हो सकते। स्वतन्त्र रूप से सुखी बन पाना सम्भव नहीं, जिस प्रकार शरीर का कोई भी भाग उदर से सहयोग किये बिना सुखी नहीं रह सकता। परमेश्वर की दिव्य प्रेमाभक्तिमय सेवा किये बिना जीव सुखी नहीं हो सकता।

भगवद्गीता में विभिन्न देवों की पूजा या सेवा करने का अनुमोदन नहीं किया गया है। उसमें (७.२०) कहा गया है :

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥

"जिनकी बुद्धि भौतिक इच्छाओं द्वारा मारी गई है वे देवताओं की शरण में जाते हैं, और वे अपने-अपने स्वभावों के अनुसार पूजा के विशेष विधिविधानों का पालन करते हैं।" यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि जो काम-वासना द्वारा निर्देशित होते हैं वे भगवान् कृष्ण की पूजा न करके देवताओं की पूजा करते हैं। जब हम कृष्ण का नाम लेते हैं तो हम किसी साम्प्रदायिक नाम का उल्लेख नहीं करते। कृष्ण का अर्थ है-



कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

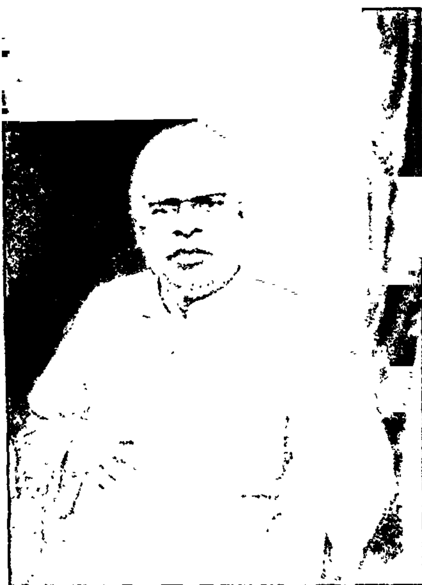
संस्थापकाचार्य : अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

सम्पूर्ण विश्व में वैदिक ज्ञान के अद्वितीय प्रचारक



श्रील जगन्नाथ [illegible] बाबाजी महाराज

श्रील [illegible]



श्रील ठाकुर भक्तिविनोद

कृष्णभावनामृत से सम्पूर्ण जगत को लाभान्वित कराने वाले कार्यक्रम के अग्रदूत



श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज

श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के गुरु महाराज



श्रील गौरकिशोर दास बाबाजी महाराज

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज के गुरु महाराज और श्रील ठाकुर भक्तिविनोद के अन्तरंग शिष्य



श्री पञ्चतत्व

अपने पार्षदो से घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य श्रीकृष्ण के गौर सुन्दर अवतार हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के आदर्श भक्त के रूप मे अवतरित होकर उन्होने अपने अनुकरणीय आचरण द्वारा भगवत्प्रेम की शिक्षा दी।



जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने तथा व्यर्थ के शरीरों को त्याग कर नवीन भौतिक शरीर धारण करता है। (२.२२)



सृष्टि के लिए भगवान् कृष्ण का स्वाश तीन विष्णुओ का रूप धारण करता है। पहले महाविष्णु हैं, जो सम्पूर्ण भौतिक शक्ति महत्तत्त्व को उत्पन्न करते हैं। (७ ४ तात्पर्य)



ब्रह्मा के दिन के शुभारम्भ मे सारे जीव अव्यक्त अवस्था से व्यक्त होते हैं और फिर जब रात्रि आती है तो वे पुन अव्यक्त मे विलीन हो जाते हैं। (८१८)



यह जीवन की सर्वोच्च सिद्ध अवस्था है [illegible]
वृन्दावन को प्राप्त होता है जहाँ [illegible]



ले जाया जाता है और यम उन्हे तरह-तरह का दण्ड देने की व्यवस्था करते हैं। (१० २९ तात्पर्य)



यह वह परमपुरुष है, जिसे ऋषिगण निर्विशेष ब्रह्म करके मानते हैं, भक्तगण भगवान् मानते हैं और सामान्यजन प्रकृति से उत्पन्न हुआ मानते हैं। ये बालक, जिन्होने अपने पूर्वजन्मो मे अनेक पुण्य किये हैं, अब उसी भगवान् के साथ खेल रहे हैं। (११८)



तो भी इस शरीर में एक अन्य दिव्य भोक्ता है, जो ईश्वर है, परम स्वामी है और साक्षी तथा अनुमति देने वाले के रूप में विद्यमान है और जो परमात्मा कहलाता है। (१३ २३)

सर्वोच्च आनन्द, ओर इसकी पुष्टि हुई है कि परमेश्वर समस्त आनन्द के आगार हैं। हम सभी आनन्द की खोज मे लगे रहते है। *आनन्दमयोऽभ्यासात्* (वेदान्त-सूत्र १.१.१२)। भगवान् की ही भाँति जीव चेतना से पूर्ण हे, और सुख की खोज में रहते हं। भगवान् तो नित्य सुखी हे, ओर यदि जीव उनकी संगति करते हं, उनके साथ सहयोग करते हे, तो वे भी सुखी वन जाते हे।

भगवान् इस मर्त्य लोक मे सुख से पूर्ण अपनी वृन्दावन लीलाएँ प्रदर्शित करने के लिए अवतरित होते हे। अपने गोपमित्रों के साथ, अपनी गोपिका-सखियों के साथ, वृन्दावन के अन्य निवासियो के साथ तथा गायो के साथ उनकी लीलाएँ सुख से ओतप्रोत है। वृन्दावन की सारी जनता कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी को नही जानती थी। परन्तु भगवान् कृष्ण ऐसे थे कि उन्होंने अपने पिता नन्द महाराज को भी इन्द्रदेव की पूजा करने से निरुत्साहित किया क्योंकि वे इस तथ्य को प्रतिष्ठित करना चाहते थे कि लोगो को किसी भी देवता की पूजा करने की आवश्यकता नहीं हे। उन्हें एकमात्र परमेश्वर की पूजा करनी चाहिए क्योकि उनका चरम-लक्ष्य भगवद्धाम को वापस जाना है।

भगवद्गीता मे (१५ ६) भगवान् श्रीकृष्ण के धाम का वर्णन इस प्रकार हुआ हे

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावक.।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

"मेरा परम धाम न तो सूर्य या चन्द्रमा द्वारा, न ही अग्नि या बिजली द्वारा प्रकाशित होता है। जो लोग वहाँ पहुँच जाते हे वे इस भोतिक जगत मे फिर कभी नही लोटते।"

यह श्लोक उस नित्य आकाश (परमधाम) का वर्णन प्रस्तुत करता है। निस्सन्देह हमे आकाश की भौतिक धारणा है, ओर हम इसे सूर्य, चन्द्र, तारे आदि के सम्बन्ध मे सोचते हे। किन्तु इस श्लोक मं भगवान् वताते हे कि नित्य आकाश मे सूर्य, चन्द्र, अग्नि या बिजली किसी की आवश्यकता नहीं हे, क्योंकि वह परमेश्वर से निकलने वाली ब्रह्मज्योति द्वारा प्रकाशित हे। हम अन्य लोको तक पहुँचने का कठिन प्रयास कर रहे हे, लेकिन परमेश्वर के धाम को जानना कठिन नही हे। यह धाम गोलोक कहा जाता हे। ब्रह्मसहिता मे (५ ३७) इसका अतीव सुन्दर वर्णन मिलता हे—गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूत'। भगवान् अपने धाम गोलोक मं नित्य वास करते हे फिर भी इस लोक से उन तक पहुँचा जा सकता हे ओर ऐसा करने के लिए वे अपने सच्चिदानन्द विग्रह रूप को व्यक्त करते हे जो उनका असली रूप हे। जब वे इस रूप को प्रकट करते हे तब हमे इसकी कल्पना करने की आवश्यकता नही रह जाती कि उनका रूप केसा हे। ऐसे चिन्तन को निरुत्साहित करन के लिए ही वे अवतार लेते हे, ओर अपने श्यामसुन्दर स्वरूप को प्रदर्शित करते हे। दुर्भाग्यवश अल्पज्ञ लोग उनकी हँसी उडाते हे क्योंकि वे हमारे जेसे वन कर आते हे ओर मनुष्य रूप धारण करके हमारे साथ खेलते-कूदते हे। लेकिन इस कारण हमे यह नहीं सोचना चाहिए कि वे हमारी तरह हे। वे अपनी सर्वशक्तिमत्ता के कारण ही अपन वास्तविक रूप मे हमारे समक्ष प्रकट होते हे, ओर अपनी लीलाओं का प्रदर्शन करते हे, जो उनके धाम मे होने

वाली लीलाओं की अनुकृतियाँ (प्रतिरूप) होती हैं।

आध्यात्मिक आकाश की तेजोमय किरणों (ब्रह्मज्योति) में असंख्य लोक तैर रहे हैं। यह ब्रह्मज्योति परम धाम कृष्णलोक से उद्भूत होती है और आनन्दमय तथा चिन्मय लोक, जो भौतिक नहीं हैं, इसी ज्योति में तैरते रहते हैं। भगवान् कहते हैं—*न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।* जो इस आध्यात्मिक आकाश तक पहुँच जाता है उसे इस भौतिक आकाश में लौटने की आवश्यकता नहीं रह जाती। भौतिक आकाश में यदि हम सर्वोच्च लोक (ब्रह्मलोक) को भी प्राप्त कर लें, चन्द्रलोक का तो कहना ही क्या, तो वहाँ भी वही जीवन की परिस्थितियाँ—जन्म, मृत्यु, व्याधि तथा जरा—होंगी। भौतिक ब्रह्माण्ड का कोई भी लोक संसार के इन चार नियमों से मुक्त नहीं है।

सारे जीव एक लोक से दूसरे लोक में विचरण करते हैं, किन्तु ऐसा नहीं है कि हम यान्त्रिक व्यवस्था करके जिस लोक में जाना चाहें वहाँ चले जायँ। यदि हम किसी अन्य लोक में जाना चाहते हैं तो उसकी विधि होती है। इसका भी उल्लेख हुआ है—*यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।* यदि हम एक लोक से दूसरे लोक में विचरण करना चाहते हैं तो उसके लिए कोई यान्त्रिक व्यवस्थाकी आवश्यकता नहीं है। *गीता* का उपदेश है—*यान्ति देवव्रता देवान्।* चन्द्र, सूर्य तथा उच्चतर लोक स्वर्गलोक कहलाते हैं। लोकों की तीन विभिन्न स्थितियाँ हैं—उच्चतर, मध्य तथा निम्नतर लोक। पृथ्वी मध्य लोक में आती है। *भगवद्गीता* बताती है कि किस प्रकार अति सरल सूत्र—*यान्ति देवव्रता देवान्*—द्वारा उच्चतर लोकों यानी देवलोकों तक जाया जा सकता है। मनुष्य को केवल उस लोक के विशेष देवता की पूजा करने की आवश्यकता है और इस तरह चन्द्रमा, सूर्य या अन्य किसी भी उच्चतर लोक को जाया जा सकता है।

फिर भी *भगवद्गीता* हमें इस जगत के किसी लोक में जाने की सलाह नहीं देती क्योंकि चाहे हम किसी यान्त्रिक युक्ति से चालीस हजार वर्षों (और कौन इतने समय तक जीवित रहेगा?) तक यात्रा करके सर्वोच्च लोक, ब्रह्मलोक, क्यों न चले जायँ, किन्तु फिर भी वहाँ हमें जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि जैसी भौतिक असुविधाओं से मुक्ति नहीं मिल सकती। लेकिन जो परम लोक, कृष्णलोक, या आध्यात्मिक आकाश के किसी भी अन्य लोक में पहुँचना चाहता है, उसे वहाँ ये असुविधाएँ नहीं होंगी। आध्यात्मिक आकाश में जितने भी लोक हैं, उनमें गोलोक वृन्दावन नामक लोक सर्वश्रेष्ठ है, जो भगवान् श्रीकृष्ण का आदि धाम है। यह सारी जानकारी *भगवद्गीता* में दी हुई है, और इसमें उपदेश दिया गया है कि किस प्रकार हम इस भौतिक जगत को छोड़कर आध्यात्मिक आकाश में वास्तविक आनन्दमय जीवन बिता सकते हैं।

भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय में भौतिक जगत का जीता जागता चित्रण हुआ है। कहा गया है :

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

यहाँ पर भौतिक जगत का वर्णन उस वृक्ष के रूप में हुआ है जिसकी जड़ें ऊर्ध्वमुखी है और शाखाएँ अधोमुखी हैं। हमें ऐसे वृक्ष का अनुभव है, जिसकी जड़ें ऊर्ध्वमुखी हों : यदि कोई नदी या जलाशय के किनारे खड़ा होकर जल में वृक्षों का प्रतिबिम्ब देखे तो उसे सारे वृक्ष उल्टे दिखेंगे। शाखाएँ नीचे की ओर और जड़ें ऊपर की ओर दिखेंगी। इसी प्रकार यह भौतिक जगत भी आध्यात्मिक जगत का प्रतिबिम्ब है। यह जगत वास्तविकता का प्रतिबिम्ब (छाया) मात्र है। प्रतिबिम्ब (छाया) में कोई वास्तविकता या सार नहीं होता, लेकिन प्रतिबिम्ब से हम यह समझ लेते हैं कि वस्तु तथा वास्तविकता है। इसी प्रकार यद्यपि मरुस्थल में जल नहीं होता, लेकिन मृग-मरीचिका बताती है कि जल जैसी कोई वस्तु होती है। भौतिक जगत में न तो जल है, न तो सुख है, लेकिन आध्यात्मिक जगत में वास्तविक सुख-रूपी असली जल है।

भगवद्गीता में (१५.५) भगवान् ने सुझाव दिया है कि हम निम्नलिखित प्रकार से आध्यात्मिक जगत की प्राप्ति कर सकते हैं।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्
गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

पदमव्ययं अर्थात् सनातन राज्य (धाम) को वही प्राप्त होता है जो निर्मान-मोहा है। इसका अर्थ क्या हुआ? हम उपाधियों के पीछे पड़े रहते हैं। कोई 'महाशय' बनना चाहता है, कोई 'प्रभु' बनना चाहता है, तो कोई राष्ट्रपति, धनवान या राजा या कुछ और बनना चाहता है। परन्तु जब तक हम इन उपाधियों से चिपके रहते हैं तब तक हम शरीर के प्रति आसक्त बने रहते हैं, क्योंकि ये उपाधियाँ शरीर से सम्बन्धित होती हैं। लेकिन हम शरीर नहीं हैं, और इसकी अनुभूति होना ही आत्म-साक्षात्कार की प्रथम अवस्था है। हम प्रकृति के तीन गुणों से जुड़े हुए हैं, किन्तु भगवद्भक्तिमय सेवा द्वारा हमें इनसे छूटना होगा। यदि हम भगवद्भक्तिमय सेवा के प्रति आसक्त नहीं होते तो प्रकृति के गुणों से छूट पाना दुष्कर है। उपाधियाँ तथा आसक्तियाँ हमारी कामवासना तथा इच्छा अर्थात् प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की चाह के कारण है। जब तक हम प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की प्रवृत्ति को नहीं त्यागते तब तक भगवान् के धाम, सनातन धाम, को वापस जाने की कोई सम्भावना नहीं है। इस नित्य अविनाशी धाम को वही प्राप्त होता है जो झूठे भौतिक भोगों के आकर्षणों द्वारा मोहग्रस्त नहीं होता, जो भगवान् की सेवा में स्थित रहता है। ऐसा व्यक्ति सहज ही परम धाम को प्राप्त होता है।

गीता में अन्यत्र (८.२१) कहा गया है :

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

अव्यक्त का अर्थ है-अप्रकट। हमारे समक्ष सारा भौतिक जगत तक प्रकट नहीं है। हमारी इन्द्रियाँ इतनी अपूर्ण हैं कि हम इस ब्रह्माण्ड में सारे नक्षत्रों को भी नहीं देख पाते। वैदिक साहित्य से हमें सभी लोकों के विषय में प्रचुर जानकारी प्राप्त होती है।

उस पर विश्वास करना या न करना हमारे ऊपर निर्भर करता है। वैदिक ग्रंथों में, विशेषतया *श्रीमद्भागवतम्* में, सभी महत्त्वपूर्ण लोकों का वर्णन है। इस भौतिक आकाश से परे आध्यात्मिक जगत है जो अव्यक्त या अप्रकट कहलाता है। व्यक्ति को भगवद्धाम की ही कामना तथा लालसा करनी चाहिए, क्योंकि जब उसको उस धाम की प्राप्ति हो जाती है, तब उसको वहाँ से फिर इस जगत में लौटना नहीं पड़ता।

इसके बाद प्रश्न पूछा जा सकता है कि उस भगवद्धाम तक कैसे पहुँचा जाता है? इसकी सूचना *भगवद्गीता* के आठवें अध्याय में (८.५) इस तरह दी गई है :

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

"अन्तकाल में जो कोई मेरा स्मरण करते हुए शरीर त्याग करता है वह तुरन्त मेरे स्वभाव को प्राप्त होता है, इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है।" जो व्यक्ति मृत्यु के समय कृष्ण का चिन्तन करता है, वह कृष्ण को प्राप्त होता है। मनुष्य को चाहिए कि वह कृष्ण के स्वरूप का स्मरण करे; और यदि इस रूप का चिन्तन करते हुए वह मर जाता है, तो वह भगवद्धाम को प्राप्त होता है। मद्भावम् शब्द परम पुरुष के परम स्वभाव का सूचक है। परम पुरुष *सच्चिदानन्दविग्रह* हैं—अर्थात् उनका स्वरूप शाश्वत, ज्ञान तथा आनन्द से पूर्ण रहता है। हमारा यह शरीर सच्चिदानन्द नहीं है, यह सत् नहीं अपितु असत् है। यह शाश्वत नहीं अपितु नाशवान है, यह चित् अर्थात् ज्ञान से पूर्ण नहीं, अपितु अज्ञान से पूर्ण है। हमें भगवद्धाम का कोई ज्ञान नहीं है, यहाँ तक कि हमें इस भौतिक जगत तक का पूर्ण ज्ञान नहीं है, क्योंकि ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं, जो हमें ज्ञात नहीं हैं। यह शरीर निरानन्द है, आनन्द से ओतप्रोत न होकर दुखमय है। इस संसार में जितने भी दुखों का हमें अनुभव होता है, वे शरीर से उत्पन्न हैं, किन्तु जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण का चिन्तन करते हुए इस शरीर को त्यागता है, वह तुरन्त ही सच्चिदानन्द शरीर प्राप्त करता है।

इस शरीर को त्याग कर इस जगत में दूसरा शरीर धारण करना भी सुव्यवस्थित है। मनुष्य तभी मरता है जब यह निश्चित हो जाता है कि अगले जीवन में उसे किस प्रकार का शरीर प्राप्त होगा। इसका निर्णय उच्च अधिकारी करते हैं, स्वयं जीव नहीं करता। इस जीवन में अपने कर्मों के अनुसार हम उन्नति या अवनति करते हैं। यह जीवन अगले जीवन की तैयारी है। अतएव यदि हम इस जीवन में भगवद्धाम पहुँचने की तैयारी कर लेते हैं, तो इस शरीर का त्यागने के बाद हम भगवान् के ही सदृश आध्यात्मिक शरीर प्राप्त करते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अध्यात्मवादियों के कई प्रकार हैं—ब्रह्मवादी, परमात्मावादी तथा भक्त, और जैसा कि उल्लेख हो चुका है, ब्रह्मज्योति (आध्यात्मिक आकाश) में असंख्य आध्यात्मिक लोक हैं। इन लोकों की संख्या भौतिक जगत के लोकों की संख्या से कहीं अधिक बड़ी है। यह भौतिक जगत अखिल सृष्टि का केवल चतुर्थांश है (*एकांशेन स्थितो जगत*)। इस भौतिक खण्ड में लाखों करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं, जिनमें अरबों लोक और सूर्य, तारे तथा चन्द्रमा हैं। किन्तु यह सारी भौतिक सृष्टि

सम्पूर्ण सृष्टि का एक खण्ड मात्र है। अधिकांश सृष्टि तो आध्यात्मिक आकाश में है। जो व्यक्ति परब्रह्म से तदाकार होना चाहता है वह तुरन्त ही परमेश्वर की ब्रह्मज्योति में भेज दिया जाता है, और इस तरह वह आध्यात्मिक आकाश को प्राप्त होता है। जो भक्त भगवान् के सान्निध्य का भोग करना चाहता है वह वैकुण्ठ लोकों में प्रवेश करता है, जिनकी संख्या अनन्त है, जहाँ पर परमेश्वर अपने पूर्ण अंशों, चतुर्भुज नारायण के रूप में तथा प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा गोविन्द जैसे विभिन्न नामों से भक्तों के साथ-साथ रहते हैं। अतएव जीवन के अन्त में अध्यात्मवादी ब्रह्मज्योति, परमात्मा या भगवान् श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हैं। प्रत्येक दशा में वे आध्यात्मिक आकाश में प्रविष्ट होते हैं, लेकिन केवल भक्त या परमेश्वर से सम्बन्धित रहने वाला ही वैकुण्ठलोक में या गोलोक वृन्दावन में प्रवेश करता है। भगवान् यह भी कहते हैं कि "इसमें कोई सन्देह नहीं है।" इस पर दृढ़ विश्वास करना चाहिए। हमें चाहिए कि जो हमारी कल्पना से मेल नहीं खाता, उसका बहिष्कार न करें। हमारी मनोवृत्ति अर्जुन की सी होनी चाहिए: "आपने जो कुछ कहा उस पर मैं विश्वास करता हूँ।" अतएव जब भगवान् यह कहते हैं कि मृत्यु के समय जो भी ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् के रूप में उनका चिन्तन करता है वह निश्चित रूप से आध्यात्मिक आकाश में प्रवेश करता है, तो इसमें कोई सन्देह नहीं है। इस पर अविश्वास करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

भगवद्गीता में (८.६) उस सामान्य सिद्धान्त की भी व्याख्या है जो मृत्यु के समय ब्रह्म का चिन्तन करने से आध्यात्मिक धाम में प्रवेश करना सुगम बनाता है :

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

"अपने इस शरीर को त्यागते समय मनुष्य जिस-जिस भाव का स्मरण करता है, वह अगले जन्म में उस-उस भाव को निश्चित रूप से प्राप्त होता है।" अब सर्वप्रथम हमें यह समझना चाहिए कि भौतिक प्रकृति परमेश्वर की एक शक्ति का प्रदर्शन है। विष्णु पुराण में (६.७.६१) भगवान् की समग्र शक्तियों का वर्णन हुआ है

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा।
अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥

परमेश्वर की शक्तियाँ विविध तथा असंख्य हैं और वे हमारी बुद्धि के परे हैं, लेकिन बड़े-बड़े विद्वान् मुनियों या मुक्तात्माओं ने इन शक्तियों का अध्ययन करके इन्हें तीन भागों में बाँटा है। सारी शक्तियाँ विष्णु-शक्ति हैं, अर्थात् वे भगवान् विष्णु की विभिन्न शक्तियाँ हैं। पहली शक्ति परा या आध्यात्मिक है। जीव भी परा शक्ति है जैसा कि पहले कहा जा चुका है। अन्य शक्तियाँ या भौतिक शक्तियाँ तामसी हैं। मृत्यु के समय हम या तो इस संसार की अपरा शक्ति में रहते हैं या फिर आध्यात्मिक जगत की शक्ति में चले जाते हैं।

अतएव *भगवद्गीता* में (८.६) कहा गया है

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

"अपने इस शरीर को त्यागते समय मनुष्य जिस-जिस भाव का स्मरण करता है वह अगले जन्म में उस-उस भाव को निश्चित रूप से प्राप्त होता है।"

जीवन में हम या तो भौतिक या आध्यात्मिक शक्ति के विषय में सोचने के आदी हैं। हम अपने विचारों को भौतिक शक्ति से आध्यात्मिक शक्ति में किस प्रकार ले जा सकते हैं? ऐसे बहुत से साहित्य हैं—यथा समाचारपत्र, पत्रिकाएँ, उपन्यास आदि, जो हमारे विचारों को भौतिक शक्ति से भर देते हैं। इस समय हमें ऐसे साहित्य में लगे अपने चिन्तन को वैदिक साहित्य की ओर मोड़ना है। अतएव महर्षियों ने अनेक वैदिक ग्रंथ लिखे हैं, यथा पुराण। ये पुराण कल्पनाप्रसूत नहीं हैं, अपितु ऐतिहासिक लेख हैं। चैतन्य-चरितामृत में (मध्य २०.१२२) निम्नलिखित कथन है :

मायामुग्ध जीवेर नाहि स्वतः कृष्णज्ञान।
जीवेरे कृपाय कैला कृष्ण वेद-पुराण॥

भुलक्कड़ जीवों या बद्धजीवों ने परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भुला दिया है और वे सब भौतिक कार्यों के विषय में सोचने में मग्न रहते हैं। इनकी चिन्तन शक्ति को आध्यात्मिक आकाश की ओर मोड़ने के लिए ही कृष्णद्वैपायन व्यास ने प्रचुर वैदिक साहित्य प्रदान किया है। सर्वप्रथम उन्होंने वेद के चार विभाग किये, फिर उन्होंने उनकी व्याख्या पुराणों में की, और अल्पज्ञों के लिए उन्होंने महाभारत की रचना की। महाभारत में ही *भगवद्गीता* दी हुई है। तत्पश्चात् वैदिक साहित्य का सार वेदान्त-सूत्र में दिया गया है और भावी पथ-प्रदर्शन के लिए उन्होंने वेदान्त-सूत्र का सहज भाष्य भी कर दिया जो *श्रीमद्भागवतम्* कहलाता है। हमें इन वैदिक ग्रंथों के अध्ययन में अपना चित्त लगाना चाहिए। जिस प्रकार भौतिकवादी लोग नाना प्रकार के समाचार पत्र, पत्रिकाएँ तथा अन्य संसारी साहित्य को पढ़ने में ध्यान लगाते हैं, उसी तरह हमें भी व्यासदेव द्वारा प्रदत्त साहित्य के अध्ययन में ध्यान लगाना चाहिए। इस प्रकार हम मृत्यु के समय परमेश्वर का स्मरण कर सकेंगे। भगवान् द्वारा सुझाया गया यही एकमात्र उपाय है और वे इसके फल का विश्वास दिलाते हैं, "इसमें कोई सन्देह नहीं है।"

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥

"इसलिए, हे अर्जुन! तुम कृष्ण के रूप में मेरा सदैव चिन्तन करो, और साथ ही अपने युद्ध कर्म करते रहो। अपने कर्मों को मुझे अर्पित करके तथा अपने मन एवं बुद्धि को मुझ पर स्थिर करके तुम मुझे निश्चित रूप से प्राप्त करोगे।" (*भगवद्गीता* ८.७)।

वे अर्जुन से उसके कर्म (वृत्ति) को त्याग कर केवल अपना स्मरण करने के लिए नहीं कहते। भगवान् कभी भी कोई अव्यावहारिक बात का परामर्श नहीं देते। इस जगत में शरीर के पालन हेतु मनुष्य को कर्म करना होता है। कर्म के अनुसार मानव समाज चार वर्णों में विभाजित है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। ब्राह्मण अथवा बुद्धिमान वर्ग एक प्रकार से कार्य करता है, क्षत्रिय या प्रशासक वर्ग दूसरी तरह से

कार्य करता हे। इसी प्रकार वणिक वर्ग तथा श्रमिक वर्ग भी अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करते हें। मानव समाज में चाहे कोई श्रमिक हो, वणिक हो, प्रशासक हो या कि किसान हो, या फिर चाहे वह सर्वोच्च वर्ण का तथा साहित्यिक हो, वैज्ञानिक हो या धर्मशास्त्रज्ञ हो, उसे अपने जीवनयापन के लिए कार्य करना होता है। अतएव भगवान् अर्जुन से कहते है कि उसे अपनी वृत्ति का त्याग नहीं करना है, अपितु वृत्ति में लगे रहकर कृष्ण का स्मरण करना चाहिए (*मामनुस्मर*)। यदि वह जीवन-संघर्ष करते हुए कृष्ण का स्मरण करने का अभ्यास नहीं करता तो वह मृत्यु के समय कृष्ण का स्मरण नहीं कर सकेगा। भगवान् चैतन्य भी यही उपदेश देते है। उनका कथन है—*कीर्तनीयः सदा हरिः*—मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के नामों का सदैव उच्चारण करने का अभ्यास करे। भगवान् का नाम तथा भगवान् अभिन्न हें। उसी प्रकार अर्जुन को भगवान् की शिक्षा कि "मेरा स्मरण करो" तथा चैतन्य का यह आदेश कि "भगवान् कृष्ण के नामो का निरन्तर कीर्तन करो" एक ही हे। इनमें कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि कृष्ण तथा कृष्ण के नाम में कोई अन्तर नहीं है। चरम दशा में नाम तथा नामी में कोई अन्तर नहीं होता। अतएव हमें चोबीसो घण्टे भगवान् के नामो का कीर्तन करके उनके स्मरण का अभ्यास करना होता है, और अपने जीवन को इस प्रकार ढालना होता है कि हम उन्हें सदा स्मरण करते रहे।

यह किस प्रकार सम्भव हे? आचार्यो ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है। यदि कोई विवाहिता स्त्री परपुरुष मे आसक्त होती है, या कोई पुरुष [illegible] छोड़कर किसी पराई स्त्री मे लिप्त होता है, तो यह आसक्ति अत्यन्त [illegible] है। ऐसी आसक्ति वाला अपने प्रेमी के विपय में निरन्तर सोचता रहता है। [illegible] प्रेमी के विपय मे सोचती रहती हे वह अपने घरेलू कार्य करते [illegible] मिलने के विपय में सोचती रहती हे। वास्तव मे वह अपने गृहकार्य [illegible] सावधानी से करती है कि उसका पति उसकी आसक्ति के विषय [illegible]। [illegible] प्रकार हमे परम प्रेमी श्रीकृष्ण को सदेव स्मरण [illegible] कर्तव्यों को सुचारु रूप से करते रहना चाहिए। [illegible] चाहिए। यदि हममें परमेश्वर के लिए प्रगाढ़ [illegible] उनका स्मरण भी कर सकते हे। लेकिन हमें [illegible]। [illegible] अर्जुन सदेव कृष्ण का चिन्तन करता था, [illegible] योद्धा भी। कृष्ण ने उसे युद्ध करना छोड़कर [illegible] नही दी। जब भगवान् कृष्ण अर्जुन [illegible] इस पद्धति का अभ्यास कर सक[illegible]

[illegible]

योऽयं [illegible]
एतस्या[illegible]

"अर्जुन ने कहा: हे मधुसूदन [illegible]
वह मेरे लिए अव्याव[illegible]

चंचल है।" *भगवद्गीता* (६.३३)।

लेकिन भगवान् कहते हैं :

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

"सम्पूर्ण योगियों में जो श्रद्धावान् योगी भक्तियोग के द्वारा मेरी आज्ञा का पालन करता है, अपने अन्तर में मेरे बारे में सोचता है, और मेरी दिव्य प्रेमभक्तिमय सेवा करता है, वह योग में मुझसे परम घनिष्ठतापूर्वक युक्त होता है और सब में श्रेष्ठ है। यही मेरा मत है।" (*भगवद्गीता* ६.४७) अतएव जो सदैव परमेश्वर का चिन्तन करता है, वह एक ही समय में सबसे बड़ा योगी, सर्वोच्च ज्ञानी तथा महानतम भक्त है। अर्जुन से भगवान् आगे भी कहते हैं कि क्षत्रिय होने के कारण वह युद्ध का त्याग नहीं कर सकता, किन्तु यदि वह कृष्ण का स्मरण करते हुए युद्ध करता है तो वह मृत्यु के समय कृष्ण का स्मरण कर सकेगा। परन्तु इसके लिए मनुष्य को भगवान् की दिव्य प्रेमभक्तिमय सेवा में पूर्णतया समर्पित होना होगा।

वास्तव में हम अपने शरीर से नहीं, अपितु अपने मन तथा बुद्धि से कर्म करते हैं। अतएव यदि मन तथा बुद्धि सदैव परमेश्वर के विचार में मग्न रहें तो स्वाभाविक है कि इन्द्रियाँ भी उनकी सेवा में लगी रहेंगी। इन्द्रियों के कार्य कम से कम बाहर से तो वे ही रहते हैं, लेकिन चेतना बदल जाती है। *भगवद्गीता* हमें सिखाती है कि किस प्रकार मन तथा बुद्धि को भगवान् के विचार में लीन रखा जाये। ऐसी तल्लीनता से मनुष्य भगवद्धाम को जाता है। यदि मन कृष्ण की सेवा में लग जाता है तो सारी इन्द्रियाँ स्वतः उनकी सेवा में लग जाती हैं। यह कला है, और यही *भगवद्गीता* का रहस्य भी है कि श्रीकृष्ण के विचार में पूरी तरह मग्न रहा जाये।

आधुनिक मनुष्य ने चन्द्रमा तक पहुँचने के लिए कठोर संघर्ष किया है, लेकिन उसने अपने आध्यात्मिक उत्थान के लिए कठिन प्रयास नहीं किया। यदि मनुष्य को पचास वर्ष आगे जीना है, तो उसे चाहिए कि इस थोड़े समय को भगवान् का स्मरण करने के अभ्यास में लगाए। यह अभ्यास भक्तियोग है (*श्रीमद्भागवतम्* ७.५.२३) :

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

ये नौ विधियाँ हैं जिनमें स्वरूपसिद्ध व्यक्ति से *भगवद्गीता* का श्रवण करना सबसे सुगम है। तब व्यक्ति भगवत् चिन्तन की ओर मुड़ेगा। इससे परमेश्वर का स्मरण होगा और शरीर छोड़ने पर आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होगा जो परमेश्वर की संगति के लिए उपयुक्त है।

भगवान् आगे भी कहते हैं :

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥

"हे अर्जुन! जो व्यक्ति पथ पर विचलित हुए बिना अपने मन को निरन्तर मेरा स्मरण करने में व्यस्त रखता है और भगवान् के रूप में मेरा ध्यान करता है वह मुझको

अवश्य प्राप्त होता है।" (*भगवद्गीता* ८.८)

यह कोई कठिन पद्धति नहीं है, तो भी इसे किसी अनुभवी व्यक्ति से सीखना चाहिए। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्—मनुष्य को चाहिए कि जो पहले से अभ्यास कर रहा हो उसके पास जाये। मन सदैव इधर-उधर उड़ता रहता है, किन्तु मनुष्य को चाहिए कि मन को भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप पर या उनके नामोच्चारण पर केन्द्रित करने का अभ्यास करे। मन स्वभावतः चंचल है, इधर-उधर जाता रहता है, लेकिन यह कृष्ण की ध्वनि पर स्थिर हो सकता है। इस प्रकार मनुष्य को परमं पुरुषम् अर्थात् दिव्यलोक में भगवान् का चिन्तन करना चाहिए और उनको प्राप्त करना चाहिए। चरम अनुभूति या चरम उपलब्धि के साधन *भगवद्गीता* में बताये गये हैं, और इस ज्ञान के द्वार सब के लिए खुले हैं। किसी के लिए रोक-टोक नहीं है। सभी श्रेणी के लोग भगवान् कृष्ण का चिन्तन करके उनके पास पहुँच सकते हैं, क्योंकि उनका श्रवण तथा चिन्तन हर एक के लिए सम्भव है।

भगवान् आगे भी कहते हैं (*भगवद्गीता* ९.३२-३३) :

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

इस तरह भगवान् कहते हैं कि वैश्य, पतिता स्त्री या श्रमिक अथवा अधमयोनि को प्राप्त मनुष्य भी ईश्वर को पा सकता है। उसे अत्यधिक विकसित बुद्धि की आवश्यकता नहीं पड़ती। बात यह है कि जो कोई भक्ति-योग के सिद्धान्त को स्वीकार करता है, और परमेश्वर को जीवन के आश्रय तत्त्व के रूप में, सर्वोच्च लक्ष्य या चरम लक्ष्य के रूप में, स्वीकार करता है, वह आध्यात्मिक आकाश में भगवान् तक पहुँच सकता है। यदि कोई *भगवद्गीता* में बताये गये सिद्धान्तों को ग्रहण करता है, तो वह अपना जीवन पूर्ण बना सकता है और जीवन की सारी समस्याओं का स्थायी हल पाता है। यही *भगवद्गीता* का सार सर्वस्व है।

साराश यह है कि *भगवद्गीता* दिव्य साहित्य है जिसको ध्यानपूर्वक पढना चाहिए। *गीता शास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः पुमान्*—यदि कोई *भगवद्गीता* के उपदेशों का पालन करे तो वह जीवन के दुखों तथा चिन्ताओं से मुक्त हो सकता है। *भय शोकादिवर्जितः।* वह इस जीवन में सारे भय से मुक्त हो जाएगा और उसका अगला जीवन आध्यात्मिक होगा (*गीता माहात्म्य* १)।

एक अन्य लाभ भी होता है

गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च॥

"यदि कोई *भगवद्गीता* को निष्ठा तथा गम्भीरता के साथ पढ़ता है तो भगवान् की कृपा से उसके सारे पूर्व दुष्कर्मों के फलों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता" (गीता

माहात्म्य २)। भगवान् *भगवद्गीता* के अन्तिम अंश (१८.६६)में जोर देकर कहते हैं :

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

"सब धर्मों को त्याग कर एकमात्र मेरी ही शरण में आओ। मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा। तुम डरो मत।" इस प्रकार अपनी शरण में आये भक्त का पूरा उत्तरदायित्व भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं और उसके समस्त पापों को क्षमा कर देते हैं।

मलिनेमोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने।
सकृद्गीतामृतस्नानं संसारमलनाशनम्॥

"मनुष्य जल में स्नान करके नित्य अपने को स्वच्छ कर सकता है, लेकिन यदि कोई *भगवद्गीता* रूपी पवित्र गंगा-जल में एक बार भी स्नान कर ले तो वह भवसागर की मलिनता से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाता है। (*गीता माहात्म्य* ३)

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

चूँकि *भगवद्गीता* भगवान् के मुख से निकली है, अतएव किसी को अन्य वैदिक साहित्य पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती। उसे केवल *भगवद्गीता* का ही ध्यानपूर्वक तथा मनोयोग से श्रवण तथा पठन करना चाहिए। वर्तमान युग में लोग सांसारिक कार्यों में इतने व्यस्त हैं कि उनके लिए समस्त वैदिक साहित्य का अध्ययन कर पाना सम्भव नहीं रह गया है। परन्तु इसकी आवश्यकता भी नहीं है। केवल एक पुस्तक *भगवद्गीता* ही पर्याप्त है क्योंकि यह समस्त वैदिक ग्रंथों का सार है और इसका प्रवचन भगवान् ने किया है (*गीता माहात्म्य* ४)।

जैसा कि कहा गया है :

भारतामृतसर्वस्वं विष्णुवक्त्राद्विनिःसृतम्।
गीता-गङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

"जो गंगाजल पीता है उसे मुक्ति मिलती है। अतएव उसके लिए क्या कहा जाय जो *भगवद्गीता* का अमृत पान करता हो? *भगवद्गीता* महाभारत का अमृत है और इसे भगवान् कृष्ण (मूल विष्णु) ने स्वयं सुनाया है।" (*गीता माहात्म्य* ५)। *भगवद्गीता* भगवान् के मुख से निकली है और गंगा भगवान् के चरणकमलों से निकली है। निस्सन्देह भगवान् के मुख तथा चरणों में कोई अन्तर नहीं है लेकिन निष्पक्ष अध्ययन से हम पाएँगे कि *भगवद्गीता* गंगा-जल की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है :

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

"यह *गीतोपनिषद्, भगवद्गीता*, जो समस्त उपनिषदों का सार है, गाय के तुल्य है, और ग्वालवाल के रूप में विख्यात भगवान् कृष्ण इस गाय को दुह रहे हैं। अर्जुन बछड़े के समान है, और सारे विद्वान तथा शुद्ध भक्त *भगवद्गीता* के अमृतमय दूध का पान करने वाले हैं।" (*गीता माहात्म्य* ६)

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम्
एको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥

आज के युग में लोग एक शास्त्र, एक ईश्वर, एक धर्म तथा एक वृत्ति के लिए अत्यन्त उत्सुक हैं। अतएव *एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम्*—केवल एक शास्त्र *भगवद्गीता* हो, जो सारे विश्व के लिए हो। *एको देवो देवकीपुत्र एव*—सारे विश्व के लिए एक ईश्वर हो—श्रीकृष्ण। *एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि*—और एक मन्त्र, एक प्रार्थना हो—उनके नाम का कीर्तन, **हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे।** *कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा*—और केवल एक ही कार्य हो—भगवान् की सेवा। (*गीता माहात्म्य* ७)



गुरु-परम्परा

एवं परम्पराप्राप्तम् इमं राजर्षयो विदुः (*भगवद्गीता* ४.२)। यह *भगवद्गीता यथारूप* इस गुरु-परम्परा द्वारा प्राप्त हुई है–

१. श्रीकृष्ण
२. ब्रह्मा
३. नारद
४. व्यास
५. मध्व
६. पद्मनाभ
७. नृहरि
८. माधव
९. अक्षोभ्य
१०. जयतीर्थ
११. ज्ञानसिन्धु
१२. दयानिधि
१३. विद्यानिधि
१४. राजेन्द्र
१५. जयधर्म
१६. पुरुषोत्तम
१७. ब्रह्मण्यतीर्थ
१८. व्यासतीर्थ
१९. लक्ष्मीपति
२०. माधवेन्द्रपुरी
२१. ईश्वरपुरी (नित्यानन्द, अद्वैत)
२२. श्रीचैतन्य महाप्रभु
२३. रूप (स्वरूप, सनातन)
२४. रघुनाथ, जीव
२५. कृष्णदास
२६. नरोत्तम
२७. विश्वनाथ
२८. (बलदेव) जगन्नाथ
२९. भक्तिविनोद
३०. गौरकिशोर
३१. भक्ति सिद्धान्त सरस्वती
३२. ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद।

अध्याय एक



कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में सैन्यनिरीक्षण

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय॥१॥

धृतराष्ट्रः उवाच—राजा धृतराष्ट्र ने कहा, धर्म-क्षेत्रे—धर्मभूमि (तीर्थस्थल) में, कुरु-क्षेत्रे—कुरुक्षेत्र नामक स्थान में, समवेताः—एकत्र, युयुत्सवः—युद्ध करने की इच्छा से, मामकाः—मेरे पक्ष (पुत्रों), पाण्डवाः—पाण्डु के पुत्रों ने, च—तथा, एव—निश्चय ही, किम्—क्या, अकुर्वत—किया, सञ्जय—हे संजय।

धृतराष्ट्र ने कहा—हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्र हुए मेरे तथा पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?

तात्पर्य : *भगवद्गीता* एक बहुपठित आस्तिक विज्ञान है जो गीता-माहात्म्य में सार रूप में दिया हुआ है। इसमें यह उल्लेख है कि मनुष्य को चाहिए कि वह श्रीकृष्ण के भक्त

की सहायता से संवीक्षण करते हुए *भगवद्गीता* का अध्ययन करे और स्वार्थप्रेरित व्याख्याओं के बिना उसे समझने का प्रयास करे। अर्जुन ने जिस प्रकार से साक्षात् भगवान् कृष्ण से *गीता* सुनी और उसका उपदेश ग्रहण किया, इस प्रकार की स्पष्ट अनुभूति का उदाहरण *भगवद्गीता* में ही है। यदि उसी गुरु-परम्परा से, निजी स्वार्थ से प्रेरित हुए बिना, किसी को *भगवद्गीता* समझने का सौभाग्य प्राप्त हो तो वह समस्त वैदिक ज्ञान तथा विश्व के समस्त शास्त्रों के अध्ययन को पीछे छोड़ देता है। पाठक को *भगवद्गीता* में न केवल अन्य शास्त्रों की सारी बातें मिलेंगी अपितु ऐसी बातें भी मिलेंगी जो अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं हैं। यही *गीता* का विशिष्ट मानदण्ड है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा साक्षात् उच्चरित होने के कारण यह पूर्ण आस्तिक विज्ञान है।

महाभारत में वर्णित धृतराष्ट्र तथा संजय की वार्ताएँ इस महान दर्शन के मूल सिद्धान्त का कार्य करती हैं। माना जाता है कि इस दर्शन की प्रस्तुति कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में हुई जो वैदिक युग से पवित्र तीर्थस्थल रहा है। इसका प्रवचन भगवान् द्वारा मानव जाति के पथ-प्रदर्शन हेतु तब किया गया जब वे इस लोक में स्वयं उपस्थित थे।

धर्मक्षेत्र शब्द सार्थक है, क्योंकि कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन के पक्ष में श्रीभगवान् स्वयं उपस्थित थे। कौरवों का पिता धृतराष्ट्र अपने पुत्रों की विजय की सम्भावना के विषय में अत्यधिक संदिग्ध था। अतः इसी सन्देह के कारण उसने अपने सचिव से पूछा, "उन्होंने क्या किया?" वह आश्वस्त था कि उसके पुत्र तथा उसके छोटे भाई पाण्डु के पुत्र कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में निर्णयात्मक संग्राम के लिए एकत्र हुए हैं। फिर भी उसकी जिज्ञासा सार्थक है। वह नहीं चाहता था कि भाइयों में कोई समझौता हो, अतः वह युद्धभूमि में अपने पुत्रों की नियति (भाग्य, भावी) के विषय में आश्वस्त होना चाह रहा था। चूँकि इस युद्ध को कुरुक्षेत्र में लड़ा जाना था, जिसका उल्लेख वेदों में स्वर्ग के निवासियों के लिए भी तीर्थस्थल के रूप में हुआ है अतः धृतराष्ट्र अत्यन्त भयभीत था कि इस पवित्र स्थल का युद्ध के परिणाम पर न जाने कैसा प्रभाव पड़े। उसे भलीभाँति ज्ञात था कि इसका प्रभाव अर्जुन तथा पाण्डु के अन्य पुत्रों पर अत्यन्त अनुकूल पड़ेगा क्योंकि स्वभाव से वे सभी पुण्यात्मा थे। संजय श्री व्यास का शिष्य था, अतः उनकी कृपा से संजय धृतराष्ट्र के कक्ष में बैठे-बैठे कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल का दर्शन कर सकता था। इसीलिए, धृतराष्ट्र ने उससे युद्धस्थल की स्थिति के विषय में पूछा।

पाण्डव तथा धृतराष्ट्र के पुत्र, दोनों ही एक वंश से सम्बन्धित हैं, किन्तु यहाँ पर धृतराष्ट्र के वाक्य से उसके मनोभाव प्रकट होते हैं। उसने जान-बूझ कर अपने पुत्रों को कुरु कहा और पाण्डु के पुत्रों को वंश के उत्तराधिकार से विलग कर दिया। इस तरह पाण्डु के पुत्रों अर्थात् अपने भतीजों के साथ धृतराष्ट्र की विशिष्ट मनःस्थिति समझी जा सकती है। जिस प्रकार धान के खेत से अवांछित पौधों को उखाड़ दिया जाता है उसी प्रकार इस कथा के आरम्भ से ही ऐसी आशा की जाती है कि जहाँ धर्म के पिता श्रीकृष्ण उपस्थित हों वहाँ कुरुक्षेत्र रूपी खेत में दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र के पुत्र रूपी अवांछित पौधों को समूल नष्ट करके युधिष्ठिर आदि नितान्त धार्मिक पुरुषों की स्थापना की जायेगी। यहाँ धर्मक्षेत्र तथा कुरुक्षेत्र शब्दों की, उनकी ऐतिहासिक तथा वैदिक महत्ता के अतिरिक्त, यही सार्थकता है।

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्॥ २॥

सञ्जयः उवाच–सजय ने कहा; दृष्ट्वा–देखकर; तु–लेकिन; पाण्डव-अनीकम्–पाण्डवों की सेना को; व्यूढम्–व्यूहरचना को; दुर्योधनः–राजा दुर्योधन ने; तदा–उस समय; आचार्यम्–शिक्षक, गुरु के; उपसंगम्य–पास जाकर; राजा–राजा; वचनम्–शब्द; अब्रवीत्–कहा।

संजय ने कहा–हे राजन्! पाण्डुपुत्रों द्वारा सेना की व्यूहरचना देखकर राजा दुर्योधन अपने गुरु के पास गया और उसने ये शब्द कहे।

तात्पर्य : धृतराष्ट्र जन्म से अन्धा था। दुर्भाग्यवश वह आध्यात्मिक दृष्टि से भी वंचित था। वह यह भी जानता था कि उसी के समान उसके पुत्र भी धर्म के मामले में अंधे हैं और उसे विश्वास था कि वे पाण्डवों के साथ कभी भी समझौता नहीं कर पायेंगे क्योंकि पाँचों पाण्डव जन्म से ही पवित्र थे। फिर भी उसे तीर्थस्थान के प्रभाव के विषय में सन्देह था। इसीलिए सजय युद्धभूमि की स्थिति के विषय में उसके प्रश्न के मतव्य को समझ गया। अतः वह निराश राजा को प्रोत्साहित करना चाह रहा था। उसने उसे विश्वास दिलाया कि उसके पुत्र पवित्र स्थान के प्रभाव में आकर किसी प्रकार का समझौता करने नहीं जा रहे हैं। उसने राजा को बताया कि उसका पुत्र दुर्योधन पाण्डवों की सेना को देखकर तुरन्त अपने सेनापति द्रोणाचार्य को वास्तविक स्थिति से अवगत कराने गया। यद्यपि दुर्योधन को राजा कह कर सम्बोधित किया गया है तो भी स्थिति की गम्भीरता के कारण उसे सेनापति के पास जाना पड़ा। अतएव दुर्योधन राजनीतिज्ञ बनने के लिए सर्वथा उपयुक्त था। किन्तु जब उसने पाण्डवों की व्यूहरचना देखी तो उसका यह कूटनीतिक व्यवहार उसके भय को छिपा न पाया।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥ ३॥

पश्य–देखिये, एताम्–इस, पाण्डु-पुत्राणाम्–पाण्डु के पुत्रों की, आचार्य–हे आचार्य (गुरु), महतीम्–विशाल; चमूम्–सेना को, व्यूढाम्–व्यवस्थित, द्रुपद-पुत्रेण–द्रुपद के पुत्र द्वारा, तव–तुम्हारे, शिष्येण–शिष्य द्वारा, धी-मता–अत्यन्त बुद्धिमान।

हे आचार्य! पाण्डुपुत्रों की विशाल सेना को देखें, जिसे आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद के पुत्र ने इतने कौशल से व्यवस्थित किया है।

तात्पर्य : परम राजनीतिज्ञ दुर्योधन महान ब्राह्मण सेनापति द्रोणाचार्य के दोषों को इंगित करना चाहता था। अर्जुन की पत्नी द्रौपदी के पिता राजा द्रुपद के साथ द्रोणाचार्य का कुछ राजनीतिक झगड़ा था। इस झगड़े के फलस्वरूप द्रुपद ने एक महान यज्ञ सम्पन्न किया जिससे उसे एक ऐसा पुत्र प्राप्त होने का वरदान मिला जो द्रोणाचार्य का वध कर सके। द्रोणाचार्य इसे भलीभाँति जानता था किन्तु जब द्रुपद का पुत्र धृष्टद्युम्न युद्ध-शिक्षा के लिए उसको सौंपा गया तो द्रोणाचार्य को उसे अपने सारे सैनिक रहस्य प्रदान करने

में कोई झिझक नहीं हुई। अब धृष्टद्युम्न कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में पाण्डवों का पक्ष ले रहा था और उसने द्रोणाचार्य से जो कला सीखी थी उसी के आधार पर उसने यह व्यूहरचना की थी। दुर्योधन ने द्रोणाचार्य की इस दुर्बलता की ओर इंगित किया जिससे वह युद्ध में सजग रहे और समझौता न करे। इसके द्वारा वह द्रोणाचार्य को यह भी बताना चाह रहा था कि कहीं वह अपने प्रिय शिष्य पाण्डवों के प्रति युद्ध में उदारता न दिखा बैठे। विशेष रूप से अर्जुन उसका अत्यन्त प्रिय एवं तेजस्वी शिष्य था। दुर्योधन ने यह भी चेतावनी दी कि युद्ध में इस प्रकार की उदारता से हार हो सकती है।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

अत्र—यहाँ; शूराः—वीर; महा-इषु-आसाः—महान धनुर्धर; भीम-अर्जुन—भीम तथा अर्जुन; समाः—के समान; युधि—युद्ध में; युयुधानः—युयुधान; विराटः—विराट; च—भी; द्रुपदः—द्रुपद; च—भी; महारथः—महान योद्धा।

इस सेना में भीम तथा अर्जुन के समान युद्ध करने वाले अनेक वीर धनुर्धर हैं—यथा महारथी युयुधान, विराट तथा द्रुपद।

तात्पर्य : यद्यपि युद्धकला में द्रोणाचार्य की महान शक्ति के समक्ष धृष्टद्युम्न महत्त्वपूर्ण बाधक नहीं था किन्तु ऐसे अनेक योद्धा थे जिनसे भय था। दुर्योधन इन्हें विजय-पथ में अत्यन्त बाधक बताता है क्योंकि इनमें से प्रत्येक योद्धा भीम तथा अर्जुन के समान दुर्जेय था। उसे भीम तथा अर्जुन के बल का ज्ञान था, इसीलिए वह अन्यों की तुलना इन दोनों से करता है।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥

धृष्टकेतुः—धृष्टकेतु; चेकितानः—चेकितान; काशिराजः—काशिराज; च—भी; वीर्यवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; पुरुजित्—पुरुजित्; कुन्तिभोजः—कुन्तिभोज; च—तथा; शैब्यः—शैब्य; च—तथा; नरपुङ्गवः—मानव समाज में वीर।

इनके साथ ही धृष्टकेतु, चेकितान, काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज तथा शैब्य जैसे महान शक्तिशाली योद्धा भी हैं।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

युधामन्युः—युधामन्यु; च—तथा; विक्रान्तः—पराक्रमी; उत्तमौजाः—उत्तमौजा; च—तथा; वीर्यवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; सौभद्रः—सुभद्रा का पुत्र; द्रौपदेयाः—द्रौपदी के पुत्र; च—तथा; सर्वे—सभी; एव—निश्चय ही; महारथाः—महारथी।

पराक्रमी युधामन्यु, अत्यन्त शक्तिशाली उत्तमौजा, सुभद्रा का पुत्र तथा द्रौपदी के पुत्र—ये सभी महारथी हैं।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते॥७॥

अस्माकम्–हमारे; तु–लेकिन, विशिष्टाः–विशेष शक्तिशाली; ये–जो, तान्–उनको; निबोध–जरा जान लीजिये, जानकारी प्राप्त कर लें; द्विज-उत्तम–हे ब्राह्मणश्रेष्ठ; नायकाः–सेनापति, कप्तान; मम–मेरी, सैन्यस्य–सेना के, संज्ञा-अर्थम्–सूचना के लिए, तान्–उन्हें, ब्रवीमि–बता रहा हूँ; ते–आपको।

किन्तु हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! आपकी सूचना के लिए मैं अपनी सेना के उन नायकों के विषय में बताना चाहूँगा जो मेरी सेना को संचालित करने में विशेष रूप से निपुण हैं।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥८॥

भवान्–आप, भीष्मः–भीष्म पितामह, च–भी, कर्णः–कर्ण, च–और, कृपः–कृपाचार्य, च–तथा, समितिञ्जयः–सदा संग्राम-विजयी, अश्वत्थामा– अश्वत्थामा, विकर्णः–विकर्ण, च–तथा, सौमदत्तिः–सोमदत्त का पुत्र, तथा–भी, एव–निश्चय ही, च–भी।

मेरी सेना में स्वयं आप, भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण तथा सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा आदि हैं जो युद्ध में सदैव विजयी रहे हैं।

तात्पर्य : दुर्योधन उन अद्वितीय युद्धवीरों का उल्लेख करता है जो सदैव विजयी होते रहे हैं। विकर्ण दुर्योधन का भाई है, अश्वत्थामा द्रोणाचार्य का पुत्र है और सोमदत्ति या भूरिश्रवा बाह्लीकों के राजा का पुत्र है। कर्ण अर्जुन का आधा भाई है क्योंकि वह कुन्ती के गर्भ से राजा पाण्डु के साथ विवाहित होने के पूर्व उत्पन्न हुआ था। कृपाचार्य की जुड़वा बहन द्रोणाचार्य को ब्याही थी।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥९॥

अन्ये–अन्य सब, च–भी, बहवः–अनेक, शूरा –वीर, मत्-अर्थे–मेरे लिए त्यक्त-जीविताः–जीवन का उत्सर्ग करने वाले, नाना–अनेक, शस्त्र–आयुध, प्रहरणाः–से युक्त, सुसज्जित, सर्वे–सभी, युद्ध-विशारदाः–युद्धविद्या में निपुण।

ऐसे अन्य अनेक वीर भी हैं जो मेरे लिए अपना जीवन त्याग करने के लिए उद्यत हैं। वे विविध प्रकार के हथियारों से सुसज्जित हैं और युद्धविद्या में निपुण हैं।

तात्पर्य : जहाँ तक अन्यों का—यथा जयद्रथ, कृतवर्मा तथा शल्य का सम्बन्ध है वे सब दुर्योधन के लिए अपने प्राणों की आहुति देने के लिए तैयार रहते थे। दूसरे शब्दों में, यह पूर्वनिश्चित है कि वे अब पापी दुर्योधन के दल में सम्मिलित होने के कारण कुरुक्षेत्र के युद्ध में मारे जायेंगे। निस्सन्देह अपने मित्रों की संयुक्त-शक्ति के कारण दुर्योधन अपनी विजय के प्रति आश्वस्त था।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥१०॥

अपर्याप्तम्—अपरिमेय; तत्—वह; अस्माकम्—हमारी; बलम्—शक्ति; भीष्म—भीष्म पितामह द्वारा; अभिरक्षितम्—भलीभाँति संरक्षित; पर्याप्तम्—सीमित; तु—लेकिन; इदम्—यह सब; एतेषाम्—पाण्डवों की; बलम्—शक्ति; भीम—भीम द्वारा; अभिरक्षितम्—भलीभाँति सुरक्षित।

हमारी शक्ति अपरिमेय है और हम सब पितामह द्वारा भलीभाँति संरक्षित हैं, जबकि पाण्डवों की शक्ति भीम द्वारा भलीभाँति संरक्षित होकर भी सीमित है।

तात्पर्य : यहाँ पर दुर्योधन ने तुलनात्मक शक्ति का अनुमान प्रस्तुत किया है। वह सोचता है कि अत्यन्त अनुभवी सेनानायक भीष्म पितामह के द्वारा विशेष रूप से संरक्षित होने के कारण उसकी सशस्त्र सेनाओं की शक्ति अपरिमेय है। दूसरी ओर पाण्डवों की सेनाएँ सीमित हैं क्योंकि उनकी सुरक्षा एक कम अनुभवी नायक भीम द्वारा की जा रही है जो भीष्म की तुलना में नगण्य है। दुर्योधन सदैव भीम से ईर्ष्या करता था क्योंकि वह जानता था कि यदि उसकी मृत्यु कभी हुई भी तो वह भीम के द्वारा ही होगी। किन्तु साथ ही उसे दृढ़ विश्वास था कि भीष्म की उपस्थिति में उसकी विजय निश्चित है क्योंकि भीष्म कहीं अधिक उत्कृष्ट सेनापति हैं। वह युद्ध में विजयी होगा यह उसका दृढ़ निश्चय था।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥११॥

अयनेषु—मोर्चों में; च—भी; सर्वेषु—सर्वत्र; यथा-भागम्—अपने-अपने स्थानों पर; अवस्थिताः—स्थित; भीष्मम्—भीष्म पितामह की; एव—निश्चय ही; अभिरक्षन्तु—सहायता करनी चाहिए; भवन्तः—आप; सर्वे—सब के सब; एव हि—निश्चय ही।

अतएव सैन्यव्यूह में अपने-अपने मोर्चों पर खड़े रहकर आप सभी भीष्म पितामह को पूरी-पूरी सहायता दें।

तात्पर्य : भीष्म पितामह के शौर्य की प्रशंसा करने के बाद दुर्योधन ने सोचा कि कहीं अन्य योद्धा यह न समझ लें कि उन्हें कम महत्त्व दिया जा रहा है अतः दुर्योधन ने अपने सहज कूटनीतिक ढंग से स्थिति सँभालने के उद्देश्य से उपर्युक्त शब्द कहे। उसने बलपूर्वक कहा कि भीष्मदेव निस्सन्देह महानतम योद्धा हैं किन्तु अब वे वृद्ध हो चुके हैं अतः प्रत्येक सैनिक को चाहिए कि चारों ओर से उनकी सुरक्षा का विशेष ध्यान रखे। हो सकता है कि वे किसी एक दिशा में युद्ध करने में लग जायँ और शत्रु इस व्यस्तता का लाभ उठा ले। अतः यह आवश्यक है कि अन्य योद्धा मोर्चों पर अपनी-अपनी स्थिति पर अडिग रहें और शत्रु को व्यूह न तोड़ने दें।

दुर्योधन को पूर्ण विश्वास था कि कुरुओं की विजय भीष्मदेव की उपस्थिति पर निर्भर है। उसे युद्ध में भीष्मदेव तथा द्रोणाचार्य के पूर्ण सहयोग की आशा थी क्योंकि वह अच्छी तरह जानता था कि इन दोनों ने उस समय एक शब्द भी नहीं कहा था जब अर्जुन की पत्नी द्रौपदी को असहायावस्था में भरी सभा में नग्न किया जा रहा था और जब उसने

उनसे न्याय की भीख माँगी थी। यह जानते हुए भी कि इन दोनों सेनापतियों के मन में पाण्डवों के लिए स्नेह था, दुर्योधन को आशा थी कि वे इस स्नेह को उसी तरह त्याग देंगे जिस तरह उन्होंने द्यूत-क्रीडा के अवसर पर किया था।

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥१२॥

तस्य–उसका; सञ्जनयन्–बढाते हुए; हर्षम्–हर्ष; कुरु-वृद्धः–कुरुवंश के वयोवृद्ध (भीष्म); पितामहः–पितामह, बाबा; सिंह-नादम्–सिंह की सी गर्जना; विनद्य–गरज कर; उच्चैः–उच्च स्वर में; शङ्खम्–शंख; दध्मौ–बजाया; प्रताप-वान्–बलशाली।

तब कुरुवंश के वयोवृद्ध परम प्रतापी एवं वृद्ध पितामह ने सिंह-गर्जना की सी ध्वनि करने वाले अपने शंख को उच्च स्वर से बजाया, जिससे दुर्योधन को हर्ष हुआ।

तात्पर्य : कुरुवंश के वयोवृद्ध पितामह अपने पोत्र दुर्योधन का मनोभाव जान गये ओर उसके प्रति अपनी स्वाभाविक दयावश उन्होंने उसे प्रसन्न करने के लिए अत्यन्त उच्च स्वर से अपना शख बजाया जो उनकी सिंह के समान स्थिति के अनुरूप था। अप्रत्यक्ष रूप में शख के द्वारा प्रतीकात्मक ढंग से उन्होंने अपने हताश पोत्र दुर्योधन को बता दिया कि उन्हें युद्ध में विजय की आशा नहीं हे क्योंकि दूसरे पक्ष में साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण हैं। फिर भी युद्ध का मार्गदर्शन करना उनका कर्तव्य था ओर इस सम्बन्ध में वे कोई कसर नहीं रखेंगे।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥१३॥

ततः–तत्पश्चात्; शङ्खाः–शख; च–भी; भेर्यः–बडे-बडे ढोल, नगाडे; च–तथा; पणव-आनक–ढोल तथा मृदग; गोमुखाः–शृग; सहसा–अचानक; एव–निश्चय ही; अभ्यहन्यन्त–एकसाथ बजाये गये; सः–वह; शब्दः–समवेत स्वर; तुमुलः–कोलाहलपूर्ण; अभवत्–हो गया।

तत्पश्चात् शंख, नगाडे, बिगुल, तुरही तथा सींग सहसा एकसाथ बज उठे। वह समवेत स्वर अत्यन्त कोलाहलपूर्ण था।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥१४॥

ततः–तत्पश्चात्; श्वेतैः–श्वेत; हयैः–घोडों से; युक्ते–युक्त; महति–विशाल; स्यन्दने–[illegible] स्थितौ–आसीन; माधवः–कृष्ण (लक्ष्मीपति) ने; पाण्डवः–अर्जुन (पाण्डुपुत्र) ने; [illegible] एव–निश्चय ही; दिव्यौ–दिव्य; शङ्खौ–शख; प्रदध्मतुः–बजाए।

दूसरी ओर से श्वेत घोडों द्वारा खींचे जाने वाले विशाल रथ पर [illegible] अर्जुन ने अपने-अपने दिव्य शंख बजाये।

तात्पर्य : भीष्मदेव द्वारा बजाये गये शंख की तुलना में कृष्ण तथा अर्जुन के शंखों को दिव्य कहा गया है। दिव्य शंखों के नाद से यह सूचित हो रहा था कि दूसरे पक्ष की विजय की कोई आशा न थी क्योंकि कृष्ण पाण्डवों के पक्ष में थे। जयस्तु पाण्डुपुत्राणां येषां पक्षे जनार्दनः — जय सदा पाण्डु के पुत्र-जैसों की होती है क्योंकि भगवान् कृष्ण उनके साथ हैं। और जहाँ जहाँ भगवान् विद्यमान हैं, वहीं वहीं लक्ष्मी भी रहती हैं क्योंकि वे अपने पति के बिना नहीं रह सकतीं। अतः जैसा कि विष्णु या भगवान् कृष्ण के शंख द्वारा उत्पन्न दिव्य ध्वनि से सूचित हो रहा था, विजय तथा श्री दोनों ही अर्जुन की प्रतीक्षा कर रही थीं। इसके अतिरिक्त, जिस रथ में दोनों मित्र आसीन थे वह अर्जुन को अग्नि देवता द्वारा प्रदत्त था और इससे सूचित हो रहा था कि तीनों लोकों में जहाँ कहीं भी यह जायेगा, वहाँ विजय निश्चित है।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥१५॥

पाञ्चजन्यम्—पाञ्चजन्य नामक; **हृषीकेशः**—हृषीकेश (कृष्ण जो भक्तों की इन्द्रियों को निर्देश करते हैं) ने; **देवदत्तम्**—देवदत्त नामक शंख; **धनम्-जयः**—धनञ्जय (अर्जुन, धन को जीतने वाला) ने; **पौण्ड्रम्**—पौण्ड्र नामक शंख; **दध्मौ**—बजाया; **महा-शङ्खम्**—भीषण शंख; **भीम-कर्मा**—अतिमानवीय कर्म करने वाले; **वृक-उदरः**—(अतिभोजी) भीम ने।

भगवान् कृष्ण ने अपना पाञ्चजन्य शंख बजाया, अर्जुन ने देवदत्त शंख तथा अतिभोजी एवं अतिमानवीय कार्य करने वाले भीम ने पौण्ड्र नामक भयंकर शंख बजाया।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् कृष्ण को हृषीकेश कहा गया है क्योंकि वे ही समस्त इन्द्रियों के स्वामी हैं। सारे जीव उनके भिन्नांश हैं अतः जीवों की इन्द्रियाँ भी उनकी इन्द्रियों के अंश हैं। चूँकि निर्विशेषवादी जीवों की इन्द्रियों का कारण बताने में असमर्थ हैं इसीलिए वे जीवों को इन्द्रियरहित या निर्विशेष कहने के लिए उत्सुक रहते हैं। भगवान् समस्त जीवों के हृदयों में स्थित होकर उनकी इन्द्रियों का निर्देशन करते हैं। किन्तु वे इस तरह निर्देशन करते हैं कि जीव उनकी शरण ग्रहण कर ले और विशुद्ध भक्त की इन्द्रियों का तो वे प्रत्यक्ष निर्देशन करते हैं। यहाँ कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में भगवान् कृष्ण अर्जुन की दिव्य इन्द्रियों का निर्देशन करते हैं इसीलिए उनको हृषीकेश कहा गया है। भगवान् के विविध कार्यों के अनुसार उनके भिन्न-भिन्न नाम हैं। उदाहरणार्थ, इनका एक नाम मधुसूदन है क्योंकि उन्होंने मधु नाम के असुर को मारा था, वे गौवों तथा इन्द्रियों को आनन्द देने के कारण गोविन्द कहलाते हैं, वसुदेव के पुत्र होने के कारण इनका नाम वासुदेव है, देवकी को माता रूप में स्वीकार करने के कारण इनका नाम देवकीनन्दन है, वृन्दावन में यशोदा के साथ बाल-लीलाएँ करने के कारण वे यशोदानन्दन हैं, अपने मित्र अर्जुन का सारथी बनने के कारण पार्थसारथी हैं। इसी प्रकार उनका एक नाम हृषीकेश है, क्योंकि उन्होंने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन का निर्देशन किया।

इस श्लोक में अर्जुन को धनञ्जय कहा गया है क्योंकि जब इनके बड़े भाई को

विभिन्न यज्ञ सम्पन्न करने के लिए धन की आवश्यकता हुई थी तो उसे प्राप्त करने में इन्होंने सहायता की थी। इसी प्रकार भीम वृकोदर कहलाते हे क्योंकि जैसे वे अधिक खाते हैं उसी प्रकार वे अतिमानवीय कार्य करने वाले हे, जैसे हिडिम्बासुर का वध। अत. पाण्डवों के पक्ष में श्रीकृष्ण इत्यादि विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विशेष प्रकार के शंखों का बजाया जाना युद्ध करने वाले सैनिकों के लिए अत्यन्त प्रेरणाप्रद था। विपक्ष में ऐसा कुछ न था, न तो परम निदेशक भगवान् कृष्ण थे, न ही भाग्य की देवी (श्री) थीं। अत. युद्ध में उनकी पराजय पूर्वनिश्चित थी—शखों की ध्वनि मानो यही सन्देश दे रही थी।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥ १६॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥ १७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥ १८॥

अनन्त-विजयम्—अनन्त विजय नाम का शख **राजा**—राजा, **कुन्ती-पुत्रः**—कुन्ती के पुत्र, **युधिष्ठिरः**—युधिष्ठिर, **नकुलः**—नकुल, **सहदेवः**—सहदेव ने; **च**—तथा, **सुघोष-मणिपुष्पकौ**—सुघोष तथा मणिपुष्पक नामक शख, **काश्यः**—काशी (वाराणसी) के राजा ने, **च**—तथा, **परम-ईषु-आस.**—महान धनुर्धर, **शिखण्डी**—शिखण्डी ने, **च**—भी, **महा-रथः**—हजारों से अकेले लड़ने वाले, **धृष्टद्युम्नः**—धृष्टद्युम्न (राजा द्रुपद के पुत्र)ने, **विराटः**—विराट (राजा जिसने पाण्डवों को उनके अज्ञात-वास के समय शरण दी)ने; **च**—भी, **सात्यकिः**—सात्यकि (युयुधान, श्रीकृष्ण के साथी) ने, **च**—तथा; **अपराजितः**—कभी न जीता जाने वाला, सदा विजयी **द्रुपदः**—द्रुपद, पचाल के राजा ने, **द्रौपदेयाः**—द्रौपदी के पुत्रों ने, **च**—भी, **सर्वशः**—सभी, **पृथिवी-पते**—हे राजा, **सौभद्रः**—सुभद्रापुत्र अभिमन्यु ने, **च**—भी, **महा-बाहुः**—विशाल भुजाओं वाला, **शङ्खान्**—शख, **दध्मुः**—बजाए, **पृथक्-पृथक्**—अलग अलग।

हे राजन्! कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अपना अनंतविजय नामक शंख बजाया तथा नकुल और सहदेव ने सुघोष एवं मणिपुष्पक शंख बजाये। महान धनुर्धर काशीराज, परम योद्धा शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजेय सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदी के पुत्र तथा सुभद्रा के महाबाहु पुत्र आदि सबों ने अपने-अपने शंख बजाये।

तात्पर्य : सजय ने राजा धृतराष्ट्र को अत्यन्त चतुराई से यह बताया कि पाण्डु के पुत्रों को धोखा देने तथा राज्यसिंहासन पर अपने पुत्रों को आसीन कराने की यह अविवेकपूर्ण नीति श्लाघनीय नहीं थी। लक्षणों से पहले से ही यह सूचित हो रहा था कि इस महायुद्ध में सारा कुरुवश मारा जायेगा। भीष्म पितामह से लेकर अभिमन्यु तथा अन्य पौत्रों तक विश्व के अनेक देशों के राजाओं समेत उपस्थित सारे के सारे लोगों का विनाश निश्चित था। यह सारी दुर्घटना राजा धृतराष्ट्र के कारण होने जा रही थी क्योंकि उसने पुत्रों की कुनीति को प्रोत्साहन दिया था।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलोऽभ्यनुनादयन्॥ १९॥

सः—उस; घोषः—शब्द ने; धार्तराष्ट्राणाम्—धृतराष्ट्र के पुत्रों के; हृदयानि—हृदयों को; व्यदारयत्—विदीर्ण कर दिया; नभः—आकाश; च—भी; पृथिवीम्—पृथ्वीतल को; च—भी; एव—निश्चय ही; तुमुलः—कोलाहलपूर्ण; अभ्यनुनादयन्—प्रतिध्वनित करता, शब्दायमान करता।

इन विभिन्न शंखों की ध्वनि कोलाहलपूर्ण बन गई जो आकाश तथा पृथ्वी को शब्दायमान करती हुई धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदयों को विदीर्ण करने लगी।

तात्पर्य : जब भीष्म तथा दुर्योधन के पक्ष के अन्य वीरों ने अपने-अपने शंख बजाये तो पाण्डवों के हृदय विदीर्ण नहीं हुए। ऐसी घटनाओं का वर्णन नहीं मिलता किन्तु इस विशिष्ट श्लोक में कहा गया है कि पाण्डव पक्ष के शंखनाद से धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदय विदीर्ण हो गये। इसका कारण स्वयं पाण्डव और भगवान् कृष्ण में उनका विश्वास है। परमेश्वर की शरण ग्रहण करने वाले को किसी प्रकार का भय नहीं रह जाता चाहे वह कितनी ही विपत्ति में क्यों न हो।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते॥ २०॥

अथ—तत्पश्चात्; व्यवस्थितान्—स्थित; दृष्ट्वा—देखकर; धार्तराष्ट्रान्—धृतराष्ट्र के पुत्रों को; कपिध्वजः—जिसकी पताका पर हनुमान अंकित हैं; प्रवृत्ते—कटिबद्ध; शस्त्र-सम्पाते—बाण चलाने के लिए; धनुः—धनुष; उद्यम्य—ग्रहण करके, उठाकर; पाण्डवः—पाण्डुपुत्र (अर्जुन) ने; हृषीकेशम्—भगवान् कृष्ण से; तदा—उस समय; वाक्यम्—वचन; इदम्—ये; आह—कहे; मही-पते—हे राजा।

उस समय हनुमान से अंकित ध्वजा लगे रथ पर आसीन पाण्डुपुत्र अर्जुन अपना धनुष उठा कर तीर चलाने के लिए उद्यत हुआ। हे राजन्! धृतराष्ट्र के पुत्रों को व्यूह में खड़ा देखकर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से ये वचन कहे।

तात्पर्य : युद्ध प्रारम्भ होने ही वाला था। उपर्युक्त कथन से ज्ञात होता है कि पाण्डवों की सेना की अप्रत्याशित व्यवस्था से धृतराष्ट्र के पुत्र बहुत कुछ निरुत्साहित थे क्योंकि युद्धभूमि में पाण्डवों का निर्देशन भगवान् कृष्ण के आदेशानुसार हो रहा था। अर्जुन की ध्वजा पर हनुमान का चिन्ह भी विजय का सूचक है क्योंकि हनुमान ने राम तथा रावण युद्ध में राम की सहायता की थी जिसमें राम विजयी हुए थे। इस समय अर्जुन की सहायता के लिए उनके रथ पर राम तथा हनुमान दोनों उपस्थित थे। भगवान् कृष्ण साक्षात् राम हैं और जहाँ भी राम रहते हैं वहाँ उनका नित्य सेवक हनुमान होता है तथा उनकी नित्यसंगिनी, वैभव की देवी सीता उपस्थित रहती हैं। अतः अर्जुन के लिए किसी भी शत्रु से भय का कोई कारण नहीं था। इससे भी अधिक इन्द्रियों के स्वामी भगवान्

कृष्ण निर्देश देने के लिए साक्षात् उपस्थित थे। इस प्रकार अर्जुन को युद्ध करने के मामले में सारा सत्परामर्श प्राप्त था। ऐसी स्थितियों में, जिनकी व्यवस्था भगवान् ने अपने शाश्वत भक्त के लिए की थी, निश्चित विजय के लक्षण स्पष्ट थे।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्॥ २१॥
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे॥ २२॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा, *सेनयोः*—सेनाओं के, *उभयोः*—दोनों; *मध्ये*—बीच में, *रथम्*—रथ को, *स्थापय*—कृपया खड़ा करें; *मे*—मेरे; *अच्युत*—हे अच्युत; *यावत्*—जब तक; *एतान्*—इन सब, *निरीक्षे*—देख सकूँ; *अहम्*—मैं, *योद्धु-कामान्*—युद्ध की इच्छा रखने वालों को, *अवस्थितान्*—युद्धभूमि में एकत्र; *कैः*—किन-किन से; *मया*—मेरे द्वारा; *सह*—एक साथ, *योद्धव्यम्*—युद्ध किया जाना है; *अस्मिन्*—इस; *रण*—संघर्ष, झगड़ा के, *समुद्यमे*—उद्यम या प्रयास में।

अर्जुन ने कहा—हे अच्युत! कृपा करके मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच ले चलें जिससे मैं यहाँ उपस्थित युद्ध की अभिलाषा रखने वालों को और शस्त्रों की इस महान परीक्षा में, जिनसे मुझे संघर्ष करना है, उन्हें देख सकूँ।

तात्पर्य : यद्यपि श्रीकृष्ण साक्षात् श्रीभगवान् हैं, किन्तु वे अहेतुकी कृपावश अपने मित्र की सेवा में लगे हुए थे। वे अपने भक्तों पर स्नेह दिखाने में कभी नहीं चूकते इसीलिए अर्जुन ने उन्हें अच्युत कहा है। सारथी रूप में उन्हें अर्जुन की आज्ञा का पालन करना था और उन्होंने इसमें कोई संकोच नहीं किया, अतः उन्हें अच्युत कह कर सम्बोधित किया गया है। यद्यपि उन्होंने अपने भक्त का सारथी-पद स्वीकार किया था, किन्तु इससे उनकी परम स्थिति अक्षुण्ण बनी रही। प्रत्येक परिस्थिति में वे इन्द्रियों के स्वामी श्रीभगवान् हृषीकेश हैं। भगवान् तथा उनके सेवक का सम्बन्ध अत्यन्त मधुर एवं दिव्य होता है। सेवक स्वामी की सेवा करने के लिए सदैव उद्यत रहता है और भगवान् भी भक्त की कुछ न कुछ सेवा करने की कोशिश में रहते हैं। वे इसमें विशेष आनन्द का अनुभव करते हैं कि वे स्वयं आज्ञादाता न बनें अपितु उनके शुद्ध भक्त उन्हें आज्ञा दें। चूँकि वे स्वामी हैं, अतः सभी लोग उनके आज्ञापालक हैं और उनके ऊपर उनको आज्ञा देने वाला कोई नहीं है। किन्तु जब वे देखते हैं कि उनका शुद्ध भक्त आज्ञा दे रहा है तो उन्हें दिव्य आनन्द मिलता है यद्यपि वे समस्त परिस्थितियों में अच्युत रहने वाले हैं।

भगवान् का शुद्ध भक्त होने के कारण अर्जुन को अपने बन्धु-बान्धवों से युद्ध करने की तनिक भी इच्छा न थी, किन्तु दुर्योधन द्वारा शान्तिपूर्ण समझौता न करके हठधर्मिता पर उतारू होने के कारण उसे युद्धभूमि में आना पड़ा। अतः वह यह जानने के लिए अत्यन्त उत्सुक था कि युद्धभूमि में कौन-कौन से अग्रणी व्यक्ति उपस्थित हैं। यद्यपि युद्धभूमि में शान्ति-प्रयासों का कोई प्रश्न नहीं उठता तो भी वह उन्हें फिर से देखना चाह रहा था और यह देखना चाह रहा था कि वे इस अवांछित युद्ध पर किस हद तक तुले हुए हैं।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥ २३॥

योत्स्यमानान्—युद्ध करने वालों को; अवेक्षे—देखूँ; अहम्—मैं; ये—जो; एते—वे; अत्र—यहाँ; समागताः—एकत्र; धार्तराष्ट्रस्य—धृतराष्ट्र के पुत्र की; दुर्बुद्धेः—दुर्बुद्धि; युद्धे—युद्ध में; प्रिय—मंगल, भला; चिकीर्षवः—चाहने वाले।

मुझे उन लोगों को देखने दीजिये जो यहाँ पर धृतराष्ट्र के दुर्बुद्धि पुत्र (दुर्योधन) को प्रसन्न करने की इच्छा से लड़ने के लिए आये हुए हैं।

तात्पर्य : यह सर्वविदित था कि दुर्योधन अपने पिता धृतराष्ट्र की साँठगाँठ से पापपूर्ण योजनाएँ बनाकर पाण्डवों के राज्य को हड़पना चाहता था। अतः जिन समस्त लोगों ने दुर्योधन का पक्ष ग्रहण किया था वे उसी के समानधर्मा रहे होंगे। अर्जुन युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व यह तो जान ही लेना चाहता था कि कौन-कौन से लोग आये हुए हैं। किन्तु उनके समक्ष समझौता का प्रस्ताव रखने की उसकी कोई योजना नहीं थी। यह भी तथ्य था कि वह उनकी शक्ति का, जिसका उसे सामना करना था, अनुमान लगाने की दृष्टि से उन्हें देखना चाह रहा था, यद्यपि उसे अपनी विजय का विश्वास था क्योंकि कृष्ण उसकी बगल में विराजमान थे।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥ २४॥

सञ्जयः उवाच—संजय ने कहा; एवम्—इस प्रकार; उक्तः—कहे गये; हृषीकेशः—भगवान् कृष्ण ने; गुडाकेशेन—अर्जुन द्वारा; भारत—हे भरत के वंशज; सेनयोः—सेनाओं के; उभयोः—दोनों; मध्ये—मध्य में; स्थापयित्वा—खड़ा करके; रथ-उत्तमम्—उस उत्तम रथ को।

संजय ने कहा—हे भरतवंशी! अर्जुन द्वारा इस प्रकार सम्बोधित किये जाने पर भगवान् कृष्ण ने दोनों दलों के बीच में उस उत्तम रथ को लाकर खड़ा कर दिया।

तात्पर्य : इस श्लोक में अर्जुन को गुडाकेश कहा गया है। *गुडाका* का अर्थ है नींद और जो नींद को जीत लेता है वह गुडाकेश है। नींद का अर्थ अज्ञान भी है। अतः अर्जुन ने कृष्ण की मित्रता के कारण नींद तथा अज्ञान दोनों पर विजय प्राप्त की थी। कृष्ण के भक्त के रूप में वह कृष्ण को क्षण भर भी नहीं भुला पाया क्योंकि भक्त का स्वभाव ही ऐसा होता है। यहाँ तक कि चलते अथवा सोते हुए भी कृष्ण के नाम, रूप, गुणों तथा लीलाओं के चिन्तन से भक्त कभी मुक्त नहीं रह सकता। अतः कृष्ण का भक्त उनका निरन्तर चिन्तन करते हुए नींद तथा अज्ञान दोनों को जीत सकता है। इसी को कृष्णभावनामृत या समाधि कहते हैं। प्रत्येक जीव की इन्द्रियों तथा मन के निर्देशक अर्थात् हृषीकेश के रूप में कृष्ण अर्जुन के मन्तव्य को समझ गये कि वह क्यों सेनाओं के मध्य में रथ को खड़ा करवाना चाहता है। अतः उन्होंने वैसा ही किया और फिर वे इस प्रकार बोले।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति॥ २५॥

भीष्म–भीष्म पितामह, **द्रोण**–गुरु द्रोण; **प्रमुखतः**–के समक्ष; **सर्वेषाम्**–सबों के, **च**–भी, **महीक्षिताम्**–संसार भर के राजा, **उवाच**–कहा, **पार्थ**–हे पृथा के पुत्र, **पश्य**–देखो; **एतान्**–इन सबों को, **समवेतान्**–एकत्रित, **कुरून्**–कुरुवंश के सदस्यों को; **इति**–इस प्रकार।

भीष्म, द्रोण तथा विश्व भर के अन्य समस्त राजाओं के सामने भगवान् ने कहा कि हे पार्थ! यहाँ पर एकत्र सारे कुरुओं को देखो।

तात्पर्य : समस्त जीवों के परमात्मास्वरूप भगवान् कृष्ण यह जानते थे कि अर्जुन के मन में क्या बीत रहा है। इस प्रसंग में हृषीकेश शब्द का प्रयोग सूचित करता है कि वे सब कुछ जानते थे। इसी प्रकार पार्थ शब्द अर्थात् पृथा या कुन्तीपुत्र भी अर्जुन के लिए प्रयुक्त होने के कारण महत्त्वपूर्ण है। मित्र के रूप में वे अर्जुन को बता देना चाहते थे कि चूँकि अर्जुन उनके पिता वसुदेव की बहन पृथा का पुत्र था इसीलिए उन्होंने अर्जुन का सारथी बनना स्वीकार किया था। किन्तु जब उन्होंने अर्जुन से "कुरुओं को देखो" कहा तो इससे उनका क्या अभिप्राय था? क्या अर्जुन वहीं पर रुक कर युद्ध करना नहीं चाहता था? कृष्ण को अपनी बुआ पृथा के पुत्र से कभी भी ऐसी आशा नहीं थी। इस प्रकार से कृष्ण ने अपने मित्र की मनःस्थिति की पूर्वसूचना परिहासवश दी है।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि॥ २६॥

तत्र–वहाँ, **अपश्यत्**–देखा, **स्थितान्**–खड़े, **पार्थः**–पार्थ ने, **पितॄन्**–पितरों (चाचा-ताऊ) को, **अथ**–भी, **पितामहान्**–पितामहों को, **आचार्यान्**–शिक्षकों को, **मातुलान्**–मामाओं को, **भ्रातॄन्**–भाइयों को, **पुत्रान्**–पुत्रों को, **पौत्रान्**–पौत्रों को, **सखीन्**–मित्रों को, **तथा**–और, **श्वशुरान्**–श्वसुरों को, **सुहृदः**–शुभचिन्तकों को, **च**–भी, **एव**–निश्चय ही, **सेनयोः**–सेनाओं के, **उभयोः**–दोनों पक्षों की, **अपि**–सहित।

अर्जुन ने वहाँ पर दोनों पक्षों की सेनाओं के मध्य में अपने चाचा-ताउओं, पितामहों, गुरुओं, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, मित्रों, ससुरों और शुभचिन्तकों को भी देखा।

तात्पर्य : अर्जुन युद्धभूमि में अपने सभी सम्बन्धियों को देख सका। वह अपने पिता के समकालीन भूरिश्रवा जैसे व्यक्तियों, भीष्म तथा सोमदत्त जैसे पितामहों, द्रोणाचार्य तथा कृपाचार्य जैसे गुरुओं, शल्य तथा शकुनि जैसे मामाओं, दुर्योधन जैसे भाइयों, लक्ष्मण जैसे पुत्रों, अश्वत्थामा जैसे मित्रों एवं कृतवर्मा जैसे शुभचिन्तकों को देख सका। वह उन सेनाओं को भी देख सका जिनमें उसके अनेक मित्र थे।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्॥ २७॥

तान्—उन सब को; समीक्ष्य—देखकर; सः—वह; कौन्तेयः—कुन्तीपुत्र; सर्वान्—सभी प्रकार के; बन्धून्—सम्बन्धियों को; अवस्थितान्—स्थित; कृपया—दयावश; परया—अत्यधिक; आविष्टः—अभिभूत; विषीदन्—शोक करता हुआ; इदम्—इस प्रकार; अब्रवीत्—बोला।

जब कुन्तीपुत्र अर्जुन ने मित्रों तथा सम्बन्धियों की इन विभिन्न श्रेणियों को देखा तो वह करुणा से अभिभूत हो गया और इस प्रकार बोला।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति॥ २८॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; दृष्ट्वा—देख कर; इमम्—इन सारे; स्वजनम्—सम्बन्धियों को; कृष्ण—हे कृष्ण; युयुत्सुम्—युद्ध की इच्छा रखने वाले; समुपस्थितम्—उपस्थित; सीदन्ति—काँप रहे हैं; मम—मेरे; गात्राणि—शरीर के अंग; मुखम्—मुँह; च—भी; परिशुष्यति—सूख रहा है।

अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण! इस प्रकार युद्ध की इच्छा रखने वाले अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों को अपने समक्ष उपस्थित देखकर मेरे शरीर के अंग काँप रहे हैं और मेरा मुँह सूखा जा रहा है।

तात्पर्य : यथार्थ भक्ति से युक्त मनुष्य में वे सारे सद्गुण रहते हैं जो सत्पुरुषों या देवताओं में पाये जाते हैं जबकि अभक्त अपनी शिक्षा तथा संस्कृति के द्वारा भौतिक योग्यताओं में चाहे कितना ही उन्नत क्यों न हो इन ईश्वरीय गुणों से विहीन होता है। अतः स्वजनों, मित्रों तथा सम्बन्धियों को युद्धभूमि में देखते ही अर्जुन उन सबों के लिए करुणा से अभिभूत हो गया, जिन्होंने परस्पर युद्ध करने का निश्चय किया था। जहाँ तक उसके अपने सैनिकों का सम्बन्ध था, वह उनके प्रति प्रारम्भ से दयालु था, किन्तु विपक्षी दल के सैनिकों की आसन्न मृत्यु को देखकर वह उन पर भी दया का अनुभव कर रहा था। और जब वह इस प्रकार सोच रहा था तो उसके अंगों में कंपन होने लगा और मुँह सूख गया। उन सबको युद्धाभिमुख देखकर उसे आश्चर्य भी हुआ। प्रायः सारा कुटुम्ब, अर्जुन के सगे सम्बन्धी उससे युद्ध करने आये थे। यद्यपि इसका उल्लेख नहीं है, किन्तु तो भी सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि न केवल उसके अंग काँप रहे थे और मुँह सूख रहा था अपितु वह दयावश रुदन भी कर रहा था। अर्जुन में ऐसे लक्षण किसी दुर्बलता के कारण नहीं अपितु हृदय की कोमलता के कारण थे जो भगवान् के शुद्ध भक्त का लक्षण है। अतः कहा गया है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः॥

"जो भगवान् के प्रति अविचल भक्ति रखता है उसमें देवताओं के सद्गुण पाये जाते हैं। किन्तु जो भगवद्भक्त नहीं है उसके पास भौतिक योग्यताएँ ही रहती हैं जिनका कोई मूल्य नहीं होता। इसका कारण यह है कि वह मानसिक धरातल पर मँडराता रहता है और ज्वलन्त माया के द्वारा अवश्य ही आकृष्ट होता है।" (भागवत ५.१८.१२)

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते॥ २९॥

वेपथुः–शरीर का कम्पन; च–भी; शरीरे–शरीर में; मे–मेरे; रोम-हर्षः–रोमांच; च–भी, जायते–उत्पन्न हो रहा है; गाण्डीवम्–अर्जुन का धनुष, गाण्डीव; स्रंसते–छूट या सरक रहा है; हस्तात्–हाथ से; त्वक्–त्वचा; च–भी; एव–निश्चय ही; परिदह्यते–जल रही है।

मेरा सारा शरीर काँप रहा है, मेरे रोंगटे खड़े हो रहे हैं, मेरा गाण्डीव धनुष मेरे हाथ से सरक रहा है और मेरी त्वचा जल रही है।

तात्पर्य : शरीर में दो प्रकार का कम्पन होता है और रोंगटे भी दो प्रकार से खड़े होते हैं। ऐसा या तो आध्यात्मिक परमानन्द के समय या भौतिक परिस्थितियों में अत्यधिक भय उत्पन्न होने पर होता है। दिव्य साक्षात्कार में कोई भय नहीं होता। इस अवस्था में अर्जुन के जो लक्षण हैं वे भौतिक भय अर्थात् जीवन की हानि के कारण हैं। अन्य लक्षणों से भी यह स्पष्ट है, वह इतना अधीर हो गया कि उसका विख्यात धनुष गाण्डीव उसके हाथों से सरक रहा था और उसकी त्वचा में जलन उत्पन्न हो रही थी। ये सब लक्षण देहात्मबुद्धि से जन्य हैं।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव॥ ३०॥

न–नहीं; च–भी; शक्नोमि–समर्थ हूँ; अवस्थातुम्–खड़े होने में; भ्रमति–भूलता हुआ; इव–सदृश; च–तथा; मे–मेरा; मनः–मन; निमित्तानि–कारण; च–भी; पश्यामि–देखता हूँ; विपरीतानि–बिल्कुल उल्टा; केशव–हे केशी असुर के मारने वाले (कृष्ण)।

मैं यहाँ अब और अधिक खड़ा रहने में असमर्थ हूँ। मैं अपने को भूल रहा हूँ और मेरा सिर चकरा रहा है। हे कृष्ण! मुझे तो केवल अमंगल के कारण दिख रहे हैं।

तात्पर्य : अपने अधैर्य के कारण अर्जुन युद्धभूमि में खड़ा रहने में असमर्थ था और अपने मन की इस दुर्बलता के कारण उसे आत्मविस्मृति हो रही थी। भौतिक वस्तुओं के प्रति अत्यधिक आसक्ति के कारण मनुष्य ऐसी मोहमयी स्थिति में पड़ जाता है। *भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्*–(भागवत ११.२.३७)—ऐसा भय तथा मानसिक असतुलन उन व्यक्तियों में उत्पन्न होता है जो भौतिक परिस्थितियों से ग्रस्त होते हैं। अर्जुन को युद्धभूमि में केवल दुखदायी पराजय की प्रतीति हो रही थी—वह शत्रु पर विजय पाकर भी सुखी नहीं होगा। *निमित्तानि विपरीतानि* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। जब मनुष्य को अपनी आशाओं में केवल निराशा दिखती है तो वह सोचता है "मैं यहाँ क्यों हूँ?" प्रत्येक प्राणी अपने में तथा अपने स्वार्थ में रुचि रखता है। किसी की भी परमात्मा में रुचि नहीं होती। कृष्ण की इच्छा से अर्जुन अपने स्वार्थ के प्रति अज्ञान दिखा रहा है। मनुष्य का वास्तविक स्वार्थ तो विष्णु या कृष्ण में निहित है। बद्धजीव इसे भूल जाता है इसीलिए उसे भौतिक कष्ट उठाने पड़ते हैं। अर्जुन ने सोचा कि उसकी विजय केवल उसके शोक का कारण बन सकती है।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च॥ ३१॥

न–न तो; च–भी; श्रेयः–कल्याण; अनुपश्यामि–पहले से देख रहा हूँ; हत्वा–मार कर; स्वजनम्–अपने सम्बन्धियों को; आहवे–युद्ध में; न–न तो; काङ्क्षे–आकांक्षा करता हूँ; विजयम्–विजय; कृष्ण–हे कृष्ण; न–न तो; च–भी; राज्यम्–राज्य; सुखानि–उसका सुख; च–भी।

हे कृष्ण! इस युद्ध में अपने ही स्वजनों का वध करने से न तो मुझे कोई अच्छाई दिखती है और न, मैं उससे किसी प्रकार की विजय, राज्य या सुख की इच्छा रखता हूँ।

तात्पर्य : यह जाने बिना कि मनुष्य का स्वार्थ विष्णु (या कृष्ण) में है सारे बद्धजीव शारीरिक सम्बन्धों के प्रति यह सोच कर आकर्षित होते हैं कि वे ऐसी परिस्थितियों में प्रसन्न रहेंगे। ऐसी देहात्मबुद्धि के कारण वे भौतिक सुख के कारणों को भी भूल जाते हैं। अर्जुन तो क्षत्रिय का नैतिक धर्म भी भूल गया था। कहा जाता है कि दो प्रकार के मनुष्य परम शक्तिशाली तथा जाज्वल्यमान सूर्यमण्डल में प्रवेश करने के योग्य होते हैं। ये हैं- एक तो क्षत्रिय जो कृष्ण की आज्ञा से युद्ध में मरता है तथा दूसरा संन्यासी जो आध्यात्मिक अनुशीलन में लगा रहता है। अर्जुन अपने शत्रुओं को भी मारने से विमुख हो रहा है—अपने सम्बन्धियों की बात तो छोड़ दें। वह सोचता है कि स्वजनों को मारने से उसे जीवन में सुख नहीं मिल सकेगा, अतः वह लड़ने के लिए इच्छुक नहीं है, जिस प्रकार कि भूख न लगने पर कोई भोजन बनाने को तैयार नहीं होता। उसने तो वन जाने का निश्चय कर लिया है जहाँ वह एकांत में निराशापूर्ण जीवन काट सके। किन्तु क्षत्रिय होने के नाते उसे अपने जीवननिर्वाह के लिए राज्य चाहिए क्योंकि क्षत्रिय कोई अन्य कार्य नहीं कर सकता। किन्तु अर्जुन के पास राज्य कहाँ है? उसके लिए तो राज्य प्राप्त करने का एकमात्र अवसर है कि अपने बन्धु-बान्धवों से लड़कर अपने पिता के राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त करे जिसे वह करना नहीं चाह रहा है। इसीलिए वह अपने को जंगल में एकान्तवास करके निराशा का एकांत जीवन बिताने के योग्य समझता है।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च॥ ३२॥
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः॥ ३३॥
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन॥ ३४॥
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते।
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन॥ ३५॥

किम्–क्या लाभ, नः–हमको; राज्येन–राज्य से, गोविन्द–हे कृष्ण, किम्–क्या; भोगैः–भोग से; जीवितेन–जीवित रहने से, वा–अथवा; येषाम्–जिनके; अर्थे–लिए, काङ्क्षितम्–इच्छित है; नः–हमारे द्वारा, राज्यम्–राज्य, भोगाः–भौतिक भोग; सुखानि–समस्त सुख, च–भी, ते–वे, इमे–ये, अवस्थिताः–स्थित; युद्धे–युद्धभूमि में; प्राणान्–जीवन को, त्यक्त्वा–त्याग कर; धनानि–धन को, च–भी, आचार्याः–गुरुजन, पितरः–पितृगण, पुत्राः–पुत्रगण, तथा–और, एव–निश्चय ही, च–भी, पितामहाः–पितामह; मातुलाः–मामा लोग, श्वशुराः–श्वसुर; पौत्राः–पौत्र, श्यालाः–साले, सम्बन्धिनः–सम्बन्धी, तथा–तथा; एतान्–ये सब, न–कभी नहीं, हन्तुम्–मारना, इच्छामि–चाहता हूँ, घ्नतः–मारे जाने पर; अपि–भी, मधुसूदन–हे मधु असुर के मारने वाले (कृष्ण), अपि–तो भी, त्रै-लोक्य–तीनों लोकों के; राज्यस्य–राज्य के, हेतोः–विनिमय में, किम् नु–क्या कहा जाय, मही-कृते–पृथ्वी के लिए, निहत्य–मारकर; धार्तराष्ट्रान्–धृतराष्ट्र के पुत्रों को; नः–हमारी, का–क्या, प्रीतिः–प्रसन्नता, स्यात्–होगी, जनार्दन–हे जीवों के पालक।

हे गोविन्द! हमें राज्य, सुख अथवा इस जीवन से क्या लाभ! क्योंकि जिन सारे लोगों के लिए हम उन्हें चाहते हैं वे ही इस युद्धभूमि में खड़े हैं। हे मधुसूदन! जब गुरुजन, पितृगण, पुत्रगण, पितामह, मामा, ससुर, पौत्रगण, साले तथा अन्य सारे सम्बन्धी अपना अपना धन एवं प्राण देने के लिए तत्पर हैं और मेरे समक्ष खड़े हैं तो फिर मैं इन सबको क्यों मारना चाहूँगा, भले ही वे मुझे क्यों न मार डालें? हे जीवों के पालक! मैं इन सबों से लड़ने को तैयार नहीं, भले ही बदले में मुझे तीनों लोक क्यों न मिलते हों, इस पृथ्वी की तो बात ही छोड़ दें। भला धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें कौन सी प्रसन्नता मिलेगी?

तात्पर्य : अर्जुन ने भगवान् कृष्ण को गोविन्द कहकर सम्बोधित किया क्योंकि वे गौवों तथा इन्द्रियों की समस्त प्रसन्नता के विषय हैं। इस विशिष्ट शब्द का प्रयोग करके अर्जुन संकेत करता है कि कृष्ण यह समझें कि अर्जुन की इन्द्रियाँ कैसे तृप्त होंगी। किन्तु गोविन्द हमारी इन्द्रियों को तुष्ट करने के लिए नहीं हैं। हाँ, यदि हम गोविन्द की इन्द्रियों को तुष्ट करने का प्रयास करते हैं तो हमारी इन्द्रियाँ स्वतः तुष्ट होती हैं। भौतिक दृष्टि से, प्रत्येक व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहता है और चाहता है कि ईश्वर उसके आज्ञापालक की तरह काम करें। किन्तु ईश्वर उनकी तृप्ति वहीं तक करते हैं जितनी के वे पात्र होते हैं—उस हद तक नहीं जितना वे चाहते हैं। किन्तु जब कोई इसके विपरीत मार्ग ग्रहण करता है अर्थात् जब वह अपनी इन्द्रियों की तृप्ति की चिन्ता न करके गोविन्द की इन्द्रियों की तुष्टि करने का प्रयास करता है तो गोविन्द की कृपा से जीव की सारी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं। यहाँ पर जाति तथा कुटुम्बियों के प्रति अर्जुन का प्रगाढ स्नेह आंशिक रूप से इन सबके प्रति उसकी स्वाभाविक करुणा के कारण है। अतः वह युद्ध करने के लिए तैयार नहीं है। हर व्यक्ति अपने वैभव का प्रदर्शन अपने मित्रों तथा परिजनों के समक्ष करना चाहता है किन्तु अर्जुन को भय है कि उसके सारे मित्र तथा परिजन युद्धभूमि में मारे जायेंगे और वह विजय के पश्चात् उनके साथ अपने वैभव का उपयोग नहीं कर सकेगा। भौतिक जीवन का यह सामान्य लेखाजोखा है। किन्तु आध्यात्मिक जीवन इससे सर्वथा भिन्न होता है। चूँकि भक्त भगवान् की इच्छाओं —

करना चाहता है अतः भगवद्-इच्छा होने पर वह भगवान् की सेवा के लिए सारे ऐश्वर्य स्वीकार कर सकता है किन्तु यदि भगवद्-इच्छा न हो तो वह एक पैसा भी ग्रहण नहीं करता। अर्जुन अपने सम्बन्धियों को मारना नहीं चाह रहा था और यदि उनको मारने की आवश्यकता हो तो अर्जुन की इच्छा थी कि कृष्ण स्वयं उनका वध करें। इस समय उसे यह पता नहीं है कि कृष्ण उन सबों को युद्धभूमि में आने के पूर्व ही मार चुके हैं और अब उसे निमित्त मात्र बनना है। इसका उद्घाटन अगले अध्यायों में होगा। भगवान् का असली भक्त होने के कारण अर्जुन अपने अत्याचारी बन्धु-बान्धवों से प्रतिशोध नहीं लेना चाहता था किन्तु यह तो भगवान् की योजना थी कि सबका वध हो। भगवद्भक्त दुष्टों से प्रतिशोध नहीं लेना चाहते किन्तु भगवान् दुष्टों द्वारा भक्त के उत्पीड़न को सहन नहीं कर पाते। भगवान् किसी व्यक्ति को अपनी इच्छा से क्षमा कर सकते हैं किन्तु यदि कोई उनके भक्तों को हानि पहुँचाता है तो वे उसे क्षमा नहीं करते। इसीलिए भगवान् इन दुराचारियों का वध करने के लिए उद्यत थे यद्यपि अर्जुन उन्हें क्षमा करना चाहता था।

पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्सबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥३६॥

पापम्—पाप; एव—निश्चय ही; आश्रयेत्—लगेगा; अस्मान्—हमको; हत्वा—मारकर; एतान्—इन सब; आततायिनः—आततायियों को; तस्मात्—अतः; न—कभी नहीं; अर्हाः—योग्य; वयम्—हम; हन्तुम्—मारने के लिए; धार्तराष्ट्रान्—धृतराष्ट्र के पुत्रों को; स-बान्धवान्—उनके मित्रों सहित; स्व-जनम्—कुटुम्बियों को; हि—निश्चय ही; कथम्—कैसे; हत्वा—मारकर; सुखिनः—सुखी; स्याम—हम होंगे; माधव—हे लक्ष्मीपति कृष्ण।

यदि हम ऐसे आततायियों का वध करते हैं तो हम पर पाप चढ़ेगा, अतः यह उचित नहीं होगा कि हम धृतराष्ट्र के पुत्रों तथा उनके मित्रों का वध करें। हे लक्ष्मीपति कृष्ण! इससे हमें क्या लाभ होगा? और अपने ही कुटुम्बियों को मार कर हम किस प्रकार सुखी हो सकते हैं?

तात्पर्य : वैदिक आदेशानुसार आततायी छः प्रकार के होते हैं—(१) विष देने वाला, (२) घर में अग्नि लगाने वाला, (३) घातक हथियार से आक्रमण करने वाला, (४) धन लूटने वाला, (५) दूसरे की भूमि हड़पने वाला, तथा (६) पराई स्त्री का अपहरण करने वाला। ऐसे आततायियों का तुरन्त वध कर देना चाहिए क्योंकि इनके वध से कोई पाप नहीं लगता। आततायियों का इस तरह वध करना किसी सामान्य व्यक्ति को शोभा दे सकता है किन्तु अर्जुन कोई सामान्य व्यक्ति नहीं है। वह स्वभाव से साधु है अतः वह उनके साथ साधुवत् व्यवहार करना चाहता था। किन्तु इस प्रकार का व्यवहार क्षत्रिय के लिए उपयुक्त नहीं है। यद्यपि राज्य के प्रशासन के लिए उत्तरदायी व्यक्ति को साधु प्रकृति का होना चाहिए किन्तु उसे कायर नहीं होना चाहिए। उदाहरणार्थ, भगवान् राम इतने साधु

थे कि आज भी लोग रामराज्य में रहना चाहते हैं किन्तु उन्होंने कभी कायरता प्रदर्शित नहीं की। रावण आततायी था क्योंकि वह राम की पत्नी सीता का अपहरण करके ले गया था किन्तु राम ने उसे ऐसा पाठ पढ़ाया जो विश्व-इतिहास में बेजोड़ है। अर्जुन के प्रसंग में विशिष्ट प्रकार के आततायियों से भेंट होती है—ये हैं उसके निजी पितामह, आचार्य, मित्र, पुत्र, पौत्र इत्यादि। इसलिए अर्जुन ने विचार किया कि उनके प्रति वह सामान्य आततायियों जैसा कटु व्यवहार न करे। इसके अतिरिक्त, साधु पुरुषों को तो क्षमा करने की सलाह दी जाती है। साधु पुरुषों के लिए ऐसे आदेश किसी राजनीतिक आपातकाल से अधिक महत्त्व रखते हैं। इसलिए अर्जुन ने विचार किया कि राजनीतिक कारणों से स्वजनों का वध करने की अपेक्षा धर्म तथा सदाचार की दृष्टि से उन्हें क्षमा कर देना श्रेयस्कर होगा। अतः क्षणिक शारीरिक सुख के लिए इस तरह वध करना लाभप्रद नहीं होगा। अन्ततः जब सारा राज्य तथा उससे प्राप्त सुख स्थायी नहीं हैं तो फिर अपने स्वजनों को मार कर वह अपने ही जीवन तथा शाश्वत मुक्ति को संकट मे क्यों डाले? अर्जुन द्वारा 'कृष्ण' को 'माधव' अथवा 'लक्ष्मीपति' के रूप में सम्बोधित करना भी सार्थक है। वह लक्ष्मीपति कृष्ण को यह बताना चाह रहा था कि वे उसे ऐसा काम करने के लिए प्रेरित न करें, जिससे अनिष्ट हो। किन्तु कृष्ण कभी भी किसी का अनिष्ट नही चाहते, भक्तों का तो कदापि नहीं।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥३७॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥३८॥

यदि—यदि; **अपि**—भी, **एते**—ये; **न**—नहीं; **पश्यन्ति**—देखते हैं, **लोभ**—लोभ से, **उपहत**—अभिभूत, **चेतसः**—चित्त वाले; **कुल-क्षय**—कुल-नाश, **कृतम्**—किया हुआ, **दोषम्**—दोष को, **मित्र-द्रोहे**—मित्रों से विरोध करने में; **च**—भी; **पातकम्**—पाप को; **कथम्**—क्यों, **न**—नहीं, **ज्ञेयम्**—जानना चाहिए, **अस्माभिः**—हमारे द्वारा, **पापात्**—पापों से, **अस्मात्**—इन, **निवर्तितुम्**—बन्द करने के लिए, **कुल-क्षय**—वंश का नाश; **कृतम्**—हो जाने पर, **दोषम्**—अपराध, **प्रपश्यद्भिः**—देखने वालों के द्वारा, **जनार्दन**—हे कृष्ण!

हे जनार्दन! यद्यपि लोभ से अभिभूत चित्त वाले ये लोग अपने परिवार को मारने या अपने मित्रों से द्रोह करने में कोई दोष नहीं देखते किन्तु हम लोग, जो परिवार के विनष्ट करने में अपराध देख सकते हैं, ऐसे पापकर्मों में क्यों प्रवृत्त हों?

तात्पर्य : क्षत्रिय से यह आशा नहीं की जाती कि वह अपने विपक्षी दल द्वारा युद्ध करने या जुआ खेलने का आमन्त्रण दिये जाने पर मना करे। ऐसी अनिवार्यता में अर्जुन लड़ने से नकार नहीं सकता क्योंकि उसको दुर्योधन के दल ने ललकारा था। इस प्रसग में अर्जुन ने विचार किया कि हो सकता है कि दूसरा पक्ष इस ललकार के परिणामों के प्रति अनभिज्ञ हो। किन्तु अर्जुन को तो दुष्परिणाम दिखाई पड़ रहे थे अतः वह इस ललकार को स्वीकार नहीं कर सकता। यदि परिणाम अच्छा हो तो कर्तव्य वस्तुतः

पालनीय है किन्तु यदि परिणाम विपरीत हो तो हम उसके लिए बाध्य नहीं होते। इन पक्ष-विपक्षों पर विचार करके अर्जुन ने युद्ध न करने का निश्चय किया।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥ ३९॥

कुल-क्षये—कुल का नाश होने पर; **प्रणश्यन्ति**—विनष्ट हो जाती हैं; **कुल-धर्माः**—पारिवारिक परम्पराएँ; **सनातनाः**—शाश्वत; **धर्मे**—धर्म; **नष्टे**—नष्ट होने पर; **कुलम्**—कुल को; **कृत्स्नम्**—सम्पूर्ण; **अधर्मः**—अधर्म; **अभिभवति**—बदल देता है; **उत**—कहा जाता है।

कुल का नाश होने पर सनातन कुल-परम्परा नष्ट हो जाती है और इस तरह शेष कुल भी अधर्म में प्रवृत्त हो जाता है।

तात्पर्य : वर्णाश्रम व्यवस्था में धार्मिक परम्पराओं के अनेक नियम हैं जिनकी सहायता से परिवार के सदस्य ठीक से उन्नति करके आध्यात्मिक मूल्यों की उपलब्धि कर सकते हैं। परिवार में जन्म से लेकर मृत्यु तक के सारे संस्कारों के लिए वयोवृद्ध लोग उत्तरदायी होते हैं। किन्तु इन वयोवृद्धों की मृत्यु के पश्चात् संस्कार सम्बन्धी पारिवारिक परम्पराएँ रुक जाती हैं और परिवार के जो तरुण सदस्य बचे रहते हैं वे अधर्ममय व्यसनों में प्रवृत्त होने से मुक्ति-लाभ से वंचित रह सकते हैं। अतः किसी भी कारणवश परिवार के वयोवृद्धों का वध नहीं होना चाहिए।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः॥ ४०॥

अधर्म—अधर्म; **अभिभवात्**—प्रमुख होने से; **कृष्ण**—हे कृष्ण; **प्रदुष्यन्ति**—दूषित हो जाती हैं; **कुल-स्त्रियः**—कुल की स्त्रियाँ; **स्त्रीषु**—स्त्रीत्व के; **दुष्टासु**—दूषित होने से; **वार्ष्णेय**—हे वृष्णिवंशी; **जायते**—उत्पन्न होती है; **वर्ण-सङ्करः**—अवांछित सन्तान।

हे कृष्ण! जब कुल में अधर्म प्रमुख हो जाता है तो कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं और स्त्रीत्व के पतन से हे वृष्णिवंशी! अवांछित सन्तानें उत्पन्न होती हैं।

तात्पर्य : जीवन में शान्ति, सुख तथा आध्यात्मिक उन्नति का मुख्य सिद्धान्त मानव समाज में अच्छी सन्तान का होना है। वर्णाश्रम धर्म के नियम इस प्रकार बनाये गये थे कि राज्य तथा जाति की आध्यात्मिक उन्नति के लिए समाज में अच्छी सन्तान उत्पन्न हो। ऐसी सन्तान समाज में स्त्री के सतीत्व और उसकी निष्ठा पर निर्भर करती है। जिस प्रकार बालक सरलता से कुमार्गगामी बन जाते हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ भी पतनोन्मुखी होती हैं। अतः बालकों तथा स्त्रियों दोनों को ही समाज के वयोवृद्धों का संरक्षण आवश्यक है। स्त्रियाँ विभिन्न धार्मिक प्रथाओं में संलग्न रहने पर व्यभिचारिणी नहीं होंगी। चाणक्य पंडित के अनुसार सामान्यतया स्त्रियाँ अधिक बुद्धिमान नहीं होतीं अतः वे विश्वसनीय नहीं हैं। इसलिए उन्हें विविध कुल-परम्पराओं में व्यस्त रहना चाहिए और इस तरह उनके सतीत्व तथा अनुरक्ति से ऐसी सन्तान जन्मेगी जो वर्णाश्रम धर्म में भाग लेने के योग्य होगी। ऐसे वर्णाश्रम-धर्म के विनाश से यह स्वाभाविक है कि स्त्रियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक

पुरुषों से मिल सकेंगी और व्यभिचार को प्रश्रय मिलेगा जिससे अवांछित सन्तानें उत्पन्न होंगी। निठल्ले लोग भी समाज में व्यभिचार को प्रेरित करते हैं और इस तरह अवांछित बच्चों की बाढ़ आ जाती है जिससे मानव जाति पर युद्ध और महामारी का संकट छा जाता है।

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥ ४१॥

सङ्करः–ऐसे अवांछित बच्चे; **नरकाय**–नारकीय जीवन के लिए; **एव**–निश्चय ही; **कुल-घ्नानाम्**–कुल का वध करने वालों के; **कुलस्य**–कुल के; **च**–भी; **पतन्ति**–गिर जाते हैं; **पितरः**–पितृगण; **हि**–निश्चय ही; **एषाम्**–इनके; **लुप्त**–समाप्त; **पिण्ड**–पिण्ड अर्पण की; **उदक**–तथा जल की **क्रियाः**–क्रिया, कृत्य।

अवांछित सन्तानों की वृद्धि से निश्चय ही परिवार के लिए तथा पारिवारिक परम्परा को विनष्ट करने वालों के लिए नारकीय जीवन उत्पन्न होता है। ऐसे पतित कुलों के पुरखे (पितर लोग) गिर जाते हैं क्योंकि उन्हें जल तथा पिण्ड दान देने की क्रियाएँ समाप्त हो जाती हैं।

तात्पर्य : सकाम कर्म के विधिविधानों के अनुसार कुल के पितरों को समय-समय पर जल तथा पिण्डदान दिया जाना चाहिए। यह दान विष्णु पूजा द्वारा किया जाता है क्योंकि विष्णु को अर्पित भोजन के उच्छिष्ट भाग (प्रसाद) के खाने से सारे पापकर्मों से उद्धार हो जाता है। कभी-कभी पितरगण विविध प्रकार के पापकर्मों से ग्रस्त हो सकते हैं और कभी-कभी उनमें से कुछ को स्थूल शरीर प्राप्त न हो सकने के कारण उन्हें प्रेतों के रूप में सूक्ष्म शरीर धारण करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। अतः जब वंशजों द्वारा पितरों को बचा प्रसाद अर्पित किया जाता है तो उनका प्रेतयोनि या अन्य प्रकार के दुखमय जीवन से उद्धार होता है। पितरों को इस तरह की सहायता पहुँचाना कुल-परम्परा है और जो लोग भक्ति का जीवन-यापन नहीं करते उन्हें ये अनुष्ठान करने होते हैं। केवल भक्ति करने से मनुष्य सैकड़ों क्या हजारों पितरों को ऐसे संकटों से उबार सकता है। *भागवत* में (११.५.४१) कहा गया है–

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

"जो पुरुष अन्य समस्त कर्तव्यों को त्याग कर मुक्ति के दाता मुकुन्द के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है और इस पथ पर गम्भीरतापूर्वक चलता है वह देवताओं, मुनियों, सामान्य जीवों, स्वजनों, मनुष्यों या पितरों के प्रति अपने कर्तव्य या ऋण से मुक्त हो जाता है।" श्रीभगवान् की सेवा करने से ऐसे दायित्व अपने आप पूरे हो जाते हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥ ४२॥

दोषैः—ऐसे दोषों से; एतैः—इन सब; कुलघ्नानाम्—परिवार नष्ट करने वालों का; वर्ण-सङ्कर—अवांछित संतानों के; कारकैः—कारणों से; उत्साद्यन्ते—नष्ट हो जाते हैं; जाति-धर्माः—सामुदायिक योजनाएँ; कुल-धर्माः—पारिवारिक परम्पराएँ; च—भी; शाश्वताः—सनातन।

जो लोग कुल-परम्परा को विनष्ट करते हैं और इस तरह अवांछित सन्तानों को जन्म देते हैं उनके दुष्कर्मों से समस्त प्रकार की सामुदायिक योजनाएँ तथा पारिवारिक कल्याण-कार्य विनष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य : सनातन-धर्म या वर्णाश्रम-धर्म द्वारा निर्धारित मानव समाज के चारों वर्णों के लिए सामुदायिक योजनाएँ तथा पारिवारिक कल्याण-कार्य इसलिए नियोजित हैं कि मनुष्य चरम मोक्ष प्राप्त कर सके। अतः समाज के अनुत्तरदायी नायकों द्वारा सनातन-धर्म परम्परा के विखण्डन से उस समाज में अव्यवस्था फैलती है, फलस्वरूप लोग जीवन के उद्देश्य विष्णु को भूल जाते हैं। ऐसे नायक अंधे कहलाते हैं और जो लोग इनका अनुगमन करते हैं वे निश्चय ही कुव्यवस्था की ओर अग्रसर होते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥ ४३॥

उत्सन्न—विनष्ट; कुल-धर्माणाम्—पारिवारिक परम्परा वाले; मनुष्याणाम्—मनुष्यों का; जनार्दन—हे कृष्ण; नरके—नरक में; नियतम्—सदैव; वासः—निवास; भवति—होता है; इति—इस प्रकार; अनुशुश्रुम—गुरु-परम्परा से मैंने सुना है।

हे प्रजापालक कृष्ण! मैंने गुरु-परम्परा से सुना है कि जो लोग कुल-धर्म का विनाश करते हैं, वे सदैव नरक में वास करते हैं।

तात्पर्य : अर्जुन अपने तर्कों को अपने निजी अनुभव पर न आधारित करके आचार्यों से जो सुन रखा है उस पर आधारित करता है। वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने की यही विधि है। जिस व्यक्ति ने पहले से ज्ञान प्राप्त कर रखा है उस व्यक्ति की सहायता के बिना कोई भी वास्तविक ज्ञान तक नहीं पहुँच सकता। वर्णाश्रम-धर्म की एक पद्धति के अनुसार मृत्यु के पूर्व मनुष्य को पापकर्मों के लिए प्रायश्चित्त करना होता है। जो पापात्मा है उसे इस विधि का अवश्य उपयोग करना चाहिए। ऐसा किये बिना मनुष्य निश्चित रूप से नरक भेजा जायेगा जहाँ उसे अपने पापकर्मों के लिए कष्टमय जीवन बिताना होगा।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥ ४४॥

अहो—ओह; बत—कितना आश्चर्य है यह; महत्—महान; पापम्—पाप कर्म; कर्तुम्—करने के लिए; व्यवसिताः—निश्चय किया है; वयम्—हमने; यत्—क्योंकि; राज्य-सुख-लोभेन—राज्य-सुख के लालच में आकर; हन्तुम्—मारने के लिए; स्वजनम्—अपने सम्बन्धियों को; उद्यताः—तत्पर।

ओह! कितने आश्चर्य की बात है कि हम सब जघन्य पापकर्म करने के लिए उद्यत हो रहे हैं। राज्यसुख भोगने की इच्छा से प्रेरित होकर हम अपने ही सम्बन्धियों को

मारने पर तुले हैं।

तात्पर्य : स्वार्थ के वशीभूत होकर मनुष्य अपने सगे भाई, बाप या माँ के वध जैसे पापकर्मों में प्रवृत्त हो सकता है। विश्व के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। किन्तु भगवान् का साधु भक्त होने के कारण अर्जुन सदाचार के प्रति जागरुक है। अतः वह ऐसे कार्यों से बचने का प्रयत्न करता है।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ ४५॥

यदि–यदि, माम्–मुझको, अप्रतीकारम्–प्रतिरोध न करने के कारण; अशस्त्रम्–बिना हथियार के, शस्त्र-पाणयः–शस्त्रधारी, धार्तराष्ट्राः–धृतराष्ट्र के पुत्र, रणे–युद्धभूमि में; हन्युः–मारें, तत्–वह; मे–मेरे लिए; क्षेम-तरम्–श्रेयस्कर, भवेत्–होगा।

यदि शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र मुझ निहत्थे तथा रणभूमि में प्रतिरोध न करने वाले को मारें, तो यह मेरे लिए श्रेयस्कर होगा।

तात्पर्य : क्षत्रियों के युद्ध-नियमों के अनुसार ऐसी प्रथा है कि निहत्थे तथा विमुख शत्रु पर आक्रमण न किया जाय। किन्तु अर्जुन ने निश्चय किया कि शत्रु भले ही इस विषम अवस्था में उस पर आक्रमण कर दें, किन्तु वह युद्ध नहीं करेगा। उसने इस पर विचार नहीं किया कि दूसरा दल युद्ध के लिए कितना उद्यत है। इन सब लक्षणों का कारण उसकी दयार्द्रता है जो भगवान् के महान भक्त होने के कारण उत्पन्न हुई।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥ ४६॥

सञ्जयः उवाच–संजय ने कहा, एवम्–इस प्रकार, उक्त्वा–कहकर, अर्जुनः–अर्जुन, संख्ये–युद्धभूमि में, रथ–रथ के, उपस्थे–आसन पर, उपाविशत्–पुनः बैठ गया, विसृज्य–एक ओर रखकर; स-शरम्–बाणों सहित, चापम्–धनुष को, शोक-शोक से, संविग्न–संतप्त, उद्विग्न, मानसः–मन के भीतर।

संजय ने कहा–युद्धभूमि में इस प्रकार कह कर अर्जुन ने अपना धनुष तथा बाण एक ओर रख दिया और शोकसंतप्त चित्त से रथ के आसन पर बैठ गया।

तात्पर्य : अपने शत्रु की स्थिति का अवलोकन करते समय अर्जुन रथ पर खड़ा हो गया था, किन्तु वह शोक से इतना संतप्त हो उठा कि अपना धनुष-बाण एक ओर रख कर रथ के आसन पर पुनः बैठ गया। ऐसा दयालु तथा कोमलहृदय व्यक्ति, जो भगवान् की सेवा में रत हो, आत्मज्ञान प्राप्त करने के योग्य है।

इस प्रकार भगवद्गीता के प्रथम अध्याय "कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में सैन्यनिरीक्षण" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।

अध्याय दो



गीता का सार

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥१॥

सञ्जयः उवाच—संजय ने कहा; तम्—अर्जुन के प्रति; तथा—इस प्रकार; कृपया—करुणा से; आविष्टम्—अभिभूत; अश्रु-पूर्ण-आकुल—अश्रुओं से पूर्ण; ईक्षणम्—नेत्र; विषीदन्तम्—शोकयुक्त; इदम्—यह; वाक्यम्—वचन; उवाच—कहा; मधु-सूदनः—मधु का वध करने वाले (कृष्ण) ने।

संजय ने कहा—करुणा से व्याप्त, शोकयुक्त, अश्रुपूरित नेत्रों वाले अर्जुन को देख कर मधुसूदन कृष्ण ने ये शब्द कहे।

तात्पर्य : भौतिक पदार्थों के प्रति करुणा, शोक तथा अश्रु—ये सब असली आत्मा को न जानने के लक्षण हैं। शाश्वत आत्मा के प्रति करुणा ही आत्म-साक्षात्कार है। इस श्लोक में मधुसूदन शब्द महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण ने मधु नामक असुर का वध किया था और अब अर्जुन चाह रहा है कि कृष्ण उस अज्ञान रूपी असुर का वध करें जिसने उसे कर्तव्य से विमुख कर रखा है। यह कोई नहीं जानता कि करुणा का प्रयोग कहाँ होना चाहिए। डूबते हुए मनुष्य के वस्त्रों के लिए करुणा मूर्खता होगी। अज्ञान-सागर में गिरे हुए

मनुष्य को केवल उसके बाहरी पहनावे अर्थात् स्थूल शरीर की रक्षा करके नहीं बचाया जा सकता। जो इसे नहीं जानता और बाहरी पहनावे के लिए शोक करता है, वह *शूद्र* कहलाता है अर्थात् वह वृथा ही शोक करता है। अर्जुन तो *क्षत्रिय* था, अतः उससे ऐसे आचरण की आशा न थी। किन्तु भगवान् कृष्ण अज्ञानी पुरुष के शोक को विनष्ट कर सकते हैं और इसी उद्देश्य से उन्होंने *भगवद्गीता* का उपदेश दिया। यह अध्याय हमें *भौतिक शरीर तथा आत्मा के वैश्लेषिक अध्ययन द्वारा आत्म-साक्षात्कार का उपदेश* देता है, जिसकी व्याख्या परम अधिकारी भगवान् कृष्ण द्वारा की गई है। यह साक्षात्कार तभी सम्भव है जब मनुष्य निष्काम भाव से कर्म करे और आत्म-बोध को प्राप्त हो।

श्री भगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

श्रीभगवान् उवाच–भगवान् ने कहा; **कुतः**–कहाँ से; **त्वा**–तुमको; **कश्मलम्**–गंदगी, अज्ञान; **इदम्**–यह शोक; **विषमे**–इस विषम अवसर पर; **समुपस्थितम्**–प्राप्त हुआ; **अनार्य**–वे लोग जो जीवन के मूल्य को नहीं समझते; **जुष्टम्**–आचरित; **अस्वर्ग्यम्**–उच्च लोकों को जो न ले जाने वाला; **अकीर्ति**–अपयश का; **करम्**–कारण; **अर्जुन**–हे अर्जुन।

श्रीभगवान् ने कहा–हे अर्जुन! तुम्हारे मन में यह कल्मष आया कैसे? यह उस मनुष्य के लिए तनिक भी अनुकूल नहीं है, जो जीवन के मूल्य को जानता हो। इससे उच्चलोक की नहीं अपितु अपयश की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य : श्रीकृष्ण तथा भगवान् अभिन्न हैं, इसीलिए श्रीकृष्ण को सम्पूर्ण *गीता* में भगवान् ही कहा गया है। भगवान् परम सत्य की पराकाष्ठा हैं। परमसत्य का बोध ज्ञान की तीन अवस्थाओं में होता है–ब्रह्म या निर्विशेष सर्वव्यापी चेतना, परमात्मा या भगवान् का अन्तर्यामी रूप जो समस्त जीवों के हृदय में है तथा भगवान् या श्रीभगवान् कृष्ण। *श्रीमद्भागवत* में (१.२.११) परम सत्य की यह धारणा इस प्रकार बताई गई है–

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

"परम सत्य का ज्ञाता परमसत्य का अनुभव ज्ञान की तीन अवस्थाओं में करता है, और ये सब अवस्थाएँ एकरूप हैं। ये ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के रूप में व्यक्त की जाती हैं।"

इन तीन दिव्य पक्षों को सूर्य के दृष्टान्त द्वारा समझाया जा सकता है क्योंकि उसके भी तीन भिन्न-भिन्न पक्ष होते हैं–यथा, धूप(प्रकाश), सूर्य की सतह तथा सूर्यलोक स्वयं। जो सूर्य के प्रकाश का अध्ययन करता है वह नौसिखिया है। जो सूर्य की सतह को समझता है वह कुछ आगे बढ़ा हुआ होता है और जो सूर्यलोक में प्रवेश कर सकता है वह उच्चतम ज्ञानी है। जो नौसिखिया सूर्य प्रकाश–उसकी विश्व व्याप्ति तथा उसकी निर्विशेष प्रकृति के अखण्ड तेज–के ज्ञान से ही तुष्ट हो जाता है वह उस व्यक्ति के समान है जो परम सत्य के ब्रह्म रूप को ही समझ सकता है। जो व्यक्ति कुछ अधिक

जानकार है वह सूर्य गोले के विषय में जान सकता है जिसकी तुलना परम सत्य के परमात्मा स्वरूप से की जाती है। जो व्यक्ति सूर्यलोक के अन्तर में प्रवेश कर सकता है उसकी तुलना उससे की जाती है जो परम सत्य के साक्षात् रूप की अनुभूति प्राप्त करता है। अतः जिन भक्तों ने परमसत्य के भगवान् स्वरूप का साक्षात्कार किया है वे सर्वोच्च अध्यात्मवादी हैं, यद्यपि परम सत्य के अध्ययन में रत सारे विद्यार्थी एक ही विषय के अध्ययन में लगे हुए हैं। सूर्य का प्रकाश, सूर्य का गोला तथा सूर्यलोक की भीतरी बातें—इन तीनों को एक दूसरे से विलग नहीं किया जा सकता, फिर भी तीनों अवस्थाओं के अध्येता एक ही श्रेणी के नहीं होते।

संस्कृत शब्द *भगवान्* की व्याख्या व्यासदेव के पिता पराशर मुनि ने की है। समस्त धन, शक्ति, यश, सौंदर्य, ज्ञान तथा त्याग से युक्त परम पुरुष *भगवान्* कहलाता है। ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो अत्यन्त धनी हैं, अत्यन्त शक्तिमान हैं, अत्यन्त सुन्दर हैं और अत्यन्त विख्यात, विद्वान् तथा विरक्त भी हैं, किन्तु कोई साधिकार यह नहीं कह सकता कि उसके पास सारा धन, शक्ति आदि है। एकमात्र कृष्ण ही ऐसा दावा कर सकते हैं क्योंकि वे भगवान् हैं। ब्रह्मा, शिव या नारायण सहित कोई भी जीव कृष्ण के समान पूर्ण ऐश्वर्यवान नहीं है। अतः *ब्रह्मसंहिता* में स्वयं ब्रह्माजी का निर्णय है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। न तो कोई उनके तुल्य है, न उनसे बढ़कर है। वे आदि स्वामी या भगवान् हैं, गोविन्द रूप में जाने जाते हैं और समस्त कारणों के परम कारण हैं—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

"ऐसे अनेक पुरुष हैं जो भगवान् के गुणों से युक्त हैं, किन्तु कृष्ण परम हैं क्योंकि उनसे बढ़कर कोई नहीं है। वे परमपुरुष हैं और उनका शरीर सच्चिदानन्दमय है। वे आदि भगवान् गोविन्द हैं और समस्त कारणों के कारण हैं।" (*ब्रह्मसंहिता* ५.१)

भागवत में भी *भगवान्* के नाना अवतारों की सूची है, किन्तु कृष्ण को आदि भगवान् बताया गया है, जिनसे अनेकानेक अवतार तथा ईश्वर विस्तार करते हैं—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे॥

"यहाँ पर वर्णित सारे अवतारों की सूचियाँ या तो भगवान् की अंशकलाओं अथवा पूर्ण कलाओं की हैं, किन्तु कृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं।" (*भागवत* १.३.२८)

अतः कृष्ण आदि भगवान्, परम सत्य, परमात्मा तथा निर्विशेष ब्रह्म दोनों के उद्गम हैं।

भगवान् की उपस्थिति में अर्जुन द्वारा स्वजनों के लिए शोक करना सर्वथा अशोभनीय है, अतः कृष्ण ने *कुतः* शब्द से अपना आश्चर्य व्यक्त किया है। *आर्य* जैसी सभ्य जाति के किसी व्यक्ति से ऐसी मलिनता की उम्मीद नहीं की जाती। *आर्य* शब्द उन व्यक्तियों पर लागू होता है जो जीवन के मूल्य को जानते हैं और जिनकी सभ्यता आत्म-साक्षात्कार पर निर्भर करती है। देहात्मबुद्धि से प्रेरित मनुष्यों को यह ज्ञान नहीं रहता कि जीवन का उद्देश्य परम सत्य, विष्णु या भगवान् का साक्षात्कार है। वे तो भौतिक जगत के बाह्य स्वरूप से मोहित हो जाते हैं, अतः वे यह नहीं समझ पाते कि मुक्ति क्या

है। जिन पुरुषों को भौतिक बन्धन से मुक्ति का कोई ज्ञान नहीं होता वे अनार्य कहलाते हैं। यद्यपि अर्जुन *क्षत्रिय* था, किन्तु युद्ध से विचलित होकर वह अपने कर्तव्य से च्युत हो रहा था। उसकी यह कायरता अनार्यों के लिए ही शोभा देने वाली हो सकती है। कर्तव्य-पथ से इस प्रकार का विचलन न तो आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने में सहायक बनता है न ही इससे इस संसार में ख्याति प्राप्त की जा सकती है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन द्वारा अपने स्वजनों पर इस प्रकार की करुणा का अनुमोदन नहीं किया।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥ ३॥

क्लैब्यम्–नपुंसकता; मा स्म–मत; गमः–प्राप्त हो; पार्थ–हे पृथापुत्र; न–कभी नहीं; एतत्–यह; त्वयि–तुमको; उपपद्यते–शोभा देता है; क्षुद्रम्–तुच्छ; हृदय–हृदय की; दौर्बल्यम्–दुर्बलता; त्यक्त्वा–त्याग कर; उत्तिष्ठ–खड़ा हो; परम्-तप–हे शत्रुओं का दमन करने वाले।

हे पृथापुत्र! इस हीन नपुंसकता को प्राप्त मत होओ। यह तुम्हें शोभा नहीं देती। हे शत्रुओं के दमनकर्ता! हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिए खड़े होओ।

तात्पर्य : अर्जुन को पृथापुत्र के रूप में सम्बोधित किया गया है। पृथा कृष्ण के पिता वसुदेव की बहन थीं, अतः कृष्ण के साथ अर्जुन का रक्त-सम्बन्ध था। यदि *क्षत्रिय-पुत्र* लड़ने से मना करता है तो वह नाम का क्षत्रिय है और यदि *ब्राह्मण* पुत्र अपवित्र कार्य करता है तो वह नाम का *ब्राह्मण* है। ऐसे *क्षत्रिय* तथा *ब्राह्मण* अपने पिता के अयोग्य पुत्र होते हैं, अतः कृष्ण यह नहीं चाहते थे कि अर्जुन अयोग्य क्षत्रिय पुत्र कहलाए। अर्जुन कृष्ण का घनिष्ठतम मित्र था और कृष्ण प्रत्यक्ष रूप से उसके रथ का संचालन कर रहे थे, किन्तु इन सब गुणों के होते हुए भी यदि अर्जुन युद्धभूमि को छोड़ता है तो यह अत्यन्त निन्दनीय कार्य करेगा। अतः कृष्ण ने कहा कि ऐसी प्रवृत्ति अर्जुन के व्यक्तित्व को शोभा नहीं देती। अर्जुन यह तर्क कर सकता था कि वह परम पूज्य भीष्म तथा स्वजनों के प्रति उदार दृष्टिकोण के कारण युद्धभूमि छोड़ रहा है, किन्तु कृष्ण ऐसी उदारता को केवल हृदय दौर्बल्य मानते हैं। ऐसी झूठी उदारता का अनुमोदन एक भी शास्त्र नहीं करता। अतः अर्जुन जैसे व्यक्ति को कृष्ण के प्रत्यक्ष निर्देशन में ऐसी उदारता या तथाकथित अहिंसा का परित्याग कर देना चाहिए।

अर्जुन उवाच
कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ ४॥

अर्जुनः उवाच–अर्जुन ने कहा; कथम्–किस प्रकार; भीष्मम्–भीष्म को; अहम्–मैं; संख्ये–युद्ध में; द्रोणम्–द्रोण को; च–भी; मधुसूदन–हे मधु के संहारकर्ता; इषुभिः–तीरों से; प्रतियोत्स्यामि–उलट कर प्रहार करूँगा; पूजा-अर्हौ–पूजनीय; अरि-सूदन–हे शत्रुओं के संहारक!

अर्जुन ने कहा–हे शत्रुहन्ता! हे मधुसूदन! मैं युद्धभूमि में किस तरह भीष्म तथा द्रोण जैसे पूजनीय व्यक्तियों पर उलट कर बाण चलाऊँगा?

तात्पर्य : भीष्म पितामह तथा द्रोणाचार्य जैसे सम्माननीय व्यक्ति सदैव पूजनीय हैं। यदि वे आक्रमण भी करें तो उन पर उलट कर आक्रमण नहीं करना चाहिए। यह सामान्य शिष्टाचार है कि गुरुजनों से वाग्युद्ध भी न किया जाय। यहाँ तक कि यदि कभी वे रूक्ष व्यवहार करें तो भी उनके साथ रुक्ष व्यवहार न किया जाय। तो फिर भला अर्जुन उन पर बाण कैसे छोड़ सकता था? क्या कृष्ण कभी अपने पितामह, नाना उग्रसेन या अपने आचार्य सान्दीपनि मुनि पर हाथ चला सकते थे? अर्जुन ने कृष्ण के समक्ष ये ही कुछ तर्क प्रस्तुत किये।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५॥

गुरून्—गुरुजनों को; **अहत्वा**—न मार कर; **हि**—निश्चय ही; **महा-अनुभावान्**—महापुरुषों को; **श्रेयः**—अच्छा है; **भोक्तुम्**—भोगना; **भैक्ष्यम्**—भीख माँगकर; **अपि**—भी; **इह**—इस जीवन में; **लोके**—इस संसार में; **हत्वा**—मारकर; **अर्थ**—लाभ की; **कामान्**—इच्छा से; **तु**—लेकिन; **गुरून्**—गुरुजनों को; **इह**—इस संसार में; **एव**—निश्चय ही; **भुञ्जीय**—भोगने के लिए बाध्य; **भोगान्**—भोग्य वस्तुएँ; **रुधिर**—रक्त से; **प्रदिग्धान्**—सनी हुई, रंजित।

ऐसे महापुरुषों को जो मेरे गुरु हैं, उन्हें मार कर जीने की अपेक्षा इस संसार में भीख माँग कर खाना अच्छा है। भले ही वे सांसारिक लाभ के इच्छुक हों, किन्तु हैं तो गुरुजन ही! यदि उनका वध होता है तो हमारे द्वारा भोग्य प्रत्येक वस्तु उनके रक्त से सनी होगी।

तात्पर्य : शास्त्रों के अनुसार ऐसा गुरु जो निंद्य कर्म में रत हो और जो विवेकशून्य हो, त्याज्य है। दुर्योधन से आर्थिक सहायता लेने के कारण भीष्म तथा द्रोण उसका पक्ष लेने के लिए बाध्य थे, यद्यपि केवल आर्थिक लाभ से ऐसा करना उनके लिए उचित न था। ऐसी दशा में वे आचार्यों का सम्मान खो बैठे थे। किन्तु अर्जुन सोचता है कि इतने पर भी वे उसके गुरुजन हैं, अतः उनका वध करके भौतिक लाभों का भोग करने का अर्थ होगा-रक्त से सने अवशेषों का भोग।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥ ६॥

न—नहीं; **च**—भी; **एतत्**—यह; **विद्मः**—हम जानते हैं; **कतरत्**—जो; **नः**—हमारे लिए; **गरीयः**—श्रेष्ठ; **यत् वा**—अथवा; **जयेम**—हम जीत जाएँ; **यदि**—यदि; **वा**—या; **नः**—हमको; **जयेयुः**—वे जीतें;

यान्–जिनको, एव–निश्चय ही, हत्वा–मारकर; न–कभी नहीं, जिजीविषामः–हम जीना चाहेंगे, ते–वे सब, अवस्थिताः–खड़े हैं, प्रमुखे–सामने; धार्तराष्ट्राः–धृतराष्ट्र के पुत्र।

हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिए क्या श्रेष्ठ है—उनको जीतना या उनके द्वारा जीते जाना। यदि हम धृतराष्ट्र के पुत्रों का वध कर देते हैं तो हमें जीवित रहने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी वे युद्धभूमि में हमारे समक्ष खड़े हैं।

तात्पर्य : अर्जुन की समझ में यह नहीं आ रहा था कि वह क्या करे—युद्ध करे और अनावश्यक रक्तपात का कारण बने, यद्यपि *क्षत्रिय* होने के नाते युद्ध करना उसका धर्म है; या फिर वह युद्ध से विमुख हो कर भीख माँग कर जीवन-यापन करे। यदि वह शत्रु को जीतता नहीं तो जीविका का एकमात्र साधन भिक्षा ही रह जाता है। फिर जीत भी तो निश्चित नहीं है क्योंकि कोई भी पक्ष विजयी हो सकता है। यदि उसकी विजय हो भी जाय (क्योंकि उसका पक्ष न्याय पर है), तो भी यदि धृतराष्ट्र के पुत्र मरते हैं, तो उनके बिना रह पाना अत्यन्त कठिन हो जायेगा। उस दशा में यह उसकी दूसरे प्रकार की हार होगी। अर्जुन द्वारा व्यक्त इस प्रकार के ये विचार सिद्ध करते हैं कि वह न केवल भगवान् का महान भक्त था, अपितु वह अत्यधिक प्रबुद्ध और अपने मन तथा इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण रखने वाला था। राज परिवार में जन्म लेकर भी भिक्षा द्वारा जीवित रहने की इच्छा उसकी विरक्ति का दूसरा लक्षण है। ये सारे गुण तथा अपने आध्यात्मिक गुरु श्रीकृष्ण के उपदेशों में उसकी श्रद्धा, ये सब मिलकर सूचित करते हैं कि वह सचमुच पुण्यात्मा था। इस तरह यह निष्कर्ष निकला कि अर्जुन मुक्ति के सर्वथा योग्य था। जब तक इन्द्रियाँ संयमित न हों, ज्ञान के पद तक उठ पाना कठिन है और बिना ज्ञान तथा भक्ति के मुक्ति नहीं होती। अर्जुन अपने भौतिक गुणों के अतिरिक्त इन समस्त दैवी गुणों में भी दक्ष था।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥७॥

कार्पण्य–कृपणता, दोष–दुर्बलता से, उपहत–ग्रस्त स्वभावः–गुण, विशेषताएँ, पृच्छामि–पूछ रहा हूँ; त्वाम्–तुम से; धर्म–धर्म; सम्मूढ–मोहग्रस्त; चेताः–हृदय में, यत्–जो श्रेयः–कल्याणकारी स्यात्–हो, निश्चितम्–विश्वासपूर्वक ब्रूहि–कहो तत्–वह, मे–मुझको शिष्य –शिष्य, ते–तुम्हारा, अहम्–मैं, शाधि–उपदेश दीजिये माम्–मुझको त्वाम्–तुम्हारा, प्रपन्नम्–शरणागत।

अब मैं अपनी कृपण-दुर्बलता के कारण अपना कर्तव्य भूल गया हूँ और सारा धैर्य खो चुका हूँ। ऐसी अवस्था में मैं आपसे पूछ रहा हूँ कि जो मेरे लिए श्रेयस्कर हो उसे निश्चित रूप से बताएँ। अब मैं आपका शिष्य हूँ और आपका शरणागत हूँ। कृपया मुझे उपदेश दें।

षट्कर्मनिपुणो विप्रो मन्त्रतन्त्रविशारदः।
अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णवः श्वपचो गुरुः॥

"विद्वान् ब्राह्मण, भले ही वह सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान में पारंगत क्यों न हो, यदि वह वैष्णव नहीं है या कृष्णभावनामृत में दक्ष नहीं है तो गुरु बनने का पात्र नहीं है। किन्तु शूद्र, यदि वह वैष्णव या कृष्णभक्त है तो गुरु बन सकता है।" (*पद्मपुराण*)

संसार की समस्याओं—जन्म, जरा, व्याधि तथा मृत्यु—की निवृत्ति धन-संचय तथा आर्थिक विकास से सम्भव नहीं है। विश्व के विभिन्न भागों में ऐसे राज्य हैं जो जीवन की सारी सुविधाओं से तथा सम्पत्ति एवं आर्थिक विकास से पूरित हैं, किन्तु फिर भी उनके सांसारिक जीवन की समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी हुई हैं। वे विभिन्न साधनों से शान्ति खोजते हैं, किन्तु वास्तविक सुख उन्हें तभी मिल पाता है जब वे कृष्णभावनामृत से युक्त कृष्ण के प्रामाणिक प्रतिनिधि के माध्यम से कृष्ण अथवा कृष्णतत्त्वपूरक *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के परामर्श को ग्रहण करते हैं।

यदि आर्थिक विकास तथा भौतिक सुख किसी के पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय अव्यवस्था से उत्पन्न हुए शोकों को दूर कर पाते, तो अर्जुन यह न कहता कि पृथ्वी का अप्रतिम राज्य या स्वर्गलोक में देवताओं की सर्वोच्चता भी उसके शोकों को दूर नहीं कर सकती। इसीलिए उसने कृष्णभावनामृत का ही आश्रय ग्रहण किया और यही शान्ति तथा समरसता का उचित मार्ग है। आर्थिक विकास या विश्व आधिपत्य प्राकृतिक प्रलय द्वारा किसी भी क्षण समाप्त हो सकता है। यहाँ तक कि चन्द्रलोक जैसे उच्च लोकों की यात्रा भी, जिसके लिए मनुष्य प्रयत्नशील हैं, एक झटके में समाप्त हो सकती है। *भगवद्गीता* इसकी पुष्टि करती है—*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*—जब पुण्यकर्मों के फल समाप्त हो जाते हैं तो मनुष्य सुख के शिखर से जीवन के निम्नतम स्तर पर गिर जाता है। इस तरह से विश्व के अनेक राजनीतिज्ञों का पतन हुआ है। ऐसा अधःपतन शोक का कारण बनता है।

अतः यदि हम सदा के लिए शोक का निवारण चाहते हैं तो हमें कृष्ण की शरण ग्रहण करनी होगी, जिस तरह अर्जुन ने की। अर्जुन ने कृष्ण से प्रार्थना की कि वे उसकी समस्या का निश्चित समाधान कर दें और यही कृष्णभावनामृत की विधि है।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥९॥

सञ्जयः उवाच—संजय ने कहा; एवम्—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; हृषीकेशम्—कृष्ण से, जो इन्द्रियों के स्वामी हैं; गुडाकेशः—अर्जुन, जो अज्ञान को मिटाने वाला है; परन्तपः—अर्जुन, शत्रुओं का दमन करने वाला; न योत्स्ये—नहीं लड़ूँगा; इति—इस प्रकार; गोविन्दम्—इन्द्रियों के आनन्ददायक कृष्ण से; उक्त्वा—कहकर; तूष्णीम्—चुप; बभूव—हो गया; ह—निश्चय ही।

संजय ने कहा—इस प्रकार कहने के बाद शत्रुओं का दमन करने वाला अर्जुन कृष्ण से बोला, "हे गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा," और चुप हो गया।

तात्पर्य : धृतराष्ट्र को यह जानकर परम प्रसन्नता हुई होगी कि अर्जुन युद्ध न करके युद्धभूमि छोड़कर भिक्षाटन करने जा रहा है। किन्तु संजय ने उसे पुन: यह कह कर निराश कर दिया कि अर्जुन अपने शत्रुओं को मारने में सक्षम है (*परन्तप*)। यद्यपि कुछ समय के लिए अर्जुन अपने पारिवारिक स्नेह के प्रति मिथ्या शोक से अभिभूत था, किन्तु उसने शिष्य रूप में अपने गुरु श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण कर ली। इससे सूचित होता है कि शीघ्र ही वह इस शोक से निवृत्त हो जायेगा और आत्म-साक्षात्कार या कृष्णभावनामृत के पूर्ण ज्ञान से प्रकाशित होकर पुनः युद्ध करेगा। इस तरह धृतराष्ट्र का हर्ष भंग हो जायेगा।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

तम्–उससे, **उवाच**–कहा, **हृषीकेशः**–इन्द्रियों के स्वामी कृष्ण ने; **प्रहसन्**–हँसते हुए; **इव**–मानो, **भारत**–हे भरतवंशी धृतराष्ट्र; **सेनयोः**–सेनाओं के, **उभयोः**–दोनों पक्षों की, **मध्ये**–बीच में, **विषीदन्तम्**–शोकमग्न; **इदम्**–यह (निम्नलिखित), **वचः**–शब्द।

हे भरतवंशी (धृतराष्ट्र)! उस समय दोनों सेनाओं के मध्य शोकमग्न अर्जुन से कृष्ण ने मानो हँसते हुए ये शब्द कहे।

तात्पर्य : दो घनिष्ठ मित्रों अर्थात् हृषीकेश तथा गुडाकेश के मध्य वार्ता चल रही थी। मित्र के रूप में दोनों का पद समान था, किन्तु इनमें से एक स्वेच्छा से दूसरे का शिष्य बन गया। कृष्ण हँस रहे थे क्योंकि उनका मित्र अब उनका शिष्य बन गया था। सबों के स्वामी होने के कारण वे सदैव श्रेष्ठ पद पर रहते हैं तो भी भगवान् अपने भक्त के लिए सखा, पुत्र या प्रेमी बनना स्वीकार करते हैं। किन्तु जब उन्हें गुरु रूप में अंगीकार कर लिया गया तो उन्होंने तुरन्त गुरु की भूमिका निभाने के लिए शिष्य से गुरु की भाँति गम्भीरतापूर्वक बातें कीं जैसा कि अपेक्षित है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुरु तथा शिष्य की यह वार्ता दोनों सेनाओं की उपस्थिति में हुई जिससे सारे लोग लाभान्वित हुए। अतः *भगवद्गीता* का संवाद किसी एक व्यक्ति, समाज या जाति के लिए नहीं अपितु सबों के लिए है और उसे सुनने के लिए शत्रु या मित्र समान रूप से अधिकारी हैं।

श्रीभगवानुवाच
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

श्रीभगवान् उवाच–श्रीभगवान् ने कहा, **अशोच्यान्**–जो शोक के योग्य नहीं हैं; **अन्वशोचः**–शोक करते हो, **त्वम्**–तुम, **प्रज्ञावादान्**–पाण्डित्यपूर्ण बातें, **च**–भी, **भाषसे**–कहते हो, **गत**–चले गये, रहित, **असून्**–प्राण, **अगत**–नहीं गये **असून्**–प्राण, **च**–भी, **न**–कभी नहीं, **अनुशोचन्ति**–शोक करते हैं, **पण्डिताः**–विद्वान् लोग।

श्री भगवान् ने कहा–तुम पाण्डित्यपूर्ण वचन कहते हुए उनके लिए शोक कर रहे

षट्कर्मनिपुणो विप्रो मन्त्रतन्त्रविशारदः।
अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णवः श्वपचो गुरुः॥

"विद्वान् ब्राह्मण, भले ही वह सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान में पारंगत क्यों न हो, यदि वह वैष्णव नहीं है या कृष्णभावनामृत में दक्ष नहीं है तो गुरु बनने का पात्र नहीं है। किन्तु शूद्र, यदि वह वैष्णव या कृष्णभक्त है तो गुरु बन सकता है।" (*पद्मपुराण*)

संसार की समस्याओं—जन्म, जरा, व्याधि तथा मृत्यु—की निवृत्ति धन-संचय तथा आर्थिक विकास से सम्भव नहीं है। विश्व के विभिन्न भागों में ऐसे राज्य हैं जो जीवन की सारी सुविधाओं से तथा सम्पत्ति एवं आर्थिक विकास से पूरित हैं, किन्तु फिर भी उनके सांसारिक जीवन की समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी हुई हैं। वे विभिन्न साधनों से शान्ति खोजते हैं, किन्तु वास्तविक सुख उन्हें तभी मिल पाता है जब वे कृष्णभावनामृत से युक्त कृष्ण के प्रामाणिक प्रतिनिधि के माध्यम से कृष्ण अथवा कृष्णतत्त्वपूरक *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के परामर्श को ग्रहण करते हैं।

यदि आर्थिक विकास तथा भौतिक सुख किसी के पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय अव्यवस्था से उत्पन्न हुए शोकों को दूर कर पाते, तो अर्जुन यह न कहता कि पृथ्वी का अप्रतिम राज्य या स्वर्गलोक में देवताओं की सर्वोच्चता भी उसके शोकों को दूर नहीं कर सकती। इसीलिए उसने कृष्णभावनामृत का ही आश्रय ग्रहण किया और यही शान्ति तथा समरसता का उचित मार्ग है। आर्थिक विकास या विश्व आधिपत्य प्राकृतिक प्रलय द्वारा किसी भी क्षण समाप्त हो सकता है। यहाँ तक कि चन्द्रलोक जैसे उच्च लोकों की यात्रा भी, जिसके लिए मनुष्य प्रयत्नशील हैं, एक झटके में समाप्त हो सकती है। *भगवद्गीता* इसकी पुष्टि करती है—*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*—जब पुण्यकर्मों के फल समाप्त हो जाते हैं तो मनुष्य सुख के शिखर से जीवन के निम्नतम स्तर पर गिर जाता है। इस तरह से विश्व के अनेक राजनीतिज्ञों का पतन हुआ है। ऐसा अधःपतन शोक का कारण बनता है।

अतः यदि हम सदा के लिए शोक का निवारण चाहते हैं तो हमें कृष्ण की शरण ग्रहण करनी होगी, जिस तरह अर्जुन ने की। अर्जुन ने कृष्ण से प्रार्थना की कि वे उसकी समस्या का निश्चित समाधान कर दें और यही कृष्णभावनामृत की विधि है।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥९॥

सञ्जयः उवाच—संजय ने कहा; **एवम्**—इस प्रकार; **उक्त्वा**—कहकर; **हृषीकेशम्**—कृष्ण से, जो इन्द्रियों के स्वामी हैं; **गुडाकेशः**—अर्जुन, जो अज्ञान को मिटाने वाला है; **परन्तपः**—अर्जुन, शत्रुओं का दमन करने वाला; **न योत्स्ये**—नहीं लड़ूँगा; **इति**—इस प्रकार; **गोविन्दम्**—इन्द्रियों के आनन्ददायक कृष्ण से; **उक्त्वा**—कहकर; **तूष्णीम्**—चुप; **बभूव**—हो गया; **ह**—निश्चय ही।

संजय ने कहा—इस प्रकार कहने के बाद शत्रुओं का दमन करने वाला अर्जुन कृष्ण से बोला, "हे गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा," और चुप हो गया।

तात्पर्य : धृतराष्ट्र को यह जानकर परम प्रसन्नता हुई होगी कि अर्जुन युद्ध न करके युद्धभूमि छोड़कर भिक्षाटन करने जा रहा है। किन्तु संजय ने उसे पुन यह कह कर निराश कर दिया कि अर्जुन अपने शत्रुओं को मारने में सक्षम है (*परन्तपः*)। यद्यपि कुछ समय के लिए अर्जुन अपने पारिवारिक स्नेह के प्रति मिथ्या शोक से अभिभूत था, किन्तु उसने शिष्य रूप में अपने गुरु श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण कर ली। इससे सूचित होता है कि शीघ्र ही वह इस शोक से निवृत्त हो जायेगा और आत्म-साक्षात्कार या कृष्णभावनामृत के पूर्ण ज्ञान से प्रकाशित होकर पुनः युद्ध करेगा। इस तरह धृतराष्ट्र का हर्ष भंग हो जायेगा।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

तम्–उससे, उवाच–कहा, हृषीकेशः–इन्द्रियों के स्वामी कृष्ण ने, प्रहसन्–हँसते हुए; इव–मानो; भारत–हे भरतवंशी धृतराष्ट्र; सेनयोः–सेनाओं के, उभयोः–दोनों पक्षों की, मध्ये–बीच में, विषीदन्तम्–शोकमग्न; इदम्–यह (निम्नलिखित), वचः–शब्द।

हे भरतवंशी (धृतराष्ट्र)! उस समय दोनों सेनाओं के मध्य शोकमग्न अर्जुन से कृष्ण ने मानो हँसते हुए ये शब्द कहे।

तात्पर्य : दो घनिष्ठ मित्रों अर्थात् हृषीकेश तथा गुडाकेश के मध्य वार्ता चल रही थी। मित्र के रूप में दोनों का पद समान था, किन्तु इनमें से एक स्वेच्छा से दूसरे का शिष्य बन गया। कृष्ण हँस रहे थे क्योंकि उनका मित्र अब उनका शिष्य बन गया था। सबों के स्वामी होने के कारण वे सदेव श्रेष्ठ पद पर रहते हैं तो भी भगवान् अपने भक्त के लिए सखा, पुत्र या प्रेमी बनना स्वीकार करते हैं। किन्तु जब उन्हें गुरु रूप में अंगीकार कर लिया गया तो उन्होंने तुरन्त गुरु की भूमिका निभाने के लिए शिष्य से गुरु की भाँति गम्भीरतापूर्वक बातें कीं जैसा कि अपेक्षित है। ऐसा प्रतीत [illegible] गुरु तथा शिष्य की यह वार्ता दोनो सेनाओं की उपस्थिति में हुई जिससे [illegible] लाभान्वित हुए। अतः *भगवद्गीता* का संवाद किसी एक व्यक्ति, समाज [illegible] के लिए नहीं अपितु सबों के लिए है और उसे सुनने के लिए शत्रु या [illegible] से अधिकारी हैं।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावाद [illegible]
गतासूनगतासूंश्च नानुशोच [illegible] ॥११॥

श्रीभगवान् उवाच–श्रीभगवान् ने कहा, अशो [illegible] करते हो, त्वम्–तुम, प्रज्ञावादान्–[illegible] रहित; असून्–प्राण; अगत–नहीं गये [illegible] करते हैं, पण्डिताः–विद्वान् लोग।

श्री भगवान् ने कहा–तुम [illegible]

हो जो शोक करने योग्य नहीं हैं। जो विद्वान् होते हैं, वे न तो जीवित के लिए, न ही मृत के लिए शोक करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् ने तत्काल गुरु का पद सँभाला और अपने शिष्य को अप्रत्यक्षतः मूर्ख कह कर डाँटा। उन्होंने कहा, "तुम विद्वान् की तरह बातें करते हो, किन्तु तुम यह नहीं जानते कि जो विद्वान् होता है—अर्थात् जो यह जानता है कि शरीर तथा आत्मा क्या हैं—वह किसी भी अवस्था में शरीर के लिए, चाहे वह जीवित हो या मृत—शोक नहीं करता।" अगले अध्यायों से यह स्पष्ट हो जायेगा कि ज्ञान का अर्थ पदार्थ तथा आत्मा एवं इन दोनों के नियामक को जानना है। अर्जुन का तर्क था कि राजनीति या समाजनीति की अपेक्षा धर्म को अधिक महत्त्व मिलना चाहिए, किन्तु उसे यह ज्ञात न था कि पदार्थ, आत्मा तथा परमेश्वर का ज्ञान धार्मिक सूत्रों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। और चूँकि उसमें इस ज्ञान का अभाव था, अतः उसे विद्वान् नहीं बनना चाहिए था। और चूँकि वह अत्यधिक विद्वान् नहीं था इसलिए वह शोक के सर्वथा अयोग्य वस्तु के लिए शोक कर रहा था। यह शरीर जन्मता है और आज या कल इसका विनाश निश्चित है, अतः शरीर उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि आत्मा है। जो इस तथ्य को जानता है वही असली विद्वान् है और उसके लिए शोक का कोई कारण नहीं हो सकता।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥१२॥

न—नहीं; तु—लेकिन; एव—निश्चय ही; अहम्—मैं; जातु—किसी काल में; न—नहीं; आसम्—था; न—नहीं; त्वम्—तुम; न—नहीं; इमे—ये सब; जन-अधिपाः—राजागण; न—कभी नहीं; च—भी; एव—निश्चय ही; न—नहीं; भविष्यामः—रहेंगे; सर्वे वयम्—हम सब; अतः परम्—इससे आगे।

ऐसा कभी नहीं हुआ कि मैं न रहा होऊँ या तुम न रहे हो अथवा ये समस्त राजा न रहे हों; और न ऐसा है कि भविष्य में हम लोग नहीं रहेंगे।

तात्पर्य : *वेदों* में, *कठोपनिषद्* में तथा *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में भी कहा गया है कि जो श्रीभगवान् असंख्य जीवों के कर्म तथा कर्मफल के अनुसार उनकी अपनी-अपनी परिस्थितियों में पालक हैं, वही भगवान् अंश रूप में हर जीव के हृदय में वास कर रहे हैं। केवल साधु पुरुष, जो एक ही ईश्वर को भीतर-बाहर देख सकते हैं, पूर्ण एवं शाश्वत शान्ति प्राप्त कर पाते हैं।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥

(*कठोपनिषद्* २.२.१३)

जो वैदिक ज्ञान अर्जुन को प्रदान किया गया वही विश्व के उन समस्त पुरुषों को प्रदान किया जाता है जो विद्वान् होने का दावा तो करते हैं किन्तु जिनकी ज्ञानराशि न्यून है। भगवान् यह स्पष्ट कहते हैं कि वे स्वयं, अर्जुन तथा युद्धभूमि में एकत्र सारे राजा शाश्वत प्राणी हैं और इन जीवों की बद्ध तथा मुक्त अवस्थाओं में भगवान् ही एकमात्र उनके पालक हैं। भगवान् परम पुरुष हैं तथा भगवान् का चिर संगी अर्जुन एवं वहाँ

पर एकत्र सारे राजागण शाश्वत पुरुष हैं। ऐसा नहीं है कि ये भूतकाल में प्राणियों के रूप में अलग-अलग उपस्थित नहीं थे और ऐसा भी नहीं है कि ये शाश्वत पुरुष बने नहीं रहेंगे। उनका अस्तित्व भूतकाल में था और भविष्य में भी निर्बाध रूप से बना रहेगा। अतः किसी के लिए शोक करने की कोई बात नहीं है।

यह मायावादी सिद्धान्त कि मुक्ति के बाद आत्मा माया के आवरण से पृथक् होकर निराकार ब्रह्म में लीन हो जायेगा और अपना अस्तित्व खो देगा यहाँ पर परम अधिकारी भगवान् कृष्ण द्वारा पुष्ट नहीं हो पाता। न ही इस सिद्धान्त का समर्थन हो पाता है कि बद्ध अवस्था में ही हम अस्तित्व का चिन्तन करते हैं। यहाँ पर कृष्ण स्पष्टतः कहते हैं कि भगवान् तथा अन्यों का अस्तित्व भविष्य में भी अक्षुण्ण रहेगा जिसकी पुष्टि उपनिषदों द्वारा भी होती है। कृष्ण का यह कथन प्रामाणिक है क्योंकि कृष्ण मायावश्य नहीं हैं। यदि अस्तित्व तथ्य न होता तो फिर कृष्ण इतना बल क्यों देते और वह भी भविष्य के लिए! मायावादी यह तर्क कर सकते हैं कि कृष्ण द्वारा कथित अस्तित्व आध्यात्मिक न होकर भौतिक है। यदि हम इस तर्क को, कि अस्तित्व भौतिक होता है, स्वीकार कर भी लें तो फिर कोई कृष्ण के अस्तित्व को किस प्रकार पहचानेगा? कृष्ण भूतकाल में भी अपने अस्तित्व की पुष्टि करते हैं और भविष्य में भी अपने अस्तित्व की पुष्टि करते हैं। उन्होंने अपने अस्तित्व की पुष्टि कई प्रकार से की है और निराकार ब्रह्म उनके अधीन घोषित किया जा चुका है। कृष्ण सदा सर्वदा अपना अस्तित्व बनाये रहे हैं; यदि उन्हें सामान्य चेतना वाले सामान्य व्यक्ति के रूप में माना जाता है तो प्रामाणिक शास्त्र के रूप में उनकी *भगवद्गीता* की कोई महत्ता नहीं होगी। एक सामान्य व्यक्ति मनुष्यों के चार अवगुणों के कारण श्रवण करने योग्य शिक्षा देने में असमर्थ रहता है। *गीता* ऐसे साहित्य से ऊपर है। कोई भी संसारी ग्रंथ *गीता* की तुलना नहीं कर सकता। श्रीकृष्ण को सामान्य व्यक्ति मान लेने पर *गीता* की सारी महत्ता जाती रहती है। मायावादियों का तर्क है कि इस श्लोक में वर्णित द्वैत लौकिक है और शरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है। किन्तु इसके पहले वाले श्लोक में ऐसी देहात्मबुद्धि की निन्दा की गई है। एक बार जीवों की देहात्मबुद्धि की निन्दा करने के बाद यह कैसे सम्भव है कि कृष्ण पुनः शरीर पर उसी वक्तव्य को दुहराते? अतः यह अस्तित्व आध्यात्मिक आधार पर स्थापित है और इसकी पुष्टि रामानुजाचार्य तथा अन्य आचार्यों ने भी की है। *गीता* में कई स्थलों पर इसका उल्लेख है कि यह आध्यात्मिक अस्तित्व केवल भगवद्भक्तों द्वारा ज्ञेय है। जो लोग भगवान् कृष्ण का विरोध करते हैं उनकी इस महान साहित्य तक पहुँच नहीं हो पाती। अभक्तों द्वारा *गीता* के उपदेशों को समझने का प्रयास मधुमक्खी द्वारा मधुपात्र चाटने के सदृश है। पात्र को खोले बिना मधु को नहीं चखा जा सकता। इसी प्रकार *भगवद्गीता* के रहस्यवाद को केवल भक्त ही समझ सकते हैं, अन्य कोई नहीं, जैसा कि इसके चतुर्थ अध्याय में कहा गया है। न ही *गीता* का स्पर्श ऐसे लोग कर पाते हैं जो भगवान् के अस्तित्व का ही विरोध करते हैं। अतः मायावादियों द्वारा *गीता* की व्याख्या मानो समग्र सत्य का सरासर भ्रामक निरूपण है। भगवान् चैतन्य ने मायावादियों द्वारा की गई *गीता* की व्याख्याओं को पढ़ने का निषेध किया है और चेतावनी दी है कि जो कोई ऐसे मायावादी दर्शन को ग्रहण करता है वह *गीता* के वास्तविक रहस्य को

समझ पाने में असमर्थ रहता है। यदि अस्तित्व का अभिप्राय अनुभवगम्य ब्रह्माण्ड से है तो भगवान् द्वारा उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं थी। आत्मा तथा परमात्मा का द्वैत शाश्वत तथ्य है और इसकी पुष्टि वेदों द्वारा होती है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥१३॥

देहिनः—शरीरधारी की; **अस्मिन्**—इसमें; **यथा**—जिस प्रकार; **देहे**—शरीर में; **कौमारम्**—बाल्यावस्था; **यौवनम्**—यौवन, तारुण्य; **जरा**—वृद्धावस्था; **तथा**—उसी प्रकार; **देह-अन्तर**—शरीर के स्थानान्तरण की; **प्राप्तिः**—उपलब्धि; **धीरः**—धीर व्यक्ति; **तत्र**—उस विषय में; **न**—कभी नहीं; **मुह्यति**—मोह को प्राप्त होता है।

जिस प्रकार शरीरधारी आत्मा इस (वर्तमान) शरीर में बाल्यावस्था से तरुणावस्था में और फिर वृद्धावस्था में निरन्तर अग्रसर होता रहता है, उसी प्रकार मृत्यु होने पर आत्मा दूसरे शरीर में चला जाता है। धीर व्यक्ति ऐसे परिवर्तन से मोह को प्राप्त नहीं होता।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव एक व्यष्टि आत्मा है। वह प्रतिक्षण अपना शरीर बदलता रहता है—कभी बालक के रूप में, कभी युवा तथा कभी वृद्ध पुरुष के रूप में। तो भी आत्मा वही रहता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। यह व्यष्टि आत्मा मृत्यु होने पर अन्ततोगत्वा एक शरीर बदल कर दूसरे शरीर में देहान्तरण कर जाता है और चूँकि अगले जन्म में इसको शरीर मिलना अवश्यम्भावी है—चाहे वह शरीर आध्यात्मिक हो या भौतिक—अतः अर्जुन के लिए न तो भीष्म, न ही द्रोण के लिए शोक करने का कोई कारण था। अपितु उसे प्रसन्न होना चाहिए था कि वे अपने पुराने शरीरों को बदल कर नये शरीर ग्रहण करेंगे और इस तरह वे नई शक्ति प्राप्त करेंगे। ऐसे शरीर-परिवर्तन से जीवन में किये कर्म के अनुसार नाना प्रकार के सुखोपभोग या कष्टों का लेखा हो जाता है। चूंकि भीष्म व द्रोण साधु पुरुष थे इसलिए अगले जन्म में उन्हें आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होंगे; नहीं तो कम से कम उन्हें स्वर्ग में भोग करने के अनुरूप शरीर तो प्राप्त होंगे ही, अतः दोनों ही दशाओं में शोक का कोई कारण नहीं था।

जिस मनुष्य को व्यष्टि आत्मा, परमात्मा तथा भौतिक और आध्यात्मिक प्रकृति का पूर्ण ज्ञान होता है वह *धीर* कहलाता है। ऐसा मनुष्य कभी भी शरीर-परिवर्तन द्वारा ठगा नहीं जाता।

आत्मा के एकात्मवाद का मायावादी सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा के इस प्रकार विखण्डन से परमेश्वर विखंडनीय या परिवर्तनशील हो जायेगा जो परमात्मा के अपरिवर्तनीय होने के सिद्धान्त के विरुद्ध होगा। *गीता* में पुष्टि हुई है कि परमात्मा के खण्डों का शाश्वत (सनातन) अस्तित्व है जिन्हें *क्षर* कहा जाता है अर्थात् उनमें भौतिक प्रकृति में गिरने की प्रवृत्ति होती है। ये भिन्न अंश (खण्ड) नित्य भिन्न रहते हैं, यहाँ तक

कि मुक्ति के बाद भी व्यष्टि आत्मा जैसे का तैसा—भिन्न अंश—बना रहता है। किन्तु एक बार मुक्त होने पर वह श्रीभगवान् के साथ सच्चिदानन्द रूप में रहता है। परमात्मा पर प्रतिबिम्बवाद का सिद्धान्त व्यवहृत किया जा सकता है, जो प्रत्येक शरीर में विद्यमान रहता है। वह व्यष्टि जीव से भिन्न होता है। जब आकाश का प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है तो प्रतिबिम्ब में सूर्य, चन्द्र तथा तारे सभी कुछ रहते हैं। तारों की तुलना जीवों से तथा सूर्य या चन्द्र की परमेश्वर से की जा सकती है। व्यष्टि अंश आत्मा को अर्जुन के रूप में और परमात्मा को श्रीभगवान् के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। जैसा कि चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में स्पष्ट है, वे एक ही स्तर पर नहीं होते। यदि अर्जुन कृष्ण के समान स्तर पर हो और कृष्ण अर्जुन से श्रेष्ठतर न हों तो उनमें उपदेशक तथा उपदिष्ट का सम्बन्ध अर्थहीन होगा। यदि ये दोनों माया द्वारा मोहित होते हैं तो एक को उपदेशक तथा दूसरे को उपदिष्ट होने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसा उपदेश व्यर्थ होगा क्योंकि माया के चंगुल में रहकर कोई भी प्रामाणिक उपदेशक नहीं बन सकता। ऐसी परिस्थितियों में यह मान लिया जाता है कि भगवान् कृष्ण परमेश्वर हैं जो पद में माया द्वारा विस्मृत अर्जुन रूपी जीव से श्रेष्ठ हैं।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ १४॥

मात्रा-स्पर्शाः–इन्द्रियविषय; **तु**–केवल; **कौन्तेय**–हे कुन्तीपुत्र; **शीत**–जाड़ा; **उष्ण**–ग्रीष्म **सुख**–सुख; **दुःख**–तथा दुख; **दाः**–देने वाले; **आगम**–आना; **अपायिनः**–जाना **अनित्याः**–क्षणिक; **तान्**–उनको; **तितिक्षस्व**–सहन करने का प्रयत्न करो; **भारत**–हे भरतवंशी।

हे कुन्तीपुत्र! सुख तथा दुख का क्षणिक उदय तथा कालक्रम में उनका अन्तर्धान होना सर्दी तथा गर्मी की ऋतुओं के आने जाने के समान है। हे भरतवंशी! वे इन्द्रियबोध से उत्पन्न होते हैं और मनुष्य को चाहिए कि अविचल भाव से उनको सहन करना सीखे।

तात्पर्य : कर्तव्य-निर्वाह करते हुए मनुष्य को सुख तथा दुख के क्षणिक आने-जाने को सहन करने का अभ्यास करना चाहिए। वैदिक आदेशानुसार मनुष्य को माघ (जनवरी-फरवरी) के मास में भी प्रातःकाल स्नान करना चाहिए। उस समय अत्यधिक ठंड पड़ती है, किन्तु जो धार्मिक नियमों का पालन करने वाला है, वह स्नान करने में तनिक भी झिझकता नहीं। इसी प्रकार एक गृहिणी भीषण से भीषण गर्मी की ऋतु में (मई-जून के महीनों में) भोजन पकाने में हिचकती नहीं। जलवायु सम्बन्धी असुविधाएँ होते हुए भी मनुष्य को अपना कर्तव्य निभाना होता है। इसी प्रकार युद्ध करना *क्षत्रिय* का धर्म है अतः उसे अपने किसी मित्र या परिजन से भी युद्ध करना पड़े तो उसे अपने धर्म से विचलित नहीं होना चाहिए। मनुष्य को ज्ञान प्राप्त करने के लिए धर्म के विधि-विधान पालन करने होते हैं क्योंकि ज्ञान तथा भक्ति से ही मनुष्य अपने आपको माया के बंधन से छुड़ा सकता है।

अर्जुन को जिन दो नामों से सम्बोधित किया गया है, वे भी महत्त्वपूर्ण हैं। *कौन्तेय* कहकर सम्बोधित करने से यह प्रकट होता है कि वह अपनी माता की ओर (मातृकुल)से सम्बंधित है और *भारत* कहने से उसके पिता की ओर (पितृकुल)से सम्बन्ध प्रकट होता है। दोनों ओर से उसको महान विरासत प्राप्त है। महान विरासत प्राप्त होने के फलस्वरूप कर्तव्यनिर्वाह का उत्तरदायित्व आ पड़ता है, अतः अर्जुन युद्ध से विमुख नहीं हो सकता।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥१५॥

यम्–जिस; **हि**–निश्चित रूप से; **न**–कभी नहीं; **व्यथयन्ति**–विचलित नहीं करते; **एते**–ये सब; **पुरुषम्**–मनुष्य को; **पुरुष-ऋषभ**–हे पुरुष-श्रेष्ठ; **सम**–अपरिवर्तनीय; **दुःख**–दुख में; **सुखम्**–तथा सुख में; **धीरम्**–धीर पुरुष; **सः**–वह; **अमृतत्वाय**–मुक्ति के लिए; **कल्पते**–योग्य है।

हे पुरुषश्रेष्ठ (अर्जुन)! जो पुरुष सुख तथा दुख में विचलित नहीं होता और इन दोनों में समभाव रहता है, वह निश्चित रूप से मुक्ति के योग्य है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार की उच्च अवस्था प्राप्त करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ है और सुख तथा दुख के प्रहारों को समभाव से सह सकता है वह निश्चय ही मुक्ति के योग्य है। वर्णाश्रम-धर्म में चौथी अवस्था अर्थात् संन्यास आश्रम कष्टसाध्य अवस्था है। किन्तु जो अपने जीवन को सचमुच पूर्ण बनाना चाहता है वह समस्त कठिनाइयों के होते हुए भी संन्यास आश्रम अवश्य ग्रहण करता है। ये कठिनाइयाँ पारिवारिक सम्बन्ध-विच्छेद करने तथा पत्नी और सन्तान से सम्बन्ध तोड़ने के कारण उत्पन्न होती हैं। किन्तु यदि कोई इन कठिनाइयों को सह लेता है तो उसके आत्म-साक्षात्कार का पथ निष्कंटक हो जाता है। अतः अर्जुन को *क्षत्रिय*-धर्म निर्वाह में दृढ़ रहने के लिए कहा जा रहा है, भले ही स्वजनों या अन्य प्रिय व्यक्तियों के साथ युद्ध करना कितना ही दुष्कर क्यों न हो। भगवान् चैतन्य ने चौबीस वर्ष की अवस्था में ही संन्यास ग्रहण कर लिया था यद्यपि उन पर आश्रित उनकी तरुण पत्नी तथा वृद्धा माँ की देखभाल करने वाला अन्य कोई न था। तो भी उच्चादर्श के लिए उन्होंने संन्यास ग्रहण किया और अपने कर्तव्यपालन में स्थिर बने रहे। भवबन्धन से मुक्ति पाने का यही एकमात्र उपाय है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥१६॥

न–नहीं; **असतः**–असत् का; **विद्यते**–है; **भावः**–चिरस्थायित्व; **न**–कभी नहीं; **अभावः**–परिवर्तनशील गुण; **विद्यते**–है; **सतः**–शाश्वत का; **उभयोः**–दोनों का; **अपि**–ही; **दृष्टः**–देखा गया; **अन्तः**–निष्कर्ष; **तु**–निस्सन्देह; **अनयोः**–इनका; **तत्त्व**–सत्य के; **दर्शिभिः**–भविष्यद्रष्टा द्वारा।

तत्त्वदर्शियों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि असत् (भौतिक शरीर) का तो कोई

चिरस्थायित्व नहीं है, किन्तु सत् (आत्मा) अपरिवर्तित रहता है। उन्होंने इन दोनों की प्रकृति के अध्ययन द्वारा यह निष्कर्ष निकाला है।

तात्पर्य : परिवर्तनशील शरीर का कोई स्थायित्व नहीं है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने भी यह स्वीकार किया है कि विभिन्न कोशिकाओं की क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा शरीर प्रतिक्षण बदलता रहता है। इस तरह शरीर में वृद्धि तथा वृद्धावस्था आती रहती है। किन्तु शरीर तथा मन में निरन्तर परिवर्तन होने पर भी आत्मा स्थायी रहता है। यही पदार्थ तथा आत्मा का अन्तर है। स्वभावतः शरीर नित्य परिवर्तनशील है और आत्मा शाश्वत है। तत्त्वदर्शियों ने, चाहे वे निर्विशेषवादी हों या सगुणवादी, इस निष्कर्ष की स्थापना की है। *विष्णु-पुराण* में (२.१२.३८) कहा गया है कि विष्णु तथा उनके धाम स्वयंप्रकाश से प्रकाशित हैं—(*ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः*)। *सत्* तथा *असत्* शब्द आत्मा तथा भौतिक पदार्थ के ही द्योतक हैं। सभी तत्त्वदर्शियों की यह स्थापना है।

यहीं से भगवान् द्वारा अज्ञान से मोहग्रस्त जीवों को उपदेश देने का शुभारम्भ होता है। अज्ञान को हटाने के लिए आराधक और आराध्य के बीच पुनः शाश्वत सम्बन्ध स्थापित करना होता है और फिर अंश-रूप जीवों तथा श्रीभगवान् के अन्तर को समझना होता है। कोई भी व्यक्ति आत्मा के अध्ययन द्वारा परमेश्वर के स्वभाव को समझ सकता है—आत्मा तथा परमात्मा का अन्तर अंश तथा पूर्ण के अन्तर के रूप में है। *वेदान्त-सूत्र* तथा *श्रीमद्भागवत* में परमेश्वर को समस्त उद्भवों (प्रकाश) का मूल माना गया है। ऐसे उद्भवों का अनुभव परा तथा अपरा प्राकृतिक-क्रमों द्वारा किया जाता है। जीव का सम्बन्ध परा प्रकृति से है, जैसा कि सातवें अध्याय से स्पष्ट होगा। यद्यपि शक्ति तथा शक्तिमान में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु शक्तिमान को परम माना जाता है और शक्ति या प्रकृति को गौण। अतः सारे जीव उसी तरह परमेश्वर के सदैव अधीन रहते हैं जिस तरह सेवक स्वामी के या शिष्य गुरु के अधीन रहता है। अज्ञानावस्था में ऐसे स्पष्ट ज्ञान को समझ पाना असम्भव है। अतः ऐसे अज्ञान को दूर करने के लिए सदा सर्वदा के लिए जीवों को प्रबुद्ध करने हेतु भगवान् *भगवद्गीता* का उपदेश देते हैं।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥ १७॥

अविनाशि—नाशरहित, तु—लेकिन, तत्—उसे, विद्धि—जानो, येन—जिससे, सर्वम्—सम्पूर्ण शरीर, इदम्—यह, ततम्—परिव्याप्त, विनाशम्—नाश, अव्ययस्य—अविनाशी का, अस्य—इस, न कश्चित्—कोई भी नहीं, कर्तुम्—करने के लिए, अर्हति—समर्थ है।

जो सारे शरीर में व्याप्त है उसे ही तुम अविनाशी समझो। उस अव्यय आत्मा को नष्ट करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

तात्पर्य : इस श्लोक में सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त आत्मा की प्रकृति का अधिक स्पष्ट वर्णन हुआ है। सभी लोग समझते हैं कि जो सारे शरीर में व्याप्त है वह चेतना है। प्रत्येक व्यक्ति को शरीर में किसी अंश या पूरे भाग में सुख-दुख का अनुभव होता है। किन्तु चेतना की यह व्याप्ति किसी के शरीर तक ही सीमित रहती है। एक शरीर के सुख

तथा दुख का बोध दूसरे शरीर को नहीं हो पाता। फलतः प्रत्येक शरीर में व्यष्टि आत्मा है और इस आत्मा की उपस्थिति का लक्षण व्यष्टि चेतना द्वारा परिलक्षित होता है। इस आत्मा को बाल के अग्रभाग के दस हजारवें भाग के तुल्य बताया जाता है। *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में (५.९) इसकी पुष्टि हुई है—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥

"यदि बाल के अग्रभाग को एक सौ भागों में विभाजित किया जाय और फिर इनमें से प्रत्येक भाग को एक सौ भागों में विभाजित किया जाय तो इस तरह के प्रत्येक भाग की माप आत्मा का परिमाप है।" इसी प्रकार यही कथन निम्नलिखित श्लोक में मिलता है—

केशाग्रशतभागस्य शतांशः सादृशात्मकः।
जीवः सूक्ष्मस्वरूपोऽयं संख्यातीतो हि चित्कणः॥

"आत्मा के परमाणुओं के अनन्त कण हैं जो माप में बाल के अगले भाग (नोक) के दस हजारवें भाग के बराबर हैं।"

इस प्रकार आत्मा का प्रत्येक कण भौतिक परमाणुओं से भी छोटा है और ऐसे असंख्य कण हैं। यह अत्यन्त लघु आत्म-स्फुलिंग भौतिक शरीर का मूल आधार है और इस आत्म-स्फुलिंग का प्रभाव सारे शरीर में उसी तरह व्याप्त है जिस प्रकार किसी औषधि का प्रभाव व्याप्त रहता है। आत्मा की यह धारा (विद्युतधारा) सारे शरीर में चेतना के रूप में अनुभव की जाती है और यही आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण है। सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी समझ सकता है कि यह भौतिक शरीर चेतनारहित होने पर मृतक हो जाता है और शरीर में इस चेतना को किसी भी भौतिक उपचार से वापस नहीं लाया जा सकता। अतः यह चेतना भौतिक संयोग के फलस्वरूप नहीं है, अपितु आत्मा के कारण है। *मुण्डक उपनिषद्* में (३.१.९) सूक्ष्म (परमाणविक) आत्मा की और अधिक विवेचना हुई है—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥

"आत्मा आकार में अणु तुल्य है जिसे पूर्ण बुद्धि के द्वारा जाना जा सकता है। यह अणु-आत्मा पाँच प्रकार के प्राणों में तैर रहा है (*प्राण, अपान, व्यान, समान* तथा *उदान*); यह हृदय के भीतर स्थित है और देहधारी जीव के पूरे शरीर में अपने प्रभाव का विस्तार करता है। जब आत्मा को पाँच वायुओं के कल्मष से शुद्ध कर लिया जाता है तो इसका आध्यात्मिक प्रभाव प्रकट होता है।"

हठ-योग का प्रयोजन विविध आसनों द्वारा उन पाँच प्रकार के प्राणों को नियन्त्रित करना है जो आत्मा को घेरे हुए हैं। यह योग किसी भौतिक लाभ के लिए नहीं, अपितु भौतिक आकाश के बन्धन से अणु-आत्मा की मुक्ति के लिए किया जाता है।

इस प्रकार अणु-आत्मा को सारे वैदिक साहित्य ने स्वीकारा है और प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति अपने व्यावहारिक अनुभव से इसका प्रत्यक्ष अनुभव करता है। केवल मूर्ख व्यक्ति ही इस अणु-आत्मा को सर्वव्यापी *विष्णु-तत्त्व* के रूप में सोच सकता है।

अणु-आत्मा का प्रभाव पूरे शरीर में व्याप्त हो सकता है। *मुण्डक उपनिषद्* के अनुसार यह अणु-आत्मा प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित है और चूँकि भौतिक विज्ञानी इस अणु-आत्मा को माप सकने में असमर्थ हैं, अतः उनमें से कुछ यह अनुभव करते हैं कि आत्मा है ही नहीं। व्यष्टि आत्मा तो निस्सन्देह परमात्मा के साथ-साथ हृदय में है और इसीलिए शारीरिक गतियों की सारी शक्ति शरीर के इसी भाग से उद्भूत है। जो लाल रक्तकण फेफड़ों से आक्सीजन ले जाते हैं वे आत्मा से ही शक्ति प्राप्त करते हैं। अतः जब आत्मा इस स्थान से निकल जाता है तो रक्तोत्पादक संलयन (fusion) बन्द हो जाता है। औषधि विज्ञान लाल रक्तकणों की महत्ता को तो स्वीकार करता है, किन्तु *वह यह निश्चित नहीं कर पाता कि शक्ति का स्रोत आत्मा है। जो भी हो, औषधि* विज्ञान यह स्वीकार करता है कि शरीर की सारी शक्ति का उद्गमस्थल हृदय है।

पूर्ण आत्मा के ऐसे अणुकणों की तुलना सूर्य-प्रकाश के कणों से की जाती है। इस सूर्य-प्रकाश में असंख्य तेजोमय अणु होते हैं। इसी प्रकार परमेश्वर के अंश उनकी किरणों के परमाणु स्फुलिंग है और *प्रभा* या परा शक्ति कहलाते हैं। अतः चाहे कोई वैदिक ज्ञान का अनुगामी हो या आधुनिक विज्ञान का, वह शरीर में आत्मा के अस्तित्व को नकार नहीं सकता। भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* में आत्मा के इस विज्ञान का विशद वर्णन किया है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥१८॥

अन्त-वन्त—नाशवान; **इमे**—ये सब; **देहाः**—भौतिक शरीर; **नित्यस्य**—नित्य स्वरूप; **उक्ताः**—कहे जाते हैं; **शरीरिणः**—देहधारी जीव का; **अनाशिनः**—कभी नाश न होने वाला; **अप्रमेयस्य**—न मापा जा सकने योग्य; **तस्मात्**—अतः; **युध्यस्व**—युद्ध करो; **भारत**—हे भरतवंशी।

अविनाशी, अप्रमेय तथा शाश्वत जीव के भौतिक शरीर का अन्त अवश्यम्भावी है। अतः हे भरतवंशी! युद्ध करो।

तात्पर्य : भौतिक शरीर स्वभाव से नाशवान है। यह तत्क्षण नष्ट हो सकता है और सौ वर्ष बाद भी। यह केवल समय की बात है। इसे अनन्त काल तक बनाये रखने की कोई सम्भावना नहीं है। किन्तु आत्मा इतना सूक्ष्म है कि इसे शत्रु देख भी नहीं सकता, मारना तो दूर रहा। जैसा कि पिछले श्लोक में कहा गया है, यह इतना सूक्ष्म है कि कोई इसके मापने की बात सोच भी नहीं सकता। अतः दोनों ही दृष्टि से शोक का कोई कारण नहीं है क्योंकि जीव जिस रूप में है, न तो उसे मारा जा सकता है, न ही शरीर को कुछ समय तक या स्थायी रूप से बचाया जा सकता है। पूर्ण आत्मा के सूक्ष्म कण अपने कर्म के अनुसार ही यह शरीर धारण करते हैं, अतः धार्मिक नियमों का पालन करना चाहिए। *वेदान्त-सूत्र* में जीव को प्रकाश बताया गया है क्योंकि वह परम प्रकाश का अंश है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सारे ब्रह्माण्ड का पोषण करता है उसी प्रकार आत्मा के प्रकाश से इस भौतिक देह का पोषण होता है। जैसे ही आत्मा इस भौतिक शरीर से बाहर निकल जाता है, शरीर सड़ने लगता है, अतः आत्मा ही शरीर का पोषक है।

शरीर अपने आप में महत्त्वहीन है। इसीलिए अर्जुन को उपदेश दिया गया कि वह युद्ध करे और भौतिक शारीरिक कारणों से धर्म की वलि न होने दे।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥१९॥

यः—जो; **एनम्**—इसको; **वेत्ति**—जानता है; **हन्तारम्**—मारने वाला; **यः**—जो; **च**—भी; **एनम्**—इसे; **मन्यते**—मानता है; **हतम्**—मरा हुआ; **उभौ**—दोनों; **तौ**—वे; **न**—कभी नहीं; **विजानीतः**—जानते हैं; **न**—कभी नहीं; **अयम्**—यह; **हन्ति**—मारता है; **न**—नहीं; **हन्यते**—मारा जाता है।

जो इस जीवात्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसे मरा हुआ समझता है, वे दोनों ही अज्ञानी हैं, क्योंकि आत्मा न तो मारता है और न मारा जाता है।

तात्पर्य : जब देहधारी जीव को किसी घातक हथियार से आघात पहुँचाया जाता है तो यह समझ लेना चाहिए कि शरीर के भीतर का जीवात्मा मरा नहीं। आत्मा इतना सूक्ष्म है कि इसे किसी तरह के भौतिक हथियार से मार पाना असम्भव है, जैसा कि अगले श्लोकों से स्पष्ट हो जायेगा। न ही जीवात्मा अपने आध्यात्मिक स्वरूप के कारण वध्य है। जिसे मारा जाता है या जिसे मरा हुआ समझा जाता है वह केवल शरीर होता है। किन्तु इसका तात्पर्य शरीर के वध को प्रोत्साहित करना नहीं है। वैदिक आदेश है—*मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि*—किसी भी जीव की हिंसा न करो। न ही 'जीवात्मा अवध्य है' का अर्थ यह है कि पशु-हिंसा को प्रोत्साहन दिया जाय। किसी भी जीव के शरीर की अनधिकार हत्या करना निंद्य है और राज्य तथा भगवद्विधान के द्वारा दण्डनीय है। किन्तु अर्जुन को तो धर्म के नियमानुसार मारने के लिए नियुक्त किया जा रहा था, किसी पागलपनवश नहीं।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥२०॥

न—कभी नहीं; **जायते**—जन्मता है; **म्रियते**—मरता है; **वा**—या; **कदाचित्**—कभी भी (भूत, वर्तमान या भविष्य); **न**—कभी नहीं; **अयम्**—यह; **भूत्वा**—होकर; **भविता**—होने वाला; **वा**—अथवा; **न**—नहीं; **भूयः**—अथवा, पुनः होने वाला है; **अजः**—अजन्मा; **नित्यः**—नित्य; **शाश्वतः**—स्थायी; **अयम्**—यह; **पुराणः**—सबसे प्राचीन; **न**—नहीं; **हन्यते**—मारा जाता है; **हन्यमाने**—मारा जाकर; **शरीरे**—शरीर में।

आत्मा के लिए किसी भी काल में न तो जन्म है न मृत्यु। वह न तो कभी जन्मा है, न जन्म लेता है और न जन्म लेगा। वह अजन्मा, नित्य, शाश्वत तथा पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर वह मारा नहीं जाता।

तात्पर्य : गुणात्मक दृष्टि से, परमात्मा का अणु-अंश परम से अभिन्न है। वह शरीर की भाँति विकारी नहीं है। कभी-कभी आत्मा को स्थायी या *कूटस्थ* कहा जाता है। शरीर

में छह प्रकार के रूपान्तर होते हैं। वह माता के गर्भ से जन्म लेता है, कुछ काल तक रहता है, बढ़ता है, कुछ परिणाम उत्पन्न करता है, धीरे-धीरे क्षीण होता है और अन्त में समाप्त हो जाता है। किन्तु आत्मा में ऐसे परिवर्तन नहीं होते। आत्मा अजन्मा है, किन्तु चूँकि वह भौतिक शरीर धारण करता है, अतः शरीर जन्म लेता है। आत्मा न तो जन्म लेता है, न मरता है। जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु भी होती है। और चूँकि आत्मा जन्म नहीं लेता, अतः उसका न तो भूत है, न वर्तमान या भविष्य। वह नित्य, शाश्वत तथा सनातन है—अर्थात् उसके जन्म लेने का कोई इतिहास नहीं है। हम शरीर के प्रभाव में आकर आत्मा के जन्म, मरण आदि का इतिहास खोजते हैं। आत्मा शरीर की तरह कभी भी वृद्ध नहीं होता, अतः तथाकथित वृद्ध पुरुष भी अपने में बाल्यकाल या युवावस्था जैसी अनुभूति पाता है। शरीर के परिवर्तनों का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आत्मा वृक्ष या किसी अन्य भौतिक वस्तु की तरह क्षीण नहीं होता। आत्मा की कोई उपसृष्टि नहीं होती। शरीर की उपसृष्टि सन्तानें हैं और वे भी व्यष्टि आत्माएँ हैं और शरीर के कारण वे किसी न किसी की सन्तानें प्रतीत होते हैं। शरीर की वृद्धि आत्मा की उपस्थिति के कारण होती है, किन्तु आत्मा के न तो कोई उपवृद्धि है न ही उसमें कोई परिवर्तन होता है। अतः आत्मा शरीर के छः प्रकार के परिवर्तन से मुक्त है।

कठोपनिषद् में (१.२.१८) इसी तरह का एक श्लोक आया है—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

इस श्लोक का अर्थ तथा तात्पर्य *भगवद्गीता* के श्लोक जैसा ही है, किन्तु इस श्लोक में एक विशिष्ट शब्द *विपश्चित्* का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ है विद्वान् या ज्ञानमय।

आत्मा ज्ञान से या चेतना से सदैव पूर्ण रहता है। अतः चेतना ही आत्मा का लक्षण है। यदि कोई हृदयस्थ आत्मा को नहीं खोज पाता तब भी वह आत्मा की उपस्थिति को चेतना की उपस्थिति से जान सकता है। कभी-कभी हम बादलों या अन्य कारणों से आकाश में सूर्य को नहीं देख पाते, किन्तु सूर्य का प्रकाश सदैव विद्यमान रहता है, अतः हमें विश्वास हो जाता है कि यह दिन का समय है। प्रातःकाल ज्योंही आकाश में थोड़ा सा सूर्यप्रकाश दिखता है तो हम समझ जाते हैं कि सूर्य आकाश में है। इसी प्रकार चूँकि शरीरों में, चाहे पशु के हों या पुरुषों के, कुछ न कुछ चेतना रहती है, अतः हम आत्मा की उपस्थिति को जान लेते हैं। किन्तु जीव की यह चेतना परमेश्वर की चेतना से भिन्न है क्योंकि परम चेतना तो सर्वज्ञ है—भूत, वर्तमान तथा भविष्य के ज्ञान से पूर्ण। व्यष्टि जीव की चेतना विस्मरणशील है। जब वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है, तो उसे कृष्ण के उपदेशों से शिक्षा तथा प्रकाश और बोध प्राप्त होता है। किन्तु कृष्ण विस्मरणशील जीव नहीं हैं। यदि वे ऐसे होते तो उनके द्वारा दिये गये *भगवद्गीता* के उपदेश व्यर्थ होते।

आत्मा के दो प्रकार हैं—एक तो *अणु-आत्मा* और दूसरा *विभु-आत्मा*। *कठोपनिषद्* में (१.२.२०) इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥

"परमात्मा तथा अणु-आत्मा दोनों शरीर रूपी उसी वृक्ष में जीव के हृदय में विद्यमान हैं और इनमें से जो समस्त इच्छाओं तथा शोकों से मुक्त हो चुका है वही भगवत्कृपा से आत्मा की महिमा को समझ सकता है।" कृष्ण परमात्मा के भी उद्गम हैं जैसा कि अगले अध्यायों में बताया जायेगा और अर्जुन अणु-आत्मा के समान है जो अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गया है। अतः उसे कृष्ण द्वारा या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि गुरु द्वारा प्रबुद्ध किये जाने की आवश्यकता है।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २१॥

वेद—जानता है; **अविनाशिनम्**—अविनाशी को; **नित्यम्**—शाश्वत; **यः**—जो; **एनम्**—इस (आत्मा); **अजम्**—अजन्मा; **अव्ययम्**—निर्विकार; **कथम्**—कैसे; **सः**—वह; **पुरुषः**—पुरुष; **पार्थ**—हे पार्थ (अर्जुन); **कम्**—किसको; **घातयति**—मरवाता है; **हन्ति**—मारता है; **कम्**—किसको।

हे पार्थ! जो व्यक्ति यह जानता है कि आत्मा अविनाशी, अजन्मा, शाश्वत तथा अव्यय है, वह भला किसी को कैसे मार सकता है या मरवा सकता है?

तात्पर्य : प्रत्येक वस्तु की समुचित उपयोगिता होती है और जो ज्ञानी होता है वह जानता है कि किसी वस्तु का कहाँ और कैसे प्रयोग किया जाय। इसी प्रकार हिंसा की भी अपनी उपयोगिता है और इसका उपयोग इसे जानने वाले पर निर्भर करता है। यद्यपि हत्या करने वाले व्यक्ति को न्यायसंहिता के अनुसार प्राणदण्ड दिया जाता है, किन्तु न्यायाधीश को दोषी नहीं ठहराया जा सकता है, क्योंकि वह न्यायसंहिता के अनुसार ही दूसरे व्यक्ति पर हिंसा किये जाने का आदेश देता है। मनुष्यों के विधि-ग्रंथ *मनुसंहिता* में इसका समर्थन किया गया है कि हत्यारे को प्राणदण्ड देना चाहिए जिससे उसे अगले जीवन में अपना पापकर्म भोगना न पड़े। अतः राजा द्वारा हत्यारे को फाँसी का दण्ड एक प्रकार से लाभप्रद है। इसी प्रकार जब कृष्ण युद्ध करने का आदेश देते हैं तो यह समझना चाहिए कि यह हिंसा परम न्याय के लिए है और इस तरह अर्जुन को इस आदेश का पालन यह समझकर करना चाहिए कि कृष्ण के लिए किया गया युद्ध हिंसा नहीं है क्योंकि मनुष्य या दूसरे शब्दों में आत्मा को मारा नहीं जा सकता। अतः न्याय के हेतु तथाकथित हिंसा की अनुमति है। शल्यक्रिया का प्रयोजन रोगी को मारना नहीं अपितु उसको स्वस्थ बनाना है। अतः कृष्ण के आदेश पर अर्जुन द्वारा किया जाने वाला युद्ध पूरे ज्ञान के साथ हो रहा है, उससे पापफल की सम्भावना नहीं है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य-
न्यानि संयाति नवानि देही॥ २२॥

वासांसि–वस्त्रों को; जीर्णानि–पुराने तथा फटे; यथा–जिस प्रकार; विहाय–त्याग कर; नवानि–नए वस्त्र; गृह्णाति–ग्रहण करता है; नरः–मनुष्य; अपराणि–अन्य; तथा–उसी प्रकार; शरीराणि–शरीरों को; विहाय–त्याग कर; जीर्णानि–वृद्ध तथा व्यर्थ; अन्यानि–भिन्न; संयाति–स्वीकार करता है; नवानि–नये; देही–देहधारी आत्मा।

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने तथा व्यर्थ के शरीरों को त्याग कर नवीन भौतिक शरीर धारण करता है।

तात्पर्य : अणु-आत्मा द्वारा शरीर का परिवर्तन एक स्वीकृत तथ्य है। आधुनिक विज्ञानीजन तक, जो आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करते, पर साथ ही हृदय से शक्ति-साधन की व्याख्या भी नहीं कर पाते, उन परिवर्तनों को स्वीकार करने को बाध्य हैं, जो बाल्यकाल से कौमारावस्था और फिर तरुणावस्था तथा वृद्धावस्था में होते रहते हैं। वृद्धावस्था से यही परिवर्तन दूसरे शरीर में स्थानान्तरित हो जाता है। इसकी व्याख्या एक पिछले श्लोक में (२.१३) की जा चुकी है।

अणु-आत्मा का दूसरे शरीर में स्थानान्तरण परमात्मा की कृपा से सम्भव हो पाता है। परमात्मा अणु-आत्मा की इच्छाओं की पूर्ति उसी तरह करते हैं जिस प्रकार एक मित्र दूसरे की इच्छापूर्ति करता है। *मुण्डक* तथा *श्वेताश्वतर उपनिषदों* में आत्मा तथा परमात्मा की उपमा दो मित्र पक्षियों से दी गई है जो एक ही वृक्ष पर बैठे हैं। इनमें से एक पक्षी (अणु-आत्मा) वृक्ष के फल को खा रहा है और दूसरा पक्षी (कृष्ण) अपने मित्र को देख रहा है। यद्यपि दोनों पक्षी समान गुण वाले हैं, किन्तु इनमें से एक भौतिक वृक्ष के फलों पर मोहित है, किन्तु दूसरा अपने मित्र के कार्यकलापों का साक्षी मात्र है। कृष्ण साक्षी पक्षी हैं, और अर्जुन फल-भोक्ता पक्षी। यद्यपि दोनों मित्र (सखा) हैं, किन्तु फिर भी एक स्वामी है और दूसरा सेवक है। अणु-आत्मा द्वारा इस सम्बन्ध की विस्मृति ही उसके एक वृक्ष से दूसरे पर जाने या एक शरीर से दूसरे में जाने का कारण है। जीव आत्मा प्राकृत शरीर रूपी वृक्ष पर अत्यधिक संघर्षशील है, किन्तु ज्योंही वह दूसरे पक्षी को परम गुरु के रूप में स्वीकार करता है—जिस प्रकार अर्जुन कृष्ण का उपदेश ग्रहण करने के लिए स्वेच्छा से उनकी शरण में जाता है—त्योंही परतन्त्र पक्षी तुरन्त सारे शोकों से विमुक्त हो जाता है। *मुण्डक-उपनिषद्* (३.१.२) तथा *श्वेताश्वतर-उपनिषद्* (४.७) समान रूप से इसकी पुष्टि करते हैं—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

"यद्यपि दोनों पक्षी एक ही वृक्ष पर बैठे हैं, किन्तु फल खाने वाला पक्षी वृक्ष के फल के भोक्ता रूप में चिन्ता तथा विषाद में निमग्न है। यदि किसी तरह वह अपने मित्र भगवान् की ओर उन्मुख होता है और उनकी महिमा को जान लेता है तो वह कष्ट भोगने वाला पक्षी तुरन्त समस्त चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है।" अब अर्जुन ने अपना मुख अपने शाश्वत मित्र कृष्ण की ओर फेरा है और उनसे *भगवद्गीता* समझ रहा है।

इस प्रकार वह कृष्ण से श्रवण करके भगवान् की परम महिमा को समझ कर शोक से मुक्त हो सकता है।

यहाँ भगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया है कि वह अपने पितामह तथा गुरु के देहान्तरण पर शोक प्रकट न करे अपितु उसे इस धर्मयुद्ध में उनके शरीरों का वध करने में प्रसन्न होना चाहिए, जिससे वे सब विभिन्न शारीरिक कर्म-फलों से तुरन्त मुक्त हो जायँ। बलिवेदी पर या धर्मयुद्ध में प्राणों को अर्पित करने वाला व्यक्ति तुरन्त शारीरिक पापों से मुक्त हो जाता है और उच्च लोक को प्राप्त होता है। अतः अर्जुन का शोक करना युक्तिसंगत नहीं है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥२३॥

न–कभी नहीं; **एनम्**–इस आत्मा को; **छिन्दन्ति**–खण्ड-खण्ड कर सकते हैं; **शस्त्राणि**–हथियार; **न**–कभी नहीं; **एनम्**–इस आत्मा को; **दहति**–जला सकता है; **पावकः**–अग्नि; **न**–कभी नहीं; **च**–भी; **एनम्**–इस आत्मा को; **क्लेदयन्ति**–भिगो सकता है; **आपः**–जल; **न**–कभी नहीं; **शोषयति**–सुखा सकता है; **मारुतः**–वायु।

यह आत्मा न तो कभी किसी शस्त्र द्वारा खण्ड-खण्ड किया जा सकता है, न अग्नि द्वारा जलाया जा सकता है, न जल द्वारा भिगोया या वायु द्वारा सुखाया जा सकता है।

तात्पर्य : सारे हथियार–तलवार, आग्नेयास्त्र, वर्षा के अस्त्र, चक्रवात आदि आत्मा को मारने में असमर्थ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक आग्नेयास्त्रों के अतिरिक्त मिट्टी, जल, वायु, आकाश आदि के भी अनेक प्रकार के हथियार होते थे। यहाँ तक कि आधुनिक युग के नाभिकीय हथियारों की गणना भी आग्नेयास्त्रों में की जाती है, किन्तु पूर्वकाल में विभिन्न पार्थिव तत्त्वों से बने हुए हथियार होते थे। आग्नेयास्त्रों का सामना जल के (वरुण) हथियारों से किया जाता था, जो आधुनिक विज्ञान के लिए अज्ञात हैं। आधुनिक विज्ञान को चक्रवात हथियारों का भी पता नहीं है। जो भी हो, आत्मा को न तो कभी खण्ड-खण्ड किया जा सकता है, न किन्हीं वैज्ञानिक हथियारों से उसका संहार किया जा सकता है, चाहे उनकी संख्या कितनी ही क्यों न हो।

मायावादी इसकी व्याख्या नहीं कर सकते कि जीव किस प्रकार अपने अज्ञान के कारण उत्पन्न हुआ और तत्पश्चात् माया की शक्ति से आवृत हो गया। न ही आदि परमात्मा से जीवों को विलग कर पाना सम्भव था, प्रत्युत सारे जीव परमात्मा से विलग हुए अंश हैं। चूँकि वे *सनातन* अणु-आत्मा हैं, अतः माया द्वारा आवृत होने की उनकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है और इस तरह वे भगवान् की संगति से पृथक् हो जाते हैं, जिस प्रकार अग्नि के स्फुलिंग अग्नि से विलग होते ही बुझ जाते हैं, यद्यपि इन दोनों के गुण समान होते हैं। *वराह पुराण* में जीवों को परमात्मा का भिन्न अंश कहा गया है। *भगवद्गीता* के अनुसार भी वे शाश्वत रूप से ऐसे ही हैं। अतः मोह से मुक्त होकर भी जीव पृथक् अस्तित्व रखता है, जैसा कि कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिये गये उपदेशों से

स्पष्ट है। अर्जुन कृष्ण के उपदेश के कारण मुक्त तो हो गया, किन्तु कभी भी कृष्ण से एकाकार नहीं हुआ।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥२४॥

अच्छेद्यः–न टूटने वाला, **अयम्**–यह आत्मा, **अदाह्यः**–न जलाया जा सकने वाला; **अयम्**–यह आत्मा, **अक्लेद्यः**–अघुलनशील; **अशोष्यः**–न सुखाया जा सकने वाला, **एव**–निश्चय ही, **च**–तथा; **नित्यः**–शाश्वत; **सर्व-गतः**–सर्वव्यापी, **स्थाणुः**–अपरिवर्तनीय, अविकारी; **अचलः**–जड़; **अयम्**–यह आत्मा, **सनातनः**–सदैव एक सा।

यह आत्मा अखंडित तथा अघुलनशील है। इसे न तो जलाया जा सकता है, न ही सुखाया जा सकता है। यह शाश्वत, सर्वव्यापी, अविकारी, स्थिर तथा सदैव एक सा रहने वाला है।

तात्पर्य : अणु-आत्मा के इतने सारे गुण यही सिद्ध करते हैं कि आत्मा पूर्ण आत्मा का अणु-अंश है और बिना किसी परिवर्तन के निरन्तर उसी तरह बना रहता है। इस प्रसंग में अद्वैतवाद को व्यवहृत करना कठिन है क्योंकि अणु-आत्मा कभी भी परम-आत्मा के साथ मिलकर एक नहीं हो सकता। भौतिक कल्मष से मुक्त होकर अणु-आत्मा भगवान् के तेज की किरणों की आध्यात्मिक स्फुलिंग बनकर रहना चाह सकता है, किन्तु बुद्धिमान जीव तो भगवान् की संगति करने के लिए वैकुण्ठलोक में प्रवेश करता है।

सर्वगत शब्द महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें कोई संशय नहीं है कि जीव भगवान् की समग्र सृष्टि में फैले हुए हैं। वे जल, थल, वायु, पृथ्वी के भीतर तथा अग्नि के भीतर भी रहते हैं। जो यह मानते हैं कि वे अग्नि में स्वाहा हो जाते हैं वह ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ कहा गया है कि आत्मा को अग्नि द्वारा जलाया नहीं जा सकता। अतः इसमें सन्देह नहीं कि सूर्यलोक में भी उपयुक्त प्राणी निवास करते हैं। यदि सूर्यलोक निर्जन हो तो *सर्वगत* शब्द निरर्थक हो जाता है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥२५॥

अव्यक्तः–अदृश्य, **अयम्**–यह आत्मा; **अचिन्त्यः**–अकल्पनीय **अयम्**–यह आत्मा, **अविकार्यः**–अपरिवर्तित, **अयम्**–यह आत्मा, **उच्यते**–कहलाता है, **तस्मात्**–अतः **एवम्**–इस प्रकार, **विदित्वा**–अच्छी तरह जानकर, **एनम्**–इस आत्मा के विषय में **न**–नहीं **अनुशोचितुम्**–शोक करने के लिए, **अर्हसि**–योग्य हो।

यह आत्मा अव्यक्त, अकल्पनीय तथा अपरिवर्तनीय कहा जाता है। यह जानकर तुम्हें शरीर के लिए शोक नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य : जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आत्मा इतना सूक्ष्म है कि इसे सर्वाधिक शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी यंत्र से भी नहीं देखा जा सकता, अतः यह अदृश्य है। जहाँ तक आत्मा के अस्तित्व का सम्बन्ध है, *श्रुति* के प्रमाण के अतिरिक्त अन्य किसी प्र-

इसके अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। हमें इस सत्य को स्वीकार करना पड़ता है क्योंकि अनुभवगम्य सत्य होते हुए भी आत्मा के अस्तित्व को समझने के लिए कोई अन्य साधन नहीं है। हमें अनेक बातें केवल उच्च प्रमाणों के आधार पर माननी पड़ती हैं। कोई भी अपनी माता के आधार पर अपने पिता के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं कर सकता। पिता के स्वरूप को जानने का साधन या एकमात्र प्रमाण माता है। इसी प्रकार *वेदाध्ययन* के अतिरिक्त आत्मा को समझने का अन्य उपाय नहीं है। दूसरे शब्दों में, आत्मा मानवीय व्यावहारिक ज्ञान द्वारा अकल्पनीय है। आत्मा चेतना है और चेतन है—*वेदों* के इस कथन को हमें स्वीकार करना होगा। आत्मा में शरीर जैसे परिवर्तन नहीं होते। मूलतः अविकारी रहते हुए आत्मा अनन्त परमात्मा की तुलना में अणु-रूप है। परमात्मा अनन्त है और अणु-आत्मा अति सूक्ष्म है। अतः अति सूक्ष्म आत्मा अविकारी होने के कारण अनन्त आत्मा भगवान् के तुल्य नहीं हो सकता। यही भाव *वेदों* में भिन्न-भिन्न प्रकार से आत्मा के स्थायित्व की पुष्टि करने के लिए दुहराया गया है। किसी बात का दुहराना उस तथ्य को बिना किसी त्रुटि के समझने के लिए आवश्यक है।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

अथ—यदि, फिर भी; **च**—भी; **एनम्**—इस आत्मा को; **नित्य-जातम्**—उत्पन्न होने वाला; **नित्यम्**—सदैव के लिए; **वा**—अथवा; **मन्यसे**—तुम ऐसा सोचते हो; **मृतम्**—मृत; **तथा अपि**—फिर भी; **त्वम्**—तुम; **महा-बाहो**—हे शूरवीर; **न**—कभी नहीं; **एनम्**—आत्मा के विषय में; **शोचितुम्**—शोक करने के लिए; **अर्हसि**—योग्य हो।

किन्तु यदि तुम यह सोचते हो कि आत्मा (अथवा जीवन का लक्षण) सदा जन्म लेता है तथा सदा मरता है तो भी हे महाबाहु! तुम्हारे शोक करने का कोई कारण नहीं है।

तात्पर्य : सदा से दार्शनिकों का एक ऐसा वर्ग चला आ रहा है जो बौद्धों के ही समान यह नहीं मानता कि शरीर के परे भी आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* का उपदेश दिया तो ऐसे दार्शनिक विद्यमान थे और *लोकायतिक* तथा *वैभाषिक* नाम से जाने जाते थे। ऐसे दार्शनिकों का मत है कि जीवन के लक्षण भौतिक संयोग की एक परिपक्वावस्था में ही घटित होते हैं। आधुनिक भौतिक विज्ञानी तथा भौतिकतावादी दार्शनिक भी ऐसा ही सोचते हैं। उनके अनुसार शरीर भौतिक तत्त्वों का संयोग है और एक अवस्था ऐसी आती है जब भौतिक तथा रासायनिक तत्त्वों के संयोग से जीवन के लक्षण विकसित हो उठते हैं। नृतत्त्व विज्ञान इसी दर्शन पर आधारित है। सम्प्रति, अनेक छद्म धर्म—जिनका अमेरिका में प्रचार हो रहा है—इसी दर्शन का पालन करते हैं और साथ ही शून्यवादी अभक्त बौद्धों का अनुसरण करते हैं।

यदि अर्जुन को आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं था, जैसा कि *वैभाषिक* दर्शन में होता है तो भी उसके शोक करने का कोई कारण न था। कोई भी मानव थोड़े से

रसायनों की क्षति के लिए शोक नहीं करता तथा अपना कर्तव्यपालन नहीं त्याग देता है। दूसरी ओर, आधुनिक विज्ञान तथा वैज्ञानिक युद्ध में शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए न जाने कितने टन रसायन फूँक देते हैं। *वैभाषिक दर्शन के अनुसार आत्मा शरीर के क्षय होते ही लुप्त हो जाता है। अतः प्रत्येक दशा में चाहे अर्जुन इस वैदिक* मान्यता को स्वीकार करता कि अणु-आत्मा का अस्तित्व है, या कि वह आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, उसके लिए शोक करने का कोई कारण न था। इस सिद्धान्त के अनुसार चूँकि पदार्थ से प्रत्येक क्षण असंख्य जीव उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते रहते हैं, अतः ऐसी घटनाओं के लिए शोक करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि आत्मा का पुनर्जन्म नहीं होता तो अर्जुन को अपने पितामह तथा गुरु के वध करने के पापफलों से डरने का कोई कारण न था। किन्तु साथ ही कृष्ण ने अर्जुन को व्यंगपूर्वक *महाबाहु* कह कर सम्बोधित किया क्योंकि उसे *वैभाषिक* सिद्धान्त स्वीकार नहीं था जो वैदिक ज्ञान के प्रतिकूल है। *क्षत्रिय* होने के नाते अर्जुन का सम्बन्ध वैदिक संस्कृति से था और वैदिक सिद्धान्तों का पालन करते रहना ही उसके लिए शोभनीय था।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ २७॥

जातस्य—जन्म लेने वाले की, हि—निश्चय ही, ध्रुवः—तथ्य है, मृत्युः—मृत्यु, ध्रुवम्—यह भी तथ्य है, जन्म—जन्म, मृतस्य—मृत प्राणी का, च—भी, तस्मात्—अतः, अपरिहार्ये—जिससे बचा न जा सके, उसका, अर्थे—के विषय में, न—नहीं, त्वम्—तुम, शोचितुम्—शोक करने के लिए, अर्हसि—योग्य हो।

जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु निश्चित है और मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म भी निश्चित है। अतः अपने अपरिहार्य कर्तव्यपालन में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य : मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार जन्म ग्रहण करना होता है और एक कर्म-अवधि समाप्त होने पर उसे मरना होता है, जिससे वह दूसरा जन्म ले सके। इस प्रकार मुक्ति प्राप्त किये बिना ही जन्म-मृत्यु का यह चक्र चलता रहता है। जन्म-मरण के इस चक्र से वृथा हत्या, वध तथा युद्ध का समर्थन नहीं होता। किन्तु मानव समाज में शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए हिंसा तथा युद्ध अपरिहार्य हैं।

कुरुक्षेत्र का युद्ध भगवान् की इच्छा होने के कारण अपरिहार्य था और सत्य के लिए युद्ध करना *क्षत्रिय* का धर्म है। अतः अपने कर्तव्य का पालन करते हुए वह स्वजनों की मृत्यु से भयभीत या शोकाकुल क्यों था? वह विधि (कानून) को भंग नहीं करना चाहता था क्योंकि ऐसा करने पर उसे उन पापकर्मों के फल भोगने पड़ेंगे जिनसे वह अत्यन्त भयभीत था। अपने कर्तव्य का पालन करते हुए वह स्वजनों की मृत्यु को रोक नहीं सकता था और यदि वह अनुचित कर्तव्य-पथ का चुनाव करे, तो उसे नीचे गिरना होगा।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।

अव्यक्त-आदीनि—प्रारम्भ में अप्रकट; भूतानि—सारे प्राणी; व्यक्त—प्रकट; मध्यानि—मध्य में; भारत—हे भरतवंशी; अव्यक्त—अप्रकट; निधनानि—विनाश होने पर; एव—इस तरह से; तत्र—अतः; का—क्या; परिदेवना—शोक।

सारे जीव प्रारम्भ में अव्यक्त रहते हैं, मध्य अवस्था में व्यक्त होते हैं और विनष्ट होने पर पुनः अव्यक्त हो जाते हैं। अतः शोक करने की क्या आवश्यकता है?

तात्पर्य : यह स्वीकार करते हुए कि दो प्रकार के दार्शनिक हैं—एक तो वे जो आत्मा के अस्तित्व को मानते हैं, और दूसरे वे जो आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानते, कहा जा सकता है कि किसी भी दशा में शोक करने का कोई कारण नहीं है। आत्मा के अस्तित्व को न मानने वालों को वेदान्तवादी नास्तिक कहते हैं। यदि हम तर्क के लिए इस नास्तिकतावादी सिद्धान्त को मान भी लें तो भी शोक करने का कोई कारण नहीं है। आत्मा के पृथक् अस्तित्व से भिन्न सारे भौतिक तत्त्व सृष्टि के पूर्व अदृश्य रहते हैं। इस अदृश्य रहने की सूक्ष्म अवस्था से ही दृश्य अवस्था आती है, जिस प्रकार आकाश से वायु उत्पन्न होती है, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है। पृथ्वी से अनेक प्रकार के पदार्थ प्रकट होते हैं—यथा एक विशाल गगनचुम्बी महल पृथ्वी से ही प्रकट है। जब इसे ध्वस्त कर दिया जाता है, तो वह अदृश्य हो जाता है, और अन्ततः परमाणु रूप में बना रहता है। शक्ति-संरक्षण का नियम बना रहता है, किन्तु कालक्रम से वस्तुएँ प्रकट तथा अप्रकट होती रहती हैं—अन्तर इतना ही है। अतः प्रकट होने (व्यक्त) या अप्रकट (अव्यक्त) होने पर शोक करने का कोई कारण नहीं है। यहाँ तक कि अप्रकट अवस्था में भी वस्तुएँ समाप्त नहीं होतीं। प्रारम्भिक तथा अन्तिम दोनों अवस्थाओं में ही सारे तत्त्व अप्रकट रहते हैं, केवल मध्य में वे प्रकट होते हैं और इस तरह इससे कोई वास्तविक अन्तर नहीं पड़ता।

यदि हम *भगवद्गीता* के इस वैदिक निष्कर्ष को मानते हैं कि ये भौतिक शरीर कालक्रम में नाशवान हैं (*अन्तवन्त इमे देहाः*) किन्तु आत्मा शाश्वत है (*नित्यस्योक्ताः शरीरिणः*) तो हमें यह सदा स्मरण रखना होगा कि यह शरीर वस्त्र (परिधान) के समान है, अतः वस्त्र परिवर्तन होने पर शोक क्यों? शाश्वत आत्मा की तुलना में भौतिक शरीर का कोई यथार्थ अस्तित्व नहीं होता। यह स्वप्न के समान है। स्वप्न में हम आकाश में उड़ते या राजा की भाँति रथ पर आरूढ़ हो सकते हैं, किन्तु जागने पर देखते हैं कि न तो हम आकाश में हैं, न रथ पर। वैदिक ज्ञान आत्म-साक्षात्कार को भौतिक शरीर के अनस्तित्व के आधार पर प्रोत्साहन देता है। अतः चाहे हम आत्मा के अस्तित्व को मानें या न मानें, शरीर-नाश के लिए शोक करने का कोई कारण नहीं है।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ २९॥

आश्चर्यवत्–आश्चर्य की तरह; पश्यति–देखता है; कश्चित्–कोई; एनम्–इस आत्मा को, आश्चर्यवत्–आश्चर्य की तरह; वदति–कहता है; तथा–जिस प्रकार; एव–निश्चय ही, च–भी, अन्यः–दूसरा, आश्चर्यवत्–आश्चर्य से, च–और; एनम्–इस आत्मा को, अन्यः–दूसरा, शृणोति–सुनता है, श्रुत्वा–सुनकर, अपि–भी, एनम्–इस आत्मा को, वेद–जानता है, न–कभी नहीं; च–तथा, एव–निश्चय ही, कश्चित्–कोई।

कोई आत्मा को आश्चर्य से देखता है, कोई इसे आश्चर्य की तरह बताता है तथा कोई इसे आश्चर्य की तरह सुनता है, किन्तु कोई-कोई इसके विषय में सुनकर भी कुछ नहीं समझ पाते।

तात्पर्य : चूँकि *गीतोपनिषद् उपनिषदों* के सिद्धान्त पर आधारित है, अतः *कठोपनिषद्* में (१.२.७) इस श्लोक का होना कोई आश्चर्यजनक नहीं है—

श्रवणयापि बहुभिर्यो न लभ्य शृण्वन्तोऽपि बहवो य न विद्यु।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्योऽस्य ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥

विशाल पशु, विशाल वटवृक्ष तथा एक इंच स्थान में लाखों करोड़ों की संख्या में उपस्थित सूक्ष्मकीटाणुओं के भीतर अणु-आत्मा की उपस्थिति निश्चित रूप से आश्चर्यजनक है। अल्पज्ञ तथा दुराचारी व्यक्ति अणु-आत्मा के स्फुलिंग के चमत्कारों को नहीं समझ पाता, भले ही उसे बड़े से बड़ा ज्ञानी, जिसने विश्व के प्रथम प्राणी ब्रह्मा को भी शिक्षा दी हो, क्यों न समझाए। वस्तुओं के स्थूल भौतिक बोध के कारण इस युग के अधिकांश व्यक्ति इसकी कल्पना नहीं कर सकते कि इतना सूक्ष्मकण किस प्रकार इतना विराट तथा इतना लघु बन सकता है। अतः लोग आत्मा को उसकी संरचना या उसके विवरण के आधार पर ही आश्चर्य से देखते हैं। इन्द्रियतृप्ति की बातों में फँस कर लोग भौतिक शक्ति (माया) से इस तरह मोहित होते हैं कि उनके पास आत्मज्ञान को समझने का अवसर ही नहीं रहता यद्यपि यह तथ्य है कि आत्म-ज्ञान के बिना सारे कार्यों का दुष्परिणाम जीवन-संघर्ष में पराजय के रूप में होता है। सम्भवतः उन्हें इसका कोई अनुमान नहीं होता कि मनुष्य को आत्मा के विषय में चिन्तन करना चाहिए और दुखों का हल खोज निकालना चाहिए।

ऐसे थोड़े से लोग, जो आत्मा के विषय में सुनने के इच्छुक हैं, अच्छी संगति पाकर भाषण सुनते हैं, किन्तु कभी-कभी अज्ञानवश वे परमात्मा तथा अणु-आत्मा को एक समझ बैठते हैं। ऐसा व्यक्ति खोज पाना कठिन है जो परमात्मा, अणु-आत्मा, उनके पृथक्-पृथक् कार्यों तथा सम्बन्धों एवं अन्य विस्तारों को सही ढंग से समझ सके। इससे अधिक कठिन है ऐसा व्यक्ति खोज पाना जिसने आत्मा के ज्ञान से पूरा-पूरा लाभ उठाया हो और जो सभी पक्षों से आत्मा की स्थिति का सही-सही निर्धारण कर सके। किन्तु यदि कोई किसी तरह से आत्मा के इस विषय को समझ लेता है तो उसका जीवन सफल हो जाता है।

इस आत्म-ज्ञान को समझने का सरलतम उपाय यह है कि अन्य मतों से विचलित हुए बिना परम प्रमाण भगवान् कृष्ण द्वारा कथित *भगवद्गीता* के उपदेशों को ग्रहण किया जाय। किन्तु इसके लिए भी इस जन्म में या पिछले जन्मों में प्रचुर

आवश्यकता होती है, तभी कृष्ण को श्रीभगवान् के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। पर कृष्ण को इस रूप में जानना शुद्ध भक्तों की अहैतुकी कृपा से ही होता है, अन्य किसी उपाय से नहीं।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ ३०॥

देही—भौतिक शरीर का स्वामी; **नित्यम्**—शाश्वत; **अवध्यः**—मारा नहीं जा सकता; **अयम्**—यह आत्मा; **देहे**—शरीर में; **सर्वस्य**—हर एक के; **भारत**—हे भरतवंशी; **तस्मात्**—अतः; **सर्वाणि**—समस्त; **भूतानि**—जीवों (जन्म लेने वालों) को; **न**—कभी नहीं; **त्वम्**—तुम; **शोचितुम्**—शोक करने के लिए; **अर्हसि**—योग्य हो।

हे भरतवंशी! शरीर में रहने वाले (देही)का कभी भी वध नहीं किया जा सकता। अतः तुम्हें किसी भी जीव के लिए शोक करने की आवश्यकता नहीं है।

तात्पर्य : अब भगवान् अविकारी आत्मा विषयक अपना उपदेश समाप्त कर रहे हैं। अमर आत्मा का अनेक प्रकार से वर्णन करते हुए भगवान् कृष्ण ने आत्मा को अमर तथा शरीर को नाशवान सिद्ध किया है। अतः *क्षत्रिय* होने के नाते अर्जुन को इस भय से कि युद्ध में उसके पितामह भीष्म तथा गुरु द्रोण मर जायेंगे अपने कर्तव्य से विमुख नहीं होना चाहिए। कृष्ण को प्रमाण मानकर भौतिक देह से भिन्न आत्मा का पृथक् अस्तित्व स्वीकार करना ही होगा, यह नहीं कि आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं है या कि जीवन के लक्षण रसायनों की अन्तःक्रिया के फलस्वरूप एक विशेष अवस्था में प्रकट होते हैं। यद्यपि आत्मा अमर है, किन्तु इससे हिंसा को प्रोत्साहित नहीं किया जाता। फिर भी युद्ध के समय हिंसा का निषेध नहीं किया जाता क्योंकि तब इसकी आवश्यकता रहती है। ऐसी आवश्यकता को भगवान् की आज्ञा के आधार पर उचित ठहराया जा सकता है, स्वेच्छा से नहीं।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ ३१॥

स्व-धर्मम्—अपने धर्म को; **अपि**—भी; **च**—निस्सन्देह; **अवेक्ष्य**—विचार करके; **न**—कभी नहीं; **विकम्पितुम्**—संकोच करने के लिए; **अर्हसि**—तुम योग्य हो; **धर्म्यात्**—धर्म के लिए; **हि**—निस्सन्देह; **युद्धात्**—युद्ध करने की अपेक्षा; **श्रेयः**—श्रेष्ठ साधन; **अन्यत्**—कोई दूसरा; **क्षत्रियस्य**—क्षत्रिय का; **न**—नहीं; **विद्यते**—है।

क्षत्रिय होने के नाते अपने विशिष्ट धर्म का विचार करते हुए तुम्हें जानना चाहिए कि धर्म के लिए युद्ध करने से बढ़ कर तुम्हारे लिए अन्य कोई कार्य नहीं है। अतः तुम्हें संकोच करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

तात्पर्य : सामाजिक व्यवस्था के चार वर्णों में द्वितीय वर्ण उत्तम शासन के लिए है और *क्षत्रिय* कहलाता है। *क्षत्* का अर्थ है चोट खाया हुआ। जो क्षति से रक्षा करे वह *क्षत्रिय* कहलाता है (*त्रायते*—रक्षा प्रदान करना)। *क्षत्रियों* को वन में आखेट करने का प्रशिक्षण

दिया जाता है। *क्षत्रिय* जंगल मे जाकर शेर को ललकारता ओर उससे आमने-सामने अपनी तलवार से लडता था। शेर की मृत्यु होने पर उसकी राजसी ढंग से अन्त्येष्टि की जाती थी। आज भी जयपुर रियासत के *क्षत्रिय* राजा इस प्रथा का पालन करते हैं। *क्षत्रियों* को विशेष रूप से ललकारने तथा मारने की शिक्षा दी जाती है क्योकि कभी-कभी धार्मिक हिसा अनिवार्य होती है। इसलिए *क्षत्रियों* को सीधे *संन्यासाश्रम* ग्रहण करने का विधान नहीं है। राजनीति में अहिंसा कूटनीतिक चाल हो सकती है, किन्तु यह कभी भी कारण या सिद्धान्त नहीं रही। धार्मिक सहिताओं में उल्लेख मिलता है—

आहवेषु मिथोऽन्योन्य जिघांसन्तो महीक्षितः।
युद्धमाना परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः॥
यज्ञेषु पशवो ब्रह्मन् हन्यन्ते सततं द्विजैः।
संस्कृताः किल मन्त्रैश्च तेऽपि स्वर्गमवाप्नुवन्॥

"युद्ध में विरोधी ईर्ष्यालु राजा से सघर्ष करते हुए मरने वाले राजा या *क्षत्रिय* को मृत्यु के अनन्तर वे ही उच्चलोक प्राप्त होते हैं जिनकी प्राप्ति यज्ञाग्नि मे मारे गये पशुओ को होती है।" अतः धर्म के लिए युद्धभूमि मे वध करना तथा याज्ञिक अग्नि के लिए पशुओं का वध करना हिंसा कार्य नहीं माना जाता क्योकि इसमें निहित धर्म के कारण प्रत्येक व्यक्ति को लाभ पहुँचता है ओर यज्ञ में बलि दिये गये पशु को एक स्वरूप से दूसरे मे बिना विकास प्रक्रिया के ही तुरन्त मनुष्य का शरीर प्राप्त हो जाता है। इसी तरह युद्धभूमि मे मारे गये *क्षत्रिय* यज्ञ सम्पन्न करने वाले *ब्राह्मणों* को प्राप्त होने वाले स्वर्गलोक में जाते हे।

स्वधर्म दो प्रकार का होता है। जब तक मनुष्य मुक्त नही हो जाता तब तक मुक्ति प्राप्त करने के लिए धर्म के अनुसार शरीर विशेष के कर्तव्य करने होते हैं। जब वह मुक्त हो जाता है तो उसका विशेष कर्तव्य या *स्वधर्म* आध्यात्मिक हो जाता है और देहात्मबुद्धि में नहीं रहता। जब तक देहात्मबुद्धि है तब तक *ब्राह्मणो* तथा *क्षत्रियो* के लिए *स्वधर्म* पालन अनिवार्य होता है। *स्वधर्म* का विधान भगवान् द्वारा होता है, जिसका स्पष्टीकरण चतुर्थ अध्याय में किया जायेगा। शारीरिक स्तर पर *स्वधर्म* को *वर्णाश्रम* धर्म अथवा आध्यात्मिक बोध का प्रथम सोपान कहते हैं। *वर्णाश्रम*-धर्म अर्थात् प्राप्त शरीर के विशिष्ट गुणो पर आधारित *स्वधर्म* की अवस्था से मानवीय सभ्यता का शुभारम्भ होता है। *वर्णाश्रम*-धर्म के अनुसार किसी कार्य-क्षेत्र में स्वधर्म का निर्वाह करने से जीवन के उच्चतर पद को प्राप्त किया जा सकता है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ ३२॥

यदृच्छया—अपने आप; **च**—भी; **उपपन्नम्**—प्राप्त हुए, **स्वर्ग**—स्वर्गलोक का, **द्वारम्**—दरवाजा; **अपावृतम्**—खुला हुआ, **सुखिनः**—अत्यन्त सुखी, **क्षत्रियाः**—राजपरिवार के सदस्य; **पार्थ**—हे पृथापुत्र, **लभन्ते**—प्राप्त करते हैं, **युद्धम्**—युद्ध को, **ईदृशम्**—इस तरह।

हे पार्थ! वे क्षत्रिय सुखी हैं जिन्हें ऐसे युद्ध के अवसर अपने आप प्राप्त होते हैं

जिससे उनके लिए स्वर्गलोक के द्वार खुल जाते हैं।

तात्पर्य : विश्व के परम गुरु भगवान् कृष्ण अर्जुन की इस प्रवृत्ति की भर्त्सना करते हैं जब वह कहता है कि उसे इस युद्ध में कुछ भी तो लाभ नहीं दिख रहा है। इससे नरक में शाश्वत वास करना होगा। अर्जुन द्वारा ऐसे वक्तव्य केवल अज्ञानजन्य थे। वह अपने *स्वधर्म* के आचरण में अहिंसक बनना चाह रहा था, किन्तु एक *क्षत्रिय* के लिए युद्धभूमि में स्थित होकर इस प्रकार अहिंसक बनना मूर्खों का दर्शन है। *पराशर-स्मृति* में व्यासदेव के पिता पराशर ने कहा है—

क्षत्रियो हि प्रजारक्षन् शस्त्रपाणिः प्रदण्डयन्।
निर्जित्य परसैन्यादि क्षितिं धर्मेण पालयेत्॥

"*क्षत्रिय* का धर्म है कि वह सभी क्लेशों से नागरिकों की रक्षा करे। इसीलिए उसे शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए हिंसा करनी पड़ती है। अतः उसे शत्रु राजाओं के सैनिकों को जीत कर धर्मपूर्वक संसार पर राज्य करना चाहिए।"

यदि सभी पक्षों पर विचार करें तो अर्जुन को युद्ध से विमुख होने का कोई कारण नहीं था। यदि वह शत्रुओं को जीतता है तो राज्यभोग करेगा और यदि वह युद्धभूमि में मरता है तो स्वर्ग को जायेगा जिसके द्वार उसके लिए खुले हुए हैं। युद्ध करने से उसे दोनों ही तरह लाभ होगा।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥३३॥

अथ—अतः; **चेत्**—यदि; **त्वम्**—तुम; **इमम्**—इस; **धर्म्यम्**—धर्म रूपी; **संग्रामम्**—युद्ध को; **न**—नहीं; **करिष्यसि**—करोगे; **ततः**—तब; **स्व-धर्मम्**—अपने धर्म को; **कीर्तिम्**—यश को; **च**—भी; **हित्वा**—खोकर; **पापम्**—पापपूर्ण फल को; **अवाप्स्यसि**—प्राप्त करोगे।

किन्तु यदि तुम युद्ध करने के स्वधर्म को सम्पन्न नहीं करते तो तुम्हें निश्चित रूप से अपने कर्तव्य की उपेक्षा करने का पाप लगेगा और तुम योद्धा के रूप में भी अपना यश खो दोगे।

तात्पर्य : अर्जुन विख्यात योद्धा था जिसने शिव आदि अनेक देवताओं से युद्ध करके यश अर्जित किया था। शिकारी के वेश में शिवजी से युद्ध करके तथा उन्हें हरा कर अर्जुन ने उन्हें प्रसन्न किया था और वर के रूप में *पाशुपतास्त्र* प्राप्त किया था। सभी लोग जानते थे कि वह एक महान योद्धा है। स्वयं द्रोणाचार्य ने उसे आशीष दिया था और एक विशेष अस्त्र प्रदान किया था, जिससे वह अपने गुरु का भी वध कर सकता था। इस प्रकार वह अपने धर्मपिता एवं स्वर्ग के राजा इन्द्र समेत अनेक अधिकारियों से अनेक युद्धों के प्रमाणपत्र प्राप्त कर चुका था, किन्तु यदि वह इस समय युद्ध का परित्याग करता है तो वह न केवल *क्षत्रिय* धर्म की उपेक्षा का दोषी होगा, अपितु उसके यश की भी हानि होगी और वह नरक जाने के लिए अपना मार्ग तैयार कर लेगा। दूसरे शब्दों में, वह युद्ध करने से नहीं, अपितु युद्ध से पलायन करने के कारण नरक का भागी होगा।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥ ३४॥

अकीर्तिम्–अपयश; **च**–भी, **अपि**–इसके अतिरिक्त, **भूतानि**–सभी लोग; **कथयिष्यन्ति**–कहेंगे, **ते**–तुम्हारे; **अव्ययाम्**–सदा के लिए; **सम्भावितस्य**– सम्मानित व्यक्ति के लिए, **च**–भी; **अकीर्तिः**–अपयश, अपकीर्ति, **मरणात्**–मृत्यु से भी, **अतिरिच्यते**–अधिक होती है।

लोग सदैव तुम्हारे अपयश का वर्णन करेंगे और सम्मानित व्यक्ति के लिए अपयश तो मृत्यु से भी बढ़कर है।

तात्पर्य : अब अर्जुन के मित्र तथा गुरु के रूप में भगवान् कृष्ण अर्जुन को युद्ध से विमुख न होने का अन्तिम निर्णय देते हैं। वे कहते हैं, "अर्जुन! यदि तुम युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व ही युद्धभूमि छोड देते हो तो लोग तुम्हें कायर कहेंगे। और यदि तुम सोचते हो कि लोग गाली देते रहें, किन्तु तुम युद्धभूमि से भागकर अपनी जान बचा लोगे तो मेरी सलाह है कि तुम्हें युद्ध में मर जाना ही श्रेयस्कर होगा। तुम जैसे सम्माननीय व्यक्ति के लिए अपकीर्ति मृत्यु से भी बुरी है। अतः तुम्हें प्राणभय से भागना नहीं चाहिए, युद्ध में मर जाना ही श्रेयस्कर होगा। इससे तुम मेरी मित्रता का दुरुपयोग करने तथा समाज में अपनी प्रतिष्ठा खोने के अपयश से बच जाओगे।"

अत. अर्जुन के लिए भगवान् का अन्तिम निर्णय था कि वह संग्राम से पलायन न करे अपितु युद्ध में मरे।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥ ३५॥

भयात्–भय से; **रणात्**–युद्धभूमि से, **उपरतम्**–विमुख; **मंस्यन्ते**–मानेंगे, **त्वाम्**–तुमको, **महारथाः**–बडे-बडे योद्धा; **येषाम्**–जिनके लिए, **च**–भी, **त्वम्**–तुम, **बहु-मतः**–अत्यन्त सम्मानित, **भूत्वा**–हो कर; **यास्यसि**–जाओगे, **लाघवम्**–तुच्छता को।

जिन-जिन महान योद्धाओं ने तुम्हारे नाम तथा यश को सम्मान दिया है वे सोचेंगे कि तुमने डर के मारे युद्धभूमि छोड़ दी है और इस तरह वे तुम्हें तुच्छ मानेंगे।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण अर्जुन को अपना निर्णय सुना रहे हैं, "तुम यह मत सोचो कि दुर्योधन, कर्ण तथा अन्य समकालीन महारथी यह सोचेंगे कि तुमने अपने भाइयों तथा पितामह पर दया करके युद्धभूमि छोड़ी है। वे तो यही सोचेंगे कि तुमने अपने प्राणों के भय से युद्धभूमि छोड़ी है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में तुम्हारे प्रति जो सम्मान है वह धूल में मिल जायेगा।"

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥ ३६॥

अवाच्य–कटु; **वादान्**–मिथ्या शब्द; **च**–भी, **बहून्**–अनेक; **वदिष्यन्ति**–कहेंगे, **तव**–तुम्हारे,

अहिताः–शत्रु; निन्दन्तः–निन्दा करते हुए; तव–तुम्हारी; सामर्थ्यम्–सामर्थ्य को; ततः–उसकी अपेक्षा; दुःख-तरम्–अधिक दुखदायी; नु–निस्सन्देह; किम्–और क्या है?

तुम्हारे शत्रु अनेक प्रकार के कटु शब्दों से तुम्हारा वर्णन करेंगे और तुम्हारी सामर्थ्य का उपहास करेंगे। तुम्हारे लिए इससे दुखदायी और क्या हो सकता है?

तात्पर्य : प्रारम्भ में ही भगवान् कृष्ण को अर्जुन के अयाचित दयाभाव पर आश्चर्य हुआ था और उन्होंने इस दयाभाव को अनार्योचित वताया था। अव उन्होंने विस्तार से अर्जुन के तथाकथित दयाभाव के विरुद्ध कहे गये अपने वचनों को सिद्ध कर दिया है।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ ३७॥

हतः–मारा जा कर; वा–या तो; प्राप्स्यसि–प्राप्त करोगे; स्वर्गम्–स्वर्गलोक को; जित्वा–विजयी होकर; वा–अथवा; भोक्ष्यसे–भोगोगे; महीम्–पृथ्वी को; तस्मात्–अतः; उत्तिष्ठ–उठो; कौन्तेय–हे कुन्तीपुत्र; युद्धाय–लड़ने के लिए; कृत–दृढ़; निश्चयः–संकल्प से।

हे कुन्तीपुत्र! तुम यदि युद्ध में मारे जाओगे तो स्वर्ग प्राप्त करोगे या यदि तुम जीत जाओगे तो पृथ्वी के साम्राज्य का भोग करोगे। अतः दृढ़ संकल्प करके खड़े होओ और युद्ध करो।

तात्पर्य : यद्यपि अर्जुन के पक्ष में विजय निश्चित न थी फिर भी उसे युद्ध करना था, क्योंकि यदि वह युद्ध में मारा भी गया तो वह स्वर्गलोक को जायेगा।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ ३८॥

सुख–सुख; दुःखे–तथा दुख में; समे–समभाव से; कृत्वा–करके; लाभ-अलाभौ–लाभ तथा हानि दोनों; जय-अजयौ–विजय तथा पराजय दोनों; ततः–तत्पश्चात्; युद्धाय–युद्ध करने के लिए; युज्यस्व–लगो (लड़ो); न–कभी नहीं; एवम्–इस तरह; पापम्–पाप; अवाप्स्यसि–प्राप्त करोगे।

तुम सुख या दुख, हानि या लाभ, विजय या पराजय का विचार किये बिना युद्ध के लिए युद्ध करो। ऐसा करने पर तुम्हें कोई पाप नहीं लगेगा।

तात्पर्य : अव भगवान् कृष्ण प्रत्यक्ष रूप से कहते हैं कि अर्जुन को युद्ध के लिए युद्ध करना चाहिए क्योंकि यह उनकी इच्छा है। कृष्णभावनामृत के कार्यों में सुख या दुख, हानि या लाभ, जय या पराजय को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। दिव्य चेतना तो यही होगी कि हर कार्य कृष्ण के निमित्त किया जाय, अतः भौतिक कार्यों का कोई वन्धन (फल) नहीं होता। जो कोई सतोगुण या रजोगुण के अधीन होकर अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करता है उसे अच्छे या वुरे फल प्राप्त होते हैं किन्तु जो कृष्णभावनामृत के कार्यों में अपने आपको समर्पित कर देता है वह सामान्य कर्म करने वाले के समान किसी का कृतज्ञ या ऋणी नहीं होता। *भागवत* में (११.५.४१) कहा गया है—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना य. शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्।

"जिसने अन्य समस्त कार्यों को त्याग कर मुकुन्द श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण कर ली हे वह न तो किसी का ऋणी हे ओर न किसी का कृतज्ञ--चाहे वे देवता, साधु, साभान्यजन, अथवा परिजन, मानवजाति या उसके पितर ही क्यों न हो।" इस श्लोक में कृष्ण ने अर्जुन को अप्रत्यक्ष रूप से इसी का संकेत किया हे। इसकी व्याख्या अगले श्लोकों में ओर भी स्पष्टता से की जायेगी।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥ ३९॥

एषा–यह सव, **ते**–तेरे लिए, **अभिहिता**–वर्णन किया गया; **सांख्ये**–वेश्लेपिक अध्ययन द्वारा; **बुद्धिः**–बुद्धि; **योगे**–निष्काम कर्म में, **तु**–लेकिन, **इमाम्**–इसे; **शृणु**–सुनो; **बुद्ध्या**–वुद्धि से; **युक्तः**–साथ-साथ, सहित; **यया**–जिससे; **पार्थ**–हे पृथापुत्र; **कर्म-बन्धम्**–कर्म के वन्धन से; **प्रहास्यसि**–मुक्त हो जाओगे।

यहाँ मैंने वैश्लेपिक अध्ययन (सांख्य) द्वारा इस ज्ञान का वर्णन किया है। अव निष्काम भाव से कर्म करना वता रहा हूँ, उसे सुनो। हे पृथापुत्र! तुम यदि ऐसे ज्ञान से कर्म करोगे तो तुम कर्मों के वन्धन से अपने को मुक्त कर सकते हो।

तात्पर्य : वेदिक कोश *निरुक्ति* के अनुसार *सांख्य* का अर्थ हे-विस्तार से वस्तुओं का वर्णन करने वाला तथा *सांख्य* उस दर्शन के लिए प्रयुक्त मिलता हे जो आत्मा की वास्तविक प्रकृति का वर्णन करता हे। ओर *योग* का अर्थ हे-इन्द्रियों का निग्रह। अर्जुन का युद्ध न करने का प्रस्ताव इन्द्रियतृप्ति पर आधारित था। वह अपने प्रधान कर्तव्य को भुलाकर युद्ध से दूर रहना चाहता था क्योंकि उसने यह सोचा कि धृतराष्ट्र के पुत्रों अर्थात् अपने वन्धु-वान्धवों को परास्त करके राज्यभोग करने की अपेक्षा अपने सम्वन्धियों तथा स्वजनों को न मारकर वह अधिक सुखी रहेगा। दोनों ही प्रकार से मूल सिद्धान्त तो इन्द्रियतृप्ति था। उन्हें जीतने से प्राप्त होने वाला सुख तथा स्वजनो को जीवित देखने का सुख ये दोनों इन्द्रियतृप्ति के धरातल पर एक हें, क्योंकि इससे वुद्धि तथा कर्तव्य दोनो का अन्त हो जाता हे। अतः कृष्ण ने अर्जुन को वताना चाहा कि वह अपने पितामह के शरीर का वध करके उनके आत्मा को नहीं मारेगा। उन्होंने यह वताया कि उनके सहित सारे जीव शाश्वत प्राणी हें, वे भूतकाल में प्राणी थे, वर्तमान मे भी प्राणी रूप में हें ओर भविष्य में भी प्राणी वने रहेंगे क्योंकि हम सव शाश्वत आत्मा हें। हम विभिन्न प्रकार से केवल अपना शारीरिक परिधान (वस्त्र) वदलते रहते हें ओर इस भोतिक वस्त्र के वन्धन से मुक्ति के वाद भी हमारी पृथक् सत्ता वनी रहती हे। भगवान् कृष्ण द्वारा आत्मा तथा शरीर का अत्यन्त विशद् वेश्लेपिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है ओर *निरुक्ति कोश* की शव्दावली में इस विशद् अध्ययन को यहाँ *सांख्य* कहा गया हे। इस *सांख्य* का नास्तिक-कपिल के *सांख्य-दर्शन* से कोई सरोकार नहीं हे। इस नास्तिक-कपिल के *सांख्य दर्शन* से वहुत पहले भगवान् कृष्ण के अवतार भगवान् कपिल ने अपनी माता देवहूति

कृष्णभावनामृत में किया गया कार्य मनुष्य को इस शरीर के विनष्ट होने पर भी पुनः कृष्णभावनामृत तक ले जाता है। कम से कम इतना तो निश्चित है कि अगले जन्म में उसे सुसंस्कृत *ब्राह्मण* परिवार में या धनीमानी कुल में मनुष्य का शरीर प्राप्त हो सकेगा जिससे उसे भविष्य में ऊपर उठने का अवसर प्राप्त हो सकेगा। कृष्णभावनामृत में सम्पन्न कार्य का यही अनुपम गुण है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ ४१॥

व्यवसाय-आत्मिका—कृष्णभावनामृत में स्थिर; **बुद्धिः**—बुद्धि; **एका**—एकमात्र; **इह**—इस संसार में; **कुरु-नन्दन**—हे कुरुओं के प्रिय पुत्र; **बहु-शाखाः**—अनेक शाखाओं में विभक्त; **हि**—निस्सन्देह; **अनन्ताः**—असीम; **च**—भी; **बुद्धयः**—बुद्धि; **अव्यवसायिनाम्**—जो कृष्णभावनामृत में नहीं हैं उनकी।

जो इस मार्ग पर (चलते) हैं वे प्रयोजन में दृढ़ रहते हैं और उनका लक्ष्य भी एक होता है। हे कुरुनन्दन! जो दृढ़प्रतिज्ञ नहीं हैं उनकी बुद्धि अनेक शाखाओं में विभक्त रहती है।

तात्पर्य : यह दृढ़ श्रद्धा कि कृष्णभावनामृत द्वारा मनुष्य जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त कर सकेगा, *व्यवसायात्मिका* बुद्धि कहलाती है। *चैतन्य-चरितामृत* में (मध्य २२.६२) कहा गया है—

'श्रद्धा'-शब्दे—विश्वास कहे सुदृढ निश्चय।
कृष्णे भक्ति कैले सर्वकर्म कृत हय॥

श्रद्धा का अर्थ है किसी अलौकिक वस्तु में अटूट विश्वास। जब कोई कृष्णभावनामृत के कार्यों में लगा होता है तो उसे परिवार, मानवता या राष्ट्रीयता से बँध कर कार्य करने की आवश्यकता नहीं होती। पूर्व में किये गये शुभ-अशुभ कर्मों के फल ही उसे सकाम कर्मों में लगाते हैं। जब कोई कृष्णभावनामृत में संलग्न हो तो उसे अपने कार्यों के शुभ-फल के लिए प्रयत्नशील नहीं रहना चाहिए। जब कोई कृष्णभावनामृत में लीन होता है तो उसके सारे कार्य आध्यात्मिक धरातल पर होते हैं क्योंकि उनमें अच्छे तथा बुरे का द्वैत नहीं रह जाता। कृष्णभावनामृत की सर्वोच्च सिद्धि देहात्मबुद्धि का त्याग है। कृष्णभावनामृत की प्रगति के साथ क्रमशः यह अवस्था स्वतः प्राप्त हो जाती है।

कृष्णभावनाभावित व्यक्ति का दृढ़निश्चय ज्ञान पर आधारित है। *वासुदेवः सर्वम् इति स महात्मा सुदुर्लभः*— कृष्णभावनाभावित व्यक्ति अत्यन्त दुर्लभ जीव है जो भलीभाँति जानता है कि वासुदेव या कृष्ण समस्त प्रकट कारणों के मूल कारण हैं। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ सींचने पर स्वतः ही पत्तियों तथा टहनियों में जल पहुँच जाता है उसी तरह कृष्णभावनाभावित होने पर मनुष्य प्रत्येक प्राणी की अर्थात् अपनी, परिवार की, समाज की, मानवता की सर्वोच्च सेवा कर सकता है। यदि मनुष्य के कर्मों से कृष्ण प्रसन्न हो जाएँ तो प्रत्येक व्यक्ति सन्तुष्ट होगा।

किन्तु कृष्णभावनामृत में सेवा गुरु के समर्थ निर्देशन में ही ठीक से हो पाती है क्योंकि गुरु कृष्ण का प्रामाणिक प्रतिनिधि होता है जो शिष्य के स्वभाव से परिचित होता

है और उसे कृष्णभावनामृत की दिशा में कार्य करने के लिए मार्ग दिखा सकता है। अतः कृष्णभावनामृत में दक्ष होने के लिए मनुष्य को दृढ़ता से कर्म करना होगा और कृष्ण के प्रतिनिधि की आज्ञा का पालन करना होगा। उसे गुरु के उपदेशों को जीवन का लक्ष्य मान लेना होगा। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने गुरु की प्रसिद्ध प्रार्थना में उपदेश दिया है–

यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादो यस्याप्रसादान्न गतिः कुतोऽपि।
ध्यायन्स्तुवंस्तस्य यशस्त्रिसन्ध्यं वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥

"गुरु की तुष्टि से भगवान् भी प्रसन्न होते हैं। गुरु को प्रसन्न किये बिना कृष्णभावनामृत के स्तर तक पहुँच पाने की कोई सम्भावना नहीं रहती। अतः मुझे उनका चिन्तन करना चाहिए और दिन में तीन बार उनकी कृपा की याचना करनी चाहिए और अपने गुरु को सादर नमस्कार करना चाहिए।"

किन्तु यह सम्पूर्ण पद्धति देहात्मबुद्धि से परे सैद्धान्तिक रूप में नहीं वरन् व्यावहारिक रूप में पूर्ण आत्म-ज्ञान पर निर्भर करती है, जब सकाम कर्मों से इन्द्रियतृप्ति की कोई सम्भावना नहीं रहती। जिसका मन दृढ नहीं है वही विभिन्न सकाम कर्मों की ओर आकर्षित होता है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ ४३॥

याम् इमाम्–ये सब, **पुष्पिताम्**–दिखावटी, **वाचम्**–शब्द, **प्रवदन्ति**–कहते हैं, **अविपश्चितः**–अल्पज्ञ व्यक्ति; **वेद-वाद-रताः**–वेदों के अनुयायी; **पार्थ**–हे पार्थ; **न**–कभी नहीं; **अन्यत्**–अन्य कुछ; **अस्ति**–है, **इति**–इस प्रकार, **वादिनः**–बोलनेवाले; **काम-आत्मानः**–इन्द्रियतृप्ति के इच्छुक; **स्वर्ग-पराः**–स्वर्ग प्राप्ति के इच्छुक, **जन्म-कर्म-फल-प्रदाम्**–उत्तम जन्म तथा अन्य सकाम कर्मफल प्रदान करने वाला; **क्रिया-विशेष**–भड़कीले उत्सव, **बहुलाम्**–विविध, **भोग**–इन्द्रियतृप्ति **ऐश्वर्य**–तथा ऐश्वर्य, **गतिम्**–प्रगति, **प्रति**–की ओर।

अल्पज्ञानी मनुष्य वेदों के उन अलंकारिक शब्दों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं, जो स्वर्ग की प्राप्ति, अच्छे जन्म, शक्ति इत्यादि के लिए विविध सकाम कर्म करने की संस्तुति करते हैं। इन्द्रियतृप्ति तथा ऐश्वर्यमय जीवन की अभिलाषा के कारण वे कहते हैं कि इससे बढ़कर और कुछ नहीं है।

तात्पर्य : साधारणतः सब लोग अत्यन्त बुद्धिमान् नहीं होते और वे अज्ञान के कारण *वेदों* के कर्मकाण्ड भाग में बताये गये सकाम कर्मों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं। वे स्वर्ग में जीवन का आनन्द उठाने के लिए इन्द्रियतृप्ति कराने वाले प्रस्तावों से अधिक और कुछ नहीं चाहते जहाँ मदिरा तथा तरुणियाँ उपलब्ध हैं और भौतिक ऐश्वर्य सर्वसामान्य है। *वेदों* में स्वर्गलोक पहुँचने के लिए अनेक यज्ञों की संस्तुति है जिनमें *ज्योतिष्टोम* यज्ञ प्रमुख है। वास्तव में वेदों में कहा गया है कि जो स्वर्ग जाना चाहता है

उसे ये यज्ञ सम्पन्न करने चाहिए और अल्पज्ञानी पुरुष सोचते हैं कि वैदिक ज्ञान का सारा अभिप्राय इतना ही है। ऐसे लोगों के लिए कृष्णभावनामृत के दृढ़ कर्म में स्थित हो पाना अत्यन्त कठिन है। जिस प्रकार मूर्ख लोग विषैले वृक्षों के फूलों के प्रति बिना यह जाने कि इस आकर्षण का फल क्या होगा आसक्त रहते हैं उसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति स्वर्गिक ऐश्वर्य तथा तज्जनित इन्द्रियभोग के प्रति आकृष्ट रहते हैं।

वेदों के *कर्मकाण्ड* भाग में कहा गया है—*अपाम सोममृता अभूम तथा अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति*। दूसरे शब्दों में, जो लोग चातुर्मास तप करते हैं वे अमर तथा सदा सुखी रहने के लिए *सोम-रस* पीने के अधिकारी हो जाते हैं। यहाँ तक कि इस पृथ्वी में भी कुछ लोग *सोम-रस* के लिए अत्यन्त इच्छुक रहते हैं जिससे वे बलवान बनें और इन्द्रियतृप्ति का सुख पाने में समर्थ हों। ऐसे लोगों को भवबन्धन से मुक्ति में कोई श्रद्धा नहीं होती और वे वैदिक यज्ञों की तड़क-भड़क में विशेष आसक्त रहते हैं। वे सामान्यतया विषयी होते हैं और जीवन में स्वर्गिक आनन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते। कहा जाता है कि स्वर्ग में नन्दन-कानन नामक अनेक उद्यान हैं जिनमें दैवी सुन्दरी स्त्रियों का संग तथा प्रचुर मात्रा में सोम-रस उपलब्ध रहता है। ऐसा शारीरिक सुख निस्सन्देह विषयी है, अतः ये लोग वे हैं जो भौतिक जगत् के स्वामी बन कर ऐसे भौतिक अस्थायी सुख के प्रति आसक्त हैं।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ ४४॥

भोग—भौतिक भोग; **ऐश्वर्य**—तथा ऐश्वर्य के प्रति; **प्रसक्तानाम्**—आसक्तों के लिए; **तया**—ऐसी वस्तुओं से; **अपहृत-चेतसाम्**—मोहग्रसित चित्त वाले; **व्यवसाय-आत्मिका**:—दृढ़ निश्चय वाली; **बुद्धिः**—भगवान् की भक्ति; **समाधौ**—नियन्त्रित मन में; **न**—कभी नहीं; **विधीयते**—घटित होती है।

जो लोग इन्द्रियभोग तथा भौतिक ऐश्वर्य के प्रति अत्यधिक आसक्त होने से ऐसी वस्तुओं से मोहग्रस्त हो जाते हैं, उनके मनों में भगवान् के प्रति भक्ति का दृढ़ निश्चय नहीं होता।

तात्पर्य : *समाधि* का अर्थ है "स्थिर मन।" वैदिक शब्दकोश *निरुक्ति* के अनुसार—*सम्यग् आधीयतेऽस्मिन्नात्मतत्त्वयाथात्म्यम्*— जब मन आत्मा को समझने में स्थिर रहता है तो उसे समाधि कहते हैं। जो लोग इन्द्रियभोग में रुचि रखते हैं अथवा जो ऐसी क्षणिक वस्तुओं से मोहग्रस्त हैं उनके लिए *समाधि* कभी भी सम्भव नहीं है। माया के चक्कर में पड़कर वे न्यूनाधिक पतन को प्राप्त होते हैं।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥

त्रै-गुण्य—प्राकृतिक तीनों गुणों से सम्बन्धित; **विषयाः**—विषयों में; **वेदाः**—वैदिक साहित्य; **निस्त्रै-गुण्यः**—प्रकृति के तीनों गुणों से परे; **भव**—होओ; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **निर्द्वन्द्वः**—द्वैतभाव से मुक्त;

नित्य-सत्त्व-स्थः–नित्य शुद्धसत्त्व में स्थित; **निर्योग-क्षेमः**–लाभ तथा रक्षा के भावों से मुक्त; **आत्म-वान्**–आत्मा में स्थित।

वेदों में मुख्यतया प्रकृति के तीनों गुणों का वर्णन हुआ है। हे अर्जुन! इन तीनों गुणों से ऊपर उठो। समस्त द्वैतों और लाभ तथा सुरक्षा की सारी चिन्ताओं से मुक्त होकर आत्म-परायण बनो।

तात्पर्य : सारे भौतिक कार्यों में प्रकृति के तीनों गुणों की क्रियाएँ तथा प्रतिक्रियाएँ निहित होती हैं। इनका उद्देश्य कर्म-फल होता है जो भौतिक जगत् में बन्धन का कारण है। *वेदों* में मुख्यतया सकाम कर्मों का वर्णन है जिससे सामान्य जन क्रमशः इन्द्रियतृप्ति के क्षेत्र से उठकर आध्यात्मिक धरातल तक पहुँच सकें। कृष्ण अपने शिष्य तथा मित्र के रूप में अर्जुन को सलाह देते हैं कि वह *वेदान्त* दर्शन के आध्यात्मिक पद तक ऊपर उठे जिसका प्रारम्भ *ब्रह्म-जिज्ञासा* अथवा परम आध्यात्मिकता पर प्रश्नों से होता है। इस भौतिक जगत् के सारे प्राणी अपने अस्तित्व के लिए कठिन संघर्ष करते रहते हैं। उनके लिए भगवान् ने इस भौतिक जगत् की सृष्टि करने के पश्चात् वैदिक ज्ञान प्रदान किया जो जीवन-यापन तथा भवबन्धन से छूटने का उपदेश देता है। जब इन्द्रियतृप्ति के कार्य यथा *कर्मकाण्ड* समाप्त हो जाते हैं तो *उपनिषदों* के रूप में भगवत् साक्षात्कार का अवसर प्रदान किया जाता है। ये *उपनिषद्* विभिन्न वेदों के अंश हैं उसी प्रकार जैसे *भगवद्गीता* पंचम वेद *महाभारत* का एक अंग है। *उपनिषदों* से आध्यात्मिक जीवन का शुभारम्भ होता है।

जब तक भौतिक शरीर का अस्तित्व है तब तक भौतिक गुणों की क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं। मनुष्य को चाहिए कि सुख-दुख या शीत-ग्रीष्म जैसी द्वैतताओं को सहन करना सीखे और इस प्रकार हानि तथा लाभ की चिन्ता से मुक्त हो जाय। जब मनुष्य कृष्ण की इच्छा पर पूर्णतया आश्रित रहता है तो यह दिव्य अवस्था प्राप्त होती है।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ४६॥

यावान्–जितना सारा, **अर्थः**–प्रयोजन होता है; **उद-पाने**–जलकूप में, **सर्वतः**–सभी प्रकार से, **सम्प्लुत-उदके**–विशाल जलाशय में, **तावान्**–उसी तरह, **सर्वेषु**–समस्त; **वेदेषु**–वेदों में, **ब्राह्मणस्य**–परब्रह्म को जानने वाले का, **विजानतः**–पूर्ण ज्ञानी का।

एक छोटे से कूप का सारा कार्य एक विशाल जलाशय से तुरन्त पूरा हो जाता है। इसी प्रकार वेदों के आन्तरिक तात्पर्य जानने वाले को उनके सारे प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं।

तात्पर्य : वेदों के *कर्मकाण्ड* विभाग में वर्णित अनुष्ठानों एवं यज्ञों का ध्येय आत्म-साक्षात्कार के क्रमिक विकास को प्रोत्साहित करना है। और आत्म-साक्षात्कार का ध्येय *भगवद्गीता* के पन्द्रहवें अध्याय में (१५.१५) इस प्रकार स्पष्ट किया गया है–वेद

अध्ययन का ध्येय जगत् के आदि कारण भगवान् कृष्ण को जानना है। अतः आत्म साक्षात्कार का अर्थ है-कृष्ण को तथा उनके साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध को समझना कृष्ण के साथ जीवों के सम्बन्ध का भी उल्लेख *भगवद्गीता* के पंद्रहवें अध्याय में (१५.७) ही हुआ है। जीवात्माएँ भगवान् के अंश स्वरूप हैं, अतः प्रत्येक जीव द्वार कृष्णभावनामृत को जागृत करना वैदिक ज्ञान की सर्वोच्च पूर्णावस्था है। *श्रीमद्भागवत* में (३.३३.७) इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते।

"हे प्रभो, आपके पवित्र नाम का जाप करने वाला भले ही *चाण्डाल* जैसे निम्न परिवार में क्यों न उत्पन्न हुआ हो, किन्तु वह आत्म-साक्षात्कार के सर्वोच्च पद पर स्थित होता है। ऐसा व्यक्ति अवश्य ही वैदिक अनुष्ठानों के अनुसार सारी तपस्याएँ सम्पन्न किये होता है और अनेकानेक वार तीर्थस्थानों में स्नान करके वेदों का अध्ययन किये होता है। ऐसा व्यक्ति आर्य कुल में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।"

अतः मनुष्य को इतना वुद्धिमान् तो होना ही चाहिए कि केवल अनुष्ठानों के प्रति आसक्त न रहकर वेदों के उद्देश्य को समझे और अधिकाधिक इन्द्रियतृप्ति के लिए ही स्वर्गलोक जाने की कामना न करे। इस युग में सामान्य व्यक्ति के लिए न तो वैदिक अनुष्ठानों के समस्त विधि-विधानों का पालन करना सम्भव है और न सारे *वेदान्त* तथा *उपनिषदों* का सर्वांग अध्ययन कर पाना सहज है। *वेदों* के उद्देश्य को सम्पन्न करने के लिए प्रचुर समय, शक्ति, ज्ञान तथा साधन की आवश्यकता होती है। इस युग में ऐसा कर पाना सम्भव नहीं है, किन्तु वैदिक संस्कृति का परम लक्ष्य भगवन्नाम कीर्तन द्वारा प्राप्त हो जाता है जिसकी संस्तुति पतितात्माओं के उद्धारक भगवान् चैतन्य द्वारा हुई है। जव चैतन्य से महान वैदिक पंडित प्रकाशानन्द सरस्वती ने पूछा कि आप *वेदान्त* दर्शन् का अध्ययन न करके एक भावुक की भाँति पवित्र नाम का कीर्तन क्यों करते हैं तो उन्होंने उत्तर दिया कि मेरे गुरु ने मुझे वड़ा मूर्ख समझकर भगवान् कृष्ण के नाम का कीर्तन करने की आज्ञा दी। अतः उन्होंने ऐसा ही किया और वे पागल की भाँति भावोन्मत्त हो गए। इस कलियुग में अधिकांश जनता मूर्ख है और वेदान्त दर्शन समझ पाने के लिए पर्याप्त शिक्षित नहीं है। *वेदान्त* दर्शन के परम उद्देश्य की पूर्ति भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करने से हो जाती है। *वेदान्त* वैदिक ज्ञान की पराकाष्ठा है और *वेदान्त* दर्शन के प्रणेता तथा ज्ञाता भगवान् कृष्ण हैं। सवसे वड़ा *वेदान्ती* तो वह महात्मा है जो भगवान् के पवित्र नाम का जप करने में आनन्द लेता है। सम्पूर्ण वैदिक रहस्यवाद का यही चरम उद्देश्य है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ ४७॥

कर्मणि—कर्म करने में; **एव**—निश्चय ही; **अधिकारः**—अधिकार; **ते**—तुम्हारा; **मा**—कभी नहीं; **फलेषु**—(कर्म) फलों में; **कदाचन**—कदापि; **मा**—कभी नहीं; **कर्म-फल**—कर्म का फल; **हेतुः**—कारण; **भूः**—होओ; **मा**—कभी नहीं; **ते**—तुम्हारी; **सङ्गः**—आसक्ति; **अस्तु**—हो; **अकर्मणि**—कर्म न करने में।

तुम्हें अपना कर्म (कर्तव्य) करने का अधिकार है, किन्तु कर्म के फलों के तुम अधिकारी नहीं हो। तुम न तो कभी अपने आपको अपने कर्मों के फलों का कारण मानो, न ही कर्म न करने में कभी आसक्त होओ।

तात्पर्य : यहाँ पर तीन विचारणीय बातें हैं—कर्म (स्वधर्म), विकर्म तथा अकर्म। कर्म (स्वधर्म) वे कार्य हैं जिनका आदेश प्रकृति के गुणों के रूप में प्राप्त किया जाता है। अधिकारी की सम्मति के बिना किये गये कर्म विकर्म कहलाते हैं ओर अकर्म का अर्थ है-अपने कर्मों को न करना। भगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया कि वह निष्क्रिय न हो, अपितु फल के प्रति आसक्त हुए बिना अपना कर्म करे। कर्म फल के प्रति आसक्त रहने वाला भी कर्म का कारण है। इस तरह वह ऐसे कर्मफलों का भोक्ता होता है।

जहाँ तक निर्धारित कर्मों का सम्बन्ध है वे तीन उपश्रेणियो के हो सकते हैं—यथा नित्यकर्म, आपात्कालीन कर्म तथा इच्छित कर्म। नित्यकर्म फल की इच्छा बिना शास्त्रो के निर्देशानुसार सतोगुण मे रहकर किये जाते हैं। फल युक्त कर्म बन्धन के कारण बनते हैं, अतः ऐसे कर्म अशुभ हैं। हर व्यक्ति को अपने कर्म पर अधिकार है, किन्तु उसे फल से अनासक्त होकर कर्म करना चाहिए। ऐसे निष्काम कर्म निस्सन्देह मुक्ति पथ की ओर ले जाने वाले है।

अतएव भगवान् ने अर्जुन को फलासक्ति रहित होकर कर्म (स्वधर्म) के रूप में युद्ध करने की आज्ञा दी। उसका युद्ध-विमुख होना आसक्ति का दूसरा पहलू है। ऐसी आसक्ति से कभी मुक्ति पथ की प्राप्ति नहीं हो पाती। आसक्ति चाहे स्वीकारात्मक हो या निषेधात्मक, वह बन्धन का कारण है। अकर्म पापमय है। अत कर्तव्य के रूप मे युद्ध करना ही अर्जुन के लिए मुक्ति का एकमात्र कल्याणकारी मार्ग था।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ ४८॥

योगस्थः :-समभाव होकर, **कुरु**-करो, **कर्माणि**-अपने कर्म, **सङ्गम्**-आसक्ति को, **त्यक्त्वा**-त्याग कर, **धनञ्जय**-हे अर्जुन, **सिद्धि-असिद्ध्योः**-सफलता तथा विफलता मे, **समः**-समभाव, **भूत्वा**-होकर, **समत्वम्**-समता, **योगः**-योग, **उच्यते**-कहा जाता है।

हे अर्जुन! जय अथवा पराजय की समस्त आसक्ति त्याग कर समभाव से अपना कर्म करो। ऐसी समता योग कहलाती है।

तात्पर्य : कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि वह *योग* में स्थित होकर कर्म करे ओर *योग* है क्या? योग का अर्थ है सदैव चचल रहने वाली इन्द्रियों को वश मे रखते हुए परमतत्त्व में मन को एकाग्र करना। ओर परमतत्त्व कोन है? भगवान् ही परमतत्त्व हैं ओर चूँकि वे स्वयं अर्जुन को युद्ध करने के लिए कह रहे हैं, अत: अर्जुन को युद्ध के फल से कोई सरोकार नही है। जय या पराजय कृष्ण के लिए विचारणीय है, अर्जुन को तो बस श्रीकृष्ण के निर्देशानुसार कर्म करना है। कृष्ण के निर्देश का पालन ही वास्तविक *योग* है ओर इसका अभ्यास कृष्णभावनामृत नामक विधि द्वारा किया जाता है। एकमात्र कृष्णभावनामृत के माध्यम से ही स्वामित्व भाव का परित्याग किया जा सकता है। इसके

लिए उसे कृष्ण का दास या उनके दासों का दास बनना होता है। कृष्णभावनामृत में कर्म करने की यही एक विधि है जिससे *योग* में स्थित होकर कर्म किया जा सकता है।

अर्जुन *क्षत्रिय* है, अतः वह *वर्णाश्रम-धर्म* का अनुयायी है। *विष्णु-पुराण* में कहा गया है कि वर्णाश्रम-धर्म का एकमात्र उद्देश्य विष्णु को प्रसन्न करना है। सांसारिक नियम है कि लोग पहले अपनी तुष्टि करते हैं, किन्तु यहाँ तो अपने को तुष्ट न करके कृष्ण को तुष्ट करना है। अतः कृष्ण को तुष्ट किये बिना कोई *वर्णाश्रम-धर्म* का पालन कर भी नहीं सकता। यहाँ पर परोक्ष रूप से अर्जुन को कृष्ण द्वारा बताई गई विधि के अनुसार कर्म करने का आदेश है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ ४९॥

दूरेण—दूर से ही त्याग दो; **हि**—निश्चय ही; **अवरम्**—गर्हित, निन्दनीय; **कर्म**—कर्म; **बुद्धि-योगात्**—कृष्णभावनामृत के बल पर; **धनञ्जय**—हे सम्पत्ति को जीतने वाले; **बुद्धौ**—ऐसी चेतना में; **शरणम्**—पूर्ण समर्पण, आश्रय; **अन्विच्छ**—प्रयत्न करो; **कृपणाः**—कंजूस व्यक्ति; **फल-हेतवः**—सकाम कर्म की अभिलाषा वाले।

हे धनंजय! भक्ति के द्वारा समस्त गर्हित कर्मों से दूर रहो और उसी भाव से भगवान् की शरण ग्रहण करो। जो व्यक्ति अपने सकाम कर्म-फलों को भोगना चाहते हैं, वे कृपण हैं।

तात्पर्य : जो व्यक्ति भगवान् के दास रूप में अपने स्वरूप को समझ लेता है वह कृष्णभावनामृत में स्थित रहने के अतिरिक्त सारे कर्मों को छोड़ देता है। जीव के लिए ऐसी भक्ति कर्म का सही मार्ग है। केवल कृपण ही अपने सकाम कर्मों का फल भोगना चाहते हैं, किन्तु इससे वे भवबन्धन में और अधिक फँसते जाते हैं। कृष्णभावनामृत के अतिरिक्त जितने भी कर्म सम्पन्न किये जाते हैं वे गर्हित हैं क्योंकि इससे कर्ता जन्म-मृत्यु के चक्र में लगातार फँसा रहता है। अतः कभी इसकी आकांक्षा नहीं करनी चाहिए कि मैं कर्म का कारण बनूँ। कृष्णभावनामृत में हर कार्य कृष्ण की तुष्टि के लिए किया जाना चाहिए। कृपणों को यह ज्ञात नहीं है कि दैववश या कठोर श्रम से अर्जित सम्पत्ति का किस तरह सदुपयोग करें। मनुष्य को अपनी सारी शक्ति कृष्णभावनामृत अर्जित करने में लगानी चाहिए। इससे उसका जीवन सफल हो सकेगा। कृपणों की भाँति अभागे व्यक्ति अपनी मानवी शक्ति को भगवान् की सेवा में नहीं लगाते।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ ५०॥

बुद्धि-युक्तः—भक्ति में लगा रहने वाला; **जहाति**—मुक्त हो सकता है; **इह**—इस जीवन में; **उभे**—दोनों; **सुकृत-दुष्कृते**—अच्छे तथा बुरे फल; **तस्मात्**—अतः; **योगाय**—भक्ति के लिए; **युज्यस्व**—इस तरह लग जाओ; **योगः**—कृष्णभावनामृत; **कर्मसु**—समस्त कार्यों में; **कौशलम्**—कुशलता, कला।

भक्ति में संलग्न मनुष्य इस जीवन में ही अच्छे तथा बुरे कार्यों से अपने को मुक्त कर लेता है। अतः योग के लिए प्रयत्न करो क्योंकि सारा कार्य-कौशल यही है।

तात्पर्य : जीवात्मा अनादि काल से अपने अच्छे तथा बुरे कर्म के फलों को संचित करता रहा है। फलतः वह निरन्तर अपने स्वरूप से अनभिज्ञ बना रहा है। इस अज्ञान को *भगवद्गीता* के उपदेश से दूर किया जा सकता है। यह हमें पूर्ण रूप में भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में जाने तथा जन्म-जन्मान्तर कर्म-फल की शृंखला का शिकार बनने से मुक्त होने का उपदेश देती है, अतः अर्जुन को कृष्णभावनामृत में कार्य करने के लिए कहा गया है क्योंकि कर्मफल के शुद्ध होने की यही प्रक्रिया है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥५१॥

कर्म-जम्–सकाम कर्मों के कारण; बुद्धि-युक्ताः–भक्ति में लगे, हि–निश्चय ही; फलम्–फल, त्यक्त्वा–त्याग कर; मनीषिणः–बड़े-बड़े ऋषि मुनि या भक्तगण, जन्म-बन्ध–जन्म तथा मृत्यु के बन्धन से; विनिर्मुक्ताः–मुक्त; पदम्–पद पर; गच्छन्ति–पहुँचते हैं; अनामयम्–बिना कष्ट के।

इस तरह भगवद्भक्ति में लगे रहकर बड़े-बड़े ऋषि, मुनि अथवा भक्तगण अपने आपको इस भौतिक संसार में कर्म के फलों से मुक्त कर लेते हैं। इस प्रकार वे जन्म-मृत्यु के चक्र से छूट जाते हैं और भगवान् के पास जाकर उस अवस्था को प्राप्त करते हैं, जो समस्त दुखों से परे है।

तात्पर्य : मुक्त जीवों का सम्बन्ध उस स्थान से होता है जहाँ भौतिक कष्ट नहीं होते। *भागवत* में (१०.१४.५८) कहा गया है—

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पद पदं पदं यद्विपदा न तेषाम्

"जिसने उन भगवान् के चरणकमल रूपी नाव को ग्रहण कर [illegible] है जो दृश्य जगत् के आश्रय हैं और मुकुन्द नाम से विख्यात हैं अर्थात् [illegible] हैं उसके लिए यह भवसागर गोखुर में समाये जल के समान है। उसका [illegible] है अर्थात् वह स्थान जहाँ भौतिक कष्ट नहीं है या कि वैकुण्ठ है [illegible] जहाँ पद-पद पर संकट हो।"

अज्ञानवश मनुष्य यह नहीं समझ पाता कि [illegible] एक दुखमय स्थान है जहाँ पद-पद पर सकट है। केवल अज्ञान[illegible] कर कि कर्मों से वे सुखी रह सकेंगे सकाम कर्म करते हुए [illegible] हैं। उन्हें [illegible] नहीं है कि इस ससार में कहीं भी कोई [illegible] नहीं है। [illegible] जीवन के दुख—जन्म, मृत्यु, जरा [illegible] है। किन्तु [illegible] स्वरूप को समझ लेता है [illegible] भगवान् की प्रेमा-भक्ति में [illegible] जाता है जहाँ न तो [illegible]

अपने स्वरूप को जानने का अर्थ है भगवान् की अलौकिक स्थिति को भी जान लेना। जो भ्रमवश यह सोचता है कि जीव की स्थिति तथा भगवान् की स्थिति एकसमान हैं उसे समझो कि वह अंधकार में है और स्वयं भगवद्भक्ति करने में असमर्थ है। वह अपने आपको प्रभु मान लेता है और इस तरह जन्म-मृत्यु की पुनरावृत्ति का पथ चुन लेता है। किन्तु जो यह समझते हुए कि उसकी स्थिति सेवक की है अपने को भगवान् की सेवा में लगा देता है वह तुरन्त ही वैकुण्ठलोक जाने का अधिकारी वन जाता है। भगवान् की सेवा *कर्मयोग* या *बुद्धियोग* कहलाती है, जिसे स्पष्ट शब्दों में भगवद्भक्ति कहते हैं।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥५२॥

यदा–जव; **ते**–तुम्हारा; **मोह**–मोह के; **कलिलम्**–घने जंगल को; **बुद्धिः**–बुद्धिमय दिव्य सेवा; **व्यतितरिष्यति**–पार कर जाती है; **तदा**–उस समय; **गन्ता असि**–तुम जाओगे; **निर्वेदम्**–विरक्ति को; **श्रोतव्यस्य**–सुनने योग्य के प्रति; **श्रुतस्य**–सुने हुए का; **च**–भी।

जब तुम्हारी बुद्धि मोह रूपी सघन वन को पार कर जायेगी तो तुम सुने हुए तथा सुनने योग्य सब के प्रति अन्यमनस्क हो जाओगे।

तात्पर्य : भगवद्भक्तों के जीवन में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं जिन्हें भगवद्भक्ति के कारण वैदिक कर्मकाण्ड से विरक्ति हो गई। जव मनुष्य श्रीकृष्ण को तथा उनके साथ अपने सम्वन्ध को वास्तविक रूप में समझ लेता है तो वह सकाम कर्मों के अनुष्ठानों के प्रति पूर्णतया अन्यमनस्क हो जाता है, भले ही वह अनुभवी *ब्राह्मण* क्यों न हो। भक्त परम्परा के महान भक्त तथा आचार्य श्री माधवेन्द्रपुरी का कहना है—

सन्ध्यावन्दन भद्रमस्तु भवतो भोः स्नान तुभ्यं नमो।
भो देवाः पितरश्च तर्पणविधौ नाहं क्षमः क्षम्यताम्॥
यत्र क्वापि निषद्य यादवकुलोत्तमस्य कंसद्विषः।
स्मारं स्मारमघं हरामि तदलं मन्ये किमन्येन मे॥

"हे मेरी त्रिकाल प्रार्थनाओ, तुम्हारी जय हो। हे स्नान, तुम्हें प्रणाम है। हे देवपितृगण, अव मैं आप लोगों के लिए तर्पण करने में असमर्थ हूँ। अव तो जहाँ भी वैठता हूँ, यादव कुलवंशी, कंस के हंता श्रीकृष्ण का ही स्मरण करता हूँ और इस तरह मैं अपने पापमय वन्धन से मुक्त हो सकता हूँ। मैं सोचता हूँ कि यही मेरे लिए पर्याप्त है।"

वैदिक रस्में तथा अनुष्ठान यथा त्रिकाल संध्या, प्रातःकालीन स्नान, पितृ-तर्पण आदि नवदीक्षितों के लिए अनिवार्य हैं। किन्तु जव कोई पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हो और कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा हो, तो वह इन विधि-विधानों के प्रति उदासीन हो जाता है, क्योंकि उसे पहले ही सिद्धि प्राप्त हो चुकी होती है। यदि कोई परमेश्वर कृष्ण की सेवा करके ज्ञान को प्राप्त होता है तो उसे शास्त्रों में वर्णित विभिन्न प्रकार की तपस्याएँ तथा यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसी प्रकार जो यह नहीं समझता कि वेदों का उद्देश्य कृष्ण तक पहुँचना है और अपने आपको अनुष्ठानादि में

व्यस्त रखता है, वह केवल अपना समय नष्ट करता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति शब्द-ब्रह्म की सीमा या *वेदों* तथा *उपनिषदों* की परिधि को भी लाँघ जाते हैं।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥५३॥

श्रुति–वैदिक ज्ञान के; **विप्रतिपन्ना**–कर्मफलों से प्रभावित हुए विना; **ते**–तुम्हारा; **यदा**–जब; **स्थास्यति**–स्थिर हो जाएगा; **निश्चला**–एकनिष्ठ; **समाधौ**–दिव्य चेतना या कृष्णभावनामृत में; **अचला**–स्थिर; **बुद्धिः**–बुद्धि; **तदा**–तब; **योगम्**–आत्म-साक्षात्कार; **अवाप्स्यसि**–तुम प्राप्त करोगे।

जब तुम्हारा मन वेदों की अलंकारमयी भापा से विचलित न हो और वह आत्म-साक्षात्कार की समाधि में स्थिर हो जाय, तब तुम्हें दिव्य चेतना प्राप्त हो जायेगी।

तात्पर्य : 'कोई समाधि में है' इस कथन का अर्थ यह होता है कि वह पूर्णतया कृष्णभावनाभावित है अर्थात् उसने पूर्ण *समाधि* में ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् को प्राप्त कर लिया है। आत्म-साक्षात्कार की सर्वोच्च सिद्धि यह जान लेना है कि मनुष्य कृष्ण का शाश्वत दास है और उसका एकमात्र कर्तव्य कृष्णभावनामृत में अपने सारे कर्म करना है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति या भगवान् के एकनिष्ठ भक्त को न तो *वेदों* की अलंकारमयी वाणी से विचलित होना चाहिए न ही स्वर्ग जाने के उद्देश्य से सकाम कर्मों में प्रवृत्त होना चाहिए। कृष्णभावनामृत में मनुष्य कृष्ण के सान्निध्य में रहता है और कृष्ण से प्राप्त सारे आदेश उस दिव्य अवस्था में समझे जा सकते हैं। ऐसे कार्यों के परिणामस्वरूप निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति निश्चित है। उसे कृष्ण या उनके प्रतिनिधि गुरु की आज्ञाओं का पालन मात्र करना होगा।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भापा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥५४॥

अर्जुनः उवाच–अर्जुन ने कहा; **स्थित-प्रज्ञस्य**–कृष्णभावनामृत में स्थिर हुए व्यक्ति की; **का**–क्या; **भापा**–भापा; **समाधि-स्थस्य**–समाधि में स्थित पुरुष का; **केशव**–हे कृष्ण; **स्थित-धीः**–कृष्णभावना में स्थिर व्यक्ति; **किम्**–क्या; **प्रभाषेत**–बोलता है; **किम्**–कैसे; **आसीत**–रहता है; **व्रजेत**–चलता है; **किम्**–कैसे।

अर्जुन ने कहा–हे कृष्ण! अध्यात्म में लीन चेतना वाले व्यक्ति (स्थितप्रज्ञ) के क्या लक्षण हैं? वह कैसे बोलता है तथा उसकी भापा क्या है? वह किस तरह बैठता और चलता है?

तात्पर्य : जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के उसकी विशिष्ट स्थिति के अनुसार कुछ लक्षण होते हैं उसी प्रकार कृष्णभावनाभावित पुरुष का भी विशिष्ट स्वभाव होता है–यथा उसका बोलना, चलना, सोचना आदि। जिस प्रकार धनी पुरुष के कुछ लक्षण होते हैं, जिनसे वह धनवान जाना जाता है, जिस तरह रोगी अपने रोग के लक्षणों से रुग्ण जाना जाता है या कि विद्वान् अपने गुणों से विद्वान् जाना जाता है, उसी तरह [illegible]

की दिव्य चेतना से युक्त व्यक्ति अपने विशिष्ट लक्षणों से जाना जाता है। इन लक्षणों को *भगवद्गीता* से जाना जा सकता है। किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति किस तरह बोलता है, क्योंकि वाणी ही किसी मनुष्य का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण है। कहा जाता है कि मूर्ख का पता तब तक नहीं लगता जब तक वह बोलता नहीं। एक बने-ठने मूर्ख को तब तक नहीं पहचाना जा सकता जब तक वह बोले नहीं, किन्तु बोलते ही उसका यथार्थ रूप प्रकट हो जाता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति का सर्वप्रमुख लक्षण यह है कि वह केवल कृष्ण तथा उन्हीं से सम्बद्ध विषयों के बारे में बोलता है। फिर तो अन्य लक्षण स्वतः प्रकट हो जाते हैं, जिनका उल्लेख आगे किया गया है।

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ ५५॥

श्रीभगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; **प्रजहाति**—त्यागता है; **यदा**—जब; **कामान्**—इन्द्रियतृप्ति की इच्छाएँ; **सर्वान्**—सभी प्रकार की; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **मनः गतान्**—मनोरथ का; **आत्मनि**—आत्मा की शुद्ध अवस्था में; **एव**—निश्चय ही; **आत्मना**—विशुद्ध मन से; **तुष्टः**—सन्तुष्ट, प्रसन्न; **स्थित-प्रज्ञः**—अध्यात्म में स्थित; **तदा**—उस समय, तब; **उच्यते**—कहा जाता है।

श्रीभगवान् ने कहा—हे पार्थ! जब मनुष्य मनोधर्म से उत्पन्न होने वाली इन्द्रियतृप्ति की समस्त कामनाओं का परित्याग कर देता है और जब इस तरह से विशुद्ध हुआ उसका मन आत्मा में सन्तोष प्राप्त करता है तो वह विशुद्ध दिव्य चेतना को प्राप्त (स्थितप्रज्ञ) कहा जाता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में पुष्टि हुई है कि जो मनुष्य पूर्णतया कृष्णभावनाभावित या भगवद्भक्त होता है उसमें महर्षियों के समस्त सद्गुण पाये जाते हैं, किन्तु जो व्यक्ति अध्यात्म में स्थित नहीं होता उसमें एक भी योग्यता नहीं होती क्योंकि वह अपने मनोधर्म पर ही आश्रित रहता है। फलतः यहाँ यह ठीक ही कहा गया है कि व्यक्ति को मनोधर्म द्वारा कल्पित सारी विषय-वासनाओं को त्यागना होता है। कृत्रिम साधन से इनको रोक पाना सम्भव नहीं। किन्तु यदि कोई कृष्णभावनामृत में लगा हो तो सारी विषय-वासनाएँ स्वतः बिना किसी प्रयास के दब जाती हैं। अतः मनुष्य को बिना किसी झिझक के कृष्णभावनामृत में लगना होगा क्योंकि यह भक्ति उसे दिव्य चेतना प्राप्त करने में सहायक होगी। अत्यधिक उन्नत जीवात्मा (महात्मा) अपने आपको परमेश्वर का शाश्वत दास मानकर आत्मतुष्ट रहता है। ऐसे आध्यात्मिक पुरुष के पास भौतिकता से उत्पन्न एक भी विषय-वासना फटक नहीं पाती। वह अपने को निरन्तर भगवान् का सेवक मानते हुए सहज रूप में सदैव प्रसन्न रहता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ ५६॥

दुःखेषु–तीनों तापों में, **अनुद्विग्न-मनाः**–मन में विचलित हुए बिना, **सुखेषु**–सुख में; **विगत-स्पृहः**–रुचिरहित होने; **वीत**–मुक्त; **राग**–आसक्ति; **भय**–भय, **क्रोधः**–तथा क्रोध से, **स्थित-धीः**–स्थिर मन वाला, **मुनिः**–मुनि, **उच्यते**–कहलाता है।

जो त्रय तापों के होने पर भी मन में विचलित नहीं होता अथवा सुख में प्रसन्न नहीं होता और जो आसक्ति, भय तथा क्रोध से मुक्त है, वह स्थिर मन वाला मुनि कहलाता है।

तात्पर्य : *मुनि* शब्द का अर्थ है वह जो शुष्क चिन्तन के लिए मन को अनेक प्रकार से उद्वेलित करे, किन्तु किसी तथ्य पर न पहुँच सके। कहा जाता है कि प्रत्येक मुनि का अपना-अपना दृष्टिकोण होता है और जब तक एक मुनि अन्य मुनियों से भिन्न न हो तब तक उसे वास्तविक मुनि नहीं कहा जा सकता। *न चासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्* (*महाभारत,* वनपर्व ३१३.११७) किन्तु जिस *स्थितधीः मुनि* का भगवान् ने यहाँ उल्लेख किया है वह सामान्य *मुनि* से भिन्न है। *स्थितधीः मुनि* सदैव कृष्णभावनाभावित रहता है क्योंकि वह सारा सृजनात्मक चिन्तन पूरा कर चुका होता है। वह *प्रशान्त निःशेष मनोरथान्तर* (*स्तोत्र रत्न* ४३) कहलाता है या जिसने शुष्कचिन्तन की अवस्था पार कर ली है और इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि भगवान् श्रीकृष्ण या वासुदेव ही सब कुछ हैं (*वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*) वह स्थिरचित्त मुनि कहलाता है। ऐसा कृष्णभावनाभावित व्यक्ति तीनों तापों के संघात से तनिक भी विचलित नहीं होता क्योंकि वह इन कष्टों (तापों) को भगवत्कृपा के रूप में लेता है और पूर्व पापों के कारण अपने को अधिक कष्ट के लिए योग्य मानता है और वह देखता है कि उसके सारे दुख भगवत्कृपा से रचमात्र रह जाते हैं। इसी प्रकार जब वह सुखी होता है तो अपने को सुख के लिए अयोग्य मानकर इसका भी श्रेय भगवान् को देता है। वह सोचता है कि भगवत्कृपा से ही वह ऐसी सुखद स्थिति में है और भगवान् की सेवा और अच्छी तरह से कर सकता है। और भगवान् की सेवा के लिए तो वह सदैव साहस करने के लिए सन्नद्ध रहता है। वह राग या विराग से प्रभावित नहीं होता। राग का अर्थ होता है अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए वस्तुओं को ग्रहण करना और विराग का अर्थ है ऐसी ऐन्द्रिय आसक्ति का अभाव। किन्तु कृष्णभावनामृत में स्थिर व्यक्ति में न राग होता है न विराग क्योंकि उसका पूरा जीवन ही भगवत्सेवा में अर्पित रहता है। फलतः सारे प्रयास असफल रहने पर भी वह क्रुद्ध नहीं होता। चाहे विजय हो या न हो, कृष्णभावनाभावित व्यक्ति अपने संकल्प का पक्का होता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥५७॥

यः–जो; **सर्वत्र**–सभी जगह, **अनभिस्नेहः**–स्नेहशून्य, **तत्**–उस, **तत्**–उस, **प्राप्य**–प्राप्त करके; **शुभ**–अच्छा; **अशुभम्**–बुरा, **न**–कभी नहीं, **अभिनन्दति**–प्रशंसा करता है, **न**–कभी नहीं, **द्वेष्टि**–द्वेष करता है; **तस्य**–उसका, **प्रज्ञा**–पूर्ण ज्ञान, **प्रतिष्ठिता**–अचल।

इस भौतिक जगत् में जो व्यक्ति न तो शुभ की प्राप्ति से हर्षित होता ˚ ˚ न

अशुभ के प्राप्त होने पर उससे घृणा करता है, वह पूर्ण ज्ञान में स्थिर होता है।

तात्पर्य : भौतिक जगत् में सदा ही कुछ न कुछ उथल-पुथल होती रहती है—उसका परिणाम अच्छा हो चाहे बुरा। जो ऐसी उथल-पुथल से विचलित नहीं होता, जो अच्छे (शुभ) या बुरे (अशुभ) से अप्रभावित रहता है उसे कृष्णभावनामृत में स्थिर समझना चाहिए। जब तक मनुष्य इस भौतिक संसार में है तब तक अच्छाई या बुराई की सम्भावना रहती है क्योंकि यह संसार द्वैत (द्वंद्वों) से पूर्ण है। किन्तु जो कृष्णभावनामृत में स्थिर है वह अच्छाई या बुराई से अछूता रहता है क्योंकि उसका सरोकार कृष्ण से रहता है जो सर्वमंगलमय हैं। ऐसे कृष्णभावनामृत से मनुष्य पूर्ण ज्ञान की स्थिति प्राप्त कर लेता है, जिसे *समाधि* कहते हैं।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५८॥

यदा—जब; **संहरते**—समेट लेता है; **च**—भी; **अयम्**—यह; **कूर्मः**—कछुवा; **अङ्गानि**—अंग; **इव**—सदृश; **सर्वशः**—एकसाथ; **इन्द्रियाणि**—इन्द्रियाँ; **इन्द्रिय-अर्थेभ्यः**—इन्द्रियविषयों से; **तस्य**—उसकी; **प्रज्ञा**—चेतना; **प्रतिष्ठिता**—स्थिर।

जिस प्रकार कछुवा अपने अंगों को संकुचित करके खोल के भीतर कर लेता है, उसी तरह जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियविषयों से खींच लेता है, वह पूर्ण चेतना में दृढ़तापूर्वक स्थिर होता है।

तात्पर्य : किसी *योगी*, भक्त या आत्मसिद्ध व्यक्ति की कसौटी यह है कि वह अपनी योजना के अनुसार इन्द्रियों को वश में कर सके, किन्तु अधिकांश व्यक्ति अपनी इन्द्रियों के दास बने रहते हैं और इन्द्रियों के ही कहने पर चलते हैं। यह है उत्तर इस प्रश्न का कि *योगी* किस प्रकार स्थित होता है। इन्द्रियों की तुलना विषैले सर्पों से की गई है। वे अत्यन्त स्वतंत्रतापूर्वक तथा बिना किसी नियन्त्रण के कर्म करना चाहती हैं। *योगी* या भक्त को इन सर्पों को वश में करने के लिए, एक सपेरे की भाँति अत्यन्त प्रबल होना चाहिए। वह उन्हें कभी भी कार्य करने की छूट नहीं देता। शास्त्रों में अनेक आदेश हैं, उनमें से कुछ 'करो' तथा कुछ 'न करो' से सम्बद्ध हैं। जब तक कोई इन, 'करो या न करो' का पालन नहीं कर पाता और इन्द्रियभोग पर संयम नहीं बरतता है तब तक उसका कृष्णभावनामृत में स्थिर हो पाना असम्भव है। यहाँ पर सर्वश्रेष्ठ उदाहरण कछुवे का है। वह किसी भी समय अपने अंग समेट सकता है और पुनः विशिष्ट उद्देश्यों से उन्हें प्रकट कर सकता है। इसी प्रकार कृष्णभावनाभावित व्यक्तियों की इन्द्रियाँ भी केवल भगवान् की विशिष्ट सेवाओं के लिए काम आती हैं अन्यथा उनका संकोच कर लिया जाता है। अर्जुन को उपदेश दिया जा रहा है कि वह अपनी इन्द्रियों को आत्मतुष्टि में न करके भगवान् की सेवा में लगाये। अपनी इन्द्रियों को सदैव भगवान् की सेवा में लगाये रखना कूर्म द्वारा प्रस्तुत दृष्टान्त के अनुरूप है, जो अपनी इन्द्रियों को समेटे रखता है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥५९॥

विषया—इन्द्रियभोग की वस्तुएँ; **विनिवर्तन्ते**—दूर रहने के लिए अभ्यास की जाती हैं; **निराहारस्य**—निषेधात्मक प्रतिबन्धों से, **देहिनः**—देहवान जीव के लिए, **रस-वर्जम्**—स्वाद का त्याग करता है; **रसः**—भोगेच्छा; **अपि**—यद्यपि है; **अस्य**—उसका; **परम्**—अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तुएँ; **दृष्ट्वा**—अनुभव होने पर, **निवर्तते**—वह समाप्त हो जाता है।

देहधारी जीव इन्द्रियभोग से भले ही निवृत्त हो जाय पर उसमें इन्द्रियभोगों की इच्छा बनी रहती है। लेकिन उत्तम रस के अनुभव होने से ऐसे कार्यों को बन्द करने पर वह भक्ति में स्थिर हो जाता है।

तात्पर्य : जब तक कोई अध्यात्म को प्राप्त न हो तब तक इन्द्रियभोग से विरत होना असम्भव है। विधि-विधानों द्वारा इन्द्रियभोग को संयमित करने की विधि वैसी ही है जैसे किसी रोगी के किसी भोज्य पदार्थ खाने पर प्रतिबन्ध लगाना। किन्तु इससे रोगी की न तो भोजन के प्रति रुचि समाप्त होती है और न वह ऐसा प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहता है। इसी प्रकार अल्पज्ञानी व्यक्तियों के लिए इन्द्रियसंयमन के लिए अष्टाग-योग जैसी विधि की संस्तुति की जाती है जिसमे *यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान* आदि सम्मिलित हैं। किन्तु जिसने कृष्णभावनामृत के पथ पर प्रगति के क्रम मे परमेश्वर कृष्ण के सौन्दर्य का रसास्वादन कर लिया है, उसे जड भौतिक वस्तुओ में कोई रुचि नहीं रह जाती। अत आध्यात्मिक जीवन मे ये सारे प्रतिबन्ध अल्पज्ञानी नवदीक्षितों के लिए है। ऐसे प्रतिबन्ध तभी तक ठीक हैं जब तक कृष्णभावनामृत मे रुचि जागृत *नहीं हो जाती। और जब वास्तव मे रुचि जग जाती है, तो मनुष्य मे स्वत ऐसी वस्तुओ* के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥६०॥

यततः—प्रयत्न करते हुए; **हि**—निश्चय ही, **अपि**—के बावजूद, **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र, **पुरुषस्य**—मनुष्य की; **विपश्चितः**—विवेक से युक्त, **इन्द्रियाणि**—इन्द्रियाँ, **प्रमाथीनि**—उत्तेजित, **हरन्ति**—फेंकती हैं; **प्रसभम्**—बल से, **मनः**—मन को।

हे अर्जुन! इन्द्रियाँ इतनी प्रबल तथा वेगवान हैं कि वे उस विवेकी पुरुष के मन को भी बलपूर्वक हर लेती हैं, जो उन्हें वश में करने का प्रयत्न करता है।

तात्पर्य : अनेक विद्वान्, ऋषि, दार्शनिक तथा अध्यात्मवादी इन्द्रियो को वश मे करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु उनमें से बडे से बडा भी कभी-कभी विचलित मन के कारण इन्द्रियभोग का लक्ष्य बन जाता है। यहाँ तक कि विश्वामित्र जैसे महर्षि तथा पूर्ण योगी को भी मेनका के साथ विषयभोग मे प्रवृत्त होना पडा, यद्यपि वे इन्द्रियनिग्रह के लिए कठिन तपस्या तथा योग कर रहे थे। विश्व इतिहास मे इसी तरह के अनेक दृष्टान्त हैं। अत. पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हुए बिना मन तथा इन्द्रियो को वश

अत्यन्त कठिन है। मन को कृष्ण में लगाये विना मनुष्य ऐसे भौतिक कार्यों को वन्द नहीं कर सकता। परम साधु तथा भक्त यामुनाचार्य ने एक व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं—

यदवधि मम चेतः कृष्णपदारविन्दे
नवनवरसधामन्युद्यतं रन्तुमासीत्।
तदवधि बत नारीसंगमे स्मर्यमाने
भवति मुखविकारः सुष्ठु निष्ठीवनं च॥

"जव से मेरा मन भगवान् कृष्ण के चरणारविन्दों की सेवा में लग गया है और जव से मैं नित्य नव दिव्यरस का अनुभव करता रहा हूँ, तव से स्त्री-प्रसंग का विचार आते ही मेरा मन उधर से फिर जाता है और मैं ऐसे विचार पर थू-थू करता हूँ।"

कृष्णभावनामृत इतनी दिव्य सुन्दर वस्तु है कि इसके प्रभाव से भौतिक भोग स्वतः नीरस हो जाता है। यह वैसा ही है जैसे कोई भूखा मुनष्य प्रचुर मात्रा में पुष्टिदायक भोजन करके अपनी भूख मिटा ले। महाराज अम्वरीष भी परम *योगी* दुर्वासा मुनि पर इसीलिए विजय पा सके क्योंकि उनका मन निरन्तर कृष्णभावनामृत में लगा रहता था (*स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने*)।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६१॥

तानि—उन इन्द्रियों को; **सर्वाणि**—समस्त; **संयम्य**—वश में करके; **युक्तः**—लगा हुआ; **आसीत**—स्थित होना चाहिए; **मत्-परः**—मुझमें; **वशे**—पूर्णतया वश में; **हि**—निश्चय ही; **यस्य**—जिसकी; **इन्द्रियाणि**—इन्द्रियाँ; **तस्य**—उसकी; **प्रज्ञा**—चेतना; **प्रतिष्ठिता**—स्थिर।

जो इन्द्रियों को पूर्णतया वश में रखते हुए इन्द्रिय-संयमन करता है और अपनी चेतना को मुझमें स्थिर कर देता है, वह मनुष्य स्थिरबुद्धि कहलाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में वताया गया है कि योगसिद्धि की चरम अनुभूति कृष्णभावनामृत ही है। जव तक कोई कृष्णभावनाभावित नहीं होता तव तक इन्द्रियों को वश में करना सम्भव नहीं हे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दुर्वासा मुनि का झगड़ा महाराज अम्वरीप से हुआ, क्योंकि वे गर्ववश महाराज अम्वरीप पर क्रुद्ध हो गये, जिससे अपनी इन्द्रियों को रोक नहीं पाये। दूसरी ओर यद्यपि राजा मुनि के समान *योगी* न था, किन्तु वह कृष्ण का भक्त था और उसने मुनि के सारे अन्याय सह लिये, जिससे वह विजयी हुआ। राजा अपनी इन्द्रियों को वश में कर सका क्योंकि उसमें निम्नलिखित गुण थे, जिनका उल्लेख *श्रीमद्भागवत* में (९.४.१८-२०) हुआ है—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसंगमम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते॥

पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः॥

"राजा अम्बरीष ने अपना मन भगवान् कृष्ण के चरणारविन्दों पर स्थिर कर दिया, अपनी वाणी भगवान् के धाम की चर्चा करने में लगा दी, अपने कानों को भगवान् की लीलाओं के सुनने में, अपने हाथों को भगवान् का मन्दिर साफ करने में, अपनी आँखों को भगवान् का स्वरूप देखने में, अपने शरीर को भक्त के शरीर का स्पर्श करने में, अपनी नाक को भगवान् के चरणारविन्दों पर भेंट किये गये फूलों की गध सूँघने में, अपनी जीभ को उन्हे अर्पित तुलसी दलों का आस्वाद करने मे, अपने पाँवों को जहाँ-जहाँ भगवान् के मन्दिर हैं उन स्थानो की यात्रा करने में, अपने सिर को भगवान् को नमस्कार करने में तथा अपनी इच्छाओं को भगवान् की इच्छाओ को पूरा करने में लगा दिया ओर इन गुणों के कारण वे भगवान् के *मत्पर* भक्त वनने के योग्य हो गये।"

इस प्रसंग मे *मत्पर* शब्द अत्यन्त सार्थक है। कोई मत्पर किस तरह हो सकता हे इसका वर्णन महाराज अम्वरीष के जीवन में वताया गया हे। *मत्पर* परम्परा के महान विद्वान् तथा आचार्य श्रील वलदेव विद्याभूषण का कहना है—*मद्भक्ति प्रभावेन सर्वेन्द्रियविजयपूर्विका स्वात्मदृष्टि सुलभेति भावः*—इन्द्रियो को केवल कृष्ण की भक्ति के वल से वश में किया जा सकता है। कभी-कभी अग्नि का भी उदाहरण दिया जाता हे—"जिस प्रकार जलती हुई अग्नि कमरे के भीतर की सारी वस्तुएँ जला देती है उसी प्रकार *योगी* के हृदय में स्थित भगवान् विष्णु सारे मलों को जला देते हैं।" *योग-सूत्र* भी विष्णु का ध्यान आवश्यक वताता हे, शून्य का नहीं। तथाकथित *योगी* जो विष्णुपद को छोड कर अन्य किसी वस्तु का ध्यान धरते हैं वे केवल मृगमरीचिकाओं की खोज मे वृथा ही अपना समय गँवाते हैं। हमे कृष्णभावनाभावित होना चाहिए—भगवान् के प्रति अनुरक्त होना चाहिए। असली *योग* का यही उद्देश्य हे।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ ६२॥

ध्यायतः—चिन्तन करते हुए, **विषयान्**—इन्द्रिय विषयों को, **पुंसः**—मनुष्य की; **सङ्गः**—आसक्ति; **तेषु**—उन इन्द्रिय विषयों में, **उपजायते**—विकसित होती है, **सङ्गात्**—आसक्ति से, **सञ्जायते**—विकसित होती है, **कामः**—इच्छा, **कामात्**—काम से, **क्रोधः**—क्रोध, **अभिजायते**—प्रकट होता है।

इन्द्रियविषयों का चिन्तन करते हुए मनुष्य की उनमें आसक्ति उत्पन्न हो जाती है और ऐसी आसक्ति से काम उत्पन्न होता है ओर फिर काम से क्रोध प्रकट होता है।

तात्पर्य : जो मनुष्य कृष्णभावनाभावित नहीं हे उसमे इन्द्रियविषयो के चिन्तन से भोतिक इच्छाएँ उत्पन्न होती हे। इन्द्रियों को किसी न किसी कार्य मे लगे रहना चाहिए ओर यदि वे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति मे नहीं लगी रहेगी तो वे निश्चय ही भौतिकतावाद में लगना चाहेंगी। इस भोतिक जगत् में हर एक प्राणी इन्द्रियविषयो के अधीन हे, यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा शिवजी भी। तो स्वर्ग के अन्य देवताओ के विषय में क्या कहा जा सकता है? इस संसार के जजाल से निकलने का एकमात्र उपाय है

होना। शिव ध्यानमग्न थे, किन्तु जब पार्वती ने विषयभोग के लिए उन्हें उत्तेजित किया, तो वे सहमत हो गये जिसके फलस्वरूप कार्तिकेय का जन्म हुआ। इसी प्रकार तरुण भगवद्भक्त हरिदास ठाकुर को माया देवी के अवतार ने मोहित करने का प्रयास किया, किन्तु विशुद्ध कृष्ण भक्ति के कारण वे इस कसौटी में खरे उतरे। जैसा कि यामुनाचार्य के उपर्युक्त श्लोक में बताया जा चुका है, भगवान् का एकनिष्ठ भक्त भगवान् की संगति के आध्यात्मिक सुख का आस्वादन करने के कारण समस्त भौतिक इन्द्रियसुख को त्याग देता है। अतः जो कृष्णभावनाभावित नहीं है वह कृत्रिम दमन के द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में करने में कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, अन्त में अवश्य असफल होगा, क्योंकि विषय सुख का रंचमात्र विचार भी उसे इन्द्रियतृप्ति के लिए उत्तेजित कर देगा।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ ६३॥

क्रोधात्—क्रोध से; **भवति**—होता है; **सम्मोहः**—पूर्ण मोह; **सम्मोहात्**—मोह से; **स्मृति**—स्मरणशक्ति का; **विभ्रमः**—मोह; **स्मृति-भ्रंशात्**—स्मृति के मोह से; **बुद्धि-नाशः**—बुद्धि का विनाश; **बुद्धि-नाशात्**—तथा बुद्धिनाश से; **प्रणश्यति**—अधःपतन होता है।

क्रोध से पूर्ण मोह उत्पन्न होता है और मोह से स्मरणशक्ति का विभ्रम हो जाता है। जब स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, तो बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि नष्ट होने पर मनुष्य भव-कूप में पुनः गिर जाता है।

तात्पर्य : श्रील रूप गोस्वामी ने हमें यह आदेश दिया है—

प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः।
मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते॥

(*भक्तिरसामृत सिन्धु* १.२.२५८)

कृष्णभावनामृत के विकास से मनुष्य जान सकता है कि प्रत्येक वस्तु का उपयोग भगवान् की सेवा के लिए किया जा सकता है। जो कृष्णभावनामृत के ज्ञान से रहित हैं वे कृत्रिम ढंग से भौतिक विषयों से बचने का प्रयास करते हैं, फलतः वे भवबन्धन से मोक्ष की कामना करते हुए भी वैराग्य की चरम अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाते। उनका तथाकथित वैराग्य *फल्गु* अर्थात् *गौण* कहलाता है। इसके विपरीत कृष्णभावनाभावित व्यक्ति जानता है कि प्रत्येक वस्तु का उपयोग भगवान् की सेवा में किस प्रकार किया जाय फलतः वह भौतिक चेतना का शिकार नहीं होता। उदाहरणार्थ, निर्विशेषवादी के अनुसार भगवान् निराकार होने के कारण भोजन नहीं कर सकते, अतः वह अच्छे खाद्यों से बचता रहता है, किन्तु भक्त जानता है कि कृष्ण परम भोक्ता हैं और भक्तिपूर्वक उन पर जो भी भेंट चढ़ायी जाती है, उसे वे खाते हैं। अतः भगवान् को अच्छा भोजन चढ़ाने के बाद भक्त *प्रसाद* ग्रहण करता है। इस प्रकार हर वस्तु प्राणवान हो जाती है और अधःपतन का कोई संकट नहीं रहता। भक्त कृष्णभावनामृत में रहकर *प्रसाद* ग्रहण करता है जबकि अभक्त इसे पदार्थ के रूप में तिरस्कार कर देता है। अतः निर्विशेषवादी अपने कृत्रिम त्याग के कारण जीवन को भोग नहीं पाता और यही कारण है कि मन के थोड़े

से विचलन से वह भव-कूप में पुनः आ गिरता है। कहा जाता है कि मुक्ति के स्तर तक पहुँच जाने पर भी ऐसा जीव नीचे गिर जाता है, क्योंकि उसे भक्ति का कोई आश्रय नहीं मिलता।

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥६४॥

राग–आसक्ति, द्वेष–तथा वैराग्य से, विमुक्तैः–मुक्त रहने वाले से, तु–लेकिन, विषयान्–इन्द्रियविषयों को, इन्द्रियैः–इन्द्रियों के द्वारा, चरन्–भोगता हुआ; आत्म-वश्यैः–अपने वश में; विधेय-आत्मा–नियमित स्वाधीनता पालक; प्रसादम्–भगवत्कृपा को; अधिगच्छति–प्राप्त करता है।

किन्तु समस्त राग तथा द्वेष से मुक्त एवं अपनी इन्द्रियों को संयम द्वारा वश में करने में समर्थ व्यक्ति भगवान् की पूर्ण कृपा प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य : यह पहले ही बताया जा चुका है कि कृत्रिम विधि से इन्द्रियों पर बाह्यरूप से नियन्त्रण किया जा सकता है, किन्तु जब तक इन्द्रियाँ भगवान् की दिव्य सेवा में नहीं लगाई जातीं तब तक नीचे गिरने की सम्भावना बनी रहती है। यद्यपि पूर्णतया कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ऊपर से विषयी-स्तर पर क्यों न दिखे, किन्तु कृष्णभावनाभावित होने से वह विषय-कर्मों में आसक्त नहीं होता। उसका एकमात्र उद्देश्य तो कृष्ण को प्रसन्न करना रहता है, अन्य कुछ नहीं। अतः वह समस्त आसक्ति तथा विरक्ति से मुक्त होता है। कृष्ण की इच्छा होने पर भक्त सामान्यतया अवांछित कार्य भी कर सकता है, किन्तु यदि कृष्ण की इच्छा नहीं है तो वह उस कार्य को भी नहीं करेगा जिसे वह सामान्य रूप से अपने लिए करता हो। अतः कर्म करना या न करना उसके वश में रहता है क्योंकि वह केवल कृष्ण के निर्देश के अनुसार ही कार्य करता है। यही चेतना भगवान् की अहैतुकी कृपा है, जिसकी प्राप्ति भक्त को इन्द्रियों में आसक्त होते हुए भी हो सकती है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥६५॥

प्रसादे–भगवान् की अहैतुकी कृपा प्राप्त होने पर; सर्व–सभी; दुःखानाम्–भौतिक दुखों का; हानिः–क्षय, नाश, अस्य–उसके, उपजायते–होता है; प्रसन्न-चेतसः–प्रसन्नचित्त वाले की, हि–निश्चय ही, आशु–तुरन्त, बुद्धिः–बुद्धि, परि–पर्याप्त; अवतिष्ठते–स्थिर हो जाती है।

इस प्रकार से कृष्णभावनामृत में तुष्ट व्यक्ति के लिए संसार के तीनों ताप नष्ट हो जाते हैं और ऐसी तुष्ट चेतना होने पर उसकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥६६॥

न अस्ति–नहीं हो सकती; बुद्धिः–दिव्य बुद्धि अयुक्तस्य–कृष्णभावना से सम्बन्धित न रहने वाले

में; **न**—नहीं; **च**—तथा; **अयुक्तस्य**—कृष्णभावना से शून्य पुरुष का; **भावना**—स्थिर चित्त (सुख में); **न**—नहीं; **च**—तथा; **अभावयतः**—जो स्थिर नहीं है उसके; **शान्तिः**—शान्ति; **अशान्तस्य**—अशान्त का; **कुतः**—कहाँ है; **सुखम्**—सुख।

जो कृष्णभावनामृत में परमेश्वर से सम्बन्धित नहीं है उसकी न तो बुद्धि दिव्य होती है और न ही मन स्थिर होता है जिसके बिना शान्ति की कोई सम्भावना नहीं है। शान्ति के बिना सुख हो भी कैसे सकता है?

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित हुए विना शान्ति की कोई सम्भावना नहीं हो सकती। अतः पाँचवें अध्याय में (५.२९) इसकी पुष्टि की गई है कि जव मनुष्य यह समझ लेता है कि कृष्ण ही यज्ञ तथा तपस्या के उत्तम फलों के एकमात्र भोक्ता हैं और समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं तथा वे समस्त जीवों के असली मित्र हैं तभी उसे वास्तविक शान्ति मिल सकती है। अतः यदि कोई कृष्णभावनाभावित नहीं है तो उसके मन का कोई अन्तिम लक्ष्य नहीं हो सकता। मन की चंचलता का एकमात्र कारण अन्तिम लक्ष्य का अभाव है। जव मनुष्य को यह पता चल जाता है कि कृष्ण ही भोक्ता, स्वामी तथा सवके मित्र हैं, तो स्थिर चित्त होकर शान्ति का अनुभव किया जा सकता है। अतएव जो कृष्ण से सम्वन्ध न रखकर कार्य में लगा रहता है, वह निश्चय ही सदा दुखी और अशान्त रहेगा, भले ही वह जीवन में शान्ति तथा आध्यात्मिक उन्नति का कितना ही दिखावा क्यों न करे। कृष्णभावनामृत स्वयं प्रकट होने वाली शान्तिमयी अवस्था है, जिसकी प्राप्ति कृष्ण के सम्वन्ध से ही हो सकती है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ ६७॥

इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों के; **हि**—निश्चय ही; **चरताम्**—विचरण करते हुए; **यत्**—जिसके साथ; **मनः**—मन; **अनुविधीयते**—निरन्तर लगा रहता है; **तत्**—वह; **अस्य**—इसकी; **हरति**—हर लेती है; **प्रज्ञाम्**—वुद्धि को; **वायुः**—वायु; **नावम्**—नाव को; **इव**—जैसे; **अम्भसि**—जल में।

जिस प्रकार पानी में तैरती नाव को प्रचण्ड वायु दूर वहा ले जाती है उसी प्रकार विचरणशील इन्द्रियों में से कोई एक जिस पर मन निरन्तर लगा रहता है, मनुष्य की वुद्धि को हर लेती है।

तात्पर्य : यदि समस्त इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा में न लगी रहें और यदि इनमें से एक भी अपनी तृप्ति में लगी रहती है, तो वह भक्त को दिव्य प्रगति-पथ से विपथ कर सकती है। जैसा कि महाराज अम्वरीप के जीवन में वताया गया है, समस्त इन्द्रियों को कृष्णभावनामृत में लगा रहना चाहिए क्योंकि मन को वश में करने की यही सही एवं सरल विधि है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६८॥

तस्मात्–अत; **यस्य**–जिसकी, **महा-बाहो**–हे महाबाहु; **निगृहीतानि**–इस तरह वशीभूत; **सर्वशः**–सब प्रकार से; **इन्द्रियाणि**–इन्द्रियाँ, **इन्द्रिय-अर्थेभ्यः**–इन्द्रियविषयों से; **तस्य**–उसकी, **प्रज्ञा**–बुद्धि; **प्रतिष्ठिता**–स्थिर।

अतः हे महाबाहु! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से सब प्रकार से विरत होकर उसके वश में हैं, उसी की बुद्धि निस्सन्देह स्थिर है।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत के द्वारा या सारी इन्द्रियों को भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगाकर इन्द्रियतृप्ति की बलवती शक्तियों को दमित किया जा सकता है। जिस प्रकार शत्रुओं का दमन श्रेष्ठ सेना द्वारा किया जाता है उसी प्रकार इन्द्रियों का दमन किसी मानवीय प्रयास के द्वारा नहीं, अपितु उन्हें भगवान् की सेवा में लगाये रखकर किया जा सकता है। जो व्यक्ति यह हृदयगम कर लेता है कि कृष्णभावनामृत के द्वारा बुद्धि स्थिर होती है और इस कला का अभ्यास प्रामाणिक गुरु के पथ-प्रदर्शन में करता है, वह *साधक* अथवा मोक्ष का अधिकारी कहलाता है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ ६९॥

या–जो, **निशा**–रात्रि है, **सर्व**–समस्त, **भूतानाम्**–जीवों की, **तस्याम्**–उसमें, **जागर्ति**–जागता रहता है, **संयमी**–आत्मसंयमी व्यक्ति, **यस्याम्**–जिसमें, **जाग्रति**–जागते हैं, **भूतानि**–सभी प्राणी; **सा**–वह, **निशा**–रात्रि, **पश्यतः**–आत्मनिरीक्षण करने वाले, **मुनेः**–मुनि के लिए।

जो सब जीवों के लिए रात्रि है, वह आत्मसंयमी के जागने का समय है और जो समस्त जीवों के जागने का समय है वह आत्मनिरीक्षक मुनि के लिए रात्रि है।

तात्पर्य : बुद्धिमान् मनुष्यों की दो श्रेणियाँ हैं। एक श्रेणी के मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के लिए भौतिक कार्य करने में निपुण होते हैं और दूसरी श्रेणी के मनुष्य आत्मनिरीक्षक है, जो आत्म-साक्षात्कार के अनुशीलन के लिए जागते हैं। विचारवान पुरुषों या आत्मनिरीक्षक मुनि के कार्य भौतिकता में लीन पुरुषों के लिए रात्रि के समान है। भौतिकतावादी व्यक्ति ऐसी रात्रि में अनभिज्ञता के कारण आत्म-साक्षात्कार के प्रति सोये रहते हैं। आत्मनिरीक्षक मुनि भौतिकतावादी पुरुषों की रात्रि में जागे रहते हैं। मुनि को आध्यात्मिक अनुशीलन की क्रमिक उन्नति में दिव्य आनन्द का अनुभव होता है, किन्तु भौतिकतावादी कार्यों में लगा व्यक्ति, आत्म-साक्षात्कार के प्रति सोया रहकर अनेक प्रकार के इन्द्रियसुखों का स्वप्न देखता है और उसी सुप्तावस्था में कभी सुख तो कभी दुख का अनुभव करता है। आत्मनिरीक्षक मनुष्य भौतिक सुख तथा दुख के प्रति अन्यमनस्क रहता है। वह भौतिक घातों से अविचलित रहकर आत्म-साक्षात्कार के कार्यों में लगा रहता है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ ७०॥

आपूर्यमाणम्–नित्य परिपूर्ण; **अचल-प्रतिष्ठम्**–दृढ़तापूर्वक स्थित; **समुद्रम्**–समुद्र में; **आपः**–नदियाँ; **प्रविशन्ति**–प्रवेश करती हैं; **यद्वत्**–जिस प्रकार; **तद्वत्**–उसी प्रकार; **कामाः**–इच्छाएँ; **यम्**–जिसमें; **प्रविशन्ति**–प्रवेश करती हैं; **सर्वे**–सभी; **सः**–वह व्यक्ति; **शान्तिम्**–शान्ति; **आप्नोति**–प्राप्त करता है; **न**–नहीं; **काम-कामी**–इच्छाओं को पूरा करने का इच्छुक।

जो पुरुष समुद्र में निरन्तर प्रवेश करती रहने वाली नदियों के समान इच्छाओं के निरन्तर प्रवाह से विचलित नहीं होता और जो सदैव स्थिर रहता है, वही शान्ति प्राप्त कर सकता है, वह नहीं, जो ऐसी इच्छाओं को तुष्ट करने की चेष्टा करता हो।

तात्पर्य : यद्यपि विशाल सागर में सदैव जल रहता है, किन्तु, वर्षा ऋतु में विशेषतया यह अधिकाधिक जल से भरता जाता है तो भी सागर उतने पर ही स्थिर रहता है। न तो वह विक्षुब्ध होता है और न तट की सीमा का उल्लंघन करता है। यही स्थिति कृष्णभावनाभावित व्यक्ति की है। जब तक मनुष्य शरीर है, तब तक इन्द्रियतृप्ति के लिए शरीर की माँगें बनी रहेंगी। किन्तु भक्त अपनी पूर्णता के कारण ऐसी इच्छाओं से विचलित नहीं होता। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि भगवान् उसकी सारी आवश्यकताएँ पूरी करते रहते हैं। अतः वह सागर के तुल्य होता है–अपने में सदैव पूर्ण। सागर में गिरने वाली नदियों के समान इच्छाएँ उसके पास आ सकती हैं, किन्तु वह अपने कार्य में स्थिर रहता है और इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से रंचभर भी विचलित नहीं होता। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति का यही प्रमाण है–इच्छाओं के होते हुए भी वह कभी इन्द्रियतृप्ति के लिए उन्मुख नहीं होता। चूँकि वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में तुष्ट रहता है, अतः वह समुद्र की भाँति स्थिर रहकर पूर्ण शान्ति का आनन्द उठा सकता है। किन्तु दूसरे लोग, जो मुक्ति की सीमा तक इच्छाओं की पूर्ति करना चाहते हैं, फिर भौतिक सफलताओं का क्या कहना–उन्हें कभी शान्ति नहीं मिल पाती। कर्मी, मुमुक्षु तथा वे *योगी*–सिद्धि के कामी हैं, ये सभी अपूर्ण इच्छाओं के कारण दुखी रहते हैं। किन्तु कृष्णभावनाभावित पुरुष भगवत्सेवा में सुखी रहता है और उसकी कोई इच्छा नहीं होती। वस्तुतः वह तो तथाकथित भवबन्धन से मोक्ष की भी कामना नहीं करता। कृष्ण के भक्तों की कोई भौतिक इच्छा नहीं रहती, इसलिए वे पूर्ण शान्त रहते हैं।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥ ७१॥

विहाय–छोड़कर; **कामान्**–इन्द्रियतृप्ति की भौतिक इच्छाएँ; **यः**–जो; **सर्वान्**–समस्त; **पुमान्**–पुरुष; **चरति**–रहता है; **निःस्पृहः**–इच्छारहित; **निर्ममः**–ममतारहित; **निरहङ्कारः**–अहंकारशून्य; **सः**–वह; **शान्तिम्**–पूर्ण शान्ति को; **अधिगच्छति**–प्राप्त होता है।

जिस व्यक्ति ने इन्द्रियतृप्ति की समस्त इच्छाओं का परित्याग कर दिया है, जो इच्छाओं से रहित रहता है और जिसने सारी ममता त्याग दी है तथा अहंकार से रहित है, वही वास्तविक शान्ति को प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य : *निस्पृह* होने का अर्थ है-इन्द्रियतृप्ति के लिए कुछ भी इच्छा न करना। दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनाभावित होने की इच्छा वास्तव में इच्छाशून्यता या निस्पृहता है। इस शरीर को मिथ्या ही आत्मा माने बिना तथा संसार की किसी वस्तु में कल्पित स्वामित्व रखे बिना श्रीकृष्ण के नित्य दास के रूप में अपनी यथार्थ स्थिति को जान लेना कृष्णभावनामृत की सिद्ध अवस्था है। जो इस सिद्ध अवस्था में स्थित है वह जानता है कि श्रीकृष्ण ही प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं, अतः प्रत्येक वस्तु का उपयोग उनकी तुष्टि के लिए किया जाना चाहिए। अर्जुन आत्म-तुष्टि के लिए युद्ध नहीं करना चाहता था, किन्तु जब वह पूर्ण रूप से कृष्णभावनाभावित हो गया तो उसने युद्ध किया, क्योंकि कृष्ण चाहते थे कि वह युद्ध करे। उसे अपने लिए युद्ध करने की कोई इच्छा न थी, किन्तु वही अर्जुन कृष्ण के लिए अपनी शक्ति भर लड़ा। वास्तविक इच्छाशून्यता कृष्ण-तुष्टि के लिए इच्छा है, यह इच्छाओं को नष्ट करने का कोई कृत्रिम प्रयास नहीं है। जीव कभी भी इच्छाशून्य या इन्द्रियशून्य नहीं हो सकता, किन्तु उसे अपनी इच्छाओं की गुणवत्ता बदलनी होती है। भौतिक दृष्टि से इच्छाशून्य व्यक्ति जानता है कि प्रत्येक वस्तु कृष्ण की है (*ईशावास्यमिदं सर्वम्*), अतः वह किसी वस्तु पर अपना स्वामित्व घोषित नहीं करता। यह दिव्य ज्ञान आत्म-साक्षात्कार पर आधारित है—अर्थात् इस ज्ञान पर कि प्रत्येक जीव कृष्ण का अंश-स्वरूप है और जीव की शाश्वत स्थिति कभी न तो कृष्ण के तुल्य होती है न उनसे बढ़कर। इस प्रकार कृष्णभावनामृत का यह ज्ञान ही वास्तविक शान्ति का मूल सिद्धान्त है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ ७२॥

एषा—यह; **ब्राह्मी**—आध्यात्मिक, **स्थितिः**—स्थिति, **पार्थ**—हे पृथापुत्र, **न**—कभी नहीं, **एनाम्**—इसको, **प्राप्य**—प्राप्त करके, **विमुह्यति**—मोहित होता है, **स्थित्वा**—स्थित होकर, **अस्याम्**—इसमें, **अन्त-काले**—जीवन के अन्तिम समय में, **अपि**—भी, **ब्रह्म-निर्वाणम्**—भगवद्धाम को, **ऋच्छति**—प्राप्त होता है।

यह आध्यात्मिक तथा ईश्वरीय जीवन का पथ है, जिसे प्राप्त करके मनुष्य मोहित नहीं होता। यदि कोई जीवन के अन्तिम समय में भी इस तरह स्थित हो, तो वह भगवद्धाम में प्रवेश कर सकता है।

तात्पर्य : मनुष्य कृष्णभावनामृत या दिव्य जीवन को एक क्षण में प्राप्त कर सकता है और हो सकता है कि उसे लाखों जन्मों के बाद भी न प्राप्त हो। यह तो सत्य को समझने और स्वीकार करने की बात है। खट्वांग महाराज ने अपनी मृत्यु के कुछ मिनट पूर्व कृष्ण के शरणागत होकर ऐसी जीवन अवस्था प्राप्त कर ली। *निर्वाण* का अर्थ है-

भौतिकतावादी जीवन शैली का अन्त। बौद्ध दर्शन के अनुसार इस भौतिक जीवन के पूरा होने पर केवल शून्य शेष रहता है, किन्तु *भगवद्गीता* की शिक्षा इससे भिन्न है। वास्तविक जीवन का शुभारम्भ इस भौतिक जीवन के पूरा होने पर होता है। स्थूल भौतिकतावादी के लिए यह जानना पर्याप्त होगा कि इस भौतिक जीवन का अन्त निश्चित है, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत व्यक्तियों के लिए इस जीवन के बाद अन्य जीवन प्रारम्भ होता है। इस जीवन का अन्त होने के पूर्व यदि कोई कृष्णभावनाभावित हो जाय तो उसे तुरन्त *ब्रह्म-निर्वाण* अवस्था प्राप्त हो जाती है। भगवद्धाम तथा भगवद्भक्ति के बीच कोई अन्तर नहीं है। चूँकि दोनों चरम पद हैं, अतः भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में व्यस्त रहने का अर्थ है—भगवद्धाम को प्राप्त करना। भौतिक जगत् में इन्द्रियतृप्ति विषयक कार्य होते हैं और आध्यात्मिक जगत् में कृष्णभावनामृत विषयक। इसी जीवन में ही कृष्णभावनामृत की प्राप्ति तत्काल ब्रह्मप्राप्ति जैसी है और जो कृष्णभावनामृत में स्थित होता है, वह निश्चित रूप से पहले ही भगवद्धाम में प्रवेश कर चुका होता है।

ब्रह्म और भौतिक पदार्थ एक दूसरे से सर्वथा विपरीत हैं। अतः *ब्राह्मी-स्थिति* का अर्थ है, "भौतिक कार्यों के पद पर न होना।" *भगवद्गीता* में भगवद्भक्ति को मुक्त अवस्था माना गया है (*स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते*)। अतः *ब्राह्मी-स्थिति* भौतिक बन्धन से मुक्ति है।

श्रील भक्ति विनोद ठाकुर ने *भगवद्गीता* के इस द्वितीय अध्याय को सम्पूर्ण ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय के रूप में संक्षिप्त किया है। *भगवद्गीता* के प्रतिपाद्य हैं–कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग। इस द्वितीय अध्याय में कर्मयोग तथा ज्ञानयोग की स्पष्ट व्याख्या हुई है एवं भक्तियोग की भी झाँकी दे दी गई है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के द्वितीय अध्याय "गीता का सार" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*

अध्याय तीन



कर्मयोग

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥१॥

अर्जुनः उवाच–अर्जुन ने कहा, ज्यायसी–श्रेष्ठ, चेत्–यदि, कर्मणः–सकाम कर्म की अपेक्षा, ते–तुम्हारे द्वारा, मता–मानी जाती है, बुद्धिः–बुद्धि, जनार्दन–हे कृष्ण, तत्–अत , किम्–क्यों, फिर, कर्मणि–कर्म में, घोरे–भयकर, हिंसात्मक, माम्–मुझको; नियोजयसि–नियुक्त करते हो, केशव–हे कृष्ण।

अर्जुन ने कहा–हे जनार्दन, हे केशव! यदि आप बुद्धि को सकाम कर्म से श्रेष्ठ समझते हैं तो फिर आप मुझे इस घोर युद्ध में क्यों लगाना चाहते हैं?

तात्पर्य : श्रीभगवान् कृष्ण ने पिछले अध्याय में अपने घनिष्ठ मित्र अर्जुन को ससार के शोक-सागर से उबारने के उद्देश्य से आत्मा के स्वरूप का विशद् वर्णन किया हे और आत्म-साक्षात्कार के जिस मार्ग की सस्तुति की हे वह हे-बुद्धियोग या कृष्णभावनामृत। कभी-कभी कृष्णभावनामृत को भूल से जडता समझ लिया जाता हे ओर ऐसी भ्रान्त

धारणा वाला मनुष्य भगवान् कृष्ण के नाम-जप द्वारा पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होने के लिए प्रायः एकान्त स्थान में चला जाता है। किन्तु कृष्णभावनामृत-दर्शन में प्रशिक्षित हुए बिना एकान्त स्थान में कृष्ण नाम-जप करना ठीक नहीं। इससे अबोध जनता से केवल सस्ती प्रशंसा प्राप्त हो सकेगी। अर्जुन को भी कृष्णभावनामृत या बुद्धियोग ऐसा लगा मानो वह सक्रिय जीवन से संन्यास लेकर एकान्त स्थान में तपस्या का अभ्यास हो। दूसरे शब्दों में, वह कृष्णभावनामृत को बहाना बनाकर चातुरीपूर्वक युद्ध से जी छुड़ाना चाहता था। किन्तु एकनिष्ठ शिष्य होने के नाते उसने यह बात अपने गुरु के समक्ष रखी और कृष्ण से सर्वोत्तम कार्य-विधि के विषय में प्रश्न किया। उत्तर में भगवान् ने तृतीय अध्याय में कर्मयोग अर्थात् कृष्णभावनाभावित कर्म की विस्तृत व्याख्या की।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ २॥

व्यामिश्रेण—अनेकार्थक; **इव**—मानो; **वाक्येन**—शब्दों से; **बुद्धिम्**—बुद्धि; **मोहयसि**—मोह रहे हो; **इव**—मानो; **मे**—मेरी; **तत्**—अतः; **एकम्**—एकमात्र; **वद**—कहिये; **निश्चित्य**—निश्चय करके; **येन**—जिससे; **श्रेयः**—वास्तविक लाभ; **अहम्**—मैं; **आप्नुयाम्**—पा सकूँ।

आपके व्यामिश्रित (अनेकार्थक) उपदेशों से मेरी बुद्धि मोहित हो गई है। अतः कृपा करके निश्चयपूर्वक मुझे बतायें कि इनमें से मेरे लिए सर्वाधिक श्रेयस्कर क्या होगा?

तात्पर्य : पिछले अध्याय में, *भगवद्गीता* के उपक्रम के रूप में सांख्ययोग, बुद्धियोग, बुद्धि द्वारा इन्द्रियनिग्रह, निष्काम कर्मयोग तथा नवदीक्षित की स्थिति जैसे विभिन्न मार्गों का वर्णन किया गया है। किन्तु उसमें तारतम्य नहीं था। कर्म करने तथा समझने के लिए मार्ग की अधिक व्यवस्थित रूपरेखा की आवश्यकता होगी। अतः अर्जुन इन भ्रामक विषयों को स्पष्ट कर लेना चाहता था, जिससे सामान्य मनुष्य बिना किसी भ्रम के उन्हें स्वीकार कर सके। यद्यपि श्रीकृष्ण वाक्चातुरी से अर्जुन को चकराना नहीं चाहते थे, किन्तु अर्जुन यह नहीं समझ सका कि कृष्णभावनामृत क्या है—जड़ता है या कि सक्रिय सेवा। दूसरे शब्दों में, अपने प्रश्नों से वह उन समस्त शिष्यों के लिए जो *भगवद्गीता* के रहस्य को समझना चाहते हैं, कृष्णभावनामृत का मार्ग प्रशस्त कर रहा है।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३॥

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; **लोके**—संसार में; **अस्मिन्**—इस; **द्वि-विधा**—दो प्रकार की; **निष्ठा**—श्रद्धा; **पुरा**—पहले; **प्रोक्ता**—कही गई; **मया**—मेरे द्वारा; **अनघ**—हे निष्पाप; **ज्ञान-योगेन**—ज्ञानयोग के द्वारा; **सांख्यानाम्**—ज्ञानियों का; **कर्म-योगेन**—भक्तियोग के द्वारा; **योगिनाम्**—भक्तों का।

श्रीभगवान् ने कहा—हे निष्पाप अर्जुन! मैं पहले ही बता चुका हूँ कि आत्म-साक्षात्कार का प्रयत्न करने वाले दो प्रकार के पुरुष होते हैं। कुछ इसे ज्ञानयोग

द्वारा समझने का प्रयत्न करते हैं, तो कुछ भक्ति-मय सेवा के द्वारा।

तात्पर्य : द्वितीय अध्याय के उन्तालीसवें श्लोक मे भगवान् ने दो प्रकार की पद्धतियों का उल्लेख किया है—साङ्ख्ययोग तथा कर्मयोग या बुद्धियोग। इस श्लोक में इनकी ओर अधिक स्पष्ट विवेचना की गई है। सांख्ययोग अथवा आत्मा तथा पदार्थ की प्रकृति का वैश्लेषिक अध्ययन उन लोगों के लिए है जो व्यावहारिक ज्ञान तथा दर्शन द्वारा वस्तुओं का चिन्तन एवं मनन करना चाहते हैं। दूसरे प्रकार के लोग कृष्णभावनामृत मे कार्य करते हैं जैसा कि द्वितीय अध्याय के इकसठवें श्लोक मे बताया गया है। उन्तालीसवें श्लोक मे भी भगवान् ने बताया है कि बुद्धियोग या कृष्णभावनामृत के सिद्धान्तों पर चलते हुए मनुष्य कर्म के बन्धनो से छूट सकता है तथा इस पद्धति में कोई दोष नहीं है। इकसठवें श्लोक में इसी सिद्धान्त को ओर अधिक स्पष्ट किया गया है—कि बुद्धियोग पूर्णतया परब्रह्म (विशेषतया कृष्ण) पर आश्रित है और इस प्रकार से समस्त इन्द्रियों को सरलता से वश मे किया जा सकता है। अतः दोनों प्रकार के योग धर्म तथा दर्शन के रूप में अन्योन्याश्रित हैं। दर्शनविहीन धर्म मात्र भावुकता या कभी-कभी धर्मान्धता है और धर्मविहीन दर्शन मानसिक ऊहापोह है। अन्तिम लक्ष्य तो श्रीकृष्ण हैं क्योंकि जो दार्शनिकजन परम सत्य की खोज करते रहते हैं, वे अन्ततः कृष्णभावनामृत को प्राप्त होते हैं। इसका भी उल्लेख *भगवद्गीता* में मिलता है। सम्पूर्ण पद्धति का उद्देश्य परमात्मा के सम्बन्ध में अपनी वास्तविक स्थिति को समझ लेना है। इसकी अप्रत्यक्ष पद्धति दार्शनिक चिन्तन है, जिसके द्वारा क्रम से कृष्णभावनामृत तक पहुँचा जा सकता है। प्रत्यक्ष पद्धति में कृष्णभावनामृत में ही प्रत्येक वस्तु से अपना सम्बन्ध जोड़ना होता है। इन दोनों में से कृष्णभावनामृत का मार्ग श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें दार्शनिक पद्धति द्वारा इन्द्रियों को विमल नहीं करना होता। कृष्णभावनामृत स्वयं ही शुद्ध करने वाली प्रक्रिया है और भक्ति की प्रत्यक्ष विधि सरल तथा दिव्य होती है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ४॥

न—नहीं, कर्मणाम्—नियत कर्मों के; अनारम्भात्—न करने से, नैष्कर्म्यम्—[illegible] पुरुषः—मनुष्य, अश्नुते—प्राप्त करता है; न—[illegible], च—[illegible], संन्यसनात्—[illegible] सिद्धिम्—सफलता; समधिगच्छति—प्राप्त करता है।

न तो कर्म से विमुख होकर कोई [illegible] संन्यास से सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

तात्पर्य : भौतिकतावादी मनुष्यों के [illegible] किया गया है उनके द्वारा शुद्ध हुए [illegible] बिना अनायास संन्यास ग्रहण करने [illegible] संन्यास ग्रहण करने अथवा [illegible] हो जाता है। किन्तु भगवान् [illegible] के बिना संन्यास मानसिक [illegible]

नियत कर्मों को न करके भी भगवान् की दिव्य सेवा करता है तो वह उस मार्ग में जो कुछ भी उन्नति करता है उसे भगवान् स्वीकार कर लेते हैं (बुद्धियोग)। *स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।* ऐसे सिद्धान्त की रंचमात्र सम्पन्नता भी महान कठिनाइयों को पार करने में सहायक होती है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।। ५।।

न—नहीं; **हि**—निश्चय ही; **कश्चित्**—कोई; **क्षणम्**—क्षणमात्र; **अपि**—भी; **जातु**—किसी काल में; **तिष्ठति**—रहता है; **अकर्म-कृत्**—बिना कुछ किये; **कार्यते**—करने के लिए बाध्य होता है; **हि**—निश्चय ही; **अवशः**—विवश होकर; **कर्म**—कर्म; **सर्वः**—समस्त; **प्रकृति-जैः**—प्रकृति के गुणों से उत्पन्न; **गुणैः**—गुणों के द्वारा।

प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति से अर्जित गुणों के अनुसार विवश होकर कर्म करना पड़ता है, अतः कोई भी एक क्षणभर के लिए भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता।

तात्पर्य : यह देहधारी जीवन का प्रश्न नहीं है, अपितु आत्मा का यह स्वभाव है कि वह सदैव सक्रिय रहता है। आत्मा की अनुपस्थिति में भौतिक शरीर हिल भी नहीं सकता। यह शरीर मृत-वाहन के समान है जो आत्मा द्वारा चालित होता है क्योंकि आत्मा सदैव गतिशील (सक्रिय) रहता है और वह एक क्षण के लिए भी नहीं रुक सकता। अतः आत्मा को कृष्णभावनामृत के सत्कर्म में प्रवृत्त रखना चाहिए अन्यथा वह माया द्वारा शासित कार्यों में प्रवृत्त होता रहेगा। माया के संसर्ग में आकर आत्मा भौतिक गुण प्राप्त कर लेता है और आत्मा को ऐसे आकर्षणों से शुद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि शास्त्रों द्वारा आदिष्ट कर्मों में इसे संलग्न रखा जाय। किन्तु यदि आत्मा कृष्णभावनामृत के अपने स्वाभाविक कर्म में निरत रहता है, तो वह जो भी करता है उसके लिए कल्याणप्रद होता है। *श्रीमद्भागवत* (१.५.१७) द्वारा इसकी पुष्टि हुई है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः।।

"यदि कोई कृष्णभावनामृत अंगीकार कर लेता है तो भले ही वह शास्त्रानुमोदित कर्मों को न करे अथवा ठीक से भक्ति न करे और चाहे वह पतित भी हो जाय तो इसमें उसकी हानि या बुराई नहीं होगी। किन्तु यदि वह शास्त्रानुमोदित सारे कार्य करे और कृष्णभावनाभावित न हो तो ये सारे कार्य उसके किस लाभ के हैं?" अतः कृष्णभावनामृत के इस स्तर तक पहुँचने के लिए शुद्धिकरण की प्रक्रिया आवश्यक है। अतएव संन्यास या कोई भी शुद्धिकारी पद्धति कृष्णभावनामृत के चरम लक्ष्य तक पहुँचने में सहायता देने के लिए है, क्योंकि उसके बिना सब कुछ व्यर्थ है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।। ६।।

कर्म-इन्द्रियाणि—पाँचों कर्मेन्द्रियों को; **संयम्य**—वश में करके; **यः**—जो; **आस्ते**—रहता है;

मनसा–मन से; स्मरन्–सोचता हुआ, इन्द्रिय-अर्थान्–इन्द्रियविषयों को, विमूढ–मूर्ख, आत्मा–जीव; मिथ्या-आचारः–दम्भी; सः–वह; उच्यते–कहलाता है।

जो कर्मेन्द्रियों को वश में तो करता है, किन्तु जिसका मन इन्द्रियविषयों का चिन्तन करता रहता है, वह निश्चित रूप से स्वयं को धोखा देता है और मिथ्याचारी कहलाता है।

तात्पर्य : ऐसे अनेक मिथ्याचारी व्यक्ति होते हैं जो कृष्णभावनामृत में कार्य तो नहीं करते, किन्तु ध्यान का दिखावा करते हैं, जबकि वास्तव में वे मन में इन्द्रियभोग का चिन्तन करते रहते हैं। ऐसे लोग अपने अबोध शिष्यों को बहकाने के लिए शुष्क दर्शन के [illegible] में भी व्याख्यान दे सकते हैं, किन्तु इस श्लोक के अनुसार वे सबसे बड़े धूर्त हैं। इन्द्रियसुख के लिए किसी भी आश्रम में रहकर कर्म किया जा सकता है, किन्तु [illegible] उस विशिष्ट पद का उपयोग विधिविधानों के पालन में किया जाए तो [illegible] आत्मशुद्धि हो सकती है। किन्तु जो अपने को योगी बताते हुए इन्द्रिय[illegible] की खोज में लगा रहता है, वह सबसे बड़ा धूर्त है, भले ही वह [illegible] उपदेश क्यों न दे। उसका ज्ञान व्यर्थ है क्योंकि ऐसे [illegible] भगवान् की माया द्वारा हर लिये जाते हैं। ऐसे धूर्त [illegible] है, अतएव उसके यौगिक ध्यान का कोई अर्थ नहीं होता।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा [illegible]

सड़क पर झाड़ू लगाने वाला निष्ठावान व्यक्ति कहीं अच्छा है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८॥

नियतम्–नियत; **कुरु**–करो; **कर्म**–कर्तव्य; **त्वम्**–तुम; **कर्म**–कर्म करना; **ज्यायः**–श्रेष्ठ; **हि**–निश्चय ही; **अकर्मणः**–काम न करने की अपेक्षा; **शरीर**–शरीर का; **यात्रा**–पालन, निर्वाह; **अपि**–भी; **च**–भी; **ते**–तुम्हारा; **न**–कभी नहीं; **प्रसिद्ध्येत्**–सिद्ध होता; **अकर्मणः**–विना काम के।

अपना नियत कर्म करो, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म के बिना तो शरीर-निर्वाह भी नहीं हो सकता।

तात्पर्य : ऐसे अनेक छद्म ध्यानी हैं जो अपने आपको उच्चकुलीन वताते हैं तथा ऐसे वड़े-वड़े व्यवसायी व्यक्ति हैं जो झूठा दिखावा करते हैं कि आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने के लिए उन्होंने सर्वस्व त्याग दिया है। श्रीकृष्ण यह नहीं चाहते थे कि अर्जुन मिथ्याचारी वने, अपितु वे चाहते थे कि अर्जुन क्षत्रियों के लिए निर्दिष्ट धर्म का पालन करे। अर्जुन गृहस्थ था और एक सेनानायक था, अतः उसके लिए श्रेयस्कर था कि वह उसी रूप में गृहस्थ क्षत्रिय के लिए निर्दिष्ट धार्मिक कर्तव्यों का पालन करे। ऐसे कार्यो से संसारी मनुष्य का हृदय क्रमशः विमल हो जाता है और वह भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है। देह-निर्वाह के लिए किये गये तथाकथित त्याग (संन्यास) का अनुमोदन न तो भगवान् करते हैं और न कोई धर्मशास्त्र ही। आखिर देह-निर्वाह के लिए कुछ न कुछ करना होता है। भौतिकतावादी वासनाओं की शुद्धि के विना कर्म का मनमाने ढंग से त्याग करना ठीक नहीं। इस जगत् का प्रत्येक व्यक्ति निश्चय ही प्रकृति पर प्रभुत्व जताने के लिए अर्थात् इन्द्रियतृप्ति के लिए मलिन प्रवृत्ति से ग्रस्त रहता है। ऐसी दूषित प्रवृत्तियों को शुद्ध करने की आवश्यकता है। नियत कर्मों द्वारा ऐसा किये विना मनुष्य को चाहिए कि तथाकथित अध्यात्मवादी (योगी) वनने तथा सारा काम छोड़ कर अन्यों पर जीवित रहने का प्रयास न करे।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ ९॥

यज्ञ-अर्थात्–एकमात्र यज्ञ या विष्णु के लिए किया गया; **कर्मणः**–कर्म की अपेक्षा; **अन्यत्र**–अन्यथा; **लोकः**–संसार; **अयम्**–यह; **कर्म-वन्धनः**–कर्म के कारण वन्धन; **तत्**–उस; **अर्थम्**–के लिए; **कर्म**–कर्म; **कौन्तेय**–हे कुन्तीपुत्र; **मुक्त-सङ्गः**–सङ्ग (फलाकांक्षा) से मुक्त; **समाचर**–भलीभाँति आचरण करो।

श्रीविष्णु के लिए यज्ञ रूप में कर्म करना चाहिए, अन्यथा कर्म के द्वारा इस भौतिक जगत् में वन्धन उत्पन्न होता है। अतः हे कुन्तीपुत्र! उनकी प्रसन्नता के लिए अपने नियत कर्म करो। इस तरह तुम वन्धन से सदा मुक्त रहोगे।

तात्पर्य : चूँकि मनुष्य को शरीर के निर्वाह के लिए भी कर्म करना होता है, अतः विशिष्ट सामाजिक स्थिति तथा गुण को ध्यान में रखकर नियत कर्म इस तरह वनाये गये हैं कि

इस उद्देश्य की पूर्ति हो सके। यज्ञ का अर्थ भगवान् विष्णु है। सारे यज्ञ भगवान् विष्णु की प्रसन्नता के लिए हैं। वेदों का आदेश है—*यज्ञो वै विष्णुः*। दूसरे शब्दों में, चाहे कोई निर्दिष्ट यज्ञ सम्पन्न करे या प्रत्यक्ष रूप से भगवान् विष्णु की सेवा करे, दोनों से एक ही प्रयोजन सिद्ध होता है, अतः जैसा कि इस श्लोक में संस्तुत किया गया है, कृष्णभावनामृत यज्ञ ही है। वर्णाश्रम-धर्म का भी उद्देश्य भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है। *वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते* (*विष्णु पुराण* ३.८.८)।

अतः भगवान् विष्णु की प्रसन्नता के लिए कर्म करना चाहिए। इस जगत् में किया जाने वाला अन्य कोई कर्म बन्धन का कारण होगा, क्योंकि अच्छे तथा बुरे कर्मों के फल होते हैं और कोई भी फल कर्म करने वाले को बाँध लेता है। अतः कृष्ण (विष्णु) को प्रसन्न करने के लिए कृष्णभावनाभावित होना होगा और जब कोई ऐसा कर्म करता है तो वह मुक्त दशा को प्राप्त रहता है। यही महान कर्म कौशल है और प्रारम्भ में इस विधि में अत्यन्त कुशल मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। अतः भगवद्भक्त के निर्देशन में या साक्षात् भगवान् कृष्ण के प्रत्यक्ष आदेश के अन्तर्गत (जिनके अधीन अर्जुन को कर्म करने का अवसर मिला था) मनुष्य को परिश्रमपूर्वक कर्म करना चाहिए। इन्द्रियतृप्ति के लिए कुछ भी नहीं किया जाना चाहिए, अपितु हर कार्य कृष्ण की प्रसन्नता (तुष्टि) के लिए होना चाहिए। इस विधि से न केवल कर्म के बन्धन से बचा जा सकता है, अपितु इससे मनुष्य को क्रमशः भगवान् की वह प्रेमाभक्ति प्राप्त हो सकेगी, जो भगवद्धाम को ले जाने वाली है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ १०॥

सह–के साथ; यज्ञाः–यज्ञों; प्रजाः–सन्ततियों; सृष्ट्वा–रच कर; पुरा–प्राचीन काल में, उवाच–कहा, प्रजापतिः–जीवों के स्वामी ने, अनेन–इससे, प्रसविष्यध्वम्–अधिकाधिक समृद्ध होओ, एषः–यह, वः–तुम्हारा; अस्तु–होए, इष्ट–समस्त वांछित वस्तुओं का, काम-धुक्–प्रदाता।

सृष्टि के प्रारम्भ में समस्त प्राणियों के स्वामी (प्रजापति) ने विष्णु के लिए यज्ञ सहित मनुष्यों तथा देवताओं की सन्ततियों को रचा और उनसे कहा, "तुम इस यज्ञ से सुखी रहो क्योंकि इसके करने से तुम्हें सुखपूर्वक रहने तथा मुक्ति प्राप्त करने के लिए समस्त वांछित वस्तुएँ प्राप्त हो सकेंगी।"

तात्पर्य : प्राणियों के स्वामी (विष्णु) द्वारा भौतिक सृष्टि की रचना बद्धजीवों के लिए भगवद्धाम वापस जाने का सुअवसर है। इस सृष्टि के सारे जीव प्रकृति द्वारा बद्ध हैं क्योंकि उन्होंने श्रीभगवान् विष्णु या कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को भुला दिया है। इस शाश्वत सम्बन्ध को समझने में वैदिक नियम हमारी सहायता के लिए हैं, जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*। भगवान् का कथन है कि वेदों का उद्देश्य मुझे समझना है। वैदिक स्तुतियों में कहा गया है—*पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम्*। अतः जीवों के स्वामी (प्रजापति) श्रीभगवान् विष्णु हैं। *श्रीमद्भागवत* में भी (२.४.२०) श्रील शुकदेव गोस्वामी ने भगवान् को अनेक रूपों में पति कहा है—

श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः॥

प्रजापति तो भगवान् विष्णु हैं और वे समस्त प्राणियों के, समस्त लोकों के तथा सुन्दरता के स्वामी (पति) हैं और हर एक के त्राता हैं। भगवान् ने इस भौतिक जगत् को इसलिए रचा कि वद्धजीव यह सीख सकें कि वे विष्णु को प्रसन्न करने के लिए किस प्रकार यज्ञ करें जिससे वे इस जगत् में चिन्तारहित होकर सुखपूर्वक रह सकें तथा इस भौतिक देह का अन्त होने पर भगवद्धाम को जा सकें। वद्धजीव के लिए ही यह सम्पूर्ण कार्यक्रम है। यज्ञ करने से वद्धजीव क्रमशः कृष्णभावनाभावित होते हैं और सभी प्रकार से देवतुल्य वनते हैं। कलियुग में वैदिक शास्त्रों ने संकीर्तन-यज्ञ (भगवान् के नामों का कीर्तन) का विधान किया है और इस दिव्य विधि का प्रवर्तन चैतन्य महाप्रभु द्वारा इस युग के समस्त लोगों के उद्धार के लिए किया गया। संकीर्तन-यज्ञ तथा कृष्णभावनामृत में अच्छा तालमेल है। *श्रीमद्भागवत* (११.५.३२) में संकीर्तन-यज्ञ के विशेष प्रसंग में, भगवान् कृष्ण का अपने भक्तरूप (चैतन्य महाप्रभु रूप) में निम्न प्रकार से उल्लेख हुआ है—

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं सांगोपांगास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥

"इस कलियुग में जो लोग पर्याप्त वुद्धिमान हैं वे भगवान् की उनके पार्षदों सहित संकीर्तन-यज्ञ द्वारा पूजा करेंगे।" वेदों में वर्णित अन्य यज्ञों को इस कलिकाल में कर पाना सहज नहीं, किन्तु संकीर्तन-यज्ञ सुगम है और सभी दृष्टि से अलौकिक है, जैसा कि *भगवद्गीता* में भी (९.१४) संस्तुति की गई है।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥११॥

देवान्—देवताओं को; **भावयता**—प्रसन्न करके; **अनेन**—इस यज्ञ से; **ते**—वे; **देवाः**—देवता; **भावयन्तु**—प्रसन्न करेंगे; **वः**—तुमको; **परस्परम्**—आपस में; **भावयन्तः**—एक दूसरे को प्रसन्न करते हुए; **श्रेयः**—वर, मंगल; **परम्**—परम; **अवाप्स्यथ**—तुम प्राप्त करोगे।

यज्ञों के द्वारा प्रसन्न होकर देवता तुम्हें भी प्रसन्न करेंगे और इस तरह मनुष्यों तथा देवताओं के मध्य सहयोग से सबों को सम्पन्नता प्राप्त होगी।

तात्पर्य : देवतागण सांसारिक कार्यों के लिए अधिकारप्राप्त प्रशासक हैं। प्रत्येक जीव द्वारा शरीर धारण करने के लिए आवश्यक वायु, प्रकाश, जल तथा अन्य सारे वर उन देवताओं के अधिकार में हैं, जो भगवान् के शरीर के विभिन्न भागों में असंख्य सहायकों के रूप में स्थित हैं। उनकी प्रसन्नता तथा अप्रसन्नता मनुष्यों द्वारा यज्ञ की सम्पन्नता पर निर्भर है। कुछ यज्ञ किन्हीं विशेष देवताओं को प्रसन्न करने के लिए होते हैं, किन्तु तो भी सारे यज्ञों में भगवान् विष्णु को प्रमुख भोक्ता की भाँति पूजा जाता है। *भगवद्गीता* में यह भी कहा गया है कि भगवान् कृष्ण स्वयं सभी प्रकार के यज्ञों के भोक्ता हैं—*भोक्तारं यज्ञतपसाम्।* अतः समस्त यज्ञों का मुख्य प्रयोजन यज्ञपति को प्रसन्न करना है।

जब ये यज्ञ सुचारु रूप से सम्पन्न किये जाते हैं, तो विभिन्न विभागों के अधिकारी देवता प्रसन्न होते हैं और प्राकृतिक पदार्थों का अभाव नहीं रहता।

यज्ञों को सम्पन्न करने से अन्य लाभ भी होते हैं, जिनसे अन्ततः भवबन्धन से मुक्ति मिल जाती है। यज्ञ से सारे कर्म पवित्र हो जाते हैं, जैसा कि वेदवचन है—*आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रंथीनां विप्रमोक्षः।* यज्ञ से मनुष्य के खाद्यपदार्थ शुद्ध होते हैं और शुद्ध भोजन करने से मनुष्य-जीवन शुद्ध हो जाता है, जीवन शुद्ध होने से स्मृति के सूक्ष्म-तन्तु शुद्ध होते हैं और स्मृति-तन्तुओं के शुद्ध होने पर मनुष्य मुक्तिमार्ग का चिन्तन कर सकता है और ये सब मिलकर कृष्णभावनामृत तक पहुँचाते हैं, जो आज के समाज के लिए सर्वाधिक आवश्यक है।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥१२॥

इष्टान्–वांछित, **भोगान्**–जीवन की आवश्यकताएँ; **हि**–निश्चय ही; **वः**–तुम्हें; **देवाः**–देवतागण; **दास्यन्ते**–प्रदान करेंगे; **यज्ञ-भाविताः**–यज्ञ सम्पन्न करने से प्रसन्न होकर, **तैः**–उनके द्वारा; **दत्तान्**–प्रदत्त वस्तुएँ, **अप्रदाय**–बिना भेंट किये; **एभ्यः**–इन देवताओं को; **यः**–जो, **भुङ्क्ते**–भोग करता है; **स्तेनः**–चोर; **एव**–निश्चय ही, **सः**–वह।

जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले विभिन्न देवता यज्ञ सम्पन्न होने पर प्रसन्न होकर तुम्हारी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे। किन्तु जो इन उपहारों को देवताओं को अर्पित किये विना भोगता है, वह निश्चित रूप से चोर है।

तात्पर्य : देवतागण भगवान् विष्णु द्वारा भोग-सामग्री प्रदान करने के लिए अधिकृत किये गये हैं। अतः नियत यज्ञों द्वारा उन्हें अवश्य संतुष्ट करना चाहिए। वेदों में विभिन्न देवताओं के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञों की सस्तुति है, किन्तु वे सब अन्तत भगवान् को ही अर्पित किये जाते हैं। किन्तु जो यह नहीं समझ सकता कि भगवान् क्या हैं, उसके लिए देवयज्ञ का विधान है। अनुष्ठानकर्ता के भौतिक गुणों के अनुसार वेदो मे विभिन्न प्रकार के यज्ञों का विधान है। विभिन्न देवताओ की पूजा भी उसी आधार पर अर्थात् गुणों के अनुसार की जाती है। उदाहरणार्थ, मांसाहारियों को देवी काली की पूजा करने के लिए कहा जाता है, जो भौतिक प्रकृति की घोर रूपा हैं और देवी के समक्ष पशुबलि का आदेश है। किन्तु जो सतोगुणी हैं उनके लिए विष्णु की दिव्य पूजा बताई जाती है। अन्ततः समस्त यज्ञो का ध्येय उत्तरोत्तर दिव्य-पद प्राप्त करना है। सामान्य व्यक्तियो के लिए कम से कम पाँच यज्ञ आवश्यक हैं, जिन्हें पञ्चमहायज्ञ कहते हैं।

किन्तु मनुष्य को यह जानना चाहिए कि जीवन की सारी आवश्यकताएँ भगवान् के देवता प्रतिनिधियो द्वारा ही पूरी की जाती हैं। कोई कुछ बना नहीं सकता। उदाहरणार्थ मानव समाज के भोज्य पदार्थों को लें। इन भोज्य पदार्थों में शाकाहारियों के लिए अन्न फल, शाक, दूध, चीनी आदि है तथा मासाहारियों के लिए [illegible] पदार्थ मनुष्य नहीं बना सकता। एक और उदाहरण [illegible]

आदि जो जीवन के लिए आवश्यक हैं, इनमें से किसी को बनाया नहीं जा सकता। परमेश्वर के बिना न तो प्रचुर प्रकाश मिल सकता है, न चाँदनी, वर्षा या प्रातःकालीन समीर ही, जिनके बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। स्पष्ट है कि हमारा जीवन भगवान् द्वारा प्रदत्त वस्तुओं पर आश्रित है। यहाँ तक कि हमें अपने उत्पादन-उद्यमों के लिए अनेक कच्चे मालों की आवश्यकता होती है यथा धातु, गंधक, पारद, मैंगनीज तथा अन्य अनेक आवश्यक वस्तुएँ जिनकी पूर्ति भगवान् के प्रतिनिधि इस उद्देश्य से करते हैं कि हम इनका समुचित उपयोग करके आत्म-साक्षात्कार के लिए अपने आपको स्वस्थ एवं पुष्ट बनायें जिससे जीवन का चरम लक्ष्य अर्थात् भौतिक जीवन-संघर्ष से मुक्ति प्राप्त हो सके। यज्ञ सम्पन्न करने से मानव जीवन का यह लक्ष्य प्राप्त हो जाता है। यदि हम जीवन-उद्देश्य को भूल कर भगवान् के प्रतिनिधियों से अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए वस्तुएँ लेते रहेंगे और इस संसार में अधिकाधिक फँसते जायेंगे, जो कि सृष्टि का उद्देश्य नहीं है तो निश्चय ही हम चोर हैं और इस तरह हम प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित होंगे। चोरों का समाज कभी सुखी नहीं रह सकता क्योंकि उनका कोई जीवन-लक्ष्य नहीं होता। भौतिकतावादी चोरों का कभी कोई जीवन-लक्ष्य नहीं होता। उन्हें तो केवल इन्द्रियतृप्ति की चिन्ता रहती है, वे नहीं जानते कि यज्ञ किस तरह किये जाते हैं। किन्तु चैतन्य महाप्रभु ने यज्ञ सम्पन्न करने की सरलतम विधि का प्रवर्तन किया। यह है संकीर्तन-यज्ञ जो संसार के किसी भी व्यक्ति द्वारा, जो कृष्णभावनामृत के सिद्धान्तों को अंगीकार करता है, सम्पन्न किया जा सकता है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ १३॥

यज्ञ-शिष्ट—यज्ञ सम्पन्न करने के बाद ग्रहण किये जाने वाले भोजन को; **अशिनः**—खाने वाले; **सन्तः**—भक्तगण; **मुच्यन्ते**—छुटकारा पाते हैं; **सर्व**—सभी तरह के; **किल्बिषैः**—पापों से; **भुञ्जते**—भोगते हैं; **ते**—वे; **तु**—लेकिन; **अघम्**—घोर पाप; **पापाः**—पापीजन; **ये**—जो; **पचन्ति**—भोजन बनाते हैं; **आत्म-कारणात्**—इन्द्रियसुख के लिए।

भगवान् के भक्त सभी प्रकार के पापों से मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि वे यज्ञ में अर्पित किये भोजन (प्रसाद) को ही खाते हैं। अन्य लोग, जो अपने इन्द्रियसुख के लिए भोजन बनाते हैं, वे निश्चित रूप से पाप खाते हैं।

तात्पर्य : भगवद्भक्तों या कृष्णभावनाभावित पुरुषों को सन्त कहा जाता है। वे सदैव भगवत्प्रेम में निमग्न रहते हैं, जैसा कि *ब्रह्मसंहिता* में (५.३८) कहा गया है—*प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।* सन्तगण श्रीभगवान् गोविन्द (समस्त आनन्द के दाता), या मुकुन्द (मुक्ति के दाता), या कृष्ण (सबों को आकृष्ट करने वाले पुरुष) के प्रगाढ़ प्रेम में मग्न रहने के कारण कोई भी वस्तु परम पुरुष को अर्पित किये बिना ग्रहण नहीं करते। फलतः ऐसे भक्त पृथक्-पृथक् भक्ति-साधनों के द्वारा, यथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन आदि के द्वारा यज्ञ करते रहते हैं, जिससे वे संसार की सम्पूर्ण पापमयी संगति के कल्मष से दूर रहते हैं। अन्य लोग, जो

अपने लिए या इन्द्रियतृप्ति के लिए भोजन बनाते हैं वे न केवल चोर हैं, अपितु सभी प्रकार के पापों को खाने वाले हैं। जो व्यक्ति चोर तथा पापी दोनों हो, भला वह किस तरह सुखी रह सकता है? यह सम्भव नहीं। अतः सभी प्रकार से सुखी रहने के लिए मनुष्यों को पूर्ण कृष्णभावनामृत में संकीर्तन-यज्ञ करने की सरल विधि बताई जानी चाहिए, अन्यथा संसार में शान्ति या सुख नहीं हो सकता।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥१४॥

अन्नात्–अन्न से, भवन्ति–उत्पन्न होते हैं; भूतानि–भौतिक शरीर; पर्जन्यात्–वर्षा से; अन्न–अन्न का; सम्भवः–उत्पादन, यज्ञात्–यज्ञ सम्पन्न करने से; भवति–सम्भव होती है; पर्जन्यः–वर्षा; यज्ञः–यज्ञ का सम्पन्न होना, कर्म–नियत कर्तव्य से; समुद्भवः–उत्पन्न होता है।

सारे प्राणी अन्न पर आश्रित हैं, जो वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा यज्ञ सम्पन्न करने से होती है और यज्ञ नियत कर्मों से उत्पन्न होता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के महान टीकाकार श्रील बलदेव विद्याभूषण इस प्रकार लिखते हैं—*ये इन्द्राद्यङ्गतयावस्थितं यज्ञं सर्वेश्वरं विष्णुमभ्यर्च्य तच्छेषमश्नन्ति तेन तद्देहयात्रां सम्पादयन्ति ते सन्तः सर्वेश्वरस्य यज्ञपुरुषस्य भक्ताः सर्वकिल्बिषैर् अनादिकालविवृद्धैर् आत्मानुभवप्रतिबन्धकैर्निखिलैः पापैर्विमुच्यन्ते।* परमेश्वर, जो यज्ञपुरुष अथवा समस्त यज्ञों के भोक्ता कहलाते हैं, सभी देवताओं के स्वामी हैं और जिस प्रकार शरीर के अंग पूरे शरीर की सेवा करते हैं, उसी तरह सारे देवता उनकी सेवा करते हैं। इन्द्र, चन्द्र तथा वरुण जैसे देवता भगवान् द्वारा नियुक्त अधिकारी हैं, जो सांसारिक कार्यों की देखरेख करते हैं। सारे वेद इन देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञों का निर्देश करते हैं, जिससे वे अन्न उत्पादन के लिए प्रचुर वायु, प्रकाश तथा जल प्रदान करें। जब कृष्ण की पूजा की जाती है तो उनके अंगस्वरूप देवताओं की भी स्वतः पूजा हो जाती है, अतः देवताओं की अलग से पूजा करने की आवश्यकता नहीं होती। इसी हेतु कृष्णभावनाभावित भगवद्भक्त सर्वप्रथम कृष्ण को भोजन अर्पित करते हैं और तब खाते हैं—यह ऐसी विधि है जिससे शरीर का आध्यात्मिक पोषण होता है। ऐसा करने से न केवल शरीर के विगत पापमय कर्मफल नष्ट होते हैं, अपितु शरीर प्रकृति के समस्त कल्मषों से निरापद हो जाता है। जब कोई छूत का रोग फैलता है तो इसके आक्रमण से बचने के लिए रोगाणुरोधी टीका लगाया जाता है। इसी प्रकार भगवान् विष्णु को अर्पित करके ग्रहण किया जाने वाला भोजन हमें भौतिक सदूषण से निरापद बनाता है और जो इस विधि का अभ्यस्त है वह भगवद्भक्त कहलाता है। अतः कृष्णभावनाभावित व्यक्ति, जो केवल कृष्ण को अर्पित किया गया भोजन करता है वह उन समस्त विगत भौतिक दूषणों के फलों का सामना करने में समर्थ होता है जो आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में बाधक बनते हैं। इसके विपरीत जो ऐसा नहीं करता वह अपने पापपूर्ण कर्म को बढाता रहता है जिससे उसे सारे पापफलों को भोगने के लिए अगला शरीर कूकरों-सूकरों के समान मिलता है। यह भौतिक जगत् नाना कल्मषों से पूर्ण है और ...

भगवान् के प्रसाद को ग्रहण करके उनसे निरापद हो लेता है वह उनके आक्रमण से वच जाता है, किन्तु जो ऐसा नहीं करता वह कल्मष का लक्ष्य वनता है।

अन्न अथवा शाक वास्तव में खाद्य हैं। मनुष्य विभिन्न प्रकार के अन्न, शाक, फल आदि खाते हैं, जवकि पशु इन पदार्थों के उच्छिष्ट को खाते हैं। जो मनुष्य मांस खाने के अभ्यस्त हैं उन्हें भी शाक के उत्पादन पर निर्भर रहना पड़ता है, क्योंकि पशु शाक ही खाते हैं। अतएव हमें अन्ततोगत्वा खेतों के उत्पादन पर ही आश्रित रहना है, वड़ी-वड़ी फैक्टरियों के उत्पादन पर नहीं। खेतों का यह उत्पादन आकाश से होने वाली प्रचुर वर्षा पर निर्भर करता है और ऐसी वर्षा इन्द्र, सूर्य, चन्द्र आदि देवताओं के द्वारा नियन्त्रित होती है। ये देवता भगवान् के दास हैं। भगवान् को यज्ञों के द्वारा सन्तुष्ट रखा जा सकता है, अतः जो इन यज्ञों को सम्पन्न नहीं करता, उसे अभाव का सामना करना होगा—यही प्रकृति का नियम है। अतः भोजन के अभाव से वचने के लिए यज्ञ, और विशेष रूप से इस युग के लिए संस्तुत संकीर्तन-यज्ञ, सम्पन्न करना चाहिए।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥१५॥

कर्म—कर्म; **ब्रह्म**—वेदों से; **उद्भवम्**—उत्पन्न; **विद्धि**—जानो; **ब्रह्म**—वेद; **अक्षर**—परव्रह्म से; **समुद्भवम्**—साक्षात् प्रकट हुआ; **तस्मात्**—अतः; **सर्व-गतम्**—सर्वव्यापी; **ब्रह्म**—व्रह्म; **नित्यम्**—शाश्वत रूप से; **यज्ञे**—यज्ञ में; **प्रतिष्ठितम्**—स्थित।

वेदों में नियमित कर्मों का विधान है और ये वेद साक्षात् श्रीभगवान् (परब्रह्म) से प्रकट हुए हैं। फलतः सर्वव्यापी ब्रह्म यज्ञकर्मों में सदा स्थित रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में यज्ञार्थ-कर्म अर्थात् कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए कर्म की आवश्यकता को भलीभाँति विवेचित किया गया है। यदि हमें यज्ञ-पुरुष विष्णु के परितोष के लिए कर्म करना है तो हमें व्रह्म या दिव्य वेदों से कर्म की दिशा प्राप्त करनी होगी। अतः सारे वेद कर्मादेशों की संहिताएँ हैं। वेदों के निर्देश के विना किया गया कोई भी कर्म विकर्म या अवैध अथवा पापपूर्ण कर्म कहलाता है। अतः कर्मफल से वचने के लिए सदैव वेदों से निर्देश प्राप्त करना चाहिए। जिस प्रकार सामान्य जीवन में राज्य के निर्देश के अन्तर्गत कार्य करना होता है उसी प्रकार भगवान् के परम राज्य के निर्देशन में कार्य करना चाहिए। वेदों में ऐसे निर्देश भगवान् के श्वास से प्रत्यक्ष प्रकट होते हैं। कहा गया है—*अस्य महतो भूतस्य निश्वसितम् एतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः* "चारों वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद—भगवान् के श्वास से उद्भूत हैं।" (*बृहदारण्यक उपनिषद्* ४.५.११) *ब्रह्मसंहिता* से प्रमाणित होता है कि सर्वशक्तिमान होने के कारण भगवान् अपने श्वास के द्वारा वोल सकते हैं, अपनी प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा अन्य समस्त इन्द्रियों के कार्य सम्पन्न कर सकते हैं, दूसरे शब्दों में, भगवान् अपनी निःश्वास के द्वारा वोल सकते हैं और वे अपने नेत्रों से गर्भाधान कर सकते हैं। वस्तुतः यह कहा जाता है कि उन्होंने प्रकृति पर दृष्टिपात किया और समस्त जीवों को गर्भस्थ किया। इस तरह प्रकृति के गर्भ में वद्धजीवों को प्रविष्ट करने के पश्चात् उन्होंने उन्हें

वैदिक ज्ञान के रूप में आदेश दिया, जिससे वे भगवद्धाम वापस जा सकें। हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि प्रकृति में सारे बद्धजीव भौतिक भोग के लिए इच्छुक रहते हैं। किन्तु वैदिक आदेश इस प्रकार बनाये गये हैं कि मुनष्य अपनी विकृत इच्छाओं की पूर्ति कर सकता हे ओर तथाकथित सुखभोग पूरा करके भगवान् के पास लौट सकता है। बद्धजीवों के लिए मुक्ति प्राप्त करने का यह सुनहरा अवसर होता है, अतः उन्हें चाहिए कि कृष्णभावनाभावित होकर यज्ञ-विधि का पालन करें। यहाँ तक कि जो वैदिक आदेशों का पालन नहीं करते वे भी कृष्णभावनामृत के सिद्धान्तों को ग्रहण कर सकते हैं जिससे वैदिक यज्ञों या कर्मों की पूर्ति हो जाएगी।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥१६॥

एवम्–इस प्रकार, **प्रवर्तितम्**–वेदों द्वारा स्थापित, **चक्रम्**–चक्र, **न**–नहीं; **अनुवर्तयति**–ग्रहण करता; **इह**–इस जीवन में, **यः**–जो; **अघ-आयुः**–पापपूर्ण जीवन है जिसका; **इन्द्रिय-आरामः**–इन्द्रियासक्त; **मोघम्**–वृथा; **पार्थ**–हे पृथापुत्र (अर्जुन), **सः**–वह; **जीवति**–जीवित रहता है।

हे प्रिय अर्जुन! जो मानव जीवन में इस प्रकार वेदों द्वारा स्थापित यज्ञ-चक्र का पालन नहीं करता वह निश्चय ही पापमय जीवन व्यतीत करता है। ऐसा व्यक्ति केवल इन्द्रियों की तुष्टि के लिए व्यर्थ ही जीवित रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् ने "कठोर परिश्रम करो और इन्द्रियतृप्ति का आनन्द लो" इस सांसारिक विचारधारा का तिरस्कार किया है। अत· जो लोग इस संसार मे भोग करना चाहते हैं उन्हें उपर्युक्त यज्ञ-चक्र का अनुसरण करना परमावश्यक है। जो ऐसे विधिविधानो का पालन नहीं करता, अधिकाधिक तिरस्कृत होने के कारण उसका जीवन अत्यन्त सकटपूर्ण रहता हे। प्रकृति के नियमानुसार यह मानव शरीर विशेष रूप से आत्म-साक्षात्कार के लिए मिला हे जिसे कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोग में से किसी एक विधि से प्राप्त किया जा सकता हे। इन योगियों के लिए यज्ञ सम्पन्न करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि ये पाप-पुण्य से परे होते हैं, किन्तु जो लोग इन्द्रियतृप्ति में जुटे हुए हैं उन्हें पूर्वोक्त यज्ञ-चक्र के द्वारा शुद्धिकरण की आवश्यकता रहती है। कर्म के अनेक भेद होते हैं। जो लोग कृष्णभावनाभावित नहीं हैं वे निश्चय ही विषय-परायण होते हैं, अतः उन्हें पुण्य कर्म करने की आवश्यकता होती है। यज्ञ पद्धति इस प्रकार सुनियोजित हे कि विषयोन्मुख लोग विषयों के फल में फँसे बिना अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर सकते हैं। ससार की सम्पन्नता हमारे प्रयासों पर नहीं, अपितु परमेश्वर की पृष्ठभूमि-योजना पर निर्भर है, जिसे देवता सम्पादित करते हैं। अतः वेदों में वर्णित देवताओं को लक्षित करके यज्ञ किये जाते हैं। अप्रत्यक्ष रूप में यह कृष्णभावनामृत का ही अभ्यास रहता है क्योंकि जब कोई इन यज्ञों में दक्षता प्राप्त कर लेता है तो वह अवश्य ही कृष्णभावनाभावित हो जाता है। किन्तु यदि ऐसे यज्ञ करने से कोई कृष्णभावनाभावित नहीं हो पाता तो इसे कोरी आचार-संहिता समझना

चाहिए। अतः मनुष्यों को चाहिए कि वे आचार-संहिता तक ही अपनी प्रगति को सीमित न करें, अपितु उसे पार करके कृष्णभावनामृत को प्राप्त हों।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥१७॥

यः—जो; तु—लेकिन; आत्म-रतिः—आत्मा में ही आनन्द लेते हुए; एव—निश्चय ही; स्यात्—रहता है; आत्म-तृप्तः—स्वयंप्रकाशित; च—तथा; मानवः—मनुष्य; आत्मनि—अपने में; एव—केवल; च—तथा; सन्तुष्टः—पूर्णतया सन्तुष्ट; तस्य—उसका; कार्यम्—कर्तव्य; न—नहीं; विद्यते—रहता है।

किन्तु जो व्यक्ति आत्मा में ही आनन्द लेता है तथा जिसका जीवन आत्म-साक्षात्कार युक्त है और जो अपने में ही पूर्णतया सन्तुष्ट रहता है उसके लिए कुछ करणीय (कर्तव्य) नहीं होता।

तात्पर्य : जो व्यक्ति पूर्णतया कृष्णभावनाभावित है और अपने कृष्णभावनामृत के कार्यों से पूर्णतया सन्तुष्ट रहता है उसे कुछ भी नियत कर्म नहीं करना होता। कृष्णभावनाभावित होने के कारण उसके हृदय का सारा मैल तुरन्त धुल जाता है, जो हजारों-हजारों यज्ञों को सम्पन्न करने पर ही सम्भव हो पाता है। इस प्रकार चेतना के शुद्ध होने से मनुष्य परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध के प्रति पूर्णतया आश्वस्त हो जाता है। भगवत्कृपा से उसका कार्य स्वयंप्रकाशित हो जाता है; अतएव वैदिक आदेशों के प्रति उसका कर्तव्य निःशेष हो जाता है। ऐसा कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी भी भौतिक कार्यों में रुचि नहीं लेता और न ही उसे सुरा, सुन्दरी तथा अन्य प्रलोभनों में कोई आनन्द मिलता है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥१८॥

न—कभी नहीं; एव—निश्चय ही; तस्य—उसका; कृतेन—कार्यसम्पादन से; अर्थः—प्रयोजन; न—न तो; अकृतेन—कार्य न करने से; इह—इस संसार में; कश्चन—जो कुछ भी; न—कभी नहीं; च—तथा; अस्य—उसका; सर्वभूतेषु—समस्त जीवों में; कश्चित्—कोई; अर्थ—प्रयोजन; व्यपाश्रयः—शरणागत।

स्वरूपसिद्ध व्यक्ति के लिए न तो अपने नियत कर्मों को करने की आवश्यकता रह जाती है, न ऐसा कर्म न करने का कोई कारण ही रहता है। उसे किसी अन्य जीव पर निर्भर रहने की आवश्यकता भी नहीं रह जाती।

तात्पर्य : स्वरूपसिद्ध व्यक्ति को कृष्णभावनाभावित कर्म के अतिरिक्त कुछ भी करना नहीं होता। किन्तु यह कृष्णभावनामृत निष्क्रियता भी नहीं है, जैसा कि अगले श्लोकों में बताया जाएगा। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति किसी की शरण ग्रहण नहीं करता—चाहे वह मनुष्य हो या देवता। कृष्णभावनामृत में वह जो भी करता है वही उसके कर्तव्य-सम्पादन के लिए पर्याप्त है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

तस्मात्–अतः; असक्तः–आसक्तिरहित; सततम्–निरन्तर; कार्यम्–कर्तव्य के रूप में; कर्म–कार्य; समाचर–करो, असक्तः–अनासक्त; हि–निश्चय ही; आचरन्–करते हुए; कर्म–कार्य; परम्–परब्रह्म को; आप्नोति–प्राप्त करता है; पूरुषः–पुरुष, मनुष्य।

अतः कर्मफल में आसक्त हुए बिना मनुष्य को अपना कर्तव्य समझ कर निरन्तर कर्म करते रहना चाहिए क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करने से उसे परब्रह्म (परम) की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य : भक्तों के लिए श्रीभगवान् परम हैं और निर्विशेषवादियों के लिए मुक्ति परम है। अतः जो व्यक्ति समुचित पथप्रदर्शन पाकर और कर्मफल से अनासक्त होकर कृष्ण के लिए या कृष्णभावनामृत में कार्य करता है, वह निश्चित रूप से जीवन-लक्ष्य की ओर प्रगति करता है। अर्जुन से कहा जा रहा है कि वह कृष्ण के लिए कुरुक्षेत्र के युद्ध में लड़े क्योंकि कृष्ण की इच्छा है कि वह ऐसा करे। उत्तम व्यक्ति होना या अहिंसक होना व्यक्तिगत आसक्ति है, किन्तु फल की आसक्ति से रहित होकर कार्य करना परमात्मा के लिए कार्य करना है। यह उच्चतम कोटि का पूर्ण कर्म है, जिसकी संस्तुति भगवान् कृष्ण ने की है।

नियत यज्ञ, जैसे वैदिक अनुष्ठान, उन पापकर्मों की शुद्धि के लिए किये जाते हैं जो इन्द्रियतृप्ति के उद्देश्य से किये गए हों। किन्तु कृष्णभावनामृत में जो कर्म किया जाता है वह अच्छे या बुरे कर्म के फलों से परे है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति में फल के प्रति लेशमात्र आसक्ति नहीं रहती, वह तो केवल कृष्ण के लिए कार्य करता है। वह समस्त प्रकार के कर्मों में रत रह कर भी पूर्णतया अनासक्त रहा आता है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

कर्मणा–कर्म से, एव–ही हि–निश्चय ही संसिद्धिम्–पूर्णता में, आस्थिताः–स्थित, जनक-आदयः–जनक तथा अन्य राजा; लोक-सङ्ग्रहम्–सामान्य लोग, एव अपि–भी, सम्पश्यन्–विचार करते हुए; कर्तुम्–करने के लिए; अर्हसि–योग्य हो।

जनक जैसे राजाओं ने केवल नियत कर्मों को करने से ही सिद्धि प्राप्त की। अतः सामान्य जनों को शिक्षित करने की दृष्टि से तुम्हें कर्म करना चाहिए।

तात्पर्य : जनक जैसे राजा स्वरूपसिद्ध व्यक्ति थे, अतः वे वेदानुमोदित कर्म करने के लिए बाध्य न थे। तो भी वे लोग सामान्यजनों के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करने के उद्देश्य से सारे नियत कर्म करते रहे। जनक सीताजी के पिता तथा भगवान् श्रीराम के श्वसुर थे। भगवान् के महान भक्त होने के कारण उनकी स्थिति दिव्य थी, किन्तु चूँकि वे मिथिला (जो भारत के बिहार प्रान्त में एक परगना है) के राजा थे, अतः उन्हें अपनी प्रजा को यह शिक्षा देनी थी कि कर्तव्य-पालन किस प्रकार किया जाता है।

कर्माणि—नियत कर्मों के सम्पादन में; **अतन्द्रितः**—सावधानी के साथ; **मम**—मेरा; **वर्त्म**—पथ; **अनुवर्तन्ते**—अनुगमन करेंगे; **मनुष्याः**—सारे मनुष्य; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **सर्वशः**—सभी प्रकार से।

क्योंकि यदि मैं नियत कर्मों को सावधानीपूर्वक न करूँ तो हे पार्थ! यह निश्चित है कि सारे मनुष्य मेरे पथ का ही अनुगमन करेंगे।

तात्पर्य : आध्यात्मिक जीवन की उन्नति के लिए एवं सामाजिक शान्ति में संतुलन बनाये रखने के लिए कुछ परम्परागत कुलाचार हैं जो प्रत्येक सभ्य व्यक्ति के लिए होते हैं। ऐसे विधि-विधान केवल बद्धजीवों के लिए हैं, भगवान् कृष्ण के लिए नहीं, लेकिन क्योंकि वे धर्म की स्थापना के लिए अवतरित हुए थे, अतः उन्होंने निर्दिष्ट नियमों का पालन किया। अन्यथा, सामान्य व्यक्ति भी उन्हीं के पदचिन्हों का अनुसरण करते क्योंकि कृष्ण परम प्रमाण हैं। *श्रीमद्भागवत* से यह ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण अपने घर में तथा बाहर गृहस्थोचित धर्म का आचरण करते रहे।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥२४॥

उत्सीदेयुः—नष्ट हो जायँ; **इमे**—ये सब; **लोकाः**—लोक; **न**—नहीं; **कुर्याम्**—करूँ; **कर्म**—नियत कार्य; **चेत्**—यदि; **अहम्**—मैं; **संकरस्य**—अवांछित संतति का; **च**—तथा; **कर्ता**—स्रष्टा; **स्याम्**—होऊँगा; **उपहन्याम्**—विनष्ट करूँगा; **इमाः**—इन सब; **प्रजाः**—जीवों को।

यदि मैं नियतकर्म न करूँ तो ये सारे लोग नष्ट हो जायँ। तब मैं अवांछित जनसमुदाय (वर्णसंकर) को उत्पन्न करने का कारण हो जाऊँगा और इस तरह सम्पूर्ण प्राणियों की शान्ति का विनाशक बनूँगा।

तात्पर्य : वर्णसंकर अवांछित जनसमुदाय है जो सामान्य समाज की शान्ति को भंग करता है। इस सामाजिक अशान्ति को रोकने के लिए अनेक विधि-विधान हैं जिनके द्वारा स्वतः ही जनता आध्यात्मिक प्रगति के लिए शान्त तथा सुव्यवस्थित हो जाती है। जब भगवान् कृष्ण अवतरित होते हैं तो स्वाभाविक है कि वे ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्यों की प्रतिष्ठा तथा अनिवार्यता बनाये रखने के लिए इन विधि-विधानों के अनुसार आचरण करते हैं। भगवान् समस्त जीवों के पिता हैं और यदि ये जीव पथभ्रष्ट हो जायँ तो अप्रत्यक्ष रूप में यह उत्तरदायित्व उन्हीं का है। अतः जब भी विधि-विधानों का अनादर होता है, तो भगवान् स्वयं समाज को सुधारने के लिए अवतरित होते हैं। किन्तु हमें ध्यान देना होगा कि यद्यपि हमें भगवान् के पदचिन्हों का अनुसरण करना है, तो भी हम उनका अनुकरण नहीं कर सकते। अनुसरण और अनुकरण एक से नहीं होते। हम गोवर्धन पर्वत उठाकर भगवान् का अनुकरण नहीं कर सकते, जैसा कि भगवान् ने अपने बाल्यकाल में किया था। ऐसा कर पाना किसी मनुष्य के लिए सम्भव नहीं। हमें उनके उपदेशों का पालन करना चाहिए, किन्तु किसी भी समय हमें उनका अनुकरण नहीं करना है। *श्रीमद्भागवत* में (१०.३३.३०-३१) इसकी पुष्टि की गई है—

नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्॥
ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्॥

"मनुष्य को भगवान् तथा उनके द्वारा शक्तिप्रदत्त सेवकों के उपदेशों का मात्र पालन करना चाहिए। उनके उपदेश हमारे लिए अच्छे हैं और कोई भी बुद्धिमान पुरुष बताई गई विधि से उनको कार्यान्वित करेगा। फिर भी मनुष्य को सावधान रहना चाहिए कि वह उनके कार्यों का अनुकरण न करे। उसे शिवजी के अनुकरण में विष का समुद्र नहीं पी लेना चाहिए।"

हमें सदैव ईश्वरों की या सूर्य तथा चन्द्रमा की गतियों को वास्तव में नियन्त्रित कर सकने वालों की स्थिति को श्रेष्ठ मानना चाहिए। ऐसी शक्ति के बिना कोई भी सर्वशक्तिमान ईश्वरों का अनुकरण नहीं कर सकता। शिवजी ने सागर तक के विष का पान कर लिया, किन्तु यदि कोई सामान्य व्यक्ति विष की एक बूँद भी पीने का यत्न करेगा तो वह मर जाएगा। शिवजी के अनेक छद्मभक्त हैं जो गाँजा तथा ऐसी ही अन्य मादक वस्तुओं का सेवन करते रहते हैं। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि इस प्रकार शिवजी का अनुकरण करके वे अपनी मृत्यु को निकट बुला रहे हैं। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण के भी अनेक छद्मभक्त हैं जो भगवान् की रासलीला या प्रेमनृत्य का अनुकरण करना चाहते हैं, किन्तु यह भूल जाते हैं कि वे गोवर्धन पर्वत को धारण नहीं कर सकते। अतः सबसे अच्छा तो यही होगा कि लोग शक्तिमान का अनुकरण न करके केवल उनके उपदेशों का पालन करें। न ही बिना योग्यता के किसी को उनका स्थान ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसे अनेक ईश्वर के "अवतार" हैं जिनमें भगवान् की शक्ति नहीं होती।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

सक्ताः—आसक्त, **कर्मणि**—नियत कर्मों में, **अविद्वांसः**—अज्ञानी, **यथा**—जिस तरह, **कुर्वन्ति**—करते हैं, **भारत**—हे भरतवंशी, **कुर्यात्**—करना चाहिए, **विद्वान्**—विद्वान, **तथा**—उसी तरह, **असक्तः**—अनासक्त, **चिकीर्षुः**—चाहते हुए भी, इच्छुक, **लोक-संग्रहम्**—सामान्य जन।

जिस प्रकार अज्ञानी-जन फल की आसक्ति से कार्य करते हैं, उसी तरह विद्वान् जनों को चाहिए कि वे लोगों को उचित पथ पर ले जाने के लिए अनासक्त रहकर कार्य करें।

तात्पर्य : एक कृष्णभावनाभावित मनुष्य तथा एक कृष्णभावनाहीन व्यक्ति में केवल इच्छाओं का भेद होता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी ऐसा कोई कार्य नहीं करता जो कृष्णभावनामृत के विकास मे सहायक न हो। यहाँ तक कि वह उस अज्ञानी पुरुष की तरह कर्म कर सकता है जो भौतिक कार्यों में अत्यधिक आसक्त रहता है। किन्तु इनमें से एक ऐसे कार्य अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए करता है, जबकि दूसरा कृष्ण की

तुष्टि के लिए। अतः कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को चाहिए कि वह लोगों को यह प्रदर्शित करे कि किस तरह कार्य किया जाता है और किस तरह कर्मफलों को कृष्णभावनामृत कार्य में नियोजित किया जाता है।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।।२६।।

न—नहीं; **बुद्धिभेदम्**—बुद्धि का विचलन; **जनयेत्**—उत्पन्न करे; **अज्ञानाम्**—मूर्खों का; **कर्म-संगिनाम्**—सकाम कर्मों में आसक्त; **जोषयेत्**—नियोजित करे; **सर्व**—सारे; **कर्माणि**—कर्म; **विद्वान्**—विद्वान व्यक्ति; **युक्तः**—लगा हुआ, तत्पर; **समाचरन्**—अभ्यास करता हुआ।

विद्वान व्यक्ति को चाहिए कि वह सकाम कर्मों में आसक्त अज्ञानी पुरुषों को कर्म करने से रोके नहीं ताकि उनके मन विचलित न हों। अपितु भक्तिभाव से कर्म करते हुए वह उन्हें सभी प्रकार के कार्यों में लगाये (जिससे कृष्णभावनामृत का क्रमिक विकास हो)।

तात्पर्य : *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—यह सिद्धान्त सम्पूर्ण वैदिक अनुष्ठानों की पराकाष्ठा है। सारे अनुष्ठान, सारे यज्ञ-कृत्य तथा वेदों में भौतिक कार्यों के लिए जो भी निर्देश हैं उन सबों समेत सारी वस्तुएँ कृष्ण को जानने के निमित्त हैं जो हमारे जीवन के चरमलक्ष्य हैं। लेकिन चूँकि बद्धजीव इन्द्रियतृप्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते, अतः वे वेदों का अध्ययन इसी दृष्टि से करते हैं। किन्तु सकाम कर्मों तथा वैदिक अनुष्ठानों के द्वारा नियमित इन्द्रियतृप्ति के माध्यम से मनुष्य धीरे-धीरे कृष्णभावनामृत को प्राप्त होता है, अतः कृष्णभावनामृत में स्वरूपसिद्ध जीव को चाहिए कि अन्यों को अपना कार्य करने या समझने में बाधा न पहुँचाये, अपितु उन्हें यह प्रदर्शित करे कि किस प्रकार सारे कर्मफल को कृष्ण की सेवा में समर्पित किया जा सकता है। कृष्णभावनाभावित विद्वान व्यक्ति इस तरह कार्य कर सकता है कि इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करने वाले अज्ञानी पुरुष यह सीख लें कि किस तरह कार्य करना चाहिए और आचरण करना चाहिए। यद्यपि अज्ञानी पुरुष को उसके कार्यों में छेड़ना ठीक नहीं होता, परन्तु यदि वह रंचभर भी कृष्णभावनाभावित है तो वह वैदिक विधियों की परवाह न करते हुए सीधे भगवान् की सेवा में लग सकता है। ऐसे भाग्यशाली व्यक्ति को वैदिक अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि प्रत्यक्ष कृष्णभावनामृत के द्वारा उसे वे सारे फल प्राप्त हो जाते हैं, जो उसे अपने कर्तव्यों के पालन करने से प्राप्त होते।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।२७।।

प्रकृतेः—प्रकृति का; **क्रियमाणानि**—किये जाकर; **गुणैः**—गुणों के द्वारा; **कर्माणि**—कर्म; **सर्वशः**—सभी प्रकार के; **अहङ्कार-विमूढ**—अहंकार से मोहित; **आत्मा**—आत्मा; **कर्ता**—करने वाला; **अहम्**—मैं हूँ; **इति**—इस प्रकार; **मन्यते**—सोचता है।

जीवात्मा अहंकार के प्रभाव से मोहग्रस्त होकर अपने आपको समस्त कर्मों का कर्ता मान बैठता है, जब कि वास्तव में वे प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।

तात्पर्य : दो व्यक्ति जिनमें से एक कृष्णभावनाभावित है और दूसरा भौतिक चेतना वाला है, समान स्तर पर कार्य करते हुए समान पद पर प्रतीत हो सकते हैं, किन्तु उनके पदों में आकाश-पाताल का अन्तर रहता है। भौतिक चेतना वाला व्यक्ति अहंकार के कारण आश्वस्त रहता है कि वही सभी वस्तुओं का कर्ता है। वह यह नहीं जानता कि शरीर की रचना प्रकृति द्वारा हुई है, जो परमेश्वर की अध्यक्षता में कार्य करती है। भौतिकतावादी व्यक्ति यह नहीं जानता कि अन्ततोगत्वा वह कृष्ण के अधीन है। अहंकारवश ऐसा व्यक्ति हर कार्य को स्वतन्त्र रूप से करने का श्रेय लेना चाहता है और यही है उसके अज्ञान का लक्षण। उसे यह ज्ञात नहीं कि उसके इस स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर की रचना प्रकृति द्वारा भगवान् की अध्यक्षता मे की गई है, अतः उसके सारे शारीरिक तथा मानसिक कार्य कृष्णभावनामृत में रहकर कृष्ण की सेवा मे तत्पर होने चाहिए। अज्ञानी व्यक्ति यह भूल जाता है कि भगवान् हृषीकेश कहलाते हैं अर्थात् वे शरीर की इन्द्रियों के स्वामी हैं। इन्द्रियतृप्ति के लिए इन्द्रियो का निरन्तर उपयोग करते रहने से वह अहकार के कारण वस्तुत मोहग्रस्त रहता है, जिससे वह कृष्ण के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध को भूल जाता है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥२८॥

तत्त्ववित्—परम सत्य को जानने वाला, **तु**—लेकिन; **महाबाहो**—हे विशाल भुजाओं वाले; **गुण-कर्म**—भौतिक प्रभाव के अन्तर्गत कर्म के; **विभागयोः**—भेद के; **गुणाः**—इन्द्रियाँ, **गुणेषु**—इन्द्रियतृप्ति में, **वर्तन्ते**—तत्पर रहती हैं; **इति**—इस प्रकार, **मत्वा**—मानकर; **न**—कभी नहीं, **सज्जते**—आसक्त होता है।

हे महाबाहो! भक्तिभावमय कर्म तथा सकाम कर्म के भेद को भलीभाँति जानते हुए जो परमसत्य को जानने वाला है, वह कभी भी अपने आपको इन्द्रियों में तथा इन्द्रियतृप्ति में नहीं लगाता।

तात्पर्य : परमसत्य को जानने वाला भौतिक सगति मे अपनी विषम स्थिति को जानता है। वह जानता है कि वह भगवान् कृष्ण का अश है और उसका स्थान इस भौतिक सृष्टि मे नहीं होना चाहिए। वह अपने वास्तविक स्वरूप को भगवान् के अश के रूप में जानता है जो सत् चित् आनंद हैं और उसे यह अनुभूति होती रहती है कि "मैं किसी कारण से देहात्मबुद्धि में फँस चुका हूँ।" अपने अस्तित्व की शुद्ध अवस्था में उसे सारे कार्य भगवान् कृष्ण की सेवा में नियोजित करने चाहिए। फलत वह अपने आपको कृष्णभावनामृत के कार्यों में लगाता है और भौतिक इन्द्रियों के कार्यों के प्रति स्वभावतः अनासक्त हो जाता है क्योंकि ये परिस्थितिजन्य तथा अस्थायी हैं। वह जानता है

उसके जीवन की भौतिक दशा भगवान् के नियन्त्रण में है, फलतः वह सभी प्रकार के भौतिक बन्धनों से विचलित नहीं होता क्योंकि वह इन्हें भगवत्कृपा मानता है। *श्रीमद्भागवत* के अनुसार जो व्यक्ति परमसत्य को ब्रह्म, परमात्मा तथा श्रीभगवान्—इन तीन विभिन्न रूपों में जानता है वह तत्त्ववित् कहलाता है, क्योंकि वह परमेश्वर के साथ अपने वास्तविक सम्बन्ध को भी जानता है।

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ २९॥

प्रकृतेः—प्रकृति के; **गुण**—गुणों से; **सम्मूढाः**—भौतिक पहचान से वेवकूफ बने हुए; **सज्जन्ते**—लग जाते हैं; **गुण-कर्मसु**—भौतिक कर्मों में; **तान्**—उन; **अकृत्स्नविदः**—अल्पज्ञानी पुरुष; **मन्दान्**—आत्म-साक्षात्कार समझने में आलसियों को; **कृत्स्न-वित्**—ज्ञानी; **न**—नहीं; **विचालयेत्**—विचलित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

माया के गुणों से मोहग्रस्त होने पर अज्ञानी पुरुष पूर्णतया भौतिक कार्यों में संलग्न रहकर उनमें आसक्त हो जाते हैं। यद्यपि उनके ये कार्य उनमें ज्ञानाभाव के कारण अधम होते हैं, किन्तु ज्ञानी को चाहिए कि उन्हें विचलित न करे।

तात्पर्य : अज्ञानी मनुष्य स्थूल भौतिक चेतना से और भौतिक उपाधियों से पूर्ण रहते हैं। यह शरीर प्रकृति की देन है और जो व्यक्ति शारीरिक चेतना में अत्यधिक आसक्त होता है वह मन्द अर्थात् आलसी कहा जाता है। अज्ञानी मनुष्य शरीर को आत्मस्वरूप मानते हैं, वे अन्यों के साथ शारीरिक सम्बन्ध को बन्धुत्व मानते हैं, जिस देश में यह शरीर प्राप्त हुआ है उसे वे पूज्य मानते हैं और वे धार्मिक अनुष्ठानों की औपचारिकताओं को ही अपना लक्ष्य मानते हैं। ऐसे भौतिकताग्रस्त उपाधिधारी पुरुषों के कुछ प्रकार के कार्यों में सामाजिक सेवा, राष्ट्रीयता तथा परोपकार हैं। ऐसी उपाधियों के चक्कर में वे सदैव भौतिक क्षेत्र में व्यस्त रहते हैं, उनके लिए आध्यात्मिक बोध मिथ्या है, अतः वे इसमें रुचि नहीं लेते। किन्तु जो लोग आध्यात्मिक जीवन में जागरुक हैं, उन्हें चाहिए कि इस तरह भौतिकता में मग्न व्यक्तियों को विचलित न करें। अच्छा तो यही होगा कि वे शान्तभाव से अपने आध्यात्मिक कार्यों को करें। ऐसे मोहग्रस्त व्यक्ति अहिंसा जैसे जीवन के मूलभूत नैतिक सिद्धान्तों तथा इसी प्रकार के परोपकारी कार्यों में लगे हो सकते हैं।

जो लोग अज्ञानी हैं वे कृष्णभावनामृत के कार्यों को समझ नहीं पाते, अतः भगवान् कृष्ण हमें उपदेश देते हैं कि ऐसे लोगों को विचलित न किया जाय और व्यर्थ ही मूल्यवान समय नष्ट न किया जाय। किन्तु भगवद्भक्त भगवान् से भी अधिक दयालु होते हैं, क्योंकि वे भगवान् के अभिप्राय को समझते हैं। फलतः वे सभी प्रकार के संकट झेलते हैं, यहाँ तक कि वे इन अज्ञानी पुरुषों के पास जा-जा कर उन्हें कृष्णभावनामृत के कार्यों में प्रवृत्त करने का प्रयास करते हैं, जो मानव के लिए परमावश्यक है।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ ३०॥

मयि–मुझमें; सर्वाणि–सब तरह के; कर्माणि–कर्मों को; संन्यस्य–पूर्णतया त्याग करके; अध्यात्म–पूर्ण आत्मज्ञान से युक्त, चेतसा–चेतना से, निराशीः–लाभ की आशा से रहित, निष्काम; निर्ममः–स्वामित्व की भावना से रहित, ममतात्यागी; भूत्वा–होकर; युध्यस्व–लड़ो; विगत-ज्वरः–आलस्यरहित।

अतः हे अर्जुन! अपने सारे कार्यों को मुझमें समर्पित करके मेरे पूर्ण ज्ञान से युक्त होकर, लाभ की आकांक्षा से रहित, स्वामित्व के किसी दावे के बिना तथा आलस्य से रहित होकर युद्ध करो।

तात्पर्य : यह श्लोक *भगवद्गीता* के प्रयोजन को स्पष्टतया इंगित करने वाला है। भगवान् की शिक्षा है कि स्वधर्म पालन के लिए सैन्य अनुशासन के सदृश पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होना आवश्यक है। ऐसे आदेश से कुछ कठिनाई उपस्थित हो सकती है, फिर भी कृष्ण के आश्रित होकर स्वधर्म का पालन करना ही चाहिए, क्योंकि यह जीव की स्वाभाविक स्थिति है। जीव भगवान् के सहयोग के बिना सुखी नहीं हो सकता क्योंकि जीव की नित्य स्वाभाविक स्थिति ऐसी है कि भगवान् की इच्छाओं के अधीन रहा जाय। अत श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध करने का इस तरह आदेश दिया मानो भगवान् उसके सेनानायक हो। परमेश्वर की इच्छा के लिए मनुष्य को सर्वस्व की बलि करनी होती है और साथ ही स्वामित्व जताये बिना स्वधर्म का पालन करना होता है। अर्जुन को भगवान् के आदेश का मात्र पालन करना था। परमेश्वर समस्त आत्माओं के आत्मा हैं, अत जो पूर्णतया परमेश्वर पर आश्रित रहता है या दूसरे शब्दों में, जो पूर्णतया कृष्णभावनाभावित है वह अध्यात्मचेतस कहलाता है। *निराशीः* का अर्थ है स्वामी के आदेशानुसार कार्य करना, किन्तु फल की आशा न करना। कोषाध्यक्ष अपने स्वामी के लिए लाखो रुपये गिन सकता है, किन्तु इसमें से वह अपने लिए एक पैसा भी नहीं चाहता। इसी प्रकार मनुष्य को यह समझना चाहिए कि इस ससार मे किसी व्यक्ति का कुछ भी नहीं है, सारी वस्तुएँ परमेश्वर की हैं। *मयि* अर्थात् मुझमें का वास्तविक तात्पर्य यही है। और जब मनुष्य इस प्रकार से कृष्णभावनामृत मे कार्य करता है तो वह किसी वस्तु पर अपने स्वामित्व का दावा नहीं करता। यह भावनामृत *निर्मम* अर्थात् "मेरा कुछ नही है" कहलाता है। यदि ऐसे कठोर आदेश को, जो शारीरिक सम्बन्ध मे तथाकथित बन्धुत्व भावना से रहित है, पूरा करने मे कुछ झिझक हो तो उसे दूर कर देना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य *विगतज्वर* अर्थात् ज्वर या आलस्य से रहित हो सकता है। अपने गुण तथा स्थिति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को विशेष प्रकार का कार्य करना होता है और ऐसे कर्तव्यों का पालन कृष्णभावनाभावित होकर किया जा सकता है। इससे मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥३१॥

ये–जो, मे–मेरे, मतम्–आदेशों को, इदम्–इन, नित्यम्–नित्यकार्य के रूप में, अनुतिष्ठन्ति–नियमित रूप मे पालन करते हैं, मानवाः–मानव प्राणी, श्रद्धा-वन्तः– श्र भ

मानना चाहिए। किन्तु इन आदेशों के होते हुए भी मनुष्य अन्य स्त्रियों के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। इन प्रवृत्तियों को दमित करना होगा अन्यथा वे आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में बाधक होंगी। जब तक यह भौतिक शरीर रहता है तब तक शरीर की आवश्यकताओं को यम-नियमों के अन्तर्गत पूर्ण करने की छूट दी जाती है। किन्तु फिर भी हमें ऐसी छूटों के नियन्त्रण पर विश्वास नहीं करना चाहिए। मनुष्य को अनासक्त रहकर इन यम-नियमों का पालन करना होता है, क्योंकि नियमों के अन्तर्गत इन्द्रियतृप्ति का अभ्यास भी उसे पथभ्रष्ट कर सकता है, जिस प्रकार कि राजमार्ग तक में दुर्घटना की सम्भावना बनी रहती है। भले ही इन मार्गों की कितनी ही सावधानी से देखभाल क्यों न की जाय, किन्तु इसकी कोई गारन्टी नहीं दे सकता कि सबसे सुरक्षित मार्ग पर भी कोई खतरा नहीं होगा। भौतिक संगति के कारण अत्यन्त दीर्घ काल से इन्द्रिय-सुख की भावना कार्य करती रही है। अतः नियमित इन्द्रिय-भोग के बावजूद भी च्युत होने की हर सम्भावना बनी रहती है, अतः सभी प्रकार से नियमित इन्द्रिय-भोग के लिए किसी भी आसक्ति से बचना चाहिए। लेकिन कृष्णभावनामृत ऐसा है कि इसके प्रति आसक्ति से या सदैव कृष्ण की प्रेमाभक्ति में कार्य करते रहने से सभी प्रकार के ऐन्द्रिय कार्यों से विरक्ति हो जाती है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह किसी भी अवस्था में कृष्णभावनामृत से विरक्त होने की चेष्टा न करे। समस्त प्रकार की इन्द्रिय-आसक्ति से विरक्ति का उद्देश्य अन्ततः कृष्णभावनामृत के पद पर आसीन होना है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ ३५॥

श्रेयान्—अधिक श्रेयस्कर; **स्वधर्मः**—अपने नियतकर्म; **विगुणः**—दोषयुक्त भी; **पर-धर्मात्**—अन्यों के लिए उल्लिखित कार्यों की अपेक्षा; **सु-अनुष्ठितात्**—भलीभाँति सम्पन्न; **स्व-धर्मे**—अपने नियतकर्मों में; **निधनम्**—विनाश, मृत्यु; **श्रेयः**—श्रेष्ठतर; **पर-धर्मः**—अन्यों के लिए नियतकर्म; **भय-आवहः**—खतरनाक, डरावना।

अपने नियतकर्मों को दोषपूर्ण ढंग से सम्पन्न करना भी अन्य के कर्मों को भलीभाँति करने से श्रेयस्कर है। स्वीय कर्मों को करते हुए मरना पराये कर्मों में प्रवृत्त होने की अपेक्षा श्रेष्ठतर है, क्योंकि अन्य किसी के मार्ग का अनुसरण भयावह होता है।

तात्पर्य : अतः मनुष्य को चाहिए कि वह अन्यों के लिए नियतकर्मों की अपेक्षा अपने नियतकर्मों को कृष्णभावनामृत में करे। भौतिक दृष्टि से नियतकर्म मनुष्य की मनोवैज्ञानिक दशा के अनुसार भौतिक प्रकृति के गुणों के अधीन आदिष्ट कर्म हैं। आध्यात्मिक कर्म गुरु द्वारा कृष्ण की दिव्यसेवा के लिए आदेशित होते हैं। किन्तु चाहे भौतिक कर्म हों या आध्यात्मिक कर्म, मनुष्य को मृत्युपर्यन्त अपने नियतकर्मों में दृढ रहना चाहिए। अन्य के निर्धारित कर्मों का अनुकरण नहीं करना चाहिए। आध्यात्मिक तथा भौतिक स्तरों पर ये कर्म भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, किन्तु कर्ता के लिए किसी प्रामाणिक निर्देशन के पालन का सिद्धान्त उत्तम होगा। जब मनुष्य प्रकृति के गुणों के

वशीभूत हो तो उसे उस विशेष अवस्था के लिए नियमों का पालन करना चाहिए, उसे अन्यों का अनुकरण नहीं करना चाहिए। उदाहरणार्थ, सतोगुणी ब्राह्मण कभी हिंसक नहीं होता, किन्तु रजोगुणी क्षत्रिय को हिंसक होने की अनुमति है। इस तरह क्षत्रिय के लिए हिंसा के नियमों का पालन करते हुए विनष्ट होना जितना श्रेयस्कर है उतना अहिंसा के नियमों का पालन करने वाले ब्राह्मण का अनुकरण नहीं। हर व्यक्ति को एकाएक नहीं, अपितु क्रमश अपने हृदय को स्वच्छ बनाना चाहिए। किन्तु जब मनुष्य प्रकृति के गुणों को लाँघकर कृष्णभावनामृत में पूर्णतया लीन हो जाता है, तो वह प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में सब कुछ कर सकता है। कृष्णभावनामृत की पूर्ण स्थिति में एक क्षत्रिय ब्राह्मण की तरह और एक ब्राह्मण क्षत्रिय की तरह कर्म कर सकता है। दिव्य अवस्था में भौतिक जगत् का भेदभाव नहीं रह जाता। उदाहरणार्थ, विश्वामित्र मूलत. क्षत्रिय थे, किन्तु बाद में वे ब्राह्मण हो गये। इसी प्रकार परशुराम पहले ब्राह्मण थे, किन्तु बाद में वे क्षत्रिय बन गये। ब्रह्म में स्थित होने के कारण ही वे ऐसा कर सके, किन्तु जब तक कोई भौतिक स्तर पर रहता है, उसे प्रकृति के गुणों के अनुसार अपने कर्म करने चाहिए। साथ ही उसे कृष्णभावनामृत का पूरा बोध होना चाहिए।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ ३६॥

अर्जुनः उवाच–अर्जुन ने कहा, अथ–तब, केन–किस के द्वारा, प्रयुक्तः–प्रेरित, अयम्–यह, पापम्–पाप, चरति–करता है, पूरुषः–व्यक्ति, अनिच्छन्–न चाहते हुए, अपि–यद्यपि, वार्ष्णेय–हे वृष्णिवंशी, बलात्–बलपूर्वक, इव–मानो, नियोजितः–लगाया गया।

अर्जुन ने कहा–हे वृष्णिवंशी! मनुष्य न चाहते हुए भी पापकर्मों के लिए प्रेरित क्यों होता है? ऐसा लगता है कि उसे बलपूर्वक उनमें लगाया जा रहा हो।

तात्पर्य : जीवात्मा परमेश्वर का अंश होने के कारण मूलत आध्यात्मिक, शुद्ध एवं समस्त भौतिक कल्मषों से मुक्त रहता है। फलत स्वभाव से वह भौतिक जगत् के पापों में प्रवृत्त नहीं होता। किन्तु जब वह माया क संसर्ग में आता है, तो वह बिना झिझक के और कभी-कभी इच्छा के विरुद्ध भी अनेक प्रकार से पापकर्म करता है। अत कृष्ण से अर्जुन का प्रश्न अत्यन्त प्रत्याशापूर्ण है कि जीवों की प्रकृति विकृत क्यों हो जाती है। यद्यपि कभी-कभी जीव कोई पाप नहीं करना चाहता, किन्तु उसे ऐसा करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। किन्तु ये पापकर्म अन्तर्यामी परमात्मा द्वारा प्रेरित नहीं होते अपितु अन्य कारण से होते हैं, जैसा कि भगवान् अगले श्लोक में बताते हैं।

श्री भगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ ३७॥

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; **कामः**—विषयवासना; **एषः**—यह; **क्रोधः**—क्रोध; **एषः**—यह; **रजो-गुण**—रजोगुण से; **समुद्भवः**—उत्पन्न; **महा-अशनः**—सर्वभक्षी; **महा-पाप्मा**—महान पापी; **विद्धि**—जानो; **एनम्**—इसे; **इह**—इस संसार में; **वैरिणम्**—महान शत्रु।

श्रीभगवान् ने कहा—हे अर्जुन! इसका कारण रजोगुण के सम्पर्क से उत्पन्न काम है, जो बाद में क्रोध का रूप धारण करता है और जो इस संसार का सर्वभक्षी पापी शत्रु है।

तात्पर्य : जब जीवात्मा भौतिक सृष्टि के सम्पर्क में आता है तो उसका शाश्वत कृष्ण-प्रेम रजोगुण की संगति से काम में परिणत हो जाता है। अथवा दूसरे शब्दों में, ईश्वर-प्रेम का भाव काम में उसी तरह बदल जाता है जिस तरह इमली के संसर्ग से दूध दही में बदल जाता है और जब काम की संतुष्टि नहीं होती तो यह क्रोध में परिणत हो जाता है, क्रोध मोह में और मोह इस संसार में निरन्तर बना रहता है। अतः जीवात्मा का सबसे बड़ा शत्रु काम है और यह काम ही है जो विशुद्ध जीवात्मा को इस संसार में फँसे रहने के लिए प्रेरित करता है। क्रोध तमोगुण का प्राकट्य है। ये गुण अपने आपको क्रोध तथा अन्य रूपों में प्रकट करते हैं। अतः यदि रहने तथा कार्य करने की विधियों द्वारा रजोगुण को तमोगुण में न गिरने देकर सतोगुण तक ऊपर उठाया जाय तो मनुष्य को क्रोध में पतित होने से आध्यात्मिक आसक्ति के द्वारा बचाया जा सकता है।

अपने नित्य वर्धमान चिदानन्द के लिए भगवान् ने अपने आपको अनेक रूपों में विस्तारित कर लिया और जीवात्माएँ उनके इस चिदानन्द के ही अंश हैं। उनको भी आंशिक स्वतन्त्रता प्राप्त है, किन्तु अपनी इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करके जब वे सेवा को इन्द्रियसुख में बदल देती हैं तो वे काम की चपेट में आ जाती हैं। भगवान् ने इस सृष्टि की रचना जीवात्माओं के लिए इन कामपूर्ण रुचियों की पूर्ति हेतु सुविधा प्रदान करने के निमित्त की और जब जीवात्माएँ दीर्घकाल तक काम-कर्मों में फँसे रहने के कारण पूर्णतया ऊब जाती हैं, तो वे अपना वास्तविक स्वरूप जानने के लिए जिज्ञासा करने लगती हैं।

यही जिज्ञासा वेदान्त-सूत्र का प्रारम्भ है जिसमें यह कहा गया है—*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा*—मनुष्य को परम तत्त्व की जिज्ञासा करनी चाहिए। और इस परम तत्त्व की परिभाषा *श्रीमद्भागवत* में इस प्रकार दी गई है—*जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्च*—सारी वस्तुओं का उद्गम परब्रह्म है। अतः काम का उद्गम भी परब्रह्म से हुआ। अतः यदि काम को भगवत्प्रेम में या कृष्णभावना में परिणत कर दिया जाय, या दूसरे शब्दों में कृष्ण के लिए ही सारी इच्छाएँ हों तो काम तथा क्रोध दोनों ही आध्यात्मिक बन सकेंगे। भगवान् राम के अनन्य सेवक हनुमान ने रावण की स्वर्णपुरी को जलाकर अपना क्रोध प्रकट किया, किन्तु ऐसा करने से वे भगवान् के सबसे बड़े भक्त बन गये। यहाँ पर भी श्रीकृष्ण अर्जुन को प्रेरित करते हैं कि वह शत्रुओं पर अपना क्रोध भगवान् को प्रसन्न करने के लिए दिखाए। अतः काम तथा क्रोध कृष्णभावनामृत में प्रयुक्त होने पर हमारे शत्रु न रह कर मित्र बन जाते हैं।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥ ३८॥

धूमेन–धुएँ से, **आव्रियते**–ढक जाती है, **वह्निः**–अग्नि, **यथा**–जिस प्रकार; **आदर्शः**–शीशा, दर्पण; **मलेन**–धूल से, **च**–भी, **यथा**–जिस प्रकार; **उल्बेन**–गर्भाशय द्वारा, **आवृतः**–ढका रहता है, **गर्भः**–भ्रूण, गर्भ, **तथा**–उसी प्रकार, **तेन**–काम से; **इदम्**–यह, **आवृतम्**–ढका है।

जिस प्रकार अग्नि धुएँ से, दर्पण धूल से अथवा भ्रूण गर्भाशय से आवृत रहता है, उसी प्रकार जीवात्मा इस काम की विभिन्न मात्राओं से आवृत रहता है।

तात्पर्य : जीवात्मा के आवरण की तीन कोटियाँ हैं जिनसे उसकी शुद्ध चेतना धूमिल होती है। यह आवरण काम ही है जो विभिन्न स्वरूपों में होता है यथा अग्नि में धुआँ, दर्पण पर धूल तथा भ्रूण पर गर्भाशय। जब काम की उपमा धूम्र से दी जाती है तो यह समझना चाहिए कि जीवित स्फुलिंग की अग्नि कुछ-कुछ अनुभवगम्य है। दूसरे शब्दों में, जब जीवात्मा अपने कृष्णभावनामृत को कुछ-कुछ प्रकट करता है तो उसकी उपमा धुएँ से आवृत अग्नि से दी जा सकती है। यद्यपि जहाँ कहीं धुआँ होता है वहाँ अग्नि का होना अनिवार्य है, किन्तु प्रारम्भिक अवस्था में अग्नि की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति नहीं होती। यह अवस्था कृष्णभावनामृत के शुभारम्भ जैसी है। दर्पण पर धूल का उदाहरण मन रूपी दर्पण को अनेकानेक आध्यात्मिक विधियो से स्वच्छ करने की प्रक्रिया के समान है। इसकी सर्वश्रेष्ठ विधि है-भगवान् के पवित्र नाम का सकीर्तन। गर्भाशय द्वारा आवृत भ्रूण का दृष्टान्त असहाय अवस्था से दिया गया है, क्योंकि गर्भ-स्थित शिशु इधर-उधर हिलने के लिए भी स्वतन्त्र नहीं रहता। जीवन की यह अवस्था वृक्षों के समान है। वृक्ष भी जीवात्माएँ हैं, किन्तु उनमें काम की प्रबलता को देखते हुए उन्हें ऐसी योनि मिली है कि वे प्राय. चेतनाशून्य होते हैं। धूमिल दर्पण पशु-पक्षियों के समान है और धूम्र से आवृत अग्नि मनुष्य के समान है। मनुष्य के रूप में जीवात्मा में थोड़ा बहुत कृष्णभावनामृत का उदय होता है और यदि वह और प्रगति करता है तो आध्यात्मिक जीवन की अग्नि मनुष्य जीवन में प्रज्ज्वलित हो सकती है। यदि अग्नि के धुएँ को ठीक से नियन्त्रित किया जाय तो अग्नि जल सकती है, अत. यह मनुष्य जीवन जीवात्मा के लिए ऐसा सुअवसर है जिससे वह ससार के बन्धन से छूट सकता है। मनुष्य जीवन में काम रूपी शत्रु को योग्य निर्देशन में कृष्णभावनामृत के अनुशीलन द्वारा जीता जा सकता है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ ३९॥

आवृतम्–ढका हुआ, **ज्ञानम्**–शुद्ध चेतना; **एतेन**–इससे, **ज्ञानिनः**–ज्ञाता का, **नित्य-वैरिणा**–नित्य शत्रु द्वारा; **काम-रूपेण**–काम के रूप में; **कौन्तेय**–हे कुन्तीपुत्र, **दुष्पूरेण**–कभी भी तुष्ट न होने वाली, **अनलेन**–अग्नि द्वारा, **च**–भी।

इस प्रकार ज्ञानमय जीवात्मा की शुद्ध चेतना उसके काम रूपी नित्य शत्रु से रहती है जो कभी भी तुष्ट नहीं होता और अग्नि के समान जलता रहता है।

तात्पर्य : मनुस्मृति में कहा गया है कि कितना भी विषय-भोग क्यों न किया जाय काम की तृप्ति नहीं होती, जिस प्रकार कि निरन्तर ईंधन डालने से अग्नि कभी नहीं बुझती। भौतिक जगत् में समस्त कार्यकलापों का केन्द्रबिन्दु मैथुन (कामसुख) है, अतः इस जगत् को *मैथुन्य-आगार* या विषयी-जीवन की हथकड़ियाँ कहा गया है। एक सामान्य बन्दीगृह में अपराधियों को छड़ों के भीतर रखा जाता है इसी प्रकार जो अपराधी भगवान् के नियमों की अवज्ञा करते हैं, वे मैथुन-जीवन द्वारा बन्दी बनाये जाते हैं। इन्द्रियतृप्ति के आधार पर भौतिक सभ्यता की प्रगति का अर्थ है, इस जगत् में जीवात्मा की बन्धन अवधि को बढ़ाना। अतः यह काम अज्ञान का प्रतीक है जिसके द्वारा जीवात्मा को इस संसार में रखा जाता है। इन्द्रियतृप्ति का भोग करते समय हो सकता है कि कुछ प्रसन्नता की अनुभूति हो, किन्तु यह प्रसन्नता की अनुभूति ही इन्द्रियभोक्ता का चरम शत्रु है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ ४०॥

इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; **मनः**—मन; **बुद्धिः**—बुद्धि; **अस्य**—इस काम का; **अधिष्ठानम्**—निवासस्थान; **उच्यते**—कहा जाता है; **एतैः**—इन सबों से; **विमोहयति**—मोहग्रस्त करता है; **एषः**—यह काम; **ज्ञानम्**—ज्ञान को; **आवृत्य**—ढक कर; **देहिनम्**—शरीरधारी को।

इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि इस काम के निवासस्थान हैं। इनके द्वारा यह काम जीवात्मा के वास्तविक ज्ञान को ढक कर उसे मोहित कर लेता है।

तात्पर्य : चूँकि शत्रु ने बद्धजीव के शरीर के विभिन्न सामरिक स्थानों पर अपना अधिकार कर लिया है, अतः भगवान् कृष्ण उन स्थानों का संकेत कर रहे हैं जिससे शत्रु को जीतने वाला यह जान ले कि शत्रु कहाँ पर है। मन समस्त इन्द्रियों के कार्यकलापों का केन्द्रबिन्दु है, अतः जब हम इन्द्रिय-विषयों के सम्बन्ध में सुनते हैं तो मन इन्द्रियतृप्ति के समस्त भावों का आगार बन जाता है। इस तरह मन तथा इन्द्रियाँ काम की शरणस्थली बन जाते हैं। इसके बाद बुद्धि ऐसी कामपूर्ण रुचियों की राजधानी बन जाती है। बुद्धि आत्मा की निकट पड़ोसन है। काममय बुद्धि से आत्मा प्रभावित होता है जिससे उसमें अहंकार उत्पन्न होता है और वह पदार्थ से तथा इस प्रकार मन तथा इन्द्रियों से अपना तादात्म्य कर लेता है। आत्मा को भौतिक इन्द्रियों का भोग करने की लत पड़ जाती है जिसे वह वास्तविक सुख मान बैठता है। *श्रीमद्भागवत* में (१०.८४.१३) आत्मा के इस मिथ्या स्वरूप की अत्युत्तम विवेचना की गई है—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥

"जो मनुष्य इस त्रिधातु निर्मित शरीर को आत्मस्वरूप जान बैठता है, जो देह के विकारों को स्वजन समझता है, जो जन्मभूमि को पूज्य मानता है और जो तीर्थस्थलों की यात्रा दिव्यज्ञान वाले पुरुष से भेंट करने के लिए नहीं, अपितु स्नान करने के लिए करता है उसे गधा या बैल के समान समझना चाहिए।"

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ ४१॥

तस्मात्–अत, *त्वम्*–तुम, *इन्द्रियाणि*–इन्द्रियों को, *आदौ*–प्रारम्भ में, *नियम्य*–नियमित करके, *भरत-ऋषभ*–हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ, *पाप्मानम्*–पाप के महान प्रतीक को; *प्रजहि*–दमन करो, *हि*–निश्चय ही, *एनम्*–इस, *ज्ञान*–ज्ञान; *विज्ञान*–तथा शुद्ध आत्मा के वैज्ञानिक ज्ञान का; *नाशनम्*–संहर्ता, विनाश करने वाला।

इसलिए हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! प्रारम्भ में ही इन्द्रियों को वश में करके इस पाप के महान प्रतीक (काम) का दमन करो और ज्ञान तथा आत्म-साक्षात्कार के इस विनाशकर्ता का वध करो।

तात्पर्य : भगवान् ने अर्जुन को प्रारम्भ से ही इन्द्रिय-संयम करने का उपदेश दिया जिससे वह सबसे पापी शत्रु काम का दमन कर सके जो आत्म-साक्षात्कार तथा आत्मज्ञान की उत्कंठा को विनष्ट करने वाला है। ज्ञान का अर्थ है आत्म तथा अनात्म के भेद का बोध अर्थात् यह ज्ञान कि आत्मा शरीर नहीं है। विज्ञान से आत्मा की स्वाभाविक स्थिति तथा परमात्मा के साथ उसके सम्बन्ध का विशिष्ट ज्ञान सूचित होता है। *श्रीमद्भागवत* में (२.९.३१) इसकी विवेचना इस प्रकार हुई है–

ज्ञान परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया॥

"आत्मा तथा परमात्मा का ज्ञान अत्यन्त गुह्य एवं रहस्यमय है, किन्तु जब स्वयं भगवान् द्वारा इसके विविध पक्षों की विवेचना की जाती है तो ऐसा ज्ञान तथा विज्ञान समझा जा सकता है।" *भगवद्गीता* हमें आत्मा का सामान्य तथा विशिष्ट ज्ञान (ज्ञान तथा विज्ञान) प्रदान करती है। जीव भगवान् के भिन्न अंश हैं, अत. वे भगवान् की सेवा के लिए हैं। यह चेतना कृष्णभावनामृत कहलाती है। अत. मनुष्य को जीवन के प्रारम्भ से इस कृष्णभावनामृत को सीखना होता है, जिससे वह पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होकर तदनुसार कर्म करे।

काम ईश्वर-प्रेम का विकृत प्रतिबिम्ब है और प्रत्येक जीव के लिए स्वाभाविक है। किन्तु यदि किसी को प्रारम्भ से ही कृष्णभावनामृत की शिक्षा दी जाय तो प्राकृतिक ईश्वर-प्रेम काम के रूप में विकृत नहीं हो सकता। एक बार ईश्वर-प्रेम के काम रूप में विकृत हो जाने पर इसके मौलिक स्वरूप को पुन प्राप्त कर पाना दु.साध्य हो जाता है। फिर भी, कृष्णभावनामृत इतना शक्तिशाली होता है कि विलम्ब से प्रारम्भ करने वाला भी भक्ति के विधि-विधानों का पालन करके ईश्वरप्रेमी बन सकता है। अत. जीवन की किसी भी अवस्था में, या जब भी इसकी अनिवार्यता समझी जाए, मनुष्य कृष्णभावनामृत या भगवद्भक्ति के द्वारा इन्द्रियों को वश में करना प्रारम्भ कर सकता है और काम को भगवत्प्रेम में बदल सकता है, जो मानव जीवन की पूर्णता की चरम अवस्था है।

अध्याय चार



दिव्य ज्ञान

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; **इमम्**—इस; **विवस्वते**—सूर्यदेव को; **योगम्**—परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध की विद्या को; **प्रोक्तवान्**—उपदेश दिया; **अहम्**—मैंने; **अव्ययम्**—अमर; **विवस्वान्**—विवस्वान् (सूर्यदेव का नाम) ने; **मनवे**—मनुष्यों के पिता (वैवस्वत) से; **प्राह**—कहा; **मनुः**—मनुष्यों के पिता ने; **इक्ष्वाकवे**—राजा इक्ष्वाकु से; **अब्रवीत्**—कहा।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—मैंने इस अमर योगविद्या का उपदेश सूर्यदेव विवस्वान् को दिया और विवस्वान् ने मनुष्यों के पिता मनु को उपदेश दिया और मनु ने इसका उपदेश इक्ष्वाकु को दिया।

तात्पर्य : यहाँ पर हमें *भगवद्गीता* का इतिहास प्राप्त होता है। यह अत्यन्त प्राचीन बताया गया है, जब इसे सूर्यलोक इत्यादि सम्पूर्ण लोकों के राजा को प्रदान किया गया था। समस्त लोकों के राजा विशेष रूप से निवासियों की रक्षा के निमित्त होते हैं, अतः

राजन्यवर्ग को *भगवद्गीता* की विद्या को समझना चाहिए जिससे वे नागरिकों (प्रजा) पर शासन कर सकें और उन्हें कामरूपी भवबन्धन से बचा सकें। मानव जीवन का उद्देश्य भगवान् के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध के आध्यात्मिक ज्ञान का विकास है और सारे राज्यों तथा समस्त लोकों के शासनाध्यक्षों को चाहिए कि शिक्षा, संस्कृति तथा भक्ति द्वारा नागरिकों को यह पाठ पढ़ाएँ। दूसरे शब्दों में, सारे राज्य के शासनाध्यक्ष कृष्णभावनामृत विद्या का प्रचार करने के लिए होते हैं, जिससे जनता इस महाविद्या का लाभ उठा सके और मनुष्य जीवन के अवसर का लाभ उठाते हुए सफल मार्ग का अनुसरण कर सके।

इस मन्वन्तर में सूर्यदेव विवस्वान् कहलाता है यानी सूर्य का राजा , जो सौरमंडल के अन्तर्गत समस्त ग्रहों (लोकों) का उद्गम है। *ब्रह्मसंहिता* में (५.५२) कहा गया है—

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणां राजा समस्तसुरमूर्तिरशेषतेजाः।
यस्याज्ञया भ्रमति सम्भृतकालचक्रो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

ब्रह्माजी ने कहा, "मैं उन श्रीभगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो आदि पुरुष हैं और जिनके आदेश से समस्त लोकों का राजा सूर्य प्रभूत शक्ति तथा ऊष्मा धारण करता है। यह सूर्य भगवान् के नेत्र तुल्य है और यह उनकी आज्ञानुसार अपनी कक्षा को तय करता है।"

सूर्य सभी लोकों का राजा है तथा सूर्यदेव (विवस्वान्) सूर्य ग्रह पर शासन करता है, जो ऊष्मा तथा प्रकाश प्रदान करके अन्य समस्त लोकों को अपने नियन्त्रण में रखता है। सूर्य कृष्ण के आदेश पर घूमता है और भगवान् कृष्ण ने विवस्वान् को *भगवद्गीता* की विद्या समझाने के लिए अपना पहला शिष्य चुना। अतः *गीता* किसी मामूली सांसारिक विद्यार्थी के लिए कोई काल्पनिक भाष्य नहीं, अपितु ज्ञान का मानक ग्रंथ है, जो अनन्त काल से चला आ रहा है।

महाभारत में (*शान्ति पर्व ३४८.५१-५२*) हमें *गीता* का इतिहास इस रूप में प्राप्त होता है—

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान्मनवे ददौ।
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ।
इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः॥

"त्रेतायुग के आदि में विवस्वान् ने परमेश्वर सम्बन्धी इस विज्ञान का उपदेश मनु को दिया और मनुष्यों के जनक मनु ने इसे अपने पुत्र इक्ष्वाकु को दिया। इक्ष्वाकु इस पृथ्वी के शासक थे और उस रघुकुल के पूर्वज थे, जिसमें भगवान् श्रीराम ने अवतार लिया।" इससे प्रमाणित होता है कि मानव समाज में महाराज इक्ष्वाकु के काल से ही *भगवद्गीता* विद्यमान थी।

इस समय कलियुग के केवल ५,००० वर्ष व्यतीत हुए हैं जबकि इसकी पूर्णायु ४,३२,००० वर्ष है। इसके पूर्व द्वापरयुग (८,००,००० वर्ष) था और इसके भी पूर्व त्रेतायुग (१२,००,००० वर्ष)था। इस प्रकार लगभग २०,०५,००० वर्ष पूर्व मनु ने अपने शिष्य तथा पुत्र इक्ष्वाकु से जो इस पृथ्वी के राजा थे, *श्रीमद्भगवद्गीता* कही। वर्तमान मनु की आयु लगभग ३०,५३,००,००० वर्ष अनुमानित की जाती है जिसमें से

१२,०४,००,००० वर्ष वीत चुके हैं। यह मानते हुए कि मनु के जन्म के पूर्व भगवान् ने अपने शिष्य सूर्यदेव विवस्वान् को *गीता* सुनाई, मोटा अनुमान यह है कि *गीता* कम से कम १२,०४,००,००० वर्ष पहले कही गई और मानव समाज में यह २० लाख वर्षों से विद्यमान रही। इसे भगवान् ने लगभग ५,००० वर्ष पूर्व अर्जुन से पुनः कहा। *गीता* के अनुसार ही तथा इसके वक्ता भगवान् कृष्ण के कथन के अनुसार यह *गीता* के इतिहास का मोटा अनुमान है। सूर्यदेव विवस्वान् को इसीलिए *गीता* सुनाई गई क्योंकि वह *क्षत्रिय* था और उन समस्त क्षत्रियों का जनक है जो सूर्यवंशी हैं। चूँकि *भगवद्गीता* वेदों के ही समान है क्योंकि इसे श्रीभगवान् ने कहा था, अतः यह ज्ञान अपौरुपेय है। चूँकि वैदिक आदेशों को यथारूप में विना किसी मानवीय विवेचना के स्वीकार किया जाता है फलतः *गीता* को भी किसी सांसारिक विवेचना के विना स्वीकार किया जाना चाहिए। संसारी तार्किकजन अपनी-अपनी विधि से *गीता* के विषय में चिन्तन कर सकते हैं, किन्तु यह यथारूप *भगवद्गीता* नहीं है। अतः *भगवद्गीता* को गुरु-परम्परा से यथारूप में ग्रहण करना चाहिए। यहाँ पर यह वर्णन हुआ है कि भगवान् ने इसे सूर्यदेव से कहा, सूर्यदेव ने अपने पुत्र मनु से और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥ २॥

एवम्—इस प्रकार; **परम्परा**—गुरु-परम्परा से; **प्राप्तम्**—प्राप्त; **इमम्**—इस विज्ञान को; **राज-ऋषयः**—साधु राजाओं ने; **विदुः**—जाना; **सः**—वह ज्ञान; **कालेन**—कालक्रम में; **इह**—इस संसार में; **महता**—महान; **योगः**—परमेश्वर के साथ अपने सम्वन्ध का विज्ञान, योगविद्या; **नष्टः**—छिन्न-भिन्न हो गया; **परन्तप**—हे शत्रुओं को दमन करने वाले, अर्जुन।

इस प्रकार यह परम विज्ञान गुरु-परम्परा द्वारा प्राप्त किया गया और राजर्षियों ने इसी विधि से इसे समझा। किन्तु कालक्रम में यह परम्परा छिन्न हो गई, अतः यह विज्ञान यथारूप में लुप्त हो गया लगता है।

तात्पर्य : यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि *गीता* विशेष रूप से राजर्पियों के लिए थी क्योंकि वे इसका उपयोग प्रजा के ऊपर शासन करने में करते थे। निश्चय ही *भगवद्गीता* कभी भी आसुरी पुरुपों के लिए नहीं थी जिनसे किसी को भी इसका लाभ न मिलता और जो अपनी-अपनी सनक के अनुसार विभिन्न प्रकार की विवेचना करते। अतः जैसे ही असाधु भाप्यकारों के निहित स्वार्थो से *गीता* का मूल उद्देश्य उच्छिन्न हुआ वैसे ही पुनः गुरु-परम्परा स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। पाँच हजार वर्प पूर्व भगवान् ने स्वयं देखा कि गुरु-परम्परा टूट चुकी है, अतः उन्होंने घोपित किया कि *गीता* का उद्देश्य नप्ट हो चुका है। इसी प्रकार इस समय *गीता* के इतने संस्करण उपलब्ध हैं (विशेपतया अंग्रेजी में) कि उनमें से प्रायः सभी प्रामाणिक गुरु-परम्परा के अनुसार नहीं हैं। विभिन्न संसारी विद्वानों ने गीता की असंख्य टीकाएँ की हैं, किन्तु वे प्रायः सभी श्रीकृष्ण को स्वीकार नहीं करते, यद्यपि वे कृष्ण के नाम पर अच्छा व्यापार चलाते हैं। यह आसुरी प्रवृत्ति है, क्योंकि असुरगण ईश्वर में विश्वास नहीं करते, वे केवल परमेश्वर के गुणों का

लाभ उठाते हैं। अतएव अंग्रेजी में *गीता* के एक संस्करण की नितान्त आवश्यकता थी जो परम्परा (गुरु-परम्परा) से प्राप्त हो। प्रस्तुत प्रयास इसी आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य से किया गया है। *भगवद्गीता यथारूप* मानवता के लिए महान वरदान है, किन्तु यदि इसे मानसिक चिन्तन समझा जाय तो यह समय का अपव्यय होगा।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ ३॥

सः—वही, एव—निश्चय ही, अयम्—यह; मया—मेरे द्वारा; ते—तुमसे, अद्य—आज; योगः—योगविद्या, प्रोक्तः—कही गयी, पुरातनः—अत्यन्त प्राचीन, भक्तः—भक्त; असि—हो, मे—मेरे; सखा—मित्र, च—भी, इति—अतः, रहस्यम्—रहस्य; हि—निश्चय ही, एतत्—यह; उत्तमम्—दिव्य।

आज मेरे द्वारा वही यह प्राचीन योग यानी परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध का विज्ञान, तुमसे कहा जा रहा है, क्योंकि तुम मेरे भक्त तथा मित्र हो, अतः तुम इस विज्ञान के दिव्य रहस्य को समझ सकते हो।

तात्पर्य : मनुष्यों की दो श्रेणियाँ हैं—भक्त तथा असुर। भगवान् ने अर्जुन को इस विद्या का पात्र इसलिए चुना क्योंकि वह उनका भक्त था। किन्तु असुर के लिए इस परम गुह्यविद्या को समझ पाना सम्भव नहीं है। इस परम ज्ञानग्रंथ के अनेक संस्करण उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ भक्तों की टीकाएँ हैं और कुछ असुरों की। जो टीकाएँ भक्तों द्वारा की गई हैं वे वास्तविक हैं, किन्तु जो असुरों द्वारा की गई हैं वे व्यर्थ हैं। अर्जुन श्रीकृष्ण को भगवान् के रूप में मानता है, अतः जो *गीता* भाष्य अर्जुन के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए किया गया है वह इस परमविद्या के पक्ष मे वास्तविक सेवा है। किन्तु असुर भगवान् कृष्ण को उस रूप में नहीं मानते। वे कृष्ण के विषय में तरह-तरह की मनगढंत बातें करते हैं और वे कृष्ण के उपदेश-मार्ग से सामान्य जनता को गुमराह करते रहते हैं। ऐसे कुमार्गों से बचने के लिए यह एक चेतावनी है। मनुष्य को चाहिए कि अर्जुन की परम्परा का अनुसरण करे और *श्रीमद्भगवद्गीता* के इस परमविज्ञान से लाभान्वित हो।

अर्जुन उवाच
अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ ४॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा, अपरम्—अर्वाचीन, कनिष्ठ, भवतः—आपका, जन्म—जन्म, परम्—श्रेष्ठ (ज्येष्ठ), जन्म—जन्म; विवस्वतः—सूर्यदेव का, कथम्—कैसे; एतत्—यह; विजानीयाम्—मैं समझूँ; त्वम्—तुमने, आदौ—प्रारम्भ में, प्रोक्तवान्—उपदेश दिया; इति—इस प्रकार।

अर्जुन ने कहा— सूर्यदेव विवस्वान् आप से पहले हो चुके (ज्येष्ठ) हैं, तो फिर मैं कैसे समझूँ कि प्रारम्भ में भी आपने उन्हें इस विद्या का उपदेश दिया था।

तात्पर्य : जब अर्जुन भगवान् का माना हुआ भक्त है तो फिर उसे कृष्ण के

विश्वास क्यों नहीं हो रहा था? तथ्य यह है कि अर्जुन यह जिज्ञासा अपने लिए नहीं कर रहा है, अपितु यह जिज्ञासा उन सबों के लिए है, जो भगवान् में विश्वास नहीं करते, अथवा उन असुरों के लिए है, जिन्हें यह विचार पसन्द नहीं है कि कृष्ण को भगवान् माना जाय। उन्हीं के लिए अर्जुन यह बात इस तरह पूछ रहा है, मानो वह स्वयं भगवान् या कृष्ण से अवगत न हो। जैसा कि दसवें अध्याय में स्पष्ट हो जाएगा, अर्जुन भलीभाँति जानता था कि कृष्ण श्रीभगवान् हैं और वे प्रत्येक वस्तु के मूलस्रोत हैं तथा ब्रह्म की चरम सीमा हैं। निस्सन्देह, कृष्ण इस पृथ्वी पर देवकी के पुत्र रूप में भी अवतीर्ण हुए। सामान्य व्यक्ति के लिए यह समझ पाना अत्यन्त कठिन है कि कृष्ण किस प्रकार उसी शाश्वत आदिपुरुष श्रीभगवान् के रूप में बने रहे। अतः इस बात को स्पष्ट करने के लिए ही अर्जुन ने कृष्ण से यह प्रश्न पूछा, जिससे वे ही प्रामाणिक रूप में बताएँ। कृष्ण परम प्रमाण हैं, यह तथ्य आज ही नहीं अनन्तकाल से सारे विश्व द्वारा स्वीकार किया जाता रहा है। केवल असुर ही इसे अस्वीकार करते रहे हैं। जो भी हो, चूँकि कृष्ण सर्वस्वीकृत परम प्रमाण हैं, अतः अर्जुन उन्हीं से प्रश्न करता है, जिससे कृष्ण स्वयं बताएँ और असुर तथा उनके अनुयायी जिस भाँति अपने लिए तोड़-मरोड़ करके उन्हें प्रस्तुत करते रहे हैं, उससे बचा जा सके। यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि अपने कल्याण के लिए वह कृष्णविद्या को जाने। अतः जब कृष्ण स्वयं अपने विषय में बोल रहे हों तो यह सारे विश्व के लिए शुभ है। कृष्ण द्वारा की गई ऐसी व्याख्याएँ असुरों को भले ही विचित्र लगें, क्योंकि वे अपने ही दृष्टिकोण से कृष्ण का अध्ययन करते हैं, किन्तु जो भक्त हैं वे साक्षात् कृष्ण द्वारा उच्चरित वचनों का हृदय से स्वागत करते हैं। भक्तगण कृष्ण के ऐसे प्रामाणिक वचनों की सदा पूजा करेंगे, क्योंकि वे लोग उनके विषय में अधिकाधिक जानने के लिए उत्सुक रहते हैं। इस तरह नास्तिकगण जो कृष्ण को सामान्य व्यक्ति मानते हैं वे भी कृष्ण को अतिमानव, सच्चिदानन्द विग्रह, दिव्य, त्रिगुणातीत तथा दिक्काल के प्रभाव से परे समझ सकेंगे। अर्जुन की कोटि के श्रीकृष्ण-भक्त को कभी भी श्रीकृष्ण के दिव्य स्वरूप के विषय में कोई भ्रम नहीं हो सकता। अर्जुन द्वारा भगवान् के समक्ष ऐसा प्रश्न उपस्थित करने का उद्देश्य उन व्यक्तियों की नास्तिकतावादी प्रवृत्ति को चुनौती देना था, जो कृष्ण को भौतिक प्रकृति के गुणों के अधीन एक सामान्य व्यक्ति मानते हैं।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ ५॥

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; **बहूनि**—अनेक; **मे**—मेरे; **व्यतीतानि**—बीत चुके; **जन्मानि**—जन्म; **तव**—तुम्हारे; **च**—भी; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **तानि**—उन; **अहम्**—मैं; **वेद**—जानता हूँ; **सर्वाणि**—सबों को; **न**—नहीं; **त्वम्**—तुम; **वेत्थ**—जानते हो; **परन्तप**—हे शत्रुओं का दमन करने वाले।

श्रीभगवान् ने कहा—तुम्हारे तथा मेरे अनेकानेक जन्म हो चुके हैं। मुझे तो उन सबका स्मरण है, किन्तु हे परंतप! तुम्हें उनका स्मरण नहीं रह सकता है।

तात्पर्य : *ब्रह्मसंहिता* में (५.३३) हमे भगवान् के अनेकानेक अवतारों की सूचना प्राप्त होती है। उसमें कहा गया है—

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपमाद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च।
वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि पुरुष श्रीभगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अद्वैत, अच्युत तथा अनादि हैं। यद्यपि अनन्त रूपों में उनका विस्तार है, किन्तु तो भी वे आद्य, पुरातन तथा नित्य नवयौवन युक्त रहते हैं। श्रीभगवान् के ऐसे सच्चिदानन्द रूप को प्रायः श्रेष्ठ वैदिक विद्वान जानते हैं, किन्तु विशुद्ध अनन्य भक्तों को तो उनके दर्शन नित्य ही होते रहते हैं।"

ब्रह्मसंहिता में (५.३९) यह भी कहा गया है—

रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन् नानावतारमकरोद् भुवनेषु किन्तु।
कृष्ण स्वयं समभवत् परम पुमान् यो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन श्रीभगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो राम, नृसिंह आदि अवतारों तथा अंशावतारों में नित्य स्थित रहते हुए भी कृष्ण नाम से विख्यात आदि-पुरुष हैं और जो स्वयं भी अवतरित होते हैं।"

वेदों मे भी कहा गया हे कि अद्वेत होते हुए भी भगवान् असख्य रूपों में प्रकट होते हे। वे उस वेदूर्यमणि के समान हे जो अपना रग परिवर्तित करते हुए भी एक ही रहता हे। इन सारे रूपों को विशुद्ध निष्काम भक्त ही समझ पाते हैं, केवल वेदों के अध्ययन से उनको नहीं समझा जा सकता (*वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ*)। अर्जुन जेसे भक्त कृष्ण के नित्य सखा हें ओर जब भी भगवान् अवतरित होते हैं तो उनके पार्षद भक्त भी विभिन्न रूपों में उनकी सेवा करने के लिए उनके साथ-साथ अवतार लेते हैं। अर्जुन ऐसा ही भक्त हे ओर इस श्लोक से पता चलता हे कि लाखों वर्ष पूर्व जब भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* का प्रवचन सूर्यदेव विवस्वान् से किया था तो उस समय अर्जुन भी किसी भिन्न रूप में उपस्थित था। किन्तु भगवान् तथा अर्जुन में यह अन्तर है कि भगवान् ने यह घटना याद रखी, किन्तु अर्जुन इसे याद नहीं रख सका। अंशरूप जीवात्मा तथा परमेश्वर में यही अन्तर हे। यद्यपि अर्जुन को यहाँ परम शक्तिशाली वीर के रूप में सम्बोधित किया गया हे, जो शत्रुओं का दमन कर सकता हे, किन्तु विगत जन्मों में जो घटनाएँ घटी हें, उन्हें स्मरण रखने मे वह अक्षम है। अतः भौतिक दृष्टि से जीव चाहे कितना ही बडा क्यों न हो, वह कभी परमेश्वर की समता नहीं कर सकता। भगवान् का नित्य सगी निश्चित रूप से मुक्त पुरुप होता हे, किन्तु वह भगवान् के तुल्य नहीं होता। *ब्रह्मसंहिता* में भगवान् को *अच्युत* कहा गया जिसका अर्थ होता है कि वे भौतिक सम्पर्क मे रहते हुए भी अपने को नहीं भूलते। अत· भगवान् तथा जीव कभी भी सभी तरह से एकसमान नहीं हो सकते, भले ही जीव अर्जुन के समान मुक्त पुरुप क्यों न हो। यद्यपि अर्जुन भगवान् का भक्त हे, किन्तु कभी-कभी वह भी भगवान् की प्रकृति को भूल जाता है। किन्तु देवी कृपा से भक्त तुरन्त भगवान् की अच्युत स्थिति को समझ जाता है जबकि अभक्त या असुर इस दिव्य प्रकृति को नहीं समझ पाता। फलस्वरूप *गीता* के विवरण आसुरी मस्तिष्कों में नहीं चढ पाते। कृष्ण को लाखों वर्ष पूर्व सम्पन्न कार्यों की स्मृति

बनी हुई है, किन्तु अर्जुन को स्मरण नहीं है यद्यपि अर्जुन तथा कृष्ण दोनों ही शाश्वत स्वभाव के हैं। यहाँ पर हमें यह भी देखने को मिलता है कि शरीर-परिवर्तन के साथ-साथ जीवात्मा सब कुछ भूल जाता है, किन्तु कृष्ण सब स्मरण रखते हैं, क्योंकि वे अपने सच्चिदानन्द शरीर को बदलते नहीं। वे अद्वैत हैं जिसका अर्थ है कि उनके शरीर तथा उनकी आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। उनसे सम्बंधित हर वस्तु आत्मा है जबकि बद्धजीव अपने शरीर से भिन्न होता है। चूँकि भगवान् के शरीर तथा आत्मा अभिन्न हैं, अतः उनकी स्थिति तब भी सामान्य जीव से भिन्न बनी रहती है, जब वे भौतिक स्तर पर अवतार लेते हैं। असुरगण भगवान् की इस दिव्य प्रकृति से तालमेल नहीं बैठा पाते, जिसकी व्याख्या अगले श्लोक में भगवान् स्वयं करते हैं।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ ६॥

अजः—अजन्मा; **अपि**—तथापि; **सन्**—होते हुए; **अव्यय**—अविनाशी; **आत्मा**—शरीर; **भूतानाम्**—जन्म लेने वालों के; **ईश्वरः**—परमेश्वर; **अपि**—यद्यपि; **सन्**—होने पर; **प्रकृतिम्**—दिव्य रूप में; **स्वाम्**—अपने; **अधिष्ठाय**—इस तरह स्थित; **सम्भवामि**—मैं अवतार लेता हूँ; **आत्म-मायया**—अपनी अन्तरंगा शक्ति से।

यद्यपि मैं अजन्मा तथा अविनाशी हूँ और यद्यपि मैं समस्त जीवों का स्वामी हूँ, तो भी प्रत्येक युग में मैं अपने आदि दिव्य रूप में प्रकट होता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् ने अपने जन्म की विलक्षणता बतलाई है। यद्यपि वे सामान्य पुरुष की भाँति प्रकट हो सकते हैं, किन्तु उन्हें विगत अनेकानेक "जन्मों" की पूर्ण स्मृति बनी रहती है, जबकि सामान्य मनुष्य को कुछ ही घंटे पूर्व की घटना स्मरण नहीं रहती। यदि कोई पूछे कि एक दिन पूर्व इसी समय तुम क्या कर रहे थे, तो सामान्य व्यक्ति के लिए इसका तत्काल उत्तर दे पाना कठिन होगा। उसे इसको स्मरण करने के लिए अपनी बुद्धि को कुरेदना पड़ेगा कि वह कल इसी समय क्या कर रहा था। फिर भी लोग प्रायः अपने को ईश्वर या कृष्ण घोषित करते रहते हैं। मनुष्य को ऐसी निरर्थक घोषणाओं से भ्रमित नहीं होना चाहिए। अब भगवान् दुबारा अपनी प्रकृति या स्वरूप की व्याख्या करते हैं। प्रकृति का अर्थ स्वभाव तथा स्वरूप दोनों है। भगवान् कहते हैं कि वे अपने ही शरीर में प्रकट होते हैं। वे सामान्य जीव की भाँति शरीर-परिवर्तन नहीं करते। इस जन्म में बद्धजीव का एक प्रकार का शरीर हो सकता है, किन्तु अगले जन्म में दूसरा शरीर रहता है। भौतिक जगत् में जीव का कोई स्थायी शरीर नहीं है, अपितु वह एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण करता रहता है। किन्तु भगवान् ऐसा नहीं करते। जब भी वे प्रकट होते हैं तो अपनी अन्तरंगा शक्ति से वे अपने उसी आद्य शरीर में प्रकट होते हैं। दूसरे शब्दों में, श्रीकृष्ण इस जगत् में अपने आदि शाश्वत स्वरूप में दो भुजाओं में बाँसुरी धारण किये अवतरित होते हैं। वे इस भौतिक जगत् से निष्कलुषित रह कर अपने शाश्वत शरीर सहित प्रकट होते हैं। यद्यपि वे अपने उसी दिव्य शरीर में प्रकट होते हैं और ब्रह्माण्ड के स्वामी होते हैं तो भी ऐसा लगता है कि वे सामान्य

जीव की भाँति प्रकट हो रहे हैं। यद्यपि उनका शरीर भौतिक शरीर की भाँति क्षीण नहीं होता फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् कृष्ण बालपन से कुमारावस्था तथा कुमारावस्था से तरुणावस्था प्राप्त करते हैं। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि वे कभी युवावस्था से आगे नहीं बढ़ते। कुरुक्षेत्र युद्ध के समय उनके अनेक पौत्र थे या दूसरे शब्दों में, वे भौतिक गणना के अनुसार काफी वृद्ध थे। फिर भी वे बीस-पच्चीस वर्ष के युवक जैसे लगते थे। हमें कृष्ण की वृद्धावस्था का कोई चित्र नहीं दिखता, क्योंकि वे कभी भी हमारे समान वृद्ध नहीं होते यद्यपि वे तीनों काल में—भूत, वर्तमान तथा भविष्यकाल में—सबसे वयोवृद्ध पुरुष हैं। न तो उनका शरीर और न ही बुद्धि कभी क्षीण होती या बदलती है। अतः यह स्पष्ट है कि इस जगत् में रहते हुए भी वे उसी अजन्मा सच्चिदानन्द रूप वाले हैं, जिनके दिव्य शरीर तथा बुद्धि में कोई परिवर्तन नहीं होता। वस्तुतः उनका आविर्भाव और तिरोभाव सूर्य के उदय तथा अस्त के समान है जो हमारे सामने से घूमता हुआ हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है। जब सूर्य हमारी दृष्टि से ओझल रहता है तो हम सोचते हैं कि सूर्य अस्त हो गया है और जब वह हमारे समक्ष होता है तो हम सोचते हैं कि वह क्षितिज में है। वस्तुतः सूर्य स्थिर है, किन्तु अपनी अपूर्ण एवं त्रुटिपूर्ण इन्द्रियों के कारण हम सूर्य को उदय और अस्त होते परिकल्पित करते हैं। और चूँकि भगवान् का प्राकट्य तथा तिरोधान सामान्य जीव से भिन्न हैं अतः स्पष्ट है कि वे शाश्वत हैं, अपनी अन्तरंगा शक्ति के कारण आनन्दस्वरूप हैं और इस भौतिक प्रकृति द्वारा कभी कलुषित नहीं होते। वेदों द्वारा भी पुष्टि की जाती है कि भगवान् अजन्मा होकर भी अनेक रूपों में अवतरित होते रहते हैं। वैदिक साहित्यों से भी पुष्टि होती है कि यद्यपि भगवान् जन्म लेते प्रतीत होते हैं, किन्तु तो भी वे शरीर-परिवर्तन नहीं करते। *श्रीमद्भागवत* में वे अपनी माता के समक्ष नारायण रूप में चार भुजाओं तथा षड्ऐश्वर्यों से युक्त होकर प्रकट होते हैं। उनका आद्य शाश्वत रूप में प्राकट्य उनकी अहैतुकी कृपा है जो जीवों को प्रदान की जाती है जिससे वे भगवान् के यथारूप में अपना ध्यान केन्द्रित कर सकें न कि निर्विशेषवादियों द्वारा मनोधर्म या कल्पनाओं पर आधारित रूप में। विश्वकोश के अनुसार माया या आत्म-माया शब्द भगवान् की अहैतुकी कृपा का सूचक है। भगवान् अपने समस्त पूर्व आविर्भाव-तिरोभावों से अवगत रहते हैं, किन्तु सामान्य जीव को जैसे ही नवीन शरीर प्राप्त होता है वह अपने पूर्व शरीर के विषय में सब कुछ भूल जाता है। वे समस्त जीवों के स्वामी हैं, क्योंकि इस धरा पर रहते हुए वे आश्चर्यजनक तथा अतिमानवीय लीलाएँ करते रहते हैं। अतः भगवान् निरन्तर वही परमसत्य रूप हैं और उनके स्वरूप तथा आत्मा में या उनके गुण तथा शरीर में कोई अन्तर नहीं होता। अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि इस संसार में भगवान् क्यों आविर्भूत और तिरोभूत होते रहते हैं? अगले श्लोक में इसकी व्याख्या की गई है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ ७॥

यदा यदा—जब भी और जहाँ भी, **हि**—निश्चय ही; **धर्मस्य**—धर्म की;

भवति–होती है; **भारत**–हे भरतवंशी; **अभ्युत्थानम्**–प्रधानता; **अधर्मस्य**–अधर्म की; **तदा**–उस समय; **आत्मानम्**–अपने को; **सृजामि**–प्रकट करता हूँ; **अहम्**–मैं।

हे भरतवंशी! जब भी और जहाँ भी धर्म का पतन होता है और अधर्म की प्रधानता होने लगती है, तब तब मैं अवतार लेता हूँ।

तात्पर्य : यहाँ पर *सृजामि* शब्द महत्त्वपूर्ण है। सृजामि सृष्टि के अर्थ में नहीं प्रयुक्त हो सकता, क्योंकि पिछले श्लोक के अनुसार भगवान् के स्वरूप या शरीर की सृष्टि नहीं होती, क्योंकि उनके सारे स्वरूप शाश्वत रूप से विद्यमान रहने वाले हैं। अतः *सृजामि* का अर्थ है कि भगवान् स्वयं यथारूप में प्रकट होते हैं। यद्यपि भगवान् कार्यक्रमानुसार अर्थात् ब्रह्मा के एक दिन में सातवें मनु के २८वें युग में द्वापर के अन्त में प्रकट होते हैं, किन्तु वे इस नियम का पालन करने के लिए बाध्य नहीं हैं, क्योंकि वे स्वेच्छा से कर्म करने के लिए स्वतन्त्र हैं। अतः जब भी अधर्म की प्रधानता तथा धर्म का लोप होने लगता है, तो वे स्वेच्छा से प्रकट होते हैं। धर्म के नियम वेदों में दिये हुए हैं और यदि इन नियमों के पालन में कोई त्रुटि आती है तो मनुष्य अधार्मिक हो जाता है। *श्रीमद्भागवत* में बताया गया है कि ऐसे नियम भगवान् के नियम हैं। केवल भगवान् ही किसी धर्म की व्यवस्था कर सकते हैं। वेद भी मूलतः ब्रह्मा के हृदय में से भगवान् द्वारा उच्चरित माने जाते हैं। अतः धर्म के नियम भगवान् के प्रत्यक्ष आदेश हैं (*धर्मं तु साक्षाद्भगवत्प्रणीतम्*)। *भगवद्गीता* में आद्योपान्त इन्हीं नियमों का संकेत है। वेदों का उद्देश्य परमेश्वर के आदेशानुसार ऐसे नियमों की स्थापना करना है और *गीता* के अन्त में भगवान् स्वयं आदेश देते हैं कि सर्वोच्च धर्म उनकी ही शरण ग्रहण करना है। वैदिक नियम जीव को पूर्ण शरणागति की ओर अग्रसर कराने वाले हैं और जब भी असुरों द्वारा इन नियमों में व्यवधान आता है तभी भगवान् प्रकट होते हैं। *श्रीमद्भागवत* पुराण से हम जानते हैं कि बुद्ध कृष्ण के अवतार हैं, जिनका प्रादुर्भाव उस समय हुआ जब भौतिकतावाद का बोलबाला था और भौतिकतावादी लोग वेदों को प्रमाण बनाकर उसकी आड़ ले रहे थे। यद्यपि वेदों में विशिष्ट कार्यों के लिए पशु बलि के विषय में कुछ सीमित विधान थे, किन्तु आसुरी वृत्तिवाले लोग वैदिक नियमों का सन्दर्भ दिये बिना पशु-बलि को अपनाये हुए थे। भगवान् बुद्ध इस अनाचार को रोकने तथा अहिंसा के वैदिक नियमों की स्थापना करने के लिए अवतरित हुए। अतः भगवान् के प्रत्येक अवतार का विशेष उद्देश्य होता है और इन सबका वर्णन शास्त्रों में हुआ है। यह तथ्य नहीं है कि केवल भारत की धरती में भगवान् अवतरित होते हैं। वे कहीं भी और किसी भी काल में इच्छा होने पर प्रकट हो सकते हैं। वे प्रत्येक अवतार लेने पर धर्म के विषय में उतना ही कहते हैं, जितना कि उस परिस्थिति में जन-समुदाय विशेष समझ सकता है। लेकिन उद्देश्य एक ही रहता है—लोगों को ईशभावनाभावित करना तथा धार्मिक नियमों के प्रति आज्ञाकारी बनाना। कभी वे स्वयं प्रकट होते हैं तो कभी अपने प्रामाणिक प्रतिनिधि को अपने पुत्र या दास के रूप में भेजते हैं, या वेश बदल कर स्वयं ही प्रकट होते हैं।

भगवद्गीता के सिद्धान्त अर्जुन से कहे गये थे, अतः वे किसी भी महापुरुष के प्रति हो सकते थे, क्योंकि अर्जुन संसार के अन्य भागों के सामान्य पुरुषों की अपेक्षा अधिक

जागरुक था। दो और दो मिलकर चार होते हैं, यह गणितीय नियम प्राथमिक कक्षा के विद्यार्थी के लिए उतना ही सत्य है, जितना कि उच्च कक्षा के विद्यार्थी के लिए। तो भी गणित उच्चस्तर तथा निम्नस्तर का होता है। अतः भगवान् प्रत्येक अवतार में एक-जैसे सिद्धान्तों की शिक्षा देते हैं, जो परिस्थितियों के अनुसार उच्च या निम्न प्रतीत होते हैं। जैसा कि आगे बताया जाएगा धर्म के उच्चतर सिद्धान्त चारों वर्णाश्रमों को स्वीकार करने से प्रारम्भ होते हैं। अवतारों का एकमात्र उद्देश्य सर्वत्र कृष्णभावनामृत को उद्बोधित करना है। परिस्थिति के अनुसार यह भावनामृत प्रकट तथा अप्रकट होता है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥८॥

परित्राणाय–उद्धार के लिए, साधूनाम्–भक्तों के; विनाशाय–संहार के लिए; च–तथा, दुष्कृताम्–दुष्टों के, धर्म–धर्म के; संस्थापन-अर्थाय–पुन स्थापित करने के लिए; सम्भवामि–प्रकट होता हूँ; युगे–युग; युगे–युग में।

भक्तों का उद्धार करने, दुष्टों का विनाश करने तथा धर्म की फिर से स्थापना करने के लिए मैं हर युग में प्रकट होता हूँ।

तात्पर्य : भगवद्गीता के अनुसार साधु (पवित्र पुरुष) कृष्णभावनाभावित व्यक्ति है। अधार्मिक लगने वाले व्यक्ति मे भी यदि पूर्ण कृष्णचेतना हो, तो उसे साधु समझना चाहिए। *दुष्कृताम्* उन व्यक्तियो के लिए आया है जो कृष्णभावनामृत की परवाह नहीं करते। ऐसे दुष्कृताम् या उपद्रवी, मूर्ख तथा अधम व्यक्ति कहलाते हैं, भले ही वे सासारिक शिक्षा से विभूषित क्यों न हों। इसके विपरीत यदि कोई शत-प्रतिशत कृष्णभावनामृत मे लगा रहता है तो वह विद्वान् या सुसस्कृत न भी हो फिर भी वह साधु माना जाता है। जहाँ तक अनीश्वरवादियों का प्रश्न है, भगवान् के लिए आवश्यक नहीं कि वे इनके विनाश के लिए उस रूप मे अवतरित हों जिस रूप में वे रावण तथा कस का वध करने के लिए हुए थे। भगवान् के ऐसे अनेक अनुचर हैं जो असुरों का सहार करने में सक्षम हैं। किन्तु भगवान् तो अपने उन निष्काम भक्तों को तुष्ट करने के लिए विशेष रूप से अवतार लेते हैं जो असुरों द्वारा निरन्तर तग किये जाते हैं। असुर भक्त को तग करता है, भले ही वह उसका सगा-सम्बन्धी क्यों न हो। यद्यपि प्रह्लाद महाराज हिरण्यकशिपु के पुत्र थे, किन्तु तो भी वे अपने पिता द्वारा उत्पीडित थे। इसी प्रकार कृष्ण की माता देवकी यद्यपि कस की बहन थीं, किन्तु उन्हें तथा उनके पति वसुदेव को इसलिए दण्डित किया गया था क्योंकि उनसे कृष्ण को जन्म लेना था। अतः भगवान् कृष्ण मुख्यत. देवकी के उद्धार करने के लिए प्रकट हुए थे, कस को मारने के लिए नहीं। किन्तु ये दोनों कार्य एकसाथ सम्पन्न हो गये। अतः यह कहा जाता है कि भगवान् भक्त का उद्धार करने तथा दुष्ट असुरों का सहार करने के लिए विभिन्न अवतार लेते हैं।

कृष्णदास कविराज कृत *चैतन्य चरितामृत* के निम्नलिखित श्लोकों (मध्य २०.२६३-२६४) से अवतार के सिद्धान्तों का साराश प्रकट होता है—

सृष्टिहेतु एइ मूर्ति प्रपञ्चे अवतरे।
सेइ ईश्वरमूर्ति 'अवतार' नाम धरे॥
मायातीत परव्योमे सबार अवस्थान।
विश्वे अवतरि' धरे 'अवतार' नाम॥

"अवतार अथवा ईश्वर का अवतार भगवद्धाम से भौतिक प्राक्ट्य हेतु होता है। ईश्वर का वह विशिष्ट रूप जो इस प्रकार अवतरित होता है अवतार कहलाता है। ऐसे अवतार भगवद्धाम में स्थित रहते हैं। जब वे भौतिक सृष्टि में उतरते हैं, तो उन्हें अवतार कहा जाता है।"

अवतार कई तरह के होते हैं यथा पुरुषावतार, गुणावतार, लीलावतार, शक्त्यावेश अवतार, मन्वन्तर अवतार तथा युगावतार—इन सबका इस ब्रह्माण्ड में क्रमानुसार अवतरण होता है। किन्तु भगवान् कृष्ण आदि भगवान् हैं और समस्त अवतारों के उद्गम हैं। भगवान् श्रीकृष्ण शुद्ध भक्तों की चिन्ताओं को दूर करने के विशिष्ट प्रयोजन से अवतार लेते हैं, जो उन्हें उनकी मूल वृन्दावन लीलाओं के रूप में देखने के उत्सुक रहते हैं। अतः कृष्ण अवतार का मूल उद्देश्य अपने निष्काम भक्तों को प्रसन्न करना है।

भगवान् का वचन है कि वे प्रत्येक युग में अवतरित होते रहते हैं। इससे सूचित होता है कि वे कलियुग में भी अवतार लेते हैं। जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि कलियुग के अवतार भगवान् चैतन्य महाप्रभु हैं जिन्होंने संकीर्तन आन्दोलन के द्वारा कृष्णपूजा का प्रसार किया और पूरे भारत में कृष्णभावनामृत का विस्तार किया। उन्होंने यह भविष्यवाणी की कि संकीर्तन की यह संस्कृति सारे विश्व के नगर-नगर तथा ग्राम-ग्राम में फैलेगी। भगवान् चैतन्य को गुप्त रूप में, किन्तु प्रकट रूप में नहीं, उपनिषदों, महाभारत तथा भागवत जैसे शास्त्रों के गुह्य अंशों में वर्णित किया गया है। भगवान् कृष्ण के भक्तगण भगवान् चैतन्य के संकीर्तन आन्दोलन द्वारा अत्यधिक आकर्षित रहते हैं। भगवान् का यह अवतार दुष्टों का विनाश नहीं करता, अपितु अपनी अहैतुकी कृपा से उनका उद्धार करता है।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥९॥

जन्म—जन्म; कर्म—कर्म; च—भी; मे—मेरे; दिव्यम्—दिव्य; एवम्—इस प्रकार; यः—जो कोई; वेत्ति—जानता है; तत्त्वतः—वास्तविकता में; त्यक्त्वा—छोड़कर; देहम्—इस शरीर को; पुनः—फिर; जन्म—जन्म; न—कभी नहीं; एति—प्राप्त करता है; माम्—मुझको; एति—प्राप्त करता है; सः—वह; अर्जुन—हे अर्जुन।

हे अर्जुन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह इस शरीर को छोड़ने पर इस भौतिक संसार में पुनः जन्म नहीं लेता, अपितु मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : छठे श्लोक में भगवान् के दिव्यधाम से उनके अवतरण की व्याख्या हो चुकी है। जो मनुष्य भगवान् के आविर्भाव के सत्य को समझ लेता है वह इस भवबन्धन से

मुक्त हो जाता है और इस शरीर को छोड़ते ही वह तुरन्त भगवान् के धाम को लौट जाता है। भवबन्धन से जीव की ऐसी मुक्ति सरल नहीं है। निर्विशेषवादी तथा योगीजन पर्याप्त कष्ट तथा अनेकानेक जन्मों के बाद ही मुक्ति प्राप्त कर पाते हैं। इतने पर भी उन्हें जो मुक्ति भगवान् की निराकार ब्रह्मज्योति में तादात्म्य प्राप्त करने के रूप में मिलती है, वह आंशिक होती है और इस भौतिक संसार में लौट आने का भय बना रहता है। किन्तु भगवान् के शरीर की दिव्य प्रकृति तथा उनके कार्यकलापों को समझने मात्र से भक्त इस शरीर का अन्त होने पर भगवद्धाम को प्राप्त करता है और उसे इस संसार में लौट आने का भय नहीं रह जाता। *ब्रह्मसंहिता* में (५.३३) यह बताया गया है कि भगवान् के अनेक रूप तथा अवतार हैं—*अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्।* यद्यपि भगवान् के अनेक दिव्य रूप हैं, किन्तु फिर भी वे अद्वय भगवान् हैं। इस तथ्य को विश्वासपूर्वक समझना चाहिए, यद्यपि यह संसारी विद्वानों तथा ज्ञानयोगियों के लिए अगम्य है। जैसा कि वेदों (*पुरुष बोधिनी उपनिषद्*) में कहा गया है—

एको देवो नित्यलीलानुरक्तो भक्तव्यापी हृद्यन्तरात्मा॥

"एक भगवान् अपने निष्काम भक्तों के साथ अनेकानेक दिव्य रूपों में सदैव सम्बन्धित हैं।" इस वेदवचन की स्वयं भगवान् ने *गीता* के इस श्लोक में पुष्टि की है। जो इस सत्य को वेद तथा भगवान् के प्रमाण के आधार पर स्वीकार करता है और शुष्क चिन्तन में समय नहीं गँवाता वह मुक्ति की चरम सिद्धि प्राप्त करता है। इस सत्य को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करने से मनुष्य निश्चित रूप से मुक्ति-लाभ कर सकता है। इस प्रसंग में वैदिकवाक्य *तत्त्वमसि* लागू होता है। जो कोई भगवान् कृष्ण को परब्रह्म करके जानता है या उनसे यह कहता है कि "आप वही परब्रह्म श्रीभगवान् हैं" वह निश्चित रूप से अविलम्ब मुक्त हो जाता है, फलस्वरूप उसे भगवान् की दिव्यसंगति की प्राप्ति निश्चित हो जाती है। दूसरे शब्दों में, ऐसा श्रद्धालु भगवद्भक्त सिद्धि प्राप्त करता है। इसकी पुष्टि निम्नलिखित वेदवचन से होती है—

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

"श्रीभगवान् को जान लेने से ही मनुष्य जन्म तथा मृत्यु से मुक्ति की पूर्ण अवस्था प्राप्त कर सकता है। इस सिद्धि को प्राप्त करने का कोई अन्य विकल्प नहीं है।" (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ३.८) इसका कोई विकल्प नहीं है का अर्थ यही है कि जो श्रीकृष्ण को श्रीभगवान् के रूप में नहीं मानता वह अवश्य ही तमोगुणी है और मधुपात्र को केवल बाहर से चाटकर या *भगवद्गीता* की विद्वत्तापूर्ण संसारी विवेचना करके मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसे शुष्क दार्शनिक भौतिक जगत में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले हो सकते हैं, किन्तु वे मुक्ति के अधिकारी नहीं होते। ऐसे अभिमानी संसारी विद्वानों को भगवद्भक्त की अहैतुकी कृपा की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। अतः मनुष्य को चाहिए कि श्रद्धा तथा ज्ञान के साथ कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करे और सिद्धि प्राप्त करने का यही उपाय है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

वीत–मुक्त; **राग**–आसक्ति; **भय**–भय; **क्रोधाः**–तथा क्रोध से; **मत्-मया**–पूर्णतया मुझमें; **माम्**–मुझमें; **उपाश्रिताः**–पूर्णतया स्थित; **बहवः**–अनेक; **ज्ञान**–ज्ञान की; **तपसा**–तपस्या से; **पूताः**–पवित्र हुआ; **मत्-भावम्**–मेरे प्रति दिव्य प्रेम को; **आगताः**–प्राप्त।

आसक्ति, भय तथा क्रोध से मुक्त होकर, मुझमें पूर्णतया तन्मय होकर और मेरी शरण में आकर बहुत से व्यक्ति भूत काल में मेरे ज्ञान से पवित्र हो चुके हैं। इस प्रकार से उन सबों ने मेरे प्रति दिव्यप्रेम को प्राप्त किया है।

तात्पर्य : जैसा कि पहले कहा जा चुका है विपयों में आसक्त व्यक्ति के लिए परमसत्य के स्वरूप को समझ पाना अत्यन्त कठिन है। सामान्यतया जो लोग देहात्मवुद्धि में आसक्त होते हैं, वे भौतिकतावाद में इतने लीन रहते हैं कि उनके लिए यह समझ पाना असम्भव सा है कि परमात्मा व्यक्ति भी हो सकता है। ऐसे भौतिकतावादी व्यक्ति इसकी कल्पना तक नहीं कर पाते कि ऐसा भी दिव्य शरीर है जो नित्य तथा सच्चिदानन्दमय है। भौतिकतावादी धारणा के अनुसार शरीर नाशवान्, अज्ञानमय तथा अत्यन्त दुखमय होता है। अतः जव लोगों को भगवान् के साकार रूप के विषय में वताया जाता है तो उनके मन में शरीर की यही धारणा वनी रहती है। ऐसे भौतिकतावादी पुरुपों के लिए विराट भौतिक जगत् का स्वरूप ही परमतत्त्व है। फलस्वरूप वे परमेश्वर को निराकार मानते हैं और भौतिकता में इतने तल्लीन रहते हैं कि भौतिक पदार्थ से मुक्ति के वाद भी अपना स्वरूप वनाये रखने के विचार से डरते हैं। जव उन्हें यह वताया जाता है कि आध्यात्मिक जीवन भी व्यक्तिगत तथा साकार होता है तो वे पुनः व्यक्ति वनने से भयभीत हो उठते हैं, फलतः वे निराकार शून्य में तदाकार होना पसन्द करते हैं। सामान्यतया वे जीवों की तुलना समुद्र के वुलवुलों से करते हैं, जो टूटने पर समुद्र में ही लीन हो जाते हैं। पृथक् व्यक्तित्व से रहित आध्यात्मिक जीवन की यह चरम सिद्धि है। यह जीवन की भयावह अवस्था है, जो आध्यात्मिक जीवन के पूर्णज्ञान से रहित है। इसके अतिरिक्त ऐसे वहुत से मनुष्य हैं जो आध्यात्मिक जीवन को तनिक भी नहीं समझ पाते। अनेक वादों तथा दार्शनिक चिन्तन की विविध विसंगतियों से परेशान होकर वे ऊव उठते हैं या क्रुद्ध हो जाते हैं और मूर्खतावश यह निष्कर्प निकालते हैं कि परम कारण जैसा कुछ नहीं है, अतः प्रत्येक वस्तु अन्ततोगत्वा शून्य है। ऐसे लोग जीवन की रुग्णावस्था में होते हैं। कुछ लोग भौतिकता में इतने आसक्त रहते हैं कि वे आध्यात्मिक जीवन की ओर कोई ध्यान नहीं देते और कुछ लोग तो निराशावश सभी प्रकार के आध्यात्मिक चिन्तनों से क्रुद्ध होकर प्रत्येक वस्तु पर अविश्वास करने लगते हैं। इस अन्तिम कोटि के लोग किसी न किसी मादक वस्तु का सहारा लेते हैं और उनके मति-विभ्रम को कभी-कभी आध्यात्मिक दृष्टि मान लिया जाता है। मनुष्य को भौतिक जगत् के प्रति आसक्ति की तीनों अवस्थाओं से छुटकारा पाना होता है—ये हैं आध्यात्मिक जीवन की उपेक्षा, आध्यात्मिक साकार रूप का भय तथा जीवन की हताशा से उत्पन्न शून्यवाद की कल्पना।

जीवन की इन तीनों अवस्थाओं से छुटकारा पाने के लिए प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में भगवान् की शरण ग्रहण करना और भक्तिमय जीवन के नियम तथा विधि-विधानों का पालन करना आवश्यक है। भक्तिमय जीवन की अन्तिम अवस्था *भाव* या दिव्य ईश्वरीय प्रेम कहलाती है।

भक्तिरसामृतसिन्धु (१.४.१५-१६)के अनुसार भक्ति का विज्ञान इस प्रकार है—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसंगोऽथ भजनक्रिया
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः।
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः॥

"प्रारम्भ में आत्म-साक्षात्कार की सामान्य इच्छा होनी चाहिए। इससे मनुष्य ऐसे व्यक्तियों की संगति करने का प्रयास करता है जो आध्यात्मिक दृष्टि से उठे हुए हैं। अगली अवस्था में गुरु से दीक्षित होकर नवदीक्षित भक्त उसके आदेशानुसार भक्तियोग प्रारम्भ करता है। इस प्रकार सद्गुरु के निर्देश में भक्ति करते हुए वह समस्त भौतिक आसक्ति से मुक्त हो जाता है, उसके आत्म-साक्षात्कार में स्थिरता आती है और वह श्रीभगवान् कृष्ण के विषय में श्रवण करने के लिए रुचि विकसित करता है। इस रुचि से आगे चलकर कृष्णभावनामृत में आसक्ति उत्पन्न होती है जो भाव में अथवा भगवत्प्रेम के प्रथम सोपान में परिपक्व होती है। ईश्वर के प्रति प्रेम ही जीवन की सार्थकता है।" प्रेम-अवस्था में भक्त भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर लीन रहता है। अतः भक्ति की मन्द विधि से प्रामाणिक गुरु के निर्देश में सर्वोच्च अवस्था प्राप्त की जा सकती है और समस्त भौतिक आसक्ति, व्यक्तिगत आध्यात्मिक स्वरूप के भय तथा शून्यवाद से उत्पन्न हताशा से मुक्त हुआ जा सकता है। तभी मनुष्य को अन्त में भगवान् के धाम की प्राप्ति हो सकती है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥११॥

ये—जो; **यथा**—जिस तरह; **माम्**—मेरी; **प्रपद्यन्ते**—शरण में जाते हैं; **तान्**—उनको; **तथा**—उसी तरह; **एव**—निश्चय ही; **भजामि**—फल देता हूँ; **अहम्**—मैं; **मम**—मेरे; **वर्त्म**—पथ का; **अनुवर्तन्ते**—अनुगमन करते हैं; **मनुष्याः**—सारे मनुष्य; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **सर्वशः**—सभी प्रकार से।

जिस भाव से सारे लोग मेरी शरण ग्रहण करते हैं, उसी के अनुरूप मैं उन्हें फल देता हूँ। हे पार्थ! प्रत्येक व्यक्ति सभी प्रकार से मेरे पथ का अनुगमन करता है।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति कृष्ण को उनके विभिन्न स्वरूपों में खोज रहा है। भगवान् श्रीकृष्ण को अंशतः उनके निर्विशेष ब्रह्मज्योति तेज में तथा प्रत्येक वस्तु के कण-कण में रहने वाले सर्वव्यापी परमात्मा के रूप में अनुभव किया जाता है, लेकिन कृष्ण का पूर्ण साक्षात्कार तो उनके शुद्ध भक्त ही कर पाते हैं। फलतः कृष्ण प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति के विषय हैं और इस तरह कोई भी और सभी अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार तुष्ट होते हैं। दिव्य जगत् में भी कृष्ण अपने शुद्ध भक्तों के साथ दिव्य भाव से विनिमय

हैं जिस तरह कि भक्त उन्हें चाहता है। कोई एक भक्त कृष्ण को परम स्वामी के रूप में चाह सकता है, दूसरा अपने सखा के रूप में, तीसरा अपने पुत्र के रूप में और चौथा अपने प्रेमी के रूप में। कृष्ण सभी भक्तों को समान रूप से उनके प्रेम की प्रगाढ़ता के अनुसार फल देते हैं। भौतिक जगत् में भी ऐसी ही विनिमय की अनुभूतियाँ होती हैं और वे विभिन्न प्रकार के भक्तों के अनुसार भगवान् द्वारा समभाव से विनिमय की जाती हैं। शुद्ध भक्त यहाँ पर और दिव्यधाम में भी कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त करते हैं और भगवान् की साकार सेवा कर सकते हैं। इस तरह वे उनकी प्रेमाभक्ति का दिव्य आनन्द प्राप्त करते हैं। किन्तु जो निर्विशेषवादी हैं और जो जीवात्मा के अस्तित्व को मिटाकर आध्यात्मिक आत्मघात करना चाहते हैं, कृष्ण उनको भी अपने तेज में लीन करके उनकी सहायता करते हैं। ऐसे निर्विशेषवादी सच्चिदानन्द भगवान् को स्वीकार नहीं करते, फलतः वे अपने व्यक्तित्व को मिटाकर भगवान् की दिव्य सगुण भक्ति के आनन्द को प्राप्त नहीं करते। उनमें से कुछ जो निर्विशेष सत्ता में दृढ़तापूर्वक स्थित नहीं हो पाते, वे अपनी कार्य करने की सुप्त इच्छाओं को प्रदर्शित करने के लिए इस भौतिक क्षेत्र में वापस आते हैं। उन्हें वैकुण्ठलोक में प्रवेश करने नहीं दिया जाता, किन्तु उन्हें भौतिक लोक में कार्य करने का अवसर प्रदान किया जाता है। जो सकामकर्मी हैं, भगवान् उन्हें यज्ञेश्वर के रूप में उनके कर्मों का वांछित फल देते हैं। जो योगी हैं और योगशक्ति की खोज में रहते हैं, उन्हें योगशक्ति प्रदान करते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति की सफलता भगवान् की कृपा पर आश्रित रहती है और समस्त प्रकार की आध्यात्मिक विधियाँ एक ही पथ में सफलता की विभिन्न कोटियाँ हैं। अतः जब तक कोई कृष्णभावनामृत की सर्वोच्च सिद्धि तक नहीं पहुँच जाता तब तक सारे प्रयास अपूर्ण रहते हैं, जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में (२.३.१०) कहा गया है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

"मनुष्य चाहे निष्काम हो या फल का इच्छुक हो या मुक्ति का इच्छुक ही क्यों न हो, उसे पूरे सामर्थ्य से भगवान् की सेवा करनी चाहिए जिससे उसे पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो सके, जिसका पर्यवसान कृष्णभावनामृत में होता है।"

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥१२॥

काङ्क्षन्तः—चाहते हुए; **कर्मणाम्**—सकाम कर्मों की; **सिद्धिम्**—सिद्धि; **यजन्ते**—यज्ञों द्वारा पूजा करते हैं; **इह**—इस भौतिक जगत् में; **देवताः**—देवतागण; **क्षिप्रम्**—तुरन्त ही; **हि**—निश्चय ही; **मानुषे**—मानव समाज में; **लोके**—इस संसार में; **सिद्धिः**—सिद्धि, सफलता; **भवति**—होती है; **कर्म-जा**—सकाम कर्म से।

इस संसार में मनुष्य सकाम कर्मों में सिद्धि चाहते हैं, फलस्वरूप वे देवताओं की पूजा करते हैं। निस्सन्देह इस संसार में मनुष्यों को सकाम कर्म का फल शीघ्र प्राप्त होता है।

तात्पर्य : इस जगत् के देवताओं के विषय में भ्रान्त धारणा है और विद्वत्ता का दम्भ करने वाले अल्पज्ञ मनुष्य इन देवताओं को परमेश्वर के विभिन्न रूप मान बैठते हैं। वस्तुतः ये देवता ईश्वर के विभिन्न रूप नहीं होते, किन्तु वे ईश्वर के विभिन्न अंश होते हैं। ईश्वर तो एक है, किन्तु अंश अनेक हैं। वेदों का कथन है—*नित्यो नित्यानाम्*। ईश्वर एक है। *ईश्वरः परमः कृष्णः*। कृष्ण ही एकमात्र परमेश्वर हैं और सभी देवताओं को इस भौतिक जगत् का प्रबन्ध करने के लिए शक्तियाँ प्राप्त हैं। ये देवता जीवात्माएँ हैं (*नित्यानाम्*) जिन्हें विभिन्न मात्रा में भौतिक शक्ति प्राप्त है। वे कभी परमेश्वर—नारायण, विष्णु या कृष्ण के तुल्य नहीं हो सकते। जो व्यक्ति ईश्वर तथा देवताओं को एक स्तर पर सोचता है, वह नास्तिक या पाषंडी कहलाता है। यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा शिवजी जैसे बड़े-बड़े देवता भी परमेश्वर की समता नहीं कर सकते। वास्तव में ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं द्वारा भगवान् की पूजा की जाती है (*शिवविरिञ्चिनुतम्*)। तो भी आश्चर्य की बात यह है कि अनेक मूर्ख लोग मनुष्यों के नेताओं की पूजा उन्हें अवतार मान कर करते हैं। *इह देवताः* पद इस संसार के शक्तिशाली मनुष्य या देवता के लिए आया है, लेकिन नारायण, विष्णु या कृष्ण जैसे भगवान् इस संसार के नहीं हैं। वे भौतिक सृष्टि से परे रहने वाले हैं। निर्विशेषवादियों के अग्रणी श्रीपाद शंकराचार्य तक मानते हैं कि नारायण या कृष्ण इस भौतिक सृष्टि से परे हैं फिर भी मूर्ख लोग (*हृतज्ञान*) देवताओं की पूजा करते हैं, क्योंकि वे तत्काल फल चाहते हैं। उन्हें फल मिलता भी है, किन्तु वे यह नहीं जानते कि ऐसे फल क्षणिक होते हैं और अल्पज्ञ मनुष्यों के लिए हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति कृष्णभावनामृत में स्थित रहता है। उसे किसी तत्काल क्षणिक लाभ के लिए किसी तुच्छ देवता की पूजा करने की आवश्यकता नहीं रहती। इस संसार के देवता तथा उनके पूजक, इस संसार के संहार के साथ ही विनष्ट हो जाएँगे। देवताओं के वरदान भी भौतिक तथा क्षणिक होते हैं। यह भौतिक संसार तथा इसके निवासी, जिनमें देवता तथा उनके पूजक भी सम्मिलित हैं, विराट सागर में बुलबुलों के समान हैं। किन्तु इस संसार में मानव समाज क्षणिक वस्तुओं—यथा सम्पत्ति, परिवार तथा भोग की सामग्री के पीछे पागल रहता है। ऐसी क्षणिक वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए लोग देवताओं की या मानव समाज के शक्तिशाली व्यक्तियों की पूजा करते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी राजनीतिक नेता की पूजा करके सरकार में मन्त्रिपद प्राप्त कर लेता है, तो वह सोचता है कि उसने महान वरदान प्राप्त कर लिया है। इसलिए सभी व्यक्ति तथाकथित नेताओं को साष्टांग प्रणाम करते हैं, जिससे वे क्षणिक वरदान प्राप्त कर सकें और सचमुच उन्हें ऐसी वस्तुएँ मिल भी जाती हैं। ऐसे मूर्ख व्यक्ति इस संसार के कष्टों के स्थायी निवारण के लिए कृष्णभावनामृत में अभिरुचि नहीं दिखाते। वे सभी इन्द्रियभोग के पीछे दीवाने रहते हैं और थोड़े से इन्द्रियसुख के लिए वे शक्तिप्रदत्त-जीवों की पूजा करते हैं, जिन्हें देवता कहते हैं। यह श्लोक इंगित करता है कि विरले लोग ही कृष्णभावनामृत में रुचि लेते हैं। अधिकांश लोग भौतिक भोग में रुचि लेते हैं, फलस्वरूप वे किसी न किसी शक्तिशाली व्यक्ति की पूजा करते हैं।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥१३॥

चातुः-वर्ण्यम्—मानव समाज के चार विभाग; **मया**—मेरे द्वारा; **सृष्टम्**—उत्पन्न किये हुए; **गुण**—गुण; **कर्म**—तथा कर्म का; **विभागशः**—विभाजन के अनुसार; **तस्य**—उसका; **कर्तारम्**—जनक; **अपि**—यद्यपि; **माम्**—मुझको; **विद्धि**—जानो; **अकर्तारम्**—न करने वाले के रूप में; **अव्ययम्**—अपरिवर्तनीय को।

प्रकृति के तीनों गुणों और उनसे सम्बद्ध कर्म के अनुसार मेरे द्वारा मानव समाज के चार विभाग रचे गये। यद्यपि मैं इस व्यवस्था का स्रष्टा हूँ, किन्तु तुम यह जान लो कि मैं इतने पर भी अव्यय अकर्ता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् प्रत्येक वस्तु के स्रष्टा हैं। प्रत्येक वस्तु उनसे उत्पन्न है, उनके ही द्वारा पालित है और प्रलय के वाद प्रत्येक वस्तु उन्हीं में समा जाती है। अतः वे ही वर्णाश्रम व्यवस्था के स्रष्टा हैं जिसमें सर्वप्रथम वुद्धिमान् मनुष्यों का वर्ग आता है जो सतोगुणी होने के कारण ब्राह्मण कहलाते हैं। द्वितीय वर्ग प्रशासक वर्ग का है जिन्हें रजोगुणी होने के कारण क्षत्रिय कहा जाता है। वणिक वर्ग या वैश्य कहलाने वाले लोग रजो तथा तमोगुण के मिश्रण से युक्त होते हैं और शूद्र या श्रमिकवर्ग के लोग तमोगुणी होते हैं। मानव समाज के इन चार विभागों की सृष्टि करने पर भी भगवान् कृष्ण इनमें से किसी विभाग (वर्ण) में नहीं आते, क्योंकि वे उन वद्धजीवों में से नहीं हैं जिनका एक अंश मानव समाज के रूप में है। मानव समाज भी किसी अन्य पशुसमाज के तुल्य है, किन्तु मनुष्यों को पशु-स्तर से ऊपर उठाने के लिए ही उपर्युक्त वर्णाश्रम की रचना की गई, जिससे क्रमिक रूप से कृष्णभावनामृत विकसित हो सके। किसी विशेष व्यक्ति की किसी कार्य के प्रति प्रवृत्ति का निर्धारण उसके द्वारा अर्जित प्रकृति के गुणों द्वारा किया जाता है। गुणों के अनुसार जीवन के लक्षणों का वर्णन इस ग्रंथ के अठारहवें अध्याय में हुआ है। किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ब्राह्मण से भी वढ़कर होता है। यद्यपि गुण के अनुसार ब्राह्मण को ब्रह्म या परमसत्य के विषय में ज्ञान होना चाहिए, किन्तु उनमें से अधिकांश भगवान् कृष्ण के निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप को ही प्राप्त कर पाते हैं, किन्तु जो मनुष्य ब्राह्मण के सीमित ज्ञान को लाँघकर भगवान् श्रीकृष्ण के ज्ञान तक पहुँच जाता है, वही कृष्णभावनाभावित होता है अर्थात् वैष्णव होता है। कृष्णभावनामृत में कृष्ण के विभिन्न अंशों यथा राम, नृसिंह, वराह आदि का ज्ञान सम्मिलित रहता है। और जिस तरह कृष्ण मानव समाज की इस चातुर्वर्ण्य प्रणाली से परे हैं, उसी तरह कृष्णभावनाभावित व्यक्ति भी इस चातुर्वर्ण्य प्रणाली से परे होता है, चाहे हम इसे जाति का विभाग कहें, चाहे राष्ट्र अथवा सम्प्रदाय का।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥१४॥

न—कभी नहीं; **माम्**—मुझको; **कर्माणि**—सभी प्रकार के कर्म; **लिम्पन्ति**—प्रभावित करते हैं; **न**—नहीं; **मे**—मेरी; **कर्म-फले**—सकाम कर्म में; **स्पृहा**—महत्त्वाकांक्षा; **इति**—इस प्रकार; **माम्**—मुझको; **यः**—जो; **अभिजानाति**—जानता है; **कर्मभिः**—ऐसे कर्म के फल से; **न**—कभी नहीं; **सः**—वह; **बध्यते**—वँध पाता है।

मुझ पर किसी कर्म का प्रभाव नहीं पड़ता, न ही मैं कर्मफल की कामना करता हूँ। जो मेरे सम्बन्ध में इस सत्य को जानता है, वह भी कर्मों के फल के पाश में नहीं बँधता।

तात्पर्य : जिस प्रकार इस भौतिक जगत् में संविधान के नियम हैं, जो यह बताते हैं कि राजा न तो दण्डनीय है, न ही किसी राजनियमों के अधीन रहता है उसी तरह यद्यपि भगवान् इस भौतिक जगत् के स्रष्टा हैं, किन्तु ये भौतिक जगत् के कार्यों से प्रभावित नहीं होते। सृष्टि करने पर भी वे इससे पृथक् रहते हैं, जबकि जीवात्माएँ भौतिक कार्यकलापों के सकाम कर्मफलों में बँधी रहती है, क्योंकि उनमें प्राकृतिक साधनों पर प्रभुत्व दिखाने की प्रवृत्ति रहती है। किसी संस्थान का स्वामी कर्मचारियों के अच्छे-बुरे कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं, कर्मचारी इसके लिए स्वयं उत्तरदायी होते हैं। जीवात्माएँ अपने-अपने इन्द्रियतृप्ति-कार्यों में लगी रहती हैं, किन्तु ये कार्य भगवान् द्वारा निर्दिष्ट नहीं होते। इन्द्रियतृप्ति की उत्तरोत्तर उन्नति के लिए जीवात्माएँ इस संसार के कर्म में प्रवृत्त हैं और मृत्यु के बाद स्वर्ग-सुख की कामना करती रहती हैं। स्वयं में पूर्ण होने के कारण भगवान् को तथाकथित स्वर्ग-सुख का कोई आकर्षण नहीं रहता। स्वर्ग के देवता उनके द्वारा नियुक्त सेवक हैं। स्वामी कभी भी कर्मचारियों का सा निम्नस्तरीय सुख नहीं चाहता। वह भौतिक क्रिया-प्रतिक्रिया से पृथक् रहता है। उदाहरणार्थ, पृथ्वी पर उगने वाली विभिन्न वनस्पतियों के उगने के लिए वर्षा उत्तरदायी नहीं है, यद्यपि वर्षा के बिना वनस्पति नहीं उग सकती। वैदिक स्मृति से इस तथ्य की पुष्टि इस प्रकार होती है

निमित्तमात्रमेवासौ सृज्यानां सर्गकर्मणि।
प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः॥

"भौतिक सृष्टि के लिए भगवान् ही परम कारण हैं। प्रकृति तो केवल निमित्त कारण है, जिससे विराट जगत् दृष्टिगोचर होता है।" प्राणियों की अनेक जातियाँ होती हैं यथा देवता, मनुष्य तथा निम्नपशु और ये सब पूर्व शुभाशुभ कर्मों के फल भोगने को बाध्य हैं। भगवान् उन्हें ऐसे कर्म करने के लिए केवल समुचित सुविधाएँ तथा प्रकृति के गुणों के नियम सुलभ कराते हैं, किन्तु वे उनके किसी भूत तथा वर्तमान कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं होते। *वेदान्तसूत्र* में (२ १ ३४) पुष्टि हुई है कि *वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्*—भगवान् किसी भी जीव के प्रति पक्षपात नहीं करते। जीवात्मा अपने कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। भगवान् उसे प्रकृति अर्थात् बहिरंगा शक्ति के माध्यम से केवल सुविधा प्रदान करने वाले हैं। जो व्यक्ति इस कर्म-नियम की सारी बारीकियों से भलीभाँति अवगत होता है, वह अपने कर्मों के फल से प्रभावित नहीं होता। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति भगवान् के इस दिव्य स्वभाव से परिचित होता है वह कृष्णभावनामृत में अनुभवी होता है। अतः उस पर कर्म के नियम लागू नहीं होते। जो व्यक्ति भगवान् के दिव्य स्वभाव को नहीं जानता और सोचता है कि भगवान् के कार्यकलाप सामान्य व्यक्तियों की तरह कर्मफल के लिए होते हैं, वे निश्चित रूप से कर्मफलों में बँध जाते हैं। किन्तु जो परम सत्य को जानता है, वह कृष्णभावनामृत में स्थिर मुक्त जीव है।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥१५॥

एवम्—इस प्रकार; **ज्ञात्वा**—भलीभाँति जान कर; **कृतम्**—किया गया; **कर्म**—कर्म; **पूर्वैः**—पूर्ववर्ती; **अपि**—निस्सन्देह; **मुमुक्षुभिः**—मोक्ष प्राप्त व्यक्तियों द्वारा; **कुरु**—करो; **कर्म**—स्वधर्म, नियतकार्य; **एव**—निश्चय ही; **तस्मात्**—अतएव; **त्वम्**—तुम; **पूर्वैः**—पूर्ववर्तियों द्वारा; **पूर्व-तरम्**—प्राचीन काल में; **कृतम्**—सम्पन्न किया गया।

प्राचीन काल में समस्त मुक्तात्माओं ने मेरी दिव्य प्रकृति को जान करके ही कर्म किया, अतः तुम्हें चाहिए कि उनके पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए अपने कर्तव्य का पालन करो।

तात्पर्य : मनुष्यों की दो श्रेणियाँ हैं। कुछ के मनों में दूषित विचार भरे रहते हैं और कुछ भौतिक दृष्टि से स्वतन्त्र होते हैं। कृष्णभावनामृत इन दोनों श्रेणियों के व्यक्तियों के लिए समान रूप से लाभप्रद है। जिनके मनों में दूषित विचार भरे हैं उन्हें चाहिए कि भक्ति के अनुष्ठानों का पालन करते हुए क्रमिक शुद्धिकरण के लिए कृष्णभावनामृत को ग्रहण करें। और जिनके मन पहले ही ऐसी अशुद्धियों से स्वच्छ हो चुके हैं, वे उसी कृष्णभावनामृत में अग्रसर होते रहें, जिससे अन्य लोग उनके आदर्श कार्यों का अनुसरण कर सकें और लाभ उठा सकें। मूर्ख व्यक्ति या कृष्णभावनामृत में नवदीक्षित प्रायः कृष्णभावनामृत का पूरा ज्ञान प्राप्त किये विना कार्य से विरत होना चाहते हैं। किन्तु भगवान् ने युद्धक्षेत्र के कार्य से विमुख होने की अर्जुन की इच्छा का समर्थन नहीं किया। आवश्यकता इस वात की है कि यह जाना जाय कि किस तरह कर्म किया जाय। कृष्णभावनामृत के कार्यो से विमुख होकर एकान्त में वैठकर कृष्णभावनामृत का प्रदर्शन करना कृष्ण के लिए कार्य में रत होने की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण है। यहाँ पर अर्जुन को सलाह दी जा रही है कि वह भगवान् के अन्य पूर्व शिष्यों-यथा सूर्यदेव विवस्वान् के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए कृष्णभावनामृत में कार्य करे। अतः वे उसे सूर्यदेव के कार्यों को सम्पन्न करने के लिए आदेश देते हैं जिसे सूर्यदेव ने उनसे लाखों वर्ष पूर्व सीखा था। यहाँ पर भगवान् कृष्ण के ऐसे सारे शिष्यों का उल्लेख पूर्ववर्ती मुक्त पुरुषों के रूप में हुआ है, जो कृष्ण द्वारा नियत कर्मो को सम्पन्न करने में लगे हुए थे।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥१६॥

किम्—क्या है; **कर्म**—कर्म; **किम्**—क्या है; **अकर्म**—अकर्म, निष्क्रियता; **इति**—इस प्रकार; **कवयः**—वुद्धिमान्; **अपि**—भी; **अत्र**—इस विषय में; **मोहिताः**—मोहग्रस्त रहते हैं; **तत्**—वह; **ते**—तुमको; **कर्म**—कर्म; **प्रवक्ष्यामि**—कहूँगा; **यत्**—जिसे; **ज्ञात्वा**—जानकर; **मोक्ष्यसे**—तुम्हारा उद्धार होगा; **अशुभात्**—अकल्याण से, अशुभ से।

कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इसे निश्चित करने में वुद्धिमान् व्यक्ति भी मोहग्रस्त हो जाते हैं। अतएव मैं तुमको वताऊँगा कि कर्म क्या है, जिसे जानकर तुम सारे

अशुभ से मुक्त हो सकोगे।

तात्पर्य : *कृष्णभावनामृत में जो कर्म किया जाय वह पूर्ववर्ती प्रामाणिक भक्तों के आदर्श के अनुसार होना चाहिए। इसका निर्देश १५वें श्लोक में किया गया है। ऐसा कर्म स्वतन्त्र क्यों नहीं होना चाहिए, इसकी व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।*

कृष्णभावनामृत में कर्म करने के लिए मनुष्य को उन प्रामाणिक पुरुषों के नेतृत्व का अनुगमन करना होता है, जो गुरु-परम्परा में हों, जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ में कहा जा चुका है। कृष्णभावनामृत पद्धति का उपदेश सर्वप्रथम सूर्यदेव को दिया गया, जिन्होंने इसे अपने पुत्र मनु से कहा, मनु ने इसे अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा और यह पद्धति तबसे इस पृथ्वी पर चली आ रही है। अतः परम्परा के पूर्ववर्ती अधिकारियों के पदचिन्हों का अनुसरण करना आवश्यक है। अन्यथा बुद्धिमान् से बुद्धिमान् मनुष्य भी कृष्णभावनामृत के आदर्श कर्म के विषय में मोहग्रस्त हो जाते हैं। इसीलिए भगवान् ने स्वयं ही अर्जुन को कृष्णभावनामृत का उपदेश देने का निश्चय किया। अर्जुन को साक्षात् भगवान् ने शिक्षा दी, अत: जो भी अर्जुन के पदचिन्हों पर चलेगा वह कभी मोहग्रस्त नहीं होगा।

कहा जाता है कि अपूर्ण प्रायोगिक ज्ञान के द्वारा धर्म-पथ का निर्णय नहीं किया जा सकता। वस्तुतः धर्म को केवल भगवान् ही निश्चित कर सकते हैं। *धर्मं तु साक्षाद्भगवत्प्रणीतम्* (*भागवत्* ६.३.१९)। अपूर्ण चिन्तन द्वारा कोई किसी धार्मिक सिद्धान्त का निर्माण नहीं कर सकता। मनुष्य को चाहिए कि ब्रह्मा, शिव, नारद, मनु, चारों कुमार, कपिल, प्रह्लाद, भीष्म, शुकदेव गोस्वामी, यमराज, जनक तथा बलि महाराज जैसे महान अधिकारियों के पदचिन्हों का अनुसरण करे। केवल मानसिक चिन्तन द्वारा यह निर्धारित करना कठिन है कि धर्म या आत्म-साक्षात्कार क्या है। अतः भगवान् *अपने भक्तों पर अहेतुकी कृपावश स्वयं ही अर्जुन को बता रहे हैं कि कर्म क्या है और* अकर्म क्या है। केवल कृष्णभावनामृत में किया गया कर्म ही मनुष्य को भवबन्धन से उबार सकता है।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥१७॥

कर्मणः–कर्म का, *हि*–निश्चय ही, *अपि*–भी, *बोद्धव्यम्*–समझना चाहिए, *बोद्धव्यम्*–समझना चाहिए, *च*–भी, *विकर्मणः*–वर्जित कर्म का; *अकर्मणः*–अकर्म का, *च*–भी; *बोद्धव्यम्*–समझना चाहिए, *गहना*–अत्यन्त कठिन, दुर्गम, *कर्मणः*–कर्म की, *गतिः*–प्रवेश, गति।

कर्म की बारीकियों को समझना अत्यन्त कठिन है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह यह ठीक से जाने कि कर्म क्या है, विकर्म क्या है और अकर्म क्या है।

तात्पर्य: *यदि कोई सचमुच ही भव-बन्धन से मुक्ति चाहता है तो उसे कर्म, अकर्म तथा विकर्म के अन्तर को समझना होगा। कर्म, अकर्म तथा विकर्म के विश्लेषण की आवश्यकता है, क्योंकि यह अत्यन्त गहन विषय है। कृष्णभावनामृत को तथा गुणों के अनुसार कर्म को समझने के लिए परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को जानना होगा।*

दूसरे शब्दों में, जिसने यह भलीभाँति समझ लिया है, वह जानता है कि जीवात्मा भगवान् का नित्य दास है और फलस्वरूप उसे कृष्णभावनामृत में कार्य करना है। सम्पूर्ण *भगवद्गीता* का यही लक्ष्य है। इस भावनामृत के विरुद्ध सारे निष्कर्ष एवं परिणाम विकर्म या निषिद्ध कर्म हैं। इसे समझने के लिए मनुष्य को कृष्णभावनामृत के अधिकारियों की संगति करनी होती है और उनसे रहस्य को समझना होता है। यह साक्षात् भगवान् से समझने के समान है। अन्यथा बुद्धिमान् से बुद्धिमान् मनुष्य भी मोहग्रस्त हो जाएगा।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥१८॥

कर्मणि—कर्म में; **अकर्म**—अकर्म; **यः**—जो; **पश्येत्**—देखता है; **अकर्मणि**—अकर्म में; **च**—भी; **कर्म**—सकाम कर्म; **यः**—जो; **सः**—वह; **बुद्धिमान्**—बुद्धिमान् है; **मनुष्येषु**—मानव समाज में; **सः**—वह; **युक्तः**—दिव्य स्थिति को प्राप्त; **कृत्स्न-कर्म-कृत्**—सारे कर्मों में लगा रहकर भी।

जो मनुष्य कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, वह सभी मनुष्यों में बुद्धिमान् है और सब प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त रहकर भी दिव्य स्थिति में रहता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत में कार्य करने वाला व्यक्ति स्वभावतः कर्म-बन्धन से मुक्त होता है। उसके सारे कर्म कृष्ण के लिए होते हैं, अतः कर्म के फल से उसे कोई लाभ या हानि नहीं होती। फलस्वरूप वह मानव समाज में बुद्धिमान् होता है, यद्यपि वह कृष्ण के लिए सभी तरह के कर्मों में लगा रहता है। अकर्म का अर्थ है-कर्म के फल के बिना। निर्विशेषवादी इस भय से सारे कर्म करना बन्द कर देता है, कि कर्मफल उसके आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में बाधक न हो, किन्तु सगुणवादी अपनी इस स्थिति से भलीभाँति परिचित रहता है कि वह भगवान् का नित्य दास है। अतः वह अपने आपको कृष्णभावनामृत के कार्यों में तत्पर रखता है। चूँकि सारे कर्म कृष्ण के लिए किये जाते हैं, अतः इस सेवा के करने में उसे दिव्य सुख प्राप्त होता है। जो इस विधि में लगे रहते हैं वे व्यक्तिगत इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से रहित होते हैं। कृष्ण के प्रति उसका नित्य दास्यभाव उसे सभी प्रकार के कर्मफल से मुक्त करता है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥१९॥

यस्य—जिसके; **सर्वे**—सभी प्रकार के; **समारम्भाः**—प्रयत्न, उद्यम; **काम**—इन्द्रियतृप्ति के लिए इच्छा पर आधारित; **संकल्प**—निश्चय; **वर्जिताः**—से रहित हैं; **ज्ञान**—पूर्ण ज्ञान की; **अग्नि**—अग्नि द्वारा; **दग्धः**—भस्म हुए; **कर्माणम्**—जिसका कर्म; **तम्**—उसको; **आहुः**—कहते हैं; **पण्डितम्**—बुद्धिमान्; **बुधाः**—ज्ञानी।

जिस व्यक्ति का प्रत्येक प्रयास (उद्यम) इन्द्रियतृप्ति की कामना से रहित होता है, उसे पूर्णज्ञानी समझा जाता है। उसे ही साधु पुरुष ऐसा कर्ता कहते हैं, जिसने पूर्णज्ञान की अग्नि से कर्मफलों को भस्मसात् कर दिया है।

तात्पर्य : केवल पूर्णज्ञानी ही कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के कार्यकलापों को समझ सकता है। ऐसे व्यक्ति में इन्द्रियतृप्ति की प्रवृत्ति का अभाव रहता है, इससे यह समझा जाता है कि भगवान् के नित्य दास के रूप में उसे अपने स्वाभाविक स्वरूप का पूर्णज्ञान है जिसके द्वारा उसने अपने कर्मफलों को भस्म कर दिया है। जिसने ऐसा पूर्णज्ञान प्राप्त कर लिया है वह सचमुच विद्वान् है। भगवान् की नित्य दासता के इस ज्ञान के विकास की तुलना अग्नि से की गई है। ऐसी अग्नि एक बार प्रज्ज्वलित हो जाने पर कर्म के सारे फलों को भस्म कर सकती है।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥ २०॥

त्यक्त्वा–त्याग कर, कर्म-फल-आसङ्गम्–कर्मफल की आसक्ति, नित्य–सदा; तृप्तः–तृप्त; निराश्रयः–आश्रयरहित; कर्मणि–कर्म में, अभिप्रवृत्तः–पूर्ण तत्पर रह कर; अपि–भी, न–नहीं, एव–निश्चय ही, किञ्चित्–कुछ भी, करोति–करता है, सः–वह।

अपने कर्मफलों की सारी आसक्ति को त्याग कर सदैव संतुष्ट तथा स्वतन्त्र रहकर वह सभी प्रकार के कार्यों में व्यस्त रहकर भी कोई सकाम कर्म नहीं करता।

तात्पर्य : कर्मों के बन्धन से इस प्रकार की मुक्ति तभी सम्भव है, जब मनुष्य कृष्णभावनाभावित होकर हर कार्य कृष्ण के लिए करे। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति भगवान् के शुद्ध प्रेमवश ही कर्म करता है, फलस्वरूप उसे कर्मफलों के प्रति कोई आकर्षण नहीं रहता। यहाँ तक कि उसे अपने शरीर-निर्वाह के प्रति भी कोई आकर्षण नहीं रहता, *क्योंकि वह पूर्णतया कृष्ण पर आश्रित रहता है। वह न तो किसी वस्तु को प्राप्त करना* चाहता है और न अपनी वस्तुओं की रक्षा करना चाहता है। वह अपनी पूर्ण सामर्थ्य से अपना कर्तव्य करता है और कृष्ण पर सब कुछ छोड़ देता है। ऐसा अनासक्त व्यक्ति शुभ-अशुभ कर्मफलों से मुक्त रहता है, मानो वह कुछ भी नहीं कर रहा हो। यह अकर्म अर्थात् निष्काम कर्म का लक्षण है। अत कृष्णभावनामृत से रहित कोई भी कार्य कर्ता पर बन्धनस्वरूप होता है और विकर्म का यही असली रूप है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ २१॥

निराशीः–फल की आकांक्षा से रहित, निष्काम, यत–संयमित, चित्त-आत्मा–मन तथा बुद्धि, त्यक्त–छोड़ा, सर्व–समस्त, परिग्रहः–स्वामित्व शारीरम्–प्राण रक्षा, केवलम्–मात्र कर्म–कर्म, कुर्वन्–करते हुए, न–कभी नहीं, आप्नोति–प्राप्त करता है, किल्बिषम्–पापपूर्ण फल।

ऐसा ज्ञानी पुरुष पूर्णरूप से संयमित मन तथा बुद्धि से कार्य करता है, अपनी सम्पत्ति के सारे स्वामित्व को त्याग देता है और केवल शरीर-निर्वाह के लिए कर्म करता है। इस तरह कार्य करता हुआ वह पाप रूपी फलों से प्रभावित नहीं होता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कर्म करते समय कभी भी शुभ या अशुभ फल की आशा नहीं रखता। उसके मन तथा वुद्धि पूर्णतया वश में होते हैं। वह जानता है कि वह परमेश्वर का भिन्न अंश है, अतः अंश रूप में उसके द्वारा सम्पन्न कोई भी कर्म उसका न होकर उसके माध्यम से परमेश्वर द्वारा सम्पन्न हुआ होता है। जव हाथ हिलता है तो यह स्वेच्छा से नहीं हिलता, अपितु सारे शरीर की चेष्टा से हिलता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति भगवदिच्छा का अनुगामी होता है क्योंकि उसकी निजी इन्द्रियतृप्ति की कोई कामना नहीं होती। वह यन्त्र के एक पुर्जे की भाँति हिलता-डुलता है। जिस प्रकार रखरखाव के लिए पुर्जे को तेल और सफाई की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कर्म के द्वारा अपना निर्वाह करता रहता है, जिससे वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करने के लिए ठीक वना रहे। अतः वह अपने प्रयासों के फलों के प्रति निश्चेष्ट रहता है। पशु के समान ही उसका अपने शरीर पर कोई अधिकार नहीं होता। कभी-कभी क्रूर स्वामी अपने अधीन पशु को मार भी डालता है, तो भी पशु विरोध नहीं करता, न ही उसे कोई स्वाधीनता होती है। आत्म-साक्षात्कार में पूर्णतया तत्पर कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के पास इतना समय नहीं रहता कि वह अपने पास कोई भौतिक वस्तु रख सके। अपने जीवन-निर्वाह के लिए उसे अनुचित साधनों के द्वारा धनसंग्रह करने की आवश्यकता नहीं रहती। अतः वह ऐसे भौतिक पापों से कल्मषग्रस्त नहीं होता। वह अपने समस्त कर्मफलों से मुक्त रहता है।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ २२॥

यदृच्छा—स्वतः; **लाभ**—लाभ से; **सन्तुष्टः**—सन्तुष्ट; **द्वन्द्व**—द्वन्द्व से; **अतीतः**—परे; **विमत्सरः**—ईर्ष्यारहित; **समः**—स्थिरचित्त; **सिद्धौ**—सफलता में; **असिद्धौ**—असफलता में; **च**—भी; **कृत्वा**—करके; **अपि**—यद्यपि; **न**—कभी नहीं; **निवध्यते**—प्रभावित होता है, वँधता है।

जो स्वतः होने वाले लाभ से संतुष्ट रहता है, जो द्वन्द्व से मुक्त है और ईर्ष्या नहीं करता, जो सफलता तथा असफलता दोनों में स्थिर रहता है, वह कर्म करता हुआ भी कभी वँधता नहीं।

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित व्यक्ति अपने शरीर-निर्वाह के लिए भी अधिक प्रयास नहीं करता। वह अपने आप होने वाले लाभों से संतुष्ट रहता है। वह न तो माँगता है, न उधार लेता है, किन्तु यथासामर्थ्य वह सच्चाई से कर्म करता है और अपने श्रम से जो प्राप्त हो पाता है, उसी से संतुष्ट रहता है। अतः वह अपनी जीविका के विषय में स्वतन्त्र रहता है। वह अन्य किसी की सेवा करके कृष्णभावनामृत सम्वन्धी अपनी सेवा में व्यवधान नहीं आने देता। किन्तु भगवान् की सेवा के लिए वह संसार की द्वैतता से विचलित हुए विना कोई भी कर्म कर सकता है। संसार की यह द्वैतता गर्मी-सर्दी अथवा सुख-दुख के रूप में अनुभव की जाती है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति द्वैतता से परे रहता है, क्योंकि कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए वह कोई भी कर्म करने में झिझकता नहीं।

अतः वह सफलता तथा असफलता दोनों में ही समभाव रहता है। ये लक्षण तभी दिखते हैं जब कोई दिव्य ज्ञान में पूर्णतः स्थित हो।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ २३॥

गत-सङ्गस्य—प्रकृति के गुणों के प्रति अनासक्त; मुक्तस्य—मुक्त पुरुष का; ज्ञान-अवस्थित—ब्रह्म में स्थित, चेतसः—जिसका ज्ञान, यज्ञाय—यज्ञ (कृष्ण) के लिए; आचरतः—करते हुए; कर्म—कर्म; समग्रम्—सम्पूर्ण, प्रविलीयते—पूर्णरूप से विलीन हो जाता है।

जो पुरुष प्रकृति के गुणों के प्रति अनासक्त है और जो दिव्य ज्ञान में पूर्णतया स्थित है, उसके सारे कर्म ब्रह्म में लीन हो जाते हैं।

तात्पर्य : पूर्णरूपेण कृष्णभावनाभावित होने पर मनुष्य समस्त द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है और इस तरह भौतिक गुणों के कल्मष से भी मुक्त हो जाता है। वह इसीलिए मुक्त हो जाता है क्योंकि वह कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध की स्वाभाविक स्थिति को जानता है, फलस्वरूप उसका चित्त कृष्णभावनामृत से विचलित नहीं होता। अतएव वह जो कुछ भी करता है, वह आदिविष्णु कृष्ण के लिए होता है। अतः उसका सारा कर्म यज्ञरूप होता है, क्योंकि यज्ञ का उद्देश्य परम पुरुष विष्णु अर्थात् कृष्ण को प्रसन्न करना है। ऐसे यज्ञमय कर्म का फल निश्चय ही ब्रह्म में विलीन हो जाता है और मनुष्य को कोई भौतिक फल नहीं भोगना पड़ता है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ २४॥

ब्रह्म—आध्यात्मिक; अर्पणम्—अर्पण, ब्रह्म—ब्रह्म, हविः—घृत, ब्रह्म—आध्यात्मिक; अग्नौ—हवन रूपी अग्नि में, ब्रह्मणा—आत्मा द्वारा, हुतम्—अर्पित, ब्रह्म—परमधाम, एव—निश्चय ही, तेन—उसके द्वारा, गन्तव्यम्—पहुँचने योग्य, ब्रह्म—आध्यात्मिक, कर्म—कर्म में, समाधिना—पूर्ण एकाग्रता के द्वारा।

जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में पूर्णतया लीन रहता है, उसे अपने आध्यात्मिक कर्मों के योगदान के कारण अवश्य ही भगवद्धाम की प्राप्ति होती है, क्योंकि उसमें हवन आध्यात्मिक होता है और हवि भी आध्यात्मिक होती है।

तात्पर्य : यहाँ इसका वर्णन किया गया है कि किस प्रकार कृष्णभावनाभावित कर्म करते हुए अन्ततोगत्वा आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्त होता है। कृष्णभावनामृत विषयक विविध कर्म होते हैं, जिनका वर्णन अगले श्लोको में किया गया है, किन्तु इस श्लोक में तो केवल कृष्णभावनामृत का सिद्धान्त वर्णित है। भौतिक कल्मष से ग्रस्त बद्धजीव को भौतिक वातावरण में ही कार्य करना पड़ता है, किन्तु फिर भी उसे ऐसे वातावरण से निकलना ही होगा। जिस विधि से वह ऐसे वातावरण से बाहर निकल सकता है, वह कृष्णभावनामृत है। उदाहरण के लिए, यदि कोई रोगी दूध की बनी वस्तुओं के अधिक खाने से पेट की गड़बड़ी से ग्रस्त हो जाता है तो उसे दही दिया जाता है, जो दूध

से बनी अन्य वस्तु हैं। भौतिकता में ग्रस्त बद्धजीव का उपचार कृष्णभावनामृत के द्वारा ही किया जा सकता है जो यहाँ *गीता* में दिया हुआ है। यह विधि यज्ञ या विष्णु या कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए किये गये कार्य कहलाती है। भौतिक जगत् के जितने ही अधिक कार्य कृष्णभावनामृत में या केवल विष्णु के लिए किये जाते हैं पूर्ण तल्लीनता से वातावरण उतना ही अधिक आध्यात्मिक बनता रहता है। *ब्रह्म* शब्द का अर्थ है 'आध्यात्मिक'। भगवान् आध्यात्मिक हैं और उनके दिव्य शरीर की किरणें ब्रह्मज्योति कहलाती हैं—यही उनका आध्यात्मिक तेज है। प्रत्येक वस्तु इसी ब्रह्मज्योति में स्थित रहती है, किन्तु जब यह ज्योति माया या इन्द्रियतृप्ति द्वारा आच्छादित हो जाती है तो यह भौतिक ज्योति कहलाती है। यह भौतिक आवरण कृष्णभावनामृत द्वारा तुरन्त हटाया जा सकता है। अतएव कृष्णभावनामृत के लिए अर्पित हवि, ग्रहणकर्ता, हवन, होता तथा फल-ये सब मिलकर ब्रह्म या परम सत्य हैं। माया द्वारा आच्छादित परमसत्य पदार्थ कहलाता है। जब यही पदार्थ परमसत्य के निमित्त प्रयुक्त होता है, तो इसमें फिर से आध्यात्मिक गुण आ जाता है। कृष्णभावनामृत मोहजनित चेतना को ब्रह्म या परमेश्वरोन्मुख करने की विधि है। जब मन कृष्णभावनामृत में पूरी तरह निमग्न रहता है तो उसे समाधि कहते हैं। ऐसी दिव्यचेतना में सम्पन्न कोई भी कार्य यज्ञ कहलाता है। आध्यात्मिक चेतना की ऐसी स्थिति में होता, हवन, अग्नि, यज्ञकर्ता तथा अन्तिम फल—यह सब परब्रह्म में एकाकार हो जाता है। यही कृष्णभावनामृत की विधि है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥ २५॥

दैवम्—देवताओं की पूजा करने में; **एव**—इस प्रकार; **अपरे**—अन्य; **यज्ञम्**—यज्ञ को; **योगिनः**—योगीजन; **पर्युपासते**—भलीभाँति पूजा करते हैं; **ब्रह्म**—परमसत्य का; **अग्नौ**—अग्नि में; **अपरे**—अन्य; **यज्ञम्**—यज्ञ को; **यज्ञेन**—यज्ञ से; **एव**—इस प्रकार; **उपजुह्वति**—अर्पित करते हैं।

कुछ योगी विभिन्न प्रकार के यज्ञों द्वारा देवताओं की भलीभाँति पूजा करते हैं और कुछ परब्रह्म रूपी अग्नि में आहुति डालते हैं।

तात्पर्य : जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जो व्यक्ति कृष्णभावनाभावित होकर अपना कर्म करने में लीन रहता है वह पूर्ण योगी है, किन्तु ऐसे भी मनुष्य हैं जो देवताओं की पूजा करने के लिए यज्ञ करते हैं और कुछ परम ब्रह्म या परमेश्वर के निराकार स्वरूप के लिए यज्ञ करते हैं। इस तरह यज्ञ की अनेक कोटियाँ हैं। विभिन्न यज्ञकर्ताओं द्वारा सम्पन्न यज्ञ की ये कोटियाँ केवल बाह्य वर्गीकरण हैं। वस्तुतः यज्ञ का अर्थ है-भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना और विष्णु को यज्ञ भी कहते हैं। विभिन्न प्रकार के यज्ञों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है। सांसारिक द्रव्यों के लिए यज्ञ (द्रव्ययज्ञ) तथा दिव्यज्ञान के लिए किये गये यज्ञ (ज्ञानयज्ञ)। जो कृष्णभावनाभावित हैं उनकी सारी भौतिक सम्पदा परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए होती है, किन्तु जो किसी क्षणिक भौतिक सुख की कामना करते हैं वे इन्द्र, सूर्य आदि देवताओं को प्रसन्न करने के लिए अपनी भौतिक सम्पदा की आहुति देते हैं। किन्तु अन्य लोग, जो निर्विशेषवादी हैं, वे

निराकार ब्रह्म में अपने स्वरूप को स्वाहा कर देते हैं। देवतागण ऐसी शक्तिमान् जीवात्माएँ हैं जिन्हें ब्रह्माण्ड को ऊष्मा प्रदान करने, जल देने तथा प्रकाशित करने जैसे भौतिक कार्यों की देखरेख के लिए परमेश्वर ने नियुक्त किया है। जो लोग भौतिक लाभ चाहते हैं वे वैदिक अनुष्ठानों के अनुसार विविध देवताओं की पूजा करते हैं। ऐसे लोग बह्वीश्वरवादी कहलाते हैं। किन्तु जो लोग परम सत्य के निर्गुण स्वरूप की पूजा करते हैं और देवताओं के स्वरूपों को अनित्य मानते हैं, वे ब्रह्म की अग्नि में अपने आप की ही आहुति दे देते हैं, और इस प्रकार ब्रह्म के अस्तित्व में अपने अस्तित्व को समाप्त कर देते हैं। ऐसे निर्विशेषवादी परमेश्वर की दिव्यप्रकृति को समझने के लिए दार्शनिक चिन्तन में अपना सारा समय लगाते हैं। दूसरे शब्दों में, सकामकर्मी भौतिकसुख के लिए अपनी भौतिक सम्पत्ति का यजन करते हैं, किन्तु निर्विशेषवादी परब्रह्म में लीन होने के लिए अपनी भौतिक उपाधियों का यजन करते हैं। निर्विशेषवादी के लिए यज्ञाग्नि ही परब्रह्म है, जिसमें आत्मस्वरूप का विलय ही आहुति है। किन्तु अर्जुन जैसा कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए सर्वस्व अर्पित कर देता है। इस तरह उसकी सारी भौतिक सम्पत्ति के साथ-साथ आत्मस्वरूप भी कृष्ण के लिए अर्पित हो जाता है। वह परम योगी है, किन्तु उसका पृथक् स्वरूप नष्ट नहीं होता।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ २६॥

श्रोत्र-आदीनि–श्रोत्र आदि, इन्द्रियाणि–इन्द्रियाँ, अन्ये–अन्य, संयम–संयम की, अग्निषु–अग्नि में, जुह्वति–अर्पित करते हैं, शब्द-आदीन्–शब्द आदि, विषयान्–इन्द्रियतृप्ति के विषयों को, अन्ये–दूसरे, इन्द्रिय–इन्द्रियों की, अग्निषु–अग्नि में, जुह्वति–यजन करते हैं।

इनमें से कुछ (विशुद्ध ब्रह्मचारी) श्रवणादि क्रियाओं तथा इन्द्रियों को मन की नियन्त्रण रूपी अग्नि में स्वाहा कर देते हैं तो दूसरे लोग (नियमित गृहस्थ) इन्द्रियविषयों को इन्द्रियों की अग्नि में स्वाहा कर देते हैं।

तात्पर्य : मानव जीवन के चारों आश्रमों के सदस्य–ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यासी–पूर्णयोगी बनने के निमित्त हैं। मानव जीवन पशुओं की भाँति इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं बना है, अतएव मानव जीवन के चारों आश्रम इस प्रकार व्यवस्थित हैं कि मनुष्य आध्यात्मिक जीवन में पूर्णता प्राप्त कर सके। ब्रह्मचारी या शिष्यगण प्रामाणिक गुरु की देखरेख में इन्द्रियतृप्ति से दूर रहकर मन को वश में करते हैं। वे कृष्णभावनामृत से सम्बन्धित शब्दों को ही सुनते हैं। श्रवण ज्ञान का मूलाधार है, अतः शुद्ध ब्रह्मचारी सदैव हरेर्नामानुकीर्तनम् अर्थात् भगवान् के यश के कीर्तन तथा श्रवण में ही लगा रहता है। वह सांसारिक शब्द-ध्वनियों से दूर रहता है और उसकी श्रवणेन्द्रिय हरे कृष्ण हरे कृष्ण की आध्यात्मिक ध्वनि को सुनने में ही लगी रहती है। इसी प्रकार से गृहस्थ भी, जिन्हें इन्द्रियतृप्ति की सीमित छूट है, बड़े ही संयम से इन कार्यों को पूरा करते हैं। यौन जीवन, मादकद्रव्य सेवन और मांसाहार मानव समाज की सामान्य प्रवृत्तियाँ

प्राण की प्राण में ही आहुति देते हैं।

तात्पर्य : श्वास को रोकने की योगविधि प्राणायाम कहलाती है। प्रारम्भ में हठयोग के विविध आसनों की सहायता से इसका अभ्यास किया जाता है। ये सारी विधियाँ इन्द्रियों को वश में करने तथा आत्म-साक्षात्कार की प्रगति के लिए संस्तुत की जाती हैं। इस विधि में शरीर के भीतर वायु को रोका जाता है जिससे वायु की गति की दिशा उलट सके। अपान वायु निम्नगामी (अधोमुखी) है और प्राणवायु ऊर्ध्वगामी है। प्राणायाम में योगी विपरीत दिशा में श्वास लेने का तव तक अभ्यास करता है जव तक दोनों वायु उदासीन होकर पूरक अर्थात् सम नहीं हो जातीं। जव अपान वायु को प्राणवायु में अर्पित कर दिया जाता है तो इसे रेचक कहते हैं। जव प्राण तथा अपान वायुओं को पूर्णतया रोक दिया जाता है तो इसे कुम्भक योग कहते हैं। कुम्भक योगाभ्यास द्वारा मनुष्य आत्म-सिद्धि के लिए जीवन अवधि वढ़ा सकता है। वुद्धिमान योगी एक ही जीवनकाल में सिद्धि प्राप्त करने का इच्छुक रहता है, वह दूसरे जीवन की प्रतीक्षा नहीं करता। कुम्भक योग के अभ्यास से योगी जीवन अवधि को अनेक वर्षो के लिए वढ़ा सकता है। किन्तु भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में स्थित रहने के कारण कृष्णभावनाभावित मनुष्य स्वतः इन्द्रियों का नियंता (जितेन्द्रिय) वन जाता है। उसकी इन्द्रियाँ कृष्ण की सेवा में तत्पर रहने के कारण अन्य किसी कार्य में प्रवृत्त होने का अवसर ही नहीं पातीं। फलतः जीवन के अन्त में उसे स्वतः भगवान् कृष्ण के दिव्य पद पर स्थानान्तरित कर दिया जाता है, अतः वह दीर्घजीवी वनने का प्रयत्न नहीं करता। वह तुरन्त मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है, जैसा कि *भगवद्गीता* में (१४.२६) कहा गया है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो व्यक्ति भगवान् की निश्छल भक्ति में प्रवृत्त होता है वह प्रकृति के गुणों को *लाँघ जाता है और तुरन्त आध्यात्मिक पद को प्राप्त होता है।"* कृष्णभावनाभावित व्यक्ति दिव्य अवस्था से प्रारम्भ करता है और निरन्तर उसी चेतना में रहता है। अतः उसका पतन नहीं होता और अन्ततः वह भगवद्धाम को जाता है। कृष्ण प्रसादम् को ही खाते रहने से स्वतः कम खाने की आदत पड़ जाती है। इन्द्रियनिग्रह के मामले में कम भोजन करना (अल्पाहार) अत्यन्त लाभप्रद होता है और इन्द्रियनिग्रह के विना भव-वन्धन से निकल पाना सम्भव नहीं है।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्॥ ३०॥

सर्वे—सभी; **अपि**—ऊपर से भिन्न होकर भी; **एते**—ये; **यज्ञ-विदः**—यज्ञ करने के प्रयोजन से परिचित; **यज्ञ-क्षपित**—यज्ञ करने के कारण शुद्ध हुआ; **कल्मषाः**—पापकर्मो से; **यज्ञ-शिष्ट**—ऐसे यज्ञ करने के फल का; **अमृत-भुजः**—ऐसा अमृत चखने वाले; **यान्ति**—जाते हैं; **ब्रह्म**—परम ब्रह्म; **सनातनम्**—नित्य आकाश को।

ये सभी यज्ञ करने वाले यज्ञों का अर्थ जानने के कारण पापकर्मों से मुक्त हो जाते

हैं और यज्ञों के फल रूपी अमृत को चखकर परम दिव्य आकाश की ओर बढ़ते जाते हैं।

तात्पर्य : विभिन्न प्रकार के यज्ञों (यथा द्रव्ययज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ तथा योगयज्ञ) की उपर्युक्त व्याख्या से यह देखा जाता है कि इन सबका एक ही उद्देश्य है और वह है इन्द्रियों का निग्रह। इन्द्रियतृप्ति ही भौतिक अस्तित्व का मूल कारण है, अतः जब तक इन्द्रियतृप्ति से भिन्न धरातल पर स्थित न हुआ जाय तब तक सच्चिदानन्द के नित्य धरातल तक उठ पाना सम्भव नहीं है। यह धरातल नित्य आकाश या ब्रह्म आकाश में है। उपर्युक्त सारे यज्ञों से संसार के पापकर्मों से विमल हुआ जा सकता है। जीवन में इस प्रगति से मनुष्य न केवल सुखी और ऐश्वर्यवान बनता है, अपितु अन्त में वह निराकार ब्रह्म के साथ तादात्म्य के द्वारा या श्रीभगवान् कृष्ण की संगति प्राप्त करके भगवान् के शाश्वत धाम को प्राप्त करता है।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥३१॥

न–कभी नहीं; अयम्–यह; लोकः–लोक; अस्ति–है; अयज्ञस्य–यज्ञ न करने वाले का, कुतः–कहाँ है; अन्यः–अन्य, कुरु-सत्-तम–हे कुरुश्रेष्ठ।

हे कुरुश्रेष्ठ! जब यज्ञ के बिना मनुष्य इस लोक में या इस जीवन में ही सुखपूर्वक नहीं रह सकता, तो फिर अगले जन्म में कैसे रह सकेगा?

तात्पर्य : मनुष्य इस लोक में चाहे जिस रूप में रहे वह अपने स्वरूप से अनभिज्ञ रहता है। दूसरे शब्दों में, भौतिक जगत् में हमारा अस्तित्व हमारे पापपूर्ण जीवन के बहुगुणित फलों के कारण है। अज्ञान ही पापपूर्ण जीवन का कारण है और पापपूर्ण जीवन ही इस भौतिक जगत् में अस्तित्व का कारण है। मनुष्य जीवन ही वह द्वार है जिससे होकर इस बन्धन से बाहर निकला जा सकता है। अतः वेद हमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का मार्ग दिखलाकर बाहर निकलने का अवसर प्रदान करते हैं। धर्म या ऊपर संस्तुत अनेक प्रकार के यज्ञ हमारी आर्थिक समस्याओं को स्वतः हल कर देते हैं। जनसंख्या में वृद्धि होने पर भी यज्ञ सम्पन्न करने से हमें प्रचुर भोजन, प्रचुर दूध इत्यादि मिलता रहता है। जब शरीर की आवश्यकता पूर्ण होती रहती है, तो इन्द्रियों को तुष्ट करने की बारी आती है। अतः वेदों में नियमित इन्द्रियतृप्ति के लिए पवित्र विवाह का विधान है। इस प्रकार मनुष्य भौतिक बन्धन से क्रमशः छूटकर उच्चपद की ओर अग्रसर होता है और मुक्त जीवन की पूर्णता परमेश्वर का सान्निध्य प्राप्त करने में है। यह पूर्णता यज्ञ सम्पन्न करके प्राप्त की जाती है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। फिर भी यदि कोई व्यक्ति वेदों के अनुसार यज्ञ करने के लिए तत्पर नहीं होता, तो वह इस शरीर में सुखी जीवन की कैसे आशा कर सकता है? फिर दूसरे लोक में दूसरे शरीर से सुखी जीवन की आशा तो व्यर्थ ही है। विभिन्न स्वर्गों में भिन्न-भिन्न प्रकार की जीवन-सुविधाएँ हैं और जो लोग यज्ञ करने में लगे हैं उनके लिए तो सर्वत्र परम सुख मिलता है। किन्तु सर्वश्रेष्ठ सुख वह है जिसे मनुष्य कृष्णभावनामृत के अभ्यास द्वारा वैकुण्ठ जाकर प्राप्त करता

है। अतः कृष्णभावनाभावित जीवन ही इस भौतिक जगत् की समस्त समस्याओं का एकमात्र हल है।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।। ३२।।

एवम्—इस प्रकार; **बहु-विधाः**—विविध प्रकार के; **यज्ञाः**—यज्ञ; **वितताः**—फैले हुए हैं; **ब्रह्मणः**—वेदों के; **मुखे**—मुख में; **कर्म-जान्**—कर्म से उत्पन्न; **विद्धि**—जानो; **तान्**—उन; **सर्वान्**—सबको; **एवम्**—इस तरह; **ज्ञात्वा**—जानकर; **विमोक्ष्यसे**—मुक्त हो जाओगे।

ये विभिन्न प्रकार के यज्ञ वेदसम्मत हैं और ये सभी विभिन्न प्रकार के कर्मों से उत्पन्न हैं। इन्हें इस रूप में जानने पर तुम मुक्त हो जाओगे।

तात्पर्य : जैसा कि पहले बताया जा चुका है वेदों में कर्ताभेद के अनुसार विभिन्न प्रकार के यज्ञों का उल्लेख है। चूँकि लोग देहात्मबुद्धि में लीन हैं, अतः इन यज्ञों की व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि मनुष्य उन्हें अपने शरीर, मन अथवा बुद्धि के अनुसार सम्पन्न कर सके। किन्तु देह से मुक्त होने के लिए ही इन सबका विधान है। इसी की पुष्टि यहाँ पर भगवान् ने अपने श्रीमुख से की है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।। ३३।।

श्रेयान्—श्रेष्ठ; **द्रव्य-मयात्**—सम्पत्ति के; **यज्ञात्**—यज्ञ से; **ज्ञान-यज्ञः**—ज्ञानयज्ञ; **परन्तप**—हे शत्रुओं को दण्डित करने वाले; **सर्वम्**—सभी; **कर्म**—कर्म; **अखिलम्**—पूर्णतः; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **ज्ञाने**—ज्ञान में; **परिसमाप्यते**—समाप्त होते हैं।

हे परंतप! द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। हे पार्थ! अन्ततोगत्वा सारे कर्मयज्ञों का अवसान दिव्य ज्ञान में होता है।

तात्पर्य : समस्त यज्ञों का यही एक प्रयोजन है कि जीव को पूर्णज्ञान प्राप्त हो जिससे वह भौतिक कष्टों से छुटकारा पाकर अन्त में परमेश्वर की दिव्य सेवा कर सके। तो भी इन सारे यज्ञों की विविध क्रियाओं में रहस्य भरा है और मनुष्य को यह रहस्य जान लेना चाहिए। कभी-कभी कर्ता की श्रद्धा के अनुसार यज्ञ विभिन्न रूप धारण कर लेते हैं। जब यज्ञकर्ता की श्रद्धा दिव्यज्ञान के स्तर तक पहुँच जाती है तो उसे ज्ञानरहित द्रव्ययज्ञ करने वाले से श्रेष्ठ माना जाता है क्योंकि ज्ञान के बिना यज्ञ भौतिक स्तर पर रह जाते हैं और इनसे कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं हो पाता। यथार्थ ज्ञान का अंत कृष्णभावनामृत में होता है जो दिव्यज्ञान की सर्वोच्च अवस्था है। ज्ञान की उन्नति के बिना यज्ञ मात्र भौतिक कर्म बना रहता है। किन्तु जब उसे दिव्यज्ञान के स्तर तक पहुँचा दिया जाता है तो ऐसे सारे कर्म आध्यात्मिक स्तर प्राप्त कर लेते हैं। चेतनाभेद के अनुसार ऐसे यज्ञकर्म कभी-कभी कर्मकाण्ड कहलाते हैं और कभी ज्ञानकाण्ड। यज्ञ वही श्रेष्ठ है, जिसका अन्त ज्ञान में हो।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

तत्–विभिन्न यज्ञों के उस ज्ञान को; विद्धि–जानने का प्रयास करो; प्रणिपातेन–गुरु के पास जाकर के; परिप्रश्नेन–विनीत जिज्ञासा से; सेवया–सेवा के द्वारा; उपदेक्ष्यन्ति–दीक्षित करेंगे; ते–तुमको; ज्ञानम्–ज्ञान में; ज्ञानिनः–स्वरूपसिद्ध; तत्त्व–तत्त्व के; दर्शिनः–दर्शी।

तुम गुरु के पास जाकर सत्य को जानने का प्रयास करो। उनसे विनीत होकर जिज्ञासा करो और उनकी सेवा करो। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति तुम्हें ज्ञान प्रदान कर सकते हैं, क्योंकि उन्होंने सत्य का दर्शन किया है।

तात्पर्य : निस्सन्देह आत्म-साक्षात्कार का मार्ग कठिन है अतः भगवान् का उपदेश है कि उन्हीं से प्रारम्भ होने वाली परम्परा से प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण की जाए। इस परम्परा के सिद्धान्त का पालन किये बिना कोई प्रामाणिक गुरु नहीं बन सकता। भगवान् आदि गुरु हैं, अतः गुरु-परम्परा का ही व्यक्ति अपने शिष्य को भगवान् का सन्देश प्रदान कर सकता है। कोई अपनी निजी विधि का निर्माण करके स्वरूपसिद्ध नहीं बन सकता जैसा कि आजकल के मूर्ख पाखंडी करने लगे हैं। *भागवत* का (६.३.१९) कथन है—*धर्मं तु साक्षाद्भगवत्प्रणीतम्*–धर्मपथ का निर्माण स्वयं भगवान् ने किया है। अतएव मनोधर्म या शुष्क तर्क से सही पद प्राप्त नहीं हो सकता। न ही ज्ञानग्रंथों के स्वतन्त्र अध्ययन से ही कोई आध्यात्मिक जीवन में उन्नति कर सकता है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए उसे प्रामाणिक गुरु की शरण में जाना ही होगा। ऐसे गुरु को पूर्ण समर्पण करके ही स्वीकार करना चाहिए और अहंकाररहित होकर दास की भाँति गुरु की सेवा करनी चाहिए। स्वरूपसिद्ध गुरु की प्रसन्नता ही आध्यात्मिक जीवन की प्रगति का रहस्य है। जिज्ञासा और विनीत भाव के मेल से आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त होता है। बिना विनीत भाव तथा सेवा के विद्वान् गुरु से की गई जिज्ञासाएँ प्रभावपूर्ण नहीं होंगी। शिष्य को गुरु-परीक्षा में उत्तीर्ण होना चाहिए और जब गुरु शिष्य में वास्तविक इच्छा देखता है तो स्वतः ही शिष्य को आध्यात्मिक ज्ञान का आशीर्वाद देता है। इस श्लोक में *अन्धानुगमन* तथा निरर्थक जिज्ञासा—इन दोनों की *भर्त्सना* की गई है। शिष्य न केवल गुरु से विनीत होकर सुने, अपितु विनीत भाव तथा सेवा और जिज्ञासा द्वारा गुरु से *स्पष्ट ज्ञान प्राप्त* करे। प्रामाणिक गुरु स्वभाव से शिष्य के प्रति दयालु होता है, अतः यदि शिष्य विनीत हो और सेवा में तत्पर रहे तो ज्ञान और जिज्ञासा का विनिमय पूर्ण हो जाता है।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ ३५॥

यत्–जिसे; ज्ञात्वा–जानकर; न–कभी नहीं; पुनः–फिर; मोहम्–मोह को; एवम्–इस प्रकार; यास्यसि–प्राप्त होगे; पाण्डव–हे पाण्डवपुत्र; *येन–जिससे*; भूतानि–जीवों को; अशेषेण–समस्त; द्रक्ष्यसि–देखोगे; आत्मनि–परमात्मा में; *अथ उ–अथवा अन्य शब्दों में*; मयि–मुझमें।

स्वरूपसिद्ध व्यक्ति से वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर चुकने पर तुम पुनः कभी ऐसे मोह

को प्राप्त नहीं होगे क्योंकि इस ज्ञान के द्वारा तुम देख सकोगे कि सभी जीव परमात्मा के अंशस्वरूप हैं, अर्थात् वे सब मेरे हैं।

तात्पर्य : स्वरूपसिद्ध व्यक्ति से ज्ञान प्राप्त होने का परिणाम यह होता है कि यह पता चल जाता है कि सारे जीव भगवान् श्रीकृष्ण के भिन्न अंश हैं। कृष्ण से पृथक् अस्तित्व का भाव *माया* (मा—नहीं, या—यह) कहलाती है। कुछ लोग सोचते हैं कि हमें कृष्ण से क्या लेना देना है वे तो केवल महान ऐतिहासिक पुरुष हैं और परब्रह्म तो निराकार है। वस्तुतः जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है यह निराकार ब्रह्म कृष्ण का व्यक्तिगत तेज है। कृष्ण भगवान् के रूप में प्रत्येक वस्तु के कारण हैं। *ब्रह्मसंहिता* में स्पष्ट कहा गया है कि कृष्ण श्रीभगवान् हैं और सभी कारणों के कारण हैं। यहाँ तक कि लाखों अवतार उनके विभिन्न विस्तार ही हैं। इसी प्रकार सारे जीव भी कृष्ण के अंश हैं। मायावादियों की यह मिथ्या धारणा है कि कृष्ण अपने अनेक अंशों में अपने निजी पृथक् अस्तित्व को मिटा देते हैं। यह विचार सर्वथा भौतिक है। भौतिक जगत् में हमारा अनुभव है कि यदि किसी वस्तु का विखण्डन किया जाय तो उसका मूलस्वरूप नष्ट हो जाता है। किन्तु मायावादी यह नहीं समझ पाते कि परम का अर्थ है कि एक और एक मिलकर एक ही होता है और एक में से एक घटाने पर भी एक बचता है। परब्रह्म का यही स्वरूप है।

ब्रह्मविद्या का पर्याप्त ज्ञान न होने के कारण हम माया से आवृत हैं इसीलिए हम अपने को कृष्ण से पृथक् सोचते हैं। यद्यपि हम कृष्ण के भिन्न अंश हैं, किन्तु तो भी हम उनसे भिन्न नहीं हैं। जीवों का शारीरिक अन्तर माया है अथवा वास्तविक सत्य नहीं है। हम सभी कृष्ण को प्रसन्न करने के निमित्त हैं। केवल माया के कारण ही अर्जुन ने सोचा कि उसके स्वजनों से उसका क्षणिक शारीरिक सम्बन्ध कृष्ण के शाश्वत आध्यात्मिक सम्बन्धों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। *गीता* का सम्पूर्ण उपदेश इसी ओर लक्षित है कि कृष्ण का नित्य दास होने के कारण जीव उनसे पृथक् नहीं हो सकता, कृष्ण से अपने को विलग मानना ही माया कहलाती है। परब्रह्म के भिन्न अंश के रूप में जीवों को एक विशिष्ट उद्देश्य पूरा करना होता है। उस उद्देश्य को भुलाने के कारण ही वे अनादिकाल से मानव, पशु, देवता आदि देहों में स्थित हैं। ऐसे शारीरिक अन्तर भगवान् की दिव्य सेवा के विस्मरण से जनित हैं। किन्तु जब कोई कृष्णभावनामृत के माध्यम से दिव्य सेवा में लग जाता है तो वह इस माया से तुरन्त मुक्त हो जाता है। ऐसा ज्ञान केवल प्रामाणिक गुरु से ही प्राप्त हो सकता है और इस तरह वह इस भ्रम को दूर कर सकता है कि जीव कृष्ण के तुल्य है। पूर्णज्ञान तो यह है कि परमात्मा कृष्ण समस्त जीवों के परम आश्रय हैं और इस आश्रय को त्याग देने पर जीव माया द्वारा मोहित होते हैं, क्योंकि वे अपना अस्तित्व पृथक् समझते हैं। इस तरह विभिन्न भौतिक पहिचानों के मानदण्डों के अन्तर्गत वे कृष्ण को भूल जाते हैं। किन्तु जब ऐसे मोहग्रस्त जीव कृष्णभावनामृत में स्थित होते हैं तो यह समझा जाता है कि वे मुक्ति-पथ पर हैं जिसकी पुष्टि *भागवत* में (२.१०.६) की गई है—*मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।* मुक्ति का अर्थ है—कृष्ण के नित्य दास रूप में (कृष्णभावनामृत में) अपनी स्वाभाविक स्थिति पर होना।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ ३६॥

अपि–भी, **चेत्**–यदि; **असि**–तुम हो; **पापेभ्यः**–पापियों से, **सर्वेभ्यः**–समस्त; **पाप-कृत्-तमः**–सर्वाधिक पापी; **सर्वम्**–ऐसे समस्त पापकर्म, **ज्ञान-प्लवेन**–दिव्यज्ञान की नाव द्वारा, **एव**–निश्चय ही, **वृजिनम्**–दुखों के सागर को, **सन्तरिष्यसि**–पूर्णतया पार कर जाओगे।

यदि तुम्हें समस्त पापियों में भी सर्वाधिक पापी समझा जाये तो भी तुम दिव्यज्ञान रूपी नाव में स्थित होकर दुख-सागर को पार करने में समर्थ होगे।

तात्पर्य : श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में अपनी स्वाभाविक स्थिति का सही-सही ज्ञान इतना उत्तम होता है कि अज्ञान-सागर में चलने वाले जीवन-संघर्ष से मनुष्य तुरन्त ही ऊपर उठ सकता है। यह भौतिक जगत् कभी-कभी अज्ञान सागर मान लिया जाता है तो कभी जलता हुआ जंगल। सागर में कोई कितना ही कुशल तैराक क्यों न हो, जीवन-संघर्ष अत्यन्त कठिन है। यदि कोई संघर्षरत तैरने वाले को आगे बढ़कर समुद्र से निकाल लेता है तो वह सबसे बड़ा रक्षक है। भगवान् से प्राप्त पूर्णज्ञान मुक्ति का पथ है। कृष्णभावनामृत की नाव अत्यन्त सुगम है, किन्तु उसी के साथ-साथ अत्यन्त उदात्त भी।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ ३७॥

यथा–जिस प्रकार से, **एधांसि**–ईंधन को, **समिद्धः**–जलती हुई, **अग्निः**–अग्नि, **भस्म-सात्**–राख, **कुरुते**–कर देती है, **अर्जुन**–हे अर्जुन, **ज्ञान-अग्निः**–ज्ञान रूपी अग्नि, **सर्व-कर्माणि**–भौतिक कर्मों के समस्त फल को, **भस्मसात्**–भस्म, राख, **कुरुते**–करती है, **तथा**–उसी प्रकार से।

जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, उसी तरह हे अर्जुन! ज्ञान रूपी अग्नि भौतिक कर्मों के समस्त फलों को जला डालती है।

तात्पर्य : आत्मा तथा परमात्मा सम्बन्धी पूर्णज्ञान तथा उनके सम्बन्ध की तुलना यहाँ अग्नि से की गई है। यह अग्नि न केवल समस्त पापकर्मों के फलों को जला देती है, अपितु पुण्यकर्मों के फलों को भी भस्मसात् करने वाली है। कर्मफल की कई अवस्थाएँ हैं–शुभारम्भ, बीज, संचित आदि। किन्तु जीव को स्वरूप का ज्ञान होने पर सब कुछ भस्म हो जाता है चाहे वह पूर्ववर्ती हो या परवर्ती। वेदों में (*बृहदारण्यक उपनिषद्* ४.४.२२) कहा गया है–*उभे उहैवैष एते तरत्यमृतः साध्वसाधूनी*–"मनुष्य पाप तथा पुण्य दोनों ही प्रकार के कर्मफलों को जीत लेता है।"

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ ३८॥

न–कुछ भी नहीं, **हि**–निश्चय ही, **ज्ञानेन**–ज्ञान से, **सदृशम्**–तुलना में, **पवित्रम्**–पवित्र, **इह**–इस संसार में, **विद्यते**–है, **तत्**–उस, **स्वयम्**–अपने आप, **योग**–भक्ति में **संसिद्धः**–परिपक्व होने पर, **कालेन**–यथासमय, **आत्मनि**–अपने आप में, अन्तर में; **विन्दति**–आस्वादन करता है।

इस संसार में दिव्यज्ञान के समान कुछ भी उदात्त तथा शुद्ध नहीं है। ऐसा ज्ञान समस्त योग का परिपक्व फल है। जो व्यक्ति भक्ति में सिद्ध हो जाता है, वह यथासमय अपने अन्तर में इस ज्ञान का आस्वादन करता है।

तात्पर्य : जब हम दिव्यज्ञान की बात करते हैं तो हमारा प्रयोजन आध्यात्मिक ज्ञान से होता है। निस्सन्देह दिव्यज्ञान के समान कुछ भी उदात्त तथा शुद्ध नहीं है। अज्ञान ही हमारे बन्धन का कारण है और ज्ञान हमारी मुक्ति का। यह ज्ञान भक्ति का परिपक्व फल है। जब कोई दिव्यज्ञान की अवस्था प्राप्त कर लेता है तो उसे अन्यत्र शान्ति खोजने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि वह मन ही मन शान्ति का आनन्द लेता रहता है। दूसरे शब्दों में, ज्ञान तथा शान्ति का पर्यवसान कृष्णभावनामृत में होता है। *भगवद्गीता* के सन्देश की यही चरम परिणति है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ ३९॥

श्रद्धा-वान्—श्रद्धालु व्यक्ति; **लभते**—प्राप्त करता है; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **तत्-परः**—उसमें अत्यधिक अनुरक्त; **संयत**—संयमित; **इन्द्रियः**—इन्द्रियाँ; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **लब्ध्वा**—प्राप्त करके; **पराम्**—दिव्य; **शान्तिम्**—शान्ति; **अचिरेण**—शीघ्र ही; **अधिगच्छति**—प्राप्त करता है।

जो श्रद्धालु दिव्यज्ञान में समर्पित है और जिसने इन्द्रियों को वश में कर लिया है, वह इस ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी है और इसे प्राप्त करते ही वह तुरन्त आध्यात्मिक शान्ति को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : श्रीकृष्ण में दृढ़विश्वास रखने वाला व्यक्ति ही इस तरह का कृष्णभावनाभावित ज्ञान प्राप्त कर सकता है। वही पुरुष श्रद्धावान कहलाता है जो यह सोचता है कि कृष्णभावनाभावित होकर कर्म करने से वह परमसिद्धि प्राप्त कर सकता है। यह श्रद्धा भक्ति के द्वारा तथा *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—मन्त्र के जाप द्वारा प्राप्त की जाती है क्योंकि इससे हृदय की सारी भौतिक मलिनता दूर हो जाती है। इसके अतिरिक्त मनुष्य को चाहिए कि अपनी इन्द्रियों पर संयम रखे। जो व्यक्ति कृष्ण के प्रति श्रद्धावान् है और जो इन्द्रियों को संयमित रखता है, वह शीघ्र ही कृष्णभावनामृत के ज्ञान में पूर्णता प्राप्त करता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ ४०॥

अज्ञः—मूर्ख, जिसे शास्त्रों का ज्ञान नहीं है; **च**—तथा; **अश्रद्दधानः**—शास्त्रों में श्रद्धा से विहीन; **च**—भी; **संशय**—शंकाग्रस्त; **आत्मा**—व्यक्ति; **विनश्यति**—गिर जाता है; **न**—न; **अयम्**—इस; **लोकः**—जगत में; **अस्ति**—है; **न**—न तो; **परः**—अगले जीवन में; **न**—नहीं; **सुखम्**—सुख; **संशय**—संशयग्रस्त; **आत्मनः**—व्यक्ति के लिए।

किन्तु जो अज्ञानी तथा श्रद्धाविहीन व्यक्ति शास्त्रों में संदेह करते हैं, वे

भगवद्भावनामृत नहीं प्राप्त करते, अपितु नीचे गिर जाते हैं। संशयात्मा के लिए न तो इस लोक में, न ही परलोक में कोई सुख है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* सभी प्रामाणिक एवं मान्य शास्त्रों में सर्वोत्तम है। जो लोग पशुतुल्य हैं उनमें न तो प्रामाणिक शास्त्रों के प्रति कोई श्रद्धा है और न उनका ज्ञान होता है ओर कुछ लोगों को यद्यपि उनका ज्ञान होता है और उनमें से वे उद्धरण देते रहते हैं, किन्तु उनमें वास्तविक विश्वास नहीं करते। यहाँ तक कि कुछ लोग जिनमें *भगवद्गीता* जैसे शास्त्रों में श्रद्धा होती भी है फिर भी वे न तो भगवान् कृष्ण में विश्वास करते हैं, न उनकी पूजा करते हैं। ऐसे लोगों को कृष्णभावनामृत का कोई ज्ञान नहीं होता। वे नीचे गिरते हैं। उपर्युक्त सभी कोटि के व्यक्तियों में जो श्रद्धालु नहीं हैं और सदैव संशयग्रस्त रहते हैं, वे तनिक भी उन्नति नहीं कर पाते। जो लोग ईश्वर तथा उनके वचनों में श्रद्धा नहीं रखते उन्हें न तो इस संसार में और न भावी लोक में कुछ हाथ लगता है। उनके लिए किसी भी प्रकार का सुख नहीं है। अतः मनुष्य को चाहिए कि श्रद्धाभाव से शास्त्रों के सिद्धान्तों का पालन करे और ज्ञान प्राप्त करे। इसी ज्ञान से मनुष्य आध्यात्मिक अनुभूति के दिव्य पद तक पहुँच सकता है। दूसरे शब्दों में, आध्यात्मिक उत्थान में संशयग्रस्त मनुष्यों को कोई स्थान नहीं मिलता। अतः मनुष्य को चाहिए कि परम्परा से चले आ रहे महान आचार्यों के पदचिन्हों का अनुसरण करे और सफलता प्राप्त करे।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥ ४१॥

योग–कर्मयोग में भक्ति से, संन्यस्त–जिसने त्याग दिये हैं, कर्माणम्–कर्मफलों को, ज्ञान–ज्ञान से, सञ्छिन्न–काट दिये हैं, संशयम्–सन्देह को, आत्म-वन्तम्–आत्मपरायण को, न–कभी नहीं, कर्माणि–कर्म, निबध्नन्ति–बाँधते हैं, धनञ्जय–हे सम्पत्ति के विजेता।

जो व्यक्ति अपने कर्मफलों का परित्याग करते हुए भक्ति करता है और जिसके संशय दिव्यज्ञान द्वारा विनष्ट हो चुके होते हैं वही वास्तव में आत्मपरायण है। हे धनञ्जय! वह कर्मों के बन्धन से नहीं बँधता।

तात्पर्य : जो मनुष्य *भगवद्गीता* की शिक्षा का उसी रूप में पालन करता है जिस रूप में भगवान् श्रीकृष्ण ने दी थी, तो वह दिव्यज्ञान की कृपा से समस्त संशयों से मुक्त हो जाता है। पूर्णतः कृष्णभावनाभावित होने के कारण उसे श्रीभगवान् के अंश रूप में अपने स्वरूप का ज्ञान पहले ही हो जाता है। अतएव निस्सन्देह वह कर्मबन्धन से मुक्त है।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ ४२॥

तस्मात्–अतः, अज्ञान-सम्भूतम्–अज्ञान से उत्पन्न, हृत्स्थम्–हृदय में स्थित, ज्ञान–ज्ञान रूपी असिना–शस्त्र से, आत्मनः–स्व के, छित्त्वा–काट कर, एनम्–इस, संशयम्–संशय को, योगम्–योग में, आतिष्ठ–स्थित होओ, उत्तिष्ठ–युद्ध करने के लिए उठो, भारत–हे भरतवंशी।

अतएव तुम्हारे हृदय में अज्ञान के कारण जो संशय उठे हैं उन्हें ज्ञानरूपी शस्त्र से काट डालो। हे भारत! तुम योग से समन्वित होकर खड़े होओ और युद्ध करो।

तात्पर्य : इस अध्याय में जिस योगपद्धति का उपदेश हुआ है वह सनातन योग कहलाती है। इस योग में दो तरह के यज्ञकर्म किये जाते हैं—एक तो द्रव्य का यज्ञ और दूसरा आत्मज्ञान यज्ञ जो विशुद्ध आध्यात्मिक कर्म है। यदि आत्म-साक्षात्कार के लिए द्रव्ययज्ञ नहीं किया जाता तो ऐसा यज्ञ भौतिक बन जाता है। किन्तु जब कोई आध्यात्मिक उद्देश्य या भक्ति से ऐसा यज्ञ करता है तो वह पूर्णयज्ञ होता है। आध्यात्मिक क्रियाएँ भी दो प्रकार की होती हैं—आत्मबोध (या अपने स्वरूप को समझना) तथा श्रीभगवान् विषयक सत्य। जो *भगवद्गीता* के मार्ग का पालन करता है वह ज्ञान की इन दोनों श्रेणियों को समझ सकता है। उसके लिए भगवान् के अंश स्वरूप आत्मज्ञान को प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती है। ऐसा ज्ञान लाभप्रद है क्योंकि ऐसा व्यक्ति भगवान् के दिव्य कार्यकलापों को समझ सकता है। इस अध्याय के प्रारम्भ में स्वयं भगवान् ने अपने दिव्य कार्यकलापों का वर्णन किया है। जो व्यक्ति *गीता* के उपदेशों को नहीं समझता वह श्रद्धाविहीन है और जो भगवान् द्वारा उपदेश देने पर भी भगवान् के सच्चिदानन्द स्वरूप को नहीं समझ पाता तो यह समझना चाहिए कि वह निपट मूर्ख है। कृष्णभावनामृत के सिद्धान्तों को स्वीकार करके अज्ञान को क्रमशः दूर किया जा सकता है। यह कृष्णभावनामृत विविध देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, ब्रह्मचर्य यज्ञ, गृहस्थ यज्ञ, इन्द्रियसंयम यज्ञ, योग साधना यज्ञ, तपस्या यज्ञ, द्रव्ययज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ तथा वर्णाश्रमधर्म में भाग लेकर जागृत किया जा सकता है। ये सब यज्ञ कहलाते हैं और ये सब नियमित कर्म पर आधारित हैं। किन्तु इन सब कार्यकलापों के भीतर सबसे महत्त्वपूर्ण कारक आत्म-साक्षात्कार है। जो इस उद्देश्य को खोज लेता है वही *भगवद्गीता* का वास्तविक पाठक है, किन्तु जो कृष्ण को प्रमाण नहीं मानता वह नीचे गिर जाता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह सेवा तथा समर्पण समेत किसी प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में *भगवद्गीता* या अन्य किसी शास्त्र का अध्ययन करे। प्रामाणिक गुरु अनन्तकाल से चली आने वाली परम्परा में होता है और वह परमेश्वर के उन उपदेशों से तनिक भी विपथ नहीं होता जिन्हें उन्होंने लाखों वर्ष पूर्व सूर्यदेव को दिया था और जिनसे *भगवद्गीता* के उपदेश इस धराधाम में आये। अतः *गीता* में ही व्यक्त *भगवद्गीता* के पथ का अनुसरण करना चाहिए और उन लोगों से सावधान रहना चाहिए जो आत्म-श्लाघा वश अन्यों को वास्तविक पथ से विपथ करते रहते हैं। भगवान् निश्चित रूप से परमपुरुष हैं और उनके कार्यकलाप दिव्य हैं। जो इसे समझता है वह *भगवद्गीता* का अध्ययन शुभारम्भ करते ही मुक्त होता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के चतुर्थ अध्याय "दिव्य ज्ञान" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*

अध्याय पाँच



कर्मयोग – कृष्णभावनाभावित कर्म

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥१॥

अर्जुन. उवाच–अर्जुन ने कहा, सन्न्यासम्–संन्यास, कर्मणाम्–सम्पूर्ण कर्मों के कृष्ण–हे कृष्ण, पुनः–फिर; योगम्–भक्ति, च–भी, शंससि–प्रशंसा करते हो, यत्–जो श्रेय –अधिक लाभप्रद है, एतयोः–इन दोनों में से, एकम्–एक, तत्–वह, मे–मेरे लिए, ब्रूहि–कहिये सु-निश्चितम्–निश्चित रूप से।

अर्जुन ने कहा–हे कृष्ण! पहले आप मुझसे कर्म त्यागने के लिए कहते हैं और फिर भक्तिपूर्वक कर्म करने का आदेश देते हैं। क्या आप अब कृपा करके निश्चित रूप से मुझे बताएँगे कि इन दोनों में से कौन अधिक लाभप्रद है?

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के इस पंचम अध्याय में भगवान बताते हैं कि भक्तिपूर्वक कि-

गया कर्म शुष्क चिन्तन से श्रेष्ठ है। भक्ति-पथ अधिक सुगम है, क्योंकि दिव्यस्वरूपा भक्ति मनुष्य को कर्मवन्धन से मुक्त करती है। द्वितीय अध्याय में आत्मा तथा उसके शरीर वन्धन का सामान्य ज्ञान वतलाया गया है। उसी में वुद्धियोग अर्थात् भक्ति द्वारा इस भौतिक वन्धन से निकलने का भी वर्णन हुआ है। तृतीय अध्याय में यह वताया गया है कि ज्ञानी को कोई कार्य नहीं करने पड़ते। चतुर्थ अध्याय में भगवान् ने अर्जुन को वताया है कि सारे यज्ञों का पर्यवसान ज्ञान में होता है, किन्तु चतुर्थ अध्याय के अन्त में भगवान् ने अर्जुन को सलाह दी कि वह पूर्णज्ञान से युक्त होकर, उठ करके युद्ध करे। अतः इस प्रकार एक ही साथ भक्तिमय कर्म तथा ज्ञानयुक्त-अकर्म की महत्ता पर वल देते हुए कृष्ण ने अर्जुन के संकल्प को भ्रमित कर दिया है। अर्जुन यह समझता है कि ज्ञानमय संन्यास का अर्थ है-इन्द्रियकार्यों के रूप में समस्त प्रकार के कार्यकलापों का परित्याग। किन्तु यदि भक्तियोग में कोई कर्म करता है तो फिर कर्म का किस तरह त्याग हुआ? दूसरे शव्दों में, वह यह सोचता है कि ज्ञानमय संन्यास को सभी प्रकार के कार्यों से मुक्त होना चाहिए क्योंकि उसे कर्म तथा ज्ञान असंगत से लगते हैं। ऐसा लगता है कि वह यह नहीं समझ पाया कि ज्ञान के साथ किया गया कर्म वन्धनकारी न होने के कारण अकर्म के ही तुल्य है। अतएव वह पूछता है कि वह सव प्रकार से कर्म त्याग दे या पूर्णज्ञान से युक्त होकर कर्म करे?

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ २॥

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; **संन्यासः**—कर्म का परित्याग; **कर्मयोगः**—निष्ठायुक्त कर्म; **च**—भी; **निःश्रेयस-करौ**—मुक्तिपथ को ले जाने वाले; **उभौ**—दोनों; **तयोः**—दोनों में से; **तु**—लेकि **कर्म-संन्यासात्**—सकामकर्मों के त्याग से; **कर्म-योगः**—निष्ठायुक्त कर्म; **विशिष्यते**—श्रेष्ठ है।

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया—मुक्ति के लिए तो कर्म का परित्याग तथा भक्तिमय-क (कर्मयोग) दोनों ही उत्तम हैं। किन्तु इन दोनों में से कर्म के परित्याग से भक्तियु कर्म श्रेष्ठ है।

तात्पर्य : सकाम कर्म (इन्द्रियतृप्ति में लगना) ही भववन्धन का कारण है। जव त मनुष्य शारीरिक सुख का स्तर वढ़ाने के उद्देश्य से कर्म करता रहता है तव तक व विभिन्न प्रकार के शरीरों में देहान्तरण करते हुए भववन्धन को वनाये रखता है। इसव पुष्टि *भागवत* (५.५.४-६) में इस प्रकार हुई है—

नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति।
न साधु मन्ये यत आत्मनोऽयमसन्नपि क्लेशद आस देहः॥
पराभवस्तावदवोधजातो यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम्।
यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै कर्मात्मकं येन शरीरवन्धः॥
एवं मनः कर्मवशं प्रयुंक्ते अविद्ययात्मन्युपधीयमाने।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्॥

"लोग इन्द्रियतृप्ति के पीछे मत्त हैं। वे यह नहीं जानते कि उनका क्लेशों से युक्त यह शरीर उनके विगत सकाम-कर्मों का फल है। यद्यपि यह शरीर नाशवान है, किन्तु यह नाना प्रकार के कष्ट देता रहता है। अतः इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करना श्रेयस्कर नहीं है। जब तक मनुष्य अपने असली स्वरूप के विषय में जिज्ञासा नहीं करता, उसका जीवन व्यर्थ रहता है। और जब तक वह अपने स्वरूप को नहीं जान लेता तब तक उसे इन्द्रियतृप्ति के लिए सकाम कर्म करना पड़ता है, और जब तक वह इन्द्रियतृप्ति की इस चेतना में फँसा रहता है तब तक उसका देहान्तरण होता रहता है। भले ही उसका मन सकाम कर्मों में व्यस्त रहे और अज्ञान द्वारा प्रभावित हो, किन्तु उसे वासुदेव की भक्ति के प्रति प्रेम उत्पन्न करना चाहिए। केवल तभी वह भवबन्धन से छूटने का अवसर प्राप्त कर सकता है।"

अतः यह ज्ञान ही (कि वह आत्मा है शरीर नहीं) मुक्ति के लिए पर्याप्त नहीं। जीवात्मा के स्तर पर मनुष्य को कर्म करना होगा अन्यथा भवबन्धन से उबरने का कोई अन्य उपाय नहीं है। किन्तु कृष्णभावनाभावित होकर कर्म करना सकाम कर्म नहीं है। पूर्णज्ञान से युक्त होकर किये गये कर्म वास्तविक ज्ञान को बढ़ाने वाले हैं। बिना कृष्णभावनामृत के केवल कर्मों के परित्याग से बद्धजीव का हृदय शुद्ध नहीं होता। जब तक हृदय शुद्ध नहीं होता तब तक सकाम कर्म करना पड़ेगा। परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म कर्ता को स्वतः सकाम कर्म के फल से मुक्त बनाता है, जिसके कारण उसे भौतिक स्तर तक उतरना नहीं पड़ता। अतः कृष्णभावनाभावित कर्म सन्यास से सदा श्रेष्ठ होता है, क्योंकि सन्यास में नीचे गिरने की सम्भावना बनी रहती है। कृष्णभावनामृत से रहित संन्यास अपूर्ण है, जैसा कि श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृतसिन्धु* में (१.२.२५८) पुष्टि की है—

प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः ।
मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते॥

"जब मुक्तिकामी व्यक्ति श्रीभगवान् से सम्बन्धित वस्तुओं को भौतिक समझ कर उनका परित्याग कर देते हैं, तो उनका सन्यास अपूर्ण कहलाता है।" सन्यास तभी पूर्ण माना जाता है जब यह ज्ञात हो कि संसार की प्रत्येक वस्तु भगवान् की है और कोई किसी भी वस्तु का स्वामित्व ग्रहण नहीं कर सकता। वस्तुतः मनुष्य को यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि उसका अपना कुछ भी नहीं है। तो फिर सन्यास का प्रश्न ही कहाँ उठता है? जो व्यक्ति यह समझता है कि सारी सम्पत्ति कृष्ण की है, वह नित्य सन्यासी है। प्रत्येक वस्तु कृष्ण की है, अतः उसका उपयोग कृष्ण के लिए किया जाना चाहिए। कृष्णभावनाभावित होकर इस प्रकार का पूर्ण कार्य करना मायावादी सन्यासी के कृत्रिम वैराग्य से कहीं उत्तम है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ ३॥

ज्ञेयः—जानना चाहिए, सः—वह, नित्य—सदैव, संन्यासी—सन्यासी, यः—जो, न—कभी नहीं, द्वेष्टि—घृणा करता है; न—न तो, काङ्क्षति—इच्छा करता है; निर्द्वन्द्वः—समस्त द्वैतताओं से मुक्त,

गया कर्म शुष्क चिन्तन से श्रेष्ठ है। भक्ति-पथ अधिक सुगम है, क्योंकि दिव्यस्वरूपा भक्ति मनुष्य को कर्मवन्धन से मुक्त करती है। द्वितीय अध्याय में आत्मा तथा उसके शरीर वन्धन का सामान्य ज्ञान वतलाया गया है। उसी में वुद्धियोग अर्थात् भक्ति द्वारा इस भौतिक वन्धन से निकलने का भी वर्णन हुआ है। तृतीय अध्याय में यह वताया गया है कि ज्ञानी को कोई कार्य नहीं करने पड़ते। चतुर्थ अध्याय में भगवान् ने अर्जुन को वताया है कि सारे यज्ञों का पर्यवसान ज्ञान में होता है, किन्तु चतुर्थ अध्याय के अन्त में भगवान् ने अर्जुन को सलाह दी कि वह पूर्णज्ञान से युक्त होकर, उठ करके युद्ध करे। अतः इस प्रकार एक ही साथ भक्तिमय कर्म तथा ज्ञानयुक्त-अकर्म की महत्ता पर वल देते हुए कृष्ण ने अर्जुन के संकल्प को भ्रमित कर दिया है। अर्जुन यह समझता है कि ज्ञानमय संन्यास का अर्थ है-इन्द्रियकार्यों के रूप में समस्त प्रकार के कार्यकलापों का परित्याग। किन्तु यदि भक्तियोग में कोई कर्म करता है तो फिर कर्म का किस तरह त्याग हुआ? दूसरे शव्दों में, वह यह सोचता है कि ज्ञानमय संन्यास को सभी प्रकार के कार्यों से मुक्त होना चाहिए क्योंकि उसे कर्म तथा ज्ञान असंगत से लगते हैं। ऐसा लगता है कि वह यह नहीं समझ पाया कि ज्ञान के साथ किया गया कर्म वन्धनकारी न होने के कारण अकर्म के ही तुल्य है। अतएव वह पूछता है कि वह सव प्रकार से कर्म त्याग दे या पूर्णज्ञान से युक्त होकर कर्म करे?

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ २॥

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; **संन्यासः**—कर्म का परित्याग; **कर्मयोगः**—निष्ठायुक्त कर्म; **च**—भी; **निःश्रेयस-करौ**—मुक्तिपथ को ले जाने वाले; **उभौ**—दोनों; **तयोः**—दोनों में से; **तु**—लेकिन; **कर्म-संन्यासात्**—सकामकर्मों के त्याग से; **कर्म-योगः**—निष्ठायुक्त कर्म; **विशिष्यते**—श्रेष्ठ है।

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया—मुक्ति के लिए तो कर्म का परित्याग तथा भक्तिमय-कर्म (कर्मयोग) दोनों ही उत्तम हैं। किन्तु इन दोनों में से कर्म के परित्याग से भक्तियुक्त कर्म श्रेष्ठ है।

तात्पर्य : सकाम कर्म (इन्द्रियतृप्ति में लगना) ही भववन्धन का कारण है। जव तक मनुष्य शारीरिक सुख का स्तर वढ़ाने के उद्देश्य से कर्म करता रहता है तव तक वह विभिन्न प्रकार के शरीरों में देहान्तरण करते हुए भववन्धन को वनाये रखता है। इसकी पुष्टि *भागवत* (५.५.४-६) में इस प्रकार हुई है—

नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति।
न साधु मन्ये यत आत्मनोऽयमसन्नपि क्लेशद आस देहः॥
पराभवस्तावदवोधजातो यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम्।
यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै कर्मात्मकं येन शरीरवन्धः॥
एवं मनः कर्मवशं प्रयुंक्ते अविद्ययात्मन्युपधीयमाने।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्॥

"लोग इन्द्रियतृप्ति के पीछे मत्त हैं। वे यह नहीं जानते कि उनका क्लेशों से युक्त यह शरीर उनके विगत सकाम-कर्मों का फल है। यद्यपि यह शरीर नाशवान है, किन्तु यह नाना प्रकार के कष्ट देता रहता है। अतः इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करना श्रेयस्कर नहीं है। जब तक मनुष्य अपने असली स्वरूप के विषय में जिज्ञासा नहीं करता, उसका जीवन व्यर्थ रहता है। और जब तक वह अपने स्वरूप को नहीं जान लेता तब तक उसे इन्द्रियतृप्ति के लिए सकाम कर्म करना पड़ता है, और जब तक वह इन्द्रियतृप्ति की इस चेतना में फँसा रहता है तब तक उसका देहान्तरण होता रहता है। भले ही उसका मन सकाम कर्मों में व्यस्त रहे और अज्ञान द्वारा प्रभावित हो, किन्तु उसे वासुदेव की भक्ति के प्रति प्रेम उत्पन्न करना चाहिए। केवल तभी वह भवबन्धन से छूटने का अवसर प्राप्त कर सकता है।"

अतः यह ज्ञान ही (कि वह आत्मा है शरीर नहीं) मुक्ति के लिए पर्याप्त नहीं। जीवात्मा के स्तर पर मनुष्य को कर्म करना होगा अन्यथा भवबन्धन से उबरने का कोई अन्य उपाय नहीं है। किन्तु कृष्णभावनाभावित होकर कर्म करना सकाम कर्म नहीं है। पूर्णज्ञान से युक्त होकर किये गये कर्म वास्तविक ज्ञान को बढ़ाने वाले हैं। बिना कृष्णभावनामृत के केवल कर्मों के परित्याग से बद्धजीव का हृदय शुद्ध नहीं होता। जब तक हृदय शुद्ध नहीं होता तब तक सकाम कर्म करना पड़ेगा। परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म कर्ता को स्वतः सकाम कर्म के फल से मुक्त बनाता है, जिसके कारण उसे भौतिक स्तर तक उतरना नहीं पड़ता। अतः कृष्णभावनाभावित कर्म सन्यास से सदा श्रेष्ठ होता है, क्योंकि सन्यास में नीचे गिरने की सम्भावना बनी रहती है। कृष्णभावनामृत से रहित सन्यास अपूर्ण है, जैसा कि श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृतसिन्धु* में (१.२.२५८) पुष्टि की है—

प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः।
मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते॥

"जब मुक्तिकामी व्यक्ति श्रीभगवान् से सम्बन्धित वस्तुओं को भौतिक समझ कर उनका परित्याग कर देते हैं, तो उनका सन्यास अपूर्ण कहलाता है।" सन्यास तभी पूर्ण माना जाता है जब यह ज्ञात हो कि संसार की प्रत्येक वस्तु भगवान् की है और कोई किसी भी वस्तु का स्वामित्व ग्रहण नहीं कर सकता। वस्तुतः मनुष्य को यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि उसका अपना कुछ भी नहीं है। तो फिर सन्यास का प्रश्न ही कहाँ उठता है? जो व्यक्ति यह समझता है कि सारी सम्पत्ति कृष्ण की है, वह नित्य सन्यासी है। प्रत्येक वस्तु कृष्ण की है, अतः उसका उपयोग कृष्ण के लिए किया जाना चाहिए। कृष्णभावनाभावित होकर इस प्रकार का पूर्ण कार्य करना मायावादी सन्यासी के कृत्रिम वैराग्य से कहीं उत्तम है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ ३॥

ज्ञेयः—जानना चाहिए; **सः**—वह; **नित्य**—सदैव; **सन्यासी**—सन्यासी; **यः**—जो; **न**—कभी नहीं; **द्वेष्टि**—घृणा करता है; **न**—न तो; **काङ्क्षति**—इच्छा करता है; **निर्द्वन्द्वः**—समस्त द्वैतताओं से मुक्त;

हि—निश्चय ही; **महाबाहो**—हे बलिष्ठ भुजाओं वाले; **सुखम्**—सुखपूर्वक; **बन्धात्**—बन्धन से; **प्रमुच्यते**—पूर्णतया मुक्त हो जाता है।

जो पुरुष न तो कर्मफलों से घृणा करता है और न कर्मफल की इच्छा करता है, वह नित्य संन्यासी जाना जाता है। हे महाबाहु अर्जुन! ऐसा मनुष्य समस्त द्वन्द्वों से रहित होकर भवबन्धन को पार कर पूर्णतया मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : पूर्णतया कृष्णभावनाभावित पुरुष नित्य संन्यासी है क्योंकि वह अपने कर्मफल से न तो घृणा करता है, न ही उसकी आकांक्षा करता है। ऐसा संन्यासी, भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति के परायण होकर पूर्णज्ञानी होता है क्योंकि वह कृष्ण के साथ अपनी स्वाभाविक स्थिति को जानता है। वह भलीभाँति जानता रहता है कि कृष्ण पूर्ण (अंशी) हैं और वह स्वयं अंशमात्र है। ऐसा ज्ञान पूर्ण होता है क्योंकि यह गुणात्मक तथा सकारात्मक रूप से सही है। कृष्ण-तादात्म्य की भावना भ्रान्त है क्योंकि अंश अंशी के तुल्य नहीं हो सकता। यह ज्ञान कि एकता गुणों की है न कि गुणों की मात्रा की, सही दिव्यज्ञान है, जिससे मनुष्य अपने आप में पूर्ण बनता है, जिसे न तो किसी वस्तु की आकांक्षा रहती है न किसी का शोक। उसके मन में किसी प्रकार का छल-कपट नहीं रहता क्योंकि वह जो कुछ भी करता है कृष्ण के लिए करता है। इस प्रकार छल-कपट से रहित होकर वह इस भौतिक जगत् से भी मुक्त हो जाता है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥५॥

यत्–जो, सांख्यैः–सांख्यदर्शन के द्वारा, प्राप्यते–प्राप्त किया जाता है, स्थानम्–स्थान, तत्–वही, योगैः–भक्ति द्वारा, अपि–भी, गम्यते–प्राप्त कर सकता है; एकम्–एक, सांख्यम्–विश्लेषणात्मक अध्ययन को; च–तथा, योगम्–भक्तिमय कर्म को, च–तथा, यः–जो, पश्यति–देखता है, सः–वह, पश्यति–वास्तव में देखता है।

जो यह जानता है कि विश्लेषणात्मक अध्ययन (सांख्य) द्वारा प्राप्य स्थान भक्ति द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है, और इस तरह जो सांख्ययोग तथा भक्तियोग को एकसमान देखता है, वही वस्तुओं को यथारूप में देखता है।

तात्पर्य : दार्शनिक शोध (सांख्य) का वास्तविक उद्देश्य जीवन के चरमलक्ष्य की खोज है। चूँकि जीवन का चरमलक्ष्य आत्म-साक्षात्कार है, अतः इन दोनों विधियों से प्राप्त होने वाले परिणामों में कोई अन्तर नहीं है। सांख्य दार्शनिक शोध के द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है कि जीव भौतिक जगत् का नहीं अपितु पूर्ण परमात्मा का अंश है। फलतः जीवात्मा का भौतिक जगत् से कोई सरोकार नहीं होता, उसके सारे कार्य परमेश्वर से सम्बद्ध होने चाहिए। जब वह कृष्णभावनामृतवश कार्य करता है तभी वह अपनी स्वाभाविक स्थिति में होता है। सांख्य विधि में मनुष्य को पदार्थ से विरक्त होना पड़ता है और भक्तियोग में उसे कृष्णभावनाभावित कर्म में आसक्त होना होता है। वस्तुतः दोनों ही विधियाँ एक हैं, यद्यपि ऊपर से एक विधि में विरक्ति दीखती है और दूसरे में आसक्ति है। जो पदार्थ से विरक्ति और कृष्ण में आसक्ति को एक ही तरह देखता है, वही वस्तुओं को यथारूप में देखता है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥६॥

संन्यासः–संन्यास आश्रम; तु–लेकिन; महाबाहो–हे बलिष्ठ भुजाओं वाले; दुःखम्–दुख; आप्तुम्–से प्रभावित; अयोगतः–भक्ति के बिना; योग-युक्तः–भक्ति में लगा हुआ; मुनिः–चिन्तक; ब्रह्म–परमेश्वर को; न चिरेण–शीघ्र ही; अधिगच्छति–प्राप्त करता है।

भक्ति में लगे बिना केवल समस्त कर्मों का परित्याग करने से कोई सुखी नहीं बन सकता। परन्तु भक्ति में लगा हुआ विचारवान व्यक्ति शीघ्र ही परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य : संन्यासी दो प्रकार के होते हैं। मायावादी संन्यासी सांख्यदर्शन के अध्ययन में लगे रहते हैं तथा वैष्णव संन्यासी वेदान्त सूत्रों के यथार्थ भाष्य भागवत-दर्शन के अध्ययन में लगे रहते हैं। मायावादी संन्यासी भी वेदान्त सूत्रों का अध्ययन करते हैं, किन्तु वे शंकराचार्य द्वारा प्रणीत शारीरिक भाष्य का उपयोग करते हैं। भागवत सम्प्रदाय के छात्र पांचरात्रिकी विधि से भगवान् की भक्ति करने में लगे रहते हैं। अतः वैष्णव संन्यासियों

को भगवान् की दिव्यसेवा के लिए अनेक प्रकार के कार्य करने होते हैं। उन्हें भौतिक कार्यों से कोई सरोकार नहीं रहता, किन्तु तो भी वे भगवान् की भक्ति में नाना प्रकार के कार्य करते हैं। किन्तु मायावादी संन्यासी, जो सांख्य तथा वेदान्त के अध्ययन एवं चिन्तन में लगे रहते हैं, वे भगवान् की दिव्य भक्ति का आनन्द नहीं उठा पाते। चूँकि उनका अध्ययन अत्यन्त जटिल हो जाता है, अतः वे कभी-कभी ब्रह्मचिन्तन से ऊब कर समुचित बोध के बिना ही भागवत की शरण ग्रहण करते हैं। फलस्वरूप *श्रीमद्भागवत* का भी अध्ययन उनके लिए कष्टकर होता है। मायावादी संन्यासियों का शुष्क चिन्तन तथा कृत्रिम साधनों से निर्विशेष विवेचना उनके लिए व्यर्थ होती हैं। भक्ति में लगे हुए वैष्णव संन्यासी अपने दिव्य कर्मों को करते हुए प्रसन्न रहते हैं और यह भी निश्चित रहता है कि वे भगवद्धाम को प्राप्त होंगे। मायावादी संन्यासी कभी-कभी आत्म-साक्षात्कार के पथ से नीचे गिर जाते हैं और फिर से समाजसेवा, परोपकार जैसे भौतिक कर्म में प्रवृत्त होते हैं। अतः निष्कर्ष यह निकला कि कृष्णभावनामृत के कार्यों में लगे रहने वाले लोग ब्रह्म-अब्रह्म विषयक साधारण चिन्तन में लगे संन्यासियों से श्रेष्ठ हैं, यद्यपि वे भी अनेक जन्मों के बाद कृष्णभावनाभावित हो जाते हैं।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ७॥

योग-युक्तः—भक्ति में लगे हुए; **विशुद्ध-आत्मा**—शुद्ध आत्मा; **विजित-आत्मा**—आत्म-संयमी; **जित-इन्द्रियः**—इन्द्रियों को जीतने वाला; **सर्व-भूत**—समस्त जीवों के प्रति; **आत्म-भूत-आत्मा**—दयालु; **कुर्वन् अपि**—कर्म में लगे रहकर भी; **न**—कभी नहीं; **लिप्यते**—बँधता है।

जो भक्तिभाव से कर्म करता है, जो विशुद्ध आत्मा है और अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में रखता है, वह सबों को प्रिय होता है और सभी लोग उसे प्रिय होते हैं। ऐसा व्यक्ति कर्म करता हुआ भी कभी नहीं बँधता।

तात्पर्य : जो कृष्णभावनामृत के कारण मुक्तिपथ पर है वह प्रत्येक जीव को प्रिय होता है और प्रत्येक जीव उसके लिए प्यारा है। यह कृष्णभावनामृत के कारण होता है। ऐसा व्यक्ति किसी भी जीव को कृष्ण से पृथक् नहीं सोच पाता, जिस प्रकार वृक्ष की पत्तियाँ तथा टहनियाँ वृक्ष से भिन्न नहीं होतीं। वह भलीभाँति जानता है कि वृक्ष की जड़ में डाला गया जल समस्त पत्तियों तथा टहनियों में फैल जाता है अथवा आमाशय को भोजन देने से शक्ति स्वतः पूरे शरीर में फैल जाती है। चूँकि कृष्णभावनामृत में कर्म करने वाला सबों का दास होता है, अतः वह हर एक को प्रिय होता है। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति उसके कर्म से प्रसन्न रहता है, अतः उसकी चेतना शुद्ध रहती है। चूँकि उसकी चेतना शुद्ध रहती है, अतः उसका मन पूर्णतया नियंत्रण में रहता है। मन के नियंत्रित होने से उसकी इन्द्रियाँ संयमित रहती हैं। चूँकि उसका मन सदैव कृष्ण में स्थिर रहता है, अतः उसके विचलित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। न ही उसे कृष्ण से सम्बद्ध कथाओं के अतिरिक्त अन्य कार्यों में अपनी इन्द्रियों को लगाने का अवसर मिलता है। वह कृष्णकथा के अतिरिक्त और कुछ सुनना नहीं चाहता, वह कृष्ण को अर्पित किए हुए भोजन के

अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं खाना चाहता और न ऐसे किसी स्थान में जाने की इच्छा रखता है जहाँ कृष्ण सम्बन्धी कार्य न होता हो। अतः उसकी इन्द्रियाँ वश में रहती हैं। ऐसा व्यक्ति जिसकी इन्द्रियाँ संयमित हों, वह किसी के प्रति अपराध नहीं कर सकता। इस पर कोई यह प्रश्न कर सकता है, तो फिर अर्जुन अन्यों के प्रति युद्ध में आक्रामक क्यों था? क्या वह कृष्णभावनाभावित नहीं था? वस्तुतः अर्जुन ऊपर से ही आक्रामक था, क्योंकि जैसा कि द्वितीय अध्याय में बताया जा चुका है, आत्मा के अवध्य होने के कारण युद्धभूमि में एकत्र हुए सारे व्यक्ति अपने-अपने स्वरूप में जीवित बने रहेंगे। अतः आध्यात्मिक दृष्टि से कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में कोई मारा नहीं गया। वहाँ पर स्थित कृष्ण की आज्ञा से केवल उनके वस्त्र बदल दिये गये। अतः अर्जुन कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में युद्ध करता हुआ भी वस्तुतः युद्ध नहीं कर रहा था। वह तो पूर्ण कृष्णभावनामृत में कृष्ण के आदेश का पालन मात्र कर रहा था। ऐसा व्यक्ति कभी कर्मबन्धन से नहीं बँधता।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन्॥८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥९॥

न–नहीं, एव–निश्चय ही, किञ्चित्–कुछ भी, करोमि–करता हूँ, इति–इस प्रकार, युक्तः–दैवी चेतना में लगा हुआ, मन्येत–सोचता है, तत्त्ववित्–सत्य को जानने वाला, पश्यन्–देखता हुआ, शृण्वन्–सुनता हुआ, स्पृशन्–स्पर्श करता हुआ, जिघ्रन्–सूँघता हुआ, अश्नन्–खाता हुआ, गच्छन्–जाता हुआ, स्वपन्–स्वप्न देखता हुआ, श्वसन्–साँस लेता हुआ, प्रलपन्–बात करता हुआ, विसृजन्–त्यागता हुआ, गृह्णन्–स्वीकार करता हुआ, उन्मिषन्–खोलता हुआ, निमिषन्–बन्द करता हुआ, अपि–तो भी, इन्द्रियाणि–इन्द्रियों को, इन्द्रिय-अर्थेषु–इन्द्रिय-तृप्ति में; वर्तन्ते–लगी रहने देकर; इति–इस प्रकार, धारयन्–विचार करते हुए।

दिव्य भावनामृत युक्त पुरुष देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, खाते, चलते-फिरते, सोते तथा श्वास लेते हुए भी अपने अन्तर में सदैव यही जानता रहता है कि वास्तव में वह कुछ भी नहीं करता। बोलते, त्यागते, ग्रहण करते या आँखें खोलते-बन्द करते हुए भी वह यह जानता रहता है कि भौतिक इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त हैं और वह इन सबसे पृथक् है।

तात्पर्य : चूँकि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति का जीवन शुद्ध होता है फलतः उसे निकट तथा दूरस्थ पाँच कारणों—कर्ता, कर्म, अधिष्ठान, प्रयास तथा भाग्य—पर निर्भर किसी कार्य से कुछ लेना-देना नहीं रहता। इसका कारण यही है कि वह भगवान् की दिव्य सेवा में लगा रहता है। यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपने शरीर तथा इन्द्रियों से कर्म कर रहा है, किन्तु वह अपनी वास्तविक स्थिति के प्रति सचेत रहता है जो कि आध्यात्मिक व्यस्तता है। भौतिक चेतना में इन्द्रियाँ इन्द्रियतृप्ति में लगी रहती हैं, किन्तु कृष्णभावनामृत में वे कृष्ण की इन्द्रियों की तुष्टि में लगी रहती हैं। अतः

कृष्णभावनाभावित व्यक्ति सदा मुक्त रहता है, भले ही वह ऊपर से भौतिक कार्यों में लगा हुआ दिखाई पड़े। देखने तथा सुनने के कार्य ज्ञानेन्द्रियों के कर्म हैं जबकि चलना, बोलना, मल त्यागना आदि कर्मेन्द्रियों के कार्य हैं। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी भी इन्द्रियों के कार्यों से प्रभावित नहीं होता। वह भगवत्सेवा के अतिरिक्त कोई दूसरा कार्य नहीं कर सकता क्योंकि उसे ज्ञात है कि वह भगवान् का शाश्वत दास है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ १०॥

ब्रह्मणि–भगवान् में; **आधाय**–समर्पित करके; **कर्माणि**–सारे कार्यों को; **सङ्गम्**–आसक्ति; **त्यक्त्वा**–त्यागकर; **करोति**–करता है; **यः**–जो; **लिप्यते**–प्रभावित होता है; **न**–कभी नहीं; **सः**–वह; **पापेन**–पाप से; **पद्म-पत्रम्**–कमल पत्र; **इव**–के सदृश; **अम्भसा**–जल के द्वारा।

जो व्यक्ति कर्मफलों को परमेश्वर को समर्पित करके आसक्तिरहित होकर अपना कर्म करता है, वह पापकर्मों से उसी प्रकार अप्रभावित रहता है, जिस प्रकार कमलपत्र जल से अस्पृश्य रहता है।

तात्पर्य : यहाँ पर *ब्रह्मणि* का अर्थ "कृष्णभावनामृत में" है। यह भौतिक जगत् प्रकृति के तीन गुणों की समग्र अभिव्यक्ति है जिसे *प्रधान* की संज्ञा दी जाती है। वेदमन्त्र *सर्व ह्येतद्ब्रह्म* (*माण्डूक्य उपनिषद्* २), *तस्माद् एतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते* (*मुण्डक उपनिषद्* १.२.१०) तथा *भगवद्गीता* में (१४.३) *मम योनिर्महद्ब्रह्म* से प्रकट है कि जगत् की प्रत्येक वस्तु ब्रह्म की अभिव्यक्ति है और यद्यपि कार्य भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट होते हैं, किन्तु तो भी वे कारण से अभिन्न हैं। *ईशोपनिषद्* में कहा गया है कि सारी वस्तुएँ परब्रह्म या कृष्ण से सम्बन्धित हैं, अतएव वे केवल उन्हीं की हैं। जो यह भलीभाँति जानता है कि प्रत्येक वस्तु कृष्ण की है और वे ही प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं अतः प्रत्येक वस्तु भगवान् की सेवा में ही नियोजित है, उसे स्वभावतः शुभ-अशुभ कर्मफलों से कोई प्रयोजन नहीं रहता। यहाँ तक कि विशेष प्रकार का कर्म सम्पन्न करने के लिए भगवान् द्वारा प्रदत्त मनुष्य का शरीर भी कृष्णभावनामृत में संलग्न किया जा सकता है। तब यह पापकर्मों के कल्मष से वैसे ही परे रहता है जैसे कि कमलपत्र जल में रहकर भी भीगता नहीं। भगवान् *गीता* (३.३०)में भी कहते हैं–*मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य*––सम्पूर्ण कर्मों को मुझे (कृष्ण को) समर्पित करो। तात्पर्य यह कि कृष्णभावनामृत-विहीन पुरुष शरीर एवं इन्द्रियों को अपना स्वरूप समझ कर कर्म करता है, किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति यह समझ कर कर्म करता है कि यह देह कृष्ण की सम्पत्ति है, अतः इसे कृष्ण की सेवा में प्रवृत्त होना चाहिए।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥ ११॥

कायेन–शरीर से; **मनसा**–मन से; **बुद्ध्या**–बुद्धि से; **केवलैः**–शुद्ध; **इन्द्रियैः**–इन्द्रियों से; **अपि**–भी; **योगिनः**–कृष्णभावनाभावित व्यक्ति; **कर्म**–कर्म; **कुर्वन्ति**–करते हैं; **सङ्गम्**–आसक्ति; **त्यक्त्वा**–त्याग

कर; आत्म—आत्मा की; शुद्धये—शुद्धि के लिए।

योगीजन आसक्तिरहित होकर शरीर, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के द्वारा भी केवल शुद्धि के लिए कर्म करते हैं।

तात्पर्य : जब कोई कृष्णभावनामृत में कृष्ण की इन्द्रियतृप्ति के लिए शरीर, मन, बुद्धि अथवा इन्द्रियों द्वारा कर्म करता है तो वह भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है। कृष्णभावनामृत व्यक्ति के कार्यों में कोई भौतिक फल प्रकट नहीं होता। अतः सामान्य रूप से सदाचार कहे जाने वाले शुद्ध कर्म कृष्णभावनामृत में रहते हुए सरलता से सम्पन्न किये जा सकते हैं। श्रील रूप गोस्वामी ने भक्तिरसामृत सिन्धु में (१.२.१८७) इसका वर्णन इस प्रकार किया है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।
निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

"अपने शरीर, मन, बुद्धि तथा वाणी से कृष्णभावनामृत में कर्म करता हुआ (कृष्णसेवा में) व्यक्ति इस संसार में भी मुक्त रहता है, भले ही वह तथाकथित अनेक भौतिक कार्यकलापों में व्यस्त क्यों न रहे।" उसमें अहंकार नहीं रहता क्योंकि वह इसमें विश्वास नहीं रखता कि वह भौतिक शरीर है अथवा यह शरीर उसका है। वह जानता है कि वह यह शरीर नहीं है और न यह शरीर ही उसका है। वह स्वयं कृष्ण का है और उसका यह शरीर भी कृष्ण की सम्पत्ति है। जब वह शरीर, मन, बुद्धि, वाणी, जीवन, सम्पत्ति आदि से उत्पन्न प्रत्येक वस्तु को, जो भी उसके अधिकार में है, कृष्ण की सेवा में लगाता है तो वह तुरन्त कृष्ण से जुड़ जाता है। वह कृष्ण से एकरूप हो जाता है और उस अहंकार से रहित होता है जिसके कारण मनुष्य सोचता है कि मैं शरीर हूँ। यही कृष्णभावनामृत की पूर्णावस्था है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥१२॥

युक्तः—भक्ति में लगा हुआ; कर्म-फलम्—समस्त कर्मों के फल; त्यक्त्वा—त्यागकर; शान्तिम्—पूर्ण शान्ति को; आप्नोति—प्राप्त करता है; नैष्ठिकीम्—अचल; अयुक्तः—कृष्णभावना से रहित; काम-कारेण—कामवासना के कारण; फले—फल में; सक्तः—आसक्त; निबध्यते—बँधता है।

निश्चल भक्त शुद्ध शान्ति प्राप्त करता है क्योंकि वह समस्त कर्मफल मुझे अर्पित कर देता है, किन्तु जो व्यक्ति भगवान् से युक्त नहीं है और जो अपने श्रम का फलकामी है, वह बँध जाता है।

तात्पर्य : एक कृष्णभावनाभावित व्यक्ति तथा देहात्मबुद्धि वाले व्यक्ति में यह अन्तर है कि पहला तो कृष्ण के प्रति आसक्त रहता है जबकि दूसरा अपने कर्मों के फल के प्रति आसक्त रहता है। जो व्यक्ति कृष्ण के प्रति आसक्त रहकर उन्हीं के लिए कर्म करता है वह निश्चय ही मुक्त पुरुष है और उसे अपने कर्मफल की कोई चिन्ता नहीं होती। भागवत में किसी कर्म के फल की चिन्ता का कारण परमसत्य के ज्ञान के बिना द्वैतभाव

में रहकर कर्म करना बताया गया है। कृष्ण श्रीभगवान् हैं। कृष्णभावनामृत में कोई द्वैत नहीं रहता। जो कुछ विद्यमान है वह कृष्ण की शक्ति का प्रतिफल है और कृष्ण सर्वमंगलमय हैं। अतः कृष्णभावनामृत में सम्पन्न सारे कार्य परम पद पर हैं। वे दिव्य होते हैं और उनका कोई भौतिक प्रभाव नहीं पड़ता। इस कारण कृष्णभावनामृत में जीव शान्ति से पूरित रहता है। किन्तु जो इन्द्रियतृप्ति के लिए लाभ के लोभ में फँसा रहता है, उसे शान्ति नहीं मिल सकती। यही कृष्णभावनामृत का रहस्य है—यह अनुभूति कि कृष्ण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, शान्ति तथा अभय का पद है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥१३॥

सर्व—समस्त; **कर्माणि**—कर्मों को; **मनसा**—मन से; **संन्यस्य**—त्यागकर; **आस्ते**—रहता है; **सुखम्**—सुख में; **वशी**—संयमी; **नव-द्वारे**—नौ द्वारों वाले; **पुरे**—नगर में; **देही**—देहवान् आत्मा; **न**—नहीं; **एव**—निश्चय ही; **कुर्वन्**—करता हुआ; **न**—नहीं; **कारयन्**—कराता हुआ।

जब देहधारी जीवात्मा अपनी प्रकृति को वश में कर लेता है और मन से समस्त कर्मों का परित्याग कर देता है तब वह नौ द्वारों वाले नगर (भौतिक शरीर) में बिना कुछ किये कराये सुखपूर्वक रहता है।

तात्पर्य : देहधारी जीवात्मा नौ द्वारों वाले नगर में वास करता है। शरीर अथवा नगर रूपी शरीर के कार्य प्राकृतिक गुणों द्वारा स्वतः सम्पन्न होते हैं। शरीर की परिस्थितियों के अनुसार रहते हुए भी जीव इच्छानुसार इन परिस्थितियों के परे भी हो सकता है। अपनी परा प्रकृति को विस्मृत करने के ही कारण वह अपने को शरीर समझ बैठता है और इसीलिए कष्ट पाता है। कृष्णभावनामृत के द्वारा वह अपनी वास्तविक स्थिति को पुनः प्राप्त कर सकता है और इस देह-बन्धन से मुक्त हो सकता है। अतः ज्योंही कोई कृष्णभावनामृत को प्राप्त होता है तुरन्त ही वह शारीरिक कार्यों से सर्वथा विलग हो जाता है। ऐसे संयमित जीवन में, जिसमें उसकी कार्यप्रणाली में परिवर्तन आ जाता है, वह नौ द्वारों वाले नगर में सुखपूर्वक निवास करता है। ये नौ द्वार इस प्रकार हैं—

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥

"जीव के शरीर के भीतर वास करने वाले भगवान् ब्रह्माण्ड के समस्त जीवों के नियन्ता हैं। यह शरीर नौ द्वारों (दो आँखें, दो नथुने, दो कान, एक मुँह, गुदा तथा उपस्थ) से युक्त है। बद्धावस्था में जीव अपने आपको शरीर मानता है, किन्तु जब वह अपनी पहचान अपने अन्तर के भगवान् से करता है तो वह शरीर में रहते हुए भी भगवान् की भाँति मुक्त हो जाता है।" (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ३.१८) अतः कृष्णभावनाभावित व्यक्ति शरीर के बाह्य तथा आन्तरिक दोनों कर्मों से मुक्त रहता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥१४॥

न–नहीं, कर्तृत्वम्–कर्तापन या स्वामित्व को, न–न तो, कर्माणि–कर्मों को, लोकस्य–लोगों के, सृजति–उत्पन्न करता है; प्रभुः–शरीर रूपी नगर का स्वामी; न–न तो; कर्म-फल–कर्मों के फल से; संयोगम्–सम्बन्ध को; स्वभावः–प्रकृति के गुण, तु–लेकिन, प्रवर्तते–कार्य करते हैं।

शरीर रूपी नगर का स्वामी देहधारी जीवात्मा न तो कर्म का सृजन करता है, न लोगों को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है, न ही कर्मफल की रचना करता है। यह सब तो प्रकृति के गुणों द्वारा ही किया जाता हे।

तात्पर्य : जेसा कि सातवे अध्याय में वताया जाएगा जीव तो परमेश्वर की शक्तियों में से एक हे, किन्तु वह भगवान् की अपरा प्रकृति है जो पदार्थ से भिन्न हे। संयोगवश परा प्रकृति या जीव अनादिकाल से प्रकृति (अपरा) के सम्पर्क में रहा हे। जिस नाशवान शरीर या भोतिक आवास को वह प्राप्त करता हे वह अनेक कर्मो ओर उनके फलों का कारण है। ऐसे वद्ध वातावरण में रहते हुए मनुष्य अपने आपको (अज्ञानवश) शरीर मानकर शरीर के कर्मफलों का भोग करता हे। अनन्त काल से उपार्जित यह अज्ञान ही शारीरिक सुख-दुख का कारण हे। ज्योंही जीव शरीर के कार्यो से पृथक् हो जाता हे त्योंही वह कर्मवन्धन से भी मुक्त हो जाता हे। जव तक वह शरीर रूपी नगर में निवास करता हे तय तक वह इसका स्वामी प्रतीत होता हे, किन्तु वास्तव मे वह न तो इसका स्वामी होता हे ओर न इसके कर्मों तथा फलों का नियन्ता ही। वह तो इस भवसागर के वीच जीवन-संघर्ष में रत प्राणी हे। सागर की लहरें उसे उछालती रहती हैं, किन्तु उन पर उसका वश नहीं चलता। उसके उद्धार का एकमात्र साधन हे कि दिव्य कृष्णभावनामृत द्वारा समुद्र के वाहर आए। इसी के द्वारा समस्त अशान्ति से उसकी रक्षा हो सकती हे।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥१५॥

न–कभी नहीं, आदत्ते–स्वीकार करता है; कस्यचित्–किसी का, पापम्–पाप, न–न तो, च–भी, एव–निश्चय ही, सु-कृतम्–पुण्य को; विभुः–परमेश्वर, अज्ञानेन–अज्ञान से, आवृतम्–आच्छादित, ज्ञानम्–ज्ञान, तेन–उससे, मुह्यन्ति–मोह-ग्रस्त होते हैं; जन्तवः–जीवगण।

परमेश्वर न तो किसी के पापों को ग्रहण करता है, न पुण्यों को। किन्तु सारे देहधारी जीव उस अज्ञान के कारण मोहग्रस्त रहते हैं, जो उनके वास्तविक ज्ञान को आच्छादित किये रहता है।

तात्पर्य : *विभु* का अर्थ हे, परमेश्वर जो असीम ज्ञान, धन, वल, यश, सोन्दर्य तथा त्याग से युक्त हे। वह सदेव आत्मतृप्त ओर पाप-पुण्य मे अविचलित रहता हे। वह [illegible] जीव के लिए विशिष्ट परिस्थिति नहीं उत्पन्न करता, अपितु जीव अज्ञान से मोहित [illegible] जीवन की ऐसी परिस्थिति की कामना करता हे जिसके कारण कर्म तथा [illegible] आरम्भ होती हे। जीव परा प्रकृति के कारण ज्ञान म पूर्ण हे। तो भी वह [illegible] शक्ति के कारण अज्ञान के वशीभूत हो जाता हे। भगवान् सर्वशक्तिमान् है, [illegible]

नहीं है। भगवान् *विभु* अर्थात् सर्वज्ञ है, किन्तु जीव *अणु* है। जीवात्मा में इच्छा करने की शक्ति है, किन्तु ऐसी इच्छा की पूर्ति सर्वशक्तिमान् भगवान् द्वारा ही की जाती है। अतः जब जीव अपनी इच्छाओं से मोहग्रस्त हो जाता है तो भगवान् उसे अपनी इच्छापूर्ति करने देते हैं, किन्तु किसी परिस्थिति विशेष में इच्छित कर्मों तथा फलों के लिए उत्तरदायी नहीं होते। अतएव मोहग्रस्त होने से देहधारी जीव अपने को परिस्थितिजन्य शरीर मान लेता है और जीवन के क्षणिक दुख तथा सुख को भोगता है। भगवान् परमात्मा रूप में जीव का चिरसंगी रहते हैं, फलतः वे प्रत्येक जीव की इच्छाओं को उसी तरह समझते हैं जिस तरह फूल के निकट रहने वाला फूल की सुगन्ध को। इच्छा जीव को बद्ध करने के लिए सूक्ष्म बन्धन है। भगवान् मनुष्य की योग्यता के अनुसार उसकी इच्छा को पूरा करते हैं—*आपन सोची होत नहिं प्रभु सोची तत्काल*। अतः व्यक्ति अपनी इच्छाओं को पूरा करने में सर्वशक्तिमान् नहीं होता। किन्तु भगवान् इच्छाओं की पूर्ति कर सकते हैं। वे निष्पक्ष होने के कारण स्वतन्त्र अणुजीवों की इच्छाओं में व्यवधान नहीं डालते। किन्तु जब कोई कृष्ण की इच्छा करता है तो भगवान् उसकी विशेष चिन्ता करते हैं और उसे इस प्रकार प्रोत्साहित करते हैं कि भगवान् को प्राप्त करने की उसकी इच्छा पूरी हो और वह सदैव सुखी रहे। अतएव वैदिक मन्त्र पुकार कर कहते हैं—*एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवासाधु कर्म कारयति यमधो निनीषते*—"भगवान् जीव को शुभ कर्मों में इसलिए प्रवृत्त करते हैं जिससे वह ऊपर उठे। भगवान् उसे अशुभ कर्मों में इसलिए प्रवृत्त करते हैं जिससे वह नरक जाए।" (*कौषीतकी उपनिषद्* ३.८)।

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वाश्वभ्रमेव च॥

"जीव अपने सुख-दुख में पूर्णतया आश्रित है। परमेश्वर की इच्छा से वह स्वर्ग या नरक जाता है, जिस तरह वायु के द्वारा प्रेरित बादल।"

अतः देहधारी जीव कृष्णभावनामृत की उपेक्षा करने की अपनी अनादि प्रवृत्ति के कारण अपने लिए मोह उत्पन्न करता है। फलस्वरूप स्वभावतः सच्चिदानन्द स्वरूप होते हुए भी वह अपने अस्तित्व की लघुता के कारण भगवान् के प्रति सेवा करने की अपनी स्वाभाविक स्थिति को भूल जाता है और इस तरह वह अविद्या द्वारा बन्दी बना लिया जाता है। अज्ञानवश जीव यह कहता है कि उसके भवबन्धन के लिए भगवान् उत्तरदायी हैं। इसकी पुष्टि *वेदान्त-सूत्र* (२.१.३४) भी करते हैं—*वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति*—"भगवान् न तो किसी के प्रति घृणा करते हैं, न किसी को चाहते हैं, यद्यपि ऊपर से ऐसा प्रतीत होता है।"

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥१६॥

ज्ञानेन—ज्ञान से; **तु**—लेकिन; **तत्**—वह; **अज्ञानम्**—अविद्या; **येषाम्**—जिनका; **नाशितम्**—नष्ट हो जाती है; **आत्मनः**—जीव का; **तेषाम्**—उनके; **आदित्य-वत्**—उदीयमान सूर्य के समान; **ज्ञानम्**—ज्ञान को; **प्रकाशयति**—प्रकट करता है; **तत् परम्**—कृष्णभावनामृत को।

किन्तु जब कोई उस ज्ञान से प्रवुद्ध होता है, जिससे अविद्या का विनाश होता है, तो उसके ज्ञान से सब कुछ उसी तरह प्रकट हो जाता है, जैसे दिन में सूर्य से सारी वस्तुएँ प्रकाशित हो जाती हैं।

तात्पर्य : जो लोग कृष्ण को भूल गये हैं वे निश्चित रूप से मोहग्रस्त होते हैं, किन्तु जो कृष्णभावनाभावित हैं वे नहीं होते। *भगवद्गीता* में कहा गया है—*सर्वं ज्ञानप्लवेन, ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि* तथा *न हि ज्ञानेन सदृशम्।* ज्ञान सदेव सम्माननीय हे। ओर वह ज्ञान क्या हे? श्रीकृष्ण के प्रति आत्मसमर्पण करने पर ही पूर्णज्ञान प्राप्त होता हे, जेसा कि *गीता* मे (७.१९) ही कहा गया हे—*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।* अनेकानेक जन्म वीत जाने पर ही पूर्णज्ञान प्राप्त करके मनुष्य कृष्ण की शरण में जाता हे अथवा जव उसे कृष्णभावनामृत प्राप्त होता है तो उसे सव कुछ प्रकट होने लगता है, जिस प्रकार सूर्योदय होने पर सारी वस्तुएँ दिखने लगती हैं। जीव नाना प्रकार से मोहग्रस्त होता हे। उदाहरणार्थ, जव वह अपने को ईश्वर मानने लगता हे, तो वह अविद्या के पाश में जा गिरता हे। यदि जीव ईश्वर हे तो वह अविद्या से केसे मोहग्रस्त हो सकता हे? क्या ईश्वर अविद्या से मोहग्रस्त होता हे? यदि ऐसा हो सकता है तो फिर अविद्या या शेतान ईश्वर से वडा हे। वास्तविक ज्ञान उसी से प्राप्त हो सकता है जो पूर्णतः कृष्णभावनाभावित हे। अत. ऐसे ही प्रामाणिक गुरु की खोज करनी होती हे और उसी से सीखना होता हे कि कृष्णभावनामृत क्या है, क्योंकि [illegible] अविद्या उसी प्रकार दूर हो जाती हे, जिस प्रकार सूर्य से अंधकार [illegible] व्यक्ति को इसका पूरा ज्ञान हो कि वह शरीर नहीं [illegible] हे कि वह आत्मा तथा परमात्मा में अन्तर न कर [illegible] कृष्णभावनाभावित गुरु की शरण ग्रहण करता है [illegible] के प्रतिनिधि से भेट होने पर ही ईश्वर तथा [illegible] जाना जा सकता हे। ईश्वर का प्रतिनिधि [illegible] यद्यपि उसका सम्मान ईश्वर की ही भाँति [illegible] होता हे। मनुष्य को ईश्वर ओर जीव [illegible] कृष्ण ने द्वितीय अध्याय मे (२.१२) [illegible] भी व्यष्टि हैं। ये सव भूतकाल में [illegible] होने पर भी व्यष्टि वने रहेंगे। रात्रि [illegible] हे, किन्तु दिन में सूर्य के उदय [illegible] दिखती हैं। आध्यात्मिक जीवन [illegible]

तद्बुद्धय[illegible]
गच्छन्त्यपुन[illegible]

तत्-बुद्धयः–नित्य [illegible]
हैं; तत्-निष्ठाः–[illegible]

है; गच्छन्ति–जाते हैं; अपुनः-आवृत्तिम्–मुक्ति को; ज्ञान–ज्ञान द्वारा; निर्धूत–शुद्ध किये गये; कल्मषाः–पाप, अविद्या।

जब मनुष्य की बुद्धि, मन, श्रद्धा तथा शरण सब कुछ भगवान् में स्थिर हो जाते हैं, तभी वह पूर्णज्ञान द्वारा समस्त कल्मष से शुद्ध होता है और मुक्ति के पथ पर अग्रसर होता है।

तात्पर्य : परम दिव्य सत्य भगवान् कृष्ण ही हैं। सारी *गीता* इसी घोषणा पर केन्द्रित है कि कृष्ण श्रीभगवान् हैं। यही समस्त वेदों का भी अभिमत है। परतत्त्व का अर्थ परमसत्य है जो भगवान् को ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के रूप में जानने वालों द्वारा समझा जाता है। भगवान् ही इस परतत्त्व की पराकाष्ठा हैं। उनसे बढ़कर कुछ नहीं है। भगवान् कहते हैं—*मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।* कृष्ण निराकार ब्रह्म का भी अनुमोदन करते हैं—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*। अतः सभी प्रकार से कृष्ण परमसत्य (परतत्त्व) हैं। जिनके मन, बुद्धि, श्रद्धा तथा शरण कृष्ण में हैं अर्थात् जो पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हैं, उनके सारे कल्मष धुल जाते हैं और उन्हें ब्रह्म सम्बन्धी प्रत्येक वस्तु का पूर्णज्ञान रहता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति यह भलीभाँति समझ सकता है कि कृष्ण में द्वैत है (एकसाथ एकता तथा भिन्नता) और ऐसे दिव्यज्ञान से युक्त होकर वह मुक्ति-पथ पर सुस्थिर प्रगति कर सकता है।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥१८॥

विद्या–शिक्षण; विनय–तथा विनम्रता से; सम्पन्ने–युक्त; ब्राह्मणे–ब्राह्मण में; गवि–गाय में; हस्तिनि–हाथी में; शुनि–कुत्ते में; च–तथा; एव–निश्चय ही; श्वपाके–कुत्ताभक्षी (चाण्डाल) में; च–क्रमशः; पण्डिताः–ज्ञानी; सम-दर्शिनः–समान दृष्टि से देखने वाले।

विनम्र साधुपुरुष अपने वास्तविक ज्ञान के कारण एक विद्वान् तथा विनीत ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल को समान दृष्टि (समभाव) से देखते हैं।

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित व्यक्ति योनि या जाति में भेद नहीं मानता। सामाजिक दृष्टि से ब्राह्मण तथा चाण्डाल भिन्न-भिन्न हो सकते हैं अथवा योनि के अनुसार कुत्ता, गाय तथा हाथी भिन्न हो सकते हैं, किन्तु विद्वान् योगी की दृष्टि में ये शरीरगत भेद अर्थहीन होते हैं। इसका कारण परमेश्वर से उनका सम्बन्ध है और परमेश्वर परमात्मा रूप में हर एक के हृदय में स्थित हैं। परमसत्य का ऐसा ज्ञान वास्तविक (यथार्थ) ज्ञान है। जहाँ तक विभिन्न जातियों या विभिन्न योनियों में शरीर का सम्बन्ध है, भगवान् सबों पर समान रूप से दयालु हैं क्योंकि वे प्रत्येक जीव को अपना मित्र मानते हैं फिर भी जीवों की समस्त परिस्थितियों में वे अपना परमात्मा स्वरूप बनाये रखते हैं। परमात्मा रूप में भगवान् चाण्डाल तथा ब्राह्मण दोनों में उपस्थित रहते हैं, यद्यपि इन दोनों के शरीर एक से नहीं होते। शरीर तो प्रकृति के गुणों के द्वारा उत्पन्न हुए हैं, किन्तु शरीर के भीतर आत्मा तथा परमात्मा समान आध्यात्मिक गुण वाले हैं। परन्तु आत्मा तथा परमात्मा की

यह समानता उन्हें मात्रात्मक दृष्टि से समान नहीं बनाती क्योंकि व्यष्टि आत्मा किसी विशेष शरीर में उपस्थित होता है, किन्तु परमात्मा प्रत्येक शरीर में है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को इसका पूर्णज्ञान होता है इसीलिए वह सचमुच ही विद्वान् तथा समदर्शी होता है। आत्मा तथा परमात्मा के लक्षण समान हैं क्योंकि दोनों चेतन, शाश्वत तथा आनन्दमय हैं। किन्तु अन्तर इतना ही है कि आत्मा शरीर की सीमा के भीतर सचेतन रहता है जबकि परमात्मा सभी शरीरों में सचेतन है। परमात्मा बिना किसी भेदभाव के सभी शरीरों में विद्यमान है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥१९॥

इह–इस जीवन में; एव–निश्चय ही; तैः–उनके द्वारा; जितः–जीता हुआ; सर्गः–जन्म तथा मृत्यु; येषाम्–जिनका; साम्ये–समता में; स्थितम्–स्थित; मनः–मन, निर्दोषम्–दोषरहित, हि–निश्चय ही; समम्–समान; ब्रह्म–ब्रह्म की तरह; तस्मात्–अतः, ब्रह्मणि–परमेश्वर में, ते–वे; स्थिताः–स्थित हैं।

जिनके मन एकत्व तथा समता में स्थित हैं उन्होंने जन्म तथा मृत्यु के बन्धनों को पहले ही जीत लिया है। वे ब्रह्म के समान निर्दोष हैं और सदा ब्रह्म में ही स्थित रहते हैं।

तात्पर्य : जैसा कि ऊपर कहा गया है मानसिक समता आत्म-साक्षात्कार का लक्षण है। जिन्होंने ऐसी अवस्था प्राप्त कर ली है, उन्हें भौतिक बंधनों पर, विशेषतया जन्म तथा मृत्यु पर, विजय प्राप्त किए हुए मानना चाहिए। जब तक मनुष्य शरीर को आत्मस्वरूप मानता है, वह बद्धजीव माना जाता है, किन्तु ज्योंही वह आत्म-साक्षात्कार द्वारा समचित्तता की अवस्था को प्राप्त कर लेता है, वह बद्धजीवन से मुक्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में, उसे इस भौतिक जगत् में जन्म नहीं लेना पड़ता, अपितु अपनी मृत्यु के बाद वह आध्यात्मिक लोक को जाता है। भगवान् निर्दोष हैं क्योंकि वे आसक्ति अथवा घृणा से रहित हैं। इसी प्रकार जब जीव आसक्ति अथवा घृणा से रहित होता है तो वह भी निर्दोष बन जाता है और वैकुण्ठ जाने का अधिकारी हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों को पहले से ही मुक्त मानना चाहिए। उनके लक्षण आगे बतलाये गये हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥२०॥

न–कभी नहीं, प्रहृष्येत्–हर्षित होता है, प्रियम्–प्रिय को, प्राप्य–प्राप्त करके; न–नहीं, उद्विजेत्–विचलित होता है, प्राप्य–प्राप्त करके, च–भी, अप्रियम्–अप्रिय को, स्थिर-बुद्धिः–आत्मबुद्धि, कृष्णचेतना, असम्मूढः–मोहरहित, संशयरहित, ब्रह्म-वित्–परब्रह्म को जानने वाला; ब्रह्मणि–ब्रह्म में, स्थितः–स्थित।

जो न तो प्रिय वस्तु को पाकर हर्षित होता है और न अप्रिय को पाकर विचलित होता है, जो स्थिरबुद्धि है, जो मोहरहित है और भगवद्विद्या को जानने वाला है वह

पहले से ही ब्रह्म में स्थित रहता है।

तात्पर्य : यहाँ पर स्वरूपसिद्ध व्यक्ति के लक्षण दिये गये हैं। पहला लक्षण यह है कि उसमें शरीर और आत्मतत्त्व के तादात्म्य का भ्रम नहीं रहता। वह यह भलीभाँति जानता है कि मैं यह शरीर नहीं हूँ, अपितु भगवान् का एक अंश हूँ। अतः कुछ प्राप्त होने पर न तो उसे प्रसन्नता होती है और न शरीर की कुछ हानि होने पर शोक होता है। मन की यह स्थिरता *स्थिरबुद्धि* या आत्मबुद्धि कहलाती है। अतः वह न तो स्थूल शरीर को आत्मा मानने की भूल करके मोहग्रस्त होता है और न शरीर को स्थायी मानकर आत्मा के अस्तित्व को ठुकराता है। इस ज्ञान के कारण वह परमसत्य अर्थात् ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के ज्ञान को भलीभाँति जान लेता है। इस प्रकार वह अपने स्वरूप को जानता है और परब्रह्म से हर बात में तदाकार होने का कभी यत्न नहीं करता। इसे ब्रह्म-साक्षात्कार या आत्म-साक्षात्कार कहते हैं। ऐसी स्थिरबुद्धि कृष्णभावनामृत कहलाती है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥ २१॥

बाह्य-स्पर्शेषु—बाह्य इन्द्रिय सुख में; **असक्त-आत्मा**—अनासक्त पुरुष; **विन्दति**—भोग करता है; **आत्मनि**—आत्मा में; **यत्**—जो; **सुखम्**—सुख; **सः**—वह; **ब्रह्म-योग**—ब्रह्म में एकाग्रता द्वारा; **युक्त-आत्मा**—आत्म युक्त या समाहित; **सुखम्**—सुख; **अक्षयम्**—असीम; **अश्नुते**—भोगता है।

ऐसा मुक्त पुरुष भौतिक इन्द्रियसुख की ओर आकृष्ट नहीं होता, अपितु सदैव समाधि में रहकर अपने अन्तर में आनन्द का अनुभव करता है। इस प्रकार स्वरूपसिद्ध व्यक्ति परब्रह्म में एकाग्रचित्त होने के कारण असीम सुख भोगता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत के महान भक्त श्री यामुनाचार्य ने कहा है—

यदवधि मम चेतः कृष्णपादारविन्दे
नवनवरसधामन्युद्यतं रन्तुमासीत्।
तदवधि बत नारीसंगमे स्मर्यमाने
भवति मुखविकारः सुष्ठु निष्ठीवनं च॥

"जब से मैं कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगकर उनमें नित्य नवीन आनन्द का अनुभव करने लगा हूँ तब से जब भी काम-सुख के बारे में सोचता हूँ तो इस विचार पर ही थूकता हूँ और मेरे होंठ अरुचि से सिमट जाते हैं।" ब्रह्मयोगी अथवा कृष्णभावनाभावित व्यक्ति भगवान् की प्रेमाभक्ति में इतना अधिक लीन रहता है कि इन्द्रियसुख में उसकी तनिक भी रुचि नहीं रह जाती। भौतिकता की दृष्टि में कामसुख ही सर्वोपरि आनन्द है। सारा संसार उसी के वशीभूत है और भौतिकतावादी लोग तो इस प्रोत्साहन के बिना कोई कार्य ही नहीं कर सकते। किन्तु कृष्णभावनामृत में लीन व्यक्ति कामसुख के बिना ही उत्साहपूर्वक अपना कार्य करता रहता है। यही आत्म-साक्षात्कार की कसौटी है। आत्म-साक्षात्कार तथा कामसुख कभी साथ-साथ नहीं चलते। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति जीवन्मुक्त होने के कारण किसी प्रकार के इन्द्रियसुख द्वारा आकर्षित नहीं होता।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥२२॥

ये—जो; हि—निश्चय ही; संस्पर्श-जाः—भौतिक इन्द्रियों के स्पर्श से उत्पन्न; भोगाः—भोग; दुःख—दुख; योनयः—स्रोत, कारण; एव—निश्चय ही; ते—वे; आदि—प्रारम्भ; अन्तवन्तः—अन्तकाले; कौन्तेय—हे कुन्तीपुत्र; न—कभी नहीं; तेषु—उनमें; रमते—आनन्द लेता है; बुधः—बुद्धिमान् मनुष्य।

बुद्धिमान् मनुष्य दुख के कारणों में भाग नहीं लेता जो कि भौतिक इन्द्रियों के संसर्ग से उत्पन्न होते हैं। हे कुन्तीपुत्र! ऐसे भोगों का आदि तथा अन्त होता है, अतः चतुर व्यक्ति उनमें आनन्द नहीं लेता।

तात्पर्य : भौतिक इन्द्रियसुख उन इन्द्रियों के स्पर्श से उद्भूत हैं जो नाशवान हैं क्योंकि शरीर स्वयं नाशवान है। मुक्तात्मा किसी नाशवान वस्तु में रुचि नहीं रखता। दिव्य आनन्द के सुखों से भलीभाँति अवगत वह भला मिथ्या सुख के लिए क्यों सहमत होगा? पद्मपुराण में कहा गया है—

रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥

"योगीजन परमसत्य में रमण करते हुए अनन्त दिव्यसुख प्राप्त करते हैं इसीलिए परमसत्य को भी राम कहा जाता है।"

भागवत में (५.५.१) भी कहा गया है—

नायं देहो देहभाजां नृलोके कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये।
तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं शुद्ध्येद्यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्॥

"हे पुत्रो! इस मनुष्ययोनि में इन्द्रियसुख के लिए अधिक श्रम करना व्यर्थ है। ऐसा सुख तो सूकरों को भी प्राप्य है। इसकी अपेक्षा तुम्हें इस जीवन में तप करना चाहिए जिससे तुम्हारा जीवन पवित्र हो जाय और तुम असीम दिव्यसुख प्राप्त कर सको।"

अतः जो यथार्थ योगी या दिव्य ज्ञानी हैं वे इन्द्रियसुखों की ओर आकृष्ट नहीं होते क्योंकि ये निरन्तर भवरोग के कारण हैं। जो भौतिकसुख के प्रति जितना ही आसक्त होता है, उसे उतने ही अधिक भौतिक दुख मिलते हैं।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥२३॥

शक्नोति—समर्थ है; इह एव—इसी शरीर में; यः—जो; सोढुम्—सहन करने के लिए; प्राक्—पूर्व; शरीर—शरीर; विमोक्षणात्—त्याग करने से; काम—इच्छा; क्रोध—तथा क्रोध से; उद्भवम्—उत्पन्न; वेगम्—वेग को; सः—वह; युक्तः—समाधि में; सः—वही; सुखी—सुखी; नरः—मनुष्य।

यदि इस शरीर को त्यागने के पूर्व कोई मनुष्य इन्द्रियों के वेगों को सहन करने तथा इच्छा एवं क्रोध के वेग को रोकने में समर्थ होता है, तो वह इस संसार में सुखी रह सकता है।

तात्पर्य : यदि कोई आत्म-साक्षात्कार के पथ पर अग्रसर होना चाहता है तो उसे भौतिक

इन्द्रियों के वेग को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। ये वेग हैं—वाणीवेग, क्रोधवेग, मनोवेग, उदरवेग, उपस्थवेग तथा जिह्वावेग। जो व्यक्ति इन विभिन्न इन्द्रियों के वेगों को तथा मन को वश में करने में समर्थ है वह *गोस्वामी* या स्वामी कहलाता है। ऐसे गोस्वामी नितान्त संयमित जीवन बिताते हैं और इन्द्रियों के वेगों का तिरस्कार करते हैं। भौतिक इच्छाएँ पूर्ण न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है और इस प्रकार मन, नेत्र तथा वक्षस्थल उत्तेजित होते हैं। अतः इस शरीर का परित्याग करने के पूर्व मनुष्य को इन्हें वश में करने का अभ्यास करना चाहिए। जो ऐसा कर सकता है वह स्वरूपसिद्ध माना जाता है और आत्म-साक्षात्कार की अवस्था में वह सुखी रहता है। योगी का कर्तव्य है कि वह इच्छा तथा क्रोध को वश में करने का भरसक प्रयत्न करे।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ २४॥

यः—जो; **अन्तः-सुखः**—अन्तर में सुखी; **अन्तः-आरामः**—अन्तर में रमण करने वाला अन्तर्मुखी; **तथा**—और; **अन्तः-ज्योतिः**—भीतर-भीतर लक्ष्य करते हुए; **एव**—निश्चय ही; **यः**—जो कोई; **सः**—वह; **योगी**—योगी; **ब्रह्म-निर्वाणम्**—परब्रह्म में मुक्ति; **ब्रह्म-भूतः**—स्वरूपसिद्ध; **अधिगच्छति**—प्राप्त करता है।

जो अन्तःकरण में सुख का अनुभव करता है, जो कर्मठ है और अन्तःकरण में ही रमण करता है तथा जिसका लक्ष्य अन्तर्मुखी होता है वह सचमुच पूर्ण योगी है। वह परब्रह्म में मुक्ति पाता है और अन्ततोगत्वा ब्रह्म को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : जब तक मनुष्य अपने अन्तःकरण में सुख का अनुभव नहीं करता तब तक भला बाह्यसुख को प्राप्त कराने वाली बाह्य क्रियाओं से वह कैसे छूट सकता है? मुक्त पुरुष वास्तविक अनुभव द्वारा सुख भोगता है। अतः वह किसी भी स्थान में मौनभाव से बैठकर अन्तःकरण में जीवन के कार्यकलापों का आनन्द लेता है। ऐसा मुक्त पुरुष कभी बाह्य भौतिक सुख की कामना नहीं करता। यह अवस्था ब्रह्मभूत कहलाती है, जिसे प्राप्त करने पर भगवद्धाम जाना निश्चित है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ २५॥

लभन्ते—प्राप्त करते हैं; **ब्रह्म-निर्वाणम्**—मुक्ति; **ऋषयः**—अन्तर से क्रियाशील रहने वाले; **क्षीण-कल्मषाः**—समस्त पापों से रहित; **छिन्न**—निवृत्त होकर; **द्वैधाः**—द्वैत से; **यत-आत्मानः**—आत्म-साक्षात्कार में निरत; **सर्वभूत**—समस्त जीवों के; **हिते**—कल्याण में; **रताः**—लगे हुए।

जो लोग संशय से उत्पन्न होने वाले द्वैत से परे हैं, जिनके मन आत्म-साक्षात्कार में रत हैं, जो समस्त जीवों के कल्याणकार्य करने में सदैव व्यस्त रहते हैं और जो समस्त पापों से रहित हैं, वे ब्रह्मनिर्वाण (मुक्ति) को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य : केवल वही व्यक्ति सभी जीवों के कल्याणकार्य में रत कहा जाएगा जो पूर्णतया

कृष्णभावनाभावित है। जब व्यक्ति को यह वास्तविक ज्ञान हो जाता है कि कृष्ण ही सभी वस्तुओं के उद्गम हैं तब वह जो भी कर्म करता है सबों के हित को ध्यान में रखकर करता है। परमभोक्ता, परमनियन्ता तथा परमसखा कृष्ण को भूल जाना मानवता के क्लेशों का कारण है। अत: समग्र मानवता के लिए कार्य करना सबसे बडा कल्याणकार्य है। कोई भी मनुष्य ऐसे श्रेष्ठ कार्य मे तब तक नही लग पाता जब तक वह स्वयं मुक्त न हो। कृष्णभावनाभावित मनुष्य के हृदय में कृष्ण की सर्वोच्चता पर बिल्कुल संदेह नहीं रहता। वह इसीलिए सन्देह नहीं करता क्योंकि वह समस्त पापों से रहित होता है। ऐसा है–यह दैवी प्रेम।

जो व्यक्ति मानव समाज का भौतिक कल्याण करने में ही व्यस्त रहता है वह वास्तव मे किसी की भी सहायता नही कर सकता। शरीर तथा मन की क्षणिक खुशी सन्तोषजनक नहीं होती। जीवन-संघर्ष मे कठिनाइयो का वास्तविक कारण मनुष्य द्वारा परमेश्वर से अपने सम्बन्ध की विस्मृति मे ढूँढा जा सकता है। जब मनुष्य कृष्ण के साथ *अपने सम्बन्ध के प्रति पूर्णतया सचेष्ट रहता है तो वह वास्तव में मुक्तात्मा होता है,* भले ही वह भौतिक शरीर के जाल में फँसा हो।

कामक्रोधविमुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ २६॥

काम–इच्छाओं; **क्रोध**–तथा क्रोध से, **विमुक्तानाम्**–मुक्त पुरुषों की, **यतीनाम्**–साधु पुरुषों की, **यत-चेतसाम्**–मन के ऊपर सयम रखने वालो की, **अभितः**–निकट भविष्य में आश्वस्त, **ब्रह्म-निर्वाणम्**–ब्रह्म में मुक्ति; **वर्तते**–होती है, **विदित-आत्मनाम्**–स्वरूपसिद्धों की।

जो क्रोध तथा समस्त भौतिक इच्छाओं से रहित हैं, जो स्वरूपसिद्ध, आत्मसंयमी हैं और संसिद्धि के लिए निरन्तर प्रयास करते हैं उनकी मुक्ति निकट भविष्य में सुनिश्चित है।

तात्पर्य: मोक्ष के लिए सतत प्रयत्नशील रहने वाले साधुपुरुषों मे से जो कृष्णभावनाभावित होता है वह सर्वश्रेष्ठ है। इस तथ्य की पुष्टि *भागवत* में (४.२२ ३९) इस प्रकार हुई है–

यत्पादपकजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्त·।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरण भज वासुदेवम्॥

"भक्तिपूर्वक भगवान् वासुदेव की पूजा करने का प्रयास तो करो! बड़े से बड़े साधु पुरुष भी इन्द्रियों के वेग को उतनी कुशलता से रोक पाने में समर्थ नहीं हो पाते जितना कि वे जो सकामकर्मों की तीव्र इच्छा को समूल नष्ट करके और भगवान् के चरणकमलों की सेवा करके दिव्य आनन्द में लीन रहते हैं।"

बद्धजीव में कर्म के फलों को भोगने की इच्छा इतनी बलवती होती है कि ऋषियों-मुनियो तक के लिए कठोर परिश्रम के बावजूद ऐसी इच्छाओं को वश में ...

होता है। जो भगवद्भक्त कृष्णचेतना में निरन्तर भक्ति करता है और आत्म-साक्षात्कार में सिद्ध होता है, वह शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त करता है। आत्म-साक्षात्कार का पूर्णज्ञान होने से वह निरन्तर समाधिस्थ रहता है। ऐसा ही एक उदाहरण दिया जा रहा है—

दर्शनध्यानसंस्पर्शैः मत्स्यकूर्मविहंगमाः।
स्वान्यपत्यानि पुष्णन्ति तथाहमपि पद्मज॥

"मछली, कछुवा तथा पक्षी केवल दृष्टि, चिन्तन तथा स्पर्श से अपनी सन्तानों को पालते हैं। हे पद्मज! मैं भी उसी तरह करता हूँ।"

मछली अपने बच्चों को केवल देखकर बड़ा करती है। कछुवा केवल चिन्तन द्वारा अपने बच्चों को पालता है। कछुवा अपने अण्डे स्थल में देता है और स्वयं जल में रहने के कारण निरन्तर अण्डों का चिन्तन करता रहता है। इसी प्रकार भगवद्भक्त, भगवद्धाम से दूर स्थित रहकर भी भगवान् का चिन्तन करके कृष्णभावनामृत द्वारा उनके धाम पहुँच सकता है। उसे भौतिक क्लेशों का अनुभव नहीं होता। यह जीवन-अवस्था ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् भगवान् में निरन्तर लीन रहने के कारण भौतिक कष्टों का अभाव कहलाती है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥ २७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ २८॥

स्पर्शान्—इन्द्रियविषयों यथा ध्वनि को; **कृत्वा**—करके; **बहिः**—बाहरी; **बाह्यान्**—अनावश्यक; **चक्षुः**—आँखें; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **अन्तरे**—मध्य में; **भ्रुवोः**—भौहों के; **प्राण-अपानौ**—ऊर्ध्व तथा अधोगामी वायु; **समौ**—रुद्ध; **कृत्वा**—करके; **नास-अभ्यन्तर**—नथुनों के भीतर; **चारिणौ**—चलने वाले; **यत**—संयमित; **इन्द्रिय**—इन्द्रियाँ; **मनः**—मन; **बुद्धिः**—बुद्धि; **मुनिः**—योगी; **मोक्ष**—मोक्ष के लिए; **परायणः**—तत्पर; **विगत**—परित्याग करके; **इच्छा**—इच्छाएँ; **भय**—डर; **क्रोधः**—क्रोध; **यः**—जो; **सदा**—सदैव; **मुक्तः**—मुक्त; **एव**—निश्चय ही; **सः**—वह।

समस्त इन्द्रियविषयों को बाहर करके, दृष्टि को भौंहों के मध्य में केन्द्रित करके, प्राण तथा अपान वायु को नथुनों के भीतर रोककर और इस तरह मन, इन्द्रियों तथा बुद्धि को वश में करके जो मोक्ष को लक्ष्य बनाता है वह योगी इच्छा, भय तथा क्रोध से रहित हो जाता है। जो निरन्तर इस अवस्था में रहता है, वह अवश्य ही मुक्त है।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत में रत होने पर मनुष्य तुरन्त ही अपने आध्यात्मिक स्वरूप को जान लेता है जिसके पश्चात् भक्ति के द्वारा वह परमेश्वर को समझता है। जब मनुष्य भक्ति करता है तो वह दिव्य स्थिति को प्राप्त होता है और अपने कर्म क्षेत्र में भगवान् की उपस्थिति का अनुभव करने योग्य हो जाता है। यह विशेष स्थिति मुक्ति कहलाती है।

मुक्ति विषयक उपर्युक्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके श्रीभगवान् अर्जुन को यह शिक्षा देते हैं कि मनुष्य किस प्रकार अष्टांगयोग का अभ्यास करके इस स्थिति को प्राप्त

होता है। यह अष्टांगयोग आठ विधियों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि में विभाजित है। छठे अध्याय में योग के विषय में विस्तृत व्याख्या की गई है, पाँचवें अध्याय के अन्त में तो इसका प्रारम्भिक विवेचन ही दिया गया है। योग में प्रत्याहार विधि से शब्द, स्पर्श, रूप, स्वाद तथा गंध का निराकरण करना होता है और तब दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच लाकर अधखुली पलकों से उसे नासाग्र पर केन्द्रित करना पड़ता है। आँखों को पूरी तरह बन्द करने से कोई लाभ नहीं होता क्योंकि तब सो जाने की सम्भावना रहती है। न ही आँखों को पूरा खुला रखने से कोई लाभ है क्योंकि तब तो इन्द्रियविषयों द्वारा आकृष्ट होने का भय बना रहता है। नथुनों के भीतर श्वास की गति को रोकने के लिए प्राण तथा अपान वायुओं को सम किया जाता है। ऐसे योगाभ्यास से मनुष्य अपनी इन्द्रियों के ऊपर नियन्त्रण प्राप्त करता है, बाह्य इन्द्रियविषयों से दूर रहता है और अपनी मुक्ति की तैयारी करता है।

इस योग विधि से मनुष्य समस्त प्रकार के भय तथा क्रोध से रहित हो जाता है और परमात्मा की उपस्थिति का अनुभव करता है। दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनामृत योग के सिद्धान्तों को सम्पन्न करने की सरलतम विधि है। अगले अध्याय में इसकी विस्तार से व्याख्या होगी। किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति सदैव भक्ति में लीन रहता है जिससे उसकी इन्द्रियों के अन्यत्र प्रवृत्त होने का भय नहीं रह जाता। अष्टांगयोग की अपेक्षा इन्द्रियों को वश में करने की यह अधिक उत्तम विधि है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ २९॥

भोक्तारम्–भोगने वाला भोक्ता, *यज्ञ*–यज्ञ, *तपसाम्*–तपस्या का, *सर्वलोक*–सम्पूर्ण लोकों तथा उनके देवताओं का *महा-ईश्वरम्*–परमेश्वर *सुहृदम्*–उपकारी *सर्व*–समस्त *भूतानाम्*–जीवों का, *ज्ञात्वा*–इस प्रकार जानकर, *माम्*–मुझ (कृष्ण) को, *शान्तिम्*–भौतिक यातना से मुक्ति, *ऋच्छति*–प्राप्त करता है।

मुझे समस्त यज्ञों तथा तपस्याओं का परम भोक्ता, समस्त लोकों तथा देवताओं का परमेश्वर एवं समस्त जीवों का उपकारी एवं हितैषी जानकर मेरे भावनामृत से पूर्ण पुरुष भौतिक दुखों से शान्ति लाभ करता है।

तात्पर्य : माया के वशीभूत सारे बद्धजीव इस संसार में शान्ति प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहते हैं। किन्तु *भगवद्गीता* के इस अंश में वर्णित शान्ति के सूत्र को वे नहीं जानते। शान्ति का सबसे बड़ा सूत्र यही है कि भगवान् कृष्ण समस्त मानवीय कर्मों के भोक्ता हैं। मनुष्यों को चाहिए कि प्रत्येक वस्तु भगवान् की दिव्यसेवा में अर्पित कर दें क्योंकि वे ही समस्त लोकों तथा उनमें रहने वाले देवताओं के स्वामी हैं। उनसे बड़ा कोई नहीं है। वे बड़े से बड़े देवता, शिव तथा ब्रह्मा से भी महान हैं। वेदों में (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.७) भगवान् को *तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्* कहा गया है। माया के वशीभूत होकर सारे जीव सर्वत्र अपना प्रभुत्व जताना चाहते हैं, लेकिन वास्तविकता तो यह है कि सर्वत्र भगवान् की माया का प्रभुत्व है। भगवान् प्रकृति (माया) के स्वामी हैं और बद्धजीव

प्रकृति के कठोर अनुशासन के अन्तर्गत हैं। जब तक कोई इन तथ्यों को समझ नहीं लेता तब तक संसार में व्यष्टि या समष्टि रूप से शान्ति प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं है। कृष्णभावनामृत का यही अर्थ है। भगवान् कृष्ण परमेश्वर हैं तथा देवताओं सहित सारे जीव उनके आश्रित हैं। पूर्ण कृष्णभावनामृत में रहकर ही पूर्ण शान्ति प्राप्त की जा सकती है।

यह पाँचवा अध्याय कृष्णभावनामृत की, जिसे सामान्यतया कर्मयोग कहते हैं, व्यावहारिक व्याख्या है। यहाँ पर इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि कर्मयोग से मुक्ति किस तरह प्राप्त होती है। कृष्णभावनामृत में कार्य करने का अर्थ है परमेश्वर के रूप में भगवान् के पूर्णज्ञान के साथ कर्म करना। ऐसा कर्म दिव्यज्ञान से भिन्न नहीं होता। प्रत्यक्ष कृष्णभावनामृत भक्तियोग है और ज्ञानयोग वह पथ है जिससे भक्तियोग प्राप्त किया जाता है। कृष्णभावनामृत का अर्थ है-परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध का पूर्णज्ञान प्राप्त करके कर्म करना और इस चेतना की पूर्णता का अर्थ है-कृष्ण या श्रीभगवान् का पूर्णज्ञान। शुद्ध जीव भगवान् के अंश रूप में ईश्वर का शाश्वत दास है। वह माया पर प्रभुत्व जताने की इच्छा से ही माया के सम्पर्क में आता है और यही उसके कष्टों का मूल कारण है। जब तक वह पदार्थ के सम्पर्क में रहता है उसे भौतिक आवश्यकताओं के लिए कर्म करना पड़ता है। किन्तु कृष्णभावनामृत उसे पदार्थ की परिधि में स्थित होते हुए भी आध्यात्मिक जीवन में ले आता है क्योंकि भौतिक जगत् में भक्ति का अभ्यास करने पर जीव का दिव्य स्वरूप पुनः प्रकट होता है। जो मनुष्य जितना ही प्रगत है वह उतना ही पदार्थ के बन्धन से मुक्त रहता है। भगवान् किसी का पक्षपात नहीं करते। यह तो कृष्णभावनामृत के लिए व्यक्तिगत व्यावहारिक कर्तव्यपालन पर निर्भर करता है जिससे मनुष्य इन्द्रियों पर नियन्त्रण प्राप्त करके इच्छा तथा क्रोध के प्रभाव को जीत लेता है। और जो कोई उपर्युक्त कामेच्छाओं को वश में करके कृष्णभावनामृत में दृढ रहता है वह ब्रह्मनिर्वाण या दिव्य अवस्था को प्राप्त होता है। कृष्णभावनामृत में अष्टांगयोग पद्धति का स्वयमेव अभ्यास होता है क्योंकि इससे अन्तिम लक्ष्य की पूर्ति होती है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि के अभ्यास द्वारा धीरे-धीरे प्रगति हो सकती है। किन्तु भक्तियोग में तो ये प्रस्तावना के स्वरूप हैं क्योंकि केवल इसी से मनुष्य को पूर्णशान्ति प्राप्त हो सकती है। यही जीवन की परम सिद्धि है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के पंचम अध्याय "कर्मयोग- कृष्णभावनाभावित कर्म" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।

अध्याय छह



ध्यानयोग

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥१॥

श्रीभगवान् उवाच–भगवान् ने कहा, अनाश्रितः–शरण ग्रहण किये बिना, कर्म-फलम्–कर्मफल की, कार्यम्–कर्तव्य, कर्म–कर्म, करोति–करता है, यः–जो, सः–वह, संन्यासी–संन्यासी, च–भी, योगी–योगी, च–भी, न–नहीं, निः–रहित, अग्निः–अग्नि, न–न तो, च–भी, अक्रियः–क्रियाहीन।

श्रीभगवान् ने कहा—जो पुरुष अपने कर्मफल के प्रति अनासक्त है और जो अपने कर्तव्य का पालन करता है, वही संन्यासी और असली योगी है। वह नहीं, जो न तो अग्नि जलाता है और न कर्म करता है।

तात्पर्य : इस अध्याय में भगवान् बताते हैं कि अष्टांगयोग पद्धति मन तथा इन्द्रियों को वश में करने का साधन है। किन्तु इस कलियुग में सामान्य जनता के लिए इसे सम्पन्न कर पाना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि इस अध्याय में अष्टांगयोग पद्धति की संस्तुति की गई है, किन्तु भगवान् बल देते हैं कि कर्मयोग या कृष्णभावनामृत में कर्म करना इससे

श्रेष्ठ है। इस संसार में प्रत्येक मनुष्य अपने परिवार के पालनार्थ तथा अपनी सामग्री के रक्षार्थ कर्म करता है, किन्तु कोई भी मनुष्य बिना किसी स्वार्थ, किसी व्यक्तिगत तृप्ति के, चाहे वह तृप्ति आत्मकेन्द्रित हो या व्यापक, कर्म नहीं करता। पूर्णता की कसौटी है-कृष्णभावनामृत में कर्म करना, कर्म के फलों का भोग करने के उद्देश्य से नहीं। कृष्णभावनामृत में कर्म करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है, क्योंकि सभी लोग परमेश्वर के अंश हैं। शरीर के अंग पूरे शरीर के लिए कार्य करते हैं। शरीर के अंग अपनी तुष्टि के लिए नहीं, अपितु पूरे शरीर की तुष्टि के लिए कार्य करते हैं। इसी प्रकार जो जीव अपनी तुष्टि के लिए नहीं, अपितु परब्रह्म की तुष्टि के लिए कार्य करता है, वही पूर्ण संन्यासी या पूर्ण योगी है।

कभी-कभी संन्यासी सोचते हैं कि उन्हें सारे कार्यों से मुक्ति मिल गई, अतः वे अग्निहोत्र यज्ञ करना बन्द कर देते हैं, लेकिन वस्तुतः वे स्वार्थी हैं क्योंकि उनका लक्ष्य निराकार ब्रह्म से तादात्म्य स्थापित करना होता है। ऐसी इच्छा भौतिक इच्छा से तो श्रेष्ठ है, किन्तु यह स्वार्थ से रहित नहीं होती। इसी प्रकार जो योगी समस्त कर्म बन्द करके अर्धनिमीलित नेत्रों से योगाभ्यास करता है, वह भी आत्मतुष्टि की इच्छा से पूरित होता है। किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति बिना किसी स्वार्थ के पूर्णब्रह्म की तुष्टि के लिए कर्म करता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को कभी भी आत्मतुष्टि की इच्छा नहीं रहती। उसका एकमात्र लक्ष्य कृष्ण को प्रसन्न करना रहता है, अतः वह पूर्ण संन्यासी या पूर्णयोगी होता है। त्याग के सर्वोच्च प्रतीक भगवान् चैतन्य प्रार्थना करते हैं—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

"हे सर्वशक्तिमान् प्रभु! मुझे न तो धन-संग्रह की कामना है, न मैं सुन्दर स्त्रियों के साथ रमण करने का अभिलाषी हूँ, न ही मुझे अनुयायियों की कामना है। मैं तो जन्म-जन्मान्तर आपकी प्रेमाभक्ति की अहैतुकी कृपा का ही अभिलाषी हूँ।"

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥ २॥

यम्–जिसको; **संन्यासम्**–संन्यास; **इति**–इस प्रकार; **प्राहुः**–कहते हैं; **योगम्**–परब्रह्म के साथ युक्त होना; **तम्**–उसे; **विद्धि**–जानो; **पाण्डव**–हे पाण्डुपुत्र; **न**–कभी नहीं; **हि**–निश्चय ही; **असंन्यस्त**–बिना त्यागे; **सङ्कल्पः**–आत्मतृप्ति की इच्छा; **योगी**–योगी; **भवति**–होता है; **कश्चन**–कोई।

हे पाण्डुपुत्र! जिसे संन्यास कहते हैं उसे ही तुम योग अर्थात् परब्रह्म से युक्त होना जानो क्योंकि इन्द्रियतृप्ति के लिए इच्छा को त्यागे बिना कोई कभी योगी नहीं हो सकता।

तात्पर्य : वास्तविक संन्यास-योग या भक्ति का अर्थ है कि जीवात्मा अपनी स्वाभाविक स्थिति को जाने और तदनुसार कर्म करे। जीवात्मा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। वह परमेश्वर की तटस्था शक्ति है। जब वह माया के वशीभूत होता है तो वह

बद्ध हो जाता है, किन्तु जब वह कृष्णभावनाभावित रहता है अर्थात् आध्यात्मिक शक्ति में सजग रहता है तो वह अपनी सहज स्थिति में होता है। इस प्रकार जब मनुष्य पूर्णज्ञान में होता है तो वह समस्त इन्द्रियतृप्ति को त्याग देता है अर्थात् समस्त इन्द्रियतृप्ति के कार्यकलापों का परित्याग कर देता है। इसका अभ्यास योगी करते हैं जो इन्द्रियों को भौतिक आसक्ति से रोकते हैं। किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को तो ऐसी किसी भी वस्तु में अपनी इन्द्रिय लगाने का अवसर ही नहीं मिलता जो कृष्ण के निमित्त न हो। फलतः कृष्णभावनाभावित व्यक्ति संन्यासी तथा योगी साथ-साथ होता है। ज्ञान तथा इन्द्रियनिग्रह योग के ये दोनों प्रयोजन कृष्णभावनामृत द्वारा स्वतः पूरे हो जाते हैं। यदि मनुष्य स्वार्थ का त्याग नहीं कर पाता तो ज्ञान तथा योग व्यर्थ रहते हैं। जीवात्मा का मुख्य ध्येय तो समस्त प्रकार की आत्मतृप्ति को त्यागकर परमेश्वर की तुष्टि करने के लिए तैयार रहना है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति में किसी प्रकार की आत्मतृप्ति की इच्छा नहीं रहती। वह सदैव परमेश्वर की प्रसन्नता में लगा रहता है, अतः जिसे परमेश्वर के विषय में कुछ भी पता नहीं होता वही स्वार्थ पूर्ति में लगा रहता है क्योंकि कोई कभी निष्क्रिय नहीं रह सकता। कृष्णभावनामृत का अभ्यास करने से सारे कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हो जाते हैं।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३॥

आरुरुक्षोः—जिसने अभी योग प्रारम्भ किया है; मुनेः—मुनि की; योगम्—अष्टांगयोग पद्धति; कर्म—कर्म; कारणम्—साधन; उच्यते—कहलाता है; योग—अष्टांगयोग; आरूढस्य—प्राप्त होने वाले का; तस्य—उसका; एव—निश्चय ही; शमः—सम्पूर्ण भौतिक कार्यकलापों का त्याग; कारणम्—कारण; उच्यते—कहा जाता है।

अष्टांगयोग के नवसाधक के लिए कर्म साधन कहलाता है और योगसिद्ध पुरुष के लिए समस्त भौतिक कार्यकलापों का परित्याग ही साधन कहा जाता है।

तात्पर्य : परमेश्वर से युक्त होने की विधि योग कहलाती है। इसकी तुलना उस सीढ़ी से की जा सकती है जिससे सर्वोच्च आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त की जाती है। यह सीढ़ी जीव की अधम अवस्था से प्रारम्भ होकर आध्यात्मिक जीवन के पूर्ण आत्म-साक्षात्कार तक जाती है। विभिन्न चढ़ाव के अनुसार इस सीढ़ी के विभिन्न भाग भिन्न-भिन्न नामों से जाने जाते हैं। किन्तु कुल मिलाकर यह पूरी सीढ़ी योग कहलाती है और इसे तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—ज्ञानयोग, ध्यानयोग तथा भक्तियोग। सीढ़ी के प्रारम्भिक भाग को योगारुरुक्षु अवस्था और अन्तिम भाग को योगारूढ कहा जाता है।

जहाँ तक अष्टांगयोग का सम्बन्ध है, विभिन्न यमनियमों तथा आसनों (जो प्रायः शारीरिक मुद्राएँ ही हैं) के द्वारा ध्यान में प्रविष्ट होने के लिए प्रारम्भिक प्रयासों को सकाम कर्म माना जाता है। ऐसे कर्मों से पूर्ण मानसिक सन्तुलन प्राप्त होता है जिससे इन्द्रियाँ वश में होती हैं। जब मनुष्य पूर्ण ध्यान में सिद्धहस्त हो जाता है तो विचलित करने वाले समस्त मानसिक कार्य बन्द हुए मान जाते हैं।

किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति प्रारम्भ से ही ध्यानावस्थित रहता है क्योंकि वह निरन्तर कृष्ण का चिन्तन करता है। इस प्रकार कृष्ण की सेवा में सतत व्यस्त रहने के कारण उसके सारे भौतिक कार्यकलाप वन्द हुए माने जाते हैं।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ ४॥

यदा–जव; **हि**–निश्चय ही; **न**–नहीं; **इन्द्रिय-अर्थेषु**–इन्द्रियतृप्ति में; **न**–कभी नहीं; **कर्मसु**–सकाम कर्म में; **अनुषज्जते**–निरत रहता है; **सर्व-सङ्कल्प**–समस्त भौतिक इच्छाओं का; **संन्यासी**–त्याग करने वाला; **योग-आरूढः**–योग में स्थित; **तदा**–उस समय; **उच्यते**–कहलाता है।

जव कोई पुरुष समस्त भौतिक इच्छाओं का त्याग करके न तो इन्द्रियतृप्ति के लिए कार्य करता है और न सकामकर्मों में प्रवृत्त होता है तो वह योगारूढ कहलाता है।

तात्पर्य : जव मनुष्य भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में पूरी तरह लगा रहता है तो वह अपने आप में प्रसन्न रहता है और इस तरह वह इन्द्रियतृप्ति या सकामकर्म में प्रवृत्त नहीं होता। अन्यथा इन्द्रियतृप्ति में लगना ही पड़ता है, क्योंकि कर्म किए विना कोई रह नहीं सकता। विना कृष्णभावनामृत के मनुष्य सदैव स्वार्थ में तत्पर रहता है। किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही सव कुछ करता है, फलतः वह इन्द्रियतृप्ति से पूरी तरह विरक्त रहता है। जिसे ऐसी अनुभूति प्राप्त नहीं है उसे चाहिए कि भौतिक इच्छाओं से वचे रहने का वह यंत्रवत् प्रयास करे, तभी वह योग की सीढ़ी से ऊपर पहुँच सकता है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ५॥

उद्धरेत्–उद्धार करे; **आत्मना**–मन से; **आत्मानम्**–वद्धजीव को; **न**–कभी नहीं; **आत्मानम्**–वद्धजीव को; **अवसादयेत्**–पतन होने दे; **आत्मा**–मन; **एव**–निश्चय ही; **हि**–निस्सन्देह; **आत्मनः**–वद्धजीव का; **वन्धुः**–मित्र; **आत्मा**–मन; **एव**–निश्चय ही; **रिपुः**–शत्रु; **आत्मनः**–वद्धजीव का।

मनुष्य को चाहिए कि अपने मन की सहायता से अपना उद्धार करे और अपने को नीचे न गिरने दे। यह मन वद्धजीव का मित्र भी है और शत्रु भी।

तात्पर्य : प्रसंग के अनुसार आत्मा शव्द का अर्थ शरीर, मन तथा आत्मा होता है। योगपद्धति में मन तथा आत्मा का विशेष महत्त्व है। चूँकि मन ही योगपद्धति का केन्द्रविन्दु है, अतः इस प्रसंग में आत्मा का तात्पर्य मन होता है। योगपद्धति का उद्देश्य मन को रोकना तथा इन्द्रियविषयों के प्रति आसक्ति से उसे हटाना है। यहाँ पर इस वात पर वल दिया गया है कि मन को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाय कि वह वद्धजीव को अज्ञान के दलदल से निकाल सके। इस जगत् में मनुष्य मन तथा इन्द्रियों के द्वारा प्रभावित होता है। वास्तव में शुद्ध आत्मा इस संसार में इसीलिए फँसा हुआ है क्योंकि मन मिथ्या अहंकार में लगकर प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व जताना चाहता है। अतः मन को इस प्रकार प्रशिक्षित करना चाहिए कि वह प्रकृति की तड़क-भड़क से आकृष्ट न हो और

इस तरह बद्धजीव की रक्षा की जा सके। मनुष्य को इन्द्रियविषयों में आकृष्ट होकर अपने को पतित नहीं करना चाहिए। जो जितना ही इन्द्रियविषयों के प्रति आकृष्ट होता है वह उतना ही इस संसार में फँसता जाता है। अपने को विरत करने का सर्वोत्कृष्ट साधन यही है कि मन को सदैव कृष्णभावनामृत में निरत रखा जाय। *हि* शब्द इस बात पर बल देने के लिए प्रयुक्त हुआ है अर्थात् इसे अवश्य करना चाहिए। *अमृतबिन्दु उपनिषद्* में (२) कहा भी गया है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासंगो मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥

"मन ही मनुष्य के बन्धन का और मोक्ष का भी कारण है। इन्द्रियविषयों में लीन मन बन्धन का कारण है और विषयों से विरक्त मन मोक्ष का कारण है।" अतः जो मन निरन्तर कृष्णभावनामृत में लगा रहता है, वही परम मुक्ति का कारण है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ ६॥

बन्धुः–मित्र; आत्मा–मन; आत्मनः–जीव का; तस्य–उसका; येन–जिससे; आत्मा–मन; एव–निश्चय ही; आत्मना–जीवात्मा के द्वारा; जितः–विजित; अनात्मनः–जो मन को वश में नहीं कर पाया उसका; तु–लेकिन; शत्रुत्वे–शत्रुता के कारण; वर्तेत–बना रहता है; आत्मा एव–वही मन; शत्रु-वत्–शत्रु की भाँति।

जिसने मन को जीत लिया है उसके लिए मन सर्वश्रेष्ठ मित्र है, किन्तु जो ऐसा नहीं कर पाया उसके लिए मन सबसे बड़ा शत्रु बना रहेगा।

तात्पर्य : अष्टांगयोग के अभ्यास का प्रयोजन मन को वश में करना है, जिससे मानवीय लक्ष्य प्राप्त करने में वह मित्र बना रहे। मन को वश में किये बिना योगाभ्यास करना मात्र समय को नष्ट करना है। जो अपने मन को वश में नहीं कर सकता, वह सतत अपने परम शत्रु के साथ निवास करता है और इस तरह उसका जीवन तथा लक्ष्य दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। जीव की स्वाभाविक स्थिति यह है कि वह अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करे। अतः जब तक मन अविजित शत्रु बना रहता है, तब तक मनुष्य को काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि की आज्ञाओं का पालन करना होता है। किन्तु जब मन पर विजय प्राप्त हो जाती है, तो मनुष्य इच्छानुसार उस भगवान् की आज्ञा का पालन करता है जो सबों के हृदय में परमात्मास्वरूप स्थित है। वास्तविक योगाभ्यास हृदय के भीतर परमात्मा से भेंट करना तथा उनकी आज्ञा का पालन करना है। जो व्यक्ति साक्षात् कृष्णभावनामृत स्वीकार करता है वह भगवान् की आज्ञा के प्रति स्वतः समर्पित हो जाता है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७॥

जित-आत्मनः–जिसने मन को जीत लिया है; प्रशान्तस्य–मन को वश में करके शान्ति प्राप्त करने

वाले का; **परम-आत्मा**—परमात्मा; **समाहितः**—पूर्णरूप से प्राप्त; **शीत**—सर्दी; **उष्ण**—गर्मी में; **सुख**—सुख; **दुःखेषु**—तथा दुख में; **तथा**—भी; **मान**—सम्मान; **अपमानयोः**—तथा अपमान में।

जिसने मन को जीत लिया है, उसने पहले ही परमात्मा को प्राप्त कर लिया है, क्योंकि उसने शान्ति प्राप्त कर ली है। ऐसे पुरुष के लिए सुख-दुख, सर्दी-गर्मी एवं मान-अपमान एक से हैं।

तात्पर्य : वस्तुतः प्रत्येक जीव उस भगवान् की आज्ञा का पालन करने के निमित्त आया है, जो जन-जन के हृदयों में परमात्मा-रूप में स्थित है। जब मन बहिरंगा माया द्वारा विपथ कर दिया जाता है तब मनुष्य भौतिक कार्यकलापों में उलझ जाता है। अतः ज्योंही मन किसी योगपद्धति द्वारा वश में आ जाता है त्योंही मनुष्य को लक्ष्य पर पहुँचा हुआ मान लिया जाना चाहिए। मनुष्य को भगवद्-आज्ञा का पालन करना चाहिए। जब मनुष्य का मन परा-प्रकृति में स्थिर हो जाता है तो जीवात्मा के समक्ष भगवद्-आज्ञा पालन करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रह जाता। मन को किसी न किसी उच्च आदेश को मानकर उसका पालन करना होता है। मन को वश में करने से स्वतः ही परमात्मा के आदेश का पालन होता है। चूँकि कृष्णभावनाभावित होते ही यह दिव्य स्थिति प्राप्त हो जाती है, अतः भगवद्भक्त संसार के द्वन्द्वों, यथा सुख-दुख, सर्दी-गर्मी आदि से अप्रभावित रहता है। यह अवस्था व्यावहारिक समाधि या परमात्मा में तल्लीनता है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ट्राश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

ज्ञान—अर्जित ज्ञान; **विज्ञान**—अनुभूत ज्ञान से; **तृप्त**—सन्तुष्ट; **आत्मा**—जीव; **कूट-स्थः**—आध्यात्मिक रूप से स्थित; **विजित-इन्द्रियः**—इन्द्रियों को वश में करके; **युक्तः**—आत्म-साक्षात्कार के लिए सक्षम; **इति**—इस प्रकार; **उच्यते**—कहा जाता है; **योगी**—योग का साधक; **सम**—समदर्शी; **लोष्ट्र**—कंकड़; **अश्म**—पत्थर; **काञ्चनः**—स्वर्ण।

वह व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त तथा योगी कहलाता है जो अपने अर्जित ज्ञान तथा अनुभूति से पूर्णतया सन्तुष्ट रहता है। ऐसा व्यक्ति अध्यात्म को प्राप्त तथा जितेन्द्रिय कहलाता है। वह सभी वस्तुओं को—चाहे वे कंकड़ हों, पत्थर हों या कि सोना—एकसमान देखता है।

तात्पर्य : परमसत्य की अनुभूति के बिना कोरा ज्ञान व्यर्थ होता है। *भक्तिरसामृत सिन्धु* में (१.२.२३४) कहा गया है—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥

"कोई भी व्यक्ति अपनी दूषित इन्द्रियों के द्वारा श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण तथा उनकी लीलाओं की दिव्य प्रकृति को नहीं समझ सकता। भगवान् की दिव्य सेवा से पूरित होने पर ही कोई उनके दिव्य नाम, रूप, गुण तथा लीलाओं को समझ सकता है।"

यह *भगवद्गीता* कृष्णभावनामृत का विज्ञान है। मात्र संसारी विद्वत्ता से कोई कृष्णभावनाभाविन नहीं हो सकता। उसे विशुद्ध चेतना वाले व्यक्ति का सान्निध्य प्राप्त होने का सौभाग्य मिलना चाहिए। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को भगवत्कृपा से ज्ञान की अनुभूति होती है, क्योंकि वह विशुद्ध भक्ति से तुष्ट रहता है। अनुभूत ज्ञान से वह पूर्ण बनता है। आध्यात्मिक ज्ञान से मनुष्य अपने संकल्पों में दृढ रह सकता है, किन्तु मात्र शैक्षिक ज्ञान से वह बाह्य विरोधाभासों द्वारा मोहित और भ्रमित होता रहता है। केवल अनुभवी आत्मा ही आत्मसंयमी होता है, क्योंकि वह कृष्ण की शरण में जा चुका होता है। वह दिव्य होता है क्योंकि उसे संसारी विद्वत्ता से कुछ लेना-देना नहीं रहता। उसके लिए संसारी विद्वत्ता तथा मनोधर्म, जो अन्यों के लिए स्वर्ण के समान उत्तम होते हैं, कंकड़ों या पत्थरों से अधिक नहीं होते।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

सु-हृत्–स्वभाव से, **मित्र**–स्नेहपूर्ण हितेच्छु, **अरि**–शत्रु; **उदासीन**–शत्रुओं में तटस्थ, **मध्य-स्थ**–शत्रुओं में पंच, **द्वेष्य**–ईर्ष्यालु, **बन्धुषु**–सम्बन्धियों या शुभेच्छुकों में, **साधुषु**–साधुओं में, **अपि**–भी, **च**–तथा, **पापेषु**–पापियों में, **सम-बुद्धिः**–समान बुद्धि वाला, **विशिष्यते**–आगे बढ़ा हुआ होता है।

जब मनुष्य निष्कपट हितैषियों, प्रिय मित्रों, तटस्थों, मध्यस्थों, ईर्ष्यालुओं, शत्रुओं तथा मित्रों, पुण्यात्माओं एवं पापियों को समान भाव से देखता है, तो वह और भी उन्नत माना जाता है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

योगी–योगी, **युञ्जीत**–कृष्णचेतना में केन्द्रित करे, **सततम्**–निरन्तर, **आत्मानम्**–स्वयं का (मन, शरीर तथा आत्मा से), **रहसि**–एकान्त स्थान में, **स्थितः**–स्थित होकर, **एकाकी**–अकेले, **यत-चित्त-आत्मा**–मन में सदैव सचेत, **निराशीः**–किसी अन्य वस्तु से आकृष्ट हुए बिना, **अपरिग्रहः**–स्वामित्व की भावना से रहित, संग्रहभाव से मुक्त।

योगी को चाहिए कि वह सदैव अपने शरीर, मन तथा आत्मा को परमेश्वर में लगाए, एकान्त स्थान में रहे और बड़ी सावधानी के साथ अपने मन को वश में करे। उसे समस्त आकांक्षाओं तथा संग्रहभाव की इच्छाओं से मुक्त होना चाहिए।

तात्पर्य : कृष्ण की अनुभूति ब्रह्म, परमात्मा तथा श्रीभगवान के विभिन्न रूपों में होती है। संक्षेप में, कृष्णभावनामृत का अर्थ है-भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर प्रवृत्त रहना। किन्तु जो लोग निराकार ब्रह्म अथवा अन्तर्यामी परमात्मा के प्रति आसक्त होते हैं, वे भी आंशिक रूप से कृष्णभावनाभावित हैं क्योंकि निराकार ब्रह्म कृष्ण की आध्यात्मिक किरण है और परमात्मा कृष्ण का सर्वव्यापी आंशिक विस्तार होता है। इन

प्रकार निर्विशेषवादी तथा ध्यानयोगी भी अपरोक्ष रूप से कृष्णभावनाभावित होते हैं। प्रत्यक्ष कृष्णभावनाभावित व्यक्ति सर्वोच्च योगी होता है क्योंकि ऐसा भक्त जानता है कि ब्रह्म और परमात्मा क्या हैं। उसका परमसत्य विषयक ज्ञान पूर्ण होता है, जबकि निर्विशेषवादी तथा ध्यानयोगी अपूर्ण रूप में कृष्णभावनाभावित होते हैं।

इतने पर भी इन सबों को अपने-अपने कार्यों में निरन्तर लगे रहने का आदेश दिया जाता है, जिससे वे देर-सवेर परम सिद्धि प्राप्त कर सकें। योगी का पहला कर्तव्य है कि वह कृष्ण पर अपना ध्यान सदैव एकाग्र रखे। उसे सदेव कृष्ण का चिन्तन करना चाहिए और एक क्षण के लिए भी उन्हें नहीं भुलाना चाहिए। परमेश्वर में मन की एकाग्रता ही समाधि कहलाती है। मन को एकाग्र करने के लिए सदेव एकान्तवास करना चाहिए और बाहरी उपद्रवों से बचना चाहिए। योगी को चाहिए कि वह अनुकूल परिस्थितियों को ग्रहण करे और प्रतिकूल परिस्थितियों को त्याग दे, जिससे उसकी अनुभूति पर कोई प्रभाव न पड़े। पूर्ण संकल्प कर लेने पर उसे उन व्यर्थ की वस्तुओं के पीछे नहीं पड़ना चाहिए जो परिग्रह भाव में उसे फँसा लें।

ये सारी सिद्धियाँ तथा सावधानियाँ तभी पूर्णरूपेण कार्यान्वित हो सकती हैं जब मनुष्य प्रत्यक्षतः कृष्णभावनाभावित हो क्योंकि साक्षात् कृष्णभावनामृत का अर्थ है- आत्मोत्सर्ग जिसमें संग्रहभाव (परिग्रह) के लिए लेशमात्र स्थान नहीं होता। श्रील रूपगोस्वामी कृष्णभावनामृत का लक्षण इस प्रकार देते हैं—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः।
निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते॥
प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः।
मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते॥

"जब मनुष्य किसी वस्तु के प्रति आसक्त न रहते हुए कृष्ण से सम्बन्धित हर वस्तु को स्वीकार कर लेता है, तभी वह परिग्रहत्व से ऊपर स्थित रहता है। दूसरी ओर, जो व्यक्ति कृष्ण से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु को बिना जाने त्याग देता है उसका वैराग्य पूर्ण नहीं होता।" (*भक्तिरसामृत सिन्धु* २.२५५-२५६)।

कृष्णभावनाभावित व्यक्ति भलीभाँति जानता रहता है कि प्रत्येक वस्तु श्रीकृष्ण की है, फलस्वरूप वह सभी प्रकार के परिग्रहभाव से मुक्त रहता है। इस प्रकार वह अपने लिए किसी वस्तु की लालसा नहीं करता। वह जानता है कि किस प्रकार कृष्णभावनामृत के अनुरूप वस्तुओं को स्वीकार किया जाता है और कृष्णभावनामृत के प्रतिकूल वस्तुओं का परित्याग कर दिया जाता है। वह सदेव भौतिक वस्तुओं से दूर रहता है, क्योंकि वह दिव्य होता है और कृष्णभावनामृत से रहित व्यक्तियों से किसी प्रकार का सरोकार न रखने के कारण सदा अकेला रहता है। अतः कृष्णभावनामृत में रहने वाला व्यक्ति पूर्णयोगी होता है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥१२॥

शुचौ–पवित्र, देशे–भूमि में, प्रतिष्ठाप्य–स्थापित करके; स्थिरम्–दृढ़, आसनम्–आसन, आत्मनः–स्वय का, न–नहीं, अति–अत्यधिक, उच्छ्रितम्–ऊँचा, न–न तो, अति–अधिक; नीचम्–निम्न, नीचा, चैल-अजिन–मुलायम वस्त्र तथा मृगछाला, कुश–तथा कुशा का, उत्तरम्–आवरण, तत्र–उस पर, एक-अग्रम्–एकाग्र, मनः–मन, कृत्वा–करके, यत-चित्त–मन को वश में करते हुए; इन्द्रिय–इन्द्रियाँ, क्रियः–तथा क्रियाएँ; उपविश्य–बैठकर, आसने–आसन पर, युञ्ज्यात्–अभ्यास करे, योगम्–योग, आत्म–हृदय की, विशुद्धये–शुद्धि के लिए।

योगाभ्यास के लिए योगी एकान्त स्थान में जाकर भूमि पर कुशा बिछा दे और फिर उसे मृगछाला से ढके तथा ऊपर से मुलायम वस्त्र बिछा दे। आसन न तो बहुत ऊँचा हो, न बहुत नीचा। यह पवित्र स्थान में स्थित हो। योगी को चाहिए कि इस पर दृढ़तापूर्वक बैठ जाय और मन, इन्द्रियों तथा कर्मों को वश में करते हुए तथा मन को एक बिन्दु पर स्थिर करके हृदय को शुद्ध करने के लिए योगाभ्यास करे।

तात्पर्य : 'पवित्र स्थान' तीर्थस्थान का सूचक है। भारत में योगी तथा भक्त अपना घर त्याग कर प्रयाग, मथुरा, वृन्दावन, हृषीकेश तथा हरिद्वार जैसे पवित्र स्थानों में वास करते हैं और एकान्तस्थान में योगाभ्यास करते हैं, जहाँ यमुना तथा गंगा जैसी नदियाँ प्रवाहित होती हैं। किन्तु प्रायः ऐसा करना सबों के लिए, विशेषतया पाश्चात्यों के लिए, सम्भव नहीं है। बड़े-बड़े शहरों की तथाकथित योग-समितियाँ भले ही धन कमा लें, किन्तु वे योग के वास्तविक अभ्यास के लिए सर्वथा अनुपयुक्त होती हैं। जिसका मन विचलित है और जो आत्मसंयमी नहीं है, वह ध्यान का अभ्यास नहीं कर सकता। अतः *बृहन्नारदीय पुराण* में कहा गया है कि कलियुग (वर्तमान युग) में, जबकि लोग अल्पजीवी, आत्म-साक्षात्कार में मन्द तथा चिन्ताओं से व्यग्र रहते हैं, भगवत्प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ माध्यम भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

"कलह और दम्भ के इस युग में मोक्ष का एकमात्र साधन भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करना है। कोई दूसरा मार्ग नहीं है। कोई दूसरा मार्ग नहीं है। कोई दूसरा मार्ग नहीं है।"

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥१४॥

समम्–सीधा, काय–शरीर, शिरः–सिर, ग्रीवम्–तथा गर्दन को, धारयन्–रखते हुए;

अचलम्–अचल; **स्थिरः**–शान्त; **सम्प्रेक्ष्य**–देखकर; **नासिका**–नाक के; **अग्रम्**–अग्रभाग को; **स्वम्**–अपनी; **दिशः**–सभी दिशाओं में; **च**–भी; **अनवलोकयन्**–न देखते हुए; **प्रशान्त**–अविचलित; **आत्मा**–मन; **विगत-भीः**–भय से रहित; **ब्रह्मचारि-व्रते**–ब्रह्मचर्य व्रत में; **स्थितः**–स्थित; **मनः**–मन को; **संयम्य**–पूर्णतया दमित करके; **मत्**–मुझ (कृष्ण) में; **चित्तः**–मन को केन्द्रित करते हुए; **युक्तः**–वास्तविक योगी; **आसीत**–बैठे; **मत्**–मुझमें; **परः**–चरम लक्ष्य।

योगाभ्यास करने वाले को चाहिए कि वह अपने शरीर, गर्दन तथा सिर को सीधा रखे और नाक के अगले सिरे पर दृष्टि लगाए। इस प्रकार वह अविचलित तथा दमित मन से, भयरहित, विषयीजीवन से पूर्णतया मुक्त होकर अपने हृदय में मेरा चिन्तन करे और मुझे ही अपना चरमलक्ष्य बनाए।

तात्पर्य : जीवन का उद्देश्य कृष्ण को जानना है जो प्रत्येक जीव के हृदय में चतुर्भुज परमात्मा रूप में स्थित हैं। योगाभ्यास का प्रयोजन विष्णु के इसी अन्तर्यामी रूप की खोज करने तथा देखने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अन्तर्यामी विष्णुमूर्ति प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में निवास करने वाले कृष्ण का स्वांश रूप है। जो इस विष्णुमूर्ति की अनुभूति करने के अतिरिक्त किसी अन्य कपटयोग में लगा रहता है, वह निस्सन्देह अपने समय का अपव्यय करता है। कृष्ण ही जीवन के परम लक्ष्य हैं और प्रत्येक हृदय में स्थित विष्णुमूर्ति ही योगाभ्यास का लक्ष्य है। हृदय के भीतर इस विष्णुमूर्ति की अनुभूति प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्यव्रत अनिवार्य है, अतः मनुष्य को चाहिए कि घर छोड़ दे और किसी एकान्त स्थान में बताई गई विधि से आसीन होकर रहे। नित्यप्रति घर में या अन्यत्र मैथुन-भोग करते हुए और तथाकथित योग की कक्षा में जाने मात्र से कोई योगी नहीं हो जाता। उसे मन को संयमित करने का अभ्यास करना होता है और सभी प्रकार की इन्द्रियतृप्ति से, जिसमें मैथुन-जीवन मुख्य है, बचना होता है। महान ऋषि याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मचर्य के नियमों में बताया है–

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते॥

"सभी कालों में, सभी अवस्थाओं में तथा सभी स्थानों में मनसा वाचा कर्मणा मैथुन-भोग से पूर्णतया दूर रहने में सहायता करना ही ब्रह्मचर्यव्रत का लक्ष्य है।" मैथुन में प्रवृत्त रहकर योगाभ्यास नहीं किया जा सकता। इसीलिए बचपन से जब मैथुन का कोई ज्ञान भी नहीं होता ब्रह्मचर्य की शिक्षा दी जाती है। पाँच वर्ष की आयु में बच्चों को गुरुकुल भेजा जाता है, जहाँ गुरु उन्हें ब्रह्मचारी बनने के दृढ नियमों की शिक्षा देता है। ऐसे अभ्यास के बिना किसी भी योग में उन्नति नहीं की जा सकती, चाहे वह ध्यान हो, या कि ज्ञान या भक्ति। किन्तु जो व्यक्ति विवाहित जीवन के विधि-विधानों का पालन करता है और अपनी ही पत्नी से मैथुन-सम्बन्ध रखता है वह भी ब्रह्मचारी कहलाता है। ऐसे संयमशील गृहस्थ-ब्रह्मचारी को भक्ति सम्प्रदाय में स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु ज्ञान तथा ध्यान सम्प्रदाय वाले ऐसे गृहस्थ-ब्रह्मचारी को भी प्रवेश नहीं देते। उनके लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। भक्ति सम्प्रदाय में गृहस्थ-ब्रह्मचारी को संयमित मैथुन की अनुमति रहती है, क्योंकि भक्ति सम्प्रदाय इतना शक्तिशाली है कि भगवान् की सेवा में

लगे रहने से वह स्वतः ही मैथुन का आकर्षण त्याग देता है।

भगवद्गीता में (२.५९) कहा गया है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

जहाँ अन्यों को विषयभोग से दूर रहने के लिए बाध्य किया जाता है वहीं भगवद्भक्त भगवद्रसास्वादन के कारण इन्द्रियतृप्ति से स्वतः विरक्त हो जाता है। भक्त को छोड़कर अन्य किसी को इस अनुपम रस का ज्ञान नहीं होता।

विगत-भीः पूर्ण कृष्णभावनाभावित हुए बिना मनुष्य निर्भय नहीं हो सकता। बद्धजीव अपनी विकृत स्मृति अथवा कृष्ण के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध की विस्मृति के कारण भयभीत रहता है। *भागवत* का (११.२.३७) कथन है—*भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात् ईशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।* कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ही योग का पूर्ण अभ्यास कर सकता है और चूँकि योगाभ्यास का चरम लक्ष्य अन्तःकरण में भगवान् का दर्शन पाना है, अतः कृष्णभावनाभावित व्यक्ति पहले से ही समस्त योगियों में श्रेष्ठ होता है। यहाँ पर वर्णित योगविधि के नियम तथाकथित लोकप्रिय योग-समितियों से भिन्न हैं।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥१५॥

युञ्जन्—अभ्यास करते हुए; एवम्—इस प्रकार से; सदा—निरन्तर; आत्मानम्—शरीर, मन तथा आत्मा; योगी—योग का साधक; नियत-मानसः—संयमित मन से युक्त; शान्तिम्—शान्ति को; निर्वाण-परमाम्—भौतिक अस्तित्व का अन्त; मत्-संस्थाम्—चिदाकाश (भगवद्धाम) को; अधिगच्छति—प्राप्त करता है।

इस प्रकार शरीर, मन तथा कर्म में निरन्तर संयम का अभ्यास करते हुए संयमित मन वाले योगी को इस भौतिक अस्तित्व की समाप्ति पर भगवद्धाम की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य : अब योगाभ्यास के चरम लक्ष्य का स्पष्टीकरण किया जा रहा है। योगाभ्यास किसी भौतिक सुविधा की प्राप्ति के लिए नहीं किया जाता, इसका उद्देश्य तो भौतिक संसार से विरक्ति प्राप्त करना है। जो कोई इसके द्वारा स्वास्थ्य-लाभ चाहता है या भौतिक सिद्धि प्राप्त करने का इच्छुक होता है वह *भगवद्गीता* के अनुसार योगी नहीं है। न ही भौतिक अस्तित्व की समाप्ति का अर्थ शून्य में प्रवेश है क्योंकि यह कपोलकल्पना है। भगवान् की सृष्टि में कहीं भी शून्य नहीं है। उल्टे भौतिक अस्तित्व की समाप्ति से मनुष्य भगवद्धाम में प्रवेश करता है। *भगवद्गीता* में भगवद्धाम का भी स्पष्टीकरण किया गया है कि यह वह स्थान है जहाँ न सूर्य की आवश्यकता है, न चाँद या बिजली की। आध्यात्मिक राज्य के सारे लोक उसी प्रकार से स्वतः प्रकाशित हैं, जिस प्रकार सूर्य द्वारा यह भौतिक आकाश। वैसे तो भगवद्धाम सर्वत्र है, किन्तु चिन्मयव्योम तथा उसके लोकों को ही परमधाम कहा जाता है।

एक पूर्णयोगी जिसे भगवान् कृष्ण का पूर्णज्ञान है जैसा कि यहाँ पर भगवान् ने

स्वयं कहा है *(मच्चितः, मत्परः, मत्स्थानम्)* वास्तविक शान्ति प्राप्त कर सकता है और अन्ततोगत्वा कृष्णलोक या गोलोक वृन्दावन को प्राप्त होता है। *ब्रह्मसंहिता* में (५.३७) स्पष्ट उल्लेख है—*गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः*—यद्यपि भगवान् सदैव अपने धाम में निवास करते हैं, जिसे गोलोक कहते हैं, तो भी वे अपनी परा-आध्यात्मिक शक्तियों के कारण सर्वव्यापी ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा हैं। कोई भी कृष्ण तथा विष्णु रूप में उनके पूर्ण विस्तार को सही-सही जाने विना वैकुण्ठ में या भगवान् के नित्यधाम (गोलोक वृन्दावन) में प्रवेश नहीं कर सकता। अतः कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ही पूर्णयोगी है क्योंकि उसका मन सदैव कृष्ण के कार्यकलापों में तल्लीन रहता है *(स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः)*। वेदों में (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ३.८) भी हम पाते हैं—*तमेव विदित्वाति मृत्युमेति*—केवल भगवान् कृष्ण को जानने पर जन्म तथा मृत्यु के पथ को जीता जा सकता है। दूसरे शब्दों में, योग की पूर्णता संसार से मुक्ति प्राप्त करने में है, इन्द्रजाल अथवा व्यायाम के करतवों द्वारा अवोध जनता को मूर्ख वनाने में नहीं।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥१६॥

न—कभी नहीं; **अति**—अधिक; **अश्नतः**—खाने वाले का; **तु**—लेकिन; **योगः**—भगवान् से जुड़ना; **अस्ति**—है; **न**—न तो; **च**—भी; **एकान्तम्**—विल्कुल, नितान्त; **अनश्नतः**—भोजन न करने वाले का; **न**—न तो; **च**—भी; **अति**—अत्यधिक; **स्वप्न-शीलस्य**—सोने वाले का; **जाग्रतः**—अथवा रात भर जागते रहने वाले का; **न**—नहीं; **एव**—ही; **च**—तथा; **अर्जुन**—हे अर्जुन।

हे अर्जुन! जो अधिक खाता है या वहुत कम खाता है, जो अधिक सोता है अथवा जो पर्याप्त नहीं सोता उसके योगी वनने की कोई सम्भावना नहीं है।

तात्पर्य : यहाँ पर योगियों के लिए भोजन तथा नींद के नियमन की संस्तुति की गई है। अधिक भोजन का अर्थ है शरीर तथा आत्मा को वनाये रखने के लिए आवश्यकता से अधिक भोजन करना। मनुष्यों को मांसाहार करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रचुर मात्रा में अन्न, शाक, फल तथा दुग्ध उपलब्ध हैं। ऐसे सादे भोज्यपदार्थ *भगवद्गीता* के अनुसार सतोगुणी माने जाते हैं। मांसाहार तो तमोगुणियों के लिए है। अतः जो लोग मांसाहार करते हैं, मद्यपान करते हैं, धूम्रपान करते हैं और कृष्ण को भोग लगाये विना भोजन करते हैं वे पापकर्मों का भोग करेंगे क्योंकि वे केवल दूषित वस्तुएँ खाते हैं। *भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।* जो व्यक्ति इन्द्रियसुख के लिए खाता है या अपने लिए भोजन वनाता है, किन्तु कृष्ण को भोजन अर्पित नहीं करता वह केवल पाप खाता है। जो पाप खाता है और नियत मात्रा से अधिक भोजन करता है वह पूर्णयोग का पालन नहीं कर सकता। सवसे उत्तम यही है कि कृष्ण को अर्पित भोजन के उच्छिष्ट भाग को ही खाया जाय। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी भी ऐसा भोजन नहीं करता, जो इससे पूर्व कृष्ण को अर्पित न किया गया हो। अतः केवल कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ही योगाभ्यास में पूर्णता प्राप्त कर सकता है। न ही ऐसा व्यक्ति कभी योग का अभ्यास

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥१८॥

यदा–जब; **विनियतम्**–विशेष रूप से अनुशासित; **चित्तम्**–मन तथा उसके कार्य; **आत्मनि**–अध्यात्म में; **एव**–निश्चय ही; **अवतिष्ठते**–स्थित हो जाता है; **निस्पृहः**–आकांक्षारहित; **सर्व**–सभी प्रकार की; **कामेभ्यः**–भौतिक इन्द्रियतृप्ति से; **युक्तः**–योग में स्थित; **इति**–इस प्रकार; **उच्यते**–कहलाता है; **तदा**–उस समय।

जब योगी योगाभ्यास द्वारा अपने मानसिक कार्यकलापों को वश में कर लेता है और अध्यात्म में स्थित हो जाता है अर्थात् समस्त भौतिक इच्छाओं से रहित हो जाता है, तब वह योग में सुस्थिर कहा जाता है।

तात्पर्य : साधारण मनुष्य की तुलना में योगी के कार्यों में यह विशेषता होती है कि वह समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त रहता है जिनमें मैथुन प्रमुख है। एक पूर्णयोगी अपने मानसिक कार्यों में इतना अनुशासित होता है कि उसे कोई भी भौतिक इच्छा विचलित नहीं कर सकती। यह सिद्ध अवस्था कृष्णभावनाभावित व्यक्तियों द्वारा स्वतः प्राप्त हो जाती है, जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में (९.४.१८-२०) कहा गया है–

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥
मुकुन्दलिंगालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽगसंगमम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवंदने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः॥

"राजा अम्बरीष ने सर्वप्रथम अपने मन को भगवान् के चरणकमलों पर स्थिर कर दिया; फिर, क्रमशः अपनी वाणी को कृष्ण के गुणानुवाद में लगाया, हाथों को भगवान् के मन्दिर को स्वच्छ करने, कानों को भगवान् के कार्यकलापों को सुनने, आँखों को भगवान् के दिव्यरूप का दर्शन करने, शरीर को अन्य भक्तों के शरीरों का स्पर्श करने, घ्राणेन्द्रिय को भगवान् पर चढ़ाये गये कमलपुष्प की सुगन्ध सूँघने, जीभ को भगवान् के चरणकमलों पर चढ़ाये गये तुलसी पत्रों का स्वाद लेने, पाँवों को तीर्थयात्रा करने तथा भगवान् के मन्दिर तक जाने, सिर को भगवान् को प्रणाम करने तथा अपनी इच्छाओं को भगवान् की इच्छा पूरी करने में लगा दिया। ये सारे दिव्यकार्य शुद्ध भक्त के सर्वथा अनुरूप हैं।"

निर्विशेषवादियों के लिए यह दिव्य व्यवस्था अनिर्वचनीय हो सकती है, किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के लिए यह अत्यन्त सुगम एवं व्यावहारिक है, जैसा कि महाराज अम्बरीष की उपरिवर्णित जीवनचर्या से स्पष्ट हो जाता है। जब तक निरन्तर स्मरण द्वारा भगवान् के चरणकमलों में मन को स्थिर नहीं कर लिया जाता, तब तक ऐसे दिव्यकार्य व्यावहारिक नहीं बन पाते। अतः भगवान् की भक्ति में इन विहित कार्यों को *अर्चन्* कहते हैं जिसका अर्थ है–समस्त इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना। इन्द्रियों तथा मन को कुछ न कुछ कार्य चाहिए। कोरा निग्रह व्यावहारिक नहीं है। अतः

उठा सकता है। उस आनन्दमयी स्थिति में वह दिव्य इन्द्रियों द्वारा असीम दिव्यसुख में स्थित रहता है। इस प्रकार स्थापित मनुष्य कभी सत्य से विपथ नहीं होता और इस सुख की प्राप्ति हो जाने पर वह इससे बड़ा कोई दूसरा लाभ नहीं मानता। ऐसी स्थिति को पाकर मनुष्य बड़ी से बड़ी कठिनाई में भी विचलित नहीं होता। यह निस्सन्देह भौतिक संसर्ग से उत्पन्न होने वाले समस्त दुखों से वास्तविक मुक्ति है।

तात्पर्य : योगाभ्यास से मनुष्य भौतिक धारणाओं से क्रमशः विरक्त होता जाता है। यह योग का प्रमुख लक्षण है। इसके बाद वह समाधि में स्थित हो जाता है जिसका अर्थ यह होता है कि दिव्य मन तथा बुद्धि के द्वारा योगी अपने आपको परमात्मा समझने का भ्रम न करके परमात्मा की अनुभूति करता है। योगाभ्यास बहुत कुछ पतञ्जलि की पद्धति पर आधारित है। कुछ अप्रामाणिक भाष्यकार जीवात्मा तथा परमात्मा में अभेद स्थापित करने का प्रयास करते हैं और अद्वैतवादी इसे ही मुक्ति मानते हैं, किन्तु वे पतञ्जलि की योगपद्धति के वास्तविक प्रयोजन को नहीं जानते। पतञ्जलि पद्धति में दिव्य आनन्द को स्वीकार किया गया है, किन्तु अद्वैतवादी इस दिव्य आनन्द को स्वीकार नहीं करते क्योंकि उन्हें भ्रम है कि इससे कहीं उनके अद्वैतवाद में बाधा न उपस्थित हो जाय। अद्वैतवादी ज्ञान तथा ज्ञाता के द्वैत को नहीं मानते, किन्तु इस श्लोक में दिव्य इन्द्रियों द्वारा अनुभूत दिव्य आनन्द को स्वीकार किया गया है। इसकी पुष्टि योगपद्धति के विख्यात व्याख्याता पतञ्जलि मुनि ने भी की है। योगसूत्र में (३.३४) महर्षि कहते हैं—
पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।

यह *चितिशक्ति* या अन्तरंगा शक्ति दिव्य है। *पुरुषार्थ* का तात्पर्य धर्म, अर्थ, काम तथा अन्त में परब्रह्म से तादात्म्य या मोक्ष है। अद्वैतवादी परब्रह्म से इस तादात्म्य को *कैवल्यम्* कहते हैं। किन्तु पतञ्जलि के अनुसार *कैवल्यम्* वह अन्तरंगा या दिव्य शक्ति है जिससे जीवात्मा अपनी स्वाभाविक स्थिति से अवगत होता है। भगवान् चैतन्य के शब्दों में यह अवस्था *चेतोदर्पणमार्जनम्* अर्थात् मन रूपी मलिन दर्पण का मार्जन (शुद्धि) है। यह मार्जन वास्तव में मुक्ति या *भवमहादावाग्निनिर्वापणम्* है। प्रारम्भिक निर्वाण सिद्धान्त भी इस नियम के समान है। *भागवत* में (२.१०.६) इसे *स्वरूपेण व्यवस्थितिः* कहा गया है। *भगवद्गीता* के इस श्लोक में भी इसी की पुष्टि हुई है।

निर्वाण के बाद आध्यात्मिक कार्यकलापों की या भगवद्भक्ति की अभिव्यक्ति होती है जिसे कृष्णभावनामृत कहते हैं। *भागवत* के शब्दों में—*स्वरूपेण व्यवस्थितिः*—जीवात्मा का वास्तविक जीवन यही है। भौतिक दूषण से आध्यात्मिक जीवन के कल्मष युक्त होने की अवस्था माया है। इस भौतिक दूषण से मुक्ति का अभिप्राय जीवात्मा की मूल दिव्य स्थिति का विनाश नहीं है। पतञ्जलि भी इसकी पुष्टि इन शब्दों से करते हैं—*कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति*—यह *चितिशक्ति* या दिव्य आनन्द ही वास्तविक जीवन है। इसका अनुमोदन *वेदान्तसूत्र* में (१.१.१२) इस प्रकार हुआ है—*आनन्दमयोऽभ्यासात्*। यह चितिशक्ति ही योग का परमलक्ष्य है और भक्तियोग द्वारा इसे सरलता से प्राप्त किया जाता है। भक्तियोग का विस्तृत विवरण सातवें अध्याय में किया जायेगा।

इस अध्याय में वर्णित योगपद्धति के अनुसार समाधियाँ दो प्रकार की होती हैं—

सम्प्रज्ञात तथा *असम्प्रज्ञात समाधियाँ*। जब मनुष्य विभिन्न दार्शनिक शोधों के द्वारा दिव्य स्थिति को प्राप्त होता है तो यह कहा जाता है कि उसे सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त हुई है। असम्प्रज्ञात समाधि में संसारी आनन्द से कोई सम्बन्ध नहीं रहता क्योंकि इसमें मनुष्य इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले सभी प्रकार के सुखों से परे हो जाता है। एक बार इस दिव्य स्थिति को प्राप्त कर लेने पर योगी कभी उससे डिगता नहीं। जब तक योगी इस स्थिति को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक वह असफल रहता है। आजकल के तथाकथित योगाभ्यास में विभिन्न इन्द्रियसुख सम्मिलित हैं, जो योग के सर्वथा विपरीत है। योगी होकर यदि कोई मैथुन तथा मादकद्रव्य सेवन में अनुरक्त होता है तो यह उपहासजनक है। यहाँ तक कि जो योगी योग की सिद्धियों के प्रति आकृष्ट रहते हैं वे भी योग में आरूढ नहीं कहे जा सकते। यदि योगीजन योग की आनुषंगिक वस्तुओं के प्रति आकृष्ट हैं तो उन्हें सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुआ नहीं कहा जा सकता, जैसा कि इस श्लोक में कहा गया है। अतः जो व्यक्ति आसनों के प्रदर्शन या सिद्धियों के चक्कर में रहते हैं उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि इस प्रकार से योग का मुख्य उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है।

इस युग में योग की सर्वोत्तम पद्धति कृष्णभावनामृत है जो निराशा उत्पन्न करने वाली नहीं है। एक कृष्णभावनाभावित व्यक्ति अपने धर्म में इतना सुखी रहता है कि उसे किसी अन्य सुख की आकांक्षा नहीं रह जाती। इस दम्भ-प्रधान युग में हठयोग, ध्यानयोग तथा ज्ञानयोग का अभ्यास करते हुए अनेक अवरोध आ सकते हैं, किन्तु कर्मयोग या भक्तियोग के पालन में ऐसी समस्या सामने नहीं आती।

जब तक यह शरीर रहता है तब तक शरीर की आवश्यकताओं—आहार, निद्रा, *भय तथा मैथुन*—को पूरा करना होता है। किन्तु जो व्यक्ति शुद्ध भक्तियोग में अथवा कृष्णभावनामृत में स्थित होता है वह शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति करते समय इन्द्रियों को उत्तेजित नहीं करता। प्रत्युत वह घाटे के सौदे का सर्वोत्तम उपयोग करके, जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं को स्वीकार करता है और कृष्णभावनामृत में दिव्यसुख भोगता है। वह दुर्घटनाओं, रोगों, अभावों और यहाँ तक कि अपने प्रियजनों की मृत्यु जैसी आपात्कालीन घटनाओं के प्रति भी निरपेक्ष रहता है, किन्तु कृष्णभावनामृत या भक्तियोग सम्बन्धी अपने कर्मों को पूरा करने में वह सदैव सचेष्ट रहता है। दुर्घटनाएँ उसे कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं कर पातीं। जैसा कि *भगवद्गीता* में (२.१४) कहा गया है—*आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत*। वह इन प्रासंगिक घटनाओं को सहता है क्योंकि वह यह भलीभाँति जानता है कि ये घटनाएँ ऐसे ही आती-जाती रहती हैं और इनसे उसके कर्तव्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार वह योगाभ्यास में परम सिद्धि प्राप्त करता है।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ २४॥

उठा सकता है। उस आनन्दमयी स्थिति में वह दिव्य इन्द्रियों द्वारा असीम दिव्यसुख में स्थित रहता है। इस प्रकार स्थापित मनुष्य कभी सत्य से विपथ नहीं होता और इस सुख की प्राप्ति हो जाने पर वह इससे बड़ा कोई दूसरा लाभ नहीं मानता। ऐसी स्थिति को पाकर मनुष्य बड़ी से बड़ी कठिनाई में भी विचलित नहीं होता। यह निस्सन्देह भौतिक संसर्ग से उत्पन्न होने वाले समस्त दुखों से वास्तविक मुक्ति है।

तात्पर्य : योगाभ्यास से मनुष्य भौतिक धारणाओं से क्रमशः विरक्त होता जाता है। यह योग का प्रमुख लक्षण है। इसके बाद वह समाधि में स्थित हो जाता है जिसका अर्थ यह होता है कि दिव्य मन तथा बुद्धि के द्वारा योगी अपने आपको परमात्मा समझने का भ्रम न करके परमात्मा की अनुभूति करता है। योगाभ्यास बहुत कुछ पतञ्जलि की पद्धति पर आधारित है। कुछ अप्रामाणिक भाष्यकार जीवात्मा तथा परमात्मा में अभेद स्थापित करने का प्रयास करते हैं और अद्वैतवादी इसे ही मुक्ति मानते हैं, किन्तु वे पतञ्जलि की योगपद्धति के वास्तविक प्रयोजन को नहीं जानते। पतञ्जलि पद्धति में दिव्य आनन्द को स्वीकार किया गया है, किन्तु अद्वैतवादी इस दिव्य आनन्द को स्वीकार नहीं करते क्योंकि उन्हें भ्रम है कि इससे कहीं उनके अद्वैतवाद में बाधा न उपस्थित हो जाय। अद्वैतवादी ज्ञान तथा ज्ञाता के द्वैत को नहीं मानते, किन्तु इस श्लोक में दिव्य इन्द्रियों द्वारा अनुभूत दिव्य आनन्द को स्वीकार किया गया है। इसकी पुष्टि योगपद्धति के विख्यात व्याख्याता पतञ्जलि मुनि ने भी की है। योगसूत्र में (३.३४) महर्षि कहते हैं—
पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।

यह *चितिशक्ति* या अन्तरंगा शक्ति दिव्य है। *पुरुषार्थ* का तात्पर्य धर्म, अर्थ, काम तथा अन्त में परब्रह्म से तादात्म्य या मोक्ष है। अद्वैतवादी परब्रह्म से इस तादात्म्य को *कैवल्यम्* कहते हैं। किन्तु पतञ्जलि के अनुसार *कैवल्यम्* वह अन्तरंगा या दिव्य शक्ति है जिससे जीवात्मा अपनी स्वाभाविक स्थिति से अवगत होता है। भगवान् चैतन्य के शब्दों में यह अवस्था *चेतोदर्पणमार्जनम्* अर्थात् मन रूपी मलिन दर्पण का मार्जन (शुद्धि) है। यह मार्जन वास्तव में मुक्ति या *भवमहादावाग्निनिर्वापणम्* है। प्रारम्भिक निर्वाण सिद्धान्त भी इस नियम के समान है। *भागवत* में (२.१०.६) इसे *स्वरूपेण व्यवस्थितिः* कहा गया है। *भगवद्गीता* के इस श्लोक में भी इसी की पुष्टि हुई है।

निर्वाण के बाद आध्यात्मिक कार्यकलापों की या भगवद्भक्ति की अभिव्यक्ति होती है जिसे कृष्णभावनामृत कहते हैं। *भागवत* के शब्दों में—*स्वरूपेण व्यवस्थितिः*—जीवात्मा का वास्तविक जीवन यही है। भौतिक दूषण से आध्यात्मिक जीवन के कल्मष युक्त होने की अवस्था माया है। इस भौतिक दूषण से मुक्ति का अभिप्राय जीवात्मा की मूल दिव्य स्थिति का विनाश नहीं है। पतञ्जलि भी इसकी पुष्टि इन शब्दों से करते हैं—*कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति*—यह *चितिशक्ति* या दिव्य आनन्द ही वास्तविक जीवन है। इसका अनुमोदन *वेदान्तसूत्र* में (१.१.१२) इस प्रकार हुआ है—*आनन्दमयोऽभ्यासात्*। यह चितिशक्ति ही योग का परमलक्ष्य है और भक्तियोग द्वारा इसे सरलता से प्राप्त किया जाता है। भक्तियोग का विस्तृत विवरण सातवें अध्याय में किया जायेगा।

इस अध्याय में वर्णित योगपद्धति के अनुसार समाधियाँ दो प्रकार की होती हैं—

सम्प्रज्ञात तथा *असम्प्रज्ञात समाधियाँ*। जब मनुष्य विभिन्न दार्शनिक शोधों के द्वारा दिव्य स्थिति को प्राप्त होता है तो यह कहा जाता है कि उसे सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त हुई है। असम्प्रज्ञात समाधि में संसारी आनन्द से कोई सम्बन्ध नहीं रहता क्योंकि इसमें मनुष्य इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले सभी प्रकार के सुखों से परे हो जाता है। एक बार इस दिव्य स्थिति को प्राप्त कर लेने पर योगी कभी उससे डिगता नहीं। जब तक योगी इस स्थिति को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक वह असफल रहता है। आजकल के तथाकथित योगाभ्यास में विभिन्न इन्द्रियसुख सम्मिलित हैं, जो योग के सर्वथा विपरीत है। योगी होकर यदि कोई मैथुन तथा मादकद्रव्य सेवन में अनुरक्त होता है तो यह उपहासजनक है। यहाँ तक कि जो योगी योग की सिद्धियों के प्रति आकृष्ट रहते हैं वे भी योग में आरूढ नहीं कहे जा सकते। यदि योगीजन योग की आनुषंगिक वस्तुओं के प्रति आकृष्ट हैं तो उन्हें सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुआ नहीं कहा जा सकता, जैसा कि इस श्लोक में कहा गया है। अतः जो व्यक्ति आसनों के प्रदर्शन या सिद्धियों के चक्कर में रहते हैं उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि इस प्रकार से योग का मुख्य उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है।

इस युग में योग की सर्वोत्तम पद्धति कृष्णभावनामृत है जो निराशा उत्पन्न करने वाली नहीं है। एक कृष्णभावनाभावित व्यक्ति अपने धर्म में इतना सुखी रहता है कि उसे किसी अन्य सुख की आकांक्षा नहीं रह जाती। इस दम्भ-प्रधान युग में हठयोग, ध्यानयोग तथा ज्ञानयोग का अभ्यास करते हुए अनेक अवरोध आ सकते हैं, किन्तु कर्मयोग या भक्तियोग के पालन में ऐसी समस्या सामने नहीं आती।

जब तक यह शरीर रहता है तब तक शरीर की आवश्यकताओं—आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन—को पूरा करना होता है। किन्तु जो व्यक्ति शुद्ध भक्तियोग में अथवा कृष्णभावनामृत में स्थित होता है वह शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति करते समय इन्द्रियों को उत्तेजित नहीं करता। प्रत्युत वह घाटे के सौदे का सर्वोत्तम उपयोग करके, जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं को स्वीकार करता है और कृष्णभावनामृत में दिव्यसुख भोगता है। वह दुर्घटनाओं, रोगों, अभावों और यहाँ तक कि अपने प्रियजनों की मृत्यु जैसी आकस्मिक घटनाओं के प्रति भी निरपेक्ष रहता है, किन्तु कृष्णभावनामृत या भक्तियोग सम्बन्धी अपने कर्मों को पूरा करने में वह सदैव सचेष्ट रहता है। दुर्घटनाएँ उसे कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं कर पातीं। जैसा कि भगवद्गीता में (२.१४) कहा गया है—*आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत*। वह इन प्रासंगिक घटनाओं को सहता है क्योंकि वह यह भलीभाँति जानता है कि ये घटनाएँ ऐसे ही आती-जाती रहती हैं और इनसे उसके कर्तव्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार वह योगाभ्यास में परम सिद्धि प्राप्त करता है।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।
सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥२४॥

सः—उस; **निश्चयेन**—दृढ विश्वास के साथ; **योक्तव्यः**—अवश्य अभ्यास करे; **योगः**—योगपद्धति; **अनिर्विण्ण-चेतसा**—विचलित हुए विना; **सङ्कल्प**—मनोधर्म से; **प्रभवान्**—उत्पन्न; **कामान्**—भौतिक इच्छाओं को; **त्यक्त्वा**—त्यागकर; **सर्वान्**—समस्त; **अशेषतः**—पूर्णतया; **मनसा**—मन से; **एव**—निश्चय ही; **इन्द्रिय-ग्रामम्**—इन्द्रियों के समूह को; **विनियम्य**—वश में करके; **समन्ततः**—सभी ओर से।

मनुष्य को चाहिए कि संकल्प तथा श्रद्धा के साथ योगाभ्यास में लगे और पथ से विचलित न हो। उसे चाहिए कि मनोधर्म से उत्पन्न समस्त इच्छाओं को निरपवाद रूप से त्याग दे और इस प्रकार मन के द्वारा सभी ओर से इन्द्रियों को वश में करे।

तात्पर्य : योगाभ्यास करने वाले को दृढसंकल्प होना चाहिए और उसे चाहिए कि विना विचलित हुए धैर्यपूर्वक अभ्यास करे। अन्त में उसकी सफलता निश्चित है—उसे यह सोच कर वड़े ही धैर्य से इस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए और यदि सफलता मिलने में विलम्व हो रहा हो तो निरुत्साहित नहीं होना चाहिए। ऐसे दृढ अभ्यासी की सफलता सुनिश्चित है। भक्तियोग के सम्वन्ध में रूप गोस्वामी का कथन है—

उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात् तत्तत्कर्म प्रवर्तनात्।
संगत्यागात्सतो वृत्तेः षड्भिर्भक्तिः प्रसिद्ध्यति॥

"मनुष्य पूर्ण हार्दिक उत्साह, धैर्य तथा संकल्प के साथ भक्तियोग का पूर्णरूपेण पालन भक्त के साथ रहकर निर्धारित कर्मों के करने तथा सत्कार्यों में पूर्णतया लगे रहने से कर सकता है।" (*उपदेशामृत*—३)

जहाँ तक संकल्प की वात है, मनुष्य को चाहिए कि उस गौरैया का आदर्श ग्रहण करे जिसके सारे अंडे समुद्र की लहरों में मग्न हो गये थे। कहते हैं कि एक गौरैया ने तट पर अंडे दिये, किन्तु विशाल समुद्र उन्हें अपनी लहरों में समेट ले गया। इस पर गौरैया अत्यन्त क्षुब्ध हुई और उसने समुद्र से अंडे लौटा देने के लिए कहा। किन्तु समुद्र ने उसकी प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया। अतः उसने समुद्र को सुखा डालने की ठान ली। वह अपनी नन्हीं सी चोंच से पानी उलीचने लगी। सभी उसके इस असम्भव संकल्प का उपहास करने लगे। उसके इस कार्य की सर्वत्र चर्चा चलने लगी तो अन्त में भगवान् विष्णु के विराट वाहन पक्षिराज गरुड़ ने यह वात सुनी। उन्हें अपनी इस नन्हीं पक्षी वहिन पर दया आई और वे गौरैया से मिलने आये। गरुड़ उस नन्हीं गौरैया के निश्चय से वहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसकी सहायता करने का वचन दिया। गरुड़ ने तुरन्त समुद्र से कहा कि वह उसके अंडे लौटा दे, नहीं तो उसे स्वयं आगे आना पड़ेगा। इससे समुद्र भयभीत हुआ और उसने अंडे लौटा दिये। वह गौरैया गरुड़ की कृपा से सुखी हो गई।

इसी प्रकार योग, विशेषतया कृष्णभावनामृत में भक्तियोग, अत्यन्त दुष्कर प्रतीत हो सकता है, किन्तु जो कोई संकल्प के साथ नियमों का पालन करता है, भगवान् निश्चित रूप से उसकी सहायता करते हैं, क्योंकि जो अपनी सहायता आप करते हैं भगवान् उनकी सहायता क

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ २५॥

शनैः—धीरे-धीरे; शनैः—एक एक करके, क्रम से; उपरमेत्—निवृत्त रहे; बुद्ध्या—बुद्धि से; धृति-गृहीतया—विश्वासपूर्वक; आत्म-संस्थम्—समाधि में स्थित; मनः—मन; कृत्वा—करके; न—नहीं; किञ्चित्—अन्य कुछ; अपि—भी; चिन्तयेत्—सोचे।

धीरे-धीरे, क्रमशः पूर्ण विश्वासपूर्वक बुद्धि के द्वारा समाधि में स्थित होना चाहिए और इस प्रकार मन को आत्मा में ही स्थित करना चाहिए तथा अन्य कुछ भी नहीं सोचना चाहिए।

तात्पर्य : समुचित विश्वास तथा बुद्धि के द्वारा मनुष्य को धीरे-धीरे सारे इन्द्रियकर्म करने बन्द कर देना चाहिए। यह प्रत्याहार कहलाता है। मन को विश्वास, ध्यान तथा इन्द्रिय-निवृत्ति द्वारा वश में करते हुए समाधि में स्थिर करना चाहिए। उस समय देहात्मबुद्धि में अनुरक्त होने की कोई सम्भावना नहीं रह जाती। दूसरे शब्दों में, जब तक इस शरीर का अस्तित्व है तब तक मनुष्य पदार्थ में लगा रहता है, किन्तु उसे इन्द्रियतृप्ति के विषय में नहीं सोचना चाहिए। उसे परमात्मा के आनन्द के अतिरिक्त किसी अन्य आनन्द का चिन्तन नहीं करना चाहिए। कृष्णभावनामृत का अभ्यास करने से यह अवस्था सहज ही प्राप्त की जा सकती है।

यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६॥

यतः यतः—जहाँ-जहाँ भी; निश्चलति—विचलित होता है; मनः—मन; चञ्चलम्—चलायमान; अस्थिरम्—अस्थिर; ततः ततः—वहाँ-वहाँ से; नियम्य—वश में करके; एतत्—इस; आत्मनि—अपने; एव—निश्चय ही; वशम्—वश में; नयेत्—ले आए।

मन अपनी चंचलता तथा अस्थिरता के कारण जहाँ कहीं भी विचरण करता हो, मनुष्य को चाहिए कि उसे वहाँ से खींचे और अपने वश में लाए।

तात्पर्य : मन स्वभाव से चंचल और अस्थिर है। किन्तु स्वरूपसिद्ध योगी को मन को वश में लाना होता है, उस पर मन का अधिकार नहीं होना चाहिए। जो मन को (तथा इन्द्रियों को भी) वश में रखता है, वह गोस्वामी या स्वामी कहलाता है और जो मन के वशीभूत होता है वह गोदास अर्थात् इन्द्रियों का सेवक कहलाता है। गोस्वामी इन्द्रियसुख के मानक से भिज्ञ होता है। दिव्य इन्द्रियसुख वह है जिसमें इन्द्रियाँ हृषीकेश अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी भगवान् कृष्ण की सेवा में लगी रहती हैं। शुद्ध इन्द्रियों के द्वारा कृष्ण की सेवा ही कृष्णचेतना या कृष्णभावनामृत कहलाती है। इन्द्रियों को पूर्णवश में लाने की यही विधि है। इससे भी बढ़कर बात यह है कि यह योगाभ्यास की परम सिद्धि भी है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ २७॥

प्रशान्त–कृष्ण के चरणकमलों में स्थित, शान्त; **मनसम्**–जिसका मन; **हि**–निश्चय ही; **एनम्**–यह; **योगिनम्**–योगी; **सुखम्**–सुख; **उत्तमम्**–सर्वोच्च; **उपैति**–प्राप्त करता है; **शान्त-रजसम्**–जिसकी कामेच्छा शान्त हो चुकी है; **ब्रह्म-भूतम्**–परमात्मा के साथ अपनी पहचान द्वारा मुक्ति; **अकल्मषम्**–समस्त पूर्व पापकर्मों से मुक्त।

जिस योगी का मन मुझ में स्थिर रहता है, वह निश्चय ही दिव्यसुख की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करता है। वह रजोगुण से परे हो जाता है, वह परमात्मा के साथ अपनी गुणात्मक एकता को समझता है और इस प्रकार अपने समस्त विगत कर्मों के फल से निवृत्त हो जाता है।

तात्पर्य : ब्रह्मभूत वह अवस्था है जिसमें भौतिक कल्मष से मुक्त होकर भगवान् की दिव्यसेवा में स्थित हुआ जाता है। *मद्भक्तिं लभते पराम्* (*भगवद्गीता* १८.५४)। जब तक मनुष्य का मन भगवान् के चरणकमलों में स्थिर नहीं हो जाता तब तक कोई ब्रह्मरूप में नहीं रह सकता। *स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः*। भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर प्रवृत्त रहना या कृष्णभावनामृत में रहना वस्तुतः रजोगुण तथा भौतिक कल्मष से मुक्त होना है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ २८॥

युञ्जन्–योगाभ्यास में प्रवृत्त होना; **एवम्**–इस प्रकार; **सदा**–सदैव; **आत्मानम्**–स्व, आत्मा को; **योगी**–योगी जो परमात्मा के सम्पर्क में रहता है; **विगत**–मुक्त; **कल्मषः**–सारे भौतिक दूषण से; **सुखेन**–दिव्यसुख से; **ब्रह्म-संस्पर्शम्**–ब्रह्म के सान्निध्य में रहकर; **अत्यन्तम्**–सर्वोच्च; **सुखम्**–सुख को; **अश्नुते**–प्राप्त करता है।

इस प्रकार योगाभ्यास में निरन्तर लगा रहकर आत्मसंयमी योगी समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है और भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में परमसुख प्राप्त करता है।

तात्पर्य : आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है-भगवान् के सम्बन्ध में अपनी स्वाभाविक स्थिति को जानना। जीव (आत्मा) भगवान् का अंश है और उसकी स्थिति भगवान् की दिव्यसेवा करते रहना है। ब्रह्म के साथ यह दिव्य सान्निध्य ही ब्रह्म-संस्पर्श कहलाता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९॥

सर्व-भूत-स्थम्–सभी जीवों में स्थित; **आत्मानम्**–परमात्मा को; **सर्व**–सभी; **भूतानि**–जीवों को; **च**–भी; **आत्मनि**–आत्मा में; **ईक्षते**–देखता है; **योग-युक्त-आत्मा**–कृष्णचेतना में लगा व्यक्ति; **सर्वत्र**–सभी जगह; **सम-दर्शनः**–समभाव से देखने वाला।

वास्तविक योगी समस्त जीवों में मुझको तथा मुझमें समस्त जीवों को देखता है। निस्सन्देह स्वरूपसिद्ध व्यक्ति मुझ परमेश्वर को सर्वत्र देखता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित योगी पूर्ण द्रष्टा होता है क्योंकि वह परब्रह्म कृष्ण को हर प्राणी के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित देखता है। *ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।* अपने परमात्मा रूप में भगवान् एक कुत्ते तथा एक ब्राह्मण दोनों के हृदय में स्थित होते हैं। पूर्णयोगी जानता है कि भगवान् नित्यरूप में दिव्य हैं और कुत्ते या ब्राह्मण में स्थित होने से भी भौतिक रूप से प्रभावित नहीं होते। यही भगवान् की परम निरपेक्षता है। यद्यपि जीवात्मा भी एक-एक हृदय में विद्यमान है, किन्तु वह एकसाथ समस्त हृदयों में (सर्वव्यापी) नहीं है। आत्मा तथा परमात्मा का यही अन्तर है। जो वास्तविक रूप से योगाभ्यास करने वाला नहीं है, वह इसे स्पष्ट रूप से नहीं देखता। एक कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कृष्ण को आस्तिक तथा नास्तिक दोनों में देख सकता है। स्मृति में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—*आततत्वाच्च मातृत्वाच्च आत्मा हि परमो हरिः।* भगवान् सभी प्राणियों का स्रोत होने के कारण माता और पालनकर्ता के समान हैं। जिस प्रकार माता अपने समस्त पुत्रों के प्रति समभाव रखती है, उसी प्रकार परम पिता (या माता) भी रखता है। फलस्वरूप परमात्मा प्रत्येक जीव में निवास करता है।

बाह्य रूप से भी प्रत्येक जीव भगवान् की शक्ति (भगवद्शक्ति) में स्थित है। जैसा कि सातवें अध्याय में बताया जाएगा, भगवान् की दो मुख्य शक्तियाँ हैं—परा तथा अपरा। जीव पराशक्ति का अंश होते हुए भी अपराशक्ति से बद्ध है। जीव सदा ही भगवान् की शक्ति में स्थित है। प्रत्येक जीव किसी न किसी प्रकार भगवान् में ही स्थित रहता है। योगी समदर्शी है क्योंकि वह देखता है कि सारे जीव अपने-अपने कर्मफल के अनुसार विभिन्न स्थितियों में रहकर भगवान् के दास होते हैं। अपराशक्ति में जीव भौतिक इन्द्रियों का दास रहता है जबकि पराशक्ति में वह साक्षात् परमेश्वर का दास रहता है। इस प्रकार प्रत्येक अवस्था में जीव ईश्वर का दास है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति में यह समदृष्टि पूर्ण होती है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥३०॥

यः—जो; माम्—मुझको; पश्यति—देखता है; सर्वत्र—सभी जगह; सर्वम्—प्रत्येक वस्तु को; च—तथा; मयि—मुझमें; पश्यति—देखता है; तस्य—उसके लिए; अहम्—मैं; न—नहीं; प्रणश्यामि—अदृश्य होता हूँ; सः—वह; च—भी; मे—मेरे लिए; न—नहीं; प्रणश्यति—अदृश्य होता है।

जो मुझे सर्वत्र देखता है और सब कुछ मुझमें देखता है उसके लिए न तो मैं कभी अदृश्य होता हूँ और न वह मेरे लिए अदृश्य होता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित व्यक्ति भगवान् कृष्ण को सर्वत्र देखता है और सारी वस्तुओं को कृष्ण में देखता है। ऐसा व्यक्ति भले ही प्रकृति की पृथक्-पृथक् अभिव्यक्तियों को देखता प्रतीत हो, किन्तु वह प्रत्येक दशा में इस कृष्णभावनामृत से अवगत रहता है कि प्रत्येक वस्तु कृष्ण की ही शक्ति की अभिव्यक्ति है। कृष्णभावनामृत का मूल सिद्धान्त ही

यह है कि कृष्ण के विना कोई अस्तित्व नहीं है और कृष्ण ही सर्वेश्वर हैं। कृष्णभावनामृत कृष्ण-प्रेम का विकास है—ऐसी स्थिति जो भौतिक मोक्ष से भी परे है। आत्मसाक्षात्कार के उपर कृष्णभावनामृत की इस अवस्था में भक्त कृष्ण से इस अर्थ में एकरूप हो जाता है कि उसके लिए कृष्ण ही सब कुछ हो जाते हैं और भक्त प्रेममय कृष्ण से पूरित हो उठता है। तव भगवान् तथा भक्त के वीच अन्तरंग सम्वन्ध स्थापित हो जाता है। उस अवस्था में जीव को विनष्ट नहीं किया जा सकता और न भगवान् भक्त की दृष्टि से ओझल होते हैं। कृष्ण में तादात्म्य होना आध्यात्मिक लय (आत्मविनाश) है। भक्त कभी भी ऐसी विपदा नहीं उठाता। *ब्रह्मसंहिता* (५.३८) में कहा गया है—

प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्तिविलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जिनका दर्शन भक्तगण प्रेमरूपी अंजन लगे नेत्रों से करते हैं। वे भक्त के हृदय में स्थित श्यामसुन्दर रूप में देखे जाते हैं।"

इस अवस्था में न तो भगवान् कृष्ण अपने भक्त की दृष्टि से ओझल होते हैं और न भक्त ही उनकी दृष्टि से ओझल हो पाते हैं। यही वात योगी के लिए भी सत्य है क्योंकि वह अपने हृदय के भीतर परमात्मा रूप में भगवान् का दर्शन करता रहता है। ऐसा योगी शुद्ध भक्त वन जाता है और अपने अन्दर भगवान् को देखे विना एक क्षण भी नहीं रह सकता।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ३१॥

सर्व-भूत-स्थितम्—प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित; **यः**—जो; **माम्**—मुझको; **भजति**—भक्तिपूर्वक सेवा करता है; **एकत्वम्**—तादात्म्य में; **आस्थितः**—स्थित; **सर्वथा**—सभी प्रकार से; **वर्तमानः**—उपस्थित होकर; **अपि**—भी; **सः**—वह; **योगी**—योगी; **मयि**—मुझमें; **वर्तते**—रहता है।

जो योगी मुझे तथा परमात्मा को अभिन्न जानते हुए परमात्मा की भक्तिपूर्वक सेवा करता है, वह हर प्रकार से मुझमें सदैव स्थित रहता है।

तात्पर्य : जो योगी परमात्मा का ध्यान करता है, वह अपने अन्तःकरण में चतुर्भुज विष्णु का दर्शन कृष्ण के पूर्णरूप में शंख, चक्र, गदा तथा कमलपुष्प धारण किये करता है। योगी को यह जानना चाहिए कि विष्णु कृष्ण से भिन्न नहीं हैं। परमात्मा रूप में कृष्ण जन-जन के हृदय में स्थित हैं। यही नहीं, असंख्य जीवों के हृदयों में स्थित असंख्य परमात्माओं में कोई अन्तर नहीं है। न ही कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर व्यस्त व्यक्ति तथा परमात्मा के ध्यान में निरत एक पूर्णयोगी के वीच कोई अन्तर है। कृष्णभावनामृत में योगी सदेव कृष्ण में ही स्थित रहता है भले ही भौतिक जगत् में वह विभिन्न कार्यों में व्यस्त क्यों न हो। इसकी पुष्टि श्रील रूप गोस्वामी कृत *भक्तिरसामृत सिन्धु* में (१.२.१८७) हुई है—*निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते।*

प्रत्येक प्राणी का सखा होता है। वह सर्वश्रेष्ठ योगी है क्योंकि वह स्वान्तःसुखाय सिद्धि नहीं चाहता, अपितु अन्यों के लिए भी चाहता है। वह अपने मित्र जीवों से द्वेष नहीं करता। यही है वह अन्तर जो एक भगवद्भक्त तथा आत्मोन्नति में ही रुचि रखने वाले योगी में होता है। जो योगी पूर्णरूप से ध्यान धरने के लिए एकान्त स्थान में चला जाता है, वह उतना पूर्ण नहीं होता जितना कि वह भक्त जो प्रत्येक व्यक्ति को कृष्णभावनाभावित बनाने का प्रयास करता रहता है।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥३३॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; **यः-अयम्**—यह पद्धति; **योगः**—योग; **त्वया**—तुम्हारे द्वारा; **प्रोक्तः**—कही गई; **साम्येन**—सामान्यतया; **मधुसूदन**—हे मधु असुर के संहर्ता; **एतस्य**—इसकी; **अहम्**—मैं; **न**—नहीं; **पश्यामि**—देखता हूँ; **चञ्चलत्वात्**—चंचल होने के कारण; **स्थितिम्**—स्थिति को; **स्थिराम्**—स्थायी।

अर्जुन ने कहा—हे मधुसूदन! आपने जिस योगपद्धति का संक्षेप में वर्णन किया है, वह मेरे लिए अव्यावहारिक तथा असहनीय है, क्योंकि मन चंचल तथा अस्थिर है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के लिए *शुचौ देशे* से लेकर *योगी परमो मतः* तक जिस योगपद्धति का वर्णन किया है उसे अर्जुन अपनी असमर्थता के कारण अस्वीकार कर रहा है। इस कलियुग में सामान्य व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह अपना घर छोड़कर किसी पर्वत या जंगल के एकान्त स्थान में जाकर योगाभ्यास करे। आधुनिक युग की विशेषता है—अल्पकालिक जीवन के लिए घोर संघर्ष। लोग सरल, व्यावहारिक साधनों से भी आत्म-साक्षात्कार के लिए उत्सुक या गम्भीर नहीं हैं तो फिर इस कठिन योगपद्धति के विषय में क्या कहा जा सकता है जो जीवन शैली, आसन विधि, स्थान के चयन तथा भौतिक व्यस्तताओं से विरक्ति का नियमन करती है। व्यावहारिक व्यक्ति के रूप में अर्जुन ने सोचा कि इस योगपद्धति का पालन असम्भव है, भले ही वह कई बातों में इस पद्धति पर खरा उतरता था। वह राजवंशी था और उसमें अनेक सद्गुण थे, वह महान योद्धा था, वह दीर्घायु था और सबसे बड़ी बात तो यह कि वह भगवान् श्रीकृष्ण का घनिष्ठ मित्र था। पाँच हजार वर्ष पूर्व अर्जुन को हमसे अधिक सुविधाएँ प्राप्त थीं तो भी उसने इस योगपद्धति को स्वीकार करने से मना कर दिया। वास्तव में इतिहास में कोई ऐसा प्रलेख प्राप्त नहीं है जिससे यह ज्ञात हो सके कि उसने कभी योगाभ्यास किया हो। अतः इस पद्धति को इस कलियुग के लिए सर्वथा दुष्कर समझना चाहिए। हाँ, कतिपय विरले व्यक्तियों के लिए यह पद्धति सुगम हो सकती है, किन्तु सामान्यजनों के लिए यह असम्भव प्रस्ताव है। यदि पाँच हजार वर्ष पूर्व ऐसा था तो आधुनिक समय के लिए क्या कहना? जो लोग विभिन्न तथाकथित स्कूलों तथा समितियों के द्वारा इस योगपद्धति का अनुकरण कर रहे हैं, भले ही सन्तोषजनक प्रतीत हो, किन्तु

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५॥

श्रीभगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **असंशयम्**—निस्सन्देह; **महाबाहो**—हे वलिष्ठ भुजाओं वाले; **मनः**—मन को; **दुर्निग्रहम्**—दमन करना कठिन है; **चलम्**—चलायमान, चंचल; **अभ्यासेन**—अभ्यास द्वारा; **तु**—लेकिन; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **वैराग्येण**—वैराग्य द्वारा; **च**—भी; **गृह्यते**—इस तरह वश में किया जा सकता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—हे महाबाहु कुन्तीपुत्र! निस्सन्देह चंचल मन को वश में करना अत्यन्त कठिन है, किन्तु उपयुक्त अभ्यास द्वारा तथा विरक्ति द्वारा ऐसा सम्भव है।

तात्पर्य : अर्जुन द्वारा व्यक्त इस हठीले मन को वश में करने की कठिनाई को भगवान् स्वीकार करते हैं। किन्तु साथ ही वे सुझाते हैं कि अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा यह सम्भव है। यह अभ्यास क्या है? वर्तमान युग में तीर्थवास, परमात्मा का ध्यान, मन तथा इन्द्रियों का निग्रह, ब्रह्मचर्यपालन, एकान्त-वास आदि कठोर विधि-विधानों का पालन कर पाना सम्भव नहीं है। किन्तु कृष्णभावनामृत के अभ्यास से मनुष्य भगवान् की नवधाभक्ति का आचरण करता है। ऐसी भक्ति का प्रथम अंग है-कृष्ण के विषय में श्रवण करना। मन को समस्त प्रकार की दुश्चिन्ताओं से शुद्ध करने के लिए यह परम शक्तिशाली एवं दिव्य विधि है। कृष्ण के विषय में जितना ही अधिक श्रवण किया जाता है, उतना ही मनुष्य उन वस्तुओं के प्रति अनासक्त होता है जो मन को कृष्ण से दूर ले जाने वाली हैं। मन को उन सारे कार्यों से विरक्त कर लेने पर, जिनसे कृष्ण का कोई सम्बन्ध नहीं है, मनुष्य सुगमतापूर्वक वैराग्य सीख सकता है। वैराग्य का अर्थ है-पदार्थ से विरक्ति और मन का आत्मा में प्रवृत्त होना। निर्विशेष आध्यात्मिक विरक्ति कृष्ण के कार्यकलापों में मनको लगाने की अपेक्षा अधिक कठिन है। यह व्यावहारिक है, क्योंकि कृष्ण के विषय में श्रवण करने से मनुष्य स्वतः परमात्मा के प्रति आसक्त हो जाता है। यह आसक्ति *परेशानुभूति* या आध्यात्मिक तुष्टि कहलाती है। यह वैसे ही है जिस तरह भोजन के प्रत्येक कोर से भूखे को तुष्टि प्राप्त होती है। भूख लगने पर मनुष्य जितना अधिक खाता जाता है, उतनी ही अधिक तुष्टि और शक्ति उसे मिलती जाती है। इसी प्रकार भक्ति सम्पन्न करने से दिव्य तुष्टि की अनुभूति होती है, क्योंकि मन भौतिक वस्तुओं से विरक्त हो जाता है। यह कुछ-कुछ वैसा ही है जैसे कुशल उपचार तथा सुपथ्य द्वारा रोग का इलाज। अतः भगवान् कृष्ण के कार्यकलापों का श्रवण उन्मत्त मन का कुशल उपचार है और कृष्ण को अर्पित भोजन ग्रहण करना रोगी के लिए उपयुक्त पथ्य है। यह उपचार ही कृष्णभावनामृत की विधि है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥

असंयत–उच्छृंखल; आत्मना–मन के द्वारा; योगः–आत्म-साक्षात्कार; दुष्प्रापः–प्राप्त करना कठिन, इति–इस प्रकार; मे–मेरा; मतिः–मत; वश्य–वशीभूत; आत्मना–मन से, तु–लेकिन; यतता–प्रयत्न करते हुए; शक्यः–व्यावहारिक; अवाप्तुम्–प्राप्त करना; उपायतः–उपयुक्त साधनों द्वारा।

जिसका मन उच्छृंखल है, उसके लिए आत्म-साक्षात्कार कठिन कार्य होता है, किन्तु जिसका मन संयमित है और जो समुचित उपाय करता है उसकी सफलता ध्रुव है। ऐसा मेरा मत है।

तात्पर्य : भगवान् घोषणा करते हैं कि जो व्यक्ति अपने मन को भौतिक व्यापारों से विलग करने का समुचित उपचार नहीं करता, उसे आत्म-साक्षात्कार में शायद ही सफलता प्राप्त हो सके। भौतिक भोग में मन लगाकर योग का अभ्यास करना मानो अग्नि में जल डाल कर उसे प्रज्ज्वलित करने का प्रयास करना हो। मन का निग्रह किये विना योगाभ्यास समय का अपव्यय है। योग का ऐसा प्रदर्शन भले ही भौतिक दृष्टि से लाभप्रद हो, किन्तु जहाँ तक आत्म-साक्षात्कार का प्रश्न है यह सव व्यर्थ है। अतः मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर मन को लगाकर उसे वश में करे। कृष्णभावनामृत में प्रवृत्त हुए विना मन को स्थिर कर पाना असम्भव है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति विना किसी अतिरिक्त प्रयास के ही योगाभ्यास का फल सरलता से प्राप्त कर लेता है, किन्तु योगाभ्यास करने वाले को कृष्णभावनाभावित हुए विना सफलता नहीं मिल पाती।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥३७॥

अर्जुनः उवाच–अर्जुन ने कहा, अयतिः–असफल योगी, श्रद्धया–श्रद्धा से, उपेतः–लगा हुआ, सलग्न; योगात्–योग मे, चलित–विचलित, मानसः–मन वाला, अप्राप्य–प्राप्त न करके, योग-संसिद्धिम्–योग की सर्वोच्च सिद्धि को, काम्–किस, गतिम्–लक्ष्य को, कृष्ण–हे कृष्ण, गच्छति–प्राप्त करता है।

अर्जुन ने कहाः हे कृष्ण! उस असफल योगी की गति क्या है जो प्रारम्भ में श्रद्धापूर्वक आत्म-साक्षात्कार की विधि ग्रहण करता है, किन्तु वाद में भौतिकता के कारण उससे विचलित हो जाता हे और योगसिद्धि को प्राप्त नहीं कर पाता?

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में आत्म-साक्षात्कार या योग मार्ग का वर्णन हे। आत्म-साक्षात्कार का मूलभूत नियम यह हे कि जीवात्मा यह भौतिक शरीर नहीं है, अपितु इससे भिन्न हे ओर उसका सुख शाश्वत जीवन, आनन्द तथा ज्ञान मे निहित है। ये शरीर तथा मन दोनों से परे हें। आत्म-साक्षात्कार की खोज ज्ञान द्वारा की जाती हे। इसके लिए अष्टाग विधि या भक्तियोग का अभ्यास करना होता हे। इनमें से प्रत्येक विधि मे जीव को अपनी स्वाभाविक स्थिति, भगवान् से अपने सम्वन्ध तथा उन कार्यों की अनुभूति प्राप्त करनी होती है, जिनके द्वारा वह टूटी हुई शृखला को जोड सके ओर कृष्णभावनामृत की सर्वोच्च

सिद्ध-अवस्था प्राप्त कर सके। इन तीनों विधियों में से किसी एक का भी पालन करके मनुष्य देर-सवेर अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त होता है। भगवान् ने द्वितीय अध्याय में इस पर बल दिया है कि दिव्यमार्ग में थोड़े से प्रयास से भी मोक्ष की महती आशा है। इन तीनों में से इस युग के लिए भक्तियोग विशेष रूप से उपयुक्त है, क्योंकि ईश-साक्षात्कार की यह श्रेष्ठतम प्रत्यक्ष विधि है, अतः अर्जुन पुनः आश्वस्त होने की दृष्टि से भगवान् कृष्ण से अपने पूर्वकथन की पुष्टि करने को कहता है। भले ही कोई आत्म-साक्षात्कार के मार्ग को निष्ठापूर्वक क्यों न स्वीकार करे, किन्तु ज्ञान की अनुशीलन विधि तथा अष्टांगयोग का अभ्यास इस युग के लिए सामान्यतया बहुत कठिन है, अतः निरन्तर प्रयास होने पर भी मनुष्य अनेक कारणों से असफल हो सकता है। पहला कारण तो यह हो सकता है कि मनुष्य इस विधि का पालन करने में पर्याप्त सतर्क न रह पाये। दिव्यमार्ग का अनुसरण बहुत कुछ माया के ऊपर धावा बोलना जैसा है। फलतः जब भी मनुष्य माया के पाश से छूटना चाहता है, तब वह विविध प्रलोभनों के द्वारा अभ्यासकर्ता को पराजित करना चाहती है। बद्धजीव पहले से प्रकृति के गुणों द्वारा मोहित रहता है और दिव्य अनुशासनों का पालन करते समय भी उसके पुनः मोहित होने की सम्भावना बनी रहती है। यही *योगाच्चलितमानस* अर्थात् दिव्य पथ से विचलन कहलाता है। अर्जुन आत्म-साक्षात्कार के मार्ग से विचलन के प्रभाव के सम्बन्ध में जिज्ञासा करता है।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥ ३८॥

कच्चित्—क्या; **न**—नहीं; **उभय**—दोनों; **विभ्रष्टः**—विचलित; **छिन्न**—छिन्न-भिन्न; **अभ्रम्**—बादल; **इव**—सदृश; **नश्यति**—नष्ट हो जाता है; **अप्रतिष्ठः**—बिना किसी पद के; **महा-बाहो**—हे बलिष्ठ भुजाओं वाले कृष्ण; **विमूढः**—मोहग्रस्त; **ब्रह्मणः**—ब्रह्म-प्राप्ति के; **पथि**—मार्ग में।

हे महाबाहु कृष्ण! क्या ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग से भ्रष्ट ऐसा व्यक्ति आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों ही सफलताओं से च्युत नहीं होता और छिन्नभिन्न बादल की भाँति विनष्ट नहीं हो जाता जिसके फलस्वरूप उसके लिए किसी लोक में कोई स्थान नहीं रहता?

तात्पर्य : उन्नति के दो मार्ग हैं। भौतिकतावादी व्यक्तियों की अध्यात्म में कोई रुचि नहीं होती, अतः वे आर्थिक विकास द्वारा भौतिक प्रगति में अत्यधिक रुचि लेते हैं या फिर समुचित कार्य द्वारा उच्चतर लोकों को प्राप्त करने में अधिक रुचि रखते हैं। यदि कोई अध्यात्म के मार्ग को चुनता है, तो उसे सभी प्रकार के तथाकथित भौतिक सुख से विरक्त होना पड़ता है। यदि महत्त्वाकांक्षी ब्रह्मवादी असफल होता है तो वह दोनों ओर से जाता है। दूसरे शब्दों में, वह न तो भौतिक सुख भोग पाता है, न आध्यात्मिक सफलता ही प्राप्त कर सकता है। उसका कोई स्थान नहीं रहता, वह छिन्न-भिन्न बादल के समान होता है। कभी-कभी आकाश में एक बादल छोटे बादलखंड से विलग होकर एक बड़े खंड से जा मिलता है, किन्तु यदि वह बड़े खंड से नहीं जुड़ पाता तो वायु उसे बहा ले जाती है और वह विराट आकाश में लुप्त हो जाता है। *ब्रह्मणः पथि* ब्रह्म-साक्षात्कार का मार्ग

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में (१.५.१७) श्री नारद मुनि व्यासदेव को इस प्रकार उपदेश देते हैं—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥

"यदि कोई समस्त भौतिक आशाओं को त्याग कर भगवान् की शरण में जाता है तो इसमें न तो कोई क्षति होती है ओर न पतन। दूसरी ओर अभक्त जन अपने-अपने व्यवसायों में लगे रह सकते हैं फिर भी वे कुछ प्राप्त नहीं कर पाते।" भौतिक लाभ के लिए अनेक शास्त्रीय तथा लौकिक कार्य हैं। जीवन में आध्यात्मिक उन्नति अर्थात् कृष्णभावनामृत के लिए योगी को समस्त भौतिक कार्यकलापों का परित्याग करना होता है। कोई यह तर्क कर सकता है कि यदि कृष्णभावनामृत पूर्ण हो जाय तो इससे सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त हो सकती है, किन्तु यदि यह सिद्धि प्राप्त न हो पाई तो भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से मनुष्य को क्षति पहुँचती है। शास्त्रों का आदेश है कि यदि कोई स्वधर्म का आचरण नहीं करता तो उसे पापफल भोगना पड़ता है, अतः जो दिव्य कार्यों को ठीक से नहीं कर पाता उसे फल भोगना होता है। *भागवत पुराण* आश्वस्त करता है कि असफल योगी को चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। भले ही उसे ठीक से स्वधर्माचरण न करने का फल भोगना पड़े तो भी वह घाटे में नहीं रहता क्योंकि शुभ कृष्णभावनामृत कभी विस्मृत नहीं होता। जो इस प्रकार से लगा रहता है वह अगले जन्म में निम्नयोनि में भी जन्म लेकर पहले की भाँति भक्ति करता है। दूसरी ओर, जो केवल नियत कार्यों को दृढ़तापूर्वक करता है, किन्तु यदि उसमें कृष्णभावनामृत का अभाव है तो आवश्यक नहीं कि उसे शुभ फल प्राप्त हो।

इस श्लोक का तात्पर्य इस प्रकार है—मानवता के दो विभाग किये जा सकते हैं—नियमित तथा अनियमित। जो लोग अगले जन्म तथा मुक्ति के ज्ञान के विना पाशविक इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं वे अनियमित विभाग में आते हैं। जो लोग शास्त्रों में वर्णित कर्तव्य के सिद्धान्तों का पालन करते हैं वे नियमित विभाग में वर्गीकृत होते हैं। अनियमित विभाग के संस्कृत तथा असंस्कृत, शिक्षित तथा अशिक्षित, वली तथा निर्वल लोग पाशविक वृत्तियों से पूर्ण होते हैं। उनके कार्य कभी भी कल्याणकारी नहीं होते क्योंकि वे पशुओं की भाँति आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन का भोग करते हुए इस संसार में निरन्तर रहते हैं, जो सदा ही दुखमय है। किन्तु जो लोग शास्त्रीय आदेशों के अनुसार संयमित रहते हैं और इस प्रकार क्रमशः कृष्णभावनामृत को प्राप्त होते हैं, वे निश्चित रूप से जीवन में उन्नति करते हैं।

कल्याण-मार्ग के अनुयायियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) भौतिक सम्पन्नता का उपभोग करने वाले शास्त्रीय विधि-विधानों के अनुयायी, (२) इस संसार से मुक्ति पाने के लिए प्रयत्नशील लोग तथा (३) कृष्णभावनामृत के भक्त। प्रथम वर्ग के अनुयायियों को पुनः दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—सकामकर्मी तथा इन्द्रियतृप्ति की इच्छा न करने वाले। सकामकर्मी जीवन के उच्चतर स्तर तक उठ सकते हैं—यहाँ तक कि स्वर्गलोक को जा सकते हैं तो भी इस संसार से मुक्त न होने के कारण वे सही ढंग से शुभ मार्ग का अनुगमन नहीं करते। शुभ कर्म तो वे हैं जिनसे मुक्ति प्राप्त

हो। कोई भी ऐसा कार्य जो परम आत्म-साक्षात्कार या देहात्मबुद्धि से मुक्ति की ओर उन्मुख नहीं होता वह रंचमात्र भी कल्याणप्रद नहीं होता। कृष्णभावनामृत सम्बन्धी कार्य ही एकमात्र शुभ कार्य है और जो भी कृष्णभावनामृत के मार्ग पर प्रगति करने के उद्देश्य से स्वेच्छा से समस्त शारीरिक असुविधाओं को स्वीकार करता है वही घोर तपस्या के द्वारा पूर्णयोगी कहलाता है। चूँकि अष्टांगयोग पद्धति कृष्णभावनामृत की चरम अनुभूति के लिए होती है, अतः यह पद्धति भी कल्याणप्रद है, अतः जो कोई इस दिशा में यथाशक्य प्रयास करता है उसे कभी अपने पतन के प्रति भयभीत नहीं होना चाहिए।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ ४१॥

प्राप्य–प्राप्त करके; पुण्य-कृताम्–पुण्य कर्म करने वालों के; लोकान्–लोकों में; उषित्वा–निवास करके; शाश्वतीः–अनेक; समाः–वर्ष; शुचीनाम्–पवित्रात्माओं के; श्री-मताम्–सम्पन्न लोगों के; गेहे–घर में; योग-भ्रष्टः–आत्म-साक्षात्कार के पथ से च्युत व्यक्ति; अभिजायते–जन्म लेता है।

असफल योगी पवित्रात्माओं के लोकों में अनेकानेक वर्षों तक भोग करने के बाद या तो सदाचारी पुरुषों के परिवार में या कि धनवानों के कुल में जन्म लेता है।

तात्पर्य : असफल योगियों की दो श्रेणियाँ हैं–एक वे जो बहुत थोड़ी उन्नति के बाद ही भ्रष्ट होते हैं; दूसरे वे जो दीर्घकाल तक योगाभ्यास के बाद भ्रष्ट होते हैं। जो योगी अल्पकालिक अभ्यास के बाद भ्रष्ट होता है वह स्वर्गलोक को जाता है जहाँ केवल पुण्यात्माओं को प्रविष्ट होने दिया जाता है। वहाँ पर दीर्घकाल तक रहने के बाद उसे पुनः इस लोक में भेजा जाता है जिससे वह किसी सदाचारी ब्राह्मण वैष्णव के कुल में या धनवान वणिक के कुल में जन्म ले सके। योगाभ्यास का वास्तविक उद्देश्य *कृष्णभावनामृत की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करना है*, जैसा कि इस *अध्याय के अन्तिम* श्लोक में बताया गया है, किन्तु जो इतने अध्यवसायी नहीं होते और जो भौतिक प्रलोभनों के कारण असफल हो जाते हैं, उन्हें अपनी भौतिक इच्छाओं की पूर्ति करने की अनुमति दी जाती है। तत्पश्चात् उन्हें सदाचारी या धनवान परिवारों में सम्पन्न जीवन बिताने का अवसर प्रदान किया जाता है। ऐसे परिवारों में जन्म लेने वाले इन सुविधाओं का लाभ उठाते हुए अपने आपको पूर्ण कृष्णभावनामृत तक ऊपर ले जाते हैं।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥ ४२॥

अथवा–या; योगिनाम्–विद्वान योगियों के; एव–निश्चय ही; कुले–परिवार में; भवति–जन्म लेता है; धी-मताम्–परम बुद्धिमानों के; एतत्–यह; हि–निश्चय ही; दुर्लभ-तरम्–अत्यन्त दुर्लभ; लोके–इस संसार में; जन्म–जन्म; यत्–जो; ईदृशम्–इस प्रकार का।

अथवा (यदि दीर्घकाल तक योग करने के बाद असफल रहे तो) वह ऐसे योगियों के कुल में जन्म लेता है जो अति बुद्धिमान हैं। निश्चय ही इ[illegible]सार में ऐसा जन्म दुर्लभ है।

तात्पर्य : यहाँ पर योगियों के बुद्धिमान कुल में जन्म लेने की प्रशंसा की गई है क्योंकि ऐसे कुल में उत्पन्न बालक को प्रारम्भ से ही आध्यात्मिक प्रोत्साहन प्राप्त होता है। विशेषतया आचार्यों या गोस्वामियों के कुल में ऐसी परिस्थिति है। ऐसे कुल अत्यन्त विद्वान् होते हैं और परम्परा तथा प्रशिक्षण के कारण श्रद्धावान होते हैं। इस प्रकार वे गुरु बनते हैं। भारत में ऐसे अनेक आचार्य कुल हैं, किन्तु अब वे अपर्याप्त विद्या तथा प्रशिक्षण के कारण पतनशील हो चुके हैं। भगवत्कृपा से अभी भी कुछ ऐसे परिवार हैं जिनमें पीढ़ी-दर-पीढ़ी योगियों को प्रश्रय मिलता है। ऐसे परिवारों में जन्म लेना सचमुच ही अत्यन्त सौभाग्य की बात है। सौभाग्यवश हमारे गुरु विष्णुपाद श्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज को तथा स्वयं हमें भी ऐसे परिवारों में जन्म लेने का अवसर प्राप्त हुआ। हम दोनों को बचपन से ही भगवद्भक्ति करने का प्रशिक्षण दिया गया। बाद में दिव्य व्यवस्था के अनुसार हमारी उनसे भेंट हुई।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥ ४३॥

तत्र–वहाँ; **तम्**–उस; **बुद्धि-संयोगम्**–चेतना की जागृति को; **लभते**–प्राप्त होता है; **पौर्व-देहिकम्**–पूर्व देह से; **यतते**–प्रयास करता है; **च**–भी; **ततः**–तत्पश्चात्; **भूयः**–पुनः; **संसिद्धौ**–सिद्धि के लिए; **कुरुनन्दन**–हे कुरुपुत्र।

हे कुरुनन्दन! ऐसा जन्म पाकर वह अपने पूर्वजन्म की दैवी चेतना को पुनः प्राप्त करता है और पूर्ण सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से वह आगे उन्नति करने का प्रयास करता है।

तात्पर्य : राजा भरत, जिन्हें तीसरे जन्म में उत्तम ब्राह्मण कुल में जन्म मिला, पूर्व दिव्यचेतना की पुनःप्राप्ति के लिए उत्तम जन्म के उदाहरणस्वरूप हैं। भरत विश्व भर के सम्राट थे और तभी से यह लोक देवताओं के बीच भारतवर्ष के नाम से विख्यात है। पहले यह इलावृतवर्ष के नाम से ज्ञात था। भरत ने अल्पायु में ही आध्यात्मिक सिद्धि के लिए संन्यास ग्रहण कर लिया था, किन्तु वे सफल नहीं हो सके। अगले जन्म में उन्हें उत्तम ब्राह्मण कुल में जन्म लेना पड़ा और वे जड़ भरत कहलाये क्योंकि वे एकान्त वास करते थे तथा किसी से बोलते न थे। बाद में राजा रहूगण ने इन्हें महानतम योगी के रूप में पाया। उनके जीवन से यह पता चलता है कि दिव्य प्रयास अथवा योगाभ्यास कभी व्यर्थ नहीं जाता। भगवत्कृपा से योगी को कृष्णभावनामृत में पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने के बारम्बार सुयोग प्राप्त होते रहते हैं।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ ४४॥

पूर्व–पिछला; **अभ्यासेन**–अभ्यास से; **तेन**–उससे; **एव**–ही; **ह्रियते**–आकर्षित होता है; **हि**–निश्चय ही; **अवशः**–स्वतः; **अपि**–भी; **सः**–वह; **जिज्ञासुः**–उत्सुक; **अपि**–भी; **योगस्य**–योग के विषय में; **शब्द-ब्रह्म**–शास्त्रों के अनुष्ठान; **अतिवर्तते**–परे चला जाता है, उल्लंघन करता है।

अपने पूर्वजन्म की दैवी चेतना से वह न चाहते हुए भी स्वतः योग के नियमों की ओर आकर्षित होता है। ऐसा जिज्ञासु योगी शास्त्रों के अनुष्ठानों से परे स्थित होता है।

तात्पर्य : उन्नत योगीजन शास्त्रों के अनुष्ठानों के प्रति अधिक आकृष्ट नहीं होते, किन्तु योग-नियमों के प्रति स्वतः आकृष्ट होते हैं, जिनके द्वारा वे कृष्णभावनामृत में आरूढ हो सकते हैं। *श्रीमद्भागवत* में (३.३३.७) उन्नत योगियों द्वारा वैदिक अनुष्ठानों के प्रति अवहेलना की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

"हे भगवन्! जो लोग आपके पवित्र नाम का जप करते हैं, वे चाण्डालों के परिवारों में जन्म लेकर भी आध्यात्मिक जीवन में अत्यधिक प्रगत होते हैं। ऐसे जपकर्ता निस्सन्देह सभी प्रकार के तप और यज्ञ कर चुके होते हैं, तीर्थस्थानों में स्नान कर चुके होते हैं और समस्त शास्त्रों का अध्ययन कर चुके होते हैं।"

इसका सुप्रसिद्ध उदाहरण भगवान् चैतन्य ने प्रस्तुत किया, जिन्होंने ठाकुर हरिदास को अपने परमप्रिय शिष्य के रूप में स्वीकार किया। यद्यपि हरिदास का जन्म एक मुसलमान परिवार में हुआ था, किन्तु भगवान् चैतन्य ने उन्हें नामाचार्य की पदवी प्रदान की क्योंकि वे प्रतिदिन नियमपूर्वक तीन लाख भगवान् के पवित्र नामों—*हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*— का जप करते थे। और चूँकि वे निरन्तर भगवान् के पवित्र नाम का जप करते रहते थे, अतः यह समझा जाता है कि पूर्वजन्म में उन्होंने शब्दब्रह्म नामक वेदवर्णित कर्मकाण्डों को पूरा किया होगा। अतएव जब तक कोई पवित्र नहीं होता तब तक कृष्णभावनामृत के नियमों को ग्रहण नहीं करता या भगवान् के पवित्र नाम *हरे कृष्ण* का जप नहीं कर सकता।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ ४५॥

प्रयत्नात्—कठिन अभ्यास से; **यतमानः**—प्रयास करते हुए; **तु**—तथा; **योगी**—ऐसा योगी; **संशुद्ध**—शुद्ध होकर; **किल्बिषः**—जिसके सारे पाप; **अनेक**—अनेकानेक; **जन्म**—जन्मों के बाद; **संसिद्धः**—सिद्धि प्राप्त करके; **ततः**—तत्पश्चात्; **याति**—प्राप्त करता है; **पराम्**—सर्वोच्च; **गतिम्**—गन्तव्य को।

और जब योगी समस्त कल्मष से शुद्ध होकर सच्ची निष्ठा से आगे प्रगति करने का प्रयास करता है, तो अन्ततोगत्वा अनेकानेक जन्मों के अभ्यास के पश्चात् सिद्धि-लाभ करके वह परम गन्तव्य को प्राप्त करता है।

तात्पर्य : सदाचारी, धनवान या पवित्र कुल में उत्पन्न पुरुष योगाभ्यास के अनुकूल परिस्थिति से सचेष्ट हो जाता है। अतः वह दृढ संकल्प करके अपने अधूरे कार्य को करने में लग जाता है और इस प्रकार वह अपने को समस्त भौतिक कल्मष से शुद्ध

तात्पर्य : यहाँ पर योगियों के बुद्धिमान कुल में जन्म लेने की प्रशंसा की गई है क्योंकि ऐसे कुल में उत्पन्न बालक को प्रारम्भ से ही आध्यात्मिक प्रोत्साहन प्राप्त होता है। विशेषतया आचार्यों या गोस्वामियों के कुल में ऐसी परिस्थिति है। ऐसे कुल अत्यन्त विद्वान् होते हैं और परम्परा तथा प्रशिक्षण के कारण श्रद्धावान होते हैं। इस प्रकार वे गुरु बनते हैं। भारत में ऐसे अनेक आचार्य कुल हैं, किन्तु अब वे अपर्याप्त विद्या तथा प्रशिक्षण के कारण पतनशील हो चुके हैं। भगवत्कृपा से अभी भी कुछ ऐसे परिवार हैं जिनमें पीढ़ी-दर-पीढ़ी योगियों को प्रश्रय मिलता है। ऐसे परिवारों में जन्म लेना सचमुच ही अत्यन्त सौभाग्य की बात है। सौभाग्यवश हमारे गुरु विष्णुपाद श्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज को तथा स्वयं हमें भी ऐसे परिवारों में जन्म लेने का अवसर प्राप्त हुआ। हम दोनों को बचपन से ही भगवद्भक्ति करने का प्रशिक्षण दिया गया। बाद में दिव्य व्यवस्था के अनुसार हमारी उनसे भेंट हुई।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥ ४३॥

तत्र—वहाँ; **तम्**—उस; **बुद्धि-संयोगम्**—चेतना की जागृति को; **लभते**—प्राप्त होता है; **पौर्व-देहिकम्**—पूर्व देह से; **यतते**—प्रयास करता है; **च**—भी; **ततः**—तत्पश्चात्; **भूयः**—पुनः; **संसिद्धौ**—सिद्धि के लिए; **कुरुनन्दन**—हे कुरुपुत्र।

हे कुरुनन्दन! ऐसा जन्म पाकर वह अपने पूर्वजन्म की दैवी चेतना को पुनः प्राप्त करता है और पूर्ण सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से वह आगे उन्नति करने का प्रयास करता है।

तात्पर्य : राजा भरत, जिन्हें तीसरे जन्म में उत्तम ब्राह्मण कुल में जन्म मिला, पूर्व दिव्यचेतना की पुनःप्राप्ति के लिए उत्तम जन्म के उदाहरणस्वरूप हैं। भरत विश्व भर के सम्राट थे और तभी से यह लोक देवताओं के बीच भारतवर्ष के नाम से विख्यात है। पहले यह इलावृतवर्ष के नाम से ज्ञात था। भरत ने अल्पायु में ही आध्यात्मिक सिद्धि के लिए संन्यास ग्रहण कर लिया था, किन्तु वे सफल नहीं हो सके। अगले जन्म में उन्हें उत्तम ब्राह्मण कुल में जन्म लेना पड़ा और वे जड़ भरत कहलाये क्योंकि वे एकान्त वास करते थे तथा किसी से बोलते न थे। बाद में राजा रहूगण ने इन्हें महानतम योगी के रूप में पाया। उनके जीवन से यह पता चलता है कि दिव्य प्रयास अथवा योगाभ्यास कभी व्यर्थ नहीं जाता। भगवत्कृपा से योगी को कृष्णभावनामृत में पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने के बारम्बार सुयोग प्राप्त होते रहते हैं।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ ४४॥

पूर्व—पिछला; **अभ्यासेन**—अभ्यास से; **तेन**—उससे; **एव**—ही; **ह्रियते**—आकर्षित होता है; **हि**—निश्चय ही; **अवशः**—स्वतः; **अपि**—भी; **सः**—वह; **जिज्ञासुः**—उत्सुक; **अपि**—भी; **योगस्य**—योग के विषय में; **शब्द-ब्रह्म**—शास्त्रों के अनुष्ठान; **अतिवर्तते**—परे चला जाता है, उल्लंघन करता है।

अपने पूर्वजन्म की दैवी चेतना से वह न चाहते हुए भी स्वतः योग के नियमों की ओर आकर्षित होता है। ऐसा जिज्ञासु योगी शास्त्रों के अनुष्ठानों से परे स्थित होता है।

तात्पर्य : उन्नत योगीजन शास्त्रों के अनुष्ठानों के प्रति अधिक आकृष्ट नहीं होते, किन्तु योग-नियमों के प्रति स्वतः आकृष्ट होते हैं, जिनके द्वारा वे कृष्णभावनामृत में आरूढ हो सकते हैं। *श्रीमद्भागवत* में (३.३३.७) उन्नत योगियों द्वारा वैदिक अनुष्ठानों के प्रति अवहेलना की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

"हे भगवन्! जो लोग आपके पवित्र नाम का जप करते हैं, वे चाण्डालों के परिवारों में जन्म लेकर भी आध्यात्मिक जीवन में अत्यधिक प्रगत होते हैं। ऐसे जपकर्ता निस्सन्देह सभी प्रकार के तप और यज्ञ कर चुके होते हैं, तीर्थस्थानों में स्नान कर चुके होते हैं और समस्त शास्त्रों का अध्ययन कर चुके होते हैं।"

इसका सुप्रसिद्ध उदाहरण भगवान् चैतन्य ने प्रस्तुत किया, जिन्होंने ठाकुर हरिदास को अपने परमप्रिय शिष्य के रूप में स्वीकार किया। यद्यपि हरिदास का जन्म एक मुसलमान परिवार में हुआ था, किन्तु भगवान् चैतन्य ने उन्हें नामाचार्य की पदवी प्रदान की क्योंकि वे प्रतिदिन नियमपूर्वक तीन लाख भगवान् के पवित्र नामों—*हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*— का जप करते थे। और चूँकि वे निरन्तर भगवान् के पवित्र नाम का जप करते रहते थे, अतः यह समझा जाता है कि पूर्वजन्म में उन्होंने शब्दब्रह्म नामक वेदवर्णित कर्मकाण्डों को पूरा किया होगा। अतएव जब तक कोई पवित्र नहीं होता तब तक कृष्णभावनामृत के नियमों को ग्रहण नहीं करता या भगवान् के पवित्र नाम *हरे कृष्ण* का जप नहीं कर सकता।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ ४५॥

प्रयत्नात्—कठिन अभ्यास से, **यतमानः**—प्रयास करते हुए, **तु**—तथा, **योगी**—ऐसा योगी, **संशुद्ध**—शुद्ध होकर, **किल्बिषः**—जिसके सारे पाप, **अनेक**—अनेकानेक **जन्म**—जन्मों के बाद **संसिद्धः**—सिद्धि प्राप्त करके, **ततः**—तत्पश्चात् **याति**—प्राप्त करता है **पराम्**—सर्वोच्च **गतिम्**—गन्तव्य को।

और जब योगी समस्त कल्मष से शुद्ध होकर सच्ची निष्ठा से आगे प्रगति करने का प्रयास करता है, तो अन्ततोगत्वा अनेकानेक जन्मों के अभ्यास के पश्चात् सिद्धि-लाभ करके वह परम गन्तव्य को प्राप्त करता है।

तात्पर्य : सदाचारी, धनवान या पवित्र कुल में उत्पन्न पुरुष योगाभ्यास के परिस्थिति से सचेष्ट हो जाता है। अतः वह दृढ संकल्प करके अपने अधूरे का- करने में लग जाता है और इस प्रकार वह अपने को समस्त भौतिक कल्मष से

कर लेता है। समस्त कल्मष से मुक्त होने पर उसे परम सिद्धि–कृष्णभावनामृत–प्राप्त होती है। कृष्णभावनामृत ही समस्त कल्मष से मुक्त होने की पूर्ण अवस्था है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में (७.२८) हुई है–

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

"अनेक जन्मों तक पुण्यकर्म करने से जब कोई समस्त कल्मष तथा मोहमय द्वन्द्वों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है, तभी वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग पाता है।"

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥ ४६॥

तपस्विभ्यः–तपस्वियों से; **अधिकः**–श्रेष्ठ, बढ़कर; **योगी**–योगी; **ज्ञानिभ्यः**–ज्ञानियों से; **अपि**–भी; **मतः**–माना जाता है; **अधिक**–बढ़कर; **कर्मिभ्यः**–सकाम कर्मियों की अपेक्षा; **च**–भी; **अधिकः**–श्रेष्ठ; **योगी**–योगी; **तस्मात्**–अतः; **योगी**–योगी; **भव**–बनो, होओ; **अर्जुन**–हे अर्जुन।

योगी पुरुष तपस्वी से, ज्ञानी से तथा सकामकर्मी से बढ़कर होता है। अतः हे अर्जुन! तुम सभी प्रकार से योगी बनो।

तात्पर्य : जब हम योग का नाम लेते हैं तो हम अपनी चेतना को परमसत्य के साथ जोड़ने की बात करते हैं। विविध अभ्यासकर्ता इस पद्धति को ग्रहण की गई विशेष विधि के अनुसार विभिन्न नामों से पुकारते हैं। जब यह योगपद्धति सकामकर्मों से मुख्यतः सम्बन्धित होती है तो कर्मयोग कहलाती है, जब यह चिन्तन से सम्बन्धित होती है तो ज्ञानयोग कहलाती है और जब यह भगवान् की भक्ति से सम्बन्धित होती है तो भक्तियोग कहलाती है। भक्तियोग या कृष्णभावनामृत समस्त योगों की परमसिद्धि है, जैसा कि अगले श्लोक में बताया जायेगा। भगवान् ने यहाँ पर योग की श्रेष्ठता की पुष्टि की है, किन्तु उन्होंने इसका उल्लेख नहीं किया कि यह भक्तियोग से श्रेष्ठ है। भक्तियोग पूर्ण आत्मज्ञान है, अतः इससे बढ़कर कुछ भी नहीं है। आत्मज्ञान के बिना तपस्या अपूर्ण है। परमेश्वर के प्रति समर्पित हुए बिना ज्ञानयोग भी अपूर्ण है। सकामकर्म भी कृष्णभावनामृत के बिना समय का अपव्यय है। अतः यहाँ पर योग का सर्वाधिक प्रशंसित रूप भक्तियोग है और इसकी अधिक व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ४७॥

योगिनाम्–योगियों में से; **अपि**–भी; **सर्वेषाम्**–समस्त प्रकार के; **मत्-गतेन**–मेरे परायण, सदैव मेरे विषय में सोचते हुए; **अन्तः-आत्मना**–अपने भीतर; **श्रद्धावान्**–पूर्ण श्रद्धा सहित; **भजते**–दिव्य प्रेमाभक्ति करता है; **यः**–जो; **माम्**–मेरी (परमेश्वर की); **सः**–वह; **मे**–मेरे द्वारा; **युक्त-तमः**–परम योगी; **मतः**–माना जाता है।

और समस्त योगियों में से जो योगी अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मेरे परायण है, अपने अन्तःकरण में मेरे विषय में सोचता है और मेरी दिव्य प्रेमाभक्ति करता है वह योग

में मुझसे परम अन्तरंग रूप में युक्त रहता है और सबों में सर्वोच्च है। यही मेरा मत है।

तात्पर्य : यहाँ पर *भजते* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *भजते भज्* धातु से बना है जिसका अर्थ है-सेवा करना। अंग्रेजी शब्द वर्शिप (पूजन) से यह भाव व्यक्त नहीं होता, क्योंकि इससे पूजा करना, सम्मान दिखाना तथा योग्य का सम्मान करना सूचित होता है। किन्तु प्रेम तथा श्रद्धापूर्वक सेवा तो श्रीभगवान् के निमित्त है। किसी सम्माननीय व्यक्ति या देवता की पूजा न करने वाले को अशिष्ट कहा जा सकता है, किन्तु भगवान् की सेवा न करने वाले की तो पूरी तरह भर्त्सना की जाती है। प्रत्येक जीव भगवान् का अंशस्वरूप है और इस तरह प्रत्येक जीव को अपने स्वभाव के अनुसार भगवान् की सेवा करनी चाहिए। ऐसा न करने से वह नीचे गिर जाता है। *भागवत पुराण* में (११.५.३) इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥

"जो मनुष्य अपने जीवनदाता आद्य भगवान् की सेवा नहीं करता और अपने कर्तव्य में शिथिलता बरतता है, वह निश्चित रूप से अपनी स्वाभाविक स्थिति से नीचे गिरता है।"

भागवत पुराण के इस श्लोक में *भजन्ति* शब्द व्यवहृत हुआ है। *भजन्ति* शब्द का प्रयोग परमेश्वर के लिए ही प्रयुक्त किया जा सकता है, जबकि वर्शिप (पूजन) का प्रयोग देवताओं या अन्य किसी सामान्य जीव के लिए किया जाता है। इस श्लोक में प्रयुक्त *अवजानन्ति* शब्द *भगवद्गीता* में भी पाया जाता है—*अवजानन्ति मां मूढा*—केवल मूर्ख तथा धूर्त भगवान् कृष्ण का उपहास करते हैं। ऐसे मूर्ख भगवद्भक्ति की प्रवृत्ति न होने पर भी *भगवद्गीता* का भाष्य कर बैठते हैं। फलतः वे *भजन्ति* तथा वर्शिप (पूजन) शब्दों के अन्तर को नहीं समझ पाते।

भक्तियोग समस्त योगों की परिणति है। अन्य योग तो भक्तियोग में भक्ति तक पहुँचने के साधन मात्र हैं। योग का वास्तविक अर्थ भक्तियोग है—अन्य सारे योग *भक्तियोग रूपी गन्तव्य की दिशा में अग्रसर होते हैं।* कर्मयोग से लेकर भक्तियोग तक का लम्बा रास्ता आत्म-साक्षात्कार तक जाता है। निष्काम कर्मयोग इस रास्ते (मार्ग) का आरम्भ है। जब कर्मयोग में ज्ञान तथा वैराग्य की वृद्धि होती है तो यह अवस्था ज्ञानयोग कहलाती है। जब ज्ञानयोग में अनेक भौतिक विधियों से परमात्मा के ध्यान में वृद्धि होने लगती है और मन उन पर लगा रहता है तो इसे अष्टांगयोग कहते हैं। इस अष्टांगयोग *को पार करने पर जब मनुष्य श्रीभगवान् कृष्ण के निकट पहुँचता है तो यह भक्तियोग* कहलाता है। यथार्थ में भक्तियोग ही चरम लक्ष्य है, किन्तु भक्तियोग का सूक्ष्म विश्लेषण करने के लिए अन्य योगों को समझना होता है। अतः जो योगी प्रगतिशील होता है वह शाश्वत कल्याण के सही मार्ग पर रहता है। जो किसी एक बिन्दु पर दृढ़ रहता है और आगे प्रगति नहीं करता वह कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, राजयोगी, हठयोगी आदि नामों से पुकारा जाता है। *यदि कोई इतना भाग्यशाली होता है कि भक्तियोग को*

हो सके तो यह समझना चाहिए कि उसने समस्त योगों को पार कर लिया है। अतः कृष्णभावनाभावित होना योग की सर्वोच्च अवस्था है, ठीक उसी तरह जैसे कि हम यह कहते हैं कि विश्व भर के पर्वतों में हिमालय सबसे ऊँचा है, जिसकी सर्वोच्च चोटी एवरेस्ट है।

कोई विरला भाग्यशाली ही वैदिक विधान के अनुसार भक्तियोग के पथ को स्वीकार करके कृष्णभावनाभावित हो पाता है। आदर्श योगी श्यामसुन्दर कृष्ण पर अपना ध्यान एकाग्र करता है, जो बादल के समान सुन्दर रंग वाले हैं, जिनका कमल सदृश मुख सूर्य के समान तेजवान है, जिनका वस्त्र रत्नों से प्रभापूर्ण है और जिनका शरीर फूलों की माला से सुशोभित है। उनके अंगों को प्रदीप्त करने वाली उनकी ज्योति ब्रह्मज्योति कहलाती है। वे राम, नृसिंह, वराह तथा श्रीभगवान् कृष्ण जैसे विभिन्न रूपों में अवतरित होते हैं। वे सामान्य व्यक्ति की भाँति, माता यशोदा के पुत्र रूप में जन्म ग्रहण करते हैं और कृष्ण, गोविन्द तथा वासुदेव के नाम से जाने जाते हैं। वे पूर्ण बालक, पूर्ण पति, पूर्ण सखा तथा पूर्ण स्वामी हैं, और वे समस्त ऐश्वर्यों तथा दिव्य गुणों से ओतप्रोत हैं। जो श्रीभगवान् के इन गुणों से पूर्णतया अभिज्ञ रहता है वह सर्वोच्च योगी कहलाता है।

योग की यह सर्वोच्च दशा केवल भक्तियोग से ही प्राप्त की जा सकती है जिसकी पुष्टि वैदिक साहित्य से होती है (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.२३)—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

"जिन महात्माओं के हृदय में श्रीभगवान् तथा गुरु में परम श्रद्धा होती है उनमें वैदिक ज्ञान का सम्पूर्ण तात्पर्य स्वतः प्रकाशित हो जाता है।"

भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येनामुष्मिन् मनःकल्पनमेतदेव नैष्कर्म्यम् —भक्ति का अर्थ है, भगवान् की सेवा जो इस जीवन में या अगले जीवन में भौतिक लाभ की इच्छा से रहित होती है। ऐसी प्रवृत्तियों से मुक्त होकर मनुष्य को अपना मन परमेश्वर में लीन करना चाहिये। नैष्कर्म्य का यही प्रयोजन है (*गोपाल-तापनी उपनिषद्* १.५)।

ये सभी कुछ ऐसे साधन हैं जिनसे योग की परम संसिद्धिमयी अवस्था भक्ति या कृष्णभावनामृत को सम्पन्न किया जा सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के छठे अध्याय "ध्यानयोग" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*

अध्याय सात



भगवद्ज्ञान

श्रीभगवानुवाच
मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥१॥

श्रीभगवान् उवाच—भगवान कृष्ण ने कहा; मयि—मुझमें; आसक्त-मनाः—आसक्त मन वाला; पार्थ—हे पृथापुत्र; योगम्—आत्म-साक्षात्कार; युञ्जन्—अभ्यास करते हुए; मत्-आश्रयः—मेरी चेतना (कृष्णचेतना) में; असंशयम्—निस्सन्देह; समग्रम्—पूर्णतया; माम्—मुझको; यथा—जिस तरह; ज्ञास्यसि—जान सकते हो; तत्—वह; शृणु—सुनो।

श्रीभगवान् ने कहा— हे पृथापुत्र! अब सुनो कि तुम किस तरह मेरी भावना से पूर्ण होकर और मन को मुझमें आसक्त करके योगाभ्यास करते हुए मुझे पूर्णतया संशयरहित जान सकते हो।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के इस सातवें अध्याय में कृष्णभावनामृत की प्रकृति का विशद वर्णन हुआ है। कृष्ण समस्त ऐश्वर्यों में पूर्ण हैं और वे इन्हें किस प्रकार प्रकट करते हैं

हो सके तो यह समझना चाहिए कि उसने समस्त योगों को पार कर लिया है। अतः कृष्णभावनाभावित होना योग की सर्वोच्च अवस्था है, ठीक उसी तरह जैसे कि हम यह कहते हैं कि विश्व भर के पर्वतों में हिमालय सबसे ऊँचा है, जिसकी सर्वोच्च चोटी एवरेस्ट है।

कोई विरला भाग्यशाली ही वैदिक विधान के अनुसार भक्तियोग के पथ को स्वीकार करके कृष्णभावनाभावित हो पाता है। आदर्श योगी श्यामसुन्दर कृष्ण पर अपना ध्यान एकाग्र करता है, जो बादल के समान सुन्दर रंग वाले हैं, जिनका कमल सदृश मुख सूर्य के समान तेजवान है, जिनका वस्त्र रत्नों से प्रभापूर्ण है और जिनका शरीर फूलों की माला से सुशोभित है। उनके अंगों को प्रदीप्त करने वाली उनकी ज्योति ब्रह्मज्योति कहलाती है। वे राम, नृसिंह, वराह तथा श्रीभगवान् कृष्ण जैसे विभिन्न रूपों में अवतरित होते हैं। वे सामान्य व्यक्ति की भाँति, माता यशोदा के पुत्र रूप में जन्म ग्रहण करते हैं और कृष्ण, गोविन्द तथा वासुदेव के नाम से जाने जाते हैं। वे पूर्ण बालक, पूर्ण पति, पूर्ण सखा तथा पूर्ण स्वामी हैं, और वे समस्त ऐश्वर्यों तथा दिव्य गुणों से ओतप्रोत हैं। जो श्रीभगवान् के इन गुणों से पूर्णतया अभिज्ञ रहता है वह सर्वोच्च योगी कहलाता है।

योग की यह सर्वोच्च दशा केवल भक्तियोग से ही प्राप्त की जा सकती है जिसकी पुष्टि वैदिक साहित्य से होती है (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.२३)—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

"जिन महात्माओं के हृदय में श्रीभगवान् तथा गुरु में परम श्रद्धा होती है उनमें वैदिक ज्ञान का सम्पूर्ण तात्पर्य स्वतः प्रकाशित हो जाता है।"

भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येनामुष्मिन् मनःकल्पनमेतदेव नैष्कर्म्यम् —भक्ति का अर्थ है, भगवान् की सेवा जो इस जीवन में या अगले जीवन में भौतिक लाभ की इच्छा से रहित होती है। ऐसी प्रवृत्तियों से मुक्त होकर मनुष्य को अपना मन परमेश्वर में लीन करना चाहिये। नैष्कर्म्य का यही प्रयोजन है (*गोपाल-तापनी उपनिषद्* १.५)।

ये सभी कुछ ऐसे साधन हैं जिनसे योग की परम संसिद्धिमयी अवस्था भक्ति या कृष्णभावनामृत को सम्पन्न किया जा सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के छठे अध्याय "ध्यानयोग" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*

अध्याय सात



भगवद्ज्ञान

[illegible]

मय्यासक्तमनाः [illegible]
असंशयं समग्रं मां [illegible]

श्रीभगवान् उवाच—भगवान् [illegible] पृथापुत्र, योगम्—आत्म-[illegible] (कृष्णचेतना) में, असंशयम्—[illegible] ज्ञास्यसि—जान सकते हो, तत्—[illegible]

श्रीभगवान् ने कहा— हे पृथापुत्र! अब सुनो कि तुम [illegible] होकर और मन को मुझमें आसक्त करके योगाभ्यास करते [illegible] संशयरहित जान सकते हो।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के इस सातवें अध्याय में [illegible] वर्णन हुआ है। कृष्ण समस्त ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं और वे इन्हें किस [illegible]

इसका वर्णन इसमें हुआ है। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में इसका भी वर्णन है कि चार प्रकार के भाग्यशाली व्यक्ति कृष्ण के प्रति आसक्त होते हैं और चार प्रकार के भाग्यहीन व्यक्ति कृष्ण की शरण में कभी नहीं आते।

प्रथम छः अध्यायों में जीवात्मा को अभौतिक आत्मा के रूप में वर्णित किया गया है जो विभिन्न प्रकार के योगों द्वारा आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त हो सकता है। छठे अध्याय के अन्त में यह स्पष्ट कहा गया है कि मन को कृष्ण पर एकाग्र करना या दूसरे शब्दों में कृष्णभावनामृत ही सर्वोच्च योग है। मन को कृष्ण पर एकाग्र करने से ही मनुष्य परमसत्य को पूर्णतया जान सकता है, अन्यथा नहीं। निर्विशेष ब्रह्मज्योति या अन्तर्यामी परमात्मा की अनुभूति परमसत्य का पूर्णज्ञान नहीं है, क्योंकि यह आंशिक होती है। कृष्ण ही पूर्ण तथा वैज्ञानिक ज्ञान हैं और कृष्णभावनामृत में ही मनुष्य को सारी अनुभूति होती है। पूर्ण कृष्णभावनामृत में मनुष्य जान पाता है कि कृष्ण ही निस्सन्देह परम ज्ञान हैं। विभिन्न प्रकार के योग तो कृष्णभावनामृत के मार्ग के सोपान सदृश हैं। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत ग्रहण करता है, वह स्वतः ब्रह्मज्योति तथा परमात्मा के विषय में पूरी तरह जान लेता है। कृष्णभावनामृत योग का अभ्यास करके मनुष्य सभी वस्तुओं को—यथा परमसत्य, जीवात्माएँ, प्रकृति तथा साज-सामग्री समेत उनके प्राकट्य को पूरी तरह जान सकता है।

अतः मनुष्य को चाहिए कि छठे अध्याय के अन्तिम श्लोक के अनुसार योग का अभ्यास करे। परमेश्वर कृष्ण पर ध्यान की एकाग्रता को नवधा भक्ति के द्वारा सम्भव बनाया जाता है जिसमें *श्रवणम्* अग्रणी एवं सबसे महत्त्वपूर्ण है। अतः भगवान् अर्जुन से कहते हैं—*तच्छृणु*—अर्थात् "मुझसे सुनो"। कृष्ण से बढ़कर कोई प्रमाण नहीं, अतः उनसे सुनने का जिसे सौभाग्य प्राप्त होता है वह पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हो जाता है। अतः मनुष्य को या तो साक्षात् कृष्ण से या कृष्ण के शुद्धभक्त से सीखना चाहिए, न कि अपनी शिक्षा का अभिमान करने वाले अभक्त से।

परमसत्य श्रीभगवान् कृष्ण को जानने की विधि का वर्णन *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध के द्वितीय अध्याय में इस प्रकार हुआ है—

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति॥
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते॥
भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥

"वैदिक साहित्य से श्रीकृष्ण के विषय में सुनना या *भगवद्गीता* से साक्षात् उन्हीं से सुनना अपने आपमें पुण्यकर्म है। और जो प्रत्येक हृदय में वास करने वाले भगवान्

लोगों में से; कश्चित्—कोई एक; माम्—मुझको; वेत्ति—जानता है; तत्त्वतः—वास्तव में।

कई हजार मनुष्यों में से कोई एक सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है और इस तरह सिद्धि प्राप्त करने वालों में से विरला ही कोई एक मुझे वास्तव में जान पाता है।

तात्पर्य : मनुष्यों की विभिन्न कोटियाँ हैं और हजारों मनुष्यों में से शायद विरला मनुष्य ही यह जानने में रुचि रखता है कि आत्मा क्या है, शरीर क्या है, और परमसत्य क्या है। सामान्यतया मानव आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन जैसी पशुवृत्तियों में लगा रहता है और मुश्किल से कोई एक दिव्यज्ञान में रुचि रखता है। *गीता* के प्रथम छह अध्याय उन लोगों के लिए हैं जिनकी रुचि दिव्यज्ञान में, आत्मा, परमात्मा तथा ज्ञानयोग, ध्यानयोग द्वारा अनुभूति की क्रिया में तथा पदार्थ से आत्मा के पार्थक्य को जानने में है। किन्तु कृष्ण तो केवल उन्हीं व्यक्तियों द्वारा ज्ञेय हैं जो कृष्णभावनाभावित हैं। अन्य योगी निर्विशेष ब्रह्म-अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि कृष्ण को जानने की अपेक्षा यह सुगम है। कृष्ण परमपुरुष हैं, किन्तु साथ ही वे ब्रह्म तथा परमात्मा-ज्ञान से परे हैं। योगी तथा ज्ञानीजन कृष्ण को नहीं समझ पाते। यद्यपि महानतम निर्विशेषवादी (मायावादी) शंकराचार्य ने अपने *गीता-भाष्य* में स्वीकार किया है कि कृष्ण भगवान् हैं, किन्तु उनके अनुयायी इसे स्वीकार नहीं करते, क्योंकि भले ही किसी को निर्विशेष ब्रह्म की दिव्य अनुभूति क्यों न हो, कृष्ण को जान पाना अत्यन्त कठिन है।

कृष्ण भगवान् समस्त कारणों के कारण, आदि पुरुष गोविन्द हैं। *ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः। अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्।* अभक्तों के लिए उन्हें जान पाना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि अभक्तगण यह घोषित करते हैं कि भक्ति का मार्ग सुगम है, किन्तु वे इस पर चलते नहीं। यदि भक्तिमार्ग इतना सुगम है जितना अभक्तगण कहते हैं तो फिर वे कठिन मार्ग को क्यों ग्रहण करते हैं? वास्तव में भक्तिमार्ग सुगम नहीं है। भक्ति के ज्ञान से हीन अनधिकारी लोगों द्वारा ग्रहण किया जाने वाला तथाकथित भक्तिमार्ग भले ही सुगम हो, किन्तु जब विधि-विधानों के अनुसार दृढ़तापूर्वक इसका अभ्यास किया जाता है तो मीमांसक तथा दार्शनिक इस मार्ग से च्युत हो जाते हैं। श्रील रूप गोस्वामी अपनी कृति *भक्तिरसामृत सिन्धु* में (१.२.१०१) लिखते हैं—

श्रुति स्मृतिपुराणादि पञ्चरात्रविधिं विना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते॥

"वह भगवद्भक्ति, जो उपनिषदों, पुराणों तथा नारद पंचरात्र जैसे प्रामाणिक वैदिक ग्रंथों की अवहेलना करती है, समाज में व्यर्थ ही अव्यवस्था फैलाने वाली है।"

ब्रह्मवेत्ता निर्विशेषवादी या परमात्मावेत्ता योगी भगवान् श्रीकृष्ण को यशोदा-नन्दन या पार्थसारथी के रूप में कभी नहीं समझ सकते। कभी-कभी बड़े-बड़े देवता भी कृष्ण के विषय में भ्रमित हो जाते हैं—*मुह्यन्ति यत्सूरयः*। *मां तु वेद न कश्चन*—भगवान् कहते हैं कि कोई भी मुझे उस रूप में तत्त्वतः नहीं जानता, जैसा मैं हूँ। और यदि कोई जानता है—*स महात्मा सुदुर्लभः*—तो ऐसा महात्मा विरला होता है। अतः भगवान् की भक्ति किये बिना कोई भगवान् को तत्त्वतः नहीं जान पाता, भले ही वह महान विद्वान् या दार्शनिक

क्यो न हो। केवल शुद्ध भक्त ही कृष्ण के अचिन्त्य गुणों को सव कारणों के कारण रूप में उनकी सर्वशक्तिमत्ता तथा ऐश्वर्य, उनकी सम्पत्ति, यश, वल, सोन्दर्य, ज्ञान तथा वेराग्य के विषय में कुछ-कुछ जान मकता हे, क्योंकि कृष्ण अपने भक्तों पर दयालु होते हैं। ब्रह्म-साक्षात्कार की ये पराकाष्ठा हैं ओर केवल भक्तगण ही उन्हें तत्त्वतः जान सकते हैं। अतएव *भक्तिरसामृत सिन्धु* मे (१.२.२३४) कहा गया है—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद्ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥

"कुंठित इन्द्रियों के द्वारा कृष्ण को तत्त्वत नहीं समझा जा सकता। किन्तु भक्तों द्वारा की गई अपनी दिव्यसेवा से प्रसन्न होकर वे भक्तों को आत्मतत्त्व प्रकाशित करते हें।"

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥

भूमिः—पृथ्वी, **आपः**—जल, **अनलः**—अग्नि; **वायुः**—वायु; **खम्**—आकाश, **मनः**—मन, **बुद्धिः**—वुद्धि; **एव**—निश्चय ही; **च**—तथा, **अहंकारः**—अहकार; **इति**—इस प्रकार, **इयम्**—ये मव, **मे**—मेरी, **भिन्ना**—पृथक्, **प्रकृतिः**—शक्तियाँ; **अष्टधा**—आठ प्रकार की।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, वुद्धि तथा अहंकार—ये आठ प्रकार से विभक्त मेरी भिन्ना (अपरा) प्रकृतियाँ हैं।

तात्पर्य : ईश्वर-विज्ञान भगवान् की स्वाभाविक स्थिति तथा उनकी विविध शक्तियो का विश्लेपण करता हे। भगवान् के विभिन्न पुरुप अवतारो (विस्तारों) की शक्ति को प्रकृति *कहा जाता हे, जेसा कि सात्वततन्त्र मे उल्लेख मिलता हे—*

विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः।
एकं तु महत स्रष्टृ द्वितीयं त्वण्डसस्थितम्।
तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते॥

"सृष्टि के लिए भगवान् कृष्ण का स्वाश तीन विष्णुओ का रूप धारण करता हे। पहले महाविष्णु हें, जो सम्पूर्ण भोतिक शक्ति महत्तत्त्व को उत्पन्न करते हैं। द्वितीय गर्भोदकशायी विष्णु हैं, जो समस्त ब्रह्माण्डों में प्रविष्ट होकर उनमें विविधता उत्पन्न करते हैं। तृतीय क्षीरोदकशायी विष्णु हैं जो समस्त ब्रह्माण्डों मे सर्वव्यापी परमात्मा के रूप मे फेले हुए हे ओर परमात्मा कहलाते हैं। ये प्रत्येक परमाणु तक के भीतर उपस्थित हैं। जो भी इन तीनों विष्णु रूपों को जानता हे, वह भवबन्धन से मुक्त हो सकता हे।"

यह भौतिक जगत् भगवान् की शक्तियों मे से एक का क्षणिक प्राकट्य हे। इस जगत् की सारी क्रियाएँ भगवान् कृष्ण के इन तीनों विष्णु अशो द्वारा निर्देशित हैं। ये *पुरुष* अवतार कहलाते हैं। सामान्य रूप से जो व्यक्ति ईश्वर तत्त्व (कृष्ण) को नही जानता, वह यह मान लेता हे कि यह मंसार जीवों के भोग के लिए हे ओर सारे जीव पुरुष हैं—भौतिक शक्ति के कारण, नियन्ता तथा भोक्ता हैं। *भगवद्गीता* के अनुसार यह नास्तिक निष्कर्ष झूठा हे। प्रस्तुत श्लोक में कृष्ण को इस जगत् का आ[illegible]

गया है। *श्रीमद्भागवत* से भी इसकी पुष्टि होती है। भगवान् की पृथक्-पृथक् शक्तियाँ इस भौतिक जगत् के घटक हैं। यहाँ तक कि निर्विशेषवादियों का चरमलक्ष्य ब्रह्मज्योति भी एक आध्यात्मिक शक्ति है, जो परव्योम में प्रकट होती है। ब्रह्मज्योति में वैसी भिन्नताएँ नहीं, जैसी कि वैकुण्ठलोकों में हैं, फिर भी निर्विशेषवादी इस ब्रह्मज्योति को चरम शाश्वत लक्ष्य स्वीकार करते हैं। परमात्मा की अभिव्यक्ति भी क्षीरोदकशायी विष्णु का एक क्षणिक सर्वव्यापी पक्ष है। आध्यात्मिक जगत् में परमात्मा की अभिव्यक्ति शाश्वत नहीं होती। अतः यथार्थ परमसत्य तो श्रीभगवान् कृष्ण हैं। वे पूर्ण शक्तिमान पुरुष हैं और उनकी नाना प्रकार की भिन्ना तथा अन्तरंगा शक्तियाँ होती हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भौतिक शक्ति आठ प्रधान रूपों में व्यक्त होती है। इनमें से प्रथम पाँच—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश स्थूल अथवा विराट सृष्टियाँ कहलाती हैं, जिनमें पाँच इन्द्रियविषय, जिनके नाम हैं-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गंध—सम्मिलित रहते हैं। भौतिक विज्ञान में ये ही दस तत्त्व हैं। किन्तु अन्य तीन तत्त्वों को, जिनके नाम मन, बुद्धि तथा अहंकार हैं, भौतिकतावादी उपेक्षित रखते हैं। दार्शनिक भी, जो मानसिक कार्यकलापों से संबंध रखते हैं, पूर्णज्ञानी नहीं हैं, क्योंकि वे परम उद्गम कृष्ण को नहीं जानते। मिथ्या अहंकार—'मैं हूँ' तथा 'यह मेरा है'—जो कि संसार का मूल कारण है इसमें विषयभोग की दस इन्द्रियों का समावेश है। बुद्धि महत्तत्त्व नामक समग्र भौतिक सृष्टि की सूचक है। अतः भगवान् की आठ विभिन्न शक्तियों से जगत् के चौबीस तत्त्व प्रकट हैं, जो नास्तिक सांख्यदर्शन के विषय हैं। ये मूलतः कृष्ण की शक्तियों की उपशाखाएँ हैं और उनसे भिन्न हैं, किन्तु नास्तिक सांख्य दार्शनिक अल्पज्ञान के कारण यह नहीं जान पाते कि कृष्ण समस्त कारणों के कारण हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, सांख्यदर्शन की विवेचना का विषय कृष्ण की बहिरंगा शक्ति का प्राकट्य है।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५॥

अपरा—निकृष्ट, जड़; इयम्—यह; इतः—इसके अतिरिक्त; तु—लेकिन; अन्याम्—अन्य; प्रकृतिम्—प्रकृति को; विद्धि—जानने का प्रयत्न करो; मे—मेरी; पराम्—उत्कृष्ट, चेतन; जीव-भूताम्—जीवों वाली; महा-बाहो—हे बलिष्ठ भुजाओं वाले; यया—जिसके द्वारा; इदम्—यह; धार्यते—प्रयुक्त किया जाता है, दोहन होता है; जगत्—संसार।

हे महाबाहु अर्जुन! इनके अतिरिक्त मेरी एक अन्य परा शक्ति है जो उन जीवों से युक्त है, जो इस भौतिक अपरा प्रकृति के साधनों का विदोहन कर रहे हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि जीव परमेश्वर की परा प्रकृति (शक्ति) है। अपरा शक्ति तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार जैसे विभिन्न तत्त्वों के रूप में प्रकट होती है। भौतिक प्रकृति के ये दोनों रूप—स्थूल (पृथ्वी आदि) तथा सूक्ष्म (मन आदि)—अपरा शक्ति के ही प्रतिफल हैं। जीव जो अपने विभिन्न कार्यों के लिए अपरा शक्तियों का विदोहन करता रहता है, स्वयं परमेश्वर की परा शक्ति

है और यह वही शक्ति है जिसके कारण सारा संसार कार्यशील है। इस दृश्यजगत् में कार्य करने की तब तक शक्ति नहीं आती, जब तक कि परा शक्ति अर्थात् जीव द्वारा यह गतिशील नहीं बनाया जाता। शक्ति का नियन्त्रण सदैव शक्तिमान करता है, अतः जीव सदैव भगवान् द्वारा नियन्त्रित होते हैं। जीवों का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वे कभी भी सम शक्तिमान नहीं, जैसा कि बुद्धिहीन मनुष्य सोचते हैं। *श्रीमद्भागवत* में (१०.८७.३०) जीव तथा भगवान् के अन्तर को इस प्रकार बताया गया है—

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता-
स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया॥

"हे परम शाश्वत! यदि सारे देहधारी जीव आप ही की तरह शाश्वत एवं सर्वव्यापी होते तो वे आपके नियन्त्रण में न होते। किन्तु यदि जीवों को आपकी सूक्ष्म शक्ति के रूप में मान लिया जाय तब तो वे सभी आपके परम नियन्त्रण में आ जाते हैं। अतः वास्तविक मुक्ति तो आपकी शरण में जाना है और इस शरणागति से वे सुखी होंगे। उस स्वरूप में ही वे नियन्ता बन सकते हैं। अतः अल्पज्ञ पुरुष, जो अद्वैतवाद के पक्षधर हैं और इस सिद्धान्त का प्रचार करते हैं कि भगवान् और जीव सभी प्रकार से एक दूसरे के समान हैं, वास्तव में वे प्रदूषित मत द्वारा निर्देशित होते हैं।"

परमेश्वर कृष्ण ही एकमात्र नियन्ता हैं और सारे जीव उन्हीं के द्वारा नियन्त्रित हैं। सारे जीव उनकी पराशक्ति हैं, क्योंकि उनके गुण परमेश्वर के समान हैं, किन्तु वे शक्ति की मात्रा के विषय में कभी भी समान नहीं हैं। स्थूल तथा सूक्ष्म अपराशक्ति का उपभोग करते हुए पराशक्ति (जीव) को अपने वास्तविक मन तथा बुद्धि की विस्मृति हो जाती है। इस विस्मृति का कारण जीव पर जड़ प्रकृति का प्रभाव है। किन्तु जब जीव माया के बन्धन से मुक्त हो जाता है, तो उसे मुक्ति-पद प्राप्त होता है। माया के प्रभाव में आकर अहंकार सोचता है, "मैं ही पदार्थ हूँ और सारी भौतिक उपलब्धि मेरी है।" जब यह सारे भौतिक विचारों से, जिनमें भगवान् के साथ तादात्म्य भी सम्मिलित है, मुक्त हो जाता है, तो उसे वास्तविक स्थिति प्राप्त होती है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि *गीता* जीव को कृष्ण की अनेक शक्तियों में से एक मानती है और जब यह शक्ति भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाती है, तो यह पूर्णतया कृष्णभावनाभावित या बन्धन मुक्त हो जाती है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥

एतत्—ये दोनों शक्तियाँ; योनीनि—जिनके जन्म के स्रोत, योनियाँ; भूतानि—प्रत्येक सृष्ट पदार्थ; सर्वाणि—सारे; इति—इस प्रकार; उपधारय—जानो; अहम्—मैं; कृत्स्नस्य—सम्पूर्ण; जगतः—जगत का; प्रभवः—उत्पत्ति का कारण; प्रलयः—प्रलय, संहार; तथा—और।

सारे प्राणियों का उद्गम इन दोनों शक्तियों में है। इस जगत् में जो कुछ भी

गया है। *श्रीमद्भागवत* से भी इसकी पुष्टि होती है। भगवान् की पृथक्-पृथक् शक्तियाँ इस भौतिक जगत् के घटक हैं। यहाँ तक कि निर्विशेषवादियों का चरमलक्ष्य ब्रह्मज्योति भी एक आध्यात्मिक शक्ति है, जो परव्योम में प्रकट होती है। ब्रह्मज्योति में वैसी भिन्नताएँ नहीं, जैसी कि वैकुण्ठलोकों में हैं, फिर भी निर्विशेषवादी इस ब्रह्मज्योति को चरम शाश्वत लक्ष्य स्वीकार करते हैं। परमात्मा की अभिव्यक्ति भी क्षीरोदकशायी विष्णु का एक क्षणिक सर्वव्यापी पक्ष है। आध्यात्मिक जगत् में परमात्मा की अभिव्यक्ति शाश्वत नहीं होती। अतः यथार्थ परमसत्य तो श्रीभगवान् कृष्ण हैं। वे पूर्ण शक्तिमान पुरुष हैं और उनकी नाना प्रकार की भिन्ना तथा अन्तरंगा शक्तियाँ होती हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भौतिक शक्ति आठ प्रधान रूपों में व्यक्त होती है। इनमें से प्रथम पाँच—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश स्थूल अथवा विराट सृष्टियाँ कहलाती हैं, जिनमें पाँच इन्द्रियविषय, जिनके नाम हैं-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गंध—सम्मिलित रहते हैं। भौतिक विज्ञान में ये ही दस तत्त्व हैं। किन्तु अन्य तीन तत्त्वों को, जिनके नाम मन, बुद्धि तथा अहंकार हैं, भौतिकतावादी उपेक्षित रखते हैं। दार्शनिक भी, जो मानसिक कार्यकलापों से संबंध रखते हैं, पूर्णज्ञानी नहीं हैं, क्योंकि वे परम उद्गम कृष्ण को नहीं जानते। मिथ्या अहंकार—'मैं हूँ' तथा 'यह मेरा है'—जो कि संसार का मूल कारण है इसमें विषयभोग की दस इन्द्रियों का समावेश है। बुद्धि महत्तत्व नामक समग्र भौतिक सृष्टि की सूचक है। अतः भगवान् की आठ विभिन्न शक्तियों से जगत् के चौवीस तत्त्व प्रकट हैं, जो नास्तिक सांख्यदर्शन के विषय हैं। ये मूलतः कृष्ण की शक्तियों की उपशाखाएँ हैं और उनसे भिन्न हैं, किन्तु नास्तिक सांख्य दार्शनिक अल्पज्ञान के कारण यह नहीं जान पाते कि कृष्ण समस्त कारणों के कारण हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, सांख्यदर्शन की विवेचना का विषय कृष्ण की वहिरंगा शक्ति का प्राकट्य है।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५॥

अपरा—निकृष्ट, जड़; **इयम्**—यह; **इतः**—इसके अतिरिक्त; **तु**—लेकिन; **अन्याम्**—अन्य; **प्रकृतिम्**—प्रकृति को; **विद्धि**—जानने का प्रयत्न करो; **मे**—मेरी; **पराम्**—उत्कृष्ट, चेतन; **जीव-भूताम्**—जीवों वाली; **महा-बाहो**—हे वलिष्ठ भुजाओं वाले; **यया**—जिसके द्वारा; **इदम्**—यह; **धार्यते**—प्रयुक्त किया जाता है, दोहन होता है; **जगत्**—संसार।

हे महावाहु अर्जुन! इनके अतिरिक्त मेरी एक अन्य परा शक्ति है जो उन जीवों से युक्त है, जो इस भौतिक अपरा प्रकृति के साधनों का विदोहन कर रहे हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि जीव परमेश्वर की परा प्रकृति (शक्ति) है। अपरा शक्ति तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार जैसे विभिन्न तत्त्वों के रूप में प्रकट होती है। भौतिक प्रकृति के ये दोनों रूप—स्थूल (पृथ्वी आदि) तथा सूक्ष्म (मन आदि)—अपरा शक्ति के ही प्रतिफल हैं। जीव जो अपने विभिन्न कार्यों के लिए अपरा शक्तियों का विदोहन करता रहता है, स्वयं परमेश्वर की परा शक्ति

है और यह वही शक्ति है जिसके कारण सारा संसार कार्यशील है। इस दृश्यजगत् में कार्य करने की तब तक शक्ति नहीं आती, जब तक कि परा शक्ति अर्थात् जीव द्वारा यह गतिशील नहीं बनाया जाता। शक्ति का नियन्त्रण सदैव शक्तिमान करता है, अतः जीव सदैव भगवान् द्वारा नियन्त्रित होते हैं। जीवों का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वे कभी भी सम शक्तिमान नहीं, जैसा कि बुद्धिहीन मनुष्य सोचते हैं। *श्रीमद्भागवत* में (१०.८७.३०) जीव तथा भगवान् के अन्तर को इस प्रकार बताया गया है—

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता-
स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया॥

"हे परम शाश्वत! यदि सारे देहधारी जीव आप ही की तरह शाश्वत एव सर्वव्यापी होते तो वे आपके नियन्त्रण में न होते। किन्तु यदि जीवों को आपकी सूक्ष्म शक्ति के रूप में मान लिया जाय तब तो वे सभी आपके परम नियन्त्रण में आ जाते हैं। अतः वास्तविक मुक्ति तो आपकी शरण में जाना है और इस शरणागति से वे सुखी होंगे। उस स्वरूप में ही वे नियन्ता बन सकते हैं। अतः अल्पज्ञ पुरुष, जो अद्वैतवाद के पक्षधर हैं और इस सिद्धान्त का प्रचार करते हैं कि भगवान् और जीव सभी प्रकार से एक दूसरे के समान हैं, वास्तव में वे प्रदूषित मत द्वारा निर्देशित होते हैं।"

परमेश्वर कृष्ण ही एकमात्र नियन्ता हैं और सारे जीव उन्हीं के द्वारा नियन्त्रित हैं। सारे जीव उनकी पराशक्ति हैं, क्योंकि उनके गुण परमेश्वर के समान हैं, किन्तु वे शक्ति की मात्रा के विषय में कभी भी समान नहीं हैं। स्थूल तथा सूक्ष्म अपराशक्ति का उपभोग करते हुए पराशक्ति (जीव) को अपने वास्तविक मन तथा बुद्धि की विस्मृति हो जाती है। इस विस्मृति का कारण जीव पर जड़ प्रकृति का प्रभाव है। किन्तु जब जीव माया के बन्धन से मुक्त हो जाता है, तो उसे मुक्ति-पद प्राप्त होता है। माया के प्रभाव में आकर अहकार सोचता है, "मैं ही पदार्थ हूँ और सारी भौतिक उपलब्धि मेरी है।" जब वह सारे भौतिक विचारों से, जिनमें भगवान् के साथ तादात्म्य भी सम्मिलित है, मुक्त हो जाता है, तो उसे वास्तविक स्थिति प्राप्त होती है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि *गीता* जीव को कृष्ण की अनेक शक्तियों में से एक मानती है और जब यह शक्ति भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाती है, तो यह पूर्णतया कृष्णभावनाभावित या बन्धन मुक्त हो जाती है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥

एतत्—ये दोनों शक्तियाँ, **योनीनि**—जिनके जन्म के स्रोत, योनियाँ, **भूतानि**—प्रत्येक सृष्ट पदार्थ, **सर्वाणि**—सारे; **इति**—इस प्रकार, **उपधारय**—जानो, **अहम्**—मैं, **कृत्स्नस्य**—सम्पूर्ण, **जगतः**—जगत का, **प्रभवः**—उत्पत्ति का कारण, **प्रलयः**—प्रलय, सहार, **तथा**—और।

सारे प्राणियों का उद्गम इन दोनों शक्तियों में है। इस जगत् में जो कुछ भी भौतिक

तथा आध्यात्मिक है, उसकी उत्पत्ति तथा प्रलय मुझे ही जानो।

तात्पर्य : जितनी वस्तुएँ विद्यमान हैं, वे पदार्थ तथा आत्मा के प्रतिफल हैं। आत्मा सृष्टि का मूल क्षेत्र है और पदार्थ आत्मा द्वारा उत्पन्न किया जाता है। भौतिक विकास की किसी भी अवस्था में आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती, अपितु यह भौतिक जगत् आध्यात्मिक शक्ति के आधार पर ही प्रकट होता है। इस भौतिक शरीर का इसलिए विकास हुआ क्योंकि इसके भीतर आत्मा उपस्थित है। एक बालक धीरे-धीरे बढ़कर कुमार तथा अन्त में युवा बन जाता है, क्योंकि उसके भीतर आत्मा उपस्थित है। इसी प्रकार इस विराट ब्रह्माण्ड की समग्र सृष्टि का विकास परमात्मा विष्णु की उपस्थिति के कारण होता है। अतः आत्मा तथा पदार्थ मूलतः भगवान् की दो शक्तियाँ हैं, जिनके संयोग से विराट ब्रह्माण्ड प्रकट होता है। अतः भगवान् ही सभी वस्तुओं के आदि कारण हैं। भगवान् का अंश रूप जीवात्मा भले ही किसी गगनचुम्बी प्रासाद या किसी महान कारखाने या किसी महानगर का निर्माता हो सकता है, किन्तु वह विराट ब्रह्माण्ड का कारण नहीं हो सकता। इस विराट ब्रह्माण्ड का स्रष्टा भी विराट आत्मा या परमात्मा है। और परमेश्वर कृष्ण विराट तथा लघु दोनों ही आत्माओं के कारण हैं। अतः वे समस्त कारणों के कारण हैं। इसकी पुष्टि *कठोपनिषद्* में (२.२.१३) हुई है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।*

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥

मत्तः—मुझसे परे; **पर-तरम्**—श्रेष्ठ; **न**—नहीं; **अन्यत् किञ्चित्**—अन्य कुछ भी; **अस्ति**—है; **धनञ्जय**—हे धन के विजेता; **मयि**—मुझमें; **सर्वम्**—सब कुछ; **इदम्**—यह जो हम देखते हैं; **प्रोतम्**—गुँथा हुआ; **सूत्रे**—धागे में; **मणि-गणाः**—मोतियों के दाने; **इव**—सदृश।

हे धनञ्जय! मुझसे श्रेष्ठ कोई सत्य नहीं है। जिस प्रकार मोती धागे में गुँथे रहते हैं, उसी प्रकार सब कुछ मुझ पर ही आश्रित है।

तात्पर्य : परमसत्य साकार है या निराकार, इस पर सामान्य विवाद चलता है। जहाँ तक *भगवद्गीता* का प्रश्न है, परमसत्य तो श्रीभगवान् श्रीकृष्ण हैं और इसकी पुष्टि पद-पद पर होती है। इस श्लोक में विशेष रूप से बल है कि परमसत्य पुरुष रूप है। इस बात की कि भगवान् ही परमसत्य हैं, *ब्रह्मसंहिता* में भी पुष्टि हुई है—*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः*—परमसत्य श्रीभगवान् कृष्ण ही हैं, जो आदि पुरुष हैं। समस्त आनन्द के आगार गोविन्द हैं और वे सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। ये सब प्रमाण निर्विवाद रूप से प्रमाणित करते हैं कि परम सत्य परम पुरुष हैं जो समस्त कारणों का कारण हैं। फिर भी निरीश्वरवादी *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में (३.१०) उपलब्ध वैदिक मन्त्र के आधार पर तर्क करते हैं—*ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयं। य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति*—"भौतिक जगत् में ब्रह्माण्ड के आदि जीव ब्रह्मा को देवताओं, मनुष्यों तथा निम्न प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। किन्तु ब्रह्मा के परे एक इन्द्रियातीत ब्रह्म है जिसका कोई भौतिक स्वरूप नहीं होता और जो समस्त भौतिक कल्मष से रहित होता

है। जो व्यक्ति उसे जान लेता है वह भी दिव्य बन जाता है, किन्तु जो उसे नहीं जान पाते, वे सांसारिक दुखों को भोगते रहते हैं।"

निर्विशेषवादी *अरूपम्* शब्द पर विशेष बल देते हैं। किन्तु यह *अरूपम्* शब्द निराकार नहीं है। यह दिव्य सच्चिदानन्द स्वरूप का सूचक है, जैसा कि *ब्रह्मसंहिता* में वर्णित है और ऊपर उद्धृत है। *श्वेताश्वतर उपनिषद्* के अन्य श्लोकों (३.८-९) में भी इसकी पुष्टि होती है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विद्वानति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो नो ज्यायोऽस्ति किञ्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥

"मैं उन भगवान् को जानता हूँ जो अंधकार की समस्त भौतिक अनुभूतियों से परे हैं। उनको जानने वाला ही जन्म तथा मृत्यु के बन्धन का उल्लंघन कर सकता है। उस परमपुरुष के इस ज्ञान के अतिरिक्त मोक्ष का कोई अन्य साधन नहीं है।"

"उन परमपुरुष से बढ़कर कोई सत्य नहीं क्योंकि वे श्रेष्ठतम हैं। वे सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर हैं और महान से भी महानतर हैं। वे मूक वृक्ष के समान [illegible] हैं और दिव्य आकाश को प्रकाशित करते हैं। जिस प्रकार वृक्ष अपनी जड़ें फैलाता है [illegible] भी अपनी विस्तृत शक्तियों का प्रसार करते हैं।"

इन श्लोकों से निष्कर्ष निकलता है कि परमसत्य ही श्रीभगवान् [illegible] अपनी विविध परा-अपरा शक्तियों के द्वारा सर्वव्यापी हैं।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशि[illegible]।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरु[illegible]॥८॥

रसः—स्वाद, **अहम्**—मैं; **अप्सु**—जल में, **कौन्तेय**—हे कु[illegible]; [illegible] **अस्मि**—हूँ; **शशि-सूर्ययोः**—चन्द्रमा तथा सूर्य का, **प्रणवः**—ओंकार क[illegible] **सर्व**—[illegible] **वेदेषु**—वेदों में, **शब्दः**—शब्द, ध्वनि, **खे**—आकाश में **पौरुष**[illegible] **नृषु**—मनुष्यों में।

हे कुन्तीपुत्र! मैं जल का स्वाद हूँ, सूर्य तथा [illegible] हूँ, वैदिक मन्त्रों [illegible] ओंकार हूँ, आकाश में ध्वनि हूँ तथा मनुष्य में [illegible] हूँ।

तात्पर्य : यह श्लोक बताता है कि भगवान [illegible] शक्तियाँ द्वारा सर्वव्यापी हैं। परमेश्वर की [illegible] हो सकती है और इस प्रकार उनका [illegible] सूर्यदेवता एक पुरुष है और अपनी [illegible] जाता है, उसी प्रकार भगवान् अपने [illegible] अनुभव किये जाते हैं। जल का स्वाद [illegible] का जल नहीं पीना चाहता क्योंकि [illegible] रहता है। जल के प्रति आकर्षण का [illegible] भगवान् की शक्तियों में से एक है। [illegible]

जल के स्वाद के कारण अनुभव करता है और सगुणवादी भगवान् का गुणगान करता है, क्योंकि वे प्यास बुझाने के लिए सुस्वादु जल प्रदान करते हैं। परमेश्वर को अनुभव करने की यही विधि है। व्यवहारतः सगुणवाद तथा निर्विशेषवाद में कोई मतभेद नहीं है। जो ईश्वर को जानता है वह यह भी जानता है कि प्रत्येक वस्तु में एकसाथ सगुणबोध तथा निर्गुणबोध निहित होता है और इनमें कोई विरोध नहीं है। अतः भगवान् चैतन्य ने अपना शुद्ध सिद्धान्त प्रतिपादित किया जो अचिन्त्य भेदाभेद-तत्त्व कहलाता है।

सूर्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश भी मूलतः ब्रह्मज्योति से निकलता है, जो भगवान् का निर्विशेष प्रकाश है। प्रणव या ओंकार प्रत्येक वैदिक मन्त्र के प्रारम्भ में भगवान् को सम्बोधित करने के लिए प्रयुक्त दिव्य ध्वनि है। चूँकि निर्विशेषवादी परमेश्वर कृष्ण को उनके असंख्य नामों के द्वारा पुकारने से भयभीत रहते हैं, अतः वे ओंकार का उच्चारण करते हैं, किन्तु उन्हें इसकी तनिक भी अनुभूति नहीं होती कि ओंकार कृष्ण का शब्द स्वरूप है। कृष्णभावनामृत का क्षेत्र व्यापक है और जो इस भावनामृत को जानता है वह धन्य है। जो कृष्ण को नहीं जानते वे मोहग्रस्त रहते हैं। अतः कृष्ण का ज्ञान मुक्ति है और उनके प्रति अज्ञान बन्धन है।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ ९॥

पुण्यः–मूल, आद्य; **गन्धः**–सुगंध; **पृथिव्याम्**–पृथ्वी में; **च**–भी; **तेजः**–प्रकाश; **च**–भी; **अस्मि**–हूँ; **विभावसौ**–अग्नि में; **जीवनम्**–प्राण; **सर्व**–समस्त; **भूतेषु**–जीवों में; **तपः**–तपस्या; **च**–भी; **अस्मि**–हूँ; **तपस्विषु**–तपस्वियों में।

मैं पृथ्वी की आद्य सुगंध और अग्नि की ऊष्मा हूँ। मैं समस्त जीवों का जीवन तथा तपस्वियों का तप हूँ।

तात्पर्य : *पुण्य* का अर्थ है-जिसमें विकार न हो, अतः आद्य। इस जगत् में प्रत्येक वस्तु में कोई न कोई सुगंध होती है, यथा फूल की सुगंध या जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु आदि की सुगंध। समस्त वस्तुओं में व्याप्त अदूषित भौतिक गन्ध, जो आद्य सुगंध है, वह कृष्ण हैं। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का एक विशिष्ट स्वाद (रस) होता है और इस स्वाद को रसायनों के मिश्रण द्वारा बदला जा सकता है। अतः प्रत्येक मूल वस्तु में कोई न कोई गन्ध तथा स्वाद होता है। *विभावसु* का अर्थ अग्नि है। अग्नि के बिना न तो फैक्टरी चल सकती है, न भोजन पक सकता है। यह अग्नि कृष्ण है। अग्नि का तेज (ऊष्मा) भी कृष्ण ही है। वैदिक चिकित्सा के अनुसार कुपच का कारण पेट में अग्नि की मंदता है। अतः पाचन तक के लिए अग्नि आवश्यक है। कृष्णभावनामृत में हम इस बात से अवगत होते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा प्रत्येक सक्रिय तत्त्व, सारे रसायन तथा सारे भौतिक तत्त्व कृष्ण के कारण हैं। मनुष्य की आयु भी कृष्ण के कारण है। अतः कृष्ण की कृपा से ही मनुष्य अपने को दीर्घायु या अल्पजीवी बना सकता है। अतः कृष्णभावनामृत प्रत्येक क्षेत्र में सक्रिय रहता है।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥१०॥

बीजम्—बीज; माम्—मुझको, सर्व-भूतानाम्—समस्त जीवों का; विद्धि—जानने का प्रयास करो; पार्थ—हे पृथापुत्र; सनातनम्—आदि, शाश्वत; बुद्धिः—बुद्धि; बुद्धि-मताम्—बुद्धिमानों की; अस्मि—हूँ; तेजः—तेज; तेजस्विनाम्—तेजस्वियों का; अहम्—मैं।

हे पृथापुत्र! यह जान लो कि मैं ही समस्त जीवों का आदि बीज हूँ, बुद्धिमानों की बुद्धि तथा समस्त तेजस्वी पुरुषों का तेज हूँ।

तात्पर्य : कृष्ण समस्त पदार्थों के बीज हैं। कई प्रकार के चर तथा अचर जीव हैं। पक्षी, पशु, मनुष्य तथा अन्य सजीव प्राणी चर हैं, पेड़ पौधे अचर हैं—वे चल नहीं सकते, केवल खडे रहते हैं। प्रत्येक जीव चौरासी लाख योनियों के अन्तर्गत है, जिनमें से कुछ चर हैं और कुछ अचर। किन्तु इन सबके जीवन के बीजस्वरूप श्रीकृष्ण हैं। जैसा कि वैदिक साहित्य में कहा गया है ब्रह्म या परमसत्य वह है जिससे प्रत्येक वस्तु उद्भूत है। कृष्ण परब्रह्म या परमात्मा हैं। ब्रह्म तो निर्विशेष है, किन्तु परब्रह्म साकार है। निर्विशेष ब्रह्म साकार रूप में आधारित है—यह *भगवद्गीता* में कहा गया है। अत: आदि रूप में कृष्ण समस्त वस्तुओं के उद्गम हैं। वे मूल हैं। जिस प्रकार मूल सारे वृक्ष का पालन करता है उसी प्रकार कृष्ण मूल होने के कारण इस जगत् के समस्त प्राणियों का पालन करते हैं। इसकी पुष्टि वैदिक साहित्य में (*कठोपनिषद्* २.२.१३) हुई है—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्
एको बहूनां यो विदधाति कामान्

वे समस्त नित्यों के नित्य हैं। वे समस्त जीवों के परम जीव हैं और वे ही समस्त जीवों का पालन करने वाले हैं। मनुष्य बुद्धि के बिना कुछ नहीं कर सकता और कृष्ण भी कहते हैं कि मैं ही समस्त बुद्धि का मूल हूँ। जब तक मनुष्य बुद्धिमान नहीं होता, वह भगवान् कृष्ण को नहीं समझ सकता।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥११॥

बलम्—शक्ति; बल-वताम्—बलवानों का, च—तथा, अहम्—मैं हूँ, काम—विषयभोग, राग—[illegible] आसक्ति से, विवर्जितम्—रहित, धर्म-अविरुद्धः—जो धर्म के विरुद्ध नहीं है, भूतेषु—समस्त [illegible] कामः—विषयी जीवन; अस्मि—हूँ; भरत-ऋषभ—हे भारतवंशियों में श्रेष्ठ।

मैं बलवानों का कामनाओं तथा इच्छा से रहित बल हूँ। हे भरतश्रेष्ठ (अर्जुन)! मैं वह काम हूँ, जो धर्म के विरुद्ध नहीं है।

तात्पर्य : बलवान पुरुष की शक्ति का उपयोग दुर्बलों की रक्षा के लिए [illegible], व्यक्तिगत आक्रमण के लिए नहीं। इसी प्रकार धर्म-सम्मत मैथुन सन्[illegible] के लिए होना चाहिए, अन्य कार्यों के लिए नहीं। अत: माता-पिता का [illegible] अपनी सन्तान को कृष्णभावनाभावित बनाएँ।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥१२॥

ये–जो; **च**–तथा; **एव**–निश्चय ही; **सात्त्विकाः**–सतोगुणी; **भावाः**–भाव; **राजसाः**–रजोगुणी; **तामसाः**–तमोगुणी; **च**–भी; **ये**–जो; **मत्तः**–मुझसे; **एव**–निश्चय ही; **इति**–इस प्रकार; **तान्**–उनको; **विद्धि**–जानो; **न**–नहीं; **तु**–लेकिन; **अहम्**–मैं; **तेषु**–उनमें; **ते**–वे; **मयि**–मुझमें।

तुम जान लो कि मेरी शक्ति द्वारा सारे गुण प्रकट होते हैं, चाहे वे सतोगुण हों, रजोगुण हों या तमोगुण हों। एक प्रकार से मैं सब कुछ हूँ, किन्तु हूँ स्वतन्त्र। मैं प्रकृति के गुणों के अधीन नहीं हूँ, अपितु वे मेरे अधीन हैं।

तात्पर्य : संसार के सारे भौतिक कार्यकलाप प्रकृति के गुणों के अधीन सम्पन्न होते हैं। यद्यपि प्रकृति के गुण परमेश्वर कृष्ण से उद्भूत हैं, किन्तु भगवान् उनके अधीन नहीं होते। उदाहरणार्थ, राज्य के नियमानुसार कोई दण्डित हो सकता है, किन्तु नियम बनाने वाला राजा उस नियम के अधीन नहीं होता। इसी तरह प्रकृति के सभी गुण–सतो, रजो तथा तमोगुण–भगवान् कृष्ण से उद्भूत हैं, किन्तु कृष्ण प्रकृति के अधीन नहीं हैं। इसीलिए वे *निर्गुण* हैं, जिसका तात्पर्य है कि सभी गुण उनसे उद्भूत हैं, किन्तु ये उन्हें प्रभावित नहीं करते। यह भगवान् का विशेष लक्षण है।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥१३॥

त्रिभिः–तीन; **गुण-मयैः**–गुणों से युक्त; **भावैः**–भावों के द्वारा; **एभिः**–इन; **सर्वम्**–सम्पूर्ण; **इदम्**–यह; **जगत्**–ब्रह्माण्ड; **मोहितम्**–मोहग्रस्त; **न अभिजानाति**–नहीं जानता; **माम्**–मुझको; **एभ्यः**–इनसे; **परम्**–परम; **अव्ययम्**–अव्यय, सनातन।

तीन गुणों (सतो, रजो तथा तमो) के द्वारा मोहग्रस्त यह सारा संसार मुझ गुणातीत तथा अविनाशी को नहीं जानता।

तात्पर्य : सारा संसार प्रकृति के तीन गुणों से मोहित है। जो लोग इस प्रकार से तीन गुणों के द्वारा मोहित हैं, वे नहीं जान सकते कि परमेश्वर कृष्ण इस प्रकृति से परे हैं।

प्रत्येक जीव को प्रकृति के वशीभूत होकर एक विशेष प्रकार का शरीर मिलता है और तदनुसार उसे एक विशेष मनोवैज्ञानिक (मानसिक) तथा शारीरिक कार्य करना होता है। प्रकृति के तीन गुणों के अन्तर्गत कार्य करने वाले मनुष्यों की चार श्रेणियाँ हैं। जो नितान्त सतोगुणी हैं वे ब्राह्मण, जो रजोगुणी हैं वे *क्षत्रिय* और जो रजोगुणी एवं तमोगुणी दोनों हैं, वे वैश्य कहलाते हैं तथा जो नितान्त तमोगुणी हैं वे शूद्र कहलाते हैं। जो इनसे भी नीचे हैं वे पशु हैं। फिर ये उपाधियाँ स्थायी नहीं हैं। मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या कुछ भी हो सकता हूँ। जो भी हो यह जीवन नश्वर है। यद्यपि यह जीवन नश्वर है और हम नहीं जान पाते कि अगले जीवन में हम क्या होंगे, किन्तु माया के वश में रहकर हम अपने आपको देहात्मबुद्धि के द्वारा अमरीकी, भारतीय, रूसी या ब्राह्मण, हिन्दू, मुसलमान आदि कहकर सोचते हैं। और यदि हम प्रकृति के गुणों में बँध जाते हैं तो

हम उस भगवान् को भूल जाते हैं जो इन गुणों के मूल में है। अतः भगवान् का कहना है कि सारे जीव प्रकृति के इन गुणों द्वारा मोहित होकर यह नहीं समझ पाते कि इस संसार की पृष्ठभूमि में भगवान् हैं।

जीव कई प्रकार के हैं—यथा मनुष्य, देवता, पशु आदि; और इनमें से हर एक प्रकृति के वश में है और ये सभी दिव्यपुरुष भगवान् को भूल चुके हैं। जो रजोगुणी तथा तमोगुणी हैं, यहाँ तक कि जो सतोगुणी भी हैं वे भी परमसत्य के निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप से आगे नहीं बढ पाते। वे सब भगवान् के साक्षात् स्वरूप के समक्ष संभ्रमित हो जाते हैं, जिसमें सारा सौंदर्य, ऐश्वर्य, ज्ञान, बल, यश तथा त्याग भरा है। जब सतोगुणी तक इस स्वरूप को नहीं समझ पाते तो उनसे क्या आशा की जाये जो रजोगुणी या तमोगुणी हैं? कृष्णभावनामृत प्रकृति के इन तीनों गुणों से परे है और जो लोग निस्सन्देह कृष्णभावनामृत में स्थित हैं, वे ही वास्तव में मुक्त हैं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥१४॥

दैवी—दिव्य, **हि**—निश्चय ही; **एषा**—यह, **गुण-मयी**—तीनों गुणों से युक्त; **मम**—मेरी; **माया**—शक्ति, **दुरत्यया**—पार कर पाना कठिन, दुस्तर; **माम्**—मुझे, **एव**—निश्चय ही, **ये**—जो; **प्रपद्यन्ते**—शरण ग्रहण करते हैं, **मायाम् एताम्**—इस माया के, **तरन्ति**—पार कर जाते हैं; **ते**—वे।

प्रकृति के तीन गुणों वाली इस मेरी दैवी शक्ति को पार कर पाना कठिन है। किन्तु जो मेरे शरणागत हो जाते हैं, वे सरलता से इसे पार कर जाते हैं।

तात्पर्य : भगवान् की शक्तियाँ अनन्त हैं और ये सारी शक्तियाँ दैवी हैं। यद्यपि जीवात्माएँ उनकी शक्तियों के अंश हैं, अतः दैवी हैं, किन्तु भौतिक शक्ति के सम्पर्क में रहने से उनकी परा शक्ति आच्छादित रहती है। इस प्रकार भौतिक शक्ति से आच्छादित होने के कारण मनुष्य उसके प्रभाव का अतिक्रमण नहीं कर पाता। जैसा कि पहले कहा जा चुका है परा तथा अपरा शक्तियाँ भगवान् से उद्भूत होने के कारण नित्य हैं। जीव भगवान् की परा शक्ति से सम्बन्धित होते हैं, किन्तु अपरा शक्ति अर्थात् पदार्थ के द्वारा दूषित होने से उनका मोह भी नित्य होता है। अतः बद्धजीव नित्यबद्ध है। कोई भी उसके बद्ध होने की तिथि को नहीं बता सकता। फलस्वरूप प्रकृति के चंगुल से उसका छूट पाना अत्यन्त कठिन है, भले ही प्रकृति अपराशक्ति क्यों न हो क्योंकि भौतिक शक्ति परमेच्छा द्वारा संचालित होती है, जिसे लाँघ पाना जीव के लिए कठिन है। यहाँ पर अपरा भौतिक प्रकृति को दैवीप्रकृति कहा गया है क्योंकि इसका सम्बन्ध दैवी है तथा इसका चालन दैवी इच्छा से होता है। दैवी इच्छा से संचालित होने के कारण भौतिक प्रकृति अपरा होते हुए भी दृश्यजगत् के निर्माण तथा विनाश में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। वेदों में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—*मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्*—यद्यपि माया मिथ्या या नश्वर है, किन्तु माया की पृष्ठभूमि में परम जादूगर भगवान् हैं, जो परम नियन्ता महेश्वर हैं (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ४.१०)।

गुण का दूसरा अर्थ रस्सी (रज्जु) है। इससे यह समझना चाहिए कि बद्धजीव

रूपी रस्सी से जकड़ा हुआ है। यदि मनुष्य के हाथ-पैर बाँध दिये जायें तो वह अपने को छुड़ा नहीं सकता—उसकी सहायता के लिए कोई ऐसा व्यक्ति चाहिए जो बँधा न हो। चूँकि एक बँधा हुआ व्यक्ति दूसरे बँधे व्यक्ति की सहायता नहीं कर सकता, अतः रक्षक को मुक्त होना चाहिए। अतः केवल कृष्ण या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि गुरु ही बद्धजीव को छुड़ा सकते हैं। बिना ऐसी उत्कृष्ट सहायता के भवबन्धन से छुटकारा नहीं मिल सकता। भक्ति या कृष्णभावनामृत इस प्रकार के छुटकारे में सहायक हो सकता है। कृष्ण माया के अधीश्वर होने के नाते इस दुर्लंघ्य शक्ति को आदेश दे सकते हैं कि बद्धजीव को छोड़ दे। वे शरणागत जीव पर अहैतुकी कृपा तथा वात्सल्यवश ही जीव को मुक्त किये जाने का आदेश देते हैं, क्योंकि जीव मूलतः भगवान् का प्रिय पुत्र है। अतः निष्ठुर माया के बंधन से मुक्त होने का एकमात्र साधन है, भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करना।

मामेव पद भी अत्यन्त सार्थक है। *माम्* का अर्थ है एकमात्र कृष्ण (विष्णु) को, ब्रह्मा या शिव को नहीं। यद्यपि ब्रह्मा तथा शिव भी अत्यन्त महान हैं और प्रायः विष्णु के ही समान हैं, किन्तु ऐसे रजोगुण तथा तमोगुण के अवतारों के लिए सम्भव नहीं कि वे बद्धजीव को माया के चंगुल से छुड़ा सकें। दूसरे शब्दों में, ब्रह्मा तथा शिव दोनों ही माया के वश में रहते हैं। केवल विष्णु माया के स्वामी हैं, अतः वे ही बद्धजीव को मुक्त कर सकते हैं। वेदों में (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ३.८) इसकी पुष्टि *तमेव विदित्वा* के द्वारा हुई है जिसका अर्थ है, कृष्ण को जान लेने पर ही मुक्ति सम्भव है। शिवजी भी पुष्टि करते हैं कि केवल विष्णु-कृपा से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है—*मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः*—अर्थात् इसमें सन्देह नहीं कि विष्णु ही सबों के मुक्तिदाता हैं।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

न—नहीं; माम्—मेरी; दुष्कृतिनः—दुष्ट; मूढाः—मूर्ख; प्रपद्यन्ते—शरण ग्रहण करते हैं; नर-अधमाः—मनुष्यों में अधम; मायया—माया के द्वारा; अपहृत—चुराये गये; ज्ञानाः—ज्ञान वाले; आसुरम्—आसुरी; भावम्—प्रकृति या स्वभाव को; आश्रिताः—स्वीकार किये हुए।

जो निपट मूर्ख हैं, जो मनुष्यों में अधम हैं, जिनका ज्ञान माया द्वारा हर लिया गया है तथा जो असुरों की नास्तिक प्रकृति को धारण करने वाले हैं, ऐसे दुष्ट मेरी शरण ग्रहण नहीं करते।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में यह कहा गया है कि श्रीभगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने से मनुष्य प्रकृति के कठोर नियमों को लाँघ सकता है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि तो फिर विद्वान् दार्शनिक, वैज्ञानिक, व्यापारी, शासक तथा जनता के नेता सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों की शरण क्यों नहीं ग्रहण करते? बड़े-बड़े जननेता विभिन्न विधियों से विभिन्न योजनाएँ बनाकर अत्यन्त धैर्यपूर्वक जन्म-जन्मान्तर तक प्रकृति के नियमों से मुक्ति की खोज करते हैं। किन्तु यदि वही मुक्ति भगवान् के

चरणकमलों की शरण ग्रहण करने मात्र से सम्भव हो तो ये बुद्धिमान तथा श्रमशील मनुष्य इस सरल विधि को क्यों नहीं अपनाते?

गीता इसका उत्तर अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में देती है। समाज के वास्तविक विद्वान् नेता यथा ब्रह्मा, शिव, कपिल, कुमारगण, मनु, व्यास, देवल, असित, जनक, प्रह्लाद, बलि तथा उनके पश्चात् मध्वाचार्य, रामानुजाचार्य, श्रीचैतन्य तथा बहुत से अन्य श्रद्धावान दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, शिक्षक, विज्ञानी आदि हैं जो सर्वशक्तिमान परमपुरुष के चरणों में शरण लेते हैं। किन्तु जो लोग वास्तविक दार्शनिक, विज्ञानी, शिक्षक, प्रशासक आदि नहीं हैं, किन्तु भौतिक लाभ के लिए ऐसा बनते हैं, वे परमेश्वर की योजना या पथ को स्वीकार नहीं करते। उन्हें ईश्वर का कोई ज्ञान नहीं होता; वे अपनी सांसारिक योजनाएँ बनाते हैं और संसार की समस्याओं को हल करने के अपने व्यर्थ प्रयासों के द्वारा स्थिति को और जटिल बना लेते हैं। चूँकि भौतिक शक्ति इतनी बलवती है, इसलिए वह नास्तिकों की अवैध योजनाओं का प्रतिरोध करती है और योजना आयोगों के ज्ञान को ध्वस्त कर देती है।

नास्तिक योजना-निर्माताओं को यहाँ पर *दुष्कृतिनः* कहा गया है जिसका अर्थ है, दुष्टजन। *कृती* का अर्थ पुण्यात्मा होता है। नास्तिक योजना-निर्माता कभी-कभी अत्यन्त बुद्धिमान और प्रतिभाशाली भी होता है, क्योंकि किसी भी विराट योजना के लिए, चाहे वह अच्छी हो या बुरी, बुद्धि की आवश्यकता होती है। लेकिन नास्तिक की बुद्धि का प्रयोग परमेश्वर की योजना का विरोध करने में होता है, इसीलिए नास्तिक योजना-निर्माता दुष्कृती कहलाता है, जिससे सूचित होता है कि उसकी बुद्धि तथा प्रयास उल्टी दिशा की ओर होते हैं।

गीता में यह स्पष्ट कहा गया है कि भौतिक शक्ति परमेश्वर के पूर्ण निर्देशन में कार्य करती है। उसका कोई स्वतन्त्र प्रभुत्व नहीं है। जिस प्रकार छाया पदार्थ का अनुसरण करती है, उसी प्रकार यह शक्ति भी कार्य करती है। तो भी यह भौतिक शक्ति अत्यन्त प्रबल है और नास्तिक अपने अनीश्वरवादी स्वभाव के कारण यह नहीं जान सकता कि वह किस तरह कार्य करती है, न ही वह परमेश्वर की योजना को जान सकता है। मोह तथा रजो एवं तमो गुणों में रहकर उसकी सारी योजनाएँ उसी प्रकार ध्वस्त हो जाती हैं, जिस प्रकार भौतिक दृष्टि से विद्वान्, वैज्ञानिक, दार्शनिक, शासक तथा शिक्षक होते हुए भी हिरण्यकशिपु तथा रावण की सारी योजनाएँ ध्वस्त हो गई थीं। ये दुष्कृती या दुष्ट चार प्रकार के होते हैं जिनका वर्णन नीचे दिया जाता है—

(१) *मूढ*—वे जो कठिन श्रम करने वाले भारवाही पशुओं की भाँति निपट मूर्ख होते हैं। वे अपने श्रम का लाभ स्वयं उठाना चाहते हैं, अतः वे भगवान् को उसे अर्पित करना नहीं चाहते। भारवाही पशु का उपयुक्त उदाहरण गधा है। इस पशु से उसका स्वामी अत्यधिक कार्य लेता है। गधा यह नहीं जानता कि वह अहर्निश किसके लिए काम करता है। वह घास से पेट भर कर सतुष्ट रहता है, अपने स्वामी से मार खाने के भय से केवल कुछ घंटे सोता है और गधी से बार-बार लात खाने के भय के बावजूद भी अपनी कामतृप्ति पूरी करता है। कभी-कभी गधा कविता करता है और दर्शन बघारता है, किन्तु उसके रेंकने से लोगों की शान्ति भंग होती है। ऐसी ही दशा उन

सकाम-कर्मियों की है जो यह नहीं जानते कि वे किसके लिए कर्म करते हैं। वे यह नहीं जानते कि कर्म यज्ञ के लिए है।

ऐसे लोग जो अपने द्वारा उत्पन्न कर्मों के भार से दबे रहते हैं प्रायः यह कहते सुने जाते हैं कि उनके पास अवकाश कहाँ कि वे जीव की अमरता के विषय में सुनें। ऐसे मूढ़ों के लिए नश्वर भौतिक लाभ ही जीवन का सब कुछ होता है भले-ही वे अपने श्रम फल के एक अंश का ही उपभोग कर सकें। कभी-कभी वे लाभ के लिए रातदिन नहीं सोते, भले ही उनके आमाशय में व्रण हो जाय या अपच हो जाय, वे बिना खाये ही संतुष्ट रहते हैं, वे मायामय स्वामियों के लाभ हेतु अहर्निश काम में व्यस्त रहते हैं। अपने असली स्वामी से अनभिज्ञ रहकर ये मूर्ख कर्मी माया की सेवा में व्यर्थ ही अपना समय गँवाते हैं। दुर्भाग्य तो यह है कि वे कभी भी स्वामियों के परम स्वामी की शरण में नहीं जाते, न ही वे सही व्यक्ति से उसके विषय में सुनने में कोई समय लगाते हैं। जो सूकर विष्ठा खाता है वह चीनी तथा घी से बनी मिठाइयों की परवाह नहीं करता। उसी प्रकार मूर्ख कर्मी इस नश्वर जगत् की इन्द्रियों को सुख देने वाले समाचारों को निरन्तर सुनता रहता है, किन्तु संसार को गतिशील बनाने वाली शाश्वत जीवित शक्ति (प्राण) के विषय में सुनने में तनिक भी समय नहीं लगाता।

(२) दूसरे प्रकार का दुष्कृती *नराधम* अर्थात् अधम व्यक्ति कहलाता है। नर का अर्थ है, मनुष्य और अधम का अर्थ है, सब से नीच। चौरासी लाख जीव योनियों में से चार लाख मानव योनियाँ हैं। इनमें से अनेक निम्न मानव योनियाँ हैं, जिनमें से अधिकांश असंस्कृत हैं। सभ्य मानव योनियाँ वे हैं जिनके पास सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक नियम हैं। जो मनुष्य सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से उन्नत हैं, किन्तु जिनका कोई धर्म नहीं होता वे नराधम माने जाते हैं। धर्म ईश्वरविहीन नहीं होता क्योंकि धर्म का प्रयोजन परमसत्य को तथा उसके साथ मनुष्य के सम्बन्ध को जानना है। *गीता* में भगवान् स्पष्टतः कहते हैं कि उनसे परे कोई भी नहीं और वे ही परमसत्य हैं। मनुष्य-जीवन का सुसंस्कृत रूप सर्वशक्तिमान परमसत्य श्रीभगवान् कृष्ण के साथ मनुष्य की विस्मृतभावना को जागृत करने के लिए मिला है। जो इस सुअवसर को हाथ से जाने देता है वही नराधम है। शास्त्रों से पता चलता है कि जब बालक माँ के गर्भ में अत्यन्त असहाय रहता है, तो वह अपने उद्धार के लिए प्रार्थना करता है और वचन देता है कि गर्भ से बाहर आते ही वह केवल भगवान् की पूजा करेगा। संकट के समय ईश्वर का स्मरण प्रत्येक जीव का स्वभाव है, क्योंकि वह ईश्वर के साथ सदा से सम्बन्धित रहता है। किन्तु उद्धार के बाद बालक जन्म-पीड़ा को और उसी के साथ अपने उद्धारक को भी भूल जाता है, क्योंकि वह माया के वशीभूत हो जाता है।

यह तो बालकों के अभिभावकों का कर्तव्य है कि वे उनमें सुप्त दिव्य भावनामृत को जागृत करें। वर्णाश्रम पद्धति में मनुस्मृति के अनुसार ईशभावनामृत को जागृत करने के उद्देश्य से दस शुद्धि-संस्कारों का विधान है, जो धर्म का पथ-प्रदर्शन करते हैं। किन्तु अब विश्व के किसी भाग में किसी भी विधि का दृढ़तापूर्वक पालन नहीं होता और फलस्वरूप ९९.९% जनसंख्या नराधम है।

जब सारी जनसंख्या नराधम हो जाती है तो स्वाभाविक है कि उनकी सारी

कभी शरणागत नहीं हो सकते।

दक्षिण भारत के श्रीयामुनाचार्य अल्वन्दरु ने कहा है "हे प्रभु! आप उन लोगों द्वारा नहीं जाने जाते जो नास्तिक सिद्धान्तों में लगे हैं, भले ही आप विलक्षण गुण, रूप तथा लीला से युक्त हैं, सभी शास्त्रों ने आपका विशुद्ध सत्त्वमय विग्रह प्रमाणित किया है तथा दैवी गुणसम्पन्न दिव्यज्ञान के आचार्य भी आपको मानते हैं।"

अतएव (१) मूढ़ (२) नराधम (३) माययापहृतज्ञानी अर्थात् भ्रमित मनोधर्मी, तथा (४) नास्तिक—ये चार प्रकार के दुष्कृती कभी भी भगवान् के चरणकमलों की शरण में नहीं जाते, भले ही सारे शास्त्र तथा आचार्य ऐसा उपदेश क्यों न देते रहें।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥१६॥

चतुः विधाः—चार प्रकार के; **भजन्ते**—सेवा करते हैं; **माम्**—मेरी; **जनाः**—व्यक्ति; **सु-कृतिनः**—पुण्यात्मा; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **आर्तः**—विपदाग्रस्त, पीड़ित; **जिज्ञासुः**—ज्ञान के जिज्ञासु; **अर्थ-अर्थी**—लाभ की इच्छा रखने वाले; **ज्ञानी**—वस्तुओं को सही रूप में जानने वाले, तत्त्वज्ञ; **च**—भी; **भरत-ऋषभ**—हे भरतश्रेष्ठ।

हे भरतश्रेष्ठ! चार प्रकार के पुण्यात्मा मेरी सेवा करते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी।

तात्पर्य : दुष्कृती के सर्वथा विपरीत ऐसे लोग हैं जो शास्त्रीय विधि-विधानों का दृढ़ता से पालन करते हैं और ये *सुकृतिनः* कहलाते हैं अर्थात् ये वे लोग हैं जो शास्त्रीय विधि-विधानों, नैतिक तथा सामाजिक नियमों को मानते हैं और परमेश्वर के प्रति न्यूनाधिक भक्ति करते हैं। इन लोगों की चार श्रेणियाँ हैं—वे जो पीड़ित हैं, वे जिन्हें धन की आवश्यकता है, वे जिन्हें जिज्ञासा है और वे जिन्हें परमसत्य का ज्ञान है। ये सारे लोग विभिन्न परिस्थितियों में परमेश्वर की भक्ति करते रहते हैं। ये शुद्ध भक्त नहीं हैं, क्योंकि ये भक्ति के बदले कुछ महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति करना चाहते हैं। शुद्ध भक्ति निष्काम होती है और उसमें किसी लाभ की आकांक्षा नहीं रहती। *भक्तिरसामृत सिन्धु* में (१.१.११) शुद्ध भक्ति की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

"मनुष्य को चाहिए कि परमेश्वर कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति किसी सकामकर्म अथवा मनोधर्म द्वारा भौतिक लाभ की इच्छा से रहित होकर करे। यही शुद्धभक्ति कहलाती है।"

जब ये चार प्रकार के लोग परमेश्वर के पास भक्ति के लिए आते हैं और शुद्ध भक्त की संगति से पूर्णतया शुद्ध हो जाते हैं, तो ये भी शुद्ध भक्त हो जाते हैं। जहाँ तक दुष्टों (दुष्कृतियों) का प्रश्न है उनके लिए भक्ति दुर्गम है क्योंकि उनका जीवन स्वार्थपूर्ण, अनियमित तथा निरुद्देश्य होता है। किन्तु इनमें से भी कुछ लोग शुद्ध भक्त के सम्पर्क में आने पर शुद्ध भक्त बन जाते हैं।

जो लोग सदैव सकाम कर्मों में व्यस्त रहते हैं, वे संकट के समय भगवान् के पास ...ते हैं और तब वे शुद्धभक्तों की संगति करते हैं तथा विपत्ति में भगवान् के भक्त बन ...ते हैं। जो बिल्कुल हताश हैं वे भी कभी-कभी शुद्ध भक्तो की संगति करने आते हैं और ईश्वर के विषय में जानने की जिज्ञासा करते हे। इसी प्रकार शुष्क चिन्तक जब ...न के प्रत्येक क्षेत्र से हताश हो जाते हैं तो वे भी कभी-कभी ईश्वर को जानना चाहते हैं और वे भगवान् की भक्ति करने आते हैं। इस प्रकार ये निराकार ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा के ज्ञान को पार कर जाते हैं और भगवत्कृपा से या उनके शुद्ध भक्त की कृपा से उन्हे साकार भगवान् का बोध हो जाता हे। कुल मिलाकर जब आर्त, जिज्ञासु, ज्ञानी तथा धन की इच्छा रखने वाले समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो जाते हैं और जब वे यह भलीभाँति समझ जाते हैं कि भौतिक आसक्ति से आध्यात्मिक उन्नति का कोई सरोकार नहीं है, तो वे शुद्धभक्त बन जाते हैं। जब तक ऐसी शुद्ध अवस्था प्राप्त नहीं हो लेती, तब तक भगवान् की दिव्यसेवा में लगे भक्त सकाम कर्मों में या संसारी ज्ञान की खोज में अनुरक्त रहते हैं। अतः शुद्ध भक्ति की अवस्था तक पहुँचने के लिए मनुष्य को इन सबों को लाँघना होता हे।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥१७॥

तेषाम्–उनमें से, **ज्ञानी**–ज्ञानवान, **नित्य-युक्तः**–सदैव तत्पर; **एक**–एकमात्र; **भक्तिः**–भक्ति में; **विशिष्यते**–विशिष्ट है, **प्रियः**–अतिशय प्रिय, **हि**–निश्चय ही, **ज्ञानिनः**–ज्ञानवान का; **अत्यर्थम्**–अत्यधिक; **अहम्**–मैं हूँ; **सः**–वह; **च**–भी, **मम**–मेरा, **प्रियः**–प्रिय।

इनमें से जो परमज्ञानी है और शुद्धभक्ति में लगा रहता है वह सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि मैं उसे अत्यन्त प्रिय हूँ ओर वह मुझे प्रिय है।

तात्पर्य : भौतिक इच्छाओं के समस्त कल्मष से मुक्त आर्त, जिज्ञासु, धनहीन तथा ज्ञानी ये सब शुद्धभक्त बन सकते हे। किन्तु इनमें से जो परमसत्य का ज्ञानी है ओर भौतिक इच्छाओं से मुक्त होता है वही भगवान् का शुद्धभक्त हो पाता है। इन चार वर्गों में से जो भक्त ज्ञानी हे ओर साथ ही भक्ति मे लगा रहता हे, वह भगवान् के कथनानुसार सर्वश्रेष्ठ है। ज्ञान की खोज करते रहने से मनुष्य को अनुभूति होती है कि उसका आत्मा उसके भौतिक शरीर से भिन्न है। अधिक उन्नति करने पर उसे निर्विशेष ब्रह्म तथा परमात्मा का ज्ञान होता है। जब वह पूर्णतया शुद्ध हो जाता है तो उसे ईश्वर के नित्य दास के रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति की अनुभूति होती है। इस प्रकार शुद्ध भक्त की संगति से आर्त, जिज्ञासु, धन का इच्छुक तथा ज्ञानी स्वय शुद्ध हो जाते हैं। किन्तु प्रारम्भिक अवस्था मे जिस व्यक्ति को परमेश्वर का पूर्णज्ञान होता है और साथ ही जो उनकी भक्ति करता रहता हे, वह व्यक्ति भगवान् को अत्यन्त प्रिय होता है। जिसे भगवान् की दिव्यता का शुद्ध ज्ञान प्राप्त होता हे, वह भक्ति द्वारा इस तरह सुरक्षित रहता है कि भौतिक कल्मष उसे छू भी नहीं पाते।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥१८॥

उदाराः—विशाल हृदय वाले; **सर्वे**—सभी; **एव**—निश्चय ही; **एते**—ये; **ज्ञानी**—ज्ञानवाला; **तु**—लेकिन; **आत्मा एव**—मेरे समान ही; **मे**—मेरे; **मतम्**—मत में; **आस्थितः**—स्थित; **सः**—वह; **हि**—निश्चय ही; **युक्त-आत्मा**—भक्ति में तत्पर; **माम्**—मुझ; **एव**—निश्चय ही; **अनुत्तमाम्**—परम, सर्वोच्च; **गतिम्**—लक्ष्य को।

निस्सन्देह ये सब उदारचेता व्यक्ति हैं, किन्तु जो मेरे ज्ञान को प्राप्त है, उसे मैं अपने ही समान मानता हूँ। वह मेरी दिव्यसेवा में तत्पर रहकर मुझ सर्वोच्च उद्देश्य को निश्चित रूप से प्राप्त करता है।

तात्पर्य : ऐसा नहीं है कि जो कम ज्ञानी भक्त हैं वे भगवान् को प्रिय नहीं हैं। भगवान् कहते हैं कि सभी उदारचेता हैं क्योंकि चाहे जो भी भगवान् के पास किसी भी उद्देश्य से आये वह महात्मा कहलाता है। जो भक्त भक्ति के बदले कुछ लाभ चाहते हैं उन्हें भगवान् स्वीकार करते हैं क्योंकि इससे स्नेह का विनिमय होता है। वे स्नेहवश भगवान् से लाभ की याचना करते हैं और जब उन्हें वह प्राप्त हो जाता है तो वे इतने प्रसन्न होते हैं कि वे भी भगवद्भक्ति करने लगते हैं। किन्तु ज्ञानी भक्त भगवान् को इसलिए प्रिय है कि उसका उद्देश्य प्रेम तथा भक्ति से परमेश्वर की सेवा करना होता है। ऐसा भक्त भगवान् की सेवा किये बिना क्षण भर भी नहीं रह सकता। इसी प्रकार परमेश्वर अपने भक्त को बहुत चाहते हैं और वे उससे विलग नहीं हो पाते।

श्रीमद्भागवत में (९.४.६८) भगवान् कहते हैं—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

"भक्तगण सदैव मेरे हृदय में वास करते हैं और मैं भक्तों के हृदयों में वास करता हूँ। भक्त मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता और मैं भी भक्त को कभी नहीं भूलता। मेरे तथा शुद्ध भक्तों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। ज्ञानी शुद्धभक्त कभी भी आध्यात्मिक सम्पर्क से दूर नहीं होते, अतः वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।"

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥१९॥

बहूनाम्—अनेक; **जन्मनाम्**—जन्म तथा मृत्यु के चक्र के; **अन्ते**—अन्त में; **ज्ञान-वान्**—ज्ञानी; **माम्**—मेरी; **प्रपद्यते**—शरण ग्रहण करता है; **वासुदेवः**—भगवान् कृष्ण; **सर्वम्**—सब कुछ; **इति**—इस प्रकार; **सः**—ऐसा; **महा-आत्मा**—महात्मा; **सु-दुर्लभः**—अत्यन्त दुर्लभ है।

अनेक जन्म-जन्मान्तर के बाद जिसे सचमुच ज्ञान होता है, वह मुझको समस्त कारणों का कारण जानकर मेरी शरण में आता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।

तात्पर्य : भक्ति या दिव्य अनुष्ठानों को करता हुआ जीव अनेक जन्मों के पश्चात् इस

को प्राप्त कर सकता है कि आत्म-साक्षात्कार का चरम लक्ष्य श्रीभगवान् हैं। आत्म-साक्षात्कार के प्रारम्भ में जब मनुष्य भौतिकता का परित्याग करने का प्रयत्न करता तब निर्विशेषवाद की ओर उसका झुकाव हो सकता है, किन्तु आगे बढने पर वह यह पाता है कि आध्यात्मिक जीवन में भी कार्य हैं और इन्हीं से भक्ति का विधान होता है। इसकी अनुभूति होने पर वह भगवान् के प्रति आसक्त हो जाता है और उनकी शरण ग्रहण कर लेता है। इस अवसर पर वह समझ सकता है कि श्रीकृष्ण की कृपा ही सर्वस्व है, वे ही सब कारणों के कारण हैं और यह जगत् उनसे स्वतन्त्र नहीं है। वह इस भौतिक जगत् को आध्यात्मिक विविधताओं का विकृत प्रतिबिम्ब मानता है और अनुभव करता है कि प्रत्येक वस्तु का परमेश्वर कृष्ण से सम्बन्ध है। इस प्रकार वह प्रत्येक वस्तु को वासुदेव श्रीकृष्ण से सम्बन्धित समझता है। इस प्रकार की वासुदेवमयी व्यापक दृष्टि होने पर भगवान् कृष्ण को परमलक्ष्य मानकर शरणागति प्राप्त होती है। ऐसे शरणागत महात्मा दुर्लभ हैं।

इस श्लोक की सुन्दर व्याख्या *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में (३.१४-१५) मिलती है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यातिष्ठद् दशांगुलम्॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

छान्दोग्य उपनिषद् (५.१.१५) मे कहा गया है—*न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसीत्याचक्षते प्राण इति एवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवन्ति*—जीव के शरीर की बोलने की शक्ति, देखने की शक्ति, सुनने की शक्ति, सोचने की शक्ति ही प्रधान नहीं है। समस्त कार्यों का केन्द्रबिन्दु तो यह जीवन (प्राण) है। इसी प्रकार भगवान् वासुदेव या भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त पदार्थों में मूल सत्ता हैं। इस देह में बोलने, देखने, सुनने तथा सोचने आदि की शक्तियाँ हैं, किन्तु यदि वे भगवान् से सम्बन्धित न हों तो सभी व्यर्थ हैं। वासुदेव सर्वव्यापी हैं और प्रत्येक वस्तु वासुदेव है। अत भक्त पूर्ण ज्ञान में रहकर शरण ग्रहण करता है (तुलनार्थ *भगवद्गीता* ७.१७ तथा ११ ४०)।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ २०॥

कामैः–इच्छाओं द्वारा, **तैः तैः**–उन उन; **हृत**–विहीन, **ज्ञानाः**–ज्ञान से, **प्रपद्यन्ते**–शरण लेते हैं, **अन्य**–अन्य, **देवताः**–देवताओं की, **तम् तम्**–उस उस, **नियमम्**–विधान का, **आस्थाय**–पालन करते हुए, **प्रकृत्या**–स्वभाव से, **नियताः**–वश में हुए, **स्वया**–अपने आप।

जिनकी बुद्धि भौतिक इच्छाओं द्वारा मारी गई है, वे देवताओं की शरण में जाते हैं और वे अपने-अपने स्वभाव के अनुसार पूजा के विशेष विधि-विधानों का पालन करते हैं।

तात्पर्य : जो समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त हो चुके है, वे भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं और उनकी भक्ति में तत्पर होते हैं। जब तक भौतिक कल्मष धुल नही जाता, तब

तक वे स्वभावतः अभक्त रहते हैं। किन्तु जो भौतिक इच्छाओं के होते हुए भी भगवान् की ओर उन्मुख होते हैं, वे बहिरंगा प्रकृति द्वारा आकृष्ट नहीं होते। चूँकि वे सही उद्देश्य की ओर अग्रसर होते हैं, अतः वे शीघ्र ही सारी भौतिक कामेच्छाओं से मुक्त हो जाते हैं। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि मनुष्य को चाहिए कि स्वयं को वासुदेव के प्रति समर्पित करे और उनकी पूजा करे, चाहे वह भौतिक इच्छाओं से रहित हो या भौतिक इच्छाओं से पूरित हो या भौतिक कल्मष से मुक्ति चाहता हो। जैसा कि *भागवत* में (२.३.१०) कहा गया है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

जो अल्पज्ञ हैं तथा जिन्होंने अपनी आध्यात्मिक चेतना खो दी है, वे भौतिक इच्छाओं की अविलम्ब पूर्ति के लिए देवताओं की शरण में जाते हैं। सामान्यतः ऐसे लोग भगवान् की शरण में नहीं जाते क्योंकि वे निम्नतर गुणों वाले (रजो तथा तमोगुणी) होते हैं, अतः वे विभिन्न देवताओं की पूजा करते हैं। वे पूजा के विधि-विधानों का पालन करने में ही प्रसन्न रहते हैं। देवताओं के पूजक छोटी-छोटी इच्छाओं के द्वारा प्रेरित होते हैं और यह नहीं जानते कि परमलक्ष्य तक किस प्रकार पहुँचा जाय। किन्तु भगवद्भक्त कभी भी पथभ्रष्ट नहीं होता। चूँकि वैदिक साहित्य में विभिन्न उद्देश्यों के लिए भिन्न-भिन्न देवताओं के पूजन का विधान है, अतः जो भगवद्भक्त नहीं हैं वे सोचते हैं कि देवता कुछ कार्यों के लिए भगवान् से श्रेष्ठ हैं। किन्तु शुद्धभक्त जानता है कि भगवान् कृष्ण ही सबके स्वामी हैं। *चैतन्यचरितामृत* में (आदि ५.१४२) कहा गया है—*एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य*—केवल भगवान् कृष्ण ही स्वामी हैं और अन्य सब दास हैं। फलतः शुद्धभक्त कभी भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देवताओं के निकट नहीं जाता। वह तो परमेश्वर पर निर्भर रहता है और वे जो कुछ देते हैं, उसी से संतुष्ट रहता है।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ २१॥

यः यः—जो जो; याम् याम्—जिस जिस; तनुम्—देवता के रूप को; भक्तः—भक्त; श्रद्धया—श्रद्धा से; अर्चितुम्—पूजा करने के लिए; इच्छति—इच्छा करता है; तस्य तस्य—उस उसकी; अचलाम्—स्थिर; श्रद्धाम्—श्रद्धा को; ताम्—उस; एव—निश्चय ही; विदधामि—देता हूँ; अहम्—मैं।

मैं प्रत्येक जीव के हृदय में परमात्मा स्वरूप स्थित हूँ। जैसे ही कोई किसी देवता की पूजा करने की इच्छा करता है, मैं उसकी श्रद्धा को स्थिर करता हूँ, जिससे वह उसी विशेष देवता की भक्ति कर सके।

तात्पर्य : ईश्वर ने हर एक को स्वतन्त्रता प्रदान की है, अतः यदि कोई पुरुष भौतिक भोग करने का इच्छुक है और इसके लिए देवताओं से सुविधाएँ चाहता है तो प्रत्येक हृदय में परमात्मा स्वरूप स्थित भगवान् उसके मनोभावों को जानकर ऐसी सुविधाएँ प्रदान करते हैं। समस्त जीवों के परम पिता के रूप में वे उनकी स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं

करते, अपितु उन्हें सुविधाएँ प्रदान करते हैं, जिससे वे अपनी भौतिक इच्छाएँ पूरी कर सकें। कुछ लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि सर्वशक्तिमान ईश्वर जीवों को ऐसी सुविधाएँ प्रदान करके उन्हें माया के पाश में गिरने ही क्यों देते हैं? इसका उत्तर यह है कि यदि परमेश्वर उन्हें ऐसी सुविधाएँ प्रदान न करें तो फिर स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाता। अतः वे सबों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं–चाहे कोई कुछ करे–किन्तु उनका अन्तिम उपदेश हमें *भगवद्गीता* में प्राप्त होता है–मनुष्य को चाहिए कि अन्य सारे कार्यों को त्यागकर उनकी शरण में आए। इससे मनुष्य सुखी रहेगा।

जीवात्मा तथा देवता दोनों ही परमेश्वर की इच्छा के अधीन हैं, अतः जीवात्मा न तो स्वेच्छा से किसी देवता की पूजा कर सकता है, न ही देवता परमेश्वर की इच्छा के विरुद्ध कोई वर दे सकते हैं जैसी कि कहावत है–'ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ती भी नहीं हिलती।' सामान्यतः जो लोग इस संसार में पीड़ित हैं, वे देवताओं के पास जाते हैं, क्योंकि वेदों में ऐसा करने का उपदेश है कि अमुक-अमुक इच्छाओं वाले को अमुक-अमुक देवताओं की शरण में जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, एक रोगी को सूर्यदेव की पूजा करने का आदेश है। इसी प्रकार विद्या का इच्छुक सरस्वती की पूजा कर सकता है और सुन्दर पत्नी चाहने वाला व्यक्ति शिवजी की पत्नी देवी उमा की पूजा कर सकता है। इस प्रकार शास्त्रों में विभिन्न देवताओं के पूजन की विधियाँ बताई गई हैं। चूँकि प्रत्येक जीव विशेष सुविधा चाहता है, अतः भगवान् उसे विशेष देवता से उस वर को प्राप्त करने की प्रबल इच्छा की प्रेरणा देते हैं और उसे वर प्राप्त हो जाता है। किसी विशेष देवता के पूजन की विधि भी भगवान् द्वारा ही नियोजित की जाती है। जीवों में वह प्रेरणा देवता नहीं दे सकते, किन्तु भगवान् परमात्मा हैं जो समस्त जीवों के हृदयों में उपस्थित रहते हैं, अतः कृष्ण मनुष्य को किसी देवता के पूजन की प्रेरणा प्रदान करते हैं। सारे देवता परमेश्वर के विराट शरीर के विभिन्न अंगस्वरूप हैं, अतः वे स्वतन्त्र नहीं होते। वैदिक साहित्य में कथन है, "परमात्मा रूप में भगवान् देवता के हृदय में भी स्थित रहते हैं, अतः वे देवता के माध्यम से जीव की इच्छा को पूरा करने की व्यवस्था करते हैं। किन्तु जीव तथा देवता दोनों ही परमात्मा की इच्छा पर आश्रित हैं। वे स्वतन्त्र नहीं हैं।"

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ २२॥

सः–वह; तया–उस; श्रद्धया–श्रद्धा से; युक्तः–युक्त; तस्य–उस देवता की; आराधनम्–पूजा के लिए; ईहते–आकांक्षा करता है; लभते–प्राप्त करता है; च–तथा; ततः–उससे; कामान्–इच्छाओं को; मया–मेरे द्वारा; एव–ही; विहितान्–व्यवस्थित; हि–निश्चय ही; तान्–उन।

ऐसी श्रद्धा से समन्वित वह देवता विशेष की पूजा करने का यत्न करता है और अपनी इच्छा की पूर्ति करता है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि ये सारे लाभ केवल मेरे द्वारा प्रदत्त हैं।

तात्पर्य : देवतागण परमेश्वर की अनुमति के बिना अपने भक्तों को वर नहीं दे सकते।

जीव भले ही यह भूल जाय कि प्रत्येक वस्तु परमेश्वर की सम्पत्ति है, किन्तु देवता इसे नहीं भूलते। अतः देवताओं की पूजा तथा वांछित फल की प्राप्ति देवताओं के कारण नहीं, अपितु उनके माध्यम से भगवान् के कारण होती है। अल्पज्ञानी जीव इसे नहीं जानते, अतः वे मूर्खतावश देवताओं के पास जाते हैं। किन्तु शुद्धभक्त आवश्यकता पड़ने पर परमेश्वर से ही याचना करता है परन्तु वर माँगना शुद्धभक्त का लक्षण नहीं है। जीव सामान्यतया देवताओं के पास इसीलिए जाता है, क्योंकि वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए पगलाया रहता है। ऐसा तब होता है जब जीव अनुचित कामना करता है जिसे स्वयं भगवान् पूरा नहीं करते। *चैतन्यचरितामृत* में कहा गया है कि जो व्यक्ति परमेश्वर की पूजा के साथ-साथ भौतिकभोग की कामना करता है वह परस्पर विरोधी इच्छाओं वाला होता है। परमेश्वर की भक्ति तथा देवताओं की पूजा समान स्तर पर नहीं हो सकती, क्योंकि देवताओं की पूजा भौतिक है और परमेश्वर की भक्ति नितान्त आध्यात्मिक है।

जो जीव भगवद्धाम जाने का इच्छुक है, उसके मार्ग में भौतिक इच्छाएँ बाधक हैं। अतः भगवान् के शुद्धभक्त को वे भौतिक लाभ नहीं प्रदान किये जाते, जिनकी कामना अल्पज्ञ जीव करते रहते हैं, जिसके कारण वे परमेश्वर की भक्ति न करके देवताओं की पूजा में लगे रहते हैं।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥२३॥

अन्त-वत्—नाशवान; **तु**—लेकिन; **फलम्**—फल; **तेषाम्**—उनका; **तत्**—वह; **भवति**—होता है; **अल्प-मेधसाम्**—अल्पज्ञों का; **देवान्**—देवताओं के पास; **देव-यजः**—देवताओं को पूजने वाले; **यान्ति**—जाते हैं; **मत्**—मेरे; **भक्ताः**—भक्तगण; **यान्ति**—जाते हैं; **माम्**—मेरे पास; **अपि**—भी।

अल्पबुद्धि वाले व्यक्ति देवताओं की पूजा करते हैं और उन्हें प्राप्त होने वाले फल सीमित तथा क्षणिक होते हैं। देवताओं की पूजा करने वाले देवलोक को जाते हैं, किन्तु मेरे भक्त अन्ततः मेरे परमधाम को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के कुछ भाष्यकार कहते हैं कि देवता की पूजा करने वाला व्यक्ति परमेश्वर के पास पहुँच सकता है, किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि देवताओं के उपासक भिन्न लोक को जाते हैं, जहाँ विभिन्न देवता स्थित हैं—ठीक उसी प्रकार जिस तरह सूर्य की उपासना करने वाला सूर्य को या चन्द्रमा का उपासक चन्द्रमा को प्राप्त होता है। इसी प्रकार यदि कोई इन्द्र जैसे देवता की पूजा करना चाहता है, तो उसे पूजे जाने वाले उसी देवता का लोक प्राप्त होगा। ऐसा नहीं है कि जिस किसी भी देवता की पूजा करने से भगवान् को प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ पर इसका निषेध किया गया है, क्योंकि यह स्पष्ट कहा गया है कि देवताओं के उपासक भौतिक जगत् के अन्य लोकों को जाते हैं, किन्तु भगवान् का भक्त भगवान् के ही परमधाम को जाता है।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि विभिन्न देवता परमेश्वर के शरीर के विभिन्न अंग हैं, तो उन सबकी पूजा करने से एक ही जैसा फल मिलना चाहिए। किन्तु

देवताओं के उपासक अल्पज्ञ होते हैं, क्योंकि वे यह नहीं जानते कि शरीर के किस अंग को भोजन दिया जाय। उनमें से कुछ इतने मूर्ख होते हैं कि वे यह दावा करते हैं कि अंग अनेक हैं, अतः भोजन देने के ढंग अनेक हैं। किन्तु यह बहुत उचित नहीं है। क्या कोई कानों या आँखों से शरीर को भोजन पहुँचा सकता है? वे यह नहीं जानते कि ये देवता भगवान् के विराट शरीर के विभिन्न अंग हैं और वे अपने अज्ञानवश यह विश्वास कर बैठते हैं कि प्रत्येक देवता पृथक् ईश्वर है तथा परमेश्वर का प्रतियोगी है।

न केवल सारे देवता, अपितु सामान्य जीव भी परमेश्वर के अंग (अंश) हैं। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि ब्राह्मण परमेश्वर के सिर हैं, क्षत्रिय उनकी बाहें हैं, वैश्य उनकी कटि तथा शूद्र उनके पाँव हैं, और इन सबके अलग-अलग कार्य हैं। यदि कोई देवताओं को तथा अपने आपको परमेश्वर का अंश मानता है तो उसका ज्ञान पूर्ण है। किन्तु यदि वह इसे नहीं समझता तो उसे भिन्न लोकों की प्राप्ति होती है, जहाँ देवतागण निवास करते हैं। यह वह गन्तव्य नहीं है, जहाँ भक्तगण जाते हैं।

देवताओं से प्राप्त वर नाशवान होते हैं, क्योंकि इस भौतिक जगत् के भीतर सारे लोक, सारे देवता तथा उनके सारे उपासक नाशवान हैं। अतः इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि ऐसे देवताओं की उपासना से प्राप्त होने वाले सारे फल नाशवान होते हैं, अतः ऐसी पूजा केवल अल्पज्ञों द्वारा की जाती है। चूँकि परमेश्वर की भक्ति में कृष्णभावनामृत में संलग्न व्यक्ति ज्ञान से पूर्ण दिव्य आनन्दमय लोक की प्राप्ति करता है अतः उसकी तथा देवताओं के सामान्य उपासक की उपलब्धियाँ पृथक्-पृथक् होती हैं। परमेश्वर असीम हैं, उनका अनुग्रह अनन्त है, उनकी दया भी अनन्त है। अतः परमेश्वर की अपने शुद्धभक्तों पर कृपा भी असीम होती है।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ २४॥

अव्यक्तम्—अप्रकट; व्यक्तिम्—स्वरूप को; आपन्नम्—प्राप्त हुआ; मन्यन्ते—सोचते हैं; माम्—मुझको; अबुद्धयः—अल्पज्ञानी व्यक्ति; परम्—परम; भावम्—सत्ता; अजानन्तः—बिना जाने; मम—मेरा; अव्ययम्—अनश्वर; अनुत्तमम्—सर्वश्रेष्ठ।

बुद्धिहीन मनुष्य मुझको ठीक से न जानने के कारण सोचते हैं कि मैं (भगवान् कृष्ण) पहले निराकार था और अब मैंने इस स्वरूप को धारण किया है। वे अपने अल्पज्ञान के कारण मेरी अविनाशी तथा सर्वोच्च प्रकृति को नहीं जान पाते।

तात्पर्य : देवताओं के उपासकों को अल्पज्ञ कहा जा चुका है और इस श्लोक में निर्विशेषवादियों को भी अल्पज्ञ कहा गया है। भगवान् कृष्ण अपने साकार रूप में यहाँ पर अर्जुन से बातें कर रहे हैं, किन्तु तब भी निर्विशेषवादी अपने अज्ञान के कारण तर्क करते रहते हैं कि परमेश्वर का अन्ततः कोई स्वरूप नहीं होता। श्रीरामानुजाचार्य की परम्परा के महान भगवद्भक्त यामुनाचार्य ने इस सम्बन्ध में दो अत्यन्त उपयुक्त श्लोक कहे हैं (*स्तोत्र रत्न* १२)—

त्वां शीलरूपचरितैः परमप्रकृष्टैः
सत्त्वेन सात्त्विकतया प्रबलैश्च शास्त्रैः।
प्रख्यातदैवपरमार्थविदां मतैश्च
नैवासुरप्रकृतयः प्रभवन्ति बोद्धुम्॥

"हे प्रभु! व्यासदेव तथा नारद जैसे भक्त आपको भगवान् रूप में जानते हैं। मनुष्य विभिन्न वैदिक ग्रंथों को पढ़कर आपके गुण, रूप तथा कार्यों को जान सकता है और इस तरह आपको भगवान् के रूप में समझ सकता है। किन्तु जो लोग रजो तथा तमोगुण के वश में हैं, ऐसे असुर तथा अभक्तगण आपको नहीं समझ पाते। ऐसे अभक्त वेदान्त, उपनिषद् तथा वैदिक ग्रंथों की व्याख्या करने में कितने ही निपुण क्यों न हों, वे भगवान् को नहीं समझ पाते।"

ब्रह्मसंहिता में यह बताया गया है कि केवल वेदान्त साहित्य के अध्ययन से भगवान् को नहीं समझा जा सकता। परमपुरुष को केवल भगवत्कृपा से जाना जा सकता है। अतः इस श्लोक में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि न केवल देवताओं के उपासक अल्पज्ञ होते हैं, अपितु वे अभक्त भी जो कृष्णभावनामृत से रहित हैं, जो वेदान्त तथा वैदिक साहित्य के अध्ययन में लगे रहते हैं, अल्पज्ञ हैं और उनके लिए ईश्वर के साकार रूप को समझ पाना सम्भव नहीं है। जो लोग परमसत्य को निर्विशेष करके मानते हैं वे *अबुद्धयः* बताये गये हैं जिसका अर्थ है, वे लोग जो परमसत्य के परम स्वरूप को नहीं समझते। *श्रीमद्भागवत* में बताया गया है कि निर्विशेष ब्रह्म से ही परम अनुभूति प्रारम्भ होती है जो ऊपर उठती हुई अन्तर्यामी परमात्मा तक जाती है, किन्तु परमसत्य की अन्तिम अवस्था तो भगवान् है। आधुनिक निर्विशेषवादी तो और भी अधिक अल्पज्ञ हैं, क्योंकि वे अपने पूर्वगामी शंकराचार्य का भी अनुसरण नहीं करते जिन्होंने स्पष्ट बताया है कि कृष्ण परमेश्वर हैं। अतः निर्विशेषवादी परमसत्य को न जानने के कारण सोचते हैं कि कृष्ण देवकी तथा वसुदेव के पुत्र हैं या कि राजकुमार हैं या कि शक्तिमान जीवात्मा हैं। *भगवद्गीता* में (९.११) भी इसकी भर्त्सना की गई है। *अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*—केवल मूर्ख ही मुझे सामान्य पुरुष मानते हैं।

तथ्य तो यह है कि कोई बिना भक्ति के तथा कृष्णभावनामृत विकसित किये बिना कृष्ण को नहीं समझ सकता। इसकी पुष्टि *भागवत* में (१०.१४.२९) हुई है—

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय प्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन् महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥

"हे प्रभु! यदि कोई आपके चरणकमलों की रंचमात्र भी कृपा प्राप्त कर लेता है तो वह आपकी महानता को समझ सकता है। किन्तु जो लोग भगवान् को समझने के लिए मानसिक कल्पना करते हैं वे वेदों का वर्षों तक अध्ययन करके भी नहीं समझ पाते।" कोई न तो मनोधर्म द्वारा, न ही वैदिक साहित्य की व्याख्या द्वारा भगवान् कृष्ण या उनके रूप को समझ सकता है। भक्ति के द्वारा ही उन्हें समझा जा सकता है। जब मनुष्य *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—इस महानतम जप से प्रारम्भ करके कृष्णभावनामृत में पूर्णतया तन्मय हो जाता है, तभी वह भगवान् को समझ सकता है। अभक्त निर्विशेषवादी मानते हैं कि भगवान् कृष्ण का शरीर इसी

भौतिक प्रकृति का बना है और उनके कार्य, उनका रूप इत्यादि सभी माया हैं। ये निर्विशेषवादी मायावादी कहलाते हैं। ये परमसत्य को नहीं जानते।

बीसवें श्लोक में स्पष्ट है—*कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः*—जो लोग कामेच्छाओं से अन्धे हैं वे अन्य देवताओं की शरण में जाते हैं। यह स्वीकार किया गया है कि भगवान् के अतिरिक्त अन्य देवता भी हैं, जिनके अपने-अपने लोक हैं और भगवान् का भी अपना लोक है। जेसा कि तेईमवें श्लोक में कहा गया है—*देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि*—देवताओं के उपासक उनके लोकों को जाते हैं और जो कृष्ण के भक्त हैं वे कृष्णलोक को जाते हैं। यद्यपि यह स्पष्ट कहा गया है, किन्तु तो भी मूर्ख मायावादी यह मानते हैं कि भगवान् निर्विशेष हैं ओर ये विभिन्न रूप उन पर ऊपर से थोपे गये हैं। क्या *गीता* के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि देवता तथा उनके धाम निर्विशेष हैं? स्पष्ट है कि न तो देवतागण, न ही कृष्ण निर्विशेष हैं। वे सभी व्यक्ति हैं। भगवान् कृष्ण परमेश्वर हैं, उनका अपना लोक है ओर देवताओं के भी अपने-अपने लोक हैं।

अतः यह अद्वैतवादी तर्क कि परमसत्य निर्विशेष है ओर रूप ऊपर से थोपा (आरोपित) हुआ है, सत्य नहीं उतरता। यहाँ स्पष्ट बताया गया है कि यह ऊपर से थोपा हुआ नहीं है। *भगवद्गीता* से हम स्पष्टतया समझ सकते हैं कि देवताओं के रूप तथा परमेश्वर का स्वरूप साथ-साथ विद्यमान हैं और भगवान् कृष्ण सच्चिदानन्द रूप हैं। वेद भी पुष्टि करते हैं कि *परमसत्य आनन्दमयोऽभ्यासात्*—अर्थात् वे स्वभाव से ही आनन्दमय हैं ओर वे अनन्त शुभ गुणों के आगार हैं। *गीता* में भगवान् कहते हैं कि यद्यपि वे अज (अजन्मा) हैं, तो भी वे प्रकट होते हैं। *भगवद्गीता* से हम इन सारे तथ्यों को जान सकते हैं। अत. हम यह नहीं समझ पाते कि भगवान् किस तरह निर्विशेष हैं? जहाँ तक *गीता* के कथन हैं, उनके अनुसार निर्विशेषवादी अद्वैतवादियों का यह आरोपित सिद्धान्त मिथ्या है। यहाँ यह स्पष्ट है कि परमसत्य भगवान् कृष्ण के रूप और व्यक्तित्व दोनों हैं।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ २५॥

न—न तो, अहम्—मैं; प्रकाशः—प्रकट, सर्वस्य—सबों के लिए, योग-माया—अन्तरंगा शक्ति से, समावृतः—आच्छादित, मूढः—मूर्ख; अयम्—यह; न—नहीं, अभिजानाति—समझ सकता है, लोकः—लोग; माम्—मुझको; अजम्—अजन्मा को; अव्ययम्—अविनाशी को।

मैं मूर्खों तथा अल्पज्ञों के लिए कभी भी प्रकट नहीं हूँ। उनके लिए तो मैं अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा आच्छादित रहता हूँ, अतः वे यह नहीं जान पाते कि मैं अजन्मा तथा अविनाशी हूँ।

तात्पर्य : यह तर्क दिया जा सकता है कि जब कृष्ण इस पृथ्वी पर विद्यमान थे ओर सबों के लिए दृश्य थे तो अब वे सबों के समक्ष क्यों नहीं प्रकट होते? किन्तु वास्तव में वे हर एक के समक्ष प्रकट नहीं थे। जब कृष्ण विद्यमान थे तो उन्हें भगवान् रूप में समझने

वाले व्यक्ति थोड़े ही थे। जब कुरु सभा में शिशुपाल ने कृष्ण के सभाध्यक्ष चुने जाने का विरोध किया तो भीष्म ने कृष्ण के नाम का समर्थन किया और उन्हें परमेश्वर घोषित किया। इसी प्रकार पाण्डव तथा कुछ अन्य लोग उन्हें परमेश्वर के रूप में जानते थे, किन्तु सभी ऐसे नहीं थे। अभक्तों तथा सामान्य व्यक्ति के लिए वे प्रकट नहीं थे। इसीलिए *भगवद्गीता* में कृष्ण कहते हैं कि उनके विशुद्ध भक्तों के अतिरिक्त अन्य सारे लोग उन्हें अपनी तरह समझते हैं। वे अपने भक्तों के समक्ष ही आनन्द के आगार के रूप में प्रकट होते थे, किन्तु अन्यों के लिए, अल्पज्ञ अभक्तों के लिए, वे अपनी अन्तरंगा शक्ति से आच्छादित रहते थे।

श्रीमद्भागवत में (१.८.१९) कुन्ती ने अपनी प्रार्थना में कहा है कि भगवान् योगमाया के आवरण से आवृत हैं, अतः सामान्य लोग उन्हें समझ नहीं पाते। *ईशोपनिषद्* में (मन्त्र १५) भी इस योगमाया आवरण की पुष्टि हुई है, जिसमें भक्त प्रार्थना करता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

"हे भगवान्! आप समग्र ब्रह्माण्ड के पालक हैं और आपकी भक्ति सर्वोच्च धर्म है। अतः मेरी प्रार्थना है कि आप मेरा भी पालन करें। आपका दिव्यरूप योगमाया से आवृत है। ब्रह्मज्योति आपकी अन्तरंगा शक्ति का आवरण है। कृपया इस तेज को हटा लें क्योंकि यह आपके सच्चिदानन्द विग्रह के दर्शन में बाधक है।" भगवान् अपने दिव्य सच्चिदानन्द रूप में ब्रह्मज्योति की अन्तरंगाशक्ति से आवृत हैं, जिसके फलस्वरूप अल्पज्ञानी निर्विशेषवादी परमेश्वर को नहीं देख पाते।

श्रीमद्भागवत में भी (१०.१४.७) ब्रह्मा द्वारा की गई यह स्तुति है—"हे भगवान्, हे परमात्मा, हे समस्त रहस्यों के स्वामी! संसार में ऐसा कौन है जो आपकी शक्ति तथा लीलाओं का अनुमान लगा सके? आप सदैव अपनी अन्तरंगाशक्ति का विस्तार करते रहते हैं, अतः कोई भी आपको नहीं समझ सकता। विज्ञानी तथा विद्वान् भले ही भौतिक जगत् की परमाणु संरचना का या कि विभिन्न ग्रहों का अन्वेषण कर लें, किन्तु अपने समक्ष आपके विद्यमान होते हुए भी वे आपकी शक्ति की गणना करने में असमर्थ हैं।" भगवान् कृष्ण न केवल अजन्मा हैं, अपितु अव्यय भी हैं। वे सच्चिदानन्द रूप हैं और उनकी शक्तियाँ अव्यय हैं।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ २६॥

वेद—जानता हूँ; **अहम्**—मैं; **समतीतानि**—भूतकाल को; **वर्तमानानि**—वर्तमान को; **च**—तथा; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **भविष्याणि**—भविष्य को; **च**—भी; **भूतानि**—सारे जीवों को; **माम्**—मुझको; **तु**—लेकिन; **वेद**—जानता है; **न**—नहीं; **कश्चन**—कोई।

हे अर्जुन! श्रीभगवान् होने के नाते मैं जो कुछ भूतकाल में घटित हो चुका है, जो वर्तमान में घटित हो रहा है और जो आगे होने वाला है, वह सब कुछ जानता हूँ।

में समस्त जीवों को भी जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई नहीं जानता।

तात्पर्य : यहाँ पर साकारता तथा निराकारता का स्पष्ट उल्लेख है। यदि भगवान् कृष्ण का स्वरूप माया होता, जैसा कि मायावादी मानते हे, तो उन्हें भी जीवात्मा की भाँति अपना शरीर बदलना पड़ता ओर विगत जीवन के विषय मे सब कुछ विस्मरण हो जाता। कोई भी भौतिक देहधारी अपने विगत जीवन की स्मृति बनाये नहीं रख पाता, न ही वह भावी जीवन के विषय में या वर्तमान जीवन की उपलब्धि के विषय में भविष्यवाणी कर सकता है। अतः वह यह नहीं जानता कि भूत, वर्तमान तथा भविष्य मे क्या घट रहा हे। भौतिक कल्मष से मुक्त हुए बिना वह ऐसा नहीं कर सकता।

सामान्य मनुष्यो से भिन्न, भगवान् कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि वे यह भलीभाँति जानते हैं कि भूतकाल में क्या घटा, वर्तमान में क्या हो रहा है ओर भविष्य में क्या होने वाला हे लेकिन सामान्य मनुष्य ऐसा नहीं जानते हैं। चतुर्थ अध्याय में हम देख चुके हैं कि लाखों वर्ष पूर्व उन्होने सूर्यदेव विवस्वान को जो उपदेश दिया था वह उन्हे स्मरण हे। कृष्ण प्रत्येक जीव को जानते हैं क्योंकि वे सबों के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित हैं। किन्तु अल्पज्ञानी प्रत्येक जीव के हृदय मे परमात्मा रूप में स्थित होने तथा श्रीभगवान् के रूप में उपस्थित रहने पर भी श्रीकृष्ण को परमपुरुप के रूप में नहीं जान पाते, भले ही वे निर्विशेष ब्रह्म को क्यों न समझ लेते हों। निस्सन्देह श्रीकृष्ण का दिव्य शरीर अनश्वर हे। वे सूर्य के समान हैं और माया बादल के समान हे। भौतिक जगत् मे हम सूर्य को देखते हैं, बादलों को देखते हैं ओर विभिन्न नक्षत्र तथा ग्रहों को देखते हैं। आकाश में बादल इन सबों को अल्पकाल के लिए ढक सकता हे, किन्तु यह आवरण हमारी दृष्टि तक ही सीमित होता है। सूर्य, चन्द्रमा तथा तारे सचमुच ढके नहीं होते। इसी प्रकार माया परमेश्वर को आच्छादित नहीं कर सकती। वे अपनी अन्तरगा शक्ति के कारण अल्पज्ञों को दृश्य नहीं होते। जैसा कि इस अध्याय के तृतीय श्लोक में कहा गया हे कि करोड़ो पुरुषों में से कुछ ही सिद्ध बनने का प्रयत्न करते हैं ओर सहस्रों ऐसे सिद्ध पुरुषो में से कोई एक भगवान् कृष्ण को समझ पाता हे। भले ही कोई निराकार ब्रह्म या अन्तर्यामी परमात्मा की अनुभूति के कारण सिद्ध हो ले, किन्तु कृष्णभावनामृत के बिना वह भगवान् श्रीकृष्ण को समझ ही नहीं सकता।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥ २७॥

इच्छा—इच्छा, **द्वेष**—तथा घृणा; **समुत्थेन**—उदय होने से, **द्वन्द्व**—द्वन्द्व से, **मोहेन**—मोह के द्वारा, **भारत**—हे भरतवंशी; **सर्व**—सभी, **भूतानि**—जीव, **सम्मोहम्**—मोह को, **सर्गे**—जन्म लेकर, **यान्ति**—जाते हैं, प्राप्त होते हैं, **परन्तप**—हे शत्रुओं के विजेता।

हे भरतवंशी! हे शत्रुविजेता! समस्त जीव जन्म लेकर इच्छा तथा घृणा से उत्पन्न द्वन्द्वों से मोहग्रस्त होकर मोह को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य : जीव की स्वाभाविक स्थिति शुद्धज्ञान रूप परमेश्वर की अधीनता हे। मोहवश जब मनुष्य इस शुद्धज्ञान से दूर हो जाता हे तो वह माया के वशीभूत हो जाता हे और

भगवान् को नहीं समझ पाता। यह माया इच्छा तथा घृणा के द्वन्द्व रूप में प्रकट होती है। इसी इच्छा तथा घृणा के कारण मनुष्य परमेश्वर से तदाकार होना चाहता है और भगवान् के रूप में कृष्ण से ईर्ष्या करता है। किन्तु शुद्धभक्त इच्छा तथा घृणा से मोहग्रस्त नहीं होते अतः वे समझ सकते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण अपनी अन्तरंगाशक्ति से प्रकट होते हैं। पर जो द्वन्द्व तथा अज्ञान के कारण मोहग्रस्त हैं, वे यह सोचते हैं कि भगवान् भौतिक (अपरा) शक्तियों द्वारा उत्पन्न होते हैं। यही उनका दुर्भाग्य है। ऐसे मोहग्रस्त व्यक्ति मान-अपमान, दुख-सुख, स्त्री-पुरुष, अच्छा-बुरा, आनन्द-पीड़ा जैसे द्वन्द्वों में रहते हुए सोचते रहते हैं "यह मेरी पत्नी है, यह मेरा घर है, मैं इस घर का स्वामी हूँ, मैं इस स्त्री का पति हूँ।" ये ही मोह के द्वन्द्व हैं। जो लोग ऐसे द्वन्द्वों से मोहग्रस्त रहते हैं, वे निपट मूर्ख हैं और वे भगवान् को नहीं समझ सकते।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

येषाम्—जिन; **तु**—लेकिन; **अन्त-गतम्**—पूर्णतया विनष्ट; **पापम्**—पाप; **जनानाम्**—मनुष्यों का; **पुण्य**—पवित्र; **कर्मणाम्**—जिनके पूर्व कर्म; **ते**—वे; **द्वन्द्व**—द्वैत के; **मोह**—मोह से; **निर्मुक्ताः**—मुक्त; **भजन्ते**—भक्ति में तत्पर होते हैं; **माम्**—मुझको; **दृढ-व्रताः**—संकल्पपूर्वक।

जिन मनुष्यों ने पूर्वजन्मों में तथा इस जन्म में पुण्यकर्म किये हैं और जिनके पापकर्मों का पूर्णतया उच्छेदन हो चुका होता है, वे मोह के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते हैं और वे संकल्पपूर्वक मेरी सेवा में तत्पर होते हैं।

तात्पर्य : इस अध्याय में उन लोगों का उल्लेख है जो दिव्य पद को प्राप्त करने के अधिकारी हैं। जो पापी, नास्तिक, मूर्ख तथा कपटी हैं उनके लिए इच्छा तथा घृणा के द्वन्द्व को पार कर पाना कठिन है। केवल ऐसे पुरुष भक्ति स्वीकार करके क्रमशः भगवान् के शुद्धज्ञान को प्राप्त करते हैं, जिन्होंने धर्म के विधि-विधानों का अभ्यास करने, पुण्यकर्म करने तथा पापकर्मों के जीतने में अपना जीवन लगाया है। फिर वे क्रमशः भगवान् का ध्यान समाधि में करते हैं। आध्यात्मिक पद पर आसीन होने की यही विधि है। शुद्धभक्तों की संगति में कृष्णभावनामृत के अन्तर्गत ही ऐसी पद प्राप्ति सम्भव है, क्योंकि महान भक्तों की संगति से ही मनुष्य मोह से उबर सकता है।

श्रीमद्भागवत में (५.५.२) कहा गया है कि यदि कोई सचमुच मुक्ति चाहता है तो उसे भक्तों की सेवा करनी चाहिए (*महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः*), किन्तु जो भौतिकतावादी पुरुषों की संगति करता है वह संसार के गहन अंधकार की ओर अग्रसर होता रहता है (*तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्*)। भगवान् के सारे भक्त विश्व भर का भ्रमण इसीलिए करते हैं जिससे वे बद्धजीवों को उनके मोह से उबार सकें। मायावादी यह नहीं जान पाते कि परमेश्वर के अधीन अपनी स्वाभाविक स्थिति को भूलना ही ईश्वरीय नियम की सबसे बड़ी अवहेलना है। जब तक वह अपनी स्वाभाविक स्थिति को पुनः प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक परमेश्वर को समझ पाना या संकल्प के साथ उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में पूर्णतया प्रवृत्त हो पाना कठिन है।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ २९॥

जरा–वृद्धावस्था से; मरण–तथा मृत्यु से; मोक्षाय–मुक्ति के लिए; माम्–मुझको, मेरे; आश्रित्य–आश्रय बनाकर, शरण लेकर; यतन्ति–प्रयत्न करते हैं; ये–जो; ते–ऐसे व्यक्ति; ब्रह्म–ब्रह्म; तत्–वास्तव में उस; विदुः–वे जानते हैं; कृत्स्नम्–सब कुछ; अध्यात्मम्–दिव्य; कर्म–कर्म; च–भी; अखिलम्–पूर्णतया।

जो जरा तथा मृत्यु से मुक्ति पाने के लिए यत्नशील रहते हैं, वे बुद्धिमान व्यक्ति मेरी भक्ति की शरण ग्रहण करते हैं। वे वास्तव में ब्रह्म हैं क्योंकि वे दिव्य कर्मों के विषय में पूरी तरह से जानते हैं।

तात्पर्य : जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग इस भौतिक शरीर को सताते हैं, आध्यात्मिक शरीर को नहीं। आध्यात्मिक शरीर के लिए न जन्म है, न मृत्यु, न जरा, न रोग। अतः जिसे आध्यात्मिक शरीर प्राप्त हो जाता है वह भगवान् का पार्षद बन जाता है और नित्य भक्ति करता है। वही मुक्त है। *अहं ब्रह्मास्मि*–मैं आत्मा हूँ। कहा गया है कि मनुष्य को चाहिए कि वह यह समझे कि मैं ब्रह्म या आत्मा हूँ। जीवन का यह ब्रह्मबोध ही भक्ति है, जैसा कि इस श्लोक में कहा गया है। शुद्धभक्त ब्रह्म पद पर आसीन होते हैं और वे दिव्य कर्मों के विषय में सब कुछ जानते रहते हैं।

भगवान् की दिव्यसेवा में रत रहने वाले चार प्रकार के अशुद्ध भक्त हैं जो अपने-अपने लक्ष्यों को प्राप्त करते हैं और भगवत्कृपा से जब वे पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हो जाते हैं, तो परमेश्वर की संगति का लाभ उठाते हैं। किन्तु देवताओं के उपासक कभी भी भगवद्धाम नहीं पहुँच पाते। यहाँ तक कि अल्पज्ञ ब्रह्मभूत व्यक्ति भी कृष्ण के परमधाम, गोलोक वृन्दावन को प्राप्त नहीं कर पाते। केवल ऐसे व्यक्ति जो कृष्णभावनामृत में कर्म करते हैं (*माम् आश्रित्य*) वे ही ब्रह्म कहलाने के अधिकारी होते हैं, क्योंकि वे सचमुच ही कृष्णधाम पहुँचने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों को कृष्ण के विषय में कोई भ्रान्ति नहीं रहती और वे सचमुच ब्रह्म हैं।

जो लोग भगवान् के अर्चा (स्वरूप) की पूजा करने में लगे रहते हैं या भवबन्धन से मुक्ति पाने के लिए निरन्तर भगवान् का ध्यान करते हैं, वे भी ब्रह्म अधिभूत आदि के तात्पर्य को समझते हैं, जैसा कि भगवान् ने अगले अध्याय में बताया है।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ३०॥

स-अधिभूत–तथा भौतिक जगत् को चलाने वाले सिद्धान्त; अधिदैवम्–समस्त देवताओं को नियन्त्रित करने वाले; माम्–मुझको; स-अधियज्ञम्–तथा समस्त यज्ञों का नियन्त्रित करने वाले; च–भी; ये–जो; विदुः–जानते हैं; प्रयाण–मृत्यु के; काले–समय में; अपि–भी; च–तथा; माम्–मुझको; ते–वे; विदुः–जानते हैं; युक्त-चेतसः–जिनके मन मुझमें लगे हैं।

जो मुझ परमेश्वर को मेरी पूर्ण चेतना में रहकर मुझे जगत् का, देवताओं का

समस्त यज्ञविधियों का नियामक जानते हैं, वे अपनी मृत्यु के समय भी मुझ भगवान् को जान और समझ सकते हैं।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत में कर्म करने वाले मनुष्य कभी भी भगवान् को पूर्णतया समझने के पथ से विचलित नहीं होते। कृष्णभावनामृत के दिव्य सान्निध्य से मनुष्य यह समझ सकता है कि भगवान् किस तरह भौतिक जगत् तथा देवताओं तक के नियामक हैं। धीरे-धीरे ऐसी दिव्य संगति से मनुष्य का भगवान् में विश्वास बढ़ता है, अतः मृत्यु के समय ऐसा कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कृष्ण को कभी भुला नहीं पाता। अतएव वह सहज ही भगवद्धाम गोलोक वृन्दावन को प्राप्त होता है।

यह सातवाँ अध्याय विशेष रूप से बताता है कि कोई किस प्रकार से पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हो सकता है। कृष्णभावना का शुभारम्भ ऐसे व्यक्तियों के सान्निध्य से होता है जो कृष्णभावनाभावित होते हैं। ऐसा सान्निध्य आध्यात्मिक होता है और इससे मनुष्य प्रत्यक्ष भगवान् के संसर्ग में आता है और भगवत्कृपा से वह कृष्ण को भगवान् समझ सकता है। साथ ही वह जीव के वास्तविक स्वरूप को समझ सकता है और यह समझ सकता है कि किस प्रकार जीव कृष्ण को भुलाकर भौतिक कार्यों में उलझ जाता है। सत्संगति में रहने से कृष्णभावना के क्रमिक विकास से जीव यह समझ सकता है कि किस प्रकार कृष्ण को भुलाने से वह प्रकृति के नियमों द्वारा बद्ध हुआ है। वह यह भी समझ सकता है कि यह मनुष्य-जीवन कृष्णभावनामृत को पुनः प्राप्त करने के लिए मिला है, अतः इसका सदुपयोग परमेश्वर की अहैतुकी कृपा प्राप्त करने के लिए करना चाहिए।

इस अध्याय में जिन अनेक विषयों की विवेचना की गई है वे हैं—दुख मे पड़ा हुआ मनुष्य, जिज्ञासु मानव, अभावग्रस्त मानव, ब्रह्म ज्ञान, परमात्मा ज्ञान, जन्म, मृत्यु तथा रोग से मुक्ति एवं परमेश्वर की पूजा। किन्तु जो व्यक्ति वास्तव में कृष्णभावनामृत को प्राप्त है, वह विभिन्न विधियों की परवाह नहीं करता। वह सीधे कृष्णभावनामृत के कार्यों में प्रवृत्त होता है और उसी से भगवान् कृष्ण के नित्य दास के रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करता है। ऐसी अवस्था में वह शुद्धभक्ति में परमेश्वर के श्रवण तथा गुणगान में आनन्द पाता है। उसे पूर्ण विश्वास रहता है कि ऐसा करने से उसके सारे उद्देश्यों की पूर्ति होगी। ऐसी दृढ़ श्रद्धा *दृढव्रत* कहलाती है और यह भक्तियोग या दिव्य प्रेमाभक्ति की शुरुआत होती है। समस्त शास्त्रों का भी यही मत है। *भगवद्गीता* का यह सातवाँ अध्याय इसी निश्चय का सारांश है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के सातवें अध्याय "भगवद्ज्ञान" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*

अध्याय आठ



भगवत्प्राप्ति

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥१॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा, किम्—क्या, तत्—वह, ब्रह्म—ब्रह्म, किम्—क्या; अध्यात्मम्—आत्मा, किम्—क्या, कर्म—सकाम कर्म, पुरुष-उत्तम—हे परमपुरुष, अधि-भूतम्—भौतिक जगत्, च—तथा, किम्—क्या; प्रोक्तम्—कहलाता है; अधि-दैवम्—देवतागण, किम्—क्या, उच्यते—कहलाता है।

अर्जुन ने कहा—हे भगवान्! हे पुरुषोत्तम! ब्रह्म क्या है? आत्मा क्या है? सकाम कर्म क्या है? यह भौतिक जगत् क्या है? तथा देवता क्या हैं? कृपा करके यह सब मुझे बताइये।

तात्पर्य : इस अध्याय में भगवान् कृष्ण अर्जुन के द्वारा पूछे गये, "ब्रह्म क्या है?" आदि प्रश्नों का उत्तर देते हैं। भगवान् कर्म, भक्ति तथा योग और शुद्ध भक्ति की भी व्याख्या करते हैं। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि परम सत्य ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के

नाम से जाना जाता है। साथ ही जीवात्मा या जीव को ब्रह्म भी कहते हैं। अर्जुन आत्मा के विषय में भी पूछता है, जिससे शरीर, आत्मा तथा मन का बोध होता है। वैदिक कोश (निरुक्त) के अनुसार आत्मा का अर्थ मन, आत्मा, शरीर तथा इन्द्रियाँ भी होता है।

अर्जुन ने परमेश्वर को पुरुषोत्तम या परम पुरुष कहकर सम्बोधित किया है, जिसका अर्थ यह होता है कि वह ये सारे प्रश्न अपने एक मित्र से नहीं, अपितु परमपुरुष से, उन्हें परम प्रमाण मानकर, पूछ रहा था, जो निश्चित उत्तर दे सकते थे।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ २॥

अधियज्ञः—यज्ञ का स्वामी; कथम्—किस तरह; कः—कौन; अत्र—यहाँ; देहे—शरीर में; अस्मिन्—इस; मधुसूदन—हे मधुसूदन; प्रयाण-काले—मृत्यु के समय; च—तथा; कथम्—कैसे; ज्ञेयः असि—जाने जा सकते हो; नियत-आत्मभिः—आत्मसंयमी के द्वारा।

हे मधुसूदन! यज्ञ का स्वामी कौन है और वह शरीर में कैसे रहता है? और मृत्यु के समय भक्ति में लगे रहने वाले आपको कैसे जान पाते हैं?

तात्पर्य : *अधियज्ञ* का तात्पर्य इन्द्र या विष्णु हो सकता है। विष्णु समस्त देवताओं में, जिनमें ब्रह्मा तथा शिव सम्मिलित हैं, प्रधान देवता हैं और इन्द्र प्रशासक देवताओं में प्रधान हैं। इन्द्र तथा विष्णु दोनों की पूजा यज्ञ द्वारा की जाती है। किन्तु अर्जुन प्रश्न करता है कि वस्तुतः यज्ञ का स्वामी कौन है और भगवान् किस तरह जीव के शरीर के भीतर निवास करते हैं?

अर्जुन ने भगवान् को मधुसूदन कहकर सम्बोधित किया क्योंकि कृष्ण ने एक बार मधु नामक असुर का वध किया था। वस्तुतः ये सारे प्रश्न, जो शंका के रूप में हैं, अर्जुन के मन में नहीं उठने चाहिए थे, क्योंकि अर्जुन एक कृष्णभावनाभावित भक्त था। अतः ये सारी शंकाएँ असुरों के सदृश हैं। चूँकि कृष्ण असुरों के मारने में सिद्धहस्त थे, अतः अर्जुन उन्हें मधुसूदन कहकर सम्बोधित करता है, जिससे कृष्ण उस के मन में उठने वाली समस्त आसुरी शंकाओं को नष्ट कर दें।

इस श्लोक का *प्रयाणकाले* शब्द भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अपने जीवन में हम जो भी करते हैं, उसकी परीक्षा मृत्यु के समय होनी है। अर्जुन उन लोगों के विषय में जो निरन्तर कृष्णभावनामृत में लगे रहते हैं यह जानने के लिए अत्यन्त इच्छुक है कि अन्त समय उनकी क्या दशा होगी? मृत्यु के समय शरीर के सारे कार्य रुक जाते हैं और मन सही दशा में नहीं रहता। इस प्रकार शारीरिक स्थिति बिगड़ जाने से हो सकता है कि मनुष्य परमेश्वर का स्मरण न कर सके। परम भक्त महाराज कुलशेखर प्रार्थना करते हैं, "हे भगवान्! इस समय मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ। अच्छा हो कि मेरी मृत्यु इसी समय हो जाय जिससे मेरा मन रूपी हंस आपके चरणकमलोंरूपी नाल के भीतर प्रविष्ट हो सके।" यह रूपक इसलिए प्रयुक्त किया गया है क्योंकि हंस, जो एक जल पक्षी है, वह कमल के पुष्पों को कुतरने में आनन्द का अनुभव करता है, इस तरह वह कमलपुष्प

के भीतर प्रवेश करना चाहता है। महाराज कुलशेखर भगवान् से कहते हैं, "इस समय मेरा मन स्वस्थ है और मैं भी पूरी तरह स्वस्थ हूँ। यदि मैं आपके चरणकमलों का चिन्तन करते हुए तुरन्त मर जाऊँ तो मुझे विश्वास है कि आपके प्रति मेरी भक्ति पूर्ण हो जायेगी, किन्तु यदि मुझे अपनी सहज मृत्यु की प्रतीक्षा करनी पड़े तो मैं नहीं जानता कि क्या होगा क्योंकि उस समय मेरा शरीर कार्य करना बन्द कर देगा, मेरा गला रुँध जायेगा और मुझे पता नहीं कि मैं आपके नाम का जप कर पाऊँगा या नहीं। अच्छा यही होगा कि मुझे तुरन्त मर जाने दें।" अर्जुन प्रश्न करता है कि ऐसे समय मनुष्य किस तरह कृष्ण के चरणकमलों में अपने मन को स्थिर कर सकता है?

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ ३॥

श्रीभगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अक्षरम्—अविनाशी; ब्रह्म—ब्रह्म; परमम्—दिव्य, स्वभावः—सनातन प्रकृति; अध्यात्मम्—आत्मा; उच्यते—कहलाता है; भूत-भाव-उद्भव-करः—जीवों के भौतिक शरीर को उत्पन्न करने वाला, विसर्गः—सृष्टि; कर्म—सकाम कर्म; संज्ञितः—कहलाता है।

भगवान् ने कहा—अविनाशी और दिव्य जीव ब्रह्म कहलाता है और उसका नित्य स्वभाव अध्यात्म या आत्म कहलाता है। जीवों के भौतिक शरीर से सम्बन्धित गतिविधि कर्म या सकाम कर्म कहलाती है।

तात्पर्य : ब्रह्म अविनाशी तथा नित्य है और इसका विधान कभी भी नहीं बदलता। किन्तु ब्रह्म से भी परे परब्रह्म होता है। ब्रह्म का अर्थ है जीव तथा परब्रह्म का अर्थ भगवान् है। जीव का स्वरूप भौतिक जगत् में उसकी स्थिति से भिन्न होता है। भौतिक चेतना में उसका स्वभाव पदार्थ पर प्रभुत्व जताना है, किन्तु आध्यात्मिक चेतना या कृष्णभावनामृत में उसकी स्थिति परमेश्वर की सेवा करना है। जब जीव भौतिक चेतना में होता है तो उसे इस संसार में विभिन्न प्रकार के शरीर धारण करने पड़ते हैं। यह भौतिक चेतना के कारण कर्म अथवा विविध सृष्टि कहलाता है।

वैदिक साहित्य में जीव को जीवात्मा तथा ब्रह्म कहा जाता है, किन्तु उसे कभी परब्रह्म नहीं कहा जाता। जीवात्मा विभिन्न स्थितियाँ ग्रहण करता है—कभी वह अन्धकार पूर्ण भौतिक प्रकृति से मिल जाता है और पदार्थ को अपना स्वरूप मान लेता है तो कभी वह परा आध्यात्मिक प्रकृति के साथ मिल जाता है। इसीलिए वह परमेश्वर की तटस्था शक्ति कहलाता है। भौतिक या आध्यात्मिक प्रकृति के साथ अपनी पहचान के अनुसार ही उसे भौतिक या आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होता है। भौतिक प्रकृति में वह चौरासी लाख योनियों में से कोई भी शरीर धारण कर सकता है, किन्तु आध्यात्मिक प्रकृति में उसका एक ही शरीर होता है। भौतिक प्रकृति में वह अपने कर्म के अनुसार कभी मनुष्य रूप में प्रकट होता है तो कभी देवता, पशु, पक्षी आदि के रूप में प्रकट होता है। स्वर्गलोक की प्राप्ति तथा वहाँ का सुख भोगने की इच्छा से वह कभी-कभी यज्ञ सम्पन्न करता है, किन्तु जब उसका पुण्य क्षीण हो जाता है तो वह पुनः मनुष्य रूप

में पृथ्वी पर वापस आ जाता है। यह प्रक्रिया कर्म कहलाती है।

छांदोग्य उपनिषद् में वैदिक यज्ञ-अनुष्ठानों का वर्णन मिलता है। यज्ञ की वेदी में पाँच अग्नियों को पाँच प्रकार की आहुतियाँ दी जाती हैं। ये पाँच अग्नियाँ स्वर्गलोक, बादल, पृथ्वी, मनुष्य तथा स्त्री रूप मानी जाती हैं और श्रद्धा, सोम, वर्षा, अन्न तथा वीर्य ये पाँच प्रकार की आहुतियाँ हैं।

यज्ञ प्रक्रिया में जीव अभीष्ट स्वर्गलोकों की प्राप्ति के लिए विशेष यज्ञ करता है और उन्हें प्राप्त करता है। जब यज्ञ का पुण्य क्षीण हो जाता है तो जीव पृथ्वी पर वर्षा के रूप में उतरता है और अन्न का रूप ग्रहण करता है। इस अन्न को मनुष्य खाता है जिससे यह वीर्य में परिणत होता है जो स्त्री के गर्भ में जाकर फिर से मनुष्य का रूप धारण करता है। यह मनुष्य पुनः यज्ञ करता है और पुनः वही चक्र चलता है। इस प्रकार जीव शाश्वत रीति से आता और जाता रहता है। किन्तु कृष्णभावनाभावित पुरुष ऐसे यज्ञों से दूर रहता है। वह सीधे कृष्णभावनामृत ग्रहण करता है और इस प्रकार ईश्वर के पास वापस जाने की तैयारी करता है।

भगवद्गीता के निर्विशेषवादी भाष्यकार बिना कारण के कल्पना करते हैं कि इस जगत् में ब्रह्म जीव का रूप धारण करता है और इसके समर्थन में वे *गीता* के पँद्रहवें अध्याय के सातवें श्लोक को उद्धृत करते हैं। किन्तु इस श्लोक में भगवान् जीव को "मेरा शाश्वत अंश" भी कहते हैं। भगवान् का यह अंश, जीव, भले ही भौतिक जगत् में आ गिरता है, किन्तु परमेश्वर (अच्युत) कभी नीचे नहीं गिरता। अतः यह विचार कि ब्रह्म जीव का रूप धारण करता है ग्राह्य नहीं है। यह स्मरण रखना होगा कि वैदिक साहित्य में ब्रह्म (जीवात्मा) को परब्रह्म (परमेश्वर) से पृथक् माना जाता है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ ४॥

अधिभूतम्–भौतिक जगत्; **क्षरः**–निरन्तर परिवर्तनशील; **भावः**–प्रकृति; **पुरुषः**–सूर्य, चन्द्र जैसे समस्त देवताओं सहित विराट रूप; **च**–तथा; **अधिदैवतम्**–अधिदैव नामक; **अधियज्ञः**–परमात्मा; **अहम्**–मैं (कृष्ण); **एव**–निश्चय ही; **अत्र**–इस; **देहे**–शरीर में; **देह-भृताम्**–देहधारियों में; **वर**–हे श्रेष्ठ।

हे देहधारियों में श्रेष्ठ! निरन्तर परिवर्तनशील यह भौतिक प्रकृति अधिभूत (भौतिक अभिव्यक्ति) कहलाती है। भगवान् का विराट रूप, जिसमें सूर्य तथा चन्द्र जैसे समस्त देवता सम्मिलित हैं, अधिदैव कहलाता है। तथा प्रत्येक देहधारी के हृदय में परमात्मा स्वरूप स्थित मैं परमेश्वर अधियज्ञ (यज्ञ का स्वामी) कहलाता हूँ।

तात्पर्य : यह भौतिक प्रकृति निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। सामान्यतः भौतिक शरीरों को छह अवस्थाओं से निकलना होता है–वे उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं, कुछ काल तक रहते हैं, कुछ गौण पदार्थ उत्पन्न करते हैं, क्षीण होते हैं और अन्त में विलुप्त हो जाते हैं। यह भौतिक प्रकृति *अधिभूत* कहलाती है। यह किसी निश्चित समय में उत्पन्न की जाती है और किसी निश्चित समय में विनष्ट कर दी जाती है। परमेश्वर के विराट

स्वरूप की धारणा, जिसमें सारे देवता तथा उनके लोक सन्निहित हैं, *अधिदैवत* कहलाती है। प्रत्येक शरीर में आत्मा सहित परमात्मा का वास होता है, जो भगवान् कृष्ण का अंश स्वरूप है। यह परमात्मा *अधियज्ञ* कहलाता है और हृदय में स्थित होता है। इस श्लोक के प्रसंग में *एव* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसके द्वारा भगवान् बल देकर कहते हैं कि परमात्मा उनसे भिन्न नहीं है। यह परमात्मा प्रत्येक आत्मा के पास आसीन है और आत्मा के कार्यकलापों का साक्षी है तथा आत्मा की विभिन्न चेतनाओं का उद्गम है। यह परमात्मा प्रत्येक आत्मा को मुक्त भाव से कार्य करने की छूट देता है और उसके कार्यों पर निगरानी रखता है। परमेश्वर के इन विविध स्वरूपों के सारे कार्य उस कृष्णभावनाभावित भक्त को स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं, जो भगवान् की दिव्यसेवा में लगा रहता है। *अधिदैवत* नामक भगवान् के विराट स्वरूप का चिन्तन उन नवदीक्षितों के लिए है जो भगवान् के परमात्मा स्वरूप तक नहीं पहुँच पाते। अतः उन्हें परामर्श दिया जाता है कि वे उस विराट पुरुष का चिन्तन करें जिसके पाँव अधोलोक हैं, जिसके नेत्र सूर्य तथा चन्द्र हैं और जिसका सिर उच्चलोक है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥५॥

अन्त-काले—मृत्यु के समय, च—भी; माम्—मुझको, एव—निश्चय ही, स्मरन्—स्मरण करते हुए; मुक्त्वा—त्याग कर; कलेवरम्—शरीर को, यः—जो; प्रयाति—जाता है; सः—वह; मत्-भावम्—मेरे स्वभाव को; याति—प्राप्त करता है; न—नहीं; अस्ति—है; अत्र—यहाँ; संशयः—सन्देह।

और जीवन के अन्त में जो केवल मेरा स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करता है, वह तुरन्त मेरे स्वभाव को प्राप्त करता है। इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है।

तात्पर्य : इस श्लोक में कृष्णभावनामृत की महत्ता वर्णित की गई है। जो कोई भी कृष्णभावनामृत में अपना शरीर छोड़ता है, वह तुरन्त परमेश्वर के दिव्य स्वभाव (*मद्भाव*) को प्राप्त होता है। परमेश्वर शुद्धातिशुद्ध है, अतः जो व्यक्ति कृष्णभावनाभावित होता है, वह भी शुद्धातिशुद्ध होता है। *स्मरन्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। श्रीकृष्ण का स्मरण उस अशुद्ध जीव से नहीं हो सकता जिसने भक्ति में रहकर कृष्णभावनामृत का अभ्यास नहीं किया। अतः मनुष्य को चाहिए कि जीवन के प्रारम्भ में ही कृष्णभावनामृत का अभ्यास करे। यदि जीवन के अन्त में सफलता वांछनीय है तो कृष्ण का स्मरण करना अनिवार्य है। अतः मनुष्य को निरन्तर *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—इस महामन्त्र का जप करना चाहिए। भगवान् चैतन्य ने उपदेश दिया है कि मनुष्य को वृक्ष के समान सहिष्णु होना चाहिए (*तरोरिव सहिष्णुना*)। *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—का जप करने वाले व्यक्ति को अनेक व्यवधानों का सामना करना पड़ सकता है। तो भी इस महामन्त्र का जप करते रहना चाहिए, जिससे जीवन के अन्त समय कृष्णभावनामृत का पूरा-पूरा लाभ प्राप्त हो सके।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ६॥

यम् यम्–जिस; वा अपि–किसी भी; स्मरन्–स्मरण करते हुए; भावम्–स्वभाव को; त्यजति–परित्याग करता है; अन्ते–अन्त में; कलेवरम्–शरीर को; तम् तम्–वैसा ही; एव–निश्चय ही; एति–प्राप्त करता है; कौन्तेय–हे कुन्तीपुत्र; सदा–सदैव; तत्–उस; भाव–भाव; भावितः–स्मरण करता हुआ।

हे कुन्तीपुत्र! शरीर त्यागते समय मनुष्य जिस-जिस भाव का स्मरण करता है, वह उस उस भाव को निश्चित रूप से प्राप्त होता है।

तात्पर्य : यहाँ पर मृत्यु के समय अपना स्वभाव वदलने की विधि का वर्णन है। जो व्यक्ति अन्त समय कृष्ण का चिन्तन करते हुए शरीर त्याग करता है, उसे परमेश्वर का दिव्य स्वभाव प्राप्त होता है। किन्तु यह सत्य नहीं है कि यदि कोई मृत्यु के समय कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ सोचता है तो उसे भी दिव्य अवस्था प्राप्त होती है। हमें इस वात पर विशेष ध्यान देना चाहिए। तो फिर कोई मन की सही अवस्था में किस प्रकार मरे? महापुरुष होते हुए भी महाराज भरत ने मृत्यु के समय एक हिरन का चिन्तन किया, अतः अगले जीवन में हिरन के शरीर में उनका देहान्तरण हुआ। यद्यपि हिरन के रूप में उन्हें अपने विगत कर्मों की स्मृति थी, किन्तु उन्हें पशु शरीर धारण करना ही पड़ा। निस्सन्देह मनुष्य के जीवन भर के विचार संचित होकर मृत्यु के समय उसके विचारों को प्रभावित करते हैं, अतः इस जीवन से उसका अगला जीवन वनता है। अगर कोई इस जीवन में सतोगुणी होता है ओर निरन्तर कृष्ण का चिन्तन करता है तो सम्भावना यही है कि मृत्यु के समय उसे कृष्ण का स्मरण वना रहे। इससे उसे कृष्ण के दिव्य स्वभाव को प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। यदि कोई दिव्यरूप से कृष्ण की सेवा में लीन रहता है तो उसका अगला शरीर दिव्य (आध्यात्मिक) ही होगा, भौतिक नहीं। अतः जीवन के अन्त समय अपने स्वभाव को सफलतापूर्वक वदलने के लिए *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे* का जप करना सर्वश्रेष्ठ विधि है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥ ७॥

तस्मात्–अतएव; सर्वेषु–समस्त; कालेषु–कालों में; माम्–मुझको; अनुस्मर–स्मरण करते रहो; युध्य–युद्ध करो; च–भी; मयि–मुझमें; अर्पित–शरणागत होकर; मनः–मन; बुद्धिः–वुद्धि; माम्–मुझको; एव–निश्चय ही; एष्यसि–प्राप्त करोगे; असंशयः–निस्सन्देह ही।

अतएव, हे अर्जुन! तुम्हें सदैव कृष्ण रूप में मेरा चिन्तन करना चाहिए और साथ ही युद्ध करने के कर्तव्य को भी पूरा करना चाहिए। अपने कर्मों को मुझे समर्पित करके तथा अपने मन एवं वुद्धि को मुझमें स्थिर करके तुम निश्चित रूप से मुझे प्राप्त कर सकोगे।

तात्पर्य : अर्जुन को दिया गया यह उपदेश भौतिक कार्यों में व्यस्त रहने वाले समस्त व्यक्तियों के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण है। भगवान् यह नहीं कहते कि कोई अपने कर्तव्यों को त्याग दे। मनुष्य उन्हें करते हुए साथ-साथ *हरे कृष्ण* का जप करके कृष्ण का चिन्तन कर सकता है। इससे मनुष्य भौतिक कल्मष से मुक्त हो जायेगा और अपने मन तथा बुद्धि को कृष्ण में प्रवृत्त करेगा। कृष्ण का नाम-जप करने से मनुष्य परमधाम कृष्णलोक को प्राप्त होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥८॥

अभ्यास-योग–अभ्यास से; **युक्तेन**–ध्यान में लगे रहकर; **चेतसा**–मन तथा बुद्धि से, **न अन्य गामिना**–बिना विचलित हुए; **परमम्**–परम, **पुरुषम्**–भगवान् को; **दिव्यम्**–दिव्य, **याति**–प्राप्त करता है; **पार्थ**–हे पृथापुत्र, **अनुचिन्तयन्**–निरन्तर चिन्तन करता हुआ।

हे पार्थ! जो व्यक्ति मेरा स्मरण करने में अपना मन निरन्तर लगाये रखकर अविचलित भाव से भगवान् के रूप में मेरा ध्यान करता है, वह मुझको अवश्य ही प्राप्त होता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् कृष्ण अपने स्मरण किये जाने की महत्ता पर बल देते हैं। महामन्त्र *हरे कृष्ण* का जप करने से कृष्ण की स्मृति हो आती है। भगवान् के शब्दोच्चार (ध्वनि) के जप तथा श्रवण के अभ्यास से मनुष्य के कान, जीभ तथा मन व्यस्त रहते हैं। इस ध्यान का अभ्यास अत्यन्त सुगम है और इससे परमेश्वर को प्राप्त करने में सहायता मिलती है। *पुरुषम्* का अर्थ भोक्ता है। यद्यपि सारे जीव भगवान् की तटस्था शक्ति हैं, किन्तु वे भौतिक कल्मष से युक्त हैं। वे स्वयं को भोक्ता मानते हैं, जबकि वे होते नहीं। यहाँ पर स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् ही अपने विभिन्न स्वरूपों तथा नारायण, वासुदेव आदि स्वांशों के रूप में परम भोक्ता हैं।

भक्त *हरे कृष्ण* का जप करके अपनी पूजा के लक्ष्य परमेश्वर का, उनके किसी भी रूप नारायण, कृष्ण, राम आदि का निरन्तर चिन्तन कर सकता है। ऐसा करने से वह शुद्ध हो जाता है और निरन्तर जप करते रहने से जीवन के अन्त में वह भगवद्धाम को जाता है। योग अन्त:करण के परमात्मा का ध्यान है। इसी प्रकार *हरे कृष्ण* के जप द्वारा मनुष्य अपने मन को परमेश्वर में स्थिर करता है। मन चंचल है, अत: आवश्यक है कि मन को यत्नपूर्वक कृष्ण-चिन्तन में लगाया जाय। प्राय: उस एक प्रकार के कीट का दृष्टान्त दिया जाता है जो तितली बनना चाहता है और वह इसी जीवन में तितली बन जाता है। इसी प्रकार यदि हम निरन्तर कृष्ण का चिन्तन करते रहें, तो यह निश्चित है कि हम जीवन के अन्त में कृष्ण जैसा शरीर प्राप्त कर सकेंगे।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥९॥

कविम्–सर्वज्ञ; **पुराणम्**–प्राचीनतम, पुरातन; **अनुशासितारम्**–नियन्ता; **अणोः**–अणु की तुलना में; **अणीयांसम्**–लघुतर; **अनुस्मरेत्**–सदैव सोचता है; **यः**–जो; **सर्वस्य**–हर वस्तु का; **धातारम्**–पालक; **अचिन्त्य**–अकल्पनीय; **रूपम्**–जिसका स्वरूप; **आदित्य-वर्णम्**–सूर्य के समान प्रकाशमान; **तमसः**–अंधकार से; **परस्तात्**–दिव्य, परे।

मनुष्य को चाहिए कि परमपुरुष का ध्यान सर्वज्ञ, पुरातन, नियन्ता, लघुतम से भी लघुतर, प्रत्येक का पालनकर्ता, समस्त भौतिकबुद्धि से परे, अचिन्त्य तथा नित्य पुरुष के रूप में करे। वे सूर्य की भाँति तेजवान हैं और इस भौतिक प्रकृति से परे, दिव्य रूप हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में परमेश्वर के चिन्तन की विधि का वर्णन हुआ है। सबसे प्रमुख बात यह है कि वे निराकार या शून्य नहीं हैं। कोई निराकार या शून्य का चिन्तन कैसे कर सकता है? यह अत्यन्त कठिन है। किन्तु कृष्ण के चिन्तन की विधि अत्यन्त सुगम है और तथ्य रूप में यहाँ वर्णित है। पहली बात तो यह है कि भगवान् पुरुष हैं–हम राम तथा कृष्ण को पुरुष रूप में सोचते हैं। चाहे कोई राम का चिन्तन करे या कृष्ण का, वे जिस तरह के हैं उसका वर्णन *भगवद्गीता* के इस श्लोक में किया गया है। भगवान् कवि हैं अर्थात् वे भूत, वर्तमान तथा भविष्य के ज्ञाता हैं, अतः वे सब कुछ जानने वाले हैं। वे प्राचीनतम पुरुष हैं क्योंकि वे समस्त वस्तुओं के उद्गम हैं, प्रत्येक वस्तु उन्हीं से उत्पन्न है। वे ब्रह्माण्ड के परम नियन्ता भी हैं। वे मनुष्यों के पालक तथा शिक्षक हैं। वे अणु से भी सूक्ष्म हैं। जीवात्मा बाल के अग्र भाग के दस हजारवें अंश के बराबर है, किन्तु भगवान् अचिन्त्य रूप से इतने लघु हैं कि वे इस अणु के भी हृदय में प्रविष्ट रहते हैं। इसीलिए वे लघुतम से भी लघुतर कहलाते हैं। परमेश्वर के रूप में वे परमाणु में तथा लघुतम के भी हृदय में प्रवेश कर सकते हैं और परमात्मा रूप में उसका नियन्त्रण करते हैं। इतना लघु होते हुए भी वे सर्वव्यापी हैं और सबों का पालन करने वाले हैं। उनके द्वारा इन लोकों का धारण होता है। प्रायः हम आश्चर्य करते हैं कि ये विशाल लोक किस प्रकार वायु में तैर रहे हैं। यहाँ यह बताया गया है कि परमेश्वर अपनी अचिन्त्य शक्ति द्वारा इन समस्त विशाल लोकों तथा आकाशगंगाओं को धारण किए हुए हैं। इस प्रसंग में *अचिन्त्य* शब्द अत्यन्त सार्थक है। ईश्वर की शक्ति हमारी कल्पना या विचार शक्ति के परे है, इसीलिए *अचिन्त्य* कहलाती है। इस बात का खंडन कौन कर सकता है? वे इस भौतिक जगत् में व्याप्त हैं फिर भी इससे परे हैं। हम इसी भौतिक जगत् को ठीक-ठीक नहीं समझ पाते जो आध्यात्मिक जगत् की तुलना में नगण्य है तो फिर हम कैसे जान सकते हैं कि इसके परे क्या है? *अचिन्त्य* का अर्थ है इस भौतिक जगत् से परे जिसे हमारा तर्क, नीतिशास्त्र तथा दार्शनिक चिन्तन छू नहीं पाता और जो अकल्पनीय है। अतः बुद्धिमान मनुष्यों को चाहिए कि व्यर्थ के तर्कों तथा चिन्तन से दूर रहकर वेदों, *भगवद्गीता* तथा *भागवत* जैसे शास्त्रों में जो कुछ कहा गया है, उसे स्वीकार कर लें और उनके द्वारा सुनिश्चित किए गए नियमों का पालन करें। इससे ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥१०॥

प्रयाण-काले–मृत्यु के समय; मनसा–मन से; अचलेन–अचल, दृढ़; भक्त्या–भक्ति से; युक्तः–लगा हुआ; योग-बलेन–योग शक्ति के द्वारा; च–भी; एव–निश्चय ही; भ्रुवोः–दोनों भौहों के; मध्ये–मध्य में; प्राणम्–प्राण को; आवेश्य–स्थापित करके; सम्यक्–पूर्णतया; सः–वह; तम्–उस; परम्–दिव्य; पुरुषम्–भगवान् को; उपैति–प्राप्त करता है; दिव्यम्–दिव्य भगवद्धाम को।

मृत्यु के समय जो व्यक्ति अपने प्राण को भौंहों के मध्य स्थिर कर लेता है और योगशक्ति के द्वारा अविचलित मन से पूर्णभक्ति के साथ परमेश्वर के स्मरण में अपने को लगाता है, वह निश्चित रूप से भगवान् को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है कि मृत्यु के समय मन को भगवान् की भक्ति में स्थिर करना चाहिए। जो लोग योगाभ्यास करते हैं उनके लिए संस्तुति की गई है कि वे प्राण को भौंहों के बीच (आज्ञा चक्र)में ले आयें। यहाँ पर षट्चक्रयोग के अभ्यास का प्रस्ताव है, जिसमें छः चक्रों पर ध्यान लगाया जाता है। परन्तु निरन्तर कृष्णभावनामृत में लीन रहने के कारण शुद्ध भक्त भगवत्कृपा से मृत्यु के समय योगाभ्यास के बिना भगवान् का स्मरण कर सकता है। इसकी व्याख्या चौदहवें श्लोक में की गई है।

इस श्लोक में *योगबलेन* शब्द का विशिष्ट प्रयोग महत्त्वपूर्ण है क्योंकि योग के अभाव में चाहे वह षट्चक्रयोग हो या भक्तियोग–मनुष्य कभी भी मृत्यु के समय इस दिव्य अवस्था (भाव) को प्राप्त नहीं होता। कोई भी मृत्यु के समय परमेश्वर का सहसा स्मरण नहीं कर पाता, उसे किसी न किसी योग का, विशेषतया भक्तियोग का अभ्यास होना चाहिए। चूँकि मृत्यु के समय मनुष्य का मन अत्यधिक विचलित रहता है, अतः अपने जीवन में मनुष्य को योग के माध्यम से अध्यात्म का अभ्यास करना चाहिए।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥११॥

यत्–जिस; अक्षरम्–अक्षर ॐ को; वेद-विदः–वेदों के ज्ञाता; वदन्ति–कहते हैं; विशन्ति–प्रवेश करते हैं; यत्–जिसमें; यतयः–बड़े-बड़े मुनि; वीत-रागाः–संन्यास-आश्रम में रहने वाले संन्यासी; यत्–जो; इच्छन्तः–इच्छा करने वाले; *ब्रह्मचर्यम्–ब्रह्मचर्य का; चरन्ति–अभ्यास करते हैं; तत्–उस;* ते–तुमको; पदम्–पद को; संग्रहेण–संक्षेप में; प्रवक्ष्ये–मैं बतलाऊँगा।

जो वेदों के ज्ञाता हैं, जो ओंकार का उच्चारण करते हैं और जो संन्यास आश्रम के बड़े-बड़े मुनि हैं, वे ब्रह्म में प्रवेश करते हैं। ऐसी सिद्धि की इच्छा करने वाले ब्रह्मचर्यव्रत का अभ्यास करते हैं। अब मैं तुम्हें वह विधि बताऊँगा, जिससे कोई भी व्यक्ति मुक्ति-लाभ कर सकता है।

तात्पर्य : श्रीकृष्ण अर्जुन के लिए षट्चक्रयोग की विधि का अनुमोदन कर चुके हैं, जिसमें प्राण को भौंहों के मध्य स्थिर करना होता है। यह मानकर कि हो सकता है अर्जुन को

पट्चक्रयोग अभ्यास न आता हो, कृष्ण अगले श्लोकों में इसकी विधि वताते हैं। भगवान् कहते हैं कि व्रह्म यद्यपि अद्वितीय है, किन्तु उसके अनेक स्वरूप होते हैं। विशेपतया निर्विशेपवादियों के लिए *अक्षर* या *ओंकार* व्रह्म है। कृष्ण यहाँ पर निर्विशेप व्रह्म के विपय में वता रहे हैं जिसमें संन्यासी प्रवेश करते हैं।

ज्ञान की वैदिक पद्धति में छात्रों को प्रारम्भ से गुरु के पास रहने से व्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए ओंकार का उच्चारण तथा परम निर्विशेप व्रह्म की शिक्षा दी जाती है। इस प्रकार वे व्रह्म के दो स्वरूपों से परिचित होते हैं। यह प्रथा छात्रों के आध्यात्मिक जीवन के विकास के लिए अत्यावश्यक है, किन्तु इस समय ऐसा व्रह्मचर्य जीवन (अविवाहित जीवन) विता पाना विल्कुल सम्भव नहीं है। विश्व का सामाजिक ढाँचा इतना वदल चुका है कि छात्र जीवन के प्रारम्भ से व्रह्मचर्य जीवन विताना संभव नहीं है। यद्यपि विश्व में ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के लिए अनेक संस्थाएँ हैं, किन्तु ऐसी मान्यता प्राप्त एक भी संस्था नहीं है जहाँ व्रह्मचर्य के सिद्धान्तों में शिक्षा प्रदान की जा सके। व्रह्मचर्य के विना आध्यात्मिक जीवन में उन्नति कर पाना अत्यन्त कठिन है। अतः इस कलियुग के लिए शास्त्रों के आदेशानुसार भगवान् चैतन्य ने घोषणा की है कि भगवान् कृष्ण के पवित्र नाम—*हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—के जप के अतिरिक्त परमेश्वर के साक्षात्कार का कोई अन्य उपाय नहीं है।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥१२॥

सर्व-द्वाराणि—शरीर के समस्त द्वारों को; **संयम्य**—वश में करके; **मनः**—मन को; **हृदि**—हृदय में; **निरुध्य**—वन्द कर; **च**—भी; **मूर्ध्नि**—सिर पर; **आधाय**—स्थिर करके; **आत्मनः**—अपने; **प्राणम्**—प्राणवायु को; **आस्थितः**—स्थित; **योग-धारणाम्**—योग की स्थिति।

समस्त ऐन्द्रिय क्रियाओं से विरक्ति को योग की स्थिति (योगधारणा) कहा जाता है। इन्द्रियों के समस्त द्वारों को वन्द करके तथा मन को हृदय में और प्राणवायु को सिर पर केन्द्रित करके मनुष्य अपने को योग में स्थापित करता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में वताई गई विधि से योगाभ्यास के लिए सवसे पहले इन्द्रियभोग के सारे द्वार वन्द करने होते हैं। यह *प्रत्याहार* अथवा इन्द्रियविपयों से इन्द्रियों को हटाना कहलाता है। इसमें ज्ञानेन्द्रियों—नेत्र, कान, नाक, जीभ तथा स्पर्श को पूर्णतया वश में करके उन्हें इन्द्रियतृप्ति में लिप्त होने नहीं दिया जाता। इस प्रकार मन हृदय में स्थित परमात्मा पर केन्द्रित होता है और प्राणवायु को सिर के ऊपर तक चढ़ाया जाता है। इसका विस्तृत वर्णन छठे अध्याय में हो चुका है। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है अव यह विधि व्यावहारिक नहीं है। सवसे उत्तम विधि तो कृष्णभावनामृत है। यदि कोई भक्ति में अपने मन को कृष्ण में स्थिर करने में समर्थ होता है, तो उसके लिए अविचलित दिव्य समाधि में वने रहना सुगम हो जाता है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥१३॥

ॐ–ओंकार; इति–इस तरह, एक-अक्षरम्–एक अक्षर; ब्रह्म–परब्रह्म का; व्याहरन्–उच्चारण करते हुए; माम्–मुझको (कृष्ण को); अनुस्मरन्–स्मरण करते हुए; यः–जो; प्रयाति–जाता है; त्यजन्–छोड़ते हुए, देहम्–इस शरीर को, सः–वह; याति–प्राप्त करता है; परमाम्–परम; गतिम्–गन्तव्य, लक्ष्य।

इस योगाभ्यास में स्थित होकर तथा अक्षरों के परम संयोग यानी ओंकार का उच्चारण करते हुए यदि कोई भगवान् का चिन्तन करता है और अपने शरीर का त्याग करता है, तो वह निश्चित रूप से आध्यात्मिक लोकों को जाता है।

तात्पर्य : यहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि ओम्, ब्रह्म तथा भगवान् कृष्ण परस्पर भिन्न नहीं हैं। ओम्, कृष्ण की निर्विशेष ध्वनि है, लेकिन *हरे कृष्ण* में यह ओम् सन्निहित है। *इस युग के लिए हरे कृष्ण मन्त्र जप की स्पष्ट संस्तुति है। अतः यदि कोई–हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*–इस मन्त्र का जप करते हुए शरीर त्यागता है तो वह अपने अभ्यास के गुणानुसार आध्यात्मिक लोकों में से किसी एक लोक को जाता है। कृष्ण के भक्त कृष्णलोक या गोलोक वृन्दावन को जाते हैं। *सगुणवादियों के लिए आध्यात्मिक आकाश में अन्य अनेक लोक हैं, जिन्हें वैकुण्ठ* लोक कहते हैं, किन्तु निर्विशेषवादी तो ब्रह्मज्योति में ही रह जाते हैं।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥१४॥

अनन्य-चेताः–अविचलित मन से, सततम्–सदैव, यः–जो, माम्–मुझ (कृष्ण) को, स्मरति–स्मरण करता है, नित्यशः–नियमित रूप से; तस्य–उस, अहम्–मैं हूँ; सु-लभः–सुलभ, सरलता से प्राप्य, पार्थ–हे पृथापुत्र; नित्य–नियमित रूप से; युक्तस्य–लगे हुए, योगिनः–भक्त के लिए।

हे अर्जुन! जो अनन्य भाव से निरन्तर मेरा स्मरण करता है उसके लिए मैं सुलभ हूँ, क्योंकि वह मेरी भक्ति में प्रवृत्त रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में उन निष्काम भक्तों द्वारा प्राप्तव्य अन्तिम गन्तव्य का वर्णन है जो भक्तियोग के द्वारा भगवान् की सेवा करते हैं। पिछले श्लोकों में चार प्रकार के भक्तों का वर्णन हुआ है–आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी। मुक्ति की विभिन्न विधियों का भी वर्णन हुआ है–कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा हठयोग। इन योग पद्धतियों के नियमों में कुछ न कुछ भक्ति मिली रहती है, लेकिन इस श्लोक में शुद्ध भक्तियोग का वर्णन है, जिसमें ज्ञान, कर्म या हठ का मिश्रण नहीं होता। जैसा कि *अनन्यचेताः* शब्द से सूचित होता है, भक्तियोग में भक्त कृष्ण के अतिरिक्त और कोई इच्छा नहीं करता। शुद्धभक्त न तो स्वर्गलोक जाना चाहता है, न ब्रह्मज्योति से तादात्म्य या मोक्ष या भवबन्धन से मुक्ति ही चाहता है। शुद्धभक्त किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करता। चैतन्यचरितामृत में शुद्धभक्त को निष्काम कहा गया है। उसे ही पूर्णशान्ति का लाभ होता है, उन्हें नहीं जो

स्वार्थ में लगे रहते हैं। एक ओर जहाँ ज्ञानयोगी, कर्मयोगी या हठयोगी का अपना-अपना स्वार्थ रहता है, वहीं पूर्णभक्त में भगवान् को प्रसन्न करने के अतिरिक्त अन्य कोई इच्छा नहीं होती। अतः भगवान् कहते हैं कि जो एकनिष्ठ भाव से उनकी भक्ति में लगा रहता है, उसे वे सरलता से प्राप्त होते हैं।

शुद्धभक्त सदैव कृष्ण के विभिन्न रूपों में से किसी एक की भक्ति में लगा रहता है। कृष्ण के अनेक स्वांश तथा अवतार हैं, यथा राम तथा नृसिंह जिनमें से भक्त किसी एक रूप को चुनकर उसकी प्रेमाभक्ति में मन को स्थिर कर सकता है। ऐसे भक्त को उन अनेक समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता, जो अन्य योग के अभ्यासकर्ताओं को झेलनी पड़ती हैं। भक्तियोग अत्यन्त सरल, शुद्ध तथा सुगम है। इसका शुभारम्भ *हरे कृष्ण* जप से किया जा सकता है। भगवान् सबों पर कृपालु हैं, किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है जो अनन्य भाव से उनकी सेवा करते हैं वे उनके ऊपर विशेष कृपालु रहते हैं। भगवान् ऐसे भक्तों की सहायता अनेक प्रकार से करते हैं। जैसा कि वेदों में (*कठोपनिषद्* १.२-२३) कहा गया है—*यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्*—जिसने पूरी तरह से भगवान् की शरण ले ली है और जो उनकी भक्ति में लगा हुआ है वही भगवान् को यथारूप में समझ सकता है। तथा *गीता* में भी (१०.१०) कहा गया है—*ददामि बुद्धियोगं तम्*—ऐसे भक्त को भगवान् पर्याप्त बुद्धि प्रदान करते हैं, जिससे वह उन्हें भगवद्धाम में प्राप्त कर सके।

शुद्धभक्त का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह देश अथवा काल का विचार किये बिना अनन्य भाव से कृष्ण का ही चिन्तन करता रहता है। उसको किसी तरह का व्यवधान नहीं होना चाहिए। उसे कहीं भी और किसी भी समय अपना सेवा कार्य करते रहने में समर्थ होना चाहिए। कुछ लोगों का कहना है कि भक्तों को वृन्दावन जैसे पवित्र स्थानों में, या किसी पवित्र नगर में, जहाँ भगवान् रह चुके हैं, रहना चाहिए, किन्तु शुद्धभक्त कहीं भी रहकर अपनी भक्ति से वृन्दावन जैसा वातावरण उत्पन्न कर सकता है। श्री अद्वैत ने चैतन्य महाप्रभु से कहा था, "आप जहाँ भी हैं, हे प्रभु! वहीं वृन्दावन है।"

जैसा कि *सततम्* तथा *नित्यशः* शब्दों से सूचित होता है, शुद्धभक्त निरन्तर कृष्ण का ही स्मरण करता है और उन्हीं का ध्यान करता है। ये शुद्धभक्त के गुण हैं, जिनके लिए भगवान् सहज सुलभ हैं। *गीता* समस्त योग पद्धतियों में से भक्तियोग की ही संस्तुति करती है। सामान्यतया भक्तियोगी पाँच प्रकार से भक्ति में लगे रहते हैं— (१) शान्त भक्त, जो उदासीन रहकर भक्ति में युक्त होते हैं, (२) दास्य भक्त, जो दास के रूप में भक्ति में युक्त होते हैं, (३) सख्य भक्त, जो सखा रूप में भक्ति में युक्त होते हैं, (४) वात्सल्य भक्त, जो माता-पिता की भाँति भक्ति में युक्त होते हैं तथा (५) माधुर्य भक्त, जो परमेश्वर के साथ दाम्पत्य प्रेमी की भाँति भक्ति में युक्त होते हैं। शुद्धभक्त इनमें से किसी में भी परमेश्वर की प्रेमाभक्ति में युक्त होता है और उन्हें कभी नहीं भूल पाता, जिससे भगवान् उसे सरलता से प्राप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार शुद्धभक्त क्षणभर के लिए भी भगवान् को नहीं भूलता, उसी प्रकार भगवान् भी अपने शुद्धभक्त को क्षणभर के लिए भी नहीं भूलते। *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—इस महामन्त्र के कीर्तन की कृष्णभावनाभावित विधि का यही सबसे बड़ा आशीर्वाद है।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥१५॥

माम्–मुझको, उपेत्य–प्राप्त करके, पुनः–फिर, जन्म–जन्म; दुःख-आलयम्–दुखों के स्थान को; अशाश्वतम्–क्षणिक; न–कभी नहीं; आप्नुवन्ति–प्राप्त करते हैं, महा-आत्मानः–महान पुरुष, संसिद्धिम्–सिद्धि को, परमाम्–परम, गताः–प्राप्त हुए।

मुझे प्राप्त करके महापुरुष, जो भक्तियोगी हैं, कभी भी दुखों से पूर्ण इस अनित्य जगत् में नहीं लौटते, क्योंकि उन्हें परम सिद्धि प्राप्त हो चुकी होती है।

तात्पर्य : चूँकि यह नश्वर जगत् जन्म, जरा तथा मृत्यु के क्लेशों से पूर्ण है, अतः जो परम सिद्धि प्राप्त करता है और परमलोक कृष्णलोक या गोलोक वृन्दावन को प्राप्त होता है, वह वहाँ से कभी वापस नहीं आना चाहता। इस परमलोक को वेदों में *अव्यक्त, अक्षर* तथा *परमा गति* कहा गया है। दूसरे शब्दों में, यह लोक हमारी भौतिक दृष्टि से परे है और अवर्णनीय है, किन्तु यह चरमलक्ष्य है, जो महात्माओं का गन्तव्य है। महात्मा अनुभवसिद्ध भक्तों से दिव्य सन्देश प्राप्त करते हैं और इस प्रकार वे धीरे-धीरे कृष्णभावनामृत में भक्ति विकसित करते हैं और दिव्यसेवा में इतने लीन हो जाते हैं कि वे न तो किसी भौतिक लोक में जाना चाहते हैं, यहाँ तक कि न ही वे किसी आध्यात्मिक लोक में जाना चाहते हैं। वे केवल कृष्ण तथा कृष्ण का सामीप्य चाहते हैं, अन्य कुछ नहीं। यही जीवन की सबसे बड़ी सिद्धि है। इस श्लोक में भगवान् कृष्ण के सगुणवादी भक्तों का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। ये भक्त कृष्णभावनामृत में जीवन की परमसिद्धि प्राप्त करते हैं। दूसरे शब्दों में, वे सर्वोच्च आत्माएँ हैं।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥१६॥

आ-ब्रह्म-भुवनात्–ब्रह्मलोक तक, लोकाः–सारे लोक, पुनः–फिर, आवर्तिनः–लौटने वाले, अर्जुन–हे अर्जुन, माम्–मुझको, उपेत्य–पाकर, तु–लेकिन, कौन्तेय–हे कुन्तीपुत्र, पुनः जन्म–पुनर्जन्म; न–कभी नहीं, विद्यते–होता है।

इस जगत् में सर्वोच्च लोक से लेकर निम्नतम सारे लोक दुखों के घर हैं, जहाँ जन्म तथा मरण का चक्कर लगा रहता है। किन्तु हे कुन्तीपुत्र! जो मेरे धाम को प्राप्त कर लेता है, वह फिर कभी जन्म नहीं लेता।

तात्पर्य : समस्त योगियों को चाहे वे कर्मयोगी हों, ज्ञानयोगी या हठयोगी–अन्तत भक्तियोग या कृष्णभावनामृत में भक्ति की सिद्धि प्राप्त करनी होती है, तभी वे कृष्ण के दिव्य धाम को जा सकते हैं, जहाँ से वे फिर कभी वापस नहीं आते। किन्तु जो सर्वोच्च भौतिक लोकों अर्थात् देवलोकों को प्राप्त होता है, उसका पुनर्जन्म होता रहता है। जिस प्रकार इस पृथ्वी के लोग उच्चलोकों को जाते हैं, उसी तरह ब्रह्मलोक, चन्द्रलोक तथा इन्द्रलोक जैसे उच्चतर लोकों से लोग पृथ्वी पर गिरते रहते हैं। *छान्दोग्य उपनिषद्* में जिस पंचाग्नि विद्या का विधान है, उससे मनुष्य ब्रह्मलोक को प्राप्त कर सकता है, किन्तु

यदि ब्रह्मलोक में वह कृष्णभावनामृत का अनुशीलन नहीं करता, तो उसे पृथ्वी पर फिर से लौटना पड़ता है। जो उच्चतर लोकों में कृष्णभावनामृत में प्रगति करते हैं, वे क्रमशः और ऊपर जाते रहते हैं और प्रलय के समय वे नित्य परमधाम को भेज दिये जाते हैं। श्रीधर स्वामी ने अपने *भगवद्गीता* भाष्य में यह श्लोक उद्धृत किया है–

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥

"जब इस भौतिक ब्रह्माण्ड का प्रलय होता है, तो ब्रह्मा तथा कृष्णभावनामृत में निरन्तर प्रवृत्त उनके भक्त अपनी इच्छानुसार आध्यात्मिक ब्रह्माण्ड को तथा विशिष्ट वैकुण्ठ लोकों को भेज दिये जाते हैं।"

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥१७॥

सहस्र–एक हजार; **युग**–युग; **पर्यन्तम्**–सहित; **अहः**–दिन; **यत्**–जो; **ब्रह्मणः**–ब्रह्मा का; **विदुः**–वे जानते हैं; **रात्रिम्**–रात्रि; **युग**–युग; **सहस्रान्ताम्**–इसी प्रकार एक हजार बाद समाप्त होने वाली; **ते**–वे; **अहः-रात्र**–दिन-रात; **विदः**–जानते हैं; **जनाः**–लोग।

मानवीय गणना के अनुसार एक हजार युग मिलकर ब्रह्मा का एक दिन बनता है और इतनी ही बड़ी ब्रह्मा की रात्रि भी होती है।

तात्पर्य : भौतिक ब्रह्माण्ड की अवधि सीमित है। यह कल्पों के चक्र रूप में प्रकट होती है। यह कल्प ब्रह्मा का एक दिन है जिसमें चतुर्युग–सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि–के एक हजार चक्र होते हैं। सतयुग में सदाचार, ज्ञान तथा धर्म का बोलबाला रहता है और अज्ञान तथा पाप का एक तरह से नितान्त अभाव होता है। यह युग १७,२८,००० वर्षों तक चलता है। त्रेता युग में पापों का प्रारम्भ होता है और यह युग १२,९६,००० वर्षों तक चलता है। द्वापर युग में सदाचार तथा धर्म का ह्रास होता है और पाप बढ़ते हैं। यह युग ८,६४,००० वर्षों तक चलता है। सबसे अन्त में कलियुग (जिसे हम विगत ५ हजार वर्षों से भोग रहे हैं) आता है जिसमें कलह, अज्ञान, अधर्म तथा पाप का प्राधान्य रहता है और सदाचार का प्रायः लोप हो जाता है। यह युग ४,३२,००० वर्षों तक चलता है। इस युग में पाप यहाँ तक बढ़ जाते हैं कि इस युग के अन्त में भगवान् स्वयं कल्कि अवतार धारण करते हैं, असुरों का संहार करते हैं, भक्तों की रक्षा करते हैं और दूसरे सतयुग का शुभारम्भ होता है। इस तरह यह क्रिया निरन्तर चलती रहती है। ये चारों युग एक सहस्र चक्र कर लेने पर ब्रह्मा के एक दिन के तुल्य होते हैं। इतने ही वर्षों की उनकी एक रात्रि होती है। ब्रह्मा ऐसे एक सौ वर्ष जीवित रहते हैं और तब उनकी मृत्यु होती है। ब्रह्मा के ये १०० वर्ष गणना के अनुसार पृथ्वी के ३१,१०,४०,००,००,००,००० वर्ष के तुल्य हैं। इन गणनाओं से ब्रह्मा की आयु अत्यन्त विचित्र तथा न समाप्त होने वाली लगती है, किन्तु नित्यता की दृष्टि से यह बिजली की चमक जैसी अल्प है। कारणार्णव में असंख्य ब्रह्मा अटलांटिक सागर में पानी के बुलबुलों के समान प्रकट होते और लोप होते रहते हैं। ब्रह्मा तथा उनकी सृष्टि

भौतिक ब्रह्माण्ड के अग हैं, फलस्वरूप निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं।

इस भौतिक ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा भी जन्म, जरा, रोग तथा मरण की क्रिया से अछूते नहीं हैं। किन्तु चूँकि ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड की व्यवस्था करते हैं, इसीलिए वे भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा में लगे रहते हैं। फलस्वरूप उन्हें तुरन्त मुक्ति प्राप्त हो जाती है। यहाँ तक कि सिद्ध संन्यासियों को भी ब्रह्मलोक भेजा जाता है, जो इस ब्रह्माण्ड का सर्वोच्च लोक है। किन्तु कालक्रम से ब्रह्मा तथा ब्रह्मलोक के सारे वासी प्रकृति के नियमानुसार मरणशील होते हैं।

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥१८॥

अव्यक्तात्–अव्यक्त से; **व्यक्तयः**–जीव; **सर्वाः**–सारे; **प्रभवन्ति**–प्रकट होते हैं; **अहः-आगमे**–दिन होने पर; **रात्रि-आगमे**–रात्रि आने पर; **प्रलीयन्ते**–विनष्ट हो जाते हैं; **तत्र**–उसमें; **एव**–निश्चय ही; **अव्यक्त**–अप्रकट; **संज्ञके**–नामक, कहे जाने वाले।

ब्रह्मा के दिन के शुभारम्भ में सारे जीव अव्यक्त अवस्था से व्यक्त होते हैं और फिर जब रात्रि आती है तो वे पुनः अव्यक्त में विलीन हो जाते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥१९॥

भूत-ग्रामः–समस्त जीवों का समूह; **सः**–वही; **एव**–निश्चय ही; **अयम्**–यह; **भूत्वा भूत्वा**–बारम्बार जन्म लेकर; **प्रलीयते**–विनष्ट हो जाता है; **रात्रि**–रात्रि के; **आगमे**–आने पर; **अवशः**–स्वतः; **पार्थ**–हे पृथापुत्र; **प्रभवति**–प्रकट होता है; **अहः**–दिन; **आगमे**–आने पर।

जब-जब ब्रह्मा का दिन आता है तो सारे जीव प्रकट होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि होते ही वे असहायवत् विलीन हो जाते हैं।

तात्पर्य : अल्पज्ञानी पुरुष, जो इस भौतिक जगत् में बने रहना चाहते हैं, उच्चतर लोकों को प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु उन्हें पुनः इस धरालोक पर आना होता है। वे ब्रह्मा का दिन होने पर इस जगत् के उच्चतर तथा निम्नतर लोकों में अपने कार्यों का प्रदर्शन करते हैं, किन्तु ब्रह्मा की रात्रि होते ही वे विनष्ट हो जाते हैं। दिन में उन्हें भौतिक कार्यों के लिए नाना शरीर प्राप्त होते रहते हैं, किन्तु रात्रि के होते ही उनके शरीर विष्णु के शरीर में विलीन हो जाते हैं। वे पुनः ब्रह्मा का दिन आने पर प्रकट होते हैं। *भूत्वा-भूत्वा प्रलीयते*–दिन के समय वे प्रकट होते हैं और रात्रि के समय पुनः विनष्ट हो जाते हैं। अन्ततोगत्वा जब ब्रह्मा का जीवन समाप्त होता है, तो उन सबका संहार हो जाता है और वे करोड़ों वर्षों तक अप्रकट रहते हैं। अन्य कल्प में ब्रह्मा का पुनर्जन्म होने पर वे पुनः प्रकट होते हैं। इस प्रकार वे भौतिक जगत् के जादू से मोहित होते रहते हैं। किन्तु जो बुद्धिमान व्यक्ति कृष्णभावनामृत स्वीकार करते हैं, वे इस मनुष्य जीवन का उपयोग भगवान् की भक्ति करने में तथा *हरे कृष्ण* मन्त्र के कीर्तन में बिताते हैं। इस प्रकार वे इसी जीवन में कृष्णलोक को प्राप्त होते हैं और वहाँ पर पुनर्जन्म के चक्कर

से मुक्त होकर सतत आनन्द का अनुभव करते हैं।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥२०॥

परः–परम; **तस्मात्**–उस; **तु**–लेकिन; **भावः**–प्रकृति; **अन्यः**–दूसरी; **अव्यक्तः**–अव्यक्त; **अव्यक्तात्**–अव्यक्त से; **सनातनः**–शाश्वत; **यः सः**–वह जो; **सर्वेषु**–समस्त; **भूतेषु**–जीवों के; **नश्यत्सु**–नाश होने पर; **न**–कभी नहीं; **विनश्यति**–विनष्ट होती है।

इसके अतिरिक्त एक अन्य अव्यक्त प्रकृति है, जो शाश्वत है और इस व्यक्त तथा अव्यक्त पदार्थ से परे है। यह परा (श्रेष्ठ) और कभी नाश न होने वाली है। जब इस संसार का सब कुछ लय हो जाता है, तब भी उसका नाश नहीं होता।

तात्पर्य : कृष्ण की पराशक्ति दिव्य और शाश्वत है। यह उस भौतिक प्रकृति के समस्त परिवर्तनों से परे है, जो ब्रह्मा के दिन के समय व्यक्त और रात्रि के समय विनष्ट होती रहती है। कृष्ण की पराशक्ति भौतिक प्रकृति के गुण से सर्वथा विपरीत है। परा तथा अपरा प्रकृति की व्याख्या सातवें अध्याय में हुई है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥२१॥

अव्यक्तः–अप्रकट; **अक्षरः**–अविनाशी; **इति**–इस प्रकार; **उक्तः**–कहा गया; **तम्**–उसको; **आहुः**–कहा जाता है; **परमाम्**–परम; **गतिम्**–गन्तव्य; **यम्**–जिसको; **प्राप्य**–प्राप्त करके; **न**–कभी नहीं; **निवर्तन्ते**–वापस आते हैं; **तत्**–वह; **धाम**–निवास; **परमम्**–परम; **मम**–मेरा।

जिसे वेदान्ती अप्रकट तथा अविनाशी बताते हैं, जो परम गन्तव्य है, जिसे प्राप्त कर लेने पर कोई वापस नहीं आता, वही मेरा परमधाम है।

तात्पर्य : *ब्रह्मसंहिता* में भगवान् कृष्ण के परमधाम को *चिन्तामणि धाम* कहा गया है, जो ऐसा स्थान है जहाँ सारी इच्छाएँ पूरी होती हैं। भगवान् कृष्ण का परमधाम गोलोक वृन्दावन कहलाता है और वह पारसमणि से निर्मित प्रासादों से युक्त है। वहाँ पर वृक्ष भी हैं, जिन्हें कल्पतरु कहा जाता है, जो इच्छा होने पर किसी भी तरह का खाद्य पदार्थ प्रदान करने वाले हैं। वहाँ गाएँ भी हैं, जिन्हें सुरभि गाएँ कहा जाता है और वे अनन्त दुग्ध देने वाली हैं। इस धाम में भगवान् की सेवा के लिए लाखों लक्ष्मियाँ हैं। वे आदि भगवान् गोविन्द तथा समस्त कारणों के कारण कहलाते हैं। भगवान् वंशी बजाते रहते हैं (*वेणुं क्वणन्तम्*)। उनका दिव्य स्वरूप समस्त लोकों में सर्वाधिक आकर्षक है, उनके नेत्र कमलदलों के समान हैं और उनका शरीर मेघों के वर्ण का है। वे इतने रूपवान हैं कि उनका सौन्दर्य हजारों कामदेवों को मात करता है। वे पीत वस्त्र धारण करते हैं, उनके गले में माला रहती है और केशों में मोरपंख लगे रहते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण अपने निजी धाम, गोलोक वृन्दावन का संकेत मात्र करते हैं, जो आध्यात्मिक जगत् में सर्वश्रेष्ठ लोक है। इसका विशद वृत्तान्त *ब्रह्मसंहिता* में मिलता है। वैदिक ग्रंथ

(*कठोपनिषद्* १.३.११) बताते हैं कि भगवान् का धाम सर्वश्रेष्ठ है और वही परमधाम है (*पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा परमा गतिः*)। एक बार वहाँ पहुँच कर फिर से भौतिक संसार में वापस नहीं आना होता। कृष्ण का परमधाम तथा स्वयं कृष्ण अभिन्न हैं, क्योंकि वे दोनों एक से गुण वाले हैं। आध्यात्मिक आकाश में स्थित इस गोलोक वृन्दावन की प्रतिकृति (वृन्दावन) इस पृथ्वी पर दिल्ली से ९० मील दक्षिण-पूर्व स्थित है। जब कृष्ण ने इस पृथ्वी पर अवतार ग्रहण किया था, तो उन्होंने इसी भूमि पर, जिसे वृन्दावन कहते हैं और जो भारत में मथुरा जिले के चौरासी वर्गमील में फैला हुआ है, क्रीड़ा की थी।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥२२॥

पुरुषः–परमपुरुष; सः–वह; परः–परम, जिनसे बढ़कर कोई नहीं है; पार्थ–हे पृथापुत्र; भक्त्या–भक्ति के द्वारा; लभ्यः–प्राप्त किया जा सकता है; तु–लेकिन; अनन्यया–अनन्य, अविचल; यस्य–जिसके; अन्तः-स्थानि–भीतर; भूतानि–यह सारा जगत; येन–जिनके द्वारा; सर्वम्–समस्त; इदम्–जो कुछ हम देख सकते हैं; ततम्–व्याप्त है।

भगवान्, जो सबसे महान हैं, अनन्य भक्ति द्वारा ही प्राप्त किये जा सकते हैं। यद्यपि वे अपने धाम में विराजमान रहते हैं, तो भी वे सर्वव्यापी हैं और उनमें सब कुछ स्थित है।

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट बताया गया है कि जिस परमधाम से फिर लौटना नहीं होता, वह परमपुरुष कृष्ण का धाम है। *ब्रह्मसंहिता* में इस परमधाम को आनन्दचिन्मय रस कहा गया है जो ऐसा स्थान है जहाँ सभी वस्तुएँ परम आनन्द से पूर्ण हैं। जितनी भी विविधता प्रकट होती है वह सब इसी परमानन्द का गुण है—वहाँ कुछ भी भौतिक नहीं है। यह विविधता भगवान् के विस्तार के साथ ही विस्तृत होती जाती है, क्योंकि वहाँ की सारी अभिव्यक्ति पराशक्ति के कारण है, जैसा कि सातवें अध्याय में बताया गया है। जहाँ तक इस भौतिक जगत् का प्रश्न है, यद्यपि भगवान् अपने धाम में ही सदैव रहते हैं, तो भी वे अपनी भौतिक शक्ति (माया) द्वारा सर्वव्याप्त हैं। इस प्रकार वे अपनी परा तथा अपरा शक्तियों द्वारा सर्वत्र—भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ब्रह्माण्डों में—उपस्थित रहते हैं। *यस्यान्तःस्थानि* का अर्थ है कि प्रत्येक वस्तु उनमें या उनकी परा या अपरा शक्ति में निहित है। इन्हीं दोनों शक्तियों के द्वारा भगवान् सर्वव्यापी हैं।

कृष्ण के परमधाम में या असंख्य वैकुण्ठ लोकों में भक्ति के द्वारा ही प्रवेश सम्भव है, जैसा कि *भक्त्या* शब्द द्वारा सूचित होता है। किसी अन्य विधि से परमधाम की प्राप्ति सम्भव नहीं है। वेदों में (*गोपाल-तापनी उपनिषद्* ३.२) भी परमधाम तथा भगवान् का वर्णन मिलता है। *एको वशी सर्वगः कृष्णः*। उस धाम में केवल एक भगवान् रहता है, जिसका नाम कृष्ण है। यह अत्यन्त दयालु विग्रह है और एक रूप में स्थित होकर भी वह अपने को लाखों स्वांशों में विस्तृत करता रहता है। वेदों में भगवान् की उपमा उस शान्त वृक्ष से दी गई है, जिसमें नाना प्रकार के फूल तथा फल लगे हैं और जिसकी पत्तियाँ निरन्तर बदलती रहती हैं। वैकुण्ठ लोक की अध्यक्षता करने वाले भगवान् के

स्वांश चतुर्भुजी हैं और विभिन्न नामों से विख्यात है—पुरुषोत्तम, त्रिविक्रम, केशव, माधव, अनिरुद्ध, हृषीकेश, संकर्षण, प्रद्युम्न, श्रीधर, वासुदेव, दामोदर, जनार्दन, नारायण, वामन, पद्मनाभ आदि।

ब्रह्मसंहिता में (५.३७) भी पुष्टि हुई है कि यद्यपि भगवान् निरन्तर परमधाम गोलोक वृन्दावन में रहते हैं, किन्तु वे सर्वव्यापी हैं ताकि सब कुछ सुचारु रूप से चलता रहे (*गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः*)। वेदों में (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.८) कहा गया है—*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते। स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च*—उनकी शक्तियाँ इतनी व्यापक हैं कि वे परमेश्वर के दूरस्थ होते हुए भी दृश्यजगत में बिना किसी त्रुटि के सब कुछ सुचारु रूप से संचालित करती रहती हैं।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ २३॥

यत्र—जिस; **काले**—समय में; **तु**—तथा; **अनावृत्तिम्**—वापस न आना; **आवृत्तिम्**—वापसी; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **योगिनः**—विभिन्न प्रकार के योगी; **प्रयाताः**—प्रयाण करने वाले; **यान्ति**—प्राप्त करते हैं; **तम्**—उस; **कालम्**—काल को; **वक्ष्यामि**—कहूँगा; **भरत-ऋषभ**—हे भरतों में श्रेष्ठ!

हे भरतश्रेष्ठ! अब मैं तुम्हें उन विभिन्न कालों को बताऊँगा, जिनमें इस संसार से प्रयाण करने के बाद योगी पुनः आता है अथवा नहीं आता।

तात्पर्य : परमेश्वर के अनन्य, पूर्ण शरणागत भक्तों को इसकी चिन्ता नहीं रहती कि वे कब और किस तरह शरीर को त्यागेंगे। वे सब कुछ कृष्ण पर छोड़ देते हैं और इस तरह सरलतापूर्वक, प्रसन्नता सहित भगवद्धाम जाते हैं। किन्तु जो अनन्य भक्त नहीं हैं और कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा हठयोग जैसी आत्म-साक्षात्कार की विधियों पर आश्रित रहते हैं, उन्हें उपयुक्त समय में शरीर त्यागना होता है, जिससे वे आश्वस्त हो सकें कि इस जन्म-मृत्यु वाले संसार में उनको लौटना होगा या नहीं।

यदि योगी सिद्ध होता है तो वह इस जगत् से शरीर छोड़ने का समय तथा स्थान चुन सकता है। किन्तु यदि वह इतना पटु नहीं होता तो उसकी सफलता उसके अचानक शरीर त्याग के संयोग पर निर्भर करती है। भगवान् ने अगले श्लोक में ऐसे उचित अवसरों का वर्णन किया है कि कब मरने से कोई वापस नहीं आता। आचार्य बलदेव विद्याभूषण के अनुसार यहाँ पर संस्कृत के *काल* शब्द का प्रयोग काल के अधिष्ठाता देव के लिए हुआ है।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ २४॥

अग्निः—अग्नि; **ज्योतिः**—प्रकाश; **अहः**—दिन; **शुक्लः**—शुक्लपक्ष; **षट्-मासाः**—छह महीने; **उत्तर-अयणम्**—जब सूर्य उत्तर दिशा की ओर रहता है; **तत्र**—वहाँ; **प्रयाताः**—मरने वाले; **गच्छन्ति**—जाते हैं; **ब्रह्म**—ब्रह्म को; **ब्रह्म-विदः**—ब्रह्मज्ञानी; **जनाः**—लोग।

जो परब्रह्म के ज्ञाता हैं, वे अग्निदेव के प्रभाव में, प्रकाश में, दिन के शुभक्षण में, शुक्लपक्ष में या जब सूर्य उत्तरायण में रहता है, उन छह मासों में इस संसार से शरीर त्याग करने पर उस परब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य : जब अग्नि, प्रकाश, दिन तथा पक्ष का उल्लेख रहता है तो यह समझना चाहिए कि इस सबों के अधिष्ठाता देव होते हैं जो आत्मा की यात्रा की व्यवस्था करते हैं। मृत्यु के समय मन मनुष्य को नवीन जीवन मार्ग पर ले जाता है। यदि कोई अकस्मात् या योजनापूर्वक उपर्युक्त समय पर शरीर त्याग करता है तो उसके लिए निर्विशेष ब्रह्मज्योति प्राप्त कर पाना सम्भव होता है। योग में सिद्ध योगी अपने शरीर को त्यागने के समय तथा स्थान की व्यवस्था कर सकते हैं। अन्यों का इस पर कोई वश नहीं होता। यदि संयोगवश वे शुभमुहूर्त में शरीर त्यागते हैं, तब तो उनको जन्म-मृत्यु के चक्र में लौटना नहीं पड़ता, अन्यथा उनके पुनरावर्तन की सम्भावना बनी रहती है। किन्तु कृष्णभावनामृत में शुद्धभक्त के लिए लौटने का कोई भय नहीं रहता, चाहे वह शुभ मुहूर्त में शरीर त्याग करे या अशुभ क्षण में, चाहे अकस्मात् शरीर त्याग करे या स्वेच्छापूर्वक।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ २५॥

धूमः–धुआँ; **रात्रिः**–रात; **तथा**–और; **कृष्णः**–कृष्णपक्ष; **षट्-मासाः**–छह मास की अवधि; **दक्षिण-अयनम्**–जब सूर्य दक्षिण दिशा में रहता है; **तत्र**–वहाँ; **चान्द्र-मसम्**–चन्द्रलोक को, **ज्योतिः**–प्रकाश; **योगी**–योगी, **प्राप्य**–प्राप्त करके; **निवर्तते**–वापस आता है।

जो योगी धुएँ, रात्रि, कृष्णपक्ष में या सूर्य के दक्षिणायन रहने के छह महीनों में दिवंगत होता है, वह चन्द्रलोक को जाता है, किन्तु वहाँ से पुनः (पृथ्वी पर) चला आता है।

तात्पर्य : भागवत के तृतीय स्कंध में कपिल मुनि उल्लेख करते हैं कि जो लोग कर्मकाण्ड तथा यज्ञकाण्ड में निपुण हैं, वे मृत्यु होने पर चन्द्रलोक को प्राप्त करते हैं। ये महान आत्माएँ चन्द्रमा पर लगभग १० हजार वर्षों तक (देवों की गणना से) रहती हैं और सोमरस का पान करते हुए जीवन का आनन्द भोगती हैं। अन्ततोगत्वा वे पृथ्वी पर लौट आती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि चन्द्रमा में उच्चश्रेणी के प्राणी रहते हैं, भले ही हम अपनी स्थूल इन्द्रियों से उन्हें देख न सकें।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ २६॥

शुक्ल–प्रकाश; **कृष्णे**–तथा अंधकार; **गती**–जाने के मार्ग; **हि**–निश्चय ही; **एते**–ये दोनों, **जगतः**–भौतिक जगत् का, **शाश्वते**–वेदों के; **मते**–मत में; **एकया**–एक के द्वारा, **याति**–जाता है; **अनावृत्तिम्**–न लौटने के लिए, **अन्यया**–अन्य के द्वारा, **आवर्तते**–आ जाता है, **पुनः**–फिर से।

वैदिक मतानुसार इस संसार से प्रयाण करने के दो मार्ग हैं—एक प्रकाश का तथा दूसरा अंधकार का। जब मनुष्य प्रकाश के मार्ग से जाता है तो वह वापस नहीं आता, किन्तु अंधकार के मार्ग से जाने वाला पुनः लौटकर आता है।

तात्पर्य : आचार्य बलदेव विद्याभूषण ने *छान्दोग्य* उपनिषद् से (५.१०.३-५) ऐसा ही विवरण उद्धृत किया है। जो अनादि काल से सकाम कर्मी तथा दार्शनिक चिन्तक रहे हैं वे निरन्तर आवागमन करते रहे हैं। वस्तुतः उन्हें परममोक्ष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वे कृष्ण की शरण में नहीं जाते।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥ २७॥

न—कभी नहीं; **एते**—इन दोनों; **सृती**—विभिन्न मार्गों को; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **जानन्**—जानते हुए भी; **योगी**—भगवद्भक्त; **मुह्यति**—मोहग्रस्त होता है; **कश्चन**—कोई; **तस्मात्**—अतः; **सर्वेषु कालेषु**—सदैव; **योग-युक्तः**—कृष्णभावनामृत में तत्पर; **भव**—होवो; **अर्जुन**—हे अर्जुन।

हे अर्जुन! यद्यपि भक्तगण इन दोनों मार्गों को जानते हैं, किन्तु वे मोहग्रस्त नहीं होते। अतः तुम भक्ति में सदैव स्थिर रहो।

तात्पर्य : कृष्ण अर्जुन को उपदेश दे रहे हैं कि उसे इस जगत् से आत्मा के प्रयाण करने के विभिन्न मार्गों को सुनकर विचलित नहीं होना चाहिए। भगवद्भक्त को इसकी चिन्ता नहीं होनी चाहिए कि वह स्वेच्छा से मरेगा या दैववशात्। भक्त को कृष्णभावनामृत में दृढ़तापूर्वक स्थित रहकर *हरे कृष्ण* का जप करना चाहिए। उसे यह जान लेना चाहिए कि इन दोनों मार्गों में से किसी की भी चिन्ता करना कष्टदायक है। कृष्णभावनामृत में तल्लीन होने की सर्वोत्तम विधि यही है कि भगवान् की सेवा में सदैव रत रहा जाय। इससे भगवद्धाम का मार्ग स्वतः सुगम, सुनिश्चित तथा सीधा होगा। इस श्लोक का *योगयुक्त* शब्द विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। जो योग में स्थिर है, वह अपनी सभी गतिविधियों में निरन्तर कृष्णभावनामृत में रत रहता है। श्री रूप गोस्वामी का उपदेश है—*अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः*—मनुष्य को सांसारिक कार्यों से अनासक्त रहकर कृष्णभावनामृत में सब कुछ करना चाहिए। इस विधि से, जिसे *युक्तवैराग्य* कहते हैं, मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है। अतएव भक्त कभी इन वर्णनों से विचलित नहीं होता, क्योंकि वह जानता रहता है कि भक्ति के कारण भगवद्धाम तक का उसका प्रयाण सुनिश्चित है।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ २८॥

वेदेषु—वेदाध्ययन में; **यज्ञेषु**—यज्ञ सम्पन्न करने में; **तपःसु**—विभिन्न प्रकार की तपस्याएँ करने में; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **दानेषु**—दान देने में; **यत्**—जो; **पुण्य-फलम्**—पुण्यकर्म का फल; **प्रदिष्टम्**—सूचित; **अत्येति**—लाँघ जाता है; **तत् सर्वम्**—वे सब; **इदम्**—यह; **विदित्वा**—जानकर; **योगी**—योगी; **परम्**—परम; **स्थानम्**—धाम को; **उपैति**—प्राप्त करता है; **च**—भी; **आद्यम्**—मूल, आदि।

जो व्यक्ति भक्तिमार्ग स्वीकार करता है, वह वेदाध्ययन, तपस्या, दान, दार्शनिक तथा सकाम कर्म करने से प्राप्त होने वाले फलों से वंचित नहीं होता। वह मात्र भक्ति सम्पन्न करके इन समस्त फलों की प्राप्ति करता है और अन्त में परम नित्यधाम को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : यह श्लोक सातवें तथा आठवें अध्यायों का उपसंहार है, जिनमें कृष्णभावनामृत तथा भक्ति का विशेष वर्णन है। मनुष्य को अपने गुरु के निर्देशन में वेदाध्ययन करना होता है, उन्हीं के आश्रम में रहते हुए तपस्या करनी होती है। ब्रह्मचारी को गुरु के घर में एक दास की भाँति रहना पड़ता है और द्वार-द्वार भिक्षा माँगकर गुरु के पास लाना होता है। उसे गुरु के आदेश पर ही भोजन करना होता है और यदि किसी दिन गुरु शिष्य को भोजन करने के लिए बुलाना भूल जाय तो शिष्य को उपवास करना होता है। ब्रह्मचर्य पालन के ये कुछ वैदिक नियम हैं।

अपने गुरु के आश्रम में जब छात्र पाँच से बीस वर्ष तक वेदों का अध्ययन कर लेता है तो वह परम चरित्रवान बन जाता है। वेदों का अध्ययन मनोधर्मियों के मनोरंजन के लिए नहीं, अपितु चरित्र-निर्माण के लिए है। इस प्रशिक्षण के बाद ब्रह्मचारी को गृहस्थ जीवन में प्रवेश करके विवाह करने की अनुमति दी जाती है। गृहस्थ के रूप में उसे अनेक यज्ञ करने होते हैं, जिससे वह आगे उन्नति कर सके। उसे देश, काल तथा पात्र के अनुसार तथा सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक दान में अन्तर करते हुए दान देना होता है, जैसा कि *भगवद्गीता* में वर्णित है। गृहस्थ जीवन के बाद वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करना पड़ता है, जिसमें उसे जंगल में रहते हुए वृक्ष की छाल पहन कर तथा क्षौर कर्म आदि किये बिना कठिन तपस्या करनी होती है। इस प्रकार मनुष्य ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा अन्त में सन्यास आश्रम का पालन करते हुए जीवन की सिद्धावस्था को प्राप्त होता है। तब इनमें से कुछ स्वर्गलोक को जाते हैं और यदि वे और अधिक उन्नति करते हैं तो अधिक उच्चलोकों को या तो निर्विशेष ब्रह्मज्योति को, या वैकुण्ठलोक या कृष्णलोक को जाते हैं। वैदिक ग्रंथों में इसी मार्ग की रूपरेखा प्राप्त होती है।

किन्तु कृष्णभावनामृत की विशेषता यह है कि मनुष्य एक ही झटके में भक्ति करने के कारण मनुष्य जीवन के विभिन्न आश्रमों के अनुष्ठानों को पार कर जाता है।

इदं विदित्वा शब्द सूचित करते हैं कि मनुष्य को *भगवद्गीता* के इस अध्याय में तथा सातवें अध्याय में दिये हुए कृष्ण के उपदेशों को समझना चाहिए। उसे विद्वत्ता या मनोधर्म से इन दोनों अध्यायों को समझने का प्रयास नहीं करना चाहिए, अपितु भक्तों की संगति से श्रवण करके समझना चाहिए। सातवें से लेकर बारहवें तक के अध्याय *भगवद्गीता* के सार रूप हैं। प्रथम छह अध्याय तथा अन्तिम छह अध्याय इन मध्यवर्ती छहों अध्यायों के लिए आवरण मात्र हैं जिनकी सुरक्षा भगवान् करते हैं। यदि कोई *गीता* के इन छह अध्यायों को भक्त की संगति में भलीभाँति समझ लेता है तो उसका जीवन समस्त तपस्याओं, यज्ञों, दानों, चिन्तनों को पार करके महिमा-मण्डित हो उठेगा, क्योंकि केवल कृष्णभावनामृत के द्वारा उसे इतने कर्मों का फल प्राप्त हो जाता है।

जिसे *भगवद्गीता* में तनिक भी श्रद्धा नहीं है, उसे किसी भक्त से *भगवद्गीता* समझनी

चाहिए, क्योंकि चौथे अध्याय के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि केवल भक्तगण ही *गीता* को समझ सकते हैं, अन्य कोई भी *भगवद्गीता* के अभिप्राय को नहीं समझ सकता। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह किसी भक्त से *भगवद्गीता* पढ़े; मनोधर्मियों से नहीं। यह श्रद्धा का सूचक है। जब भक्त की खोज की जाती है और अन्ततः भक्त की संगति प्राप्त हो जाती है, उसी क्षण से *भगवद्गीता* का वास्तविक अध्ययन तथा उसका ज्ञान प्रारम्भ हो जाता है। भक्त की संगति से भक्ति आती है और भक्ति के कारण कृष्ण या ईश्वर तथा कृष्ण के कार्यकलापों, उनके रूप, नाम, लीलाओं आदि से संबंधित सारे भ्रम दूर हो जाते हैं। इस प्रकार भ्रमों के दूर हो जाने पर वह अपने अध्ययन में स्थिर हो जाता है। तब उसे *भगवद्गीता* के अध्ययन में रस आने लगता है और कृष्णभावनाभावित होने की अनुभूति होने लगती है। आगे बढ़ने पर वह कृष्ण के प्रेम में पूर्णतया अनुरक्त हो जाता है। यह जीवन की सर्वोच्च सिद्ध अवस्था है, जिससे भक्त कृष्ण के धाम गोलोक वृन्दावन को प्राप्त होता है, जहाँ वह नित्य सुखी रहता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के आठवें अध्याय "भगवत्प्राप्ति" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*

अध्याय नौ



परम गुह्य ज्ञान

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥१॥

श्रीभगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; इदम्—इस, तु—लेकिन; ते—तुम्हारे लिए; गुह्य-तमम्—अत्यन्त गुह्य; प्रवक्ष्यामि—कह रहा हूँ; अनसूयवे—ईर्ष्या न करने वाले को; ज्ञानम्—ज्ञान को, विज्ञान—अनुभूत ज्ञान, सहितम्—सहित, यत्—जिसे, ज्ञात्वा—जानकर, मोक्ष्यसे—मुक्त हो सकोगे; अशुभात्—इस कष्टमय संसार से।

श्रीभगवान् ने कहा—हे अर्जुन! चूँकि तुम मुझसे कभी ईर्ष्या नहीं करते, इसलिए मैं तुम्हें यह परम गुह्यज्ञान तथा अनुभूति बतलाऊँगा, जिसे जानकर तुम संसार के सारे क्लेशों से मुक्त हो जाओगे।

तात्पर्य: ज्यों-ज्यों भक्त भगवान् के विषय में अधिकाधिक सुनता है, त्यों-त्यों वह आत्मप्रकाशित होता जाता है। यह श्रवण विधि *श्रीमद्भागवत* में इस प्रकार अनुमोदित

है— "भगवान् के संदेश शक्तियों से पूरित होते हैं जिनकी अनुभूति तभी होती है, जब भक्त जन भगवान् सम्बन्धी कथाओं की परस्पर चर्चा करते हैं। इसे मनोधर्मियों या विद्यालयीन विद्वानों के सान्निध्य से नहीं प्राप्त किया जा सकता, क्योंकि यह अनुभूत ज्ञान (विज्ञान) है।"

भक्तगण परमेश्वर की सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं। भगवान् उस जीव विशेष की मानसिकता तथा निष्ठा से अवगत रहते हैं, जो कृष्णभावनाभावित होता है और उसे ही वे भक्तों के सान्निध्य में कृष्णविद्या को समझने की बुद्धि प्रदान करते हैं। कृष्ण की चर्चा अत्यन्त शक्तिशाली है और यदि सौभाग्यवश किसी को ऐसी संगति प्राप्त हो जाये और वह इस ज्ञान को आत्मसात् करे तो वह आत्म-साक्षात्कार की दिशा में अवश्य प्रगति करेगा। कृष्ण अर्जुन को अपनी अलौकिक सेवा में उच्च से उच्चतर स्तर तक उत्साहित करने के उद्देश्य से इस नवें अध्याय में उसे परम गुह्य बातें बताते हैं जिन्हें इसके पूर्व उन्होंने अन्य किसी से प्रकट नहीं किया था।

भगवद्गीता का प्रथम अध्याय शेष ग्रंथ की भूमिका जैसा है, द्वितीय तथा तृतीय अध्याय में जिस आध्यात्मिक ज्ञान का वर्णन हुआ है वह गुह्य कहा गया है, सातवें तथा आठवें अध्याय में जिन विषयों की विवेचना हुई है वे भक्ति से सम्बन्धित हैं और कृष्णभावनामृत पर प्रकाश डालने के कारण गुह्यतर कहे गये हैं। किन्तु नवें अध्याय में तो अनन्य शुद्ध भक्ति का ही वर्णन हुआ है। फलस्वरूप यह परमगुह्य कहा गया है। जिसे कृष्ण का यह परमगुह्य ज्ञान प्राप्त है, वह दिव्य पुरुष है, अतः इस संसार में रहते हुए भी उसे भौतिक क्लेश नहीं सताते। *भक्तिरसामृत सिन्धु* में कहा गया है कि जिसमें भगवान् की प्रेमाभक्ति करने की उत्कृष्ट इच्छा होती है, वह भले ही इस जगत् में बद्ध अवस्था में रहता हो, किन्तु उसे मुक्त मानना चाहिए। इसी प्रकार *भगवद्गीता* के दसवें अध्याय में हम देखेंगे कि जो भी इस प्रकार लगा रहता है, वह मुक्त पुरुष है।

इस प्रथम श्लोक का विशिष्ट महत्त्व है। *इदं ज्ञानम्* (यह ज्ञान) शब्द शुद्धभक्ति के द्योतक हैं, जो नौ प्रकार की होती है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्म-समर्पण। भक्ति के इन नौ तत्त्वों का अभ्यास करने से मनुष्य आध्यात्मिक चेतना अथवा कृष्णभावनामृत तक उठ पाता है। इस प्रकार, जब मनुष्य का हृदय भौतिक कल्मष से शुद्ध हो जाता है तो वह कृष्णविद्या को समझ सकता है। केवल यह जान लेना कि जीव भौतिक नहीं है, पर्याप्त नहीं होता। यह तो आत्मानुभूति का शुभारम्भ हो सकता है, किन्तु उस मनुष्य को शरीर के कार्यों तथा उस भक्त के आध्यात्मिक कार्यों के अन्तर को समझना होगा, जो यह जानता है कि वह शरीर नहीं है।

सातवें अध्याय में भगवान् की ऐश्वर्यमयी शक्ति, उनकी विभिन्न शक्तियों—परा तथा अपरा—तथा इस भौतिक जगत् का वर्णन किया जा चुका है। अब नवें अध्याय में भगवान् की महिमा का वर्णन किया जायेगा।

इस श्लोक का *अनसूयवे* शब्द भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतया बड़े से बड़े विद्वान् भाष्यकार भी भगवान् कृष्ण से ईर्ष्या करते हैं। यहाँ तक कि बहुश्रुत विद्वान् भी *भगवद्गीता* के विषय में अशुद्ध व्याख्या करते हैं। चूँकि वे कृष्ण के प्रति ईर्ष्या रखते

है, अत: उनकी टीकाएँ व्यर्थ होती हैं। केवल कृष्णभक्तों द्वारा की गई टीकाएँ ही प्रामाणिक हैं। कोई भी ऐसा व्यक्ति, जो कृष्ण के प्रति ईर्ष्यालु है, न तो *भगवद्गीता* की व्याख्या कर सकता है, न पूर्णज्ञान प्रदान कर सकता है। जो व्यक्ति कृष्ण को जाने बिना उनके चरित्र की आलोचना करता है, वह मूर्ख है। अतः ऐसी टीकाओं से सावधान रहना चाहिए। जो व्यक्ति यह समझते हैं कि कृष्ण भगवान् हैं और शुद्ध तथा दिव्य पुरुष हैं, उनके लिए ये अध्याय लाभप्रद होंगे।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ २॥

राज-विद्या–विद्याओं का राजा; राज-गुह्यम्–गोपनीय ज्ञान का राजा; पवित्रम्–शुद्धतम; इदम्–यह; उत्तमम्–दिव्य; प्रत्यक्ष–प्रत्यक्ष अनुभव से; अवगमम्–समझा गया; धर्म्यम्–धर्म; सु-सुखम्–अत्यन्त सुखी; कर्तुम्–सम्पन्न करने में; अव्ययम्–अविनाशी।

यह ज्ञान सब विद्याओं का राजा है, जो समस्त रहस्यों में सर्वाधिक गोपनीय है। यह परम शुद्ध है और चूँकि यह आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति कराने वाला है, अतः यह धर्म का सिद्धान्त है। यह अविनाशी है और अत्यन्त सुखपूर्वक सम्पन्न किया जाता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* का यह अध्याय विद्याओं का राजा (राजविद्या) कहलाता है, क्योंकि यह पूर्ववर्ती व्याख्यायित समस्त सिद्धान्तों एवं दर्शनों का सार है। भारत के प्रमुख दार्शनिक गौतम, कणाद, कपिल, याज्ञवल्क्य, शाण्डिल्य तथा वैश्वानर हैं। सबसे अन्त में व्यासदेव आते हैं, जो *वेदान्तसूत्र* के लेखक हैं। अत: दर्शन या दिव्यज्ञान के क्षेत्र में किसी प्रकार का अभाव नहीं है। अब भगवान् कहते हैं कि यह नवम अध्याय ऐसे समस्त ज्ञान का राजा है, यह वेदाध्ययन से प्राप्त ज्ञान एवं विभिन्न दर्शनों का सार है। यह गुह्यतम है, क्योंकि गुह्य या दिव्यज्ञान में आत्मा तथा शरीर के अन्तर को जाना जाता है। समस्त गुह्यज्ञान के इस राजा (राजविद्या) की पराकाष्ठा है, भक्तियोग।

सामान्यतया लोगों को इस गुह्यज्ञान की शिक्षा नहीं मिलती। उन्हें बाह्य शिक्षा दी जाती है। जहाँ तक सामान्य शिक्षा का सम्बन्ध है उसमें राजनीति, समाजशास्त्र, भौतिकी, रसायनशास्त्र, गणित, ज्योतिर्विज्ञान, इंजीनियरी आदि में मनुष्य व्यस्त रहते हैं। विश्वभर में ज्ञान के अनेक विभाग हैं और अनेक बड़े-बड़े विश्वविद्यालय हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश कोई ऐसा विश्वविद्यालय या शैक्षिक संस्थान नहीं है, जहाँ आत्म-विद्या की शिक्षा दी जाती हो। फिर भी आत्मा शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है, आत्मा के बिना शरीर महत्त्वहीन है। तो भी लोग आत्मा की चिन्ता न करके जीवन की शारीरिक आवश्यकताओं को अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं।

भगवद्गीता में द्वितीय अध्याय से ही आत्मा की महत्ता पर बल दिया गया है। प्रारम्भ में ही भगवान् कहते हैं कि यह शरीर नश्वर है और आत्मा अविनश्वर। (*अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः*)। यही ज्ञान का गुह्य अंश है—केवल यह जान लेना कि यह आत्मा शरीर से भिन्न है, यह निर्विकार, अविनाशी और नित्य है। इससे आत्मा के

विषय में कोई सकारात्मक सूचना प्राप्त नहीं हो पाती। कभी-कभी लोगों को यह भ्रम रहता है कि आत्मा शरीर से भिन्न है और जब शरीर नहीं रहता या मनुष्य को शरीर से मुक्ति मिल जाती है तो आत्मा शून्य में रहता है और निराकार बन जाता है। किन्तु यह वास्तविकता नहीं है। जो आत्मा शरीर के भीतर इतना सक्रिय रहता है वह शरीर से मुक्त होने के बाद इतना निष्क्रिय कैसे हो सकता है? यह सदैव सक्रिय रहता है। यदि यह शाश्वत है, तो यह शाश्वत सक्रिय रहता है और वैकुण्ठलोक में इसके कार्यकलाप अध्यात्मज्ञान के गुह्यतम अंश हैं। अतः आत्मा के कार्यों को यहाँ पर समस्त ज्ञान का राजा, समस्त ज्ञान का गुह्यतम अंश कहा गया है।

यह ज्ञान समस्त कार्यों का शुद्धतम रूप है, जैसा कि वैदिक साहित्य में बताया गया है। *पद्मपुराण* में मनुष्य के पापकर्मों का विश्लेषण किया गया है और दिखाया गया है कि ये पापों के फल हैं। जो लोग सकामकर्मों में लगे हुए हैं वे पापपूर्ण कर्मों के विभिन्न रूपों एवं अवस्थाओं में फँसे रहते हैं। उदाहरणार्थ, जब बीज बोया जाता है तो तुरन्त वृक्ष नहीं तैयार हो जाता, इसमें कुछ समय लगता है। पहले एक छोटा सा अंकुर रहता है, फिर यह वृक्ष का रूप धारण करता है, तब इसमें फूल आते हैं, फल लगते हैं और तब बीज बोने वाले व्यक्ति फूल तथा फल का उपभोग कर सकते हैं। इसी प्रकार जब कोई मनुष्य पापकर्म करता है, तो बीज की ही भाँति इसके भी फल मिलने में समय लगता है। इसमें भी कई अवस्थाएँ होती हैं। भले ही व्यक्ति में पापकर्मों का उदय होना बन्द हो चुका हो, किन्तु किये गये पापकर्म का फल तब भी मिलता रहता है। कुछ पाप तब भी बीज रूप में बचे रहते हैं, कुछ फलीभूत हो चुके होते हैं, जिन्हें हम दुख तथा वेदना के रूप में अनुभव करते हैं।

जैसा कि सातवें अध्याय के अट्ठाईसवें श्लोक में बताया गया है जो व्यक्ति समस्त पापकर्मों के फलों (बन्धनों) का अन्त करके भौतिक जगत् के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है, वह भगवान् कृष्ण की भक्ति में लग जाता है। दूसरे शब्दों में, जो लोग भगवद्भक्ति में लगे हुए हैं, वे समस्त कर्मफलों (बन्धनों) से पहले से मुक्त हुए रहते हैं। इस कथन की पुष्टि *पद्मपुराण* में हुई है—

अप्रारब्धफलं पापं कूटं बीजं फलोन्मुखम्।
क्रमेणैव प्रलीयेत विष्णुभक्तिरतात्मनाम्॥

जो लोग भगवद्भक्ति में रत हैं उनके सारे पापकर्म चाहे फलीभूत हो चुके हों, सामान्य हों या बीज रूप में हों, क्रमशः नष्ट हो जाते हैं। अतः भक्ति की शुद्धिकारिणी शक्ति अत्यन्त प्रबल है और *पवित्रम् उत्तमम्* अर्थात् विशुद्धतम कहलाती है। *उत्तम* का तात्पर्य दिव्य है। *तमस्* का अर्थ यह भौतिक जगत् या अंधकार है और *उत्तम* का अर्थ भौतिक कार्यों से परे हुआ। भक्तिमय कार्यों को कभी भी भौतिक नहीं मानना चाहिए यद्यपि कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि भक्त भी सामान्य जनों की भाँति रत रहते हैं। जो व्यक्ति भक्ति से अवगत होता है, वही जान सकता है कि भक्तिमय कार्य भौतिक नहीं होते। वे आध्यात्मिक होते हैं और प्रकृति के गुणों से सर्वथा अदूषित होते हैं।

कहा जाता है कि भक्ति की सम्पन्नता इतनी पूर्ण होती है कि उसके फलों का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। हमने अनुभव किया है कि जो व्यक्ति कृष्ण के पवित्र नाम

(हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे) का कीर्तन करता है उसे जप करते समय कुछ दिव्य आनन्द का अनुभव होता है और वह तुरन्त ही समस्त भौतिक कल्मष से शुद्ध हो जाता है। ऐसा सचमुच दिखाई पड़ता है। यही नहीं, यदि कोई श्रवण करने में ही नहीं अपितु भक्तिकार्यों के सन्देश को प्रचारित करने में भी लगा रहता है या कृष्णभावनामृत के प्रचार कार्यों में सहायता करता है, तो उसे क्रमशः आध्यात्मिक उन्नति का अनुभव होता रहता है। आध्यात्मिक जीवन की यह प्रगति किसी पूर्व शिक्षा या योग्यता पर निर्भर नहीं करती। यह विधि स्वयं इतनी शुद्ध है कि इसमें लगे रहने से मनुष्य शुद्ध बन जाता है।

वेदान्तसूत्र में (३.२.२६) भी इसका वर्णन *प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्* के रूप में हुआ है, जिसका अर्थ है कि भक्ति इतनी समर्थ है कि भक्तिकार्यों में रत होने मात्र से बिना किसी संदेह के प्रकाश प्राप्त हो जाता है। इसका उदाहरण नारद जी के पूर्वजन्म में देखा जा सकता है, जो पहले दासी के पुत्र थे। वे न तो शिक्षित थे, न ही राजकुल में उत्पन्न हुए थे, किन्तु जब उनकी माता भक्तों की सेवा करती रहती थीं, नारद भी सेवा करते थे और कभी-कभी माता की अनुपस्थिति में भक्तों की सेवा स्वयं करते रहते थे। नारद स्वयं कहते हैं—

उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः
सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः।
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतस-
स्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते॥

श्रीमद्भागवत के इस श्लोक में (१.५.२५) नारद जी अपने शिष्य व्यासदेव से अपने पूर्वजन्म का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि पूर्वजन्म में बाल्यकाल में वे चातुर्मास में शुद्धभक्तों (भागवतों) की सेवा किया करते थे जिससे उन्हें उनकी संगति प्राप्त हुई। कभी-कभी वे ऋषि अपनी थालियों में उच्छिष्ट भोजन छोड देते और यह बालक थालियाँ धोते समय उच्छिष्ट भोजन को चखना चाहता था। अतः उसने उन ऋषियों से अनुमति माँगी और जब उन्होंने अनुमति दे दी तो बालक नारद उस उच्छिष्ट भोजन को खाता था। फलस्वरूप वह अपने समस्त पापकर्मों से मुक्त हो गया। ज्यों-ज्यों वह उच्छिष्ट खाता रहा त्यों-त्यों वह ऋषियों के समान शुद्ध-हृदय बनता गया। चूँकि वे महाभागवत भगवान् की भक्ति का आस्वाद श्रवण तथा कीर्तन द्वारा करते थे अतः नारद ने भी क्रमशः वैसी रुचि विकसित कर ली। नारद आगे कहते हैं—

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायताम्
अनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः
प्रियश्रवस्यंग ममाभवद् रुचिः॥

ऋषियों की संगति करने से नारद में भी भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन की रुचि उत्पन्न हुई और उन्होंने भक्ति की तीव्र इच्छा विकसित की। अतः जैसा कि *वेदान्तसूत्र* में कहा गया है—*प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्*—जो भगवद्भक्ति के कार्यों में केवल लगा रहता है उसे स्वतः सारी अनुभूति हो जाती है और वह सब समझने लगता है।

इसी का नाम *प्रत्यक्ष* या प्रत्यक्ष अनुभूति है।

धर्म्यम् शब्द का अर्थ है "धर्म का पथ"। नारद वास्तव में दासी पुत्र थे। उन्हें किसी पाठशाला में जाने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। वे केवल माता के कार्यों में सहायता करते थे और सौभाग्यवश उनकी माता को भक्तों की सेवा का सुयोग प्राप्त हुआ था। बालक नारद को भी यह सुअवसर उपलब्ध हो सका कि वे भक्तों की संगति करने से ही समस्त धर्म के परमलक्ष्य को प्राप्त कर सके। यह लक्ष्य है-भक्ति, जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है (*स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे*)। सामान्यतः धार्मिक व्यक्ति यह नहीं जानते कि धर्म का परमलक्ष्य भक्ति की प्राप्ति है जैसा कि हम पहले ही आठवें अध्याय के अन्तिम श्लोक की व्याख्या करते हुए कह चुके हैं (*वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव*) सामान्यतया आत्म-साक्षात्कार के लिए वैदिक ज्ञान आवश्यक है। किन्तु यहाँ पर नारद न तो किसी गुरु के पास पाठशाला में गये थे, न ही उन्हें वैदिक नियमों की शिक्षा मिली थी, तो भी उन्हें वैदिक अध्ययन के सर्वोच्च फल प्राप्त हो सके। यह विधि इतनी सशक्त है कि धार्मिक कृत्य किये बिना ही मनुष्य सिद्धि-पद को प्राप्त होता है। यह कैसे सम्भव होता है? इसकी भी पुष्टि वैदिक साहित्य में मिलती है—*आचार्यवान् पुरुषो वेद*। महान आचार्यों के संसर्ग में रहकर मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के लिए आवश्यक समस्त ज्ञान से अवगत हो जाता है, भले ही वह अशिक्षित हो या उसने वेदों का अध्ययन न किया हो।

भक्तियोग अत्यन्त सुखकर (*सुसुखम्*) होता है। ऐसा क्यों? क्योंकि भक्ति में *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* रहता है, जिससे मनुष्य भगवान् की महिमा के कीर्तन को सुन सकता है, या प्रामाणिक आचार्यों द्वारा दिये गये दिव्यज्ञान के दार्शनिक भाषण सुन सकता है। मनुष्य केवल बैठे रहकर सीख सकता है, ईश्वर को अर्पित अच्छे स्वादिष्ट भोजन का उच्छिष्ट खा सकता है। प्रत्येक दशा में भक्ति सुखमय है। मनुष्य गरीबी की हालत में भी भक्ति कर सकता है। भगवान् कहते हैं—*पत्रं पुष्पं फलं तोयं*—वे भक्त से हर प्रकार की भेंट लेने को तैयार रहते हैं। चाहे पत्र हो, पुष्प हो, फल हो या थोड़ा सा जल, जो कुछ भी संसार के किसी भी कोने में उपलब्ध हो, या किसी व्यक्ति द्वारा, उसकी सामाजिक स्थिति पर विचार किये बिना, अर्पित किये जाने पर भगवान् को वह स्वीकार है, यदि उसे प्रेमपूर्वक चढ़ाया जाय। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं। भगवान् के चरणकमलों पर चढ़े तुलसीदल का आस्वादन करके सनत्कुमार जैसे मुनि महान भक्त बन गये। अतः भक्तियोग अति उत्तम है और इसे प्रसन्न मुद्रा में सम्पन्न किया जा सकता है। भगवान् को तो वह प्रेम प्रिय है, जिससे उन्हें वस्तुएँ अर्पित की जाती हैं।

यहाँ पर कहा गया है कि भक्ति शाश्वत है। यह वैसी नहीं है, जैसा कि मायावादी चिन्तक साधिकार कहते हैं। यद्यपि वे कभी-कभी भक्ति करते हैं, किन्तु उनकी यह भावना रहती है कि जब तक मुक्ति न मिल जाये, तब तक उन्हें भक्ति करते रहना चाहिए, किन्तु अन्त में जब वे मुक्त हो जाएँगे तो ईश्वर से उनका तादात्म्य हो जाएगा। इस प्रकार की अस्थायी सीमित स्वार्थमय भक्ति शुद्ध भक्ति नहीं मानी जा सकती। वास्तविक भक्ति तो मुक्ति के बाद भी बनी रहती है। जब भक्त भगवद्धाम को जाता है तो वहाँ भी वह भगवान् की सेवा में रत हो जाता है। वह भगवान् से तदाकार नहीं होना चाहता।

जैसा कि *भगवद्गीता* में देखा जाएगा, वास्तविक भक्ति मुक्ति के बाद प्रारम्भ होती है। मुक्त होने पर जब मनुष्य ब्रह्मपद पर स्थित होता है (*ब्रह्मभूत*) तो उसकी भक्ति प्रारम्भ होती है (*समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्*)। कोई भी मनुष्य कर्मयोग, ज्ञानयोग, अष्टांगयोग या अन्य योग करके भगवान् को नहीं समझ सकता। इन योग-विधियों से भक्तियोग की दिशा में किंचित प्रगति हो सकती है, किन्तु भक्ति अवस्था को प्राप्त हुए बिना कोई भगवान् को समझ नहीं पाता। *श्रीमद्भागवत* में इसकी भी पुष्टि हुई है कि जब मनुष्य भक्तियोग सम्पन्न करके विशेष रूप से किसी महात्मा से *श्रीमद्भागवत* या *भगवद्गीता* सुनकर शुद्ध हो जाता है, तो वह कृष्णविद्या या तत्त्वज्ञान को समझ सकता है। *एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः*। जब मनुष्य का हृदय समस्त व्यर्थ की बातों से रहित हो जाता है, तो वह समझ सकता है कि ईश्वर क्या है। इस प्रकार भक्तियोग या कृष्णभावनामृत समस्त विद्याओं का राजा और समस्त गुह्यज्ञान का राजा है। यह धर्म का शुद्धतम रूप है और इसे बिना कठिनाई के सुखपूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि इसे ग्रहण करे।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ ३॥

अश्रद्दधानाः–श्रद्धाविहीन; **पुरुषाः**–पुरुष; **धर्मस्य**–धर्म के प्रति; **अस्य**–इस; **परन्तप**–हे शत्रुहन्ता; **अप्राप्य**–बिना प्राप्त किये; **माम्**–मुझको; **निवर्तन्ते**–लौटते हैं; **मृत्युः**–मृत्यु के; **संसार**–संसार में; **वर्त्मनि**–पथ में।

हे परन्तप! जो लोग भक्ति में श्रद्धा नहीं रखते, वे मुझे प्राप्त नहीं कर पाते। अतः वे इस भौतिक जगत् में जन्म-मृत्यु के मार्ग पर वापस आते रहते हैं।

तात्पर्य : श्रद्धाविहीन के लिए भक्तियोग पाना कठिन है, यही इस श्लोक का तात्पर्य है। श्रद्धा तो भक्तों की संगति से उत्पन्न की जाती है। महापुरुषों से वैदिक प्रमाणों को सुनकर भी अभागे लोग ईश्वर में श्रद्धा नहीं रखते। वे झिझकते रहते हैं और भगवद्भक्ति में दृढ़ नहीं रहते। इस प्रकार कृष्णभावनामृत की प्रगति में श्रद्धा मुख्य है। *चैतन्यचरितामृत* में कहा गया है कि श्रद्धा तो यह पूर्ण विश्वास है कि परमेश्वर श्रीकृष्ण की ही सेवा द्वारा सारी सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। यही वास्तविक श्रद्धा है। *श्रीमद्भागवत* मे (४.३१.१४) कहा गया है:–

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कंधभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥

"वृक्ष की जड़ को सींचने से उसकी डालें, टहनियाँ तथा पत्तियाँ तुष्ट होती हैं और आमाशय को भोजन प्रदान करने से शरीर की सारी इन्द्रियाँ तृप्त होती हैं। इसी तरह भगवान् की दिव्यसेवा करने से सारे देवता तथा अन्य समस्त जीव स्वतः प्रसन्न होते हैं।" अतः *गीता* पढ़ने के बाद मनुष्य को चाहिए कि वह *गीता* के इस निष्कर्ष को प्राप्त हो–मनुष्य को अन्य सारे कार्य छोड़कर भगवान् कृष्ण की सेवा करनी चाहिए। यदि वह इस जीवन-दर्शन से विश्वस्त हो जाता है, तो यही श्रद्धा है।

इस श्रद्धा का विकास कृष्णभावनामृत की विधि है। कृष्णभावनाभावित व्यक्तियों की तीन कोटियाँ हैं। तीसरी कोटि में वे लोग आते हैं जो श्रद्धाविहीन हैं। यदि ऐसे लोग ऊपर-ऊपर भक्ति में लगे भी रहें तो भी उन्हें सिद्ध अवस्था प्राप्त नहीं हो पाती। सम्भावना यही है कि वे लोग कुछ काल के बाद नीचे गिर जाएँ। वे भले ही भक्ति में लगे रहें, किन्तु पूर्ण विश्वास तथा श्रद्धा के अभाव में कृष्णभावनामृत में उनका लगा रह पाना कठिन है। अपने प्रचार कार्यों के दौरान हमें इसका प्रत्यक्ष अनुभव है कि कुछ लोग आते हैं और किन्हीं गुप्त उद्देश्यों से कृष्णभावनामृत को ग्रहण करते हैं। किन्तु जैसे ही उनकी आर्थिक दशा कुछ सुधर जाती है कि वे इस विधि को त्यागकर पुनः पुराने ढर्रे पर लग जाते हैं। कृष्णभावनामृत में केवल श्रद्धा के द्वारा ही प्रगति की जा सकती है। जहाँ तक श्रद्धा की बात है, जो व्यक्ति भक्ति-साहित्य में निपुण है और जिसने दृढ़ श्रद्धा की अवस्था प्राप्त कर ली है, वह कृष्णभावनामृत का प्रथम कोटि का व्यक्ति कहलाता है। दूसरी कोटि में वे व्यक्ति आते हैं जिन्हें भक्ति-शास्त्रों का ज्ञान नहीं है, किन्तु स्वतः ही उनकी दृढ़ श्रद्धा है कि कृष्णभक्ति सर्वश्रेष्ठ मार्ग है, अतः वे इसे ग्रहण करते हैं। इस प्रकार वे तृतीय कोटि के उन लोगों से श्रेष्ठतर हैं, जिन्हें न तो शास्त्रों का पूर्णज्ञान है और न श्रद्धा ही है, अपितु संगति तथा सरलता के द्वारा वे उसका पालन करते हैं। तृतीय कोटि के व्यक्ति कृष्णभावनामृत से च्युत हो सकते हैं, किन्तु द्वितीय कोटि के व्यक्ति च्युत नहीं होते। प्रथम कोटि के लोगों के च्युत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रथम कोटि के व्यक्ति निश्चित रूप से प्रगति करके अन्त में अभीष्ट फल प्राप्त करते हैं। तृतीय कोटि के व्यक्ति को यह श्रद्धा तो रहती है कि कृष्ण की भक्ति उत्तम होती है, किन्तु *भागवत* तथा *गीता* जैसे शास्त्रों से उसे कृष्ण का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता। कभी-कभी इस तृतीय कोटि के व्यक्तियों की प्रवृत्ति कर्मयोग तथा ज्ञानयोग की ओर रहती है और कभी-कभी वे विचलित होते रहते हैं, किन्तु ज्योंही उनसे ज्ञान तथा कर्मयोग का संदूषण निकल जाता है, वे कृष्णभावनामृत की द्वितीय कोटि या प्रथम कोटि में प्रविष्ट होते हैं। कृष्ण के प्रति श्रद्धा भी तीन अवस्थाओं में विभाजित है और *श्रीमद्भागवत* में इनका वर्णन है। *भागवत* के ग्यारहवें स्कंध में प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय कोटि की आस्तिकता का भी वर्णन हुआ है। जो लोग कृष्ण के विषय में तथा भक्ति की श्रेष्ठता को सुनकर भी श्रद्धा नहीं रखते और यह सोचते हैं कि यह मात्र प्रशंसा है, उन्हें यह मार्ग अत्यधिक कठिन जान पड़ता है, भले ही वे ऊपर से भक्ति में रत क्यों न हों। उन्हें सिद्धि प्राप्त होने की बहुत कम आशा है। इस प्रकार भक्ति करने के लिए श्रद्धा परमावश्यक है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥

मया—मेरे द्वारा; ततम्—व्याप्त है; इदम्—यह; सर्वम्—समस्त; जगत्—दृश्य जगत्; अव्यक्त-मूर्तिना—अव्यक्त रूप द्वारा; मत्-स्थानि—मुझमें; सर्व-भूतानि—समस्त जीव; न—नहीं; च—भी; अहम्—मैं; तेषु—उनमें; अवस्थितः—स्थित।

यह सम्पूर्ण जगत् मेरे अव्यक्त रूप द्वारा व्याप्त है। समस्त जीव मुझमें हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।

तात्पर्य : भगवान् की अनुभूति स्थूल इन्द्रियों से नहीं हो पाती। कहा गया है कि—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥

(भक्तिरसामृत सिन्धु १.२.२३४)

भगवान् श्रीकृष्ण के नाम, यश, लीलाओं आदि को भौतिक इन्द्रियों से नहीं समझा जा सकता। जो समुचित निर्देशन से भक्ति में लगा रहता है उसे ही भगवान् का साक्षात्कार हो पाता है। *ब्रह्मसंहिता* में (५.३८) कहा गया है—*प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति*—यदि किसी ने भगवान् के प्रति दिव्य प्रेमाभिरुचि उत्पन्न कर ली है, तो वह सदैव अपने भीतर तथा बाहर भगवान् गोविन्द को देख सकता है। इस प्रकार वे सामान्यजनों के लिए दृश्य नहीं हैं। यहाँ पर कहा गया है कि यद्यपि भगवान् सर्वव्यापी हैं और सर्वत्र उपस्थित रहते हैं, किन्तु वे भौतिक इन्द्रियों द्वारा अनुभवगम्य नहीं हैं। इसका संकेत *अव्यक्तमूर्तिना* शब्द द्वारा हुआ है। भले ही हम उन्हें न देख सकें, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि उन्हीं पर सब कुछ आश्रित है। जैसा कि सातवें अध्याय में बताया जा चुका है कि सम्पूर्ण दृश्य जगत् उनकी दो विभिन्न शक्तियों—परा या आध्यात्मिक शक्ति तथा अपरा या भौतिक शक्ति—का संयोग मात्र है। जिस प्रकार सूर्यप्रकाश सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैला रहता है उसी प्रकार भगवान् की शक्ति सम्पूर्ण सृष्टि में फैली है और सारी वस्तुएँ उसी शक्ति पर टिकी हैं।

फिर भी किसी को इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचना चाहिए कि सर्वत्र फैले रहने के कारण भगवान् ने अपनी व्यक्तिगत सत्ता खो दी है। ऐसे तर्क का निराकरण करने के लिए ही भगवान् कहते हैं "मैं सर्वत्र हूँ और प्रत्येक वस्तु मुझमें है तो भी मैं पृथक् हूँ।" उदाहरणार्थ, राजा किसी सरकार का अध्यक्ष होता है और सरकार [illegible] का प्राकट्य होती है, विभिन्न सरकारी विभाग राजा की शक्ति के अतिरिक्त [illegible] कुछ नहीं होते और प्रत्येक विभाग राजा की क्षमता पर निर्भर रहता है। तो भी [illegible] आशा नहीं की जाती कि वह प्रत्येक विभाग में स्वयं उपस्थित हो। [illegible] उदाहरण दिया गया। इसी प्रकार हम जितने स्वरूप देखते हैं और [illegible] इस लोक में तथा परलोक में विद्यमान हैं वे सब भगवान् की [illegible] हैं। [illegible] उत्पत्ति भगवान् की विभिन्न शक्तियों के विस्तार से [illegible] में कहा गया है—*विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम्*—वे अपने [illegible] शक्तियों के विस्तार से सर्वत्र विद्यमान हैं।

न च मत्स्थानि भूतानि [illegible]।
भूतभृन्न च भूतस्थो [illegible]॥५॥

न—कभी नहीं; **च**—भी; **मत्-स्थानि**—मुझमें स्थित; **भूतानि**—सारी सृष्टि; **पश्य**—देखो; **मे**—मेरा; **योगम् ऐश्वरम्**—अचिन्त्य योगशक्ति; **भूत-भृत्**—समस्त जीवों का पालक; **न**—नहीं; **च**—भी; **भूत-स्थः**—विराट अभिव्यक्ति में; **मम**—मेरा; **आत्मा**—स्व, आत्म; **भूत-भावनः**—समस्त अभिव्यक्तियों का स्रोत।

तथापि मेरे द्वारा उत्पन्न सारी वस्तुएँ मुझमें स्थित नहीं रहतीं। जरा, मेरे योग-ऐश्वर्य को देखो! यद्यपि मैं समस्त जीवों का पालक (भर्ता) हूँ और सर्वत्र व्याप्त हूँ, लेकिन मैं इस विराट अभिव्यक्ति का अंश नहीं हूँ, क्योंकि मैं सृष्टि का कारणस्वरूप हूँ।

तात्पर्य : भगवान् का कथन है कि सब कुछ उन्हीं पर आश्रित है (*मत्स्थानि सर्वभूतानि*)। इसका अन्य अर्थ नहीं लगाना चाहिए। भगवान् इस भौतिक जगत् के पालन तथा निर्वाह के लिए प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी नहीं हैं। कभी-कभी हम एटलस (एक रोमन देवता) को अपने कंधों पर गोला उठाये देखते हैं, वह अत्यन्त थका लगता है और इस विशाल पृथ्वीलोक को धारण किये रहता है। हमें किसी ऐसे चित्र को मन में नहीं लाना चाहिए, जिसमें कृष्ण इस सृजित ब्रह्माण्ड को धारण किये हुए हों। उनका कहना है कि यद्यपि सारी वस्तुएँ उन पर टिकी हैं, किन्तु वे पृथक् रहते हैं। सारे लोक अन्तरिक्ष में तैर रहे हैं और यह अन्तरिक्ष परमेश्वर की शक्ति है। किन्तु वे अन्तरिक्ष से भिन्न हैं, वे पृथक् स्थित हैं। अतः भगवान् कहते हैं "यद्यपि ये सब रचित पदार्थ मेरी अचिन्त्य शक्ति पर टिके हैं, किन्तु भगवान् के रूप में मैं उनसे पृथक् रहता हूँ।" यह भगवान् का अचिन्त्य ऐश्वर्य है।

वैदिककोश *निरुक्ति* में कहा गया है—*युज्यतेऽनेन दुर्घटेषु कार्येषु*—परमेश्वर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हुए अचिन्त्य आश्चर्यजनक लीलाएँ कर रहे हैं। उनका व्यक्तित्व विभिन्न शक्तियों से पूर्ण है और उनका संकल्प स्वयं एक तथ्य है। भगवान् को इसी रूप में समझना चाहिए। हम कोई काम करना चाहते हैं, तो अनेक विघ्न आते हैं और कभी-कभी हम जो चाहते हैं वह नहीं कर पाते। किन्तु जब कृष्ण कोई कार्य करना चाहते हैं, तो सब कुछ इतनी पूर्णता से सम्पन्न हो जाता है कि कोई सोच नहीं पाता कि यह सब कैसे हुआ। भगवान् इसी तथ्य को समझाते हैं—यद्यपि वे समस्त सृष्टि के पालक तथा धारणकर्ता हैं, किन्तु वे इस सृष्टि का स्पर्श नहीं करते। केवल उनकी परम इच्छा से प्रत्येक वस्तु का सृजन, धारण, पालन एवं संहार होता है। उनके मन और स्वयं उनमें कोई भेद नहीं है जैसा हमारे भौतिक मन में और स्वयं हम में भेद होता है, क्योंकि वे परमात्मा हैं। साथ ही वे प्रत्येक वस्तु में उपस्थित रहते हैं, किन्तु सामान्य व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि वे साकार रूप में किस तरह उपस्थित हैं। वे भौतिक जगत् से भिन्न हैं तो भी प्रत्येक वस्तु उन्हीं पर आश्रित है। यहाँ पर इसे ही *योगम् ऐश्वरम्* अर्थात् भगवान् की योगशक्ति कहा गया है।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ६॥

यथा—जिस प्रकार; आकाश-स्थितः—आकाश में स्थित; नित्यम्—सदैव; वायुः—हवा; सर्वत्र-गः—सभी जगह बहने वाली; महान्—महान; तथा—उसी प्रकार; सर्वाणि भूतानि—सारे प्राणी; मत्-स्थानि—मुझमें स्थित; इति—इस प्रकार; उपधारय—समझो।

जिस प्रकार सर्वत्र प्रवहमान प्रबल वायु सदैव आकाश में स्थित रहती है, उसी प्रकार समस्त उत्पन्न प्राणियों को मुझमें स्थित जानो।

तात्पर्य : सामान्यजन के लिए यह समझ पाना कठिन है कि इतनी विशाल सृष्टि भगवान् पर किस प्रकार आश्रित है। किन्तु भगवान् उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिससे हमें समझने में सहायता मिले। आकाश हमारी कल्पना के लिए सबसे महान अभिव्यक्ति है और उस आकाश में वायु विराट जगत् की सबसे महान अभिव्यक्ति है। वायु की गति से प्रत्येक वस्तु की गति प्रभावित होती है। किन्तु वायु महान होते हुए भी आकाश के अन्तर्गत ही स्थित रहती है, वह आकाश से परे नहीं होती। इसी प्रकार समस्त विचित्र विराट अभिव्यक्तियों का अस्तित्व भगवान् की परम इच्छा के फलस्वरूप है और वे सब इस परम इच्छा के अधीन हैं जैसा कि हमलोग प्रायः कहते हैं उनकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु उनकी इच्छा के अधीन गतिशील है, उनकी ही इच्छा से सारी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, उनका पालन होता है और उनका संहार होता है। इतने पर भी वे प्रत्येक वस्तु से उसी तरह पृथक् रहते हैं, जिस प्रकार वायु के कार्यों से आकाश रहता है।

उपनिषदों में कहा गया है—*यद्भीषा वातः पवते*—"वायु भगवान् के भय से प्रवाहित होती है" (तैत्तिरीय उपनिषद् २.८.१)। बृहदारण्यक उपनिषद् में (३.८.९) कहा गया है—*एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्यचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृतौ तिष्ठतः*—"भगवान् की अध्यक्षता में परमादेश से चन्द्रमा, सूर्य तथा अन्य विशाल लोक घूम रहे हैं।" *ब्रह्मसंहिता* में (५.५२) भी कहा गया है—

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणां
राजा समस्तसुरमूर्तिरशेषतेजाः।
यस्याज्ञया भ्रमति सम्भृतकालचक्रो
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥

यह सूर्य की गति का वर्णन है। कहा गया है कि सूर्य भगवान् का एक नेत्र है और इसमें ताप तथा प्रकाश फैलाने की अपार शक्ति है। तो भी यह गोविन्द की परम इच्छा और आदेश के अनुसार अपनी कक्षा में घूमता रहता है। अतः हमें वैदिक साहित्य से इसके प्रमाण प्राप्त हैं कि यह विचित्र तथा विशाल लगने वाली भौतिक सृष्टि पूरी तरह भगवान् के वश में है। इसकी व्याख्या इसी अध्याय के अगले श्लोकों में की गई है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

न–कभी नहीं; **च**–भी; **मत्-स्थानि**–मुझमें स्थित; **भूतानि**–सारी सृष्टि; **पश्य**–देखो; **मे**–मेरा; **योगम् ऐश्वरम्**–अचिन्त्य योगशक्ति; **भूत-भृत्**–समस्त जीवों का पालक; **न**–नहीं; **च**–भी; **भूत-स्थः**–विराट अभिव्यक्ति में; **मम**–मेरा; **आत्मा**–स्व, आत्म; **भूत-भावनः**–समस्त अभिव्यक्तियों का स्रोत।

तथापि मेरे द्वारा उत्पन्न सारी वस्तुएँ मुझमें स्थित नहीं रहतीं। जरा, मेरे योग-ऐश्वर्य को देखो! यद्यपि मैं समस्त जीवों का पालक (भर्ता) हूँ और सर्वत्र व्याप्त हूँ, लेकिन मैं इस विराट अभिव्यक्ति का अंश नहीं हूँ, क्योंकि मैं सृष्टि का कारणस्वरूप हूँ।

तात्पर्य : भगवान् का कथन है कि सब कुछ उन्हीं पर आश्रित है (*मत्स्थानि सर्वभूतानि*)। इसका अन्य अर्थ नहीं लगाना चाहिए। भगवान् इस भौतिक जगत् के पालन तथा निर्वाह के लिए प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी नहीं हैं। कभी-कभी हम एटलस (एक रोमन देवता) को अपने कंधों पर गोला उठाये देखते हैं, वह अत्यन्त थका लगता है और इस विशाल पृथ्वीलोक को धारण किये रहता है। हमें किसी ऐसे चित्र को मन में नहीं लाना चाहिए, जिसमें कृष्ण इस सृजित ब्रह्माण्ड को धारण किये हुए हों। उनका कहना है कि यद्यपि सारी वस्तुएँ उन पर टिकी हैं, किन्तु वे पृथक् रहते हैं। सारे लोक अन्तरिक्ष में तैर रहे हैं और यह अन्तरिक्ष परमेश्वर की शक्ति है। किन्तु वे अन्तरिक्ष से भिन्न हैं, वे पृथक् स्थित हैं। अतः भगवान् कहते हैं "यद्यपि ये सब रचित पदार्थ मेरी अचिन्त्य शक्ति पर टिके हैं, किन्तु भगवान् के रूप में मैं उनसे पृथक् रहता हूँ।" यह भगवान् का अचिन्त्य ऐश्वर्य है।

वैदिककोश *निरुक्ति* में कहा गया है—*युज्यतेऽनेन दुर्घटेषु कार्येषु*—परमेश्वर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हुए अचिन्त्य आश्चर्यजनक लीलाएँ कर रहे हैं। उनका व्यक्तित्व विभिन्न शक्तियों से पूर्ण है और उनका संकल्प स्वयं एक तथ्य है। भगवान् को इसी रूप में समझना चाहिए। हम कोई काम करना चाहते हैं, तो अनेक विघ्न आते हैं और कभी-कभी हम जो चाहते हैं वह नहीं कर पाते। किन्तु जब कृष्ण कोई कार्य करना चाहते हैं, तो सब कुछ इतनी पूर्णता से सम्पन्न हो जाता है कि कोई सोच नहीं पाता कि यह सब कैसे हुआ। भगवान् इसी तथ्य को समझाते हैं—यद्यपि वे समस्त सृष्टि के पालक तथा धारणकर्ता हैं, किन्तु वे इस सृष्टि का स्पर्श नहीं करते। केवल उनकी परम इच्छा से प्रत्येक वस्तु का सृजन, धारण, पालन एवं संहार होता है। उनके मन और स्वयं उनमें कोई भेद नहीं है जैसा हमारे भौतिक मन में और स्वयं हम में भेद होता है, क्योंकि वे परमात्मा हैं। साथ ही वे प्रत्येक वस्तु में उपस्थित रहते हैं, किन्तु सामान्य व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि वे साकार रूप में किस तरह उपस्थित हैं। वे भौतिक जगत् से भिन्न हैं तो भी प्रत्येक वस्तु उन्हीं पर आश्रित है। यहाँ पर इसे ही *योगम् ऐश्वरम्* अर्थात् भगवान् की योगशक्ति कहा गया है।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ६॥

यथा–जिस प्रकार, **आकाश-स्थितः**–आकाश में स्थित, **नित्यम्**–सदैव, **वायुः**–हवा, **सर्वत्र-गः**–सभी जगह बहने वाली; **महान्**–महान, **तथा**–उसी प्रकार, **सर्वाणि भूतानि**–सारे प्राणी; **मत्-स्थानि**–मुझमें स्थित, **इति**–इस प्रकार, **उपधारय**–समझो।

जिस प्रकार सर्वत्र प्रवहमान प्रबल वायु सदैव आकाश में स्थित रहती है, उसी प्रकार समस्त उत्पन्न प्राणियों को मुझमें स्थित जानो।

तात्पर्य : सामान्यजन के लिए यह समझ पाना कठिन है कि इतनी विशाल सृष्टि भगवान् पर किस प्रकार आश्रित है। किन्तु भगवान् उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिससे हमें समझने में सहायता मिले। आकाश हमारी कल्पना के लिए सबसे महान अभिव्यक्ति है और उस आकाश में वायु विराट जगत् की सबसे महान अभिव्यक्ति है। वायु की गति से प्रत्येक वस्तु की गति प्रभावित होती है। किन्तु वायु महान होते हुए भी आकाश के अन्तर्गत ही स्थित रहती है, वह आकाश से परे नहीं होती। इसी प्रकार समस्त विचित्र विराट अभिव्यक्तियों का अस्तित्व भगवान् की परम इच्छा के फलस्वरूप है और वे सब इस परम इच्छा के अधीन हैं जैसा कि हमलोग प्रायः कहते हैं उनकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु उनकी इच्छा के अधीन गतिशील है, उनकी ही इच्छा से सारी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, उनका पालन होता है और उनका संहार होता है। इतने पर भी वे प्रत्येक वस्तु से उसी तरह पृथक् रहते हैं, जिस प्रकार वायु के कार्यों से आकाश रहता है।

उपनिषदों में कहा गया है–*यद्भीषा वातः पवते*–"वायु भगवान् के भय से प्रवाहित होती है" (तैत्तिरीय उपनिषद् २.८.१)। बृहदारण्यक उपनिषद् में (३.८.९) कहा गया है–*एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्यचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृतौ तिष्ठतः*–"भगवान् की अध्यक्षता में परमादेश से चन्द्रमा, सूर्य तथा अन्य विशाल लोक घूम रहे हैं।" ब्रह्मसंहिता में (५.५२) भी कहा गया है–

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणां
राजा समस्तसुरमूर्तिरशेषतेजाः।
यस्याज्ञया भ्रमति सम्भृतकालचक्रो
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥

यह सूर्य की गति का वर्णन है। कहा गया है कि सूर्य भगवान् का एक नेत्र है और इसमें ताप तथा प्रकाश फैलाने की अपार शक्ति है। तो भी यह गोविन्द की परम इच्छा और आदेश के अनुसार अपनी कक्षा में घूमता रहता है। अतः हमें वैदिक साहित्य से इसके प्रमाण प्राप्त हैं कि यह विचित्र तथा विशाल लगने वाली भौतिक सृष्टि पूरी तरह भगवान् के वश में है। इसकी व्याख्या इसी अध्याय के अगले श्लोकों में की गई है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ ७॥

सर्वभूतानि–सारे प्राणी; **कौन्तेय**–हे कुन्तीपुत्र; **प्रकृतिम्**–प्रकृति में; **यान्ति**–प्रवेश करते हैं; **मामिकाम्**–मेरी; **कल्प-क्षये**–कल्पान्त में; **पुनः**–फिर से; **तानि**–उन सबों को; **कल्प-आदौ**–कल्प के प्रारम्भ में; **विसृजामि**–उत्पन्न करता हूँ; **अहम्**–मैं।

हे कुन्तीपुत्र! कल्प का अन्त होने पर सारे प्राणी मेरी प्रकृति में प्रवेश करते हैं और अन्य कल्प के आरम्भ होने पर मैं उन्हें अपनी शक्ति से पुनः उत्पन्न करता हूँ।

तात्पर्य : इस विराट भौतिक अभिव्यक्ति का सृजन, पालन तथा संहार पूर्णतया भगवान् की परम इच्छा पर निर्भर है। *कल्पक्षये* का अर्थ है, ब्रह्मा की मृत्यु होने पर। ब्रह्मा एक सौ वर्ष जीवित रहते हैं और उनका एक दिन हमारे ४,३०,००,००,००० वर्षों के तुल्य है। रात्रि भी इतने ही वर्षों की होती है। ब्रह्मा के एक महीने में ऐसे तीस दिन तथा तीस रातें होती हैं और उनके एक वर्ष में ऐसे बारह महीने होते हैं। ऐसे एक सौ वर्षों के बाद जब ब्रह्मा की मृत्यु होती है, तो प्रलय हो जाता है, जिसका अर्थ है कि भगवान् द्वारा प्रकट शक्ति पुनः सिमट कर उन्हीं में चली जाती है। पुनः जब विराटजगत को प्रकट करने की आवश्यकता होती है तो उनकी इच्छा से सृष्टि उत्पन्न होती है। *एकोऽहं बहु स्याम्*–यद्यपि मैं अकेला हूँ, किन्तु मैं अनेक हो जाऊँगा। यह वैदिक सूक्ति है (*छान्दोग्य उपनिषद्* ६.२.३)। वे इस भौतिक शक्ति में अपना विस्तार करते हैं और सारी विराट अभिव्यक्ति पुनः घटित हो जाती है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ ८॥

प्रकृतिम्–प्रकृति में; **स्वाम्**–मेरी निजी; **अवष्टभ्य**–प्रवेश करके; **विसृजामि**–उत्पन्न करता हूँ; **पुनः पुनः**–बारम्बार; **भूत-ग्रामम्**–समस्त विराट अभिव्यक्ति को; **इमम्**–इस; **कृत्स्नम्**–पूर्णतः; **अवशम्**–स्वतः; **प्रकृतेः**–प्रकृति की शक्ति के; **वशात्**–वश में।

सम्पूर्ण विराट जगत मेरे अधीन है। यह मेरी इच्छा से बारम्बार स्वतः प्रकट होता रहता है और मेरी ही इच्छा से अन्त में विनष्ट होता है।

तात्पर्य : यह भौतिक जगत् भगवान् की अपराशक्ति की अभिव्यक्ति है। इसकी व्याख्या कई बार की जा चुकी है। सृष्टि के समय यह शक्ति महत्तत्त्व के रूप में प्रकट होती है जिसमें भगवान् अपने प्रथम पुरुष अवतार, महाविष्णु, के रूप में प्रवेश कर जाते हैं। वे कारणार्णव में शयन करते रहते हैं और अपने श्वास से असंख्य ब्रह्माण्ड निकालते हैं और इन ब्रह्माण्डों में से हर एक में वे गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती है। वे इससे भी आगे अपने आपको क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में प्रकट करते हैं और यह विष्णु प्रत्येक वस्तु में, यहाँ तक कि प्रत्येक अणु में प्रवेश कर जाते हैं। इसी तथ्य की व्याख्या यहाँ हुई है। भगवान् प्रत्येक वस्तु में प्रवेश करते हैं।

जहाँ तक जीवात्माओं का सम्बन्ध है, वे इस भौतिक प्रकृति में गर्भस्थ किये जाते हैं और वे अपने-अपने पूर्वकर्मों के अनुसार विभिन्न योनियाँ ग्रहण करते हैं। इस प्रकार इस भौतिक जगत् के कार्यकलाप प्रारम्भ होते हैं। विभिन्न जीव-योनियों के कार्यकलाप

सृष्टि के समय से ही प्रारम्भ हो जाते हैं। ऐसा नहीं है कि ये योनियाँ क्रमशः विकसित होती हैं। सारी की सारी योनियाँ ब्रह्माण्ड की सृष्टि के साथ ही उत्पन्न होती हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी—ये सभी एकसाथ उत्पन्न होते हैं, क्योंकि पूर्व प्रलय के समय जीवों की जो-जो इच्छाएँ थीं वे पुनः प्रकट होती हैं। इसका स्पष्ट संकेत *अवशम्* शब्द से मिलता है कि जीवों को इस प्रक्रिया से कोई सरोकार नहीं रहता। पूर्व सृष्टि में वे जिस-जिस अवस्था में थे, वे उस-उस अवस्था में पुनः प्रकट हो जाते हैं और यह सब भगवान् की इच्छा से ही सम्पन्न होता है। यही भगवान् की अचिन्त्य शक्ति है। विभिन्न योनियों को उत्पन्न करने के बाद भगवान् का उनमें कोई नाता नहीं रह जाता। यह सृष्टि विभिन्न जीवों की रुचियों को पूरा करने के उद्देश्य से की जाती है। अतः भगवान् इसमें किसी तरह से बद्ध नहीं होते हैं।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥ ९॥

न—कभी नहीं; च—भी; माम्—मुझको; तानि—वे; कर्माणि—कर्म; निबध्नन्ति—बाँधते हैं; धनञ्जय—हे धन के विजेता; उदासीन-वत्—निरपेक्ष या तटस्थ की तरह; आसीनम्—स्थित हुआ; असक्तम्—आसक्तिरहित; तेषु—उन; कर्मसु—कार्यों में।

हे धनञ्जय! ये सारे कर्म मुझे नहीं बाँध पाते हैं। मैं उदासीन की भाँति इन सारे भौतिक कर्मों से सदैव विरक्त रहता हूँ।

तात्पर्य : इस प्रसंग में यह नहीं सोच लेना चाहिए कि भगवान् के पास कोई काम नहीं है। वे अपने वैकुण्ठलोक में सदैव व्यस्त रहते हैं। *ब्रह्मसंहिता* में (५.६) कहा गया है—*आत्मारामस्य तस्यास्ति प्रकृत्या न समागमः*—वे सतत दिव्य आनन्दमय आध्यात्मिक कार्यों में रत रहते हैं, किन्तु इन भौतिक कार्यों से उनका कोई सरोकार नहीं रहता। सारे भौतिक कार्य उनकी विभिन्न शक्तियों द्वारा सम्पन्न होते रहते हैं। वे सदा ही इस सृष्टि के भौतिक कार्यों के प्रति उदासीन रहते हैं। इस उदासीनता को ही यहाँ पर *उदासीनवत्* कहा गया है। यद्यपि छोटे से छोटे भौतिक कार्य पर उनका नियन्त्रण रहता है, किन्तु वे *उदासीनवत्* स्थित रहते हैं। यहाँ पर उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का उदाहरण दिया *जा सकता है, जो अपने आसन पर बैठा रहता है। उसके आदेश से अनेक तरह की* बातें घटती रहती हैं—किसी को फाँसी दी जाती है, किसी को कारावास की सजा मिलती है, तो किसी को प्रचुर धनराशि मिलती है, तो भी वह उदासीन रहता है। उसे इस हानि-लाभ से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। इसी प्रकार भगवान् भी सदैव उदासीन रहते हैं, यद्यपि प्रत्येक कार्य में उनका हाथ रहता है। *वेदान्तसूत्र* में (२.१.३४) यह कहा गया है—*वैषम्यनैर्घृण्ये न*—वे इस जगत् के द्वन्द्वों में स्थित नहीं हैं। वे इन द्वन्द्वों से अतीत हैं। न ही इस जगत् की सृष्टि तथा प्रलय में ही उनकी आसक्ति रहती है। सारे जीव अपने पूर्वकर्मों के अनुसार विभिन्न योनियाँ ग्रहण करते रहते हैं और भगवान् इसमें कोई व्यवधान नहीं डालते।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥१०॥

मया—मेरे द्वारा; **अध्यक्षेण**—अध्यक्षता के कारण; **प्रकृतिः**—प्रकृति; **सूयते**—प्रकट होती है; **स**—सहित; **चर-अचरम्**—जड़ तथा जंगम; **हेतुना**—कारण से; **अनेन**—इस; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **जगत्**—दृश्य जगत; **विपरिवर्तते**—क्रियाशील है।

हे कुन्तीपुत्र! यह भौतिक प्रकृति मेरी शक्तियों में से एक है और मेरी अध्यक्षता में कार्य करती है, जिससे सारे चर तथा अचर प्राणी उत्पन्न होते हैं। इसके शासन में यह जगत् बारम्बार सृजित और विनष्ट होता रहता है।

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि यद्यपि परमेश्वर इस जगत् के समस्त कार्यों से पृथक् रहते हैं, किन्तु इसके परम अध्यक्ष (निर्देशक) वही बने रहते हैं। परमेश्वर परम इच्छामय हैं और इस भौतिक जगत् के आधारभूमिस्वरूप हैं, किन्तु इसकी सभी व्यवस्था प्रकृति द्वारा की जाती है। *भगवद्गीता* में भी कृष्ण यह कहते हैं—"मैं विभिन्न योनियों और रूपों वाले जीवों का पिता हूँ।" जिस तरह पिता बालक उत्पन्न करने के लिए माता के गर्भ में वीर्य स्थापित करता है, उसी प्रकार परमेश्वर अपनी चितवन मात्र से प्रकृति के गर्भ में जीवों को प्रविष्ट करते हैं और वे अपनी अन्तिम इच्छाओं तथा कर्मों के अनुसार विभिन्न रूपों तथा योनियों में प्रकट होते हैं। अतः भगवान् इस जगत् से प्रत्यक्ष रूप में आसक्त नहीं होते। वे प्रकृति पर दृष्टिपात करते हैं, इस तरह प्रकृति क्रियाशील हो उठती है और तुरन्त ही सारी वस्तुएँ उत्पन्न हो जाती हैं। चूँकि वे प्रकृति पर दृष्टिपात करते हैं, इसलिए परमेश्वर की ओर से तो निःसन्देह क्रिया होती है, किन्तु भौतिक जगत् के प्राकट्य से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं रहता। स्मृति में एक उदाहरण मिला है जो इस प्रकार है—जब किसी व्यक्ति के समक्ष फूल होता है तो उसे उसकी सुगन्धि मिलती रहती है, किन्तु फूल तथा सुगन्धि एक दूसरे से विलग रहते हैं। ऐसा ही सम्बन्ध भौतिक जगत् तथा भगवान् के बीच भी है। वस्तुतः भगवान् को इस जगत् से कोई प्रयोजन नहीं रहता, किन्तु वे ही इसे अपने दृष्टिपात से उत्पन्न करते तथा व्यवस्थित करते हैं। सारांश के रूप में हम कह सकते हैं कि परमेश्वर की अध्यक्षता के बिना प्रकृति कुछ भी नहीं कर सकती। तो भी भगवान् समस्त कार्यों से पृथक् रहते हैं।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥११॥

अवजानन्ति—उपहास करते हैं; **माम्**—मुझको; **मूढाः**—मूर्ख व्यक्ति; **मानुषीम्**—मनुष्य रूप में; **तनुम्**—शरीर; **आश्रितम्**—मानते हुए; **परम्**—दिव्य; **भावम्**—स्वभाव को; **अजानन्तः**—न जानते हुए; **मम**—मेरा; **भूत**—प्रत्येक वस्तु का; **महा-ईश्वरम्**—परम स्वामी।

जब मैं मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ, तो मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। वे मुझ परमेश्वर के दिव्य स्वभाव को नहीं जानते।

तात्पर्य : इस अध्याय के पूर्ववर्ती श्लोकों से यह स्पष्ट है कि यद्यपि भगवान् मनुष्य रूप में प्रकट होते हैं, किन्तु वे सामान्य व्यक्ति नहीं होते। जो भगवान् सारे विराट जगत का सृजन, पालन तथा संहार करता हो वह मनुष्य नहीं हो सकता। तो भी ऐसे अनेक मूर्ख हैं, जो कृष्ण को एक शक्तिशाली पुरुष के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते। वस्तुत. वे आदि परमपुरुष हैं, जैसा कि *ब्रह्मसंहिता* में प्रमाण स्वरूप कहा गया है–*ईश्वरः परमः कृष्णः*–वे परम ईश्वर हैं।

ईश्वर या नियन्ता अनेक हैं और वे एक दूसरे से बढ़कर प्रतीत होते हैं। भौतिक जगत् में सामान्य प्रबन्धकार्यों का कोई न कोई निर्देशक होता है, जिसके ऊपर एक सचिव होता है, फिर उसके ऊपर मन्त्री तथा उससे भी ऊपर राष्ट्रपति होता है। इनमें से हर एक नियन्त्रक होता है, किन्तु एक दूसरे के द्वारा नियन्त्रित होता है। *ब्रह्मसंहिता* में कहा गया है कि कृष्ण परम नियन्ता हैं। निस्सन्देह भौतिक जगत् तथा वैकुण्ठलोक दोनों में ही कई-कई निर्देशक होते हैं, किन्तु कृष्ण परम नियन्ता हैं (*ईश्वरः परमः कृष्ण*) तथा उनका शरीर सच्चिदानन्द रूप अर्थात् अभौतिक होता है।

पिछले श्लोकों मे जिन अद्भुत कार्यकलापों का वर्णन हुआ है, वे भौतिक शरीर द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकते। कृष्ण का शरीर सच्चिदानन्द रूप है। यद्यपि वे सामान्य व्यक्ति नहीं हैं, किन्तु मूर्ख लोग उनका उपहास करते हैं और उन्हें मनुष्य मानते हैं। उनका शरीर यहाँ *मानुषीम्* कहा गया है, क्योंकि वे कुरुक्षेत्र युद्ध मे एक राजनीतिज्ञ और अर्जुन के मित्र की भाँति सामान्य व्यक्ति बनकर कर्म करते हैं। वे अनेक प्रकार से सामान्य पुरुष की भाँति कर्म करते हैं, किन्तु उनका शरीर सच्चिदानन्द विग्रह रूप है। इसकी पुष्टि वैदिक साहित्य मे भी हुई है। *सच्चिदानन्द रूपाय कृष्णाय*–मैं भगवान् कृष्ण को नमस्कार करता हूँ जो सच्चिदानन्द रूप हैं (*गोपाल तापनी उपनिषद्* १.१)। वेदों में ऐसे अन्य वर्णन भी हैं। *तमेकं गोविन्दम्*–आप इन्द्रियों तथा गायों के आनन्दस्वरूप गोविन्द हैं। *सच्चिदानन्दविग्रहम्*–तथा आपका रूप सच्चिदानन्द स्वरूप है (*गोपाल-तापनी उपनिषद्* १.३५)।

भगवान् कृष्ण के सच्चिदानन्दस्वरूप होने पर भी ऐसे अनेक तथाकथित विद्वान् तथा *भगवद्गीता* के टीकाकार हैं जो कृष्ण को सामान्य पुरुष कहकर उनका उपहास करते हैं। भले ही अपने पूर्व पुण्यों के कारण विद्वान् असाधारण व्यक्ति के रूप मे पैदा हुआ हो, किन्तु श्रीकृष्ण के बारे में ऐसी धारणा उसकी अल्पज्ञता के कारण होती है। इसीलिए वह मूढ कहलाता है, क्योंकि मूर्ख पुरुष ही कृष्ण को सामान्य पुरुष मानते हैं। ऐसे मूर्ख कृष्ण को सामान्य व्यक्ति इसीलिए मानते हैं, क्योंकि वे कृष्ण के गुह्य कर्मों तथा उनकी विभिन्न शक्तियों से अपरिचित होते हैं। वे यह नहीं जानते कि कृष्ण का शरीर पूर्णज्ञान तथा आनन्द का प्रतीक है, वे प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं और किसी को भी मुक्ति प्रदान करने वाले हैं। चूँकि वे कृष्ण के इतने सारे दिव्य गुणों को नहीं जानते, इसीलिए उनका उपहास करते हैं।

ये मूढ यह भी नहीं जानते कि इस जगत् में भगवान् का अवतरण उनकी अन्तरंगा शक्ति का प्राकट्य है। वे भौतिक शक्ति (माया) के स्वामी हैं। जैसा कि अनेक स्थलों पर कहा जा चुका है (*मम माया दुरत्यया*), भगवान् का दावा है कि यद्यपि भौतिक शक्ति

अत्यन्त प्रवल है, किन्तु वह उनके वश में रहती है और जो भी उनकी शरण ग्रहण कर लेता है, वह इस माया के वश से वाहर निकल आता है। यदि कृष्ण का शरणागत जीव माया के प्रभाव से वाहर निकल सकता है, तो भला परमेश्वर जो सम्पूर्ण विराट जगत् का सृजन, पालन तथा संहारकर्ता है, हम लोगों जैसा शरीर कैसे धारण कर सकता है? अतः कृष्ण विपयक ऐसी धारणा मूर्खतापूर्ण है। फिर भी मूर्ख व्यक्ति यह नहीं समझ सकते कि सामान्य व्यक्ति के रूप में प्रकट होने वाले भगवान् कृष्ण समस्त परमाणुओं तथा इस विराट व्रह्माण्ड के नियन्ता किस तरह हो सकते हैं। वृहत्तम तथा सूक्ष्मतम तो उनकी विचार शक्ति से परे होते हैं, अतः वे यह सोच भी नहीं सकते कि मनुष्य-जैसा रूप कैसे एक साथ विशाल को तथा अणु को वश में कर सकता है। यद्यपि कृष्ण असीम तथा ससीम को नियन्त्रित करते हैं, किन्तु वे इस जगत् से विलग रहते हैं। उनके *योगमैश्वरम्* या अचिन्त्य दिव्य शक्ति के विपय में कहा गया है कि वे एकसाथ ससीम तथा असीम को वश में रख सकते हैं, तो भी वे उनसे पृथक् रहते हैं। यद्यपि मूर्ख लोग यह सोच भी नहीं पाते कि मनुष्य रूप में उत्पन्न होकर कृष्ण किस तरह असीम तथा ससीम को वश में कर सकते हैं, किन्तु जो शुद्धभक्त हैं वे इसे स्वीकार करते हैं, क्योंकि उन्हें पता है कि कृष्ण भगवान् हैं। अतः वे पूर्णतया उनकी शरण में जाते हैं और कृष्णभावनामृत में रहकर कृष्ण की भक्ति में अपने को रत रखते हैं।

सगुणवादियों तथा निर्गुणवादियों में भगवान् के मनुष्य रूप में प्रकट होने को लेकर काफी मतभेद है। किन्तु यदि हम *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे प्रामाणिक ग्रंथों का अनुशीलन कृष्णतत्त्व समझने के लिए करें तो हम समझ सकते हैं कि कृष्ण श्रीभगवान् हैं। यद्यपि वे इस धराधाम में सामान्य व्यक्ति की भाँति प्रकट हुए थे, किन्तु वे सामान्य व्यक्ति हैं नहीं। *श्रीमद्भागवत* में (१.१.२०) जव शौनक आदि मुनियों ने सूत गोस्वामी से कृष्ण के कार्यकलापों के विपय में पूछा तो उन्होंने कहा—

कृतवान् किल कर्माणि सह रामेण केशवः।
अतिमर्त्यानि भगवान् गूढः कपटमानुपः॥

"भगवान् श्रीकृष्ण ने वलराम के साथ-साथ मनुष्य की भाँति क्रीड़ा की ओर इस तरह प्रच्छन्न रूप में उन्होंने अनेक अतिमानवीय कार्य किये।" मनुष्य के रूप में भगवान् का प्राकट्य मूर्ख को मोहित वना देता है। कोई भी मनुष्य उन अलौकिक कार्यों को सम्पन्न नहीं कर सकता जिन्हें उन्होंने इस धरा पर करके दिखा दिया था। जव कृष्ण अपने पिता तथा माता (वसुदेव तथा देवकी) के समक्ष प्रकट हुए तो वे चार भुजाओं से युक्त थे। किन्तु माता-पिता की प्रार्थना पर उन्होंने एक सामान्य शिशु का रूप धारण कर लिया—*वभूव प्राकृतः शिशुः* (*भागवत* १०.३.४६)। वे एक सामान्य शिशु, एक सामान्य मानव वन गये। यहाँ पर भी यह इंगित होता है कि सामान्य व्यक्ति के रूप में प्रकट होना उनके दिव्य शरीर का एक गुण है। *भगवद्गीता* के ग्यारहवें अध्याय में भी कहा गया है कि अर्जुन ने कृष्ण से अपना चतुर्भुज रूप दिखलाने के लिए प्रार्थना की (*तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन*)। इस रूप को प्रकट करने के वाद अर्जुन के प्रार्थना करने पर उन्होंने पूर्व मनुष्य रूप धारण कर लिया (*मानुपं रूपम्*)। भगवान् के ये विभिन्न गुण निश्चय ही सामान्य मनुष्य जैसे नहीं हैं।

कतिपय लोग, जो कृष्ण का उपहास करते हैं और मायावादी दर्शन से प्रभावित होते हैं, *श्रीमद्भागवत* के निम्नलिखित श्लोक (३.२९.२१) को यह सिद्ध करने के लिए उद्धृत करते हैं कि कृष्ण एक सामान्य व्यक्ति थे। *अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा*–परमेश्वर समस्त जीवों में विद्यमान हैं। अच्छा हो कि इस श्लोक को हम जीव गोस्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर जैसे वैष्णव आचार्यों से ग्रहण करें, न कि कृष्ण का उपहास करने वाले अनधिकारी व्यक्तियों की व्याख्याओं से। जीव गोस्वामी इस श्लोक की टीका करते हुए कहते हैं कि कृष्ण समस्त चराचरों में अपने अंश विस्तार परमात्मा के रूप में स्थित हैं। अतः कोई भी नवदीक्षित भक्त जो मन्दिर में भगवान् की अर्चामूर्ति पर ही ध्यान देता है और अन्य जीवों का सम्मान नहीं करता वह वृथा ही मन्दिर में भगवान् की पूजा में लगा रहता है। भगवद्भक्तों के तीन प्रकार हैं, जिनमें से नवदीक्षित सबसे निम्न श्रेणी के हैं। नवदीक्षित भक्त अन्य भक्तों की अपेक्षा मन्दिर के अर्चाविग्रह पर अधिक ध्यान देते हैं, अतः विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर चेतावनी देते हैं कि इस प्रकार की मानसिकता को सुधारना चाहिए। भक्त को समझना चाहिए कि चूँकि कृष्ण परमात्मा रूप में प्रत्येक जीव के हृदय में विद्यमान हैं, अतः प्रत्येक व्यक्ति परमेश्वर का निवास या मन्दिर है, इसलिए जिस तरह कोई भक्त भगवान् के मन्दिर का सम्मान करता है, वैसे ही उसे प्रत्येक जीव का सम्मान करना चाहिए, जिसमें परमात्मा निवास करता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति का समुचित सम्मान करना चाहिए, कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

ऐसे अनेक निर्विशेषवादी हैं जो मन्दिरपूजा का उपहास करते हैं। वे कहते हैं कि चूँकि भगवान् सर्वत्र हैं तो फिर अपने को हम मन्दिरपूजा तक ही सीमित क्यों रखें? यदि ईश्वर सर्वत्र हैं तो क्या वे मन्दिर या अर्चाविग्रह में नहीं होंगे? यद्यपि सगुणवादी तथा निर्विशेषवादी निरन्तर लड़ते रहेंगे, किन्तु कृष्णभावनामृत में पूर्ण भक्त यह जानता है कि यद्यपि कृष्ण भगवान् हैं, किन्तु इसके साथ वे सर्वव्यापी भी हैं, जिसकी पुष्टि *ब्रह्मसंहिता* में हुई है। यद्यपि उनका निजी धाम गोलोक वृन्दावन है और वे वहीं निरन्तर वास करते हैं, किन्तु वे अपनी शक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियों द्वारा तथा अपने स्वांश द्वारा भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत् में सर्वत्र विद्यमान रहते हैं।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥१२॥

मोघ-आशाः–निष्फल आशा; मोघ-कर्माणः–निष्फल सकाम कर्म; मोघ-ज्ञानाः–विफल ज्ञान; विचेतसः–मोहग्रस्त; राक्षसीम्–राक्षसी; आसुरीम्–आसुरी; च–तथा; एव–निश्चय ही; प्रकृतिम्–स्वभाव को; मोहिनीम्–मोहने वाली; श्रिताः–शरण ग्रहण किये हुए।

जो लोग इस प्रकार मोहग्रस्त होते हैं, वे आसुरी तथा नास्तिक विचारों के प्रति आकृष्ट रहते हैं। इस मोहग्रस्त अवस्था में उनकी मुक्ति-आशा, उनके सकाम कर्म तथा ज्ञान का अनुशीलन सभी निष्फल हो जाते हैं।

तात्पर्य : ऐसे अनेक भक्त हैं जो अपने को कृष्णभावनामृत तथा भक्ति में रत दिखलाते हैं, किन्तु अन्तःकरण से वे भगवान् कृष्ण को परब्रह्म नहीं मानते। ऐसे लोगों को कभी

भी भक्ति-फल–भगवद्धाम गमन–प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार जो पुण्यकर्मों में लगे रहकर अन्ततोगत्वा इस भववन्धन से मुक्त होना चाहते हैं, वे भी सफल नहीं हो पाते, क्योंकि वे कृष्ण का उपहास करते हैं। दूसरे शव्दों में, जो लोग कृष्ण पर हँसते हैं, उन्हें आसुरी या नास्तिक समझना चाहिए। जैसा कि सातवें अध्याय में वताया जा चुका है, ऐसे आसुरी दुष्ट कभी भी कृष्ण की शरण में नहीं जाते। अतः परमसत्य तक पहुँचने के उनके मानसिक चिन्तन उन्हें इस मिथ्या परिणाम को प्राप्त कराते हैं कि सामान्य जीव तथा कृष्ण एक समान हैं। ऐसी मिथ्या धारणा के कारण वे सोचते हैं कि अभी तो यह शरीर प्रकृति द्वारा केवल आच्छादित है और ज्योंही व्यक्ति मुक्त होगा, तो उसमें तथा ईश्वर में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। कृष्ण से समता का यह प्रयास भ्रम के कारण निष्फल हो जाता है। इस प्रकार का आसुरी तथा नास्तिक ज्ञान-अनुशीलन सदैव व्यर्थ रहता है, यही इस श्लोक का संकेत है। ऐसे व्यक्तियों के लिए वेदान्त सूत्र तथा उपनिषदों जैसे वैदिक वाङ्मय के ज्ञान का अनुशीलन सदा निष्फल होता है।

अतः भगवान् कृष्ण को सामान्य व्यक्ति मानना घोर अपराध है। जो ऐसा करते हैं वे निश्चित रूप से मोहग्रस्त रहते हैं, क्योंकि वे कृष्ण के शाश्वत रूप को नहीं समझ पाते। *बृहद्विष्णु स्मृति* का कथन है—

यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः।
स सर्वस्माद् बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्तविधानतः।
मुखं तस्यावलोक्यापि सचेलं स्नानमाचरेत्॥

"जो कृष्ण के शरीर को भौतिक मानता है उसे श्रुति तथा स्मृति के समस्त अनुष्ठानों से वंचित कर देना चाहिए। यदि कोई भूल से उसका मुँह देख ले तो उसे तुरन्त गंगा स्नान करना चाहिए, जिससे छूत दूर हो सके।" लोग कृष्ण की हँसी उड़ाते हैं क्योंकि वे भगवान् से ईर्ष्या करते हैं। उनके भाग्य में जन्म-जन्मान्तर नास्तिक तथा असुर योनियों में रहे आना लिखा है। उनका वास्तविक ज्ञान सदैव के लिए भ्रम में रहेगा और धीरे-धीरे वे सृष्टि के गहनतम अन्धकार में गिरते जायेंगे।"

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥१३॥

महा-आत्मनः–महापुरुष; **तु**–लेकिन; **माम्**–मुझको; **पार्थ**–हे पृथापुत्र; **दैवीम्**–दैवी; **प्रकृतिम्**–प्रकृति के; **आश्रिताः**–शरणागत; **भजन्ति**–सेवा करते हैं; **अनन्य-मनसः**–अविचलित मन से; **ज्ञात्वा**–जानकर; **भूत**–सृष्टि का; **आदिम्**–उद्गम; **अव्ययम्**–अविनाशी।

हे पार्थ! मोहमुक्त महात्माजन दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे पूर्णतः भक्ति में निमग्न रहते हैं क्योंकि वे मुझे आदि तथा अविनाशी भगवान् के रूप में जानते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *महात्मा* का वर्णन हुआ है। महात्मा का सवसे पहला लक्षण यह है कि वह दैवी प्रकृति में स्थित रहता है। वह भौतिक प्रकृति के अधीन नहीं होता और

यह होता कैसे है? इसकी व्याख्या सातवें अध्याय में की गई है—जो भगवान् श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करता है वह तुरन्त ही भौतिक प्रकृति के वश से मुक्त हो जाता है। यही वह पात्रता है। ज्योंही कोई भगवान् का शरणागत हो जाता है वह भौतिक प्रकृति के वश से मुक्त हो जाता है। यही मूलभूत सूत्र है। तटस्था शक्ति होने के कारण जीव ज्योंही भौतिक प्रकृति के वश से मुक्त होता है त्योंही वह आध्यात्मिक प्रकृति के निर्देशन में चला जाता है। आध्यात्मिक प्रकृति का निर्देशन ही दैवी प्रकृति कहलाती है। इस प्रकार से जब कोई भगवान् के शरणागत होता है तो उसे *महात्मा* पद की प्राप्ति होती है।

महात्मा अपने ध्यान को कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी ओर नहीं ले जाता, क्योंकि वह भलीभाँति जानता है कि कृष्ण ही आदि परम पुरुष, समस्त कारणों के कारण हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। ऐसा महात्मा अन्य महात्माओं या शुद्धभक्तों की संगति से प्रगति करता है। शुद्धभक्त तो कृष्ण के अन्य स्वरूपों, यथा चतुर्भुज महाविष्णु रूप से भी आकृष्ट नहीं होते। वे न तो कृष्ण के अन्य किसी रूप से आकृष्ट होते हैं, न ही वे देवताओं या मनुष्यों के किसी रूप की परवाह करते हैं। वे कृष्णभावनामृत में केवल कृष्ण का ध्यान करते हैं। वे कृष्णभावनामृत में निरन्तर भगवान् की अविचल सेवा में लगे रहते हैं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥१४॥

सततम्—निरन्तर, **कीर्तयन्तः**—कीर्तन करते हुए, **माम्**—मेरे विषय में, **यतन्तः**—प्रयास करते हुए, **च**—भी, **दृढ-व्रताः**—संकल्पपूर्वक, **नमस्यन्तः**—नमस्कार करते हुए, **च**—तथा, **माम्**—मुझको, **भक्त्या**—भक्ति में, **नित्य-युक्ताः**—सदैव रत रहकर, **उपासते**—पूजा करते हैं।

ये महात्मा मेरी महिमा का नित्य कीर्तन करते हुए दृढसंकल्प के साथ प्रयास करते हुए, मुझे नमस्कार करते हुए, भक्तिभाव से निरन्तर मेरी पूजा करते हैं।

तात्पर्य : सामान्य पुरुष को रबर की मुहर लगाकर महात्मा नहीं बनाया जाता। यहाँ पर उसके लक्षणों का वर्णन किया गया है—महात्मा सदैव भगवान् कृष्ण के गुणों का कीर्तन करता रहता है, उसके पास कोई दूसरा कार्य नहीं रहता। वह सदैव कृष्ण के गुण-गान में व्यस्त रहता है। दूसरे शब्दों में, वह निर्विशेषवादी नहीं होता। जब गुण-गान का प्रश्न उठे तो मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् के पवित्र नाम, उनके नित्य रूप, उनके दिव्य गुणों तथा उनकी असामान्य लीलाओं की प्रशंसा करते हुए परमेश्वर को महिमान्वित करे। उसे इन सारी वस्तुओं को महिमान्वित करना होता है, अत: महात्मा भगवान् के प्रति आसक्त रहता है।

जो व्यक्ति परमेश्वर के निराकार रूप, *ब्रह्मज्योति*, के प्रति आसक्त होता है उसे *भगवद्गीता* में महात्मा नहीं कहा गया। उसे अगले श्लोक में अन्य प्रकार से वर्णित किया गया है। महात्मा सदैव भक्ति के विविध कार्यों में, यथा विष्णु के श्रवण-कीर्तन में, व्यस्त रहता है, जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में उल्लेख है। यही भक्ति *श्रवणं कीर्तनं*

विष्णोः तथा *स्मरणं* है। ऐसा महात्मा अन्ततः भगवान् के पाँच दिव्य रसों में से किसी एक रस में उनका सान्निध्य प्राप्त करने के लिए दृढव्रत होता है। इसे प्राप्त करने के लिए वह *मनसा वाचा कर्मणा* अपने सारे कार्यकलाप भगवान् कृष्ण की सेवा में लगाता है। यही पूर्ण कृष्णभावनामृत कहलाता है।

भक्ति में कुछ कार्य हैं जिन्हें *दृढव्रत* कहा जाता है, यथा प्रत्येक एकादशी को तथा भगवान् के आविर्भाव दिवस (जन्माष्टमी) पर उपवास करना। ये सारे विधि-विधान महान आचार्यों द्वारा उन लोगों के लिए बनाये गये हैं जो दिव्यलोक में भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करने के इच्छुक हैं। महात्माजन इन विधि-विधानों का दृढ़ता से पालन करते हैं। फलतः उनके लिए वाञ्छित फल की प्राप्ति निश्चित रहती है।

जैसा कि इसी अध्याय के द्वितीय श्लोक में कहा गया है, यह भक्ति न केवल सरल है अपितु, इसे सुखपूर्वक किया जा सकता है। इसके लिए कठिन तपस्या करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। मनुष्य सक्षम गुरु के निर्देशन में इस जीवन को गृहस्थ, संन्यासी या ब्रह्मचारी रहते हुए भक्ति में बिता सकता है। वह संसार में किसी भी अवस्था में कहीं भी भगवान् की भक्ति करके वास्तव में महात्मा बन सकता है।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ १५॥

ज्ञान-यज्ञेन—ज्ञान के अनुशीलन द्वारा; **च**—भी; **अपि**—निश्चय ही; **अन्ये**—अन्य लोग; **यजन्तः**—यज्ञ करते हुए; **माम्**—मुझको; **उपासते**—पूजते हैं; **एकत्वेन**—एकान्त भाव से; **पृथक्त्वेन**—द्वैतभाव से; **बहुधा**—अनेक प्रकार से; **विश्वतः मुखम्**—विश्व रूप में।

अन्य लोग जो ज्ञान के अनुशीलन द्वारा यज्ञ में लगे रहते हैं, वे भगवान् की पूजा उनके अद्वय रूप में, विविध रूपों में तथा विश्व रूप में करते हैं।

तात्पर्य : यह श्लोक पिछले श्लोकों का सारांश है। भगवान् अर्जुन को बताते हैं कि जो विशुद्ध कृष्णभावनामृत में लगे रहते हैं और कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं जानते, वे महात्मा कहलाते हैं। तो भी कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो वास्तव में महात्मा पद को प्राप्त नहीं होते, किन्तु वे भी विभिन्न प्रकारों से कृष्ण की पूजा करते हैं। इनमें से कुछ का वर्णन आर्त, अर्थार्थी, ज्ञानी तथा जिज्ञासु के रूप में किया जा चुका है। किन्तु फिर भी कुछ ऐसे भी लोग होते हैं जो इनसे भी निम्न होते हैं। इन्हें तीन कोटियों में रखा जाता है—१) परमेश्वर तथा अपने को एक मानकर पूजा करने वाले, २) परमेश्वर के किसी मनोकल्पित रूप की पूजा करने वाले तथा ३) भगवान् के विश्व रूप की पूजा करने वाले। इनमें से सबसे अधम वे हैं जो अपने आपको अद्वैतवादी मानकर अपनी पूजा परमेश्वर के रूप में करते हैं और इन्हीं का प्राधान्य भी है। ऐसे लोग अपने को परमेश्वर मानते हैं और इस मानसिकता के कारण वे अपनी पूजा आप करते हैं। यह भी एक प्रकार की ईशपूजा है, क्योंकि वे समझते हैं कि वे भौतिक पदार्थ न होकर आत्मा हैं। कम से कम, ऐसा भाव तो प्रधान रहता है। सामान्यतया निर्विशेषवादी इसी प्रकार से परमेश्वर को पूजते हैं। दूसरी कोटि के लोग वे हैं जो देवताओं के उपासक हैं,

जो अपनी कल्पना से किसी भी स्वरूप को परमेश्वर का स्वरूप मान लेते हैं। तृतीय कोटि में वे लोग आते हैं जो इस ब्रह्माण्ड से परे कुछ भी नहीं सोच पाते। वे ब्रह्माण्ड को ही परम जीव या सत्ता मानकर उसकी उपासना करते हैं। यह ब्रह्माण्ड भी भगवान् का एक स्वरूप है।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥१६॥

अहम्–मैं, क्रतु:–वैदिक अनुष्ठान, कर्मकाण्ड; अहम्–मैं, यज्ञः–स्मार्त यज्ञ; स्वधा–तर्पण, अहम्–मैं, अहम्–मैं, औषधम्–जड़ीबूटी, मन्त्रः–दिव्य ध्वनि, अहम्–मैं, अहम्–मैं; एव–निश्चय ही, आज्यम्–घृत, अहम्–मैं, अग्निः–अग्नि, अहम्–मैं, हुतम्–आहुति, भेंट।

किन्तु मैं ही कर्मकाण्ड, मैं ही यज्ञ, पितरों को दिया जाने वाला तर्पण, औषधि, दिव्य ध्वनि (मन्त्र), घी, अग्नि तथा आहुति हूँ।

तात्पर्य : *ज्योतिष्टोम* नामक वैदिक यज्ञ भी कृष्ण है। *स्मृति* में वर्णित महायज्ञ भी वही हैं। पितृलोक को अर्पित तर्पण या पितृलोक को प्रसन्न करने के लिए किया गया यज्ञ, जिसे घृत रूप में एक प्रकार की ओषधि माना जाता है, वह भी कृष्ण ही है। इस सम्बन्ध में जिन मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है, वे भी कृष्ण हैं। यज्ञों में आहुति के लिए प्रयुक्त होने वाली दुग्ध से बनी अनेक वस्तुएँ भी कृष्ण हैं। अग्नि भी कृष्ण है, क्योंकि यह अग्नि पाँच तत्त्वों में से एक है, अतः वह कृष्ण की भिन्ना शक्ति कही जाती है। दूसरे शब्दों में, वेदों के कर्मकाण्ड भाग में प्रतिपादित वैदिक यज्ञ भी पूर्णरूप से कृष्ण हैं। अथवा यह कह सकते हैं कि जो लोग कृष्ण की भक्ति में लगे हुए हैं उनके लिए यह समझना चाहिए कि उन्होंने सारे वेदविहित यज्ञ सम्पन्न कर लिए हैं।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥१७॥

पिता–पिता, अहम्–मैं, अस्य–इस; जगतः–ब्रह्माण्ड का, माता–माता, धाता–आश्रयदाता, पितामहः–बाबा; वेद्यम्–जानने योग्य; पवित्रम्–शुद्ध करने वाला, ॐकारः–ॐ अक्षर, ऋक्–ऋग्वेद; साम–सामवेद; यजुः–यजुर्वेद; एव–निश्चय ही, च–तथा।

मैं इस ब्रह्माण्ड का पिता, माता, आश्रय तथा पितामह हूँ। मैं ज्ञेय (जानने योग्य), शुद्धिकर्ता तथा ओंकार हूँ। मैं ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद भी हूँ।

तात्पर्य : सारे चराचर विराट जगत की अभिव्यक्ति कृष्ण की शक्ति के विभिन्न कार्यकलापों से होती है। इस भौतिक जगत् में हम विभिन्न जीवों के साथ तरह-तरह के सम्बन्ध स्थापित करते हैं, जो कृष्ण की शक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं। प्रकृति की सृष्टि में उनमें से कुछ हमारे माता, पिता के रूप में उत्पन्न होते हैं किन्तु वे कृष्ण के अंश ही हैं। इस दृष्टि से ये जीव जो हमारे माता, पिता आदि प्रतीत होते हैं वे कृष्ण के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। इस श्लोक में आए *धाता* शब्द का अर्थ स्रष्टा है। न केवल हमारे माता पिता कृष्ण के अंश रूप हैं, अपितु इनके स्रष्टा दादी तथा दादा कृष्ण हैं। वस्तुतः कोई

भी जीव कृष्ण का अंश होने के कारण कृष्ण है। अतः सारे वेदों के लक्ष्य कृष्ण ही हैं। हम वेदों से जो भी जानना चाहते हैं वह कृष्ण को जानने की दिशा में होता है। जिस विषय से हमारी स्वाभाविक स्थिति शुद्ध होती है, वह कृष्ण है। इसी प्रकार जो जीव वैदिक नियमों को जानने के लिए जिज्ञासु रहता है, वह भी कृष्ण का अंश, अतः कृष्ण भी है। समस्त वैदिक मन्त्रों में ॐ शब्द, जिसे प्रणव कहा जाता है, एक दिव्य ध्वनि-कम्पन है और यह कृष्ण भी है। चूँकि चारों वेदों—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद में प्रणव या ओंकार प्रधान है, अतः इसे कृष्ण समझना चाहिए।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥१८॥

गतिः—लक्ष्य; **भर्ता**—पालक; **प्रभुः**—भगवान्; **साक्षी**—गवाह; **निवासः**—धाम; **शरणम्**—शरण; **सुहृत्**—घनिष्ठ मित्र; **प्रभवः**—सृष्टि; **प्रलयः**—संहार; **स्थानम्**—भूमि, स्थिति; **निधानम्**—आश्रय, विश्राम स्थल; **बीजम्**—बीज, कारण; **अव्ययम्**—अविनाशी।

मैं ही लक्ष्य, पालनकर्ता, स्वामी, साक्षी, धाम, शरणस्थली तथा अत्यन्त प्रिय मित्र हूँ। मैं सृष्टि तथा प्रलय, सबका आधार, आश्रय तथा अविनाशी बीज भी हूँ।

तात्पर्य : *गति* का अर्थ है गन्तव्य या लक्ष्य, जहाँ हम जाना चाहते हैं। लेकिन चरमलक्ष्य तो कृष्ण हैं, यद्यपि लोग इसे जानते नहीं। जो कृष्ण को नहीं जानता वह पथभ्रष्ट हो जाता है और उसकी तथाकथित प्रगति या तो आंशिक होती है या फिर भ्रमपूर्ण। ऐसे अनेक लोग हैं जो देवताओं को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं और तदनुसार कठोर नियमों का पालन करते हुए चन्द्रलोक, सूर्यलोक, इन्द्रलोक, महर्लोक जैसे विभिन्न लोकों को प्राप्त होते हैं। किन्तु ये सारे लोक कृष्ण की ही सृष्टि होने के कारण कृष्ण हैं और नहीं भी हैं। ऐसे लोक भी कृष्ण की शक्ति की अभिव्यक्तियाँ होने के कारण कृष्ण हैं, किन्तु वस्तुतः वे कृष्ण की अनुभूति की दिशा में सोपान का कार्य करते हैं। कृष्ण की विभिन्न शक्तियों तक पहुँचने का अर्थ है अप्रत्यक्षतः कृष्ण तक पहुँचना। अतः मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण तक सीधे पहुँचे, क्योंकि इससे समय तथा शक्ति की बचत होगी। उदाहरणार्थ, यदि किसी ऊँची इमारत की चोटी तक एलीवेटर (लिफ्ट) के द्वारा पहुँचने की सुविधा हो तो फिर एक-एक सीढ़ी करके ऊपर क्यों चढ़ा जाये? सब कुछ कृष्ण की शक्ति पर आश्रित है, अतः कृष्ण की शरण लिये बिना किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता। कृष्ण परम शासक हैं, क्योंकि सब कुछ उन्हीं का है और उन्हीं की शक्ति पर आश्रित है। प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित होने के कारण कृष्ण परम साक्षी हैं। हमारा घर, देश या लोक जहाँ पर हम रह रहे हैं, सब कुछ कृष्ण का है। शरण के लिए कृष्ण परम गन्तव्य हैं, अतः मनुष्य को चाहिए कि अपनी रक्षा या अपने कष्टों के विनाश के लिए कृष्ण की शरण ग्रहण करे। हम चाहे जहाँ भी शरण लें हमें जानना चाहिए कि हमारा आश्रय कोई जीवित शक्ति होनी चाहिए। कृष्ण परम जीव हैं। चूँकि कृष्ण हमारी उत्पत्ति के कारण या हमारे परमपिता हैं, अतः उनसे बढ़कर न तो कोई मित्र हो सकता है, न शुभचिन्तक। कृष्ण सृष्टि के आदि उद्गम और प्रलय के पश्चात् परम विश्रामस्थल हैं।

अतः कृष्ण सभी कारणों के आदि कारण हैं।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥१९॥

तपामि—ताप देता हूँ, गर्मी पहुँचाता हूँ; अहम्—मैं; अहम्—मैं; वर्षम्—वर्षा; निगृह्णामि—रोके रहता हूँ; उत्सृजामि—भेजता हूँ; च—तथा; अमृतम्—अमरत्व; च—तथा; एव—निश्चय ही; मृत्युः—मृत्यु; च—तथा; सत्—आत्मा; असत्—पदार्थ; च—तथा; अहम्—मैं; अर्जुन—हे अर्जुन।

हे अर्जुन! मैं ही ताप प्रदान करता हूँ और वर्षा को रोकता तथा लाता हूँ। मैं अमरत्व हूँ और साक्षात् मृत्यु भी हूँ। आत्मा तथा पदार्थ (सत् तथा असत्) दोनों मुझ ही में हैं।

तात्पर्य : कृष्ण अपनी विभिन्न शक्तियों से विद्युत तथा सूर्य के द्वारा ताप तथा प्रकाश बिखेरते हैं। ग्रीष्म ऋतु में कृष्ण ही आकाश से वर्षा नहीं होने देते और वर्षा ऋतु में वे ही अनवरत वर्षा की झड़ी लगाते हैं। जो शक्ति हमें जीवन प्रदान करती है वह कृष्ण है और अंत में मृत्यु रूप में हमें कृष्ण मिलते हैं। कृष्ण की इन विभिन्न शक्तियों का विश्लेषण करने पर यह निश्चित हो जाता है कि कृष्ण के लिए पदार्थ तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं है, अथवा दूसरे शब्दों में, वे पदार्थ तथा आत्मा दोनों हैं। अतः कृष्णभावनामृत की उच्च अवस्था में ऐसा भेद नहीं माना जाता। मनुष्य हर वस्तु में कृष्ण के ही दर्शन करता है।

चूँकि कृष्ण पदार्थ तथा आत्मा दोनों हैं, अतः समस्त भौतिक प्राकट्यों से युक्त यह विराट विश्व रूप भी कृष्ण है एवं वृन्दावन में दो भुजावाले वंशी वादन करते श्यामसुन्दर रूप में उनकी लीलाएँ उनके भगवान् रूप की होती हैं।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥२०॥

त्रै-विद्याः—तीन वेदों के ज्ञाता; माम्—मुझको; सोम-पाः—सोम रसपान करने वाले; पूत—पवित्र; पापाः—पापों का; यज्ञैः—यज्ञों के साथ; इष्ट्वा—पूजा करके; स्वः-गतिम्—स्वर्ग की प्राप्ति के लिए; प्रार्थयन्ते—प्रार्थना करते हैं; ते—वे; पुण्यम्—पवित्र; आसाद्य—प्राप्त करके; सुर-इन्द्र—इन्द्र के; लोकम्—लोक को; अश्नन्ति—भोग करते हैं; दिव्यान्—दैवी; दिवि—स्वर्ग में; देव-भोगान्—देवताओं के आनन्द को।

जो वेदों का अध्ययन करते तथा सोमरस का पान करते हैं, वे स्वर्ग प्राप्ति की गवेषणा करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से मेरी पूजा करते हैं। वे पापकर्मों से शुद्ध होकर, इन्द्र के पवित्र स्वर्गिक धाम में जन्म लेते हैं, जहाँ वे देवताओं का सा आनन्द भोगते हैं।

भी जीव कृष्ण का अंश होने के कारण कृष्ण है। अतः सारे वेदों के लक्ष्य कृष्ण ही हैं। हम वेदों से जो भी जानना चाहते हैं वह कृष्ण को जानने की दिशा में होता है। जिस विषय से हमारी स्वाभाविक स्थिति शुद्ध होती है, वह कृष्ण है। इसी प्रकार जो जीव वैदिक नियमों को जानने के लिए जिज्ञासु रहता है, वह भी कृष्ण का अंश, अतः कृष्ण भी है। समस्त वैदिक मन्त्रों में ॐ शब्द, जिसे प्रणव कहा जाता है, एक दिव्य ध्वनि-कम्पन है और यह कृष्ण भी है। चूँकि चारों वेदों—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद में प्रणव या ओंकार प्रधान है, अतः इसे कृष्ण समझना चाहिए।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥१८॥

गतिः—लक्ष्य; **भर्ता**—पालक; **प्रभुः**—भगवान्; **साक्षी**—गवाह; **निवासः**—धाम; **शरणम्**—शरण; **सुहृत्**—घनिष्ठ मित्र; **प्रभवः**—सृष्टि; **प्रलयः**—संहार; **स्थानम्**—भूमि, स्थिति; **निधानम्**—आश्रय, विश्राम स्थल; **बीजम्**—बीज, कारण; **अव्ययम्**—अविनाशी।

मैं ही लक्ष्य, पालनकर्ता, स्वामी, साक्षी, धाम, शरणस्थली तथा अत्यन्त प्रिय मित्र हूँ। मैं सृष्टि तथा प्रलय, सबका आधार, आश्रय तथा अविनाशी बीज भी हूँ।

तात्पर्य : *गति* का अर्थ है गन्तव्य या लक्ष्य, जहाँ हम जाना चाहते हैं। लेकिन चरमलक्ष्य तो कृष्ण हैं, यद्यपि लोग इसे जानते नहीं। जो कृष्ण को नहीं जानता वह पथभ्रष्ट हो जाता है और उसकी तथाकथित प्रगति या तो आंशिक होती है या फिर भ्रमपूर्ण। ऐसे अनेक लोग हैं जो देवताओं को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं और तदनुसार कठोर नियमों का पालन करते हुए चन्द्रलोक, सूर्यलोक, इन्द्रलोक, महर्लोक जैसे विभिन्न लोकों को प्राप्त होते हैं। किन्तु ये सारे लोक कृष्ण की ही सृष्टि होने के कारण कृष्ण हैं और नहीं भी हैं। ऐसे लोक भी कृष्ण की शक्ति की अभिव्यक्तियाँ होने के कारण कृष्ण हैं, किन्तु वस्तुतः वे कृष्ण की अनुभूति की दिशा में सोपान का कार्य करते हैं। कृष्ण की विभिन्न शक्तियों तक पहुँचने का अर्थ है अप्रत्यक्षतः कृष्ण तक पहुँचना। अतः मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण तक सीधे पहुँचे, क्योंकि इससे समय तथा शक्ति की बचत होगी। उदाहरणार्थ, यदि किसी ऊँची इमारत की चोटी तक एलीवेटर (लिफ्ट) के द्वारा पहुँचने की सुविधा हो तो फिर एक-एक सीढ़ी करके ऊपर क्यों चढ़ा जाये? सब कुछ कृष्ण की शक्ति पर आश्रित है, अतः कृष्ण की शरण लिये बिना किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता। कृष्ण परम शासक हैं, क्योंकि सब कुछ उन्हीं का है और उन्हीं की शक्ति पर आश्रित है। प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित होने के कारण कृष्ण परम साक्षी हैं। हमारा घर, देश या लोक जहाँ पर हम रह रहे हैं, सब कुछ कृष्ण का है। शरण के लिए कृष्ण परम गन्तव्य हैं, अतः मनुष्य को चाहिए कि अपनी रक्षा या अपने कष्टों के विनाश के लिए कृष्ण की शरण ग्रहण करे। हम चाहे जहाँ भी शरण लें हमें जानना चाहिए कि हमारा आश्रय कोई जीवित शक्ति होनी चाहिए। कृष्ण परम जीव हैं। चूँकि कृष्ण हमारी उत्पत्ति के कारण या हमारे परमपिता हैं, अतः उनसे बढ़कर न तो कोई मित्र हो सकता है, न शुभचिन्तक। कृष्ण सृष्टि के आदि उद्गम और प्रलय के पश्चात् परम विश्रामस्थल हैं।

अतः कृष्ण सभी कारणों के शाश्वत कारण हैं।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥१९॥

तपामि–ताप देता हूँ, गर्मी पहुँचाता हूँ; अहम्–मैं, अहम्–मैं, वर्षम्–वर्षा, निगृह्णामि–रोके रखता हूँ; उत्सृजामि–भेजता हूँ; च–तथा, अमृतम्–अमरत्व; च–तथा, एव–निश्चय ही, मृत्युः–मृत्यु, च–तथा, सत्–आत्मा, असत्–पदार्थ; च–तथा, अहम्–मैं, अर्जुन–हे अर्जुन।

हे अर्जुन! मैं ही ताप प्रदान करता हूँ और वर्षा को रोकता तथा लाता हूँ। मैं अमरत्व हूँ और साक्षात् मृत्यु भी हूँ। आत्मा तथा पदार्थ (सत् तथा असत्) दोनों मुझ ही में हैं।

तात्पर्य : कृष्ण अपनी विभिन्न शक्तियों से विद्युत तथा सूर्य के द्वारा ताप तथा प्रकाश बिखेरते हैं। ग्रीष्म ऋतु में कृष्ण ही आकाश से वर्षा नहीं होने देते और वर्षा ऋतु में वे ही अनवरत वर्षा की झड़ी लगाते हैं। जो शक्ति हमें जीवन प्रदान करती है वह कृष्ण है और अंत में मृत्यु रूप में हमें कृष्ण मिलते हैं। कृष्ण की इन विभिन्न शक्तियों का विश्लेषण करने पर यह निश्चित हो जाता है कि कृष्ण के लिए पदार्थ तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं है, अथवा दूसरे शब्दों में, वे पदार्थ तथा आत्मा दोनों हैं। अतः कृष्णभावनामृत की उच्च अवस्था में ऐसा भेद नहीं माना जाता। मनुष्य हर वस्तु में कृष्ण के ही दर्शन करता है।

चूँकि कृष्ण पदार्थ तथा आत्मा दोनों हैं, अतः समस्त भौतिक प्राकट्यों से युक्त यह विराट विश्व रूप भी कृष्ण है एवं वृन्दावन में दो भुजावाले वंशी वादन करते श्यामसुन्दर रूप में उनकी लीलाएँ उनके भगवान् रूप की होती हैं।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥२०॥

त्रै-विद्याः–तीन वेदों के ज्ञाता, माम्–मुझको, सोम-पाः–सोम रसपान करने वाले, पूत–पवित्र, पापाः–पापों का, यज्ञैः–यज्ञों के साथ, इष्ट्वा–पूजा करके; स्वः-गतिम्–स्वर्ग की प्राप्ति के लिए, प्रार्थयन्ते–प्रार्थना करते हैं, ते–वे; पुण्यम्–पवित्र, आसाद्य–प्राप्त करके, सुर-इन्द्र–इन्द्र के, लोकम्–लोक को, अश्नन्ति–भोग करते हैं; दिव्यान्–दैवी, दिवि–स्वर्ग में, देव-भोगान्–देवताओं के आनन्द को।

जो वेदों का अध्ययन करते तथा सोमरस का पान करते हैं, वे स्वर्ग प्राप्ति की गवेषणा करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से मेरी पूजा करते हैं। वे पापकर्मों से शुद्ध होकर, इन्द्र के पवित्र स्वर्गिक धाम में जन्म लेते हैं, जहाँ वे देवताओं का सा आनन्द भोगते हैं।

तात्पर्य : *त्रैविद्याः* शब्द तीन वेदों—साम, यजुः तथा ऋग्वेद—का सूचक है। जिस ब्राह्मण ने इन तीनों वेदों का अध्ययन किया है वह त्रिवेदी कहलाता है। जो इन तीनों वेदों से प्राप्त ज्ञान के प्रति आसक्त रहता है, उसका समाज में आदर होता है। दुर्भाग्यवश वेदों के ऐसे अनेक पण्डित हैं जो उनके अध्ययन के चरमलक्ष्य को नहीं समझते। इसीलिए कृष्ण अपने को त्रिवेदियों के लिए परमलक्ष्य घोषित करते हैं। वास्तविक त्रिवेदी भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं और भगवान् को प्रसन्न करने के लिए उनकी शुद्धभक्ति करते हैं। भक्ति का सूत्रपात *हरे कृष्ण* मन्त्र के कीर्तन तथा साथ-साथ कृष्ण को वास्तव में समझने के प्रयास से होता है। दुर्भाग्यवश जो लोग वेदों के नाममात्र के छात्र हैं वे इन्द्र तथा चन्द्र जैसे विभिन्न देवों को आहुति प्रदान करने में रुचि लेते हैं। ऐसे प्रयत्न से विभिन्न देवों के उपासक निश्चित रूप से प्रकृति के निम्न गुणों के कल्मष से शुद्ध हो जाते हैं। फलस्वरूप वे उच्चतर लोकों, यथा महर्लोक, जनलोक, तपलोक आदि को प्राप्त होते हैं। एक बार इन उच्च लोकों में पहुँच कर वहाँ इस लोक की तुलना में लाखों गुना अच्छी तरह इन्द्रियों की तुष्टि की जा सकती है।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते॥ २१॥

ते—वे; **तम्**—उसको; **भुक्त्वा**—भोग करके; **स्वर्ग-लोकम्**—स्वर्ग को; **विशालम्**—विस्तृत; **क्षीणे**—समाप्त हो जाने पर; **पुण्ये**—पुण्यकर्मों के फल; **मर्त्य-लोकम्**—मृत्युलोक में; **विशन्ति**—नीचे गिरते हैं; **एवम्**—इस प्रकार; **त्रयी**—तीनों वेदों के; **धर्मम्**—सिद्धान्तों के; **अनुप्रपन्नाः**—पालन करने वाले; **गत-आगतम्**—मृत्यु तथा जन्म को; **काम-कामाः**—इन्द्रियसुख चाहने वाले; **लभन्ते**—प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार जब वे (उपासक) विस्तृत स्वर्गिक इन्द्रियसुख को भोग लेते हैं और उनके पुण्यकर्मों के फल क्षीण हो जाते हैं तो वे इस मृत्युलोक में पुनः लौट आते हैं। इस प्रकार जो तीनों वेदों के सिद्धान्तों में दृढ रहकर इन्द्रियसुख की गवेषणा करते हैं, उन्हें जन्म-मृत्यु का चक्र ही मिल पाता है।

तात्पर्य : जो स्वर्गलोक प्राप्त करता है उसे दीर्घजीवन तथा विषयसुख की श्रेष्ठ सुविधाएँ प्राप्त होती हैं, तो भी उसे वहाँ सदा नहीं रहने दिया जाता। पुण्यकर्मों के फलों के क्षीण होने पर उसे पुनः इस पृथ्वी पर भेज दिया जाता है। जैसा कि *वेदान्तसूत्र* में इंगित किया गया है, (*जन्माद्यस्य यतः*) जिसने पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं किया या जो समस्त कारणों के कारण कृष्ण को नहीं समझता, वह जीवन के चरमलक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाता। वह बारम्बार स्वर्ग को तथा फिर पृथ्वीलोक को जाता-आता रहता है, मानो वह किसी चक्र पर स्थित हो, जो कभी ऊपर जाता है और कभी नीचे आता है। सारांश यह है कि वह वैकुण्ठलोक न जाकर स्वर्ग तथा मृत्युलोक के बीच जन्म-मृत्यु चक्र में घूमता रहता है। अच्छा तो यह होगा कि सच्चिदानन्दमय जीवन भोगने के लिए वैकुण्ठलोक की प्राप्ति

की जाये, क्योंकि वहाँ से इस दुखमय संसार में लौटना नहीं होता।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ २२॥

अनन्याः–जिसका कोई अन्य लक्ष्य न हो, अनन्य भाव से; चिन्तयन्तः–चिन्तन करते हुए; माम्–मुझको; ये–जो; जनाः–व्यक्ति; पर्युपासते–ठीक से पूजते हैं; तेषाम्–उन; नित्य–सदा; अभियुक्तानाम्–भक्ति में लीन मनुष्यों की; योग–आवश्यकताएँ; क्षेमम्–सुरक्षा, आश्रय; वहामि–वहन करता हूँ; अहम्–मैं।

किन्तु जो लोग अनन्यभाव से मेरे दिव्यस्वरूप का ध्यान करते हुए निरन्तर मेरी पूजा करते हैं, उनकी जो आवश्यकताएँ होती हैं, उन्हें मैं पूरा करता हूँ और जो कुछ उनके पास है, उसकी रक्षा करता हूँ।

तात्पर्य : जो एक क्षण भी कृष्णभावनामृत के बिना नहीं रह सकता, वह चौबीस घण्टे कृष्ण का चिन्तन करता है और श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, वन्दन, अर्चन, दास्य, सख्यभाव तथा आत्मनिवेदन के द्वारा भगवान् के चरणकमलों की सेवा में रत रहता है। ऐसे कार्य शुभ होते हैं और आध्यात्मिक शक्ति से पूर्ण होते हैं, जिससे भक्त को आत्म-साक्षात्कार होता है और उसकी यही एकमात्र कामना रहती है कि वह भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करे। ऐसा भक्त निश्चित रूप से बिना किसी कठिनाई के भगवान् के पास पहुँचता है। यह *योग* कहलाता है। ऐसा भक्त भगवत्कृपा से इस संसार में पुनः नहीं आता। *क्षेम* का अर्थ है भगवान् द्वारा कृपामय संरक्षण। भगवान् योग द्वारा पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होने में सहायक बनते हैं और जब भक्त पूर्ण कृष्णभावनाभावित हो जाता है तो भगवान् उसे दुखमय बद्धजीवन में फिर से गिरने से उसकी रक्षा करते हैं।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ २३॥

ये–जो; अपि–भी; अन्य–दूसरे; देवता–देवताओं के; भक्ताः–भक्तगण; यजन्ते–पूजते हैं; श्रद्धया अन्विताः–श्रद्धापूर्वक; ते–वे; अपि–भी; माम्–मुझको; एव–केवल; कौन्तेय–हे कुन्तीपुत्र; यजन्ति–पूजा करते हैं; अविधि-पूर्वकम्–त्रुटिपूर्ण ढंग से।

हे कुन्तीपुत्र! जो लोग अन्य देवताओं के भक्त हैं और उनकी श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं, वास्तव में वे भी मेरी ही पूजा करते हैं, किन्तु वे यह त्रुटिपूर्ण ढंग से करते हैं।

तात्पर्य : श्रीकृष्ण का कथन है "जो लोग अन्य देवताओं की पूजा में लगे होते हैं, वे अधिक बुद्धिमान नहीं होते, यद्यपि ऐसी पूजा अप्रत्यक्षतः मेरी ही पूजा है।" उदाहरणार्थ, जब कोई मनुष्य वृक्ष की जड़ों में पानी न डालकर उसकी पत्तियों तथा टहनियों में डालता है, तो वह ऐसा इसलिए करता है क्योंकि उसे पर्याप्त ज्ञान नहीं होता या वह नियमों का ठीक से पालन नहीं करता। इसी प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों की सेवा करने का अर्थ है आमाशय में भोजन की पूर्ति करना। इसी तरह विभिन्न देवता भगवान् की सरकार के विभिन्न अधिकारी तथा निर्देशक हैं। मनुष्य को अधिकारियों या निर्देशकों द्वारा नहीं

अपितु सरकार द्वारा निर्मित नियमों का पालन करना होता है। इसी प्रकार हर एक को परमेश्वर की ही पूजा करनी होती है। इससे भगवान् के सारे अधिकारी तथा निर्देशक स्वतः प्रसन्न होंगे। अधिकारी तथा निर्देशक तो सरकार के प्रतिनिधि होते हैं, अतः इन्हें घूस देना अवैध है। यहाँ पर इसी को *अविधिपूर्वकम्* कहा गया है। दूसरे शब्दों में कृष्ण अन्य देवताओं की व्यर्थ पूजा का समर्थन नहीं करते।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ २४॥

अहम्—मैं; **हि**—निश्चित रूप से; **सर्व**—समस्त; **यज्ञानाम्**—यज्ञों का; **भोक्ता**—भोग करने वाला; **च**—तथा; **प्रभुः**—स्वामी; **एव**—भी; **च**—तथा; **न**—नहीं; **तु**—लेकिन; **माम्**—मुझको; **अभिजानन्ति**—जानते हैं; **तत्त्वेन**—वास्तव में; **अतः**—अतएव; **च्यवन्ति**—नीचे गिरते हैं; **ते**—वे।

मैं ही समस्त यज्ञों का एकमात्र भोक्ता तथा स्वामी हूँ। अतः जो लोग मेरे वास्तविक दिव्य स्वभाव को नहीं पहचान पाते, वे नीचे गिर जाते हैं।

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि वैदिक साहित्य में अनेक प्रकार के यज्ञ-अनुष्ठानों का आदेश है, किन्तु वस्तुतः वे सब भगवान् को ही प्रसन्न करने के निमित्त हैं। यज्ञ का अर्थ है विष्णु। *भगवद्गीता* के तृतीय अध्याय में यह स्पष्ट कथन है कि मनुष्य को चाहिए कि यज्ञ या विष्णु को प्रसन्न करने के लिए ही कर्म करे। मानवीय सभ्यता का समग्ररूप वर्णाश्रम धर्म है और यह विशेष रूप से विष्णु को प्रसन्न करने के लिए है। इसीलिए इस श्लोक में कृष्ण कहते हैं, "मैं समस्त यज्ञों का भोक्ता हूँ, क्योंकि मैं परम प्रभु हूँ।" किन्तु अल्पज्ञ इस तथ्य से अवगत न होने के कारण क्षणिक लाभ के लिए देवताओं को पूजते हैं। अतः वे इस संसार में आ गिरते हैं और उन्हें जीवन का लक्ष्य प्राप्त नहीं हो पाता। यदि किसी को अपनी भौतिक इच्छा की पूर्ति करनी हो तो अच्छा यही होगा कि वह इसके लिए परमेश्वर से प्रार्थना करे (यद्यपि यह शुद्धभक्ति नहीं है) और इस प्रकार उसे वांछित फल प्राप्त हो सकेगा।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ २५॥

यान्ति—जाते हैं; **देव-व्रताः**—देवताओं के उपासक; **देवान्**—देवताओं के पास; **पितॄन्**—पितरों के पास; **यान्ति**—जाते हैं; **पितृ-व्रताः**—पितरों के उपासक; **भूतानि**—भूत-प्रेतों के पास; **यान्ति**—जाते हैं; **भूत-इज्याः**—भूत-प्रेतों के उपासक; **यान्ति**—जाते हैं; **मत्**—मेरे; **याजिनः**—भक्तगण; **अपि**—लेकिन; **माम्**—मेरे पास।

जो देवताओं की पूजा करते हैं, वे देवताओं के बीच जन्म लेंगे, जो पितरों को पूजते हैं, वे पितरों के पास जाते हैं, जो भूत-प्रेतों की उपासना करते हैं, वे उन्हीं के बीच जन्म लेते हैं और जो मेरी पूजा करते हैं वे मेरे साथ निवास करते हैं।

तात्पर्य : यदि कोई चन्द्रमा, सूर्य या अन्य लोक को जाना चाहता है तो वह अपने गन्तव्य

को बताये गये विशिष्ट वैदिक नियमों का पालन करके प्राप्त कर सकता है। इनका विशद वर्णन वेदों के कर्मकाण्ड अंश *दर्शपौर्णमासी* में हुआ है, जिसमें विभिन्न लोकों में स्थित देवताओं के लिए विशिष्ट पूजा का विधान है। इसी प्रकार विशिष्ट यज्ञ करके पितृलोक प्राप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार मनुष्य भूत-प्रेत लोकों में जाकर यक्ष, रक्ष या पिशाच बन सकता है। पिशाच पूजा को काला जादू कहते हैं। अनेक लोग इस काले जादू का अभ्यास करते हैं और सोचते हैं कि यह अध्यात्म है, किन्तु ऐसे कार्यकलाप नितान्त भौतिकतावादी हैं। इसी तरह शुद्धभक्त केवल भगवान् की पूजा करके निस्सन्देह वैकुण्ठलोक तथा कृष्णलोक की प्राप्ति करता है। इस श्लोक के माध्यम से यह समझना सुगम है कि जब देवताओं की पूजा करके कोई स्वर्ग प्राप्त कर सकता है, तो फिर शुद्धभक्त कृष्ण या विष्णु के लोक क्यों नहीं प्राप्त कर सकता? दुर्भाग्यवश अनेक लोगों को कृष्ण तथा विष्णु के दिव्यलोकों की सूचना नहीं है, अतः न जानने के कारण वे नीचे गिर जाते हैं। यहाँ तक कि निर्विशेषवादी भी ब्रह्मज्योति से नीचे गिरते हैं। इसीलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन इस दिव्य सूचना को समूचे मानव समाज में वितरित करता है कि केवल *हरे कृष्ण* मन्त्र के जाप से ही मनुष्य सिद्ध हो सकता है और भगवद्धाम को वापस जा सकता है।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

पत्रम्–पत्ती, पुष्पम्–फूल, फलम्–फल, तोयम्–जल, यः–जो कोई, मे–मुझको, भक्त्या–भक्तिपूर्वक; प्रयच्छति–भेंट करता है, तत्–वह, अहम्–मैं, भक्ति-उपहृतम्–भक्तिभाव से अर्पित, अश्नामि–स्वीकार करता हूँ; प्रयत-आत्मनः–शुद्धचेतना वाले से।

यदि कोई प्रेम तथा भक्ति के साथ मुझे पत्र, पुष्प, फल या जल प्रदान करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।

तात्पर्य : नित्य सुख के लिए स्थायी, आनन्दमय धाम प्राप्त करने हेतु बुद्धिमान व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य है कि वह कृष्णभावनाभावित होकर भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में तत्पर रहे। ऐसा आश्चर्यमय फल प्राप्त करने की विधि इतनी सरल है कि निर्धन से निर्धन व्यक्ति को योग्यता का विचार किये बिना इसे पाने का प्रयास करना चाहिए। इसके लिए एकमात्र योग्यता इतनी ही है कि वह भगवान् का शुद्धभक्त हो। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि कोई क्या है और कहाँ स्थित है। यह विधि इतनी सरल है कि यदि प्रेमपूर्वक एक पत्ती, थोड़ा सा जल या फल ही भगवान् को अर्पित किया जाता है तो भगवान् उसे सहर्ष स्वीकार करते हैं। अतः किसी को भी कृष्णभावनामृत से रोका नहीं जा सकता, क्योंकि यह सरल है और व्यापक है। ऐसा कौन मूर्ख होगा जो इस सरल विधि से कृष्णभावनाभावित नहीं होना चाहेगा और सच्चिदानन्दमय जीवन की परम सिद्धि नहीं चाहेगा? कृष्ण को केवल प्रेमाभक्ति चाहिए और कुछ भी नहीं। कृष्ण तो अपने शुद्धभक्त से एक छोटा सा फूल तक ग्रहण करते हैं। किन्तु अभक्त से वे कोई भेंट नहीं चाहते। उन्हें किसी से कुछ भी नहीं चाहिए, क्योंकि वे आत्मतुष्ट हैं, फिर भी

वे अपने भक्त की भेंट प्रेम तथा स्नेह के विनिमय में स्वीकार करते हैं। कृष्णभावनामृत विकसित करना जीवन का चरमलक्ष्य है। इस श्लोक में *भक्ति* शब्द का उल्लेख दो बार यह घोषित करने के लिए हुआ है कि भक्ति ही कृष्ण के पास पहुँचने का एकमात्र साधन है। किसी अन्य शर्त से, यथा ब्राह्मण, विद्वान्, धनी या महान विचारक होने से, कृष्ण किसी प्रकार की भेंट लेने को तैयार नहीं होते। भक्ति ही मूलसिद्धान्त है, जिसके बिना वे किसी से कुछ भी लेने के लिए प्रेरित नहीं किये जा सकते। भक्ति कभी हैतुकी नहीं होती। यह शाश्वत विधि है। यह परमब्रह्म की सेवा में प्रत्यक्ष कर्म है।

यह बतला कर कि वे ही एकमात्र भोक्ता, आदि स्वामी और समस्त यज्ञ-भेंटों के वास्तविक लक्ष्य हैं, अब भगवान् कृष्ण यह बताते हैं कि वे किस प्रकार की भेंट पसंद करते हैं। यदि कोई शुद्ध होने तथा जीवन के लक्ष्य तक पहुँचने के उद्देश्य से भगवद्भक्ति करना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह पता करे कि भगवान् उससे क्या चाहते हैं। कृष्ण से प्रेम करने वाला उन्हें उनकी इच्छित वस्तु देगा और कोई ऐसी वस्तु भेंट नहीं करेगा जिसकी उन्हें इच्छा न हो, या उन्होंने न माँगी हो। इस प्रकार कृष्ण को मांस, मछली तथा अण्डे भेंट नहीं किये जाने चाहिए। यदि उन्हें इन वस्तुओं की इच्छा होती तो वे इनका उल्लेख करते। उल्टे वे स्पष्ट आदेश देते हैं कि उन्हें पत्र, पुष्प, जल तथा फल अर्पित किये जायें और वे इन्हें स्वीकार करेंगे। अतः हमें यह समझना चाहिए कि वे मांस, मछली तथा अण्डे स्वीकार नहीं करेंगे। शाक, अन्न, फल, दूध तथा जल—ये ही मनुष्यों के उचित भोजन हैं और भगवान् कृष्ण ने भी इन्हीं का आदेश दिया है। इनके अतिरिक्त हम जो भी खाते हों, वह उन्हें अर्पित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे उसे ग्रहण नहीं करेंगे। यदि हम ऐसा भोजन उन्हें अर्पित करेंगे तो हम प्रेमाभक्ति नहीं कर सकेंगे।

तृतीय अध्याय के तेरहवें श्लोक में श्रीकृष्ण बताते हैं कि यज्ञ का उच्छिष्ट ही शुद्ध होता है, अतः जो लोग जीवन में प्रगति करने तथा भवबन्धन से मुक्त होने के इच्छुक हैं, उन्हें इसी को खाना चाहिए। उसी श्लोक में वे यह भी बताते हैं कि जो लोग अपने भोजन को अर्पित नहीं करते वे पाप भक्षण करते हैं। दूसरे शब्दों में, उनका प्रत्येक कौर इस संसार की जटिलताओं में उन्हें बाँधने वाला है। अच्छा सरल शाकाहारी भोजन बनाकर उसे भगवान् कृष्ण के चित्र या अर्चाविग्रह के समक्ष अर्पित करके तथा नतमस्तक होकर इस तुच्छ भेंट को स्वीकार करने की प्रार्थना करने से मनुष्य अपने जीवन में निरन्तर प्रगति करता है, उसका शरीर शुद्ध होता है और मस्तिष्क के श्रेष्ठ तन्तु उत्पन्न होते हैं, जिससे शुद्ध चिन्तन हो पाता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह समर्पण अत्यन्त प्रेमपूर्वक करना चाहिए। कृष्ण को किसी तरह के भोजन की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि उनके पास सब कुछ है, किन्तु यदि कोई उन्हें इस प्रकार प्रसन्न करना चाहता है, तो वे इस भेंट को स्वीकार करते हैं। भोजन बनाने, सेवा करने तथा भेंट करने में जो सबसे मुख्य बात रहती है, वह है कृष्ण के प्रेमवश कर्म करना।

वे मायावादी चिन्तक *भगवद्गीता* के इस श्लोक का अर्थ नहीं समझ सकेंगे, जो यह मानकर चलते हैं कि परब्रह्म इन्द्रियरहित है। उनके लिए यह या तो रूपक है या *भगवद्गीता* के उद्घोषक कृष्ण के मानवीय चरित्र का प्रमाण है। किन्तु वास्तविकता तो

यह है कि भगवान् कृष्ण इन्द्रियों से युक्त हैं और यह कहा गया है कि उनकी इन्द्रियाँ परस्पर परिवर्तनशील हैं। दूसरे शब्दों में, एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय का कार्य कर सकती है। कृष्ण को परम ब्रह्म कहने का आशय यही है। इन्द्रियरहित होने पर उन्हें समस्त ऐश्वर्यों से युक्त नहीं माना जा सकता। सातवें अध्याय में कृष्ण ने बतलाया है कि वे प्रकृति के गर्भ में जीवों को स्थापित करते हैं। इसे वे प्रकृति पर दृष्टिपात करके करते हैं। अतः यहाँ पर भी भक्तों द्वारा भोजन अर्पित करते हुए भक्तों का प्रेमपूर्ण शब्द सुनना कृष्ण के द्वारा भोजन करने तथा उसके स्वाद लेने के ही समरूप है। इस बात पर इसलिए बल देना होगा क्योंकि अपनी सर्वोच्च स्थिति के कारण उनका सुनना उनके भोजन करने तथा स्वाद ग्रहण करने के ही समरूप है। केवल भक्त ही बिना तर्क के यह समझ सकता है कि परब्रह्म भोजन कर सकते हैं और उसका स्वाद ले सकते हैं।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ २७॥

यत्–जो कुछ, करोषि–करते हो, यत्–जो भी, अश्नासि–खाते हो; यत्–जो कुछ, जुहोषि–अर्पित करते हो; ददासि–दान देते हो, यत्–जो; यत्–जो भी, तपस्यसि–तप करते हो; कौन्तेय–हे कुन्तीपुत्र, तत्–वह; कुरुष्व–करो, मत्–मुझको, अर्पणम्–भेंट रूप में।

हे कुन्तीपुत्र! तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ अर्पित करते हो या दान देते हो और जो भी तपस्या करते हो, उसे मुझे अर्पित करते हुए करो।

तात्पर्य : इस प्रकार यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि अपने जीवन को इस प्रकार ढाले कि वह किसी भी दशा में कृष्ण को न भूल सके। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन-निर्वाह के लिए कर्म करना पड़ता है और कृष्ण यहाँ पर आदेश देते हैं कि हर व्यक्ति उनके लिए ही कर्म करे। प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने के लिए कुछ न कुछ खाना पड़ता है अतः उसे चाहिए कि कृष्ण को अर्पित भोजन के उच्छिष्ट को ग्रहण करे। प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ धार्मिक अनुष्ठान करने होते हैं, अतः कृष्ण की संस्तुति है, "इसे मेरे हेतु करो"। यही अर्चन है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ दान देता है, अतः कृष्ण कहते हैं, "यह मुझे दो" जिसका अर्थ यह है कि अधिक धन का उपयोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन की उन्नति के लिए करो। आजकल लोग ध्यान विधि के प्रति विशेष रुचि दिखाते हैं, यद्यपि इस युग के लिए *यह व्यावहारिक नहीं है, किन्तु यदि कोई चौबीस* घण्टे *हरे कृष्ण* का जप अपनी माला में करे तो वह निश्चित रूप से महानतम ध्यानी तथा योगी है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* के छठे अध्याय में की गई है।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ २८॥

शुभ–शुभ, अशुभ–अशुभ, फलैः–फलों के द्वारा, एवम्–इस प्रकार, मोक्ष्यसे–मुक्त हो जाओगे, कर्म–कर्म के; बन्धनैः–बन्धन से, संन्यास–संन्यास के, योग–योग से, युक्त-आत्मा–मन को स्थिर करके, विमुक्तः–मुक्त हुआ; माम्–मुझे, उपैष्यसि–प्राप्त होगे।

इस तरह तुम कर्म के बन्धन तथा इसके शुभाशुभ फलों से मुक्त हो सकोगे। इस संन्यासयोग में अपने चित्त को स्थिर करके तुम मुक्त होकर मेरे पास आ सकोगे।

तात्पर्य : गुरु के निर्देशन में कृष्णभावनामृत में रहकर कर्म करने को *युक्त* कहते हैं। पारिभाषिक शब्द *युक्त-वैराग्य* है। श्रीरूप गोस्वामी ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है (*भक्तिरसामृत सिन्धु* २.२५५)—

अनासक्तस्य विषयान्यथार्हमुपयुञ्जतः।
निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते॥

श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं कि जब तक हम इस जगत् में हैं, तब तक हमें कर्म करना पड़ता है, हम कर्म करना बन्द नहीं कर सकते। अतः यदि कर्म करके उसके फल कृष्ण को अर्पित कर दिये जायँ तो यह *युक्तवैराग्य* कहलाता है। वस्तुतः संन्यास में स्थित होने पर ऐसे कर्मों से चित्त रूपी दर्पण स्वच्छ हो जाता है और कर्ता ज्यों-ज्यों क्रमशः आत्म-साक्षात्कार की ओर प्रगति करता जाता है, त्यों-त्यों वह परमेश्वर के प्रति पूर्णतया समर्पित होता रहता है। अतएव अन्त में वह मुक्त हो जाता है और यह मुक्ति भी विशिष्ट होती है। इस मुक्ति से वह ब्रह्मज्योति में तदाकार नहीं होता, अपितु भगवद्धाम में प्रवेश करता है। यहाँ स्पष्ट उल्लेख है—*माम् उपैष्यसि*—वह मेरे पास आता है, अर्थात् मेरे धाम वापस आता है। मुक्ति की पाँच विभिन्न अवस्थाएँ हैं और यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि जो भक्त जीवन भर परमेश्वर के निर्देशन में रहता है, वह ऐसी अवस्था को प्राप्त हुआ रहता है, जहाँ से वह शरीर त्यागने के बाद भगवद्धाम जा सकता है और भगवान् की प्रत्यक्ष संगति में रह सकता है।

जिस व्यक्ति में अपने जीवन को भगवत्सेवा में रत रखने के अतिरिक्त अन्य कोई रुचि नहीं होती, वही वास्तविक संन्यासी है। ऐसा व्यक्ति भगवान् की परम इच्छा पर आश्रित रहते हुए अपने को उनका नित्य दास मानता है। अतः वह जो कुछ करता है, भगवान् के लाभ के लिए करता है। वह जो कुछ कर्म करता है, भगवान् की सेवा करने के लिए करता है। वह सकामकर्मों या वेदवर्णित कर्तव्यों पर ध्यान नहीं देता। सामान्य मनुष्यों के लिए वेदवर्णित कर्तव्यों को सम्पन्न करना अनिवार्य होता है। किन्तु शुद्धभक्त भगवान् की सेवा में पूर्णतया रत होकर भी कभी-कभी वेदों द्वारा अनुमोदित कर्तव्यों का विरोध करता प्रतीत होता है, जो वस्तुतः विरोध नहीं है।

अतः वैष्णव आचार्यों का कथन है कि बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति भी शुद्धभक्त की योजनाओं तथा कार्यों को नहीं समझ सकता। ठीक शब्द हैं—*ताँर वाक्य, क्रिया, मुद्रा विज्ञेह ना बुझय* (*चैतन्यचरितामृत*, मध्य २३.३९)। इस प्रकार जो व्यक्ति भगवान् की सेवा में रत है, या जो निरन्तर योजना बनाता रहता है कि किस तरह भगवान् की सेवा की जाये, उसे ही वर्तमान में पूर्णतया मुक्त मानना चाहिए और भविष्य में उसका भगवद्धाम जाना ध्रुव है। जिस प्रकार कृष्ण आलोचना से परे हैं, उसी प्रकार वह भक्त भी सारी भौतिक आलोचना से परे हो जाता है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ २९॥

समः–समभाव, अहम्–मैं, सर्व-भूतेषु–समस्त जीवों में, न–कोई नहीं, मे–मुझको, द्वेष्य–द्वेषपूर्ण, अस्ति–है, न–न तो, प्रियः–प्रिय, ये–जो, भजन्ति–दिव्यसेवा करते हैं, तु–लेकिन, माम्–मुझको, भक्त्या–भक्ति से, मयि–मुझमें हैं; ते–वे व्यक्ति; तेषु–उनमें, च–भी, अपि–निश्चय ही, अहम्–मैं।

मैं न तो किसी से द्वेष करता हूँ, न ही किसी के साथ पक्षपात करता हूँ। मैं सबों के लिए समभाव हूँ। किन्तु जो भी भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करता है, वह मेरा मित्र है, मुझमें स्थित रहता है और मैं भी उसका मित्र हूँ।

तात्पर्य : यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब कृष्ण का सबों के लिए समभाव है और उनका कोई विशिष्ट मित्र नहीं है तो फिर वे उन भक्तों में विशेष रुचि क्यों लेते हैं, जो उनकी दिव्यसेवा में सदैव लगे रहते हैं? किन्तु यह भेदभाव नहीं है, यह तो सहज है। इस जगत् में हो सकता है कि कोई व्यक्ति अत्यन्त उपकारी हो, किन्तु तो भी वह अपनी सन्तानों में विशेष रुचि लेता है। भगवान् का कहना है कि प्रत्येक जीव, चाहे वह जिस योनि का हो, उनका पुत्र है, अतः वे हर एक को जीवन की आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करते हैं। वे उस बादल के सदृश हैं जो सबों के ऊपर जलवृष्टि करता है, चाहे यह वृष्टि चट्टान पर हो या स्थल पर, या जल में हो। किन्तु भगवान् अपने भक्तों का विशेष ध्यान रखते हैं। ऐसे ही भक्तों का यहाँ उल्लेख हुआ है—वे सदैव कृष्णभावनामृत में रहते हैं, फलतः वे निरन्तर कृष्ण में लीन रहते हैं। कृष्णभावनामृत शब्द ही बताता है कि जो लोग ऐसे भावनामृत में रहते हैं वे सजीव अध्यात्मवादी हैं और उन्हीं में स्थित हैं। भगवान् यहाँ स्पष्ट रूप से कहते हैं—*मयि ते* अर्थात् वे मुझमें हैं। फलतः भगवान् भी उनमें हैं। इससे *ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्* की भी व्याख्या हो जाती है—जो भी मेरी शरण में आ जाता है, उसकी मैं उसी रूप में रखवाली करता हूँ। यह दिव्य आदान-प्रदान भाव विद्यमान रहता है, क्योंकि भक्त तथा भगवान् दोनों सचेतन हैं। जब हीरे को सोने की अँगूठी में जड़ दिया जाता है तो वह अत्यन्त सुन्दर लगता है। इससे सोने की महिमा बढ़ती है, किन्तु साथ ही हीरे की भी महिमा बढ़ती है। भगवान् तथा जीव निरन्तर चमकते रहते हैं और जब कोई जीव भगवान् की सेवा में प्रवृत्त होता है तो वह सोने की भाँति दिखता है। भगवान् हीरे के समान हैं, अतः यह संयोग अत्युत्तम होता है। शुद्ध अवस्था में जीव भक्त कहलाते हैं। परमेश्वर अपने भक्तों के भी भक्त बन जाते हैं। यदि भगवान् तथा भक्त में आदान-प्रदान का भाव न रहे तो सगुणवादी दर्शन ही न रहे। मायावादी दर्शन में परमेश्वर तथा जीव के मध्य ऐसा आदान-प्रदान का भाव नहीं मिलता, किन्तु सगुणवादी दर्शन में ऐसा होता है।

प्रायः यह दृष्टान्त दिया जाता है कि भगवान् कल्पवृक्ष के समान हैं और मनुष्य इस वृक्ष से जो भी माँगता है, भगवान् उसकी पूर्ति करते हैं। किन्तु यहाँ पर जो व्याख्या दी गई है वह अधिक पूर्ण है। यहाँ पर भगवान् को भक्त का पक्ष लेने वाला कहा गया है। यह भक्त के प्रति भगवान् की विशेष कृपा की अभिव्यक्ति है। भगवान् के आदान-प्रदान

भाव को कर्म के नियम के अन्तर्गत नहीं मानना चाहिए। यह तो उस दिव्य अवस्था से सम्बन्धित रहता है जिसमें भगवान् तथा उनके भक्त कर्म करते हैं। भगवद्भक्ति इस जगत का कार्य नहीं है, यह तो उस अध्यात्म जगत का अंश है, जहाँ शाश्वत आनन्द तथा ज्ञान का प्राधान्य रहता है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥३०॥

अपि—भी; **चेत्**—यदि; **सु-दुराचारः**—अत्यन्त गर्हित कर्म करने वाला; **भजते**—सेवा करता है; **माम्**—मेरी; **अनन्य-भाक्**—विना विचलित हुए; **साधुः**—साधु पुरुष; **एव**—निश्चय ही; **सः**—वह; **मन्तव्यः**—मानने योग्य; **सम्यक्**—पूर्णतया; **व्यवसितः**—संकल्प वाला; **हि**—निश्चय ही; **सः**—वह।

यदि कोई जघन्य से जघन्य कर्म करता है, किन्तु यदि वह भक्ति में रत रहता है तो उसे साधु मानना चाहिए, क्योंकि वह अपने संकल्प में अडिग रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक का *सुदुराचारः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, अतः हमें इसे ठीक से समझना होगा। जब मनुष्य बद्ध रहता है तो उसके दो प्रकार के कर्म होते हैं—प्रथम बद्ध और द्वितीय स्वाभाविक। जिस प्रकार शरीर की रक्षा करने या समाज तथा राज्य के नियमों का पालन करने के लिए तरह-तरह के कर्म करने होते हैं, उसी प्रकार से बद्ध जीवन के प्रसंग में भक्तों के लिए कर्म होते हैं, जो बद्ध कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त, जो जीव अपने आध्यात्मिक स्वभाव से पूर्णतया भिज्ञ रहता है और कृष्णभावनामृत में या भगवद्भक्ति में लगा रहता है, उसके लिए भी कर्म होते हैं, जो दिव्य कहलाते हैं। ऐसे कार्य उसकी स्वाभाविक स्थिति में सम्पन्न होते हैं और शास्त्रीय दृष्टि से भक्ति कहलाते हैं। बद्ध अवस्था में कभी-कभी भक्ति और शरीर की बद्ध सेवा एक दूसरे के समान्तर चलती हैं। किन्तु पुनः कभी-कभी वे एक दूसरे के विपरीत हो जाती हैं। जहाँ तक सम्भव होता है, भक्त सतर्क रहता है कि वह कोई ऐसा कार्य न करे, जिससे यह अनुकूल स्थिति भंग हो। वह जानता है कि उसकी कर्म-सिद्धि उसके कृष्णभावनामृत की अनुभूति की प्रगति पर निर्भर करती है। किन्तु कभी-कभी यह देखा जाता है कि कृष्णभावनामृत में रत व्यक्ति सामाजिक या राजनीतिक दृष्टि से निन्दनीय कार्य कर बैठता है। किन्तु इस प्रकार के क्षणिक पतन से वह अयोग्य नहीं हो जाता। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति पतित हो जाय, किन्तु यदि भगवान् की दिव्य सेवा में लगा रहे तो हृदय में वास करने वाले भगवान् उसे शुद्ध कर देते हैं और उस निन्दनीय कार्य के लिए क्षमा कर देते हैं। भौतिक कल्मष इतना प्रबल है कि भगवान् की सेवा में लगा योगी भी कभी-कभी उसके जाल में आ फँसता है। लेकिन कृष्णभावनामृत इतना शक्तिशाली होता है कि इस प्रकार का आकस्मिक पतन तुरन्त रुक जाता है। इसलिए भक्तियोग सदैव सफल होता है। किसी भक्त के आदर्श पथ से अकस्मात् च्युत होने पर हँसना नहीं चाहिए, क्योंकि जैसा कि अगले श्लोक में बताया गया है ज्योंही भक्त कृष्णभावनामृत में पूर्णतया स्थित हो जाता है, ऐसे आकस्मिक पतन कुछ समय के पश्चात् रुक जाते हैं।

अतः जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में स्थित है और अनन्य भाव से *हरे कृष्ण* मन्त्र का जप करता है, उसे दिव्य स्थिति में आसीन समझना चाहिए, भले ही दैववशात् उसका पतन क्यों न हो चुका हो। *साधुरेव* शब्द अत्यन्त प्रभावात्मक हैं। ये अभक्तों को सावधान करते हैं कि आकस्मिक पतन के कारण भक्त का उपहास नहीं किया जाना चाहिए, उसे तब भी साधु ही मानना चाहिए। *मन्तव्यः* शब्द तो इससे भी अधिक बलशाली है। यदि कोई इस नियम को नहीं मानता और भक्त पर उसके पतन के कारण हँसता है तो वह भगवान् के आदेश की अवज्ञा करता है। भक्त की एकमात्र योग्यता यह है कि वह अविचल तथा अनन्य भाव से भक्ति में तत्पर रहे।

नृसिंह पुराण में निम्नलिखित कथन प्राप्त है—

भगवति च हरावनन्यचेता
भृशमलिनोऽपि विराजते मनुष्यः।
न हि शशकलुषच्छबिः कदाचित्
तिमिरपराभवतामुपैति चन्द्रः॥

कहने का अर्थ यह है कि यदि भगवद्भक्ति में तत्पर व्यक्ति कभी घृणित कार्य करता पाया जाये तो इन कार्यों को उन धब्बों की तरह मान लेना चाहिए, जिस प्रकार चाँद में खरगोश के धब्बे हैं। इन धब्बों से चाँदनी के विस्तार में बाधा नहीं आती। इसी प्रकार साधु-पथ से भक्त का आकस्मिक पतन उसे निन्दनीय नहीं बनाता।

किन्तु इसी के साथ यह समझने की भूल नहीं करनी चाहिए कि दिव्य भक्ति करने वाला भक्त सभी प्रकार के निन्दनीय कर्म कर सकता है। इस श्लोक में केवल इसका उल्लेख है कि भौतिक सम्बन्धों की प्रबलता के कारण कभी कोई दुर्घटना हो सकती है। भक्ति तो एक प्रकार से माया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा है। जब तक मनुष्य माया से लड़ने के लिए पर्याप्त बलशाली नहीं होता, तब तक आकस्मिक पतन हो सकते हैं। किन्तु बलवान होने पर ऐसे पतन नहीं होते, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। मनुष्य को इस श्लोक का दुरुपयोग करते हुए अशोभनीय कर्म नहीं करना चाहिए और यह नहीं सोचना चाहिए कि इतने पर भी वह भक्त बना रह सकता है। यदि वह भक्ति के द्वारा अपना चरित्र नहीं सुधार लेता तो उसे उच्चकोटि का भक्त नहीं मानना चाहिए।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥३१॥

क्षिप्रम्–शीघ्र, भवति–बन जाता है; धर्म-आत्मा–धर्मपरायण, शश्वत्-शान्तिम्–स्थायी शान्ति को, निगच्छति–प्राप्त करता है, कौन्तेय–हे कुन्तीपुत्र, प्रतिजानीहि–घोषित कर दो, न–कभी नहीं, मे–मेरा, भक्तः–भक्त; प्रणश्यति–नष्ट होता है।

वह तुरन्त धर्मात्मा बन जाता है और स्थायी शान्ति को प्राप्त होता है। हे कुन्तीपुत्र! निडर होकर घोषणा कर दो कि मेरे भक्त का कभी विनाश नहीं होता है।

तात्पर्य : इसका कोई दूसरा अर्थ नहीं लगाना चाहिए। सातवें अध्याय में भगवान् कहते हैं कि जो दुष्कृती है, वह भगवद्भक्त नहीं हो सकता। जो भगवद्भक्त नहीं है, उसमें

कोई भी योग्यता नहीं होती। तब प्रश्न यह उठता है कि संयोगवश या स्वेच्छा से निन्दनीय कर्मों में प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति किस प्रकार भक्त हो सकता है? यह प्रश्न ठीक ही है। जैसा कि सातवें अध्याय में कहा गया है, जो दुष्टात्मा कभी भक्ति के पास नहीं फटकता, उसमें कोई सद्गुण नहीं होते। *श्रीमद्भागवत* में भी इसका उल्लेख है। सामान्यतया नौ प्रकार के भक्ति-कार्यों में युक्त रहने वाला भक्त अपने हृदय को भौतिक कल्मष से शुद्ध करने में लगा होता है। वह भगवान् को अपने हृदय में बसाता है, फलतः उसके सारे पापपूर्ण कल्मष धुल जाते हैं। निरन्तर भगवान् का चिन्तन करने से वह स्वतः शुद्ध हो जाता है। वेदों के अनुसार ऐसा विधान है कि यदि कोई अपने उच्चपद से नीचे गिर जाता है तो अपनी शुद्धि के लिए उसे कुछ अनुष्ठान करने होते हैं। किन्तु यहाँ पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है, क्योंकि शुद्धि की क्रिया भगवान् का निरन्तर स्मरण करते रहने से पहले से ही भक्त के हृदय में चलती रहती है। अतः *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—इस मन्त्र का अनवरत जप करना चाहिए। यह भक्त को आकस्मिक पतन से बचाएगा। इस प्रकार वह समस्त भौतिक कल्मषों से सदैव मुक्त रहेगा।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ३२॥

माम्–मेरी; **हि**–निश्चय ही; **पार्थ**–हे पृथापुत्र; **व्यपाश्रित्य**–शरण ग्रहण करके; **ये**–जो; **अपि**–भी; **स्युः**–हैं; **पाप-योनयः**–निम्नकुल में उत्पन्न; **स्त्रियः**–स्त्रियाँ; **वैश्याः**–वणिक लोग; **तथा**–भी; **शूद्राः**–निम्न श्रेणी के व्यक्ति; **ते अपि**–वे भी; **यान्ति**–जाते हैं; **पराम्**–परम; **गतिम्**–गन्तव्य को।

हे पार्थ! जो लोग मेरी शरण ग्रहण करते हैं, वे भले ही निम्नजन्मा स्त्री, वैश्य (व्यापारी) तथा शूद्र (श्रमिक) क्यों न हों, वे परमधाम को प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि भक्ति में उच्च तथा निम्न जाति के लोगों का भेद नहीं होता। भौतिक जीवन में ऐसा विभाजन होता है, किन्तु भगवान् की दिव्य भक्ति में लगे व्यक्ति पर यह लागू नहीं होता। सभी परमधाम के अधिकारी हैं। *श्रीमद्भागवत* में (२.४.१८) कथन है कि अधम योनि चाण्डाल भी शुद्ध भक्त के संसर्ग से शुद्ध हो जाते हैं। अतः भक्ति तथा शुद्ध भक्त द्वारा पथप्रदर्शन इतने प्रबल हैं कि वहाँ ऊँचनीच का भेद नहीं रह जाता और कोई भी इसे ग्रहण कर सकता है। शुद्ध भक्त की शरण ग्रहण करके सामान्य से सामान्य व्यक्ति शुद्ध हो सकता है। प्रकृति के विभिन्न गुणों के अनुसार मनुष्यों को सात्त्विक (ब्राह्मण), रजोगुणी (क्षत्रिय) तथा तामसी (वैश्य तथा शूद्र) कहा जाता है। इनसे भी निम्न पुरुष चाण्डाल कहलाते हैं और वे पापी कुलों में जन्म लेते हैं। सामान्य रूप से उच्चकुल वाले इन निम्नकुल में जन्म लेने वालों की संगति नहीं करते। किन्तु भक्तियोग इतना प्रबल होता है कि भगवद्भक्त समस्त निम्नकुल वाले व्यक्तियों को जीवन की परम सिद्धि प्राप्त करा सकते हैं। यह तभी सम्भव है जब कोई कृष्ण की शरण में जाये। जैसा कि *व्यपाश्रित्य* शब्द से सूचित है, मनुष्य को पूर्णतया

कृष्ण की शरण ग्रहण करनी चाहिए। तब वह बड़े से बड़े ज्ञानी तथा योगी से भी महान बन सकता है।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ ३३॥

किम्–क्या, कितना; पुनः–फिर, ब्राह्मणाः–ब्राह्मण, पुण्याः–धर्मात्मा, भक्ताः–भक्तगण, राज-ऋषयः–साधु राजे, तथा–भी, अनित्यम्–नाशवान; असुखम्–दुखमय; लोकम्–लोक को, इमम्–इस, प्राप्य–प्राप्त करके, भजस्व–प्रेमाभक्ति में लगो; माम्–मेरी।

फिर धर्मात्मा ब्राह्मणों, भक्तों तथा राजर्षियों के लिए तो कहना ही क्या है! अतः इस क्षणिक दुखमय संसार में आ जाने पर मेरी प्रेमाभक्ति में अपने आपको लगाओ।

तात्पर्य : इस संसार में कई श्रेणियों के लोग हैं, किन्तु तो भी यह संसार किसी के लिए सुखमय स्थान नहीं है। यहाँ स्पष्ट कहा गया है–*अनित्यम् असुखं लोकम्*–यह जगत् अनित्य तथा दुखमय है और किसी भी भले मनुष्य के रहने लायक नहीं है। भगवान् इस संसार को क्षणिक तथा दुखमय घोषित कर रहे हैं। कुछ दार्शनिक, विशेष रूप से मायावादी, कहते हैं कि यह संसार मिथ्या है, किन्तु *भगवद्गीता* से हम यह जान सकते हैं कि यह संसार मिथ्या नहीं है, यह अनित्य है। अनित्य तथा मिथ्या में अन्तर है। यह संसार अनित्य है, किन्तु एक दूसरा भी संसार है जो नित्य है। यह संसार दुखमय है, किन्तु दूसरा संसार नित्य तथा आनन्दमय है।

अर्जुन का जन्म ऋषितुल्य राजकुल में हुआ था। अतः भगवान् उससे भी कहते हैं, "मेरी सेवा करो, और शीघ्र ही मेरे धाम को प्राप्त करो।" किसी को भी इस अनित्य संसार में नहीं रहना चाहिए, क्योंकि यह दुखमय है। प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् के हृदय से लगना चाहिए, जिससे वह सदैव सुखी रह सके। भगवद्भक्ति ही एकमात्र ऐसी विधि है जिसके द्वारा सभी वर्गों के लोगों की सारी समस्याएँ सुलझाई जा सकती हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति को कृष्णभावनामृत स्वीकार करके अपने जीवन को सफल बनाना चाहिए।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ ३४॥

मत्-मनाः–सदैव मेरा चिन्तन करने वाला, भव–होओ, मत्–मेरा, भक्तः–भक्त, मत्–मेरा, याजी–उपासक, माम्–मुझको, नमस्कुरु–नमस्कार करो, माम्–मुझको, एव–निश्चय ही, एष्यसि–पाओगे, युक्त्वा–लीन होकर, एवम्–इस प्रकार, आत्मानम्–अपनी आत्मा को, मत्-परायणः–मेरी भक्ति में अनुरक्त।

अपने मन को मेरे नित्य चिन्तन में लगाओ, मेरे भक्त बनो, मुझे नमस्कार करो और मेरी ही पूजा करो। इस प्रकार मुझमें पूर्णतया तल्लीन होने पर तुम निश्चित रूप से मुझको प्राप्त होगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट इंगित है कि इस कल्मषग्रस्त भौतिक जगत् से छुटकारा पाने का एकमात्र साधन कृष्णभावनामृत है। कभी-कभी कपटी भाष्यकार इस स्पष्ट कथन का तोड़मरोड़ कर अर्थ करते हैं : कि सारी भक्ति भगवान् कृष्ण को समर्पित की जानी चाहिए। दुर्भाग्यवश ऐसे भाष्यकार पाठकों का ध्यान ऐसी बात की ओर आकर्षित करते हैं जो सम्भव नहीं है। ऐसे भाष्यकार यह नहीं जानते कि कृष्ण के मन तथा कृष्ण में कोई अन्तर नहीं है। कृष्ण कोई सामान्य मनुष्य नहीं हैं, वे परमेश्वर हैं। उनका शरीर, उनका मन तथा स्वयं वे एक हैं और परम हैं। जैसा कि *कूर्मपुराण* में कहा गया है और भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ने *चैतन्यचरितामृत* (पंचम अध्याय, आदि लीला ४१-४८) के अनुभाष्य में उद्धृत किया है—*देहदेहीविभेदोऽयं नेश्वरे विद्यते क्वचित्*—अर्थात् परमेश्वर कृष्ण में तथा उनके शरीर में कोई अन्तर नहीं है। लेकिन इस कृष्णतत्त्व को न जानने के कारण भाष्यकार कृष्ण को छिपाते हैं और उनको उनके मन या शरीर से पृथक् बताते हैं। यद्यपि यह कृष्णतत्त्व के प्रति निरी अज्ञानता है, किन्तु कुछ लोग जनता को भ्रमित करके धन कमाते हैं।

कुछ लोग आसुरी होते हैं, वे भी कृष्ण का चिन्तन करते हैं किन्तु ईर्ष्यावश, जिस तरह कि कृष्ण का मामा राजा कंस करता था। वह भी कृष्ण का निरन्तर चिन्तन करता रहता था, किन्तु वह उन्हें अपने शत्रु रूप में सोचता था। वह सदैव चिन्ताग्रस्त रहता था और सोचता रहता था कि न जाने कब कृष्ण उसका वध कर दें। इस प्रकार के चिन्तन से हमें कोई लाभ होने वाला नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि भक्तिमय प्रेम में उनका चिन्तन करे। यही भक्ति है। उसे चाहिए कि वह निरन्तर कृष्णतत्त्व का अनुशीलन करे। तो वह उपयुक्त अनुशीलन क्या है? यह प्रामाणिक गुरु से सीखना है। कृष्ण भगवान् हैं और हम कई बार कह चुके हैं कि उनका शरीर भौतिक नहीं है अपितु सच्चिदानन्द स्वरूप है। इस प्रकार की चर्चा से मनुष्य को भक्त बनने में सहायता मिलेगी। अन्यथा अप्रामाणिक साधन से कृष्ण का ज्ञान प्राप्त करना व्यर्थ होगा।

अतः मनुष्य को कृष्ण के आदि रूप में मन को स्थिर करना चाहिए, उसे अपने मन में यह दृढ़ विश्वास करके पूजा करने में प्रवृत्त होना चाहिए कि कृष्ण ही परम हैं। कृष्ण की पूजा के लिए भारत में हजारों मन्दिर हैं, जहाँ पर भक्ति का अभ्यास किया जाता है। जब ऐसा अभ्यास हो रहा हो तो मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण को नमस्कार करे। उसे अर्चाविग्रह के समक्ष नतमस्तक होकर मनसा वाचा कर्मणा हर प्रकार से प्रवृत्त होना चाहिए। इससे वह कृष्णभाव में पूर्णतया तल्लीन हो सकेगा। इससे वह कृष्णलोक को जा सकेगा। उसे चाहिए कि कपटी भाष्यकारों के बहकावे में न आए। उसे श्रवण, कीर्तन आदि नवधा भक्ति में प्रवृत्त होना चाहिए। शुद्ध भक्ति मानव समाज की चरम उपलब्धि है।

भगवद्गीता के सातवें तथा आठवें अध्यायों में भगवान् की ऐसी शुद्ध भक्ति की व्याख्या की गई है, जो कल्पना, योग तथा सकाम कर्म से मुक्त है। जो पूर्णतया शुद्ध नहीं हो पाते वे भगवान् के विभिन्न स्वरूपों द्वारा यथा निर्विशेषवादी ब्रह्मज्योति तथा अन्तर्यामी परमात्मा द्वारा आकृष्ट होते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त तो परमेश्वर की साक्षात् सेवा करता है।

कृष्ण सम्बन्धी एक उत्तम पद्य में कहा गया है कि जो व्यक्ति देवताओं की पूजा में रत हैं, वे सर्वाधिक अज्ञानी हैं, उन्हें कभी भी कृष्ण का परम वरदान प्राप्त नहीं हो सकता। हो सकता है कि प्रारम्भ में कोई भक्त अपने स्तर से नीचे गिर जाये, तो भी उसे अन्य सारे दार्शनिकों तथा योगियों से श्रेष्ठ मानना चाहिए। जो व्यक्ति निरन्तर कृष्ण भक्ति में लगा रहता है, उसे पूर्ण साधुपुरुष समझना चाहिए। क्रमशः उसके आकस्मिक भक्ति-विहीन कार्य कम होते जाएँगे और उसे शीघ्र ही पूर्ण सिद्धि प्राप्त होगी। वास्तव में शुद्ध भक्त के पतन का कभी कोई अवसर नहीं आता, क्योंकि भगवान् स्वयं ही अपने शुद्ध भक्तों की रक्षा करते हैं। अतः बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह सीधे कृष्णभावनामृत पथ को ग्रहण करे और संसार में सुखपूर्वक जीवन बिताए। अन्ततोगत्वा वह कृष्ण रूपी परम पुरस्कार प्राप्त करेगा।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के नवें अध्याय "परम गुह्य ज्ञान" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।

अध्याय दस



श्रीभगवान् का ऐश्वर्य

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥१॥

श्रीभगवान् उवाच–भगवान् ने कहा; भूयः–फिर; एव–निश्चय ही; महा-बाहो–हे बलिष्ठ भुजाओं वाले; शृणु–सुनो; मे–मेरा; परमम्–परम; वचः–उपदेश; यत्–जो; ते–तुमको; अहम्–मैं; प्रीयमाणाय–अपना प्रिय मानकर; वक्ष्यामि–कहता हूँ; हित-काम्यया–तुम्हारे हित (लाभ) के लिए।

श्रीभगवान् ने कहा–हे महाबाहु अर्जुन! और आगे सुनो। चूँकि तुम मेरे प्रिय सखा हो, अतः मैं तुम्हारे लाभ के लिए ऐसा ज्ञान प्रदान करूँगा, जो अभी तक मेरे द्वारा बताये गये ज्ञान से श्रेष्ठ होगा।

तात्पर्य : पराशर मुनि ने भगवान् शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है–जो पूर्ण रूप से षड्ऐश्वर्यों–सम्पूर्ण शक्ति, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण धन, सम्पूर्ण ज्ञान, सम्पूर्ण सौन्दर्य तथा सम्पूर्ण त्याग–से युक्त है, वह भगवान् है। जब कृष्ण इस धराधाम में थे, तो उन्होंने

इन्हीं ऐश्वर्यों का प्रदर्शन किया था, फलत: पराशर जैसे मुनियों ने कृष्ण को भगवान् रूप में स्वीकार किया है। अब अर्जुन को कृष्ण अपने ऐश्वर्यों तथा कार्य का और भी गुह्य ज्ञान प्रदान कर रहे हैं। इसके पूर्व सातवें अध्याय से प्रारम्भ करके वे अपनी शक्तियों तथा उनके कार्य करने के विषय में बता चुके हैं। अब इस अध्याय में वे अपने ऐश्वर्यों का वर्णन कर रहे हैं। पिछले अध्याय में उन्होंने दृढ़ विश्वास के साथ भक्ति स्थापित करने में अपनी विभिन्न शक्तियों के योगदान की चर्चा स्पष्टतया की है। इस अध्याय में पुनः वे अर्जुन को अपनी सृष्टियों तथा विभिन्न ऐश्वर्यों के विषय में बता रहे हैं।

ज्यों-ज्यों भगवान् के विषय में कोई सुनता है, त्यों-त्यों वह भक्ति में रमता जाता है। मनुष्य को चाहिए कि भक्तों की संगति में भगवान् के विषय में सदा श्रवण करे, इससे उसकी भक्ति बढ़ेगी। भक्तों के समाज में ऐसी चर्चाएँ केवल उन लोगों के बीच हो सकती हैं, जो सचमुच कृष्णभावनामृत के इच्छुक हों। ऐसी चर्चाओं में अन्य लोग भाग नहीं ले सकते। भगवान् अर्जुन से स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि चूँकि तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो, अतः तुम्हारे लाभ के लिए ऐसी बातें कह रहा हूँ।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥२॥

न–कभी नहीं; **मे**–मेरे; **विदुः**–जानते हैं; **सुर-गणाः**–देवता; **प्रभवम्**–उत्पत्ति या ऐश्वर्य को; **न**–कभी नहीं; **महा-ऋषयः**–बड़े-बड़े ऋषि; **अहम्**–मैं हूँ; **आदिः**–उत्पत्ति; **हि**–निश्चय ही; **देवानाम्**–देवताओं का; **महा-ऋषीणाम्**–महर्षियों का; **च**–भी; **सर्वशः**–सभी तरह से।

न तो देवतागण मेरी उत्पत्ति या ऐश्वर्य को जानते हैं और न महर्षिगण ही जानते हैं, क्योंकि मैं सभी प्रकार से देवताओं और महर्षियों का भी कारणस्वरूप (उद्गम) हूँ।

तात्पर्य : जैसा कि *ब्रह्मसंहिता* में कहा गया है, भगवान् कृष्ण ही परमेश्वर हैं। उनसे बढ़कर कोई नहीं है, वे समस्त कारणों के कारण हैं। यहाँ पर भगवान् स्वयं कहते हैं कि वे समस्त देवताओं तथा ऋषियों के कारण हैं। देवता तथा महर्षि तक कृष्ण को नहीं समझ पाते। जब वे उनके नाम या उनके व्यक्तित्व को नहीं समझ पाते तो इस क्षुद्रलोक के तथाकथित विद्वानों के विषय में क्या कहा जा सकता है? कोई नहीं जानता कि परमेश्वर क्यों मनुष्य रूप में इस पृथ्वी पर आते हैं और ऐसे विस्मयजनक असामान्य कार्यकलाप करते हैं। तब तो यह समझ लेना चाहिए कि कृष्ण को जानने के लिए विद्वत्ता आवश्यक नहीं है। बड़े-बड़े देवताओं तथा ऋषियों ने मानसिक चिन्तन द्वारा कृष्ण को जानने का प्रयास किया, किन्तु जान नहीं पाये। *श्रीमद्भागवत* में भी स्पष्ट कहा गया है कि बड़े से बड़े देवता भी भगवान् को नहीं जान पाते। जहाँ तक उनकी अपूर्ण इन्द्रियाँ पहुँच पाती हैं, वहीं तक वे सोच पाते हैं और निर्विशेषवाद के ऐसे विपरीत निष्कर्ष को प्राप्त होते हैं, जो प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा व्यक्त नहीं होता, या कि वे मन-चिन्तन द्वारा कुछ कल्पना करते हैं, किन्तु इस तरह के मूर्खतापूर्ण चिन्तन से कृष्ण को नहीं समझा जा सकता।

यहाँ पर भगवान् अप्रत्यक्ष रूप में यह कहते हैं कि यदि कोई परमसत्य को जानना चाहता है तो, "लो, मैं भगवान् के रूप में यहाँ हूँ। मैं परम भगवान् हूँ।" मनुष्य को चाहिए कि इसे समझे। यद्यपि अचिन्त्य भगवान् को साक्षात् रूप में कोई नहीं जान सकता, तो भी वे विद्यमान रहते हैं। वास्तव में हम सच्चिदानन्द रूप कृष्ण को तभी समझ सकते हैं, जब *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में उनके वचनों को पढ़ें। जो भगवान् की अपरा शक्ति में हैं, उन्हें ईश्वर की अनुभूति किसी शासन करने वाली शक्ति या निर्विशेष ब्रह्म रूप में होती है, किन्तु भगवान् को जानने के लिए दिव्य स्थिति में होना आवश्यक है।

चूँकि अधिकांश लोग कृष्ण को उनके वास्तविक रूप में नहीं समझ पाते, अतः वे अपनी अहैतुकी कृपा से ऐसे चिन्तकों पर दया दिखाने के लिए अवतरित होते हैं। ये चिन्तक भगवान् के असामान्य कार्यकलापों के होते हुए भी भौतिक शक्ति (माया) से कल्मषग्रस्त होने के कारण निर्विशेष ब्रह्म को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। केवल भक्तगण ही जो भगवान् की शरण पूर्णतया ग्रहण कर चुके हैं, भगवत्कृपा से समझ पाते हैं कि कृष्ण सर्वश्रेष्ठ हैं। भगवद्भक्त निर्विशेष ब्रह्म की परवाह नहीं करते। वे अपनी श्रद्धा तथा भक्ति के कारण परमेश्वर की शरण ग्रहण करते हैं और कृष्ण की अहैतुकी कृपा से ही उन्हें समझ पाते हैं। अन्य कोई उन्हें नहीं समझ पाता। अतः बड़े से बड़े ऋषि भी स्वीकार करते हैं कि आत्मा या परमात्मा तो वह है, जिसकी हम पूजा करते हैं।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३॥

यः—जो; **माम्**—मुझको; **अजम्**—अजन्मा; **अनादिम्**—आदिरहित; **च**—भी; **वेत्ति**—जानता है; **लोक**—लोकों का; **महा-ईश्वरम्**—परम स्वामी; **असम्मूढः**—मोहरहित; **सः**—वह; **मर्त्येषु**—मरणशील लोगों में; **सर्व-पापैः**—सारे पापकर्मों से; **प्रमुच्यते**—मुक्त हो जाता है।

जो मुझे अजन्मा, अनादि, समस्त लोकों के स्वामी के रूप में जानता है, मनुष्यों में केवल वही मोहरहित और समस्त पापों से मुक्त होता है।

तात्पर्य : जैसा कि सातवें अध्याय में (७.३) कहा गया है—*मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये*—जो लोग आत्म-साक्षात्कार के पद तक उठने के लिए प्रयत्नशील होते हैं, वे सामान्य व्यक्ति नहीं हैं, वे उन करोड़ों सामान्य व्यक्तियों से श्रेष्ठ हैं, जिन्हें आत्म-साक्षात्कार का ज्ञान नहीं होता। किन्तु जो वास्तव में अपनी आध्यात्मिक स्थिति को समझने के लिए प्रयत्नशील होते हैं, उनमें से श्रेष्ठ वही है, जो यह जान लेता है कि कृष्ण ही भगवान्, प्रत्येक वस्तु के स्वामी तथा अजन्मा हैं, वही सबसे अधिक सफल अध्यात्मज्ञानी है। जब वह कृष्ण की परम स्थिति को पूरी तरह समझ लेता है, उसी दशा में वह समस्त पापकर्मों से मुक्त हो पाता है।

यहाँ पर भगवान् को *अज* अर्थात् अजन्मा कहा गया है, किन्तु वे द्वितीय अध्याय में वर्णित उन जीवों से भिन्न हैं, जिन्हें *अज* कहा गया है। भगवान् जीवों से भिन्न हैं, क्योंकि जीव भौतिक आसक्तिवश जन्म लेते तथा मरते रहते हैं। बद्धजीव अपना शरीर

बदलते रहते हैं, किन्तु भगवान् का शरीर परिवर्तनशील नहीं है। यहाँ तक कि जब वे इस लोक में आते हैं तो भी वे उसी अजन्मा रूप में आते हैं। इसीलिए चौथे अध्याय में कहा गया है कि भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति के कारण अपराशक्ति माया के अधीन नहीं हैं, अपितु पराशक्ति में रहते हैं।

इस श्लोक के *वेत्ति लोक महेश्वरम्* शब्दों से सूचित होता है कि मनुष्य को यह जानना चाहिए कि भगवान् कृष्ण ब्रह्माण्ड के सभी लोकों के परम स्वामी हैं। वे सृष्टि के पूर्व थे और अपनी सृष्टि से भिन्न हैं। सारे देवता इसी भौतिक जगत् में उत्पन्न हुए, किन्तु कृष्ण अजन्मा हैं, फलतः वे ब्रह्मा तथा शिवजी जैसे बड़े-बड़े देवताओं से भी भिन्न हैं और चूँकि वे ब्रह्मा, शिव तथा अन्य समस्त देवताओं के स्रष्टा हैं, अतः वे समस्त लोकों के परम पुरुष हैं।

अतएव श्रीकृष्ण उस हर वस्तु से भिन्न हैं, जिसकी सृष्टि हुई है और जो उन्हें इस रूप में जान लेता है, वह तुरन्त ही सारे पापकर्मों से मुक्त हो जाता है। परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनुष्य को समस्त पापकर्मों से मुक्त होना चाहिए। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है कि उन्हें केवल भक्ति के द्वारा जाना जा सकता है, किसी अन्य साधन से नहीं।

मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण को सामान्य मनुष्य न समझे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, केवल मूर्ख व्यक्ति ही उन्हें मनुष्य मानता है। इसे यहाँ भिन्न प्रकार से कहा गया है। जो व्यक्ति मूर्ख नहीं है, जो भगवान् के स्वरूप को ठीक से समझ सकता है, वह समस्त पापकर्मों से मुक्त है।

यदि कृष्ण देवकीपुत्र रूप में विख्यात हैं, तो फिर वे अजन्मा कैसे हो सकते हैं? इसकी व्याख्या *श्रीमद्भागवत* में भी की गई है—जब वे देवकी तथा वसुदेव के समक्ष प्रकट हुए तो वे सामान्य शिशु की तरह नहीं जन्मे। वे अपने आदि रूप में प्रकट हुए और फिर एक सामान्य शिशु में परिणत हो गए।

कृष्ण की अध्यक्षता में जो भी कर्म किया जाता है, वह दिव्य है। वह शुभ या अशुभ फलों से दूषित नहीं होता। इस जगत् में शुभ या अशुभ वस्तुओं का बोध बहुत कुछ मनोधर्म है, क्योंकि इस भौतिक जगत् में कुछ भी शुभ नहीं है। प्रत्येक वस्तु अशुभ है, क्योंकि प्रकृति स्वयं ही अशुभ है। हम इसे शुभ मानने की कल्पना मात्र करते हैं। वास्तविक मंगल तो पूर्णभक्ति और सेवाभाव से युक्त कृष्णभावनामृत पर ही निर्भर करता है। अतः यदि हम तनिक भी चाहते हैं कि हमारे कर्म शुभ हों तो हमें परमेश्वर की आज्ञा से कर्म करना होगा। ऐसी आज्ञा *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* जैसे शास्त्रों से या प्रामाणिक गुरु से प्राप्त की जा सकती है। चूँकि गुरु भगवान् का प्रतिनिधि होता है, अत उसकी आज्ञा प्रत्यक्षतः परमेश्वर की आज्ञा होती है। गुरु, साधु तथा शास्त्र एक ही प्रकार से आज्ञा देते हैं। इन तीनों स्रोतों में कोई विरोध नहीं होता। इस प्रकार से किये गये सारे कार्य इस जगत् के शुभाशुभ कर्मफलों से मुक्त होते हैं। कर्म सम्पन्न करते हुए भक्त की दिव्य मनोवृत्ति वैराग्य की होती है, जिसे सन्यास कहते हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* के छठे अध्याय के प्रथम श्लोक में कहा गया है कि, जो भगवान् का आदेश मानकर कोई कर्तव्य करता है और जो अपने कर्मफलों की शरण ग्रहण नहीं करता

(*अनाश्रितः कर्मफलम्*), वही असली संन्यासी है। जो भगवान् के निर्देशानुसार कर्म करता है, वास्तव में संन्यासी तथा योगी वही है, केवल संन्यासी या छद्म योगी के वेष में रहने वाला व्यक्ति नहीं।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥५॥

बुद्धिः—बुद्धि; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **असम्मोहः**—संशय से रहित; **क्षमा**—क्षमा; **सत्यम्**—सत्यता; **दमः**—इन्द्रियनिग्रह; **शमः**—मन का निग्रह; **सुखम्**—सुख; **दुःखम्**—दुख; **भवः**—जन्म; **अभावः**—मृत्यु; **भयम्**—डर; **च**—भी; **अभयम्**—निर्भीकता; **एव**—भी; **च**—तथा; **अहिंसा**—अहिंसा; **समता**—समभाव; **तुष्टिः**—सन्तोष; **तपः**—तपस्या; **दानम्**—दान; **यशः**—यश; **अयशः**—अपयश, अपकीर्ति; **भवन्ति**—होते हैं; **भावाः**—प्रकृतियाँ; **भूतानाम्**—जीवों की; **मत्तः**—मुझसे; **एव**—निश्चय ही; **पृथक्-विधाः**—भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यवस्थित।

बुद्धि, ज्ञान, संशय तथा मोह से मुक्ति, क्षमाभाव, सत्यता, इन्द्रियनिग्रह, मननिग्रह, सुख तथा दुख, जन्म, मृत्यु, भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश तथा अपयश—जीवों के ये विविध गुण मेरे ही द्वारा उत्पन्न हैं।

तात्पर्य : जीवों के अच्छे या बुरे गुण कृष्ण द्वारा उत्पन्न हैं और यहाँ पर उनका वर्णन किया गया है।

बुद्धि का अर्थ है नीर-क्षीर विवेक करने वाली शक्ति, और ज्ञान का अर्थ है, आत्मा तथा पदार्थ को जान लेना। विश्वविद्यालय की शिक्षा से प्राप्त सामान्य ज्ञान मात्र पदार्थ से सम्बन्धित होता है, यहाँ इसे ज्ञान नहीं स्वीकार किया गया है। ज्ञान का अर्थ है आत्मा तथा भौतिक पदार्थ के अन्तर को जानना। आधुनिक शिक्षा में आत्मा के विषय में कोई ज्ञान नहीं दिया जाता, केवल भौतिक तत्त्वों तथा शारीरिक आवश्यकताओं पर ध्यान दिया जाता है। फलस्वरूप शैक्षिक ज्ञान पूर्ण नहीं है।

असम्मोह अर्थात् संशय तथा मोह से मुक्ति तभी प्राप्त हो सकती है, जब मनुष्य झिझकता नहीं और दिव्य दर्शन को समझता है। वह धीरे-धीरे निश्चित रूप से मोह से मुक्त हो जाता है। हर बात को सतर्कतापूर्वक ग्रहण करना चाहिए, आँख मूँदकर कुछ भी स्वीकार नहीं करना चाहिए। *क्षमा* का अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य को सहिष्णु होना चाहिए और दूसरों के छोटे-छोटे अपराध क्षमा कर देना चाहिए। *सत्यम्* का अर्थ है कि तथ्यों को सही रूप में अन्यों के लाभ के लिए प्रस्तुत किया जाए। तथ्यों को तोड़ना मरोड़ना नहीं चाहिए। सामाजिक प्रथा के अनुसार कहा जाता है कि वही सत्य बोलना चाहिए जो अन्यों को प्रिय लगे। किन्तु यह सत्य नहीं है। सत्य को सही-सही रूप में बोलना चाहिए, जिससे दूसरे लोग समझ सकें कि सच्चाई क्या है। यदि कोई मनुष्य चोर है और यदि लोगों को सावधान कर दिया जाए कि अमुक व्यक्ति चोर है, तो यह सत्य है। यद्यपि सत्य कभी-कभी अप्रिय होता है, किन्तु सत्य कहने में संकोच

नहीं करना चाहिए। सत्य की माँग है कि तथ्यों को यथारूप में लोकहित के लिए प्रस्तुत किया जाए। यही सत्य की परिभाषा है।

दम: का अर्थ है कि इन्द्रियों को व्यर्थ के विषयभोग में न लगाया जाए। इन्द्रियों की समुचित आवश्यकताओं की पूर्ति का निषेध नहीं है, किन्तु अनावश्यक इन्द्रियभोग आध्यात्मिक उन्नति में बाधक है। फलतः इन्द्रियों के अनावश्यक उपयोग पर नियन्त्रण रखना चाहिए। इसी प्रकार मन पर भी अनावश्यक विचारों के विरुद्ध संयम रखना चाहिए। इसे *शम* कहते हैं। मनुष्य को चाहिए कि धन-अर्जन के चिन्तन में ही सारा समय न गँवाये। यह चिन्तन शक्ति का दुरुपयोग है। *मन* का उपयोग मनुष्यों की मूल आवश्यकताओं को समझने के लिए किया जाना चाहिए और उसे ही प्रमाणपूर्वक प्रस्तुत करना चाहिए। शास्त्रमर्मज्ञों, साधुपुरुषों, गुरुओं तथा महान विचारकों की संगति में रहकर विचार-शक्ति का विकास करना चाहिए। जिस प्रकार से कृष्णभावनामृत के आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन में सुविधा हो वही *सुखम्* है। इसी प्रकार *दुःखम्* वह है जिससे कृष्णभावनामृत के अनुशीलन में असुविधा हो। जो कुछ कृष्णभावनामृत के विकास के अनुकूल हो, उसे स्वीकार करे और जो प्रतिकूल हो उसका परित्याग करे।

भव अर्थात् जन्म का सम्बन्ध शरीर से है। जहाँ तक आत्मा का प्रश्न है, वह न तो उत्पन्न होता है न मरता है। इसकी व्याख्या हम *भगवद्गीता* के प्रारम्भ में ही कर चुके हैं। जन्म तथा मृत्यु का संबध इस भौतिक जगत् में शरीर धारण करने से है। *भय* तो भविष्य की चिन्ता से उद्भूत है। कृष्णभावनामृत में रहने वाला व्यक्ति कभी भयभीत नहीं होता, क्योंकि वह अपने कर्मों के द्वारा भगवद्धाम को वापस जाने के प्रति आश्वस्त रहता है। फलस्वरूप उसका भविष्य उज्ज्वल होता है। किन्तु अन्य लोग अपने भविष्य के विषय में कुछ नहीं जानते, उन्हें इसका कोई ज्ञान नहीं होता कि अगले जीवन में क्या होगा। फलस्वरूप वे निरन्तर चिन्ताग्रस्त रहते हैं। यदि हम चिन्तामुक्त होना चाहते हैं, तो सर्वोत्तम उपाय यह है कि हम कृष्ण को जानें तथा कृष्णभावनामृत में निरन्तर स्थित रहें। इस प्रकार हम समस्त भय से मुक्त रहेंगे। *श्रीमद्भागवत* में (११.२.३७) कहा गया है— *भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्*—भय तो हमारे मायापाश में फँस जाने से उत्पन्न होता है। किन्तु जो माया के जाल से मुक्त हैं, जो आश्वस्त हैं कि वे शरीर नहीं, अपितु भगवान् के आध्यात्मिक अंश हैं और जो भगवद्भक्ति में लगे हुए हैं, उन्हें कोई भय नहीं रहता। उनका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। यह भय तो उन व्यक्तियों की अवस्था है जो कृष्णभावनामृत में नहीं हैं। *अभयम्* तभी सम्भव है जब कृष्णभावनामृत में रहा जाए।

अहिंसा का अर्थ होता है कि अन्यों को कष्ट न पहुँचाया जाय। जो भौतिक कार्य अनेकानेक राजनीतिज्ञों, समाजशास्त्रियों, परोपकारियों आदि द्वारा किये जाते हैं, उनके परिणाम अच्छे नहीं निकलते, क्योंकि राजनीतिज्ञों तथा परोपकारियों में दिव्यदृष्टि नहीं होती, वे यह नहीं जानते कि वास्तव में मानव समाज के लिए क्या लाभप्रद है। *अहिंसा* का अर्थ है कि मनुष्यों को इस प्रकार से प्रशिक्षित किया जाए कि इस मानवदेह का पूरा-पूरा उपयोग हो सके। मानवदेह आत्म-साक्षात्कार के हेतु मिली है। अतः ऐसी कोई संस्था या संघ जिससे उद्देश्य की पूर्ति में प्रोत्साहन न हो, मानवदेह के प्रति हिंसा करने वाला

(*अनाश्रितः कर्मफलम्*), वही असली संन्यासी है। जो भगवान् के निर्देशानुसार कर्म करता है, वास्तव में संन्यासी तथा योगी वही है, केवल संन्यासी या छद्म योगी के वेष में रहने वाला व्यक्ति नहीं।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ ४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ ५॥

बुद्धिः—बुद्धि; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **असम्मोहः**—संशय से रहित; **क्षमा**—क्षमा; **सत्यम्**—सत्यता; **दमः**—इन्द्रियनिग्रह; **शमः**—मन का निग्रह; **सुखम्**—सुख; **दुःखम्**—दुख; **भवः**—जन्म; **अभावः**—मृत्यु; **भयम्**—डर; **च**—भी; **अभयम्**—निर्भीकता; **एव**—भी; **च**—तथा; **अहिंसा**—अहिंसा; **समता**—समभाव; **तुष्टिः**—सन्तोष; **तपः**—तपस्या; **दानम्**—दान; **यशः**—यश; **अयशः**—अपयश, अपकीर्ति; **भवन्ति**—होते हैं; **भावाः**—प्रकृतियाँ; **भूतानाम्**—जीवों की; **मत्तः**—मुझसे; **एव**—निश्चय ही; **पृथक्-विधाः**—भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यवस्थित।

बुद्धि, ज्ञान, संशय तथा मोह से मुक्ति, क्षमाभाव, सत्यता, इन्द्रियनिग्रह, मननिग्रह, सुख तथा दुख, जन्म, मृत्यु, भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश तथा अपयश—जीवों के ये विविध गुण मेरे ही द्वारा उत्पन्न हैं।

तात्पर्य : जीवों के अच्छे या बुरे गुण कृष्ण द्वारा उत्पन्न हैं और यहाँ पर उनका वर्णन किया गया है।

बुद्धि का अर्थ है नीर-क्षीर विवेक करने वाली शक्ति, और ज्ञान का अर्थ है, आत्मा तथा पदार्थ को जान लेना। विश्वविद्यालय की शिक्षा से प्राप्त सामान्य ज्ञान मात्र पदार्थ से सम्बन्धित होता है, यहाँ इसे ज्ञान नहीं स्वीकार किया गया है। ज्ञान का अर्थ है आत्मा तथा भौतिक पदार्थ के अन्तर को जानना। आधुनिक शिक्षा में आत्मा के विषय में कोई ज्ञान नहीं दिया जाता, केवल भौतिक तत्त्वों तथा शारीरिक आवश्यकताओं पर ध्यान दिया जाता है। फलस्वरूप शैक्षिक ज्ञान पूर्ण नहीं है।

असम्मोह अर्थात् संशय तथा मोह से मुक्ति तभी प्राप्त हो सकती है, जब मनुष्य झिझकता नहीं और दिव्य दर्शन को समझता है। वह धीरे-धीरे निश्चित रूप से मोह से मुक्त हो जाता है। हर बात को सतर्कतापूर्वक ग्रहण करना चाहिए, आँख मूँदकर कुछ भी स्वीकार नहीं करना चाहिए। *क्षमा* का अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य को सहिष्णु होना चाहिए और दूसरों के छोटे-छोटे अपराध क्षमा कर देना चाहिए। *सत्यम्* का अर्थ है कि तथ्यों को सही रूप में अन्यों के लाभ के लिए प्रस्तुत किया जाए। तथ्यों को तोड़ना मरोड़ना नहीं चाहिए। सामाजिक प्रथा के अनुसार कहा जाता है कि वही सत्य बोलना चाहिए जो अन्यों को प्रिय लगे। किन्तु यह सत्य नहीं है। सत्य को सही-सही रूप में बोलना चाहिए, जिससे दूसरे लोग समझ सकें कि सच्चाई क्या है। यदि कोई मनुष्य चोर है और यदि लोगों को सावधान कर दिया जाए कि अमुक व्यक्ति चोर है, तो यह सत्य है। यद्यपि सत्य कभी-कभी अप्रिय होता है, किन्तु सत्य कहने में संकोच

नहीं करना चाहिए। सत्य की माँग है कि तथ्यों को यथारूप में लोकहित के लिए प्रस्तुत किया जाए। यही सत्य की परिभाषा है।

दमः का अर्थ है कि इन्द्रियों को व्यर्थ के विषयभोग में न लगाया जाए। इन्द्रियों की समुचित आवश्यकताओं की पूर्ति का निषेध नहीं है, किन्तु अनावश्यक इन्द्रियभोग आध्यात्मिक उन्नति में बाधक है। फलतः इन्द्रियों के अनावश्यक उपयोग पर नियन्त्रण रखना चाहिए। इसी प्रकार मन पर भी अनावश्यक विचारों के विरुद्ध संयम रखना चाहिए। इसे *शम* कहते हैं। मनुष्य को चाहिए कि धन-अर्जन के चिन्तन में ही सारा समय न गँवाये। यह चिन्तन शक्ति का दुरुपयोग है। *मन* का उपयोग मनुष्यों की मूल आवश्यकताओं को समझने के लिए किया जाना चाहिए और उसे ही प्रमाणपूर्वक प्रस्तुत करना चाहिए। शास्त्रमर्मज्ञों, साधुपुरुषों, गुरुओं तथा महान विचारकों की संगति में रहकर विचार-शक्ति का विकास करना चाहिए। जिस प्रकार से कृष्णभावनामृत के आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन में सुविधा हो वही *सुखम्* है। इसी प्रकार *दुःखम्* वह है जिससे कृष्णभावनामृत के अनुशीलन में असुविधा हो। जो कुछ कृष्णभावनामृत के विकास के अनुकूल हो, उसे स्वीकार करे और जो प्रतिकूल हो उसका परित्याग करे।

भव अर्थात् जन्म का सम्बन्ध शरीर से है। जहाँ तक आत्मा का प्रश्न है, वह न तो उत्पन्न होता है न मरता है। इसकी व्याख्या हम *भगवद्गीता* के प्रारम्भ में ही कर चुके हैं। जन्म तथा मृत्यु का संबध इस भौतिक जगत् में शरीर धारण करने से है। *भय* तो भविष्य की चिन्ता से उद्भूत है। कृष्णभावनामृत में रहने वाला व्यक्ति कभी भयभीत नहीं होता, क्योंकि वह अपने कर्मों के द्वारा भगवद्धाम को वापस जाने के प्रति आश्वस्त रहता है। फलस्वरूप उसका भविष्य उज्ज्वल होता है। किन्तु अन्य लोग अपने भविष्य के विषय में कुछ नहीं जानते, उन्हें इसका कोई ज्ञान नहीं होता कि अगले जीवन में क्या होगा। फलस्वरूप वे निरन्तर चिन्ताग्रस्त रहते हैं। यदि हम चिन्तामुक्त होना चाहते हैं, तो सर्वोत्तम उपाय यह है कि हम कृष्ण को जानें तथा कृष्णभावनामृत में निरन्तर स्थित रहें। इस प्रकार हम समस्त भय से मुक्त रहेंगे। *श्रीमद्भागवत* में (११.२.३७) कहा गया है— *भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्*—भय तो हमारे मायापाश में फँस जाने से उत्पन्न होता है। किन्तु जो माया के जाल से मुक्त हैं, जो आश्वस्त हैं कि वे शरीर नहीं, अपितु भगवान् के आध्यात्मिक अंश हैं और जो भगवद्भक्ति में लगे हुए हैं, उन्हें कोई भय नहीं रहता। उनका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। यह भय तो उन व्यक्तियों की अवस्था है जो कृष्णभावनामृत में नहीं हैं। *अभयम्* तभी सम्भव है जब कृष्णभावनामृत में रहा जाए।

अहिंसा का अर्थ होता है कि अन्यों को कष्ट न पहुँचाया जाय। जो भौतिक कार्य अनेकानेक राजनीतिज्ञों, समाजशास्त्रियों, परोपकारियों आदि द्वारा किये जाते हैं, उनके परिणाम अच्छे नहीं निकलते, क्योंकि राजनीतिज्ञों तथा परोपकारियों में दिव्यदृष्टि नहीं होती, वे यह नहीं जानते कि वास्तव में मानव समाज के लिए क्या लाभप्रद है। अहिंसा का अर्थ है कि मनुष्यों को इस प्रकार से प्रशिक्षित किया जाए कि इस मानवदेह का पूरा-पूरा उपयोग हो सके। मानवदेह आत्म-साक्षात्कार के हेतु मिली है। अतः ऐसी कोई संस्था या संघ जिसमें उद्देश्य की पूर्ति में प्रोत्साहन न हो, मानवदेह के प्रति हिंसा करने वाला

है। जिससे मनुष्यों के भावी आध्यात्मिक सुख में वृद्धि हो, वही अहिंसा है।

समता से राग-द्वेष से मुक्ति द्योतित होती है। न तो अत्यधिक राग अच्छा होता है और न अत्यधिक द्वेष ही। इस भौतिक जगत् को राग-द्वेष से रहित होकर स्वीकार करना चाहिए। जो कुछ कृष्णभावनामृत को सम्पन्न करने में अनुकूल हो, उसे ग्रहण करे और जो प्रतिकूल हो उसका त्याग कर दे। यही समता है। कृष्णभावनामृत युक्त व्यक्ति को न तो कुछ ग्रहण करना होता है, न त्याग करना होता है। उसे तो कृष्णभावनामृत सम्पन्न करने में उसकी उपयोगिता से प्रयोजन रहता है।

तुष्टि का अर्थ है कि मनुष्य को चाहिए कि अनावश्यक कार्य करके अधिकाधिक वस्तुएँ एकत्र करने के लिए उत्सुक न रहे। उसे तो ईश्वर की कृपा से जो प्राप्त हो जाए, उसी से प्रसन्न रहना चाहिए। यही तुष्टि है। *तपस्* का अर्थ है तपस्या। *तपस्* के अन्तर्गत वेदों में वर्णित अनेक विधि-विधानों का पालन करना होता है—यथा प्रातःकाल उठना और स्नान करना। कभी-कभी प्रातःकाल उठना अति कष्टकारक होता है, किन्तु इस प्रकार स्वेच्छा से जो भी कष्ट सहे जाते हैं वे *तपस्* या *तपस्या* कहलाते हैं। इसी प्रकार मास के कुछ विशेष दिनों में उपवास रखने का भी विधान है। हो सकता है कि इन उपवासों को करने की इच्छा न हो, किन्तु कृष्णभावनामृत के विज्ञान में प्रगति करने के संकल्प के कारण उसे ऐसे शारीरिक कष्ट उठाने होते हैं। किन्तु उसे व्यर्थ ही अथवा वैदिक आदेशों के प्रतिकूल उपवास करने की आवश्यकता नहीं है। उसे किसी राजनीतिक उद्देश्य से उपवास नहीं करना चाहिए। *भगवद्गीता* में इसे तामसी उपवास कहा गया है तथा किसी भी ऐसे कार्य से जो तमोगुण या रजोगुण में किया जाता है, आध्यात्मिक उन्नति नहीं होती। किन्तु सतोगुण में रहकर जो भी कार्य किया जाता है वह समुन्नत बनाने वाला है, अतः वैदिक आदेशों के अनुसार किया गया उपवास आध्यात्मिक ज्ञान को समुन्नत बनाता है।

जहाँ तक दान का सम्बन्ध है, मनुष्य को चाहिए कि अपनी आय का पचास प्रतिशत किसी शुभ कार्य में लगाए और यह शुभ कार्य है क्या? यह है कृष्णभावनामृत में किया गया कार्य। ऐसा कार्य शुभ ही नहीं, अपितु सर्वोत्तम होता है। चूँकि कृष्ण अच्छे हैं इसीलिए उनका कार्य (निमित्त) भी अच्छा है, अतः दान उसे दिया जाय जो कृष्णभावनामृत में लगा हो। वेदों के अनुसार ब्राह्मणों को दान दिया जाना चाहिए। यह प्रथा आज भी चालू है, यद्यपि इसका स्वरूप वह नहीं है जैसा कि वेदों का उपदेश है। फिर भी आदेश यही है कि दान ब्राह्मणों को दिया जाये। वह क्यों? क्योंकि वे आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन में लगे रहते हैं। ब्राह्मण से यह आशा की जाती है कि वह सारा जीवन ब्रह्मजिज्ञासा में लगा दे। *ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः*—जो ब्रह्म को जाने, वही ब्राह्मण है। इसीलिए दान ब्राह्मणों को दिया जाता है, क्योंकि वे सदैव आध्यात्मिक कार्य में रत रहते हैं और उन्हें जीविकोपार्जन के लिए समय नहीं मिल पाता। वैदिक साहित्य में संन्यासियों को भी दान दिये जाने का आदेश है। संन्यासी द्वार-द्वार जाकर भिक्षा माँगते हैं। वे धनार्जन के लिए नहीं, अपितु प्रचारार्थ ऐसा करते हैं। वे द्वार-द्वार जाकर गृहस्थों को अज्ञान की निद्रा से जगाते हैं। चूँकि गृहस्थ गृहकार्यों में व्यस्त रहने के कारण अपने जीवन के वास्तविक उद्देश्य को, कृष्णभावनामृत जगाने को, भूले रहते

है, अतः यह सन्यासियों का कर्तव्य है कि वे भिखारी बन कर गृहस्थों के पास जाएँ और कृष्णभावनाभावित होने के लिए उन्हें प्रेरित करें। वेदों का कथन है कि मनुष्य जागे और मानव जीवन में जो प्राप्त करना है, उसे प्राप्त करे। संन्यासियों द्वारा यह ज्ञान तथा विधि वितरित की जाती है, अतः संन्यासी को ब्राह्मणों को तथा इसी प्रकार के उत्तम कार्यों के लिए दान देना चाहिए, किसी सनक के कारण नहीं।

यशस् भगवान् चैतन्य के अनुसार होना चाहिए। उनका कथन है कि मनुष्य तभी प्रसिद्धि (यश) प्राप्त करता है, जब वह महान भक्त के रूप में जाना जाता हो। यही वास्तविक यश है। यदि कोई कृष्णभावनामृत में महान बनता है और विख्यात होता है, तो वही वास्तव में प्रसिद्ध है। जिसे ऐसा यश प्राप्त न हो, वह अप्रसिद्ध है।

ये सारे गुण संसार भर में मानव समाज में तथा देवसमाज में प्रकट होते हैं। अन्य लोकों में भी विभिन्न तरह के मानव हैं और ये गुण उनमें भी होते हैं। तो, जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में प्रगति करना चाहता है, उसमें कृष्ण ये सारे गुण उत्पन्न कर देते हैं, किन्तु मनुष्य को तो इन्हें अपने अन्तर में विकसित करना होता है। जो व्यक्ति भगवान् की सेवा में लग जाता है, वह भगवान् की योजना के अनुसार इन सारे गुणों को विकसित कर लेता है।

हम जो कुछ भी अच्छा या बुरा देखते हैं उसका मूल श्रीकृष्ण हैं। इस संसार में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं, जो कृष्ण में स्थित न हो। यही ज्ञान है। यद्यपि हम जानते हैं कि वस्तुएँ भिन्न रूप से स्थित हैं, किन्तु हमें यह अनुभव करना चाहिए कि सारी वस्तुएँ कृष्ण से ही उत्पन्न हैं।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ ६॥

महा-ऋषयः–महर्षिगण; सप्त–सात; पूर्वे–पूर्वकाल में; चत्वारः–चार; मनवः–मनुगण; तथा–भी; मत्-भावाः–मुझसे उत्पन्न; मानसाः–मन से; जाताः–उत्पन्न; येषाम्–जिनकी; लोके–संसार में; इमाः–ये सब; प्रजाः–सन्तानें, जीव।

सप्तर्षिगण तथा उनसे भी पूर्व चार अन्य महर्षि एवं सारे मनु (मानवजाति के पूर्वज) सब मेरे मन से उत्पन्न हैं और विभिन्न लोकों में निवास करने वाले सारे जीव उनसे अवतरित होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् यहाँ पर ब्रह्माण्ड की प्रजा का आनुवंशिक वर्णन कर रहे हैं। ब्रह्मा परमेश्वर की शक्ति से उत्पन्न आदि जीव हैं, जिन्हें हिरण्यगर्भ कहा जाता है। ब्रह्मा से सात महर्षि तथा इनसे भी पूर्व चार महर्षि–सनक, सनन्दन, सनातन तथा सनत्कुमार–एवं सारे मनु प्रकट हुए। ये पच्चीस महान ऋषि ब्रह्माण्ड के समस्त जीवों के धर्म-पथप्रदर्शक कहलाते हैं। असंख्य ब्रह्माण्ड हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में असंख्य लोक हैं और प्रत्येक लोक में नाना योनियाँ निवास करती हैं। ये सब इन्हीं पच्चीसों प्रजापतियों से उत्पन्न हैं। कृष्ण की कृपा से एक हजार दिव्य वर्षों तक तपस्या करने के बाद ब्रह्मा को सृष्टि करने का ज्ञान प्राप्त हुआ। तब ब्रह्मा से सनक, सनन्दन, सनातन तथा

सनत्कुमार उत्पन्न हुए। उनके बाद रुद्र तथा सप्तर्षि और इस प्रकार फिर भगवान् की शक्ति से सभी ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों का जन्म हुआ। ब्रह्मा को पितामह कहा जाता है और कृष्ण को प्रपितामह–पितामह का पिता। इसका उल्लेख *भगवद्गीता* के ग्यारहवें अध्याय (११.३९) में किया गया है।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकल्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

एताम्–इस सारे; **विभूतिम्**–ऐश्वर्य को; **योगम्**–योग को; **च**–भी; **मम**–मेरा; **यः**–जो कोई; **वेत्ति**–जानता है; **तत्त्वतः**–सही-सही; **सः**–वह; **अविकल्पेन**–निश्चित रूप से; **योगेन**–भक्ति से; **युज्यते**–लगा रहता है; **न**–कभी नहीं; **अत्र**–यहाँ; **संशयः**–सन्देह, शंका।

जो मेरे इस ऐश्वर्य तथा योग से पूर्णतया आश्वस्त है, वह मेरी अनन्य भक्ति में तत्पर होता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

तात्पर्य : आध्यात्मिक सिद्धि की चरम परिणति है, भगवद्ज्ञान। जब तक कोई भगवान् के विभिन्न ऐश्वर्यों के प्रति आश्वस्त नहीं हो लेता, तब तक भक्ति में नहीं लग सकता। सामान्यतया लोग इतना तो जानते हैं कि ईश्वर महान है, किन्तु यह नहीं जानते कि वह किस प्रकार महान है। यहाँ पर उसका विस्तृत विवरण दिया गया है। जब कोई यह जान लेता है कि ईश्वर कैसे महान है, तो वह सहज ही शरणागत होकर भगवद्भक्ति में लग जाता है। भगवान् के ऐश्वर्यों को ठीक से समझ लेने पर शरणागत होने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं रह जाता। ऐसा वास्तविक ज्ञान *भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत* तथा अन्य ऐसे ही ग्रंथों से प्राप्त किया जा सकता है।

इस ब्रह्माण्ड के संचालन के लिए विभिन्न लोकों में अनेक देवता नियुक्त हैं, जिनमें से ब्रह्मा, शिव, चारों कुमार तथा अन्य प्रजापति प्रमुख हैं। ब्रह्माण्ड की प्रजा के अनेक पितामह भी हैं और वे सब भगवान् कृष्ण से उत्पन्न हैं। भगवान् कृष्ण समस्त पितामहों के आदि पितामह हैं।

ये रहे परमेश्वर के कुछ ऐश्वर्य। जब मनुष्य को इन पर अटूट विश्वास हो जाता है, तो वह अत्यन्त श्रद्धा समेत तथा संशयरहित होकर कृष्ण को स्वीकार करता है और भक्ति करता है। भगवान् की प्रेमाभक्ति में रुचि बढ़ाने के लिए ही इस विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता है। कृष्ण की महानता को समझने में उपेक्षा भाव न बरतें, क्योंकि कृष्ण की महानता को जानने पर ही एकनिष्ठ होकर भक्ति की जा सकती है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८॥

अहम्–मैं; **सर्वस्य**–सबका; **प्रभवः**–उत्पत्ति का कारण; **मत्तः**–मुझसे; **सर्वम्**–सारी वस्तुएँ; **प्रवर्तते**–उद्भूत होती हैं; **इति**–इस प्रकार; **मत्वा**–जानकर; **भजन्ते**–भक्ति करते हैं; **माम्**–मेरी; **बुधाः**–विद्वानजन; **भाव-समन्विताः**–अत्यन्त मनोयोग से।

मैं समस्त आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों का कारण हूँ, प्रत्येक वस्तु मुझ ही से उद्भूत है। जो बुद्धिमान यह भलीभाँति जानते हैं, वे मेरी प्रेमाभक्ति में लगते हैं तथा हृदय से पूरी तरह मेरी पूजा में तत्पर होते हैं।

तात्पर्य : जिस विद्वान ने वेदों का ठीक से अध्ययन किया हो और भगवान् चैतन्य जैसे अधिकारियों से ज्ञान प्राप्त किया हो तथा यह जानता हो कि इन उपदेशों का किस प्रकार उपयोग करना चाहिए, वही यह समझ सकता है कि भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों के मूल श्रीकृष्ण ही हैं। इस प्रकार के ज्ञान से वह भगवद्भक्ति में स्थिर हो जाता है। वह व्यर्थ की टीकाओं से या मूर्खों के द्वारा कभी पथभ्रष्ट नहीं होता। सारा वैदिक साहित्य स्वीकार करता है कि कृष्ण ही ब्रह्मा, शिव तथा अन्य समस्त देवताओं के स्रोत हैं। अथर्ववेद में (*गोपालतापनी उपनिषद्* १.२४) कहा गया है—*यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च गापयति स्म कृष्णः*—प्रारम्भ में कृष्ण ने ब्रह्मा को वेदों का ज्ञान प्रदान किया और उन्होंने भूतकाल में वैदिक ज्ञान का प्रचार किया। पुनः *नारायण उपनिषद्* में (१) कहा गया है—*अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेयेति*—तब भगवान् ने जीवों की सृष्टि करनी चाही। उपनिषद् में आगे भी कहा गया है—*नारायणाद् ब्रह्मा जायते नारायणाद् प्रजापतिः प्रजायते नारायणाद् इन्द्रो जायते। नारायणादष्टौ वसवो जायन्ते नारायणादेकादश रुद्रा जायन्ते नारायणाद्द्वादशादित्याः*—"नारायण से ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, नारायण से प्रजापति उत्पन्न होते हैं, नारायण से इन्द्र और आठ वसु उत्पन्न होते हैं और नारायण से ही ग्यारह रुद्र तथा बारह आदित्य उत्पन्न होते हैं।" यह नारायण कृष्ण के ही अंश हैं।

वेदों का ही कथन है—*ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रः*—देवकी पुत्र, कृष्ण, ही भगवान् हैं (*नारायण उपनिषद्* ४)। तब यह कहा गया—*एको वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा न ईशानो नापो नाग्निसमौ नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यः*—सृष्टि के प्रारम्भ में केवल भगवान् नारायण थे। न ब्रह्मा थे, न शिव। न अग्नि थी, न चन्द्रमा, न नक्षत्र और न सूर्य (*महा उपनिषद्* १)। *महा उपनिषद्* में यह भी कहा गया है कि शिवजी परमेश्वर के मस्तक से उत्पन्न हुए। अतः वेदों का कहना है कि ब्रह्मा तथा शिव के स्रष्टा भगवान् की ही पूजा की जानी चाहिए।

मोक्षधर्म में कृष्ण कहते हैं—

प्रजापतिं च रुद्रं चाप्यहमेव सृजामि वै।
तौ हि मां न विजानीतो मम मायाविमोहितौ॥

"मैंने ही प्रजापतियों को, शिव तथा अन्यों को उत्पन्न किया, किन्तु वे मेरी माया से मोहित होने के कारण यह नहीं जानते कि मैंने ही उन्हें उत्पन्न किया।" *वराह पुराण* में भी कहा गया है—

नारायणः परो देवस्तस्माज्जातश्चतुर्मुखः।
तस्माद्रुद्रोऽभवद्देवः स च सर्वज्ञतां गतः॥

"नारायण भगवान् हैं, जिनसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए और फिर ब्रह्मा से शिव उत्पन्न हुए।" भगवान् कृष्ण समस्त उत्पत्तियों के स्रोत हैं और वे सर्वकारण कहलाते हैं। वे

कहते हैं, "चूँकि सारी वस्तुएँ मुझसे उत्पन्न हैं, अतः मैं सबों का मूल कारण हूँ। सारी वस्तुएँ मेरे अधीन हैं, मेरे ऊपर कोई भी नहीं है।" कृष्ण से बढ़कर कोई परम नियन्ता नहीं है। जो व्यक्ति प्रामाणिक गुरु से या वैदिक साहित्य से इस प्रकार कृष्ण को जान लेता है, वह अपनी सारी शक्ति कृष्णभावनामृत में लगाता है और सचमुच विद्वान पुरुष बन जाता है। उसकी तुलना में अन्य सारे लोग, जो कृष्ण को ठीक से नहीं जानते, मात्र मूर्ख सिद्ध होते हैं। केवल मूर्ख ही कृष्ण को सामान्य व्यक्ति समझेगा। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को चाहिए कि कभी मूर्खों द्वारा मोहित न हो, उसे *भगवद्गीता* की समस्त अप्रामाणिक टीकाओं एवं व्याख्याओं से दूर रहना चाहिए और दृढ़तापूर्वक कृष्णभावनामृत में अग्रसर होना चाहिए।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥९॥

मत्-चित्ताः—जिनके मन मुझमें रमे हैं; **मत्-गत-प्राणाः**—जिनके जीवन मुझ में अर्पित हैं; **बोधयन्तः**—उपदेश देते हुए; **परस्परम्**—एक दूसरे से, आपस में; **कथयन्तः**—बातें करते हुए; **च**—भी; **माम्**—मेरे विषय में; **नित्यम्**—निरन्तर; **तुष्यन्ति**—प्रसन्न होते हैं; **च**—भी; **रमन्ति**—दिव्य आनन्द भोगते हैं; **च**—भी।

मेरे शुद्धभक्तों के विचार मुझमें वास करते हैं, उनके जीवन मेरी सेवा में अर्पित रहते हैं और वे एक दूसरे को ज्ञान प्रदान करते तथा मेरे विषय में बातें करते हुए परम सन्तोष तथा आनन्द का अनुभव करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ जिन शुद्ध भक्तों के लक्षणों का उल्लेख हुआ है, वे निरन्तर भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में रमे रहते हैं। उनके मन कृष्ण के चरणकमलों से हटते नहीं। वे दिव्य विषयों की ही चर्चा चलाते हैं। इस श्लोक में शुद्ध भक्तों के लक्षणों का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। भगवद्भक्त परमेश्वर के गुणों तथा उनकी लीलाओं के गान में अहर्निश लगे रहते हैं। उनके हृदय तथा आत्माएँ निरन्तर कृष्ण में निमग्न रहती हैं और वे अन्य भक्तों से भगवान् के विषय में बातें करने में आनन्दानुभव करते हैं।

भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था में वे सेवा में ही दिव्य आनन्द उठाते हैं और परिपक्वावस्था में वे ईश्वर-प्रेम को प्राप्त होते हैं। जब वे इस दिव्य स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं, तब वे उस सर्वोच्च सिद्धि का स्वाद लेते हैं, जो भगवद्धाम में प्राप्त होती है। भगवान् चैतन्य दिव्य भक्ति की तुलना जीव के हृदय में बीज बोने से करते हैं। ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों में असंख्य जीव विचरण करते रहते हैं। इनमें से कुछ ही भाग्यशाली होते हैं, जिनकी शुद्धभक्त से भेंट हो पाती है और जिन्हें भक्ति समझने का अवसर प्राप्त हो पाता है। यह भक्ति बीज के सदृश है। यदि इसे जीव के हृदय में बो दिया जाये और जीव *हरे कृष्ण* मन्त्र का श्रवण तथा कीर्तन करता रहे तो बीज अंकुरित होता है, जिस प्रकार कि नियमतः सींचते रहने से वृक्ष का बीज फलता है। भक्ति रूपी आध्यात्मिक पौधा क्रमशः बढ़ता रहता है, जब तक यह ब्रह्माण्ड के आवरण को भेदकर ब्रह्मज्योति में प्रवेश नहीं कर जाता। ब्रह्मज्योति में भी यह पौधा तब तक बढ़ता जाता है, जब तक

उस उच्चतम लोक को नहीं प्राप्त कर लेता, जिसे गोलोक वृन्दावन या कृष्ण का परमधाम कहते हैं। अन्ततोगत्वा यह पौधा भगवान् के चरणकमलों की शरण प्राप्त कर वहीं विश्राम पाता है। जिस प्रकार पौधे में क्रम से फूल तथा फल आते हैं, उसी प्रकार भक्तिरूपी पौधे में भी फल आते हैं और कीर्तन तथा श्रवण के रूप में उसका सिंचन चलता रहता है। *चैतन्य चरितामृत* में (मध्य लीला, अध्याय १९) भक्तिरूपी पौधे का विस्तार से वर्णन हुआ है। वहाँ यह बताया गया है कि जब पूर्ण पौधा भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर लेता है तो मनुष्य पूर्णतया भगवत्प्रेम में लीन हो जाता है, तब वह एक क्षण भी परमेश्वर के बिना नहीं रह पाता, जिस प्रकार कि मछली जल के बिना नहीं रह सकती। ऐसी अवस्था में भक्त वास्तव में परमेश्वर के संसर्ग से दिव्यगुण प्राप्त कर लेता है।

श्रीमद्भागवत में भी भगवान् तथा उनके भक्तों के सम्बन्ध के विषय में ऐसी अनेक कथाएँ हैं। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* भक्तों को अत्यन्त प्रिय है जैसा कि भागवत में ही (१२.१३.१८) कहा गया है—*श्रीमद्भागवतं पुराणं अमलं यद्वैष्णवानां प्रियम्*। ऐसी कथा में भौतिक कार्यों, आर्थिक विकास, इन्द्रियतृप्ति या मोक्ष के विषय में कुछ भी नहीं है। *श्रीमद्भागवत* ही एकमात्र ऐसी कथा है, जिसमें भगवान् तथा उनके भक्तों की दिव्य प्रकृति का पूर्ण वर्णन मिलता है। फलतः कृष्णभावनाभावित जीव ऐसे दिव्य साहित्य के श्रवण में दिव्य रुचि दिखाते हैं, जिस प्रकार तरुण तथा तरुणी को परस्पर मिलने में आनन्द प्राप्त होता है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥१०॥

तेषाम्—उन; सतत-युक्तानाम्—सदैव लीन रहने वालों को; भजताम्—भक्ति करने वालों का; प्रीति-पूर्वकम्—प्रेमभाव सहित; ददामि—देता हूँ; बुद्धि-योगम्—असली बुद्धि; तम्—वह; येन—जिससे; माम्—मुझको; उपयान्ति—प्राप्त होते हैं; ते—वे।

जो प्रेमपूर्वक मेरी सेवा करने में निरन्तर लगे रहते हैं, उन्हें मैं ज्ञान प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझ तक आ सकते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *बुद्धि-योगम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हमें स्मरण हो कि द्वितीय अध्याय में भगवान् ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा था कि मैं तुम्हें अनेक विषयों के बारे में बता चुका हूँ और अब मैं तुम्हें बुद्धियोग की शिक्षा दूँगा। अब उसी बुद्धियोग की व्याख्या की जा रही है। बुद्धियोग *कृष्णभावनामृत* में रहकर कार्य करने को कहते हैं और यही उत्तम बुद्धि है। बुद्धि का अर्थ है बुद्धि और योग का अर्थ है यौगिक गतिविधियाँ अथवा यौगिक उन्नति। जब कोई भगवद्धाम को जाना चाहता है और भक्ति में वह कृष्णभावनामृत को ग्रहण कर लेता है, तो उसका यह कार्य बुद्धियोग कहलाता है। दूसरे शब्दों में, बुद्धियोग वह विधि है, जिससे मनुष्य भवबन्धन से छूटना चाहता है। उन्नति करने का चरम लक्ष्य कृष्णप्राप्ति है। लोग इसे नहीं जानते, अतः भक्तों तथा प्रामाणिक गुरु की संगति आवश्यक है। मनुष्य को ज्ञात होना चाहिए कि कृष्ण ही

हैं और जब लक्ष्य निर्दिष्ट है, तो पथ पर मन्दगति से प्रगति करने पर भी अन्तिम लक्ष्य प्राप्त हो जाता है।

जब मनुष्य लक्ष्य तो जानता है, किन्तु कर्मफल में लिप्त रहता है, तो वह कर्मयोगी होता है। यह जानते हुए कि लक्ष्य कृष्ण हैं, जब कोई कृष्ण को समझने के लिए मानसिक चिन्तन का सहारा लेता है, तो वह ज्ञानयोग में लीन होता है। किन्तु जब वह लक्ष्य को जानकर कृष्णभावनामृत तथा भक्ति में कृष्ण की खोज करता है, तो वह भक्तियोगी या बुद्धियोगी होता है और यही पूर्णयोग है। यह पूर्णयोग ही जीवन की सिद्धावस्था है।

जब व्यक्ति प्रामाणिक गुरु के होते हुए तथा आध्यात्मिक संघ से सम्बद्ध रहकर भी प्रगति नहीं कर पाता, क्योंकि वह बुद्धिमान नहीं है, तो कृष्ण उसके अन्तर से उपदेश देते हैं, जिससे वह सरलता से उन तक पहुँच सके। इसके लिए जिस योग्यता की अपेक्षा है, वह यह है कि कृष्णभावनामृत में निरन्तर रहकर प्रेम तथा भक्ति के साथ सभी प्रकार की सेवा की जाए। उसे कृष्ण के लिए कुछ न कुछ कार्य करते रहना चाहिए, किन्तु प्रेमपूर्वक। यदि भक्त इतना बुद्धिमान नहीं है कि आत्म-साक्षात्कार के पथ पर प्रगति कर सके, किन्तु यदि वह एकनिष्ठ रहकर भक्तिकार्यों में रत रहता है, तो भगवान् उसे अवसर देते हैं कि वह उन्नति करके अन्त में उनके पास पहुँच जाये।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ ११॥

तेषाम्—उन पर; **एव**—निश्चय ही; **अनुकम्पा-अर्थम्**—विशेष कृपा करने के लिए; **अहम्**—मैं; **अज्ञान-जम्**—अज्ञान के कारण; **तमः**—अंधकार; **नाशयामि**—दूर करता हूँ; **आत्म-भाव**—उनके हृदयों में; **स्थः**—स्थित; **ज्ञान**—ज्ञान के; **दीपेन**—दीपक द्वारा; **भास्वता**—प्रकाशमान हुए।

मैं उन पर विशेष कृपा करने के हेतु उनके हृदयों में वास करते हुए ज्ञान के प्रकाशमान दीपक के द्वारा अज्ञानजन्य अंधकार को दूर करता हूँ।

तात्पर्य : जब भगवान् चैतन्य बनारस में *हरे कृष्ण* महामन्त्र के कीर्तन का प्रवर्तन कर रहे थे, तो हजारों लोग उनका अनुसरण कर रहे थे। तत्कालीन बनारस के अत्यन्त प्रभावशाली एवं विद्वान प्रकाशानन्द सरस्वती उनको भावुक कहकर उनका उपहास करते थे। कभी-कभी भक्तों की आलोचना दार्शनिक यह सोचकर करते हैं कि भक्तगण अंधकार में हैं और दार्शनिक दृष्टि से भोले-भाले भावुक हैं, किन्तु यह तथ्य नहीं है। ऐसे अनेक बड़े-बड़े विद्वान पुरुष हैं, जिन्होंने भक्ति का दर्शन प्रस्तुत किया है। किन्तु यदि कोई भक्त उनके इस साहित्य का या अपने गुरु का लाभ न भी उठाये और यदि वह अपनी भक्ति में एकनिष्ठ रहे, तो उसके अन्तर से कृष्ण स्वयं उसकी सहायता करते हैं। अतः कृष्णभावनामृत में रत एकनिष्ठ भक्त ज्ञानरहित नहीं हो सकता। इसके लिए इतनी ही योग्यता चाहिए कि वह पूर्ण कृष्णभावनामृत में रहकर भक्ति सम्पन्न करता रहे।

आधुनिक दार्शनिकों का विचार है कि बिना विवेक के शुद्ध ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। उनके लिए भगवान् का उत्तर है—जो लोग शुद्धभक्ति में रत हैं, भले ही वे पर्याप्त शिक्षित न हों तथा वैदिक नियमों से पूर्णतया अवगत न हों, किन्तु भगवान् उनकी

सहायता करते ही हैं, जैसा कि इस श्लोक में बताया गया है।

भगवान् अर्जुन को बताते हैं कि मात्र चिन्तन से परम सत्य भगवान् को समझ पाना असम्भव है, क्योंकि भगवान् इतने महान हैं कि कोरे मानसिक प्रयास से उन्हें न तो जाना जा सकता है, न ही प्राप्त किया जा सकता है। भले ही कोई लाखों वर्षों तक चिन्तन करता रहे, किन्तु यदि भक्ति नहीं करता, यदि वह परम सत्य का प्रेमी नहीं है, तो उसे कभी भी कृष्ण या परम सत्य समझ में नहीं आएँगे। परम सत्य, कृष्ण, केवल भक्ति से प्रसन्न होते हैं और अपनी अचिन्त्य शक्ति से वे शुद्ध भक्त के हृदय में स्वयं प्रकट हो सकते हैं। शुद्धभक्त के हृदय में तो कृष्ण निरन्तर रहते हैं और कृष्ण की उपस्थिति सूर्य के समान है, जिसके द्वारा अज्ञान का अंधकार तुरन्त दूर हो जाता है। शुद्धभक्त पर भगवान् की यही विशेष कृपा है।

करोड़ों जन्मों के भौतिक संसर्ग के कल्मष के कारण मनुष्य का हृदय भौतिकता के मल (धूलि) से आच्छादित हो जाता है, किन्तु जब मनुष्य भक्ति में लगता है और निरन्तर *हरे कृष्ण* का जप करता है तो यह मल तुरन्त दूर हो जाता है और उसे शुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है। परम लक्ष्य विष्णु को इसी जप तथा भक्ति से प्राप्त किया जा सकता है, अन्य किसी प्रकार के मनोधर्म या तर्क द्वारा नहीं। शुद्ध भक्त जीवन की भौतिक आवश्यकताओं के लिए चिन्ता नहीं करता है, न तो उसे कोई और चिन्ता करने की आवश्यकता है, क्योंकि हृदय से अंधकार हट जाने पर भक्त की प्रेमाभक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् स्वतः सब कुछ प्रदान करते हैं। यही *भगवद्गीता* का उपदेश-सार है। *भगवद्गीता* के अध्ययन से मनुष्य भगवान् के शरणागत होकर शुद्धभक्ति में लग जाता है। जैसे ही भगवान् अपने ऊपर भार ले लेते हैं, मनुष्य सारे भौतिक प्रयासों से मुक्त हो जाता है।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥१३॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; परम्—परम; ब्रह्म—सत्य; परम्—परम; धाम—आधार; पवित्रम्—शुद्ध; परमम्—परम; भवान्—आप; पुरुषम्—पुरुष; शाश्वतम्—नित्य; दिव्यम्—दिव्य; आदि-देवम्—आदि स्वामी; अजम्—अजन्मा; विभुम्—सर्वोच्च; आहुः—कहते हैं; त्वाम्—आपको; ऋषयः—साधुगण; सर्वे—सभी; देव-ऋषिः—देवताओं के ऋषि; नारदः—नारद; तथा—भी; असितः—असित; देवलः—देवल; व्यासः—व्यास; स्वयम्—स्वयं; च—भी; एव—निश्चय ही; ब्रवीषि—आप बता रहे हैं; मे—मुझको।

अर्जुन ने कहा—आप परम भगवान्, परमधाम, परमपवित्र, परमसत्य हैं। आप नित्य, दिव्य, आदि पुरुष, अजन्मा तथा महानतम हैं। नारद, असित, देवल तथा व्यास जैसे ऋषि आपके इस सत्य की पुष्टि करते हैं और अब आप स्वयं भी मुझसे प्रकट कह रहे हैं।

तात्पर्य : इन दो श्लोकों में भगवान् आधुनिक दार्शनिक को अवसर प्रदान करते हैं, क्योंकि यहाँ यह स्पष्ट है कि परमेश्वर जीवात्मा से भिन्न हैं। इस अध्याय के चार महत्त्वपूर्ण श्लोकों को सुनकर अर्जुन की सारी शंकाएँ जाती रहीं और उसने कृष्ण को भगवान् स्वीकार कर लिया। उसने तुरन्त ही उद्घोष किया "आप परब्रह्म हैं।" इसके पूर्व कृष्ण कह चुके हैं कि वे प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक प्राणी के आदि कारण हैं। प्रत्येक देवता तथा प्रत्येक मनुष्य उन पर आश्रित है। वे अज्ञानवश अपने को भगवान् से परम स्वतन्त्र मानते हैं। ऐसा अज्ञान भक्ति करने से पूरी तरह मिट जाता है। भगवान् ने पिछले श्लोक में इसकी पूरी व्याख्या की है। अब भगवत्कृपा से अर्जुन उन्हें परमसत्य रूप में स्वीकार कर रहा है, जो वैदिक आदेशों के सर्वथा अनुरूप है। ऐसा नहीं है कि परम सखा होने के कारण अर्जुन कृष्ण की चाटुकारी करते हुए उन्हें परमसत्य भगवान् कह रहा है। इन दो श्लोकों में अर्जुन जो भी कहता है, उसकी पुष्टि वैदिक सत्य द्वारा होती है। वैदिक आदेश इसकी पुष्टि करते हैं कि जो कोई परमेश्वर की भक्ति करता है, वही उन्हें समझ सकता है, अन्य कोई नहीं। इन श्लोकों में अर्जुन द्वारा कहे शब्द वैदिक आदेशों द्वारा पुष्ट होते हैं।

केन उपनिषद् में कहा गया है कि परब्रह्म प्रत्येक वस्तु के आश्रय हैं और कृष्ण पहले ही कह चुके हैं कि सारी वस्तुएँ उन्हीं पर आश्रित हैं। *मुण्डक उपनिषद्* में पुष्टि की गई है कि जिन परमेश्वर पर सब कुछ आश्रित है, उन्हें उनके चिन्तन में रत रहकर ही प्राप्त किया जा सकता है। कृष्ण का यह निरन्तर चिन्तन *स्मरणम्* है, जो भक्ति की नव विधियों में से है। भक्ति के द्वारा ही मनुष्य कृष्ण की स्थिति को समझ सकता है और इस भौतिक देह से छुटकारा पा सकता है।

वेदों में परमेश्वर को परम पवित्र माना गया है। जो व्यक्ति कृष्ण को परम पवित्र मानता है, वह समस्त पापकर्मों से शुद्ध हो जाता है। भगवान् की शरण में गये बिना पापकर्मों से शुद्धि नहीं हो पाती। अर्जुन द्वारा कृष्ण को परम पवित्र मानना वेदसम्मत है। इसकी पुष्टि नारद आदि ऋषियों द्वारा भी हुई है।

कृष्ण भगवान् हैं और मनुष्य को चाहिए कि वह निरन्तर उनका ध्यान करते हुए उनसे दिव्य सम्बन्ध स्थापित करे। वे परम अस्तित्व हैं। वे समस्त शारीरिक आवश्यकताओं तथा जन्म-मरण से मुक्त हैं। इसकी पुष्टि अर्जुन ही नहीं, अपितु सारे वेद पुराण तथा इतिहास ग्रंथ करते हैं। सारे वैदिक साहित्य में कृष्ण का ऐसा वर्णन मिलता है और भगवान् स्वयं भी चौथे अध्याय में कहते हैं, "यद्यपि मैं अजन्मा हूँ, किन्तु धर्म की स्थापना के लिए इस पृथ्वी पर प्रकट होता हूँ।" वे परम पुरुष हैं, उनका कोई कारण नहीं है, क्योंकि वे समस्त कारणों के कारण हैं और सब कुछ उन्हीं से उद्भूत है। ऐसा पूर्णज्ञान केवल भगवत्कृपा से प्राप्त होता है।

यहाँ पर अर्जुन कृष्ण की कृपा से ही अपने विचार व्यक्त करता है। यदि हम *भगवद्गीता* को समझना चाहते हैं तो हमें इन दोनों श्लोकों के कथनों को स्वीकार करना होगा। यह परम्परा-प्रणाली कहलाती है अर्थात् गुरु-परम्परा को मानना। परम्परा-प्रणाली के बिना *भगवद्गीता* को नहीं समझा जा सकता। यह तथाकथित विद्यालयी शिक्षा द्वारा सम्भव नहीं है। दुर्भाग्यवश जिन्हें अपनी उच्च शिक्षा का घमण्ड है, वे वैदिक साहित्य

के इतने प्रमाणों के होते हुए भी अपने इस दुराग्रह पर अड़े रहते हैं कि कृष्ण एक सामान्य व्यक्ति हैं।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥१४॥

सर्वम्–सब, एतत्–इस, ऋतम्–सत्य को, मन्ये–स्वीकार करता हूँ, यत्–जो, माम्–मुझको, वदसि–कहते हो, केशव–हे कृष्ण; न–कभी नहीं; हि–निश्चय ही, ते–आपके, भगवन्–हे भगवान्, व्यक्तिम्–स्वरूप को; विदुः–जान सकते हैं; देवाः–देवतागण, न–न तो, दानवाः–असुरगण।

हे कृष्ण! आपने मुझसे जो कुछ कहा है, उसे मैं पूर्णतया सत्य मानता हूँ। हे प्रभु! न तो देवतागण, न असुरगण ही आपके स्वरूप को समझ सकते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर अर्जुन इसकी पुष्टि करता है कि श्रद्धाहीन तथा आसुरी प्रकृति वाले लोग कृष्ण को नहीं समझ सकते। जब देवतागण तक उन्हें नहीं समझ पाते तो आधुनिक जगत् के तथाकथित विद्वानों का क्या कहना? भगवत्कृपा से अर्जुन समझ गया कि परमसत्य कृष्ण हैं और वे सम्पूर्ण हैं। अतः हमें अर्जुन के पथ का अनुसरण करना चाहिए। उसे *भगवद्गीता* का प्रमाण प्राप्त था। जैसा कि *भगवद्गीता* के चतुर्थ अध्याय में कहा गया है, *भगवद्गीता* के समझने की गुरु-परम्परा का ह्रास हो चुका था, अतः कृष्ण ने अर्जुन से उसकी पुनःस्थापना की, क्योंकि वे अर्जुन को अपना परम प्रिय सखा तथा भक्त समझते थे। अतः जैसा कि गीतोपनिषद् की भूमिका में हमने कहा है, *भगवद्गीता* का ज्ञान परम्परा-विधि से प्राप्त करना चाहिए। परम्परा-विधि के लुप्त होने पर उसके सूत्रपात के लिए अर्जुन को चुना गया। हमें चाहिए कि अर्जुन का हम अनुसरण करें, जिसने कृष्ण की सारी बातें जान लीं। तभी हम *भगवद्गीता* के सार को समझ सकेंगे और तभी कृष्ण को भगवान् रूप में जान सकेंगे।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥१५॥

स्वयम्–स्वयं, एव–निश्चय ही, आत्मना–अपने आप, आत्मानम्–अपने को, वेत्थ–जानते हो, त्वम्–आप, पुरुष-उत्तम–हे पुरुषोत्तम, भूत-भावन–हे सबके उद्गम, भूत-ईश–सभी जीवों के स्वामी, देव-देव–हे समस्त देवताओं के स्वामी, जगत्-पते–हे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्वामी।

हे परमपुरुष, हे सबके उद्गम, हे समस्त प्राणियों के स्वामी, हे देवों के देव, हे ब्रह्माण्ड के प्रभु! निस्सन्देह एकमात्र आप ही अपने को अपनी अन्तरंगाशक्ति से जानने वाले हैं।

तात्पर्य : परमेश्वर कृष्ण को वे ही जान सकते हैं, जो अर्जुन तथा उसके अनुयायियों की भाँति भक्ति करने के माध्यम से भगवान् के सम्पर्क में रहते हैं। आसुरी या नास्तिक प्रकृति वाले लोग कृष्ण को नहीं जान सकते। ऐसा मनोधर्म जो भगवान् से दूर ले जाए, परम पातक है और जो कृष्ण को नहीं जानता उसे *भगवद्गीता* की टीका करने का

प्रयत्न नहीं करना चाहिए। *भगवद्गीता* कृष्ण की वाणी है और चूँकि यह कृष्ण का तत्त्वविज्ञान है, अतः इसे कृष्ण से ही समझना चाहिए, जैसा कि अर्जुन ने किया। इसे नास्तिकों से ग्रहण नहीं करना चाहिए।

श्रीमद्भागवत में (१.२.११) कहा गया है कि—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

परमसत्य का अनुभव तीन प्रकार से किया जाता है—निराकार ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा भगवान्। अतः परमसत्य के ज्ञान की अन्तिम अवस्था भगवान् है। हो सकता है कि सामान्य व्यक्ति, अथवा ऐसा मुक्त पुरुष भी जिसने निराकार ब्रह्म अथवा अन्तर्यामी परमात्मा का साक्षात्कार किया है, भगवान् को न समझ पाये। अतः ऐसे व्यक्तियों को चाहिए कि वे भगवान् को *भगवद्गीता* के श्लोकों से जानने का प्रयास करें, जिन्हें स्वयं कृष्ण ने कहा है। कभी-कभी निर्विशेषवादी कृष्ण को भगवान् के रूप में या उनकी प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। किन्तु अनेक मुक्त पुरुष कृष्ण को पुरुषोत्तम रूप में नहीं समझ पाते। इसीलिए अर्जुन उन्हें पुरुषोत्तम कहकर सम्बोधित करता है। इतने पर भी कुछ लोग यह नहीं समझ पाते कि कृष्ण समस्त जीवों के जनक हैं। इसीलिए अर्जुन उन्हें भूतभावन कहकर सम्बोधित करता है। यदि कोई उन्हें भूतभावन के रूप में समझ लेता है तो भी वह उन्हें परम नियन्ता के रूप में नहीं जान पाता। इसीलिए उन्हें यहाँ पर भूतेश या परम नियन्ता कहा गया है। यदि कोई भूतेश रूप में भी उन्हें समझ लेता है तो भी उन्हें समस्त देवताओं के उद्गम रूप में नहीं समझ पाता। इसीलिए उन्हें देवदेव, सभी देवताओं का पूजनीय देव, कहा गया है। यदि देवदेव रूप में भी उन्हें समझ लिया जाये तो वे प्रत्येक वस्तु के परम स्वामी के रूप में समझ में नहीं आते। इसीलिए यहाँ पर उन्हें जगत्पति कहा गया है। इस प्रकार अर्जुन की अनुभूति के आधार पर कृष्ण विषयक सत्य की स्थापना इस श्लोक में हुई है। हमें चाहिए कि कृष्ण को यथारूप में समझने के लिए हम अर्जुन के पदचिन्हों का अनुसरण करें।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ १६॥

वक्तुम्—कहने के लिए; अर्हसि—योग्य हैं; अशेषेण—विस्तार में; दिव्याः—दैवी, अलौकिक; हि—निश्चय ही; आत्म—अपना; विभूतयः—ऐश्वर्य; याभिः—जिन; विभूतिभिः—ऐश्वर्यों से; लोकान्—समस्त लोकों को; इमान्—इन; त्वम्—आप; व्याप्य—व्याप्त होकर; तिष्ठसि—स्थित हैं।

कृपा करके विस्तारपूर्वक मुझे अपने उन दैवी ऐश्वर्यों को बतायें, जिनके द्वारा आप इन समस्त लोकों में व्याप्त हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक से ऐसा लगता है कि अर्जुन भगवान् सम्बन्धी अपने ज्ञान से पहले से सन्तुष्ट है। कृष्ण-कृपा से अर्जुन को व्यक्तिगत अनुभव, बुद्धि तथा ज्ञान और मनुष्य को इन साधनों से जो कुछ भी प्राप्त हो सकता है, वह सब प्राप्त है, तथा उसने कृष्ण को भगवान् के रूप में समझ रखा है। उसे किसी प्रकार का संशय नहीं है, तो भी वह

कृष्ण से अपनी सर्वव्यापकता की व्याख्या करने के लिए अनुरोध करता है। सामान्यजन तथा विशेषरूप से निर्विशेषवादी भगवान् की सर्वव्यापकता के विषय में अधिक विचारशील रहते हैं। अतः अर्जुन श्रीकृष्ण से पूछता है कि वे अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा किस प्रकार सर्वव्यापी रूप में विद्यमान रहते हैं। हमें यह जानना चाहिए कि अर्जुन सामान्य लोगों के हित के लिए ही यह पूछ रहा है।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥ १७॥

कथम्–किस तरह, कैसे; विद्याम् अहम्–मैं जान सकूँ; योगिन्–हे परम योगी; त्वाम्–आपको; सदा–सदैव; परिचिन्तयन्–चिन्तन करता हुआ, केषु–किस; केषु–किस; च–भी, भावेषु–रूपों में; चिन्त्यःअसि–आपका स्मरण किया जाता है; भगवन्–हे भगवान्, मया–मेरे द्वारा।

हे कृष्ण, हे परम योगी! मैं किस तरह आपका निरन्तर चिन्तन करूँ और आपको कैसे जानूँ? हे भगवान्! आपका स्मरण किन-किन रूपों में किया जाय?

तात्पर्य : जैसा कि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है, भगवान् अपनी योगमाया से आच्छादित रहते हैं। केवल शरणागत भक्तजन ही उन्हें देख सकते हैं। अब अर्जुन को विश्वास हो चुका है कि उसके मित्र कृष्ण भगवान् हैं, किन्तु वह उस सामान्य विधि को जानना चाहता है, जिसके द्वारा सर्वसाधारण लोग भी उन्हे सर्वव्यापी रूप से समझ सकें। असुरो तथा नास्तिको सहित सामान्यजन कृष्ण को नही जान पाते, क्योंकि भगवान् अपनी योगमाया शक्ति से आच्छादित रहते है। दूसरी बात यह है, कि ये प्रश्न जनसामान्य के लाभ हेतु पूछे जा रहे हैं। उच्चकोटि का भक्त केवल अपने ही ज्ञान के प्रति चिंतित नहीं रहता अपितु सारी मानव जाति के ज्ञान के लिए भी रहता है। अत अर्जुन वैष्णव या भक्त होने के कारण अपने दयालु भाव से सामान्यजनो के लिए भगवान् के सर्वव्यापक रूप के ज्ञान का द्वार खोल रहा है। वह कृष्ण को जानबूझ कर *योगिन्* कहकर सम्बोधित करता है, क्योंकि वे योगमाया शक्ति के स्वामी है, जिसके कारण वे सामान्यजन के लिए अप्रकट या प्रकट होते हैं। सामान्यजन, जिसे कृष्ण के प्रति कोई प्रेम नही है, कृष्ण के विषय मे निरन्तर नही सोच सकता। वह तो भौतिक चिन्तन करता है। अर्जुन इस ससार के भौतिकतावादी लोगो की चिन्तन-प्रवृत्ति के विषय मे विचार कर रहा है। *केषु केषु च भावेषु* शब्द भौतिक प्रकृति के लिए प्रयुक्त है (भाव का अर्थ है भौतिक वस्तु)। चूँकि भौतिकतावादी लोग कृष्ण के आध्यात्मिक स्वरूप को नही समझ सकते, अत. उन्हे भौतिक वस्तुओ पर चित्त एकाग्र करने की तथा यह देखने का प्रयास करने की सलाह दी जाती है कि कृष्ण भौतिक रूपों में किस प्रकार प्रकट होते हैं।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ १८॥

विस्तरेण–विस्तार से, आत्मनः–अपनी; योगम्–योगशक्ति, विभूतिम्–ऐश्वर्य को, च–भी; जन-अर्दन–हे नास्तिकों का वध करने वाले; भूयः–फिर; कथय–कहें, तृप्तिः–तुष्टि; हि–निश्चय ही,

शृण्वतः—सुनते हुए; न अस्ति—नहीं है; मे—मेरी; अमृतम्—अमृत को।

हे जनार्दन! आप पुनः विस्तार से अपने ऐश्वर्य तथा योगशक्ति का वर्णन करें। मैं आपके विषय में सुनकर कभी तृप्त नहीं होता हूँ, क्योंकि जितना ही आपके विषय में सुनता हूँ, उतना ही आपके शब्द-अमृत को चखना चाहता हूँ।

तात्पर्य : इसी प्रकार का निवेदन नैमिषारण्य के शौनक आदि ऋषियों ने सूत गोस्वामी से किया था। यह निवेदन इस प्रकार है—

वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे॥

"उत्तम स्तुतियों द्वारा प्रशंसित कृष्ण की दिव्य लीलाओं का निरन्तर श्रवण करते हुए कभी तृप्ति नहीं होती। किन्तु जिन्होंने कृष्ण से अपना दिव्य सम्बन्ध स्थापित कर लिया है वे पद पद पर भगवान् की लीलाओं के वर्णन का आनन्द लेते रहते हैं।" (*श्रीमद्भागवत* १.१.१९)। अतः अर्जुन कृष्ण के विषय में और विशेष रूप से उनके सर्वव्यापी रूप के बारे में सुनना चाहता है।

जहाँ तक *अमृतम्* की बात है, कृष्ण सम्बन्धी कोई भी आख्यान अमृत तुल्य है और इस अमृत की अनुभूति व्यवहार से ही की जा सकती है। आधुनिक कहानियाँ, कथाएँ तथा इतिहास कृष्ण की दिव्य लीलाओं से इसलिए भिन्न हैं क्योंकि इन संसारी कहानियों के सुनने से मन भर जाता है, किन्तु कृष्ण के विषय में सुनने से कभी थकान नहीं आती। यही कारण है कि सारे विश्व का इतिहास भगवान् के अवतारों की लीलाओं के सन्दर्भों से पटा हुआ है। हमारे पुराण विगत युगों के इतिहास हैं, जिनमें भगवान् के विविध अवतारों की लीलाओं का वर्णन है। इस प्रकार बारम्बार पढ़ने पर भी विषयवस्तु नवीन बनी रहती है।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥१९॥

श्रीभगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **हन्त**—हाँ; **ते**—तुमसे; **कथयिष्यामि**—कहूँगा; **दिव्याः**—दैवी; **हि**—निश्चय ही; **आत्म-विभूतयः**—अपने ऐश्वर्यों को; **प्राधान्यतः**—प्रमुख रूप से; **कुरुश्रेष्ठ**—हे कुरुश्रेष्ठ; **न अस्ति**—नहीं है; **अन्तः**—सीमा; **विस्तरस्य**—विस्तार की; **मे**—मेरे।

श्रीभगवान् ने कहा—हाँ, अब मैं तुमसे अपने मुख्य-मुख्य वैभवयुक्त रूपों का वर्णन करूँगा, क्योंकि हे अर्जुन! मेरा ऐश्वर्य असीम है।

तात्पर्य : कृष्ण की महानता तथा उनके ऐश्वर्य को समझ पाना सम्भव नहीं है। जीव की इन्द्रियाँ सीमित हैं, अतः उनसे कृष्ण के कार्य-कलापों की समग्रता को समझ पाना सम्भव नहीं है। तो भी भक्तजन कृष्ण को जानने का प्रयास करते हैं, किन्तु यह मानकर नहीं कि वे किसी विशेष समय में या जीवन-अवस्था में उन्हें पूरी तरह समझ सकेंगे। बल्कि कृष्ण के वृत्तान्त इतने आस्वाद्य हैं कि भक्तों को अमृत तुल्य प्रतीत होते हैं। इस प्रकार

भक्तगण उनका आनन्द उठाते हैं। भगवान् के ऐश्वर्यों तथा उनकी विविध शक्तियों की चर्चा चलाने में शुद्ध भक्तों को दिव्य आनन्द मिलता है, अतः वे उनको सुनते रहना और उनकी चर्चा चलाते रहना चाहते हैं। कृष्ण जानते हैं कि जीव उनके ऐश्वर्य के विस्तार को नहीं समझ सकते, फलतः वे अपनी विभिन्न शक्तियों के प्रमुख स्वरूपों का ही वर्णन करने के लिए राजी होते हैं। *प्राधान्यतः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि हम भगवान् के प्रमुख विस्तारों को ही समझ पाते हैं, जबकि उनके स्वरूप अनन्त हैं। इन सबको समझ पाना सम्भव नहीं है। इस श्लोक में प्रयुक्त *विभूति* शब्द उन ऐश्वर्यों का सूचक है, जिनके द्वारा भगवान् सारे विश्व का नियन्त्रण करते हैं। *अमरकोश* में *विभूति* का अर्थ विलक्षण ऐश्वर्य है।

निर्विशेषवादी या सर्वेश्वरवादी न तो भगवान् के विलक्षण ऐश्वर्यों को समझ पाता है, न उनकी दैवी शक्तियों के स्वरूपों को। भौतिक जगत् में तथा वैकुण्ठ लोक में उनकी शक्तियाँ अनेक रूपों में फैली हुई हैं। अब कृष्ण उन रूपों को बताने जा रहे हैं, जो सामान्य व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से देख सकता है। इस प्रकार उनकी रंगबिरंगी शक्ति का आंशिक वर्णन किया गया है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥२०॥

अहम्—मैं, **आत्मा**—आत्मा; **गुडाकेश**—हे अर्जुन, **सर्व-भूत**—समस्त जीव, **आशय-स्थितः**—हृदय में स्थित, **अहम्**—मैं, **आदिः**—उद्गम, **च**—भी; **मध्यम्**—मध्य, **च**—भी, **भूतानाम्**—समस्त जीवों का, **अन्तः**—अन्त; **एव**—निश्चय ही; **च**—तथा।

हे अर्जुन! मैं समस्त जीवों के हृदयों में स्थित परमात्मा हूँ। मैं ही समस्त जीवों का आदि, मध्य तथा अन्त हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में अर्जुन को *गुडाकेश* कहकर सम्बोधित किया गया है जिसका अर्थ है, "निद्रा रूपी अन्धकार को जीतने वाला।" जो लोग अज्ञान रूपी अन्धकार में सोये हुए हैं, उनके लिए यह समझ पाना सम्भव नहीं है कि भगवान् किन-किन विधियों से इस लोक में तथा वैकुण्ठलोक में प्रकट होते हैं। अतः कृष्ण द्वारा अर्जुन के लिए इस प्रकार का सम्बोधन महत्त्वपूर्ण है। चूँकि अर्जुन ऐसे अन्धकार से ऊपर है, अतः भगवान् उससे विविध ऐश्वर्यों को बताने के लिए तैयार हो जाते हैं।

सर्वप्रथम कृष्ण अर्जुन को बताते हैं कि वे अपने मूल विस्तार के कारण समग्र दृश्यजगत की आत्मा हैं। भौतिक सृष्टि के पूर्व भगवान् अपने मूल विस्तार के द्वारा पुरुष अवतार धारण करते हैं और उन्हीं से सब कुछ आरम्भ होता है। अतः वे प्रधान महत्तत्त्व की आत्मा हैं। इस सृष्टि का कारण महत्तत्त्व नहीं होता, वास्तव में महाविष्णु सम्पूर्ण भौतिक शक्ति या महत्तत्त्व में प्रवेश करते हैं। वे आत्मा हैं। जब महाविष्णु इन प्रकटीभूत ब्रह्माण्डों में प्रवेश करते हैं तो वे प्रत्येक जीव में पुनः परमात्मा के रूप में प्रकट होते हैं। हमें ज्ञात है कि जीव का शरीर आत्मा के स्फुलिंग की उपस्थिति के कारण विद्यमान रहता है। बिना आध्यात्मिक स्फुलिंग के शरीर विकसित नहीं हो सकता।

उसी प्रकार भौतिक जगत् का तव तक विकास नहीं होता, जव तक परमात्मा कृष्ण का प्रवेश नहीं हो जाता। जैसा कि *सुवल उपनिषद्* में कहा गया है—*प्रकृत्यादि सर्वभूतान्तर्यामी सर्वशेषी च नारायणः*—परमात्मा रूप में भगवान् समस्त प्रकटीभूत ब्रह्माण्डों में विद्यमान हैं।

श्रीमद्भागवत में तीनों पुरुप अवतारों का वर्णन हुआ है। *सात्वत तन्त्र* में भी इनका वर्णन मिलता है। *विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः*—भगवान् इस लोक में अपने तीन स्वरूपों को प्रकट करते हैं—*कारणोदकशायी विष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु* तथा *क्षीरोदकशायी विष्णु*। *ब्रह्मसंहिता* में (५.४७) महाविष्णु या कारणोदकशायी विष्णु का वर्णन मिलता है। *यः कारणार्णवजले भजति स्म योगनिद्राम्*—सर्वकारण कारण भगवान् कृष्ण महाविष्णु के रूप में कारणार्णव में शयन करते हैं। अतः भगवान् ही इस ब्रह्माण्ड के आदि कारण, पालक तथा समस्त शक्ति के अवसान हैं।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥ २१॥

आदित्यानाम्—आदित्यों में; **अहम्**—मैं हूँ; **विष्णुः**—परमेश्वर; **ज्योतिषाम्**—समस्त ज्योतियों में; **रविः**—सूर्य; **अंशुमान्**—किरणमाली, प्रकाशमान; **मरीचिः**—मरीचि; **मरुताम्**—मरुतों में; **अस्मि**—हूँ; **नक्षत्राणाम्**—तारों में; **अहम्**—मैं हूँ; **शशी**—चन्द्रमा।

मैं आदित्यों में विष्णु, प्रकाशों में तेजस्वी सूर्य, मरुतों में मरीचि तथा नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ।

तात्पर्य : आदित्य वारह हैं, जिनमें कृष्ण प्रधान हैं। आकाश में टिमटिमाते ज्योतिपुंजों में सूर्य मुख्य है और *ब्रह्मसंहिता* में तो सूर्य को भगवान् का तेजस्वी नेत्र कहा गया है। अन्तरिक्ष में पचास प्रकार के वायु प्रवहमान हैं, जिनमें से वायु अधिष्ठाता मरीचि कृष्ण का प्रतिनिधि हे।

नक्षत्रों में रात्रि के समय चन्द्रमा सर्वप्रमुख नक्षत्र है, अतः वह कृष्ण का प्रतिनिधि है। इस श्लोक से प्रतीत होता हे कि चन्द्रमा एक नक्षत्र है, अतः आकाश में टिमटिमाने वाले तारे भी सूर्यप्रकाश को परावर्तित करते हैं। वेदिक वाङ्मय में ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत अनेक सूर्यों के सिद्धान्त को स्वीकृति प्राप्त नहीं है। सूर्य एक है और सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित है, तथा अन्य नक्षत्र भी। चूँकि *भगवद्गीता* से सूचित होता है कि चन्द्रमा एक नक्षत्र हे, अतः टिमटिमाते तारे सूर्य न होकर चन्द्रमा के सदृश हैं।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥ २२॥

वेदानाम्—वेदों में; **साम-वेदः**—सामवेद; **अस्मि**—हूँ; **देवानाम्**—देवताओं में; **अस्मि**—हूँ; **वासवः**—स्वर्ग का राजा; **इन्द्रियाणाम्**—इन्द्रियों में; **मनः**—मन; **च**—भी; **अस्मि**—हूँ; **भूतानाम्**—जीवों में; **अस्मि**—हूँ; **चेतना**—प्राण, जीवनी शक्ति।

मैं वेदों में सामवेद हूँ, देवों में स्वर्ग का राजा इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ, तथा समस्त जीवों में जीवनीशक्ति (चेतना) हूँ।

तात्पर्य : पदार्थ तथा जीव में यह अन्तर है कि पदार्थ में जीवों के समान चेतना नहीं होती, अतः यह चेतना परम तथा शाश्वत है। पदार्थों के संयोग से चेतना उत्पन्न नहीं की जा सकती।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥ २३॥

रुद्राणाम्–समस्त रुद्रों में; शङ्करः–शिवजी; च–भी; अस्मि–हूँ; वित्त-ईशः–देवताओं का कोषाध्यक्ष; यक्ष-रक्षसाम्–यक्षों तथा राक्षसों में; वसूनाम्–वसुओं में; पावकः–अग्नि; च–भी; अस्मि–हूँ; मेरुः–मेरु; शिखरिणाम्–समस्त पर्वतों में; अहम्–मैं हूँ।

मैं समस्त रुद्रों में शिव हूँ, यक्षों तथा राक्षसों में सम्पत्ति का देवता (कुवेर) हूँ, वसुओं में अग्नि हूँ और समस्त पर्वतों में मेरु हूँ।

तात्पर्य : ग्यारह रुद्रों में शंकर या शिव प्रमुख हैं। वे भगवान् के अवतार हैं, जिन पर ब्रह्माण्ड के तमोगुण का भार है। यक्षों तथा राक्षसों के नायक कुवेर हैं जो देवताओं के कोषाध्यक्ष तथा भगवान् के प्रतिनिधि हैं। मेरु पर्वत अपनी समृद्ध प्राकृत सम्पदा के लिए विख्यात है।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥ २४॥

पुरोधसाम्–समस्त पुरोहितों में; च–भी; मुख्यम्–प्रमुख; माम्–मुझको; विद्धि–जानो; पार्थ–हे पृथापुत्र; बृहस्पतिम्–बृहस्पति; सेनानीनाम्–समस्त सेनानायकों में से; अहम्–मैं हूँ; स्कन्दः–कार्तिकेय; सरसाम्–समस्त जलाशयों में; अस्मि–मैं हूँ; सागरः–समुद्र।

हे अर्जुन! मुझे समस्त पुरोहितों में मुख्य पुरोहित बृहस्पति जानो। मैं ही समस्त सेनानायकों में कार्तिकेय हूँ और समस्त जलाशयों में समुद्र हूँ।

तात्पर्य : इन्द्र स्वर्ग का प्रमुख देवता है और स्वर्ग का राजा कहलाता है। जिस लोक में उसका शासन है वह इन्द्रलोक कहलाता है। बृहस्पति राजा इन्द्र के पुरोहित हैं और चूँकि इन्द्र समस्त राजाओं का प्रधान है, इसीलिए बृहस्पति समस्त पुरोहितों में मुख्य हैं। जैसे इन्द्र सभी राजाओं के प्रमुख हैं, इसी प्रकार पार्वती तथा शिव के पुत्र स्कन्द या कार्तिकेय समस्त सेनापतियों के प्रधान हैं। समस्त जलाशयों में समुद्र सबसे बड़ा है। कृष्ण के ये स्वरूप उनकी महानता के ही सूचक हैं।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥ २५॥

महा-ऋषीणाम्–महर्षियों में; भृगुः–भृगु; अहम्–मैं हूँ; गिराम्–वाणी में; अस्मि–हूँ; एकम्

अक्षरम्—प्रणव; **यज्ञानाम्**—समस्त यज्ञों में; **जप-यज्ञः**—कीर्तन, जप; **अस्मि**—हूँ; **स्थावराणाम्**—जड़ पदार्थों में; **हिमालयः**—हिमालय पर्वत।

मैं महर्षियों में भृगु हूँ, वाणी में दिव्य ओंकार हूँ, समस्त यज्ञों में पवित्र नाम का कीर्तन (जप) तथा समस्त अचलों में हिमालय हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव ब्रह्मा ने विभिन्न योनियों के विस्तार के लिए कई पुत्र उत्पन्न किये। इनमें से भृगु सबसे शक्तिशाली मुनि थे। समस्त दिव्य ध्वनियों में ओंकार कृष्ण का रूप है। समस्त यज्ञों में हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे—का जप कृष्ण का सर्वाधिक शुद्ध रूप है। कभी-कभी पशु यज्ञ की भी संस्तुति की जाती है, किन्तु *हरे कृष्ण* यज्ञ में हिंसा का प्रश्न ही नहीं उठता। यह सबसे सरल तथा शुद्धतम यज्ञ है। समस्त जगत में जो कुछ शुभ है, वह कृष्ण का रूप है। अतः संसार का सबसे बड़ा पर्वत हिमालय भी उन्हीं का स्वरूप है। पिछले श्लोक में मेरु का उल्लेख हुआ है, परन्तु मेरु तो कभी-कभी सचल होता है, लेकिन हिमालय कभी चल नहीं है। अतः हिमालय मेरु से बढ़कर है।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥ २६॥

अश्वत्थः—अश्वत्थ वृक्ष; **सर्व-वृक्षाणाम्**—सारे वृक्षों में; **देव-ऋषीणाम्**—समस्त देवर्षियों में; **च**—तथा; **नारदः**—नारद; **गन्धर्वाणाम्**—गन्धर्वलोक के वासियों में; **चित्ररथः**—चित्ररथ; **सिद्धानाम्**—समस्त सिद्धि प्राप्त हुओं में; **कपिलःमुनिः**—कपिल मुनि।

मैं समस्त वृक्षों में अश्वत्थ वृक्ष हूँ और देवर्षियों में नारद हूँ। मैं गन्धर्वों में चित्ररथ हूँ और सिद्ध पुरुषों में कपिल मुनि हूँ।

तात्पर्य : अश्वत्थ वृक्ष सबसे ऊँचा तथा सुन्दर वृक्ष है, जिसे भारत में लोग नित्यप्रति नियमपूर्वक पूजते हैं। देवताओं में नारद विश्वभर के सबसे बड़े भक्त माने जाते हैं और पूजित होते हैं। इस प्रकार वे भक्त के रूप में कृष्ण के स्वरूप हैं। गन्धर्वलोक ऐसे निवासियों से पूर्ण है, जो बहुत अच्छा गाते हैं, जिनमें से चित्ररथ सर्वश्रेष्ठ गायक है। सिद्ध पुरुषों में से देवहूति के पुत्र कपिल मुनि कृष्ण के प्रतिनिधि हैं। वे कृष्ण के अवतार माने जाते हैं। इनका दर्शन *भागवत* में उल्लिखित है। बाद में भी एक अन्य कपिल प्रसिद्ध हुए, किन्तु वे नास्तिक थे, अतः इन दोनों में महान अन्तर है।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥ २७॥

उच्चैःश्रवसम्—उच्चैःश्रवा; **अश्वानाम्**—घोड़ों में; **विद्धि**—जानो; **माम्**—मुझको; **अमृत-उद्भवम्**—समुद्र मन्थन से उत्पन्न; **ऐरावतम्**—ऐरावत; **गज-इन्द्राणाम्**—मुख्य हाथियों में; **नराणाम्**—मनुष्यों में; **च**—तथा; **नर-अधिपम्**—राजा।

घोड़ों में मुझे उच्चैःश्रवा जानो, जो अमृत के लिए समुद्र मन्थन के समय उत्पन्न

हुआ था। गजराजों में मैं ऐरावत हूँ तथा मनुष्यों में राजा हूँ।

तात्पर्य : एक बार देवों तथा असुरों ने समुद्र-मन्थन में भाग लिया। इस मन्थन से अमृत तथा विष प्राप्त हुए। विष को तो शिवजी ने पी लिया, किन्तु अमृत के साथ अनेक जीव उत्पन्न हुए, जिनमें उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा भी था। इसी अमृत के साथ एक अन्य पशु ऐरावत नामक हाथी भी उत्पन्न हुआ था। चूँकि ये दोनों पशु अमृत के साथ उत्पन्न हुए थे, अतः इनका विशेष महत्त्व है और ये कृष्ण के प्रतिनिधि हैं।

मनुष्यों में राजा कृष्ण का प्रतिनिधि है, क्योंकि कृष्ण ब्रह्माण्ड के पालक हैं और अपने दैवी गुणों के कारण नियुक्त किये गये राजा भी अपने राज्यों के पालनकर्ता होते हैं। महाराज युधिष्ठिर, महाराज परीक्षित तथा भगवान् राम जैसे राजा अत्यन्त धर्मात्मा थे, जिन्होंने अपनी प्रजा का सदैव कल्याण सोचा। वैदिक साहित्य में राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना गया है। किन्तु इस युग में धर्म के ह्रास होने से राजतन्त्र का पतन हुआ और अन्ततः विनाश हो गया है। किन्तु यह समझना चाहिए कि भूतकाल में लोग धर्मात्मा राजाओं के अधीन रहकर अधिक सुखी थे।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥ २८॥

आयुधानाम्—हथियारों में; अहम्—मैं हूँ; वज्रम्—वज्र; धेनूनाम्—गायों में; अस्मि—हूँ; कामधुक्—सुरभि गाय; प्रजनः—सन्तान, उत्पत्ति का कारण; च—तथा; अस्मि—हूँ; कन्दर्पः—कामदेव; सर्पाणाम्—सर्पों में; अस्मि—हूँ; वासुकिः—वासुकि।

मैं हथियारों में वज्र हूँ, गायों में सुरभि, सन्तति उत्पत्ति के कारणों में प्रेम का देवता कामदेव तथा सर्पों में वासुकि हूँ।

तात्पर्य : वज्र सचमुच अत्यन्त बलशाली हथियार है और यह कृष्ण की शक्ति का प्रतीक है। वैकुण्ठलोक में स्थित कृष्णलोक की गाएँ किसी भी समय दुही जा सकती हैं और उनसे जो जितना चाहे उतना दूध प्राप्त कर सकता है। निस्सन्देह इस जगत् में ऐसी गाएँ नहीं मिलतीं, किन्तु कृष्णलोक में इनके होने का उल्लेख है। भगवान् ऐसी अनेक गाएँ रखते हैं, जिन्हें सुरभि कहा जाता है। कहा जाता है कि भगवान् ऐसी गायों के चराने में व्यस्त रहते हैं। कन्दर्प काम वासना है, जिससे अच्छे पुत्र उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए संभोग किया जाता है, किन्तु ऐसा संभोग कृष्ण का प्रतीक नहीं है। अच्छी सन्तान की उत्पत्ति के लिए किया गया संभोग कन्दर्प कहलाता है और वह कृष्ण का प्रतिनिधि होता है।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥ २९॥

अनन्तः—अनन्त; च—भी; अस्मि—हूँ; नागानाम्—फणों वाले सर्पों में; वरुणः—जल के अधिष्ठाता देवता; यादसाम्—समस्त जलचरों में; अहम्—मैं हूँ; पितॄणाम्—पितरों में; अर्यमा—अर्यमा; च—भी; अस्मि—हूँ; यमः—मृत्यु का नियामक; संयमताम्—समस्त नियमनकर्त्ताओं में; अहम्—मैं हूँ।

अनेक फणों वाले नागों में मैं अनन्त हूँ और जलचरों में वरुणदेव हूँ। मैं पितरों में अर्यमा हूँ तथा नियमों के निर्वाहकों में मैं मृत्युराज यम हूँ।

तात्पर्य : अनेक फणों वाले नागों में अनन्त सबसे प्रधान हैं और इसी प्रकार जलचरों में वरुण देव प्रधान हैं। ये दोनों कृष्ण का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार पितृलोक के अधिष्ठाता अर्यमा हैं जो कृष्ण के प्रतिनिधि हैं। ऐसे अनेक जीव हैं जो दुष्टों को दण्ड देते हैं, किन्तु इनमें यम प्रमुख हैं। यम पृथ्वीलोक के निकटवर्ती लोक में रहते हैं। मृत्यु के बाद पापी लोगों को वहाँ ले जाया जाता है और यम उन्हें तरह-तरह का दण्ड देने की व्यवस्था करते हैं।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ ३०॥

प्रह्लादः—प्रह्लाद; **च**—भी; **अस्मि**—हूँ; **दैत्यानाम्**—असुरों में; **कालः**—काल; **कलयताम्**—दमन करने वालों में; **अहम्**—मैं हूँ; **मृगाणाम्**—पशुओं में; **च**—तथा; **मृग-इन्द्रः**—सिंह; **अहम्**—मैं हूँ; **वैनतेयः**—गरुड़; **च**—भी; **पक्षिणाम्**—पक्षियों में।

दैत्यों में मैं भक्तराज प्रह्लाद हूँ, दमन करने वालों में काल हूँ, पशुओं में सिंह हूँ, तथा पक्षियों में गरुड़ हूँ।

तात्पर्य : दिति तथा अदिति दो बहनें थीं। अदिति के पुत्र आदित्य कहलाते हैं और दिति के दैत्य। सारे आदित्य भगवद्भक्त निकले और सारे दैत्य नास्तिक। यद्यपि प्रह्लाद का जन्म दैत्य कुल में हुआ था, किन्तु वे बचपन से ही परम भक्त थे। अपनी भक्ति तथा दैवी गुण के कारण वे कृष्ण के प्रतिनिधि माने जाते हैं।

दमन के अनेक नियम हैं, किन्तु काल इस संसार की हर वस्तु को क्षीण कर देता है, अतः वह कृष्ण का प्रतिनिधित्व कर रहा है। पशुओं में सिंह सबसे शक्तिशाली तथा हिंस्र होता है और पक्षियों के लाखों प्रकारों में भगवान् विष्णु का वाहन गरुड़ सबसे महान है।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ ३१॥

पवनः—वायु; **पवताम्**—पवित्र करने वालों में; **अस्मि**—हूँ; **रामः**—राम; **शस्त्र-भृताम्**—शस्त्रधारियों में; **अहम्**—मैं; **झषाणाम्**—मछलियों में; **मकरः**—मगर; **च**—भी; **अस्मि**—हूँ; **स्रोतसाम्**—प्रवहमान नदियों में; **अस्मि**—हूँ; **जाह्नवी**—गंगा नदी।

समस्त पवित्र करने वालों में मैं वायु हूँ, शस्त्रधारियों में राम, मछलियों में मगर तथा नदियों में गंगा हूँ।

तात्पर्य : समस्त जलचरों में मगर सबसे बड़ा और मनुष्य के लिए सबसे घातक होता है। अतः मगर कृष्ण का प्रतिनिधित्व करता है।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ ३२॥

सर्गाणाम्–सम्पूर्ण सृष्टियों का; आदिः–प्रारम्भ, अन्तः–अन्त, च–तथा, मध्यम्–मध्य; च–भी; एव–निश्चय ही, अहम्–मैं हूँ; अर्जुन–हे अर्जुन; अध्यात्म-विद्या–अध्यात्मज्ञान; विद्यानाम्–विद्याओं में; वादः–स्वाभाविक निर्णय, प्रवदताम्–तर्कों में; अहम्–मैं हूँ।

हे अर्जुन! मैं समस्त सृष्टियों का आदि, मध्य और अन्त हूँ। मैं समस्त विद्याओं में अध्यात्म विद्या हूँ और तर्कशास्त्रियों में मैं निर्णायक सत्य हूँ।

तात्पर्य : सृष्टियों में सर्वप्रथम समस्त भौतिक तत्त्वों की सृष्टि की जाती है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, यह दृश्यजगत महाविष्णु 'गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु द्वारा उत्पन्न और सचालित है। बाद में इसका संहार शिवजी द्वारा किया जाता है। ब्रह्मा गौण स्रष्टा हैं। सृजन, पालन तथा संहार करने वाले ये सारे अधिकारी परमेश्वर के भौतिक गुणों के अवतार हैं। अतः वे ही समस्त सृष्टि के आदि, मध्य तथा अन्त हैं।

उच्च विद्या के लिए ज्ञान के अनेक ग्रंथ हैं, यथा चारों वेद, उनके छहों वेदांग, वेदान्त सूत्र, तर्क ग्रंथ, धर्मग्रंथ, पुराण। इस प्रकार कुल चौदह प्रकार के ग्रंथ हैं। इनमें से अध्यात्म विद्या सम्बन्धी ग्रंथ, विशेष रूप से वेदान्त सूत्र, कृष्ण का स्वरूप है।

तर्कशास्त्रियों में विभिन्न प्रकार के तर्क होते रहते हैं। प्रमाण द्वारा तर्क की पुष्टि, जिससे विपक्ष का भी समर्थन हो, *जल्प* कहलाता है। प्रतिद्वन्द्वी को हराने का प्रयास मात्र *वितण्डा* है, किन्तु वास्तविक निर्णय *वाद* कहलाता है। यह निर्णयात्मक सत्य कृष्ण का स्वरूप है।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥ ३३॥

अक्षराणाम्–अक्षरों में, अ-कारः–अकार अर्थात् पहला अक्षर, अस्मि–हूँ; द्वन्द्वः–द्वन्द्व समास, सामासिकस्य–सामासिक शब्दों में, च–तथा, अहम्–मैं हूँ, एव–निश्चय ही, अक्षयः–शाश्वत, कालः–काल, समय; धाता–स्रष्टा, अहम्–मैं, विश्वतः-मुखः–ब्रह्मा।

अक्षरों में मैं अकार हूँ और समासों में द्वन्द्व समास हूँ। मैं शाश्वत काल भी हूँ और स्रष्टाओं में ब्रह्मा हूँ।

तात्पर्य : अ-कार, अर्थात् संस्कृत अक्षर माला का प्रथम अक्षर (अ) वैदिक साहित्य का शुभारम्भ है। अकार के बिना कोई स्वर उच्चरित नहीं हो सकता, इसीलिए यह आदि स्वर है। संस्कृत में कई तरह के सामासिक शब्द होते हैं, जिनमें से राम-कृष्ण जैसे दोहरे शब्द द्वन्द्व कहलाते हैं। इस समास में राम तथा कृष्ण अपने उसी रूप में हैं, अतः यह समास द्वन्द्व कहलाता है।

समस्त मारने वालों में काल सर्वोपरि है, क्योंकि यह सबों को मारता है। काल कृष्णस्वरूप है, क्योंकि समय आने पर प्रलयाग्नि से सब कुछ लय हो जाएगा।

सृजन करने वाले जीवों में चतुर्मुख ब्रह्मा प्रधान हैं, अतः वे भगवान् कृष्ण के प्रतीक हैं।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥३४॥

मृत्युः—मृत्यु; **सर्व-हरः**—सर्वभक्षी; **च**—भी; **अहम्**—मैं हूँ; **उद्भवः**—सृष्टि; **च**—भी; **भविष्यताम्**—भावी जगतों में; **कीर्तिः**—यश; **श्रीः**—ऐश्वर्य या सुन्दरता; **वाक्**—वाणी; **च**—भी; **नारीणाम्**—स्त्रियों में; **स्मृतिः**—स्मृति, स्मरणशक्ति; **मेधा**—बुद्धि; **धृतिः**—दृढ़ता; **क्षमा**—क्षमा, धैर्य।

मैं सर्वभक्षी मृत्यु हूँ और मैं ही आगे होने वालों को उत्पन्न करने वाला हूँ। स्त्रियों में मैं कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमा हूँ।

तात्पर्य : ज्योंही मनुष्य जन्म लेता है, वह क्षण-क्षण मरता रहता है। इस प्रकार मृत्यु समस्त जीवों का हर क्षण भक्षण करती रहती है, किन्तु अन्तिम आघात मृत्यु कहलाता है। वह मृत्यु कृष्ण ही है। जहाँ तक भावी विकास का सम्बन्ध है, सारे जीवों में छह परिवर्तन होते हैं—वे जन्मते हैं, बढ़ते हैं, कुछ काल तक संसार में रहते हैं, सन्तान उत्पन्न करते हैं, क्षीण होते हैं और अन्त में समाप्त हो जाते हैं। इन छहों परिवर्तनों में पहला गर्भ से मुक्ति है और यह कृष्ण है। प्रथम उत्पत्ति ही भावी कार्यों का शुभारम्भ है।

यहाँ जिन सात ऐश्वर्यों का उल्लेख है, वे स्त्रीवाचक हैं—कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमा। यदि किसी व्यक्ति के पास ये सभी, या इनमें से कुछ ही होते हैं, तो वह यशस्वी होता है। यदि कोई मनुष्य धर्मात्मा है, तो वह यशस्वी होता है। संस्कृत पूर्ण भाषा है, अतः यह अत्यन्त यशस्विनी है। यदि कोई पढ़ने के बाद विषय को स्मरण रख सकता है तो उसे उत्तम स्मृति मिली होती है। केवल अनेक ग्रंथों को पढ़ना पर्याप्त नहीं होता, किन्तु उन्हें समझकर आवश्यकता पड़ने पर उनका प्रयोग मेधा या बुद्धि कहलाती है। यह दूसरा ऐश्वर्य है। अस्थिरता पर विजय पाना धृति या दृढ़ता है। पूर्णतया योग्य होकर यदि कोई विनीत भी हो और सुख तथा दुख में समभाव से रहे तो यह ऐश्वर्य क्षमा कहलाता है।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥३५॥

बृहत्-साम—बृहत्साम; **तथा**—भी; **साम्नाम्**—सामवेद के गीतों में; **गायत्री**—गायत्री मंत्र; **छन्दसाम्**—समस्त छन्दों में; **अहम्**—मैं हूँ; **मासानाम्**—महीनों में; **मार्ग-शीर्षः**—नवम्बर-दिसम्बर (अगहन) का महीना; **अहम्**—मैं हूँ; **ऋतूनाम्**—समस्त ऋतुओं में; **कुसुम-आकरः**—वसन्त।

मैं सामवेद के गीतों में बृहत्साम हूँ और छन्दों में गायत्री हूँ। समस्त महीनों में मैं मार्गशीर्ष (अगहन) तथा समस्त ऋतुओं में फूल खिलाने वाली वसन्त ऋतु हूँ।

तात्पर्य : जैसा कि भगवान् स्वयं बता चुके हैं, वे समस्त वेदों में सामवेद हैं। सामवेद विभिन्न देवताओं द्वारा गाये जाने वाले गीतों का संग्रह है। इन गीतों में से एक बृहत्साम है जिसकी ध्वनि सुमधुर है और जो अर्धरात्रि में गाया जाता है।

संस्कृत में काव्य के निश्चित विधान हैं। इसमें लय तथा ताल बहुत सी आधुनिक कविता की तरह मनमाने नहीं होते। ऐसे नियमित काव्य में गायत्री मन्त्र, जिसका जप केवल सुपात्र ब्राह्मणों द्वारा ही होता है, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। गायत्री मन्त्र का उल्लेख *श्रीमद्भागवत* में भी हुआ है। चूँकि गायत्री मन्त्र विशेषतया ईश्वर-साक्षात्कार के ही निमित्त है, इसीलिए यह परमेश्वर का स्वरूप है। यह मन्त्र अध्यात्म में उन्नत लोगों के लिए है। जब इसका जप करने में उन्हें सफलता मिल जाती है, तो वे भगवान् के दिव्य धाम में प्रविष्ट होते हैं। गायत्री मन्त्र के जप के लिए मनुष्य को पहले सिद्ध पुरुष के गुण या भौतिक प्रकृति के नियमों के अनुसार सात्त्विक गुण प्राप्त करने होते हैं। वैदिक सभ्यता में गायत्री मन्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और उसे ब्रह्म का नाद अवतार माना जाता है। ब्रह्मा इसके गुरु हैं और शिष्य-परम्परा द्वारा यह उनसे आगे बढ़ता रहा है।

मासों में अगहन (मार्गशीर्ष) मास सर्वोत्तम माना जाता है क्योंकि भारत में इस मास में खेतों से अन्न एकत्र किया जाता है और लोग अत्यन्त प्रसन्न रहते हैं। निस्सन्देह बसन्त ऐसी ऋतु है जिसका विश्वभर में सम्मान होता है क्योंकि यह न तो बहुत गर्म रहती है, न सर्द और इसमें वृक्षों में फूल आते हैं। बसन्त में कृष्ण की लीलाओं से सम्बन्धित अनेक उत्सव भी मनाये जाते हैं, अतः इसे समस्त ऋतुओं में से सर्वाधिक उल्लासपूर्ण माना जाता है और यह भगवान् कृष्ण की प्रतिनिधि है।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३६॥

द्यूतम्–जुआ; **छलयताम्**–समस्त छलियों या धूर्तों में, **अस्मि**–हूँ, **तेजः**–तेज, चमकदमक, **तेजस्विनाम्**–तेजस्वियों में, **अहम्**–मैं हूँ, **जयः**–विजय, **अस्मि**–हूँ, **व्यवसायः**–जोखिम या साहस, **अस्मि**–हूँ, **सत्त्वम्**–बल, **सत्त्व-वताम्**–बलवानों का, **अहम्**–मैं हूँ।

मैं छलियों में जुआ हूँ और तेजस्वियों में तेज हूँ। मैं विजय हूँ, साहस हूँ और बलवानों का बल हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड में अनेक प्रकार के छलियाँ हैं। समस्त छल-कपट कर्मों में द्यूत-क्रीड़ा (जुआ) सर्वोपरि है और यह कृष्ण का प्रतीक है। परमेश्वर के रूप में कृष्ण किसी भी सामान्य पुरुष की अपेक्षा अधिक कपटी (छल करने वाले) हो सकते हैं। यदि कृष्ण किसी से छल करने की सोच लेते हैं तो कोई उनसे पार नहीं पा सकता। उनकी महानता एकांगी न होकर सर्वांगी है।

वे विजयी पुरुषों की विजय हैं। वे तेजस्वियों के तेज हैं। साहसी तथा कर्मठों में वे सर्वाधिक साहसी तथा कर्मठ हैं। वे बलवानों में सर्वाधिक बलवान हैं। जब कृष्ण इस धराधाम में विद्यमान थे तो कोई भी उन्हें बल में हरा नहीं सकता था। यहाँ तक कि अपने बाल्यकाल में उन्होंने गोवर्धन पर्वत उठा लिया था। उन्हें न तो कोई छल में हरा सकता है, न तेज में, न विजय में, न साहस तथा बल में।

सृजन करने वाले जीवों में चतुर्मुख ब्रह्मा प्रधान हैं, अतः वे भगवान् कृष्ण के प्रतीक हैं।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥ ३४॥

मृत्युः—मृत्यु; **सर्व-हरः**—सर्वभक्षी; **च**—भी; **अहम्**—मैं हूँ; **उद्भवः**—सृष्टि; **च**—भी; **भविष्यताम्**—भावी जगतों में; **कीर्तिः**—यश; **श्रीः**—ऐश्वर्य या सुन्दरता; **वाक्**—वाणी; **च**—भी; **नारीणाम्**—स्त्रियों में; **स्मृतिः**—स्मृति, स्मरणशक्ति; **मेधा**—बुद्धि; **धृतिः**—दृढ़ता; **क्षमा**—क्षमा, धैर्य।

मैं सर्वभक्षी मृत्यु हूँ और मैं ही आगे होने वालों को उत्पन्न करने वाला हूँ। स्त्रियों में मैं कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमा हूँ।

तात्पर्य : ज्योंही मनुष्य जन्म लेता है, वह क्षण-क्षण मरता रहता है। इस प्रकार मृत्यु समस्त जीवों का हर क्षण भक्षण करती रहती है, किन्तु अन्तिम आघात मृत्यु कहलाता है। यह मृत्यु कृष्ण ही है। जहाँ तक भावी विकास का सम्बन्ध है, सारे जीवों में छह परिवर्तन होते हैं—वे जन्मते हैं, बढ़ते हैं, कुछ काल तक संसार में रहते हैं, सन्तान उत्पन्न करते हैं, क्षीण होते हैं और अन्त में समाप्त हो जाते हैं। इन छहों परिवर्तनों में पहला गर्भ से मुक्ति है और यह कृष्ण है। प्रथम उत्पत्ति ही भावी कार्यों का शुभारम्भ है।

यहाँ जिन सात ऐश्वर्यों का उल्लेख है, वे स्त्रीवाचक हैं—कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमा। यदि किसी व्यक्ति के पास ये सभी, या इनमें से कुछ ही होते हैं, तो वह यशस्वी होता है। यदि कोई मनुष्य धर्मात्मा है, तो वह यशस्वी होता है। संस्कृत पूर्ण भाषा है, अतः यह अत्यन्त यशस्विनी है। यदि कोई पढ़ने के बाद विषय को स्मरण रख सकता है तो उसे उत्तम स्मृति मिली होती है। केवल अनेक ग्रंथों को पढ़ना पर्याप्त नहीं होता, किन्तु उन्हें समझकर आवश्यकता पड़ने पर उनका प्रयोग मेधा या बुद्धि कहलाती है। यह दूसरा ऐश्वर्य है। अस्थिरता पर विजय पाना धृति या दृढ़ता है। पूर्णतया योग्य होकर यदि कोई विनीत भी हो और सुख तथा दुख में समभाव से रहे तो यह ऐश्वर्य क्षमा कहलाता है।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ ३५॥

बृहत्-साम—बृहत्साम; **तथा**—भी; **साम्नाम्**—सामवेद के गीतों में; **गायत्री**—गायत्री मंत्र; **छन्दसाम्**—समस्त छन्दों में; **अहम्**—मैं हूँ; **मासानाम्**—महीनों में; **मार्ग-शीर्षः**—नवम्बर-दिसम्बर (अगहन) का महीना; **अहम्**—मैं हूँ; **ऋतूनाम्**—समस्त ऋतुओं में; **कुसुम-आकरः**—वसन्त।

मैं सामवेद के गीतों में बृहत्साम हूँ और छन्दों में गायत्री हूँ। समस्त महीनों में मैं मार्गशीर्ष (अगहन) तथा समस्त ऋतुओं में फूल खिलाने वाली वसन्त ऋतु हूँ।

तात्पर्य : जैसा कि भगवान् स्वयं बता चुके हैं, वे समस्त वेदों में सामवेद हैं। सामवेद विभिन्न देवताओं द्वारा गाये जाने वाले गीतों का संग्रह है। इन गीतों में से एक बृहत्साम है जिसकी ध्वनि सुमधुर है और जो अर्धरात्रि में गाया जाता है।

सम्कृत में काव्य के निश्चित विधान हैं। इसमें लय तथा ताल वहुत सी आधुनिक कविता की तरह मनमाने नहीं होते। ऐसे नियमित काव्य में गायत्री मन्त्र, जिसका जप केवल सुपात्र ब्राह्मणों द्वारा ही होता है, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। गायत्री मन्त्र का उल्लेख *श्रीमद्भागवत* में भी हुआ है। चूँकि गायत्री मन्त्र विशेषतया ईश्वर-साक्षात्कार के ही निमित्त है, इसीलिए यह परमेश्वर का स्वरूप है। यह मन्त्र अध्यात्म में उन्नत लोगों के लिए है। जब इसका जप करने में उन्हें सफलता मिल जाती है, तो वे भगवान् के दिव्य धाम में प्रविष्ट होते हैं। गायत्री मन्त्र के जप के लिए मनुष्य को पहले सिद्ध पुरुष के गुण या भौतिक प्रकृति के नियमों के अनुसार सात्त्विक गुण प्राप्त करने होते हैं। वैदिक सभ्यता में गायत्री मन्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और उसे ब्रह्म का नाद अवतार माना जाता है। ब्रह्मा इसके गुरु हैं और शिष्य-परम्परा द्वारा यह उनसे आगे बढ़ता रहा है।

मासों में अगहन (मार्गशीर्ष) मास सर्वोत्तम माना जाता है क्योंकि भारत में इस मास में खेतों से अन्न एकत्र किया जाता है और लोग अत्यन्त प्रसन्न रहते हैं। निस्सन्देह वसन्त ऐसी ऋतु है जिसका विश्वभर में सम्मान होता है क्योंकि यह न तो बहुत गर्म रहती है, न सर्द और इसमें वृक्षों में फूल आते हैं। वसन्त में कृष्ण की लीलाओं से सम्बन्धित अनेक उत्सव भी मनाये जाते हैं, अतः इसे समस्त ऋतुओं में से सर्वाधिक उल्लासपूर्ण माना जाता है और यह भगवान् कृष्ण की प्रतिनिधि है।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३६॥

द्यूतम्–जुआ, छलयताम्–समस्त छलियों में, अस्मि–हूँ, तेजः–तेज, चमकदमक; तेजस्विनाम्–तेजस्वियों में, अहम्–मैं हूँ, जयः–विजय, अस्मि–हूँ, व्यवसायः–जोखिम या साहस, अस्मि–हूँ; सत्त्वम्–बल, सत्त्व-वताम्–बलवानों का, अहम्–मैं हूँ।

मैं छलियों में जुआ हूँ और तेजस्वियों में तेज हूँ। मैं विजय हूँ, साहस हूँ और बलवानों का बल हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड में अनेक प्रकार के छलियाँ हैं। समस्त छल-कपट कर्मों में द्यूत-क्रीडा (जुआ) सर्वोपरि है और यह कृष्ण का प्रतीक है। परमेश्वर के रूप में कृष्ण किसी भी सामान्य पुरुष की अपेक्षा अधिक कपटी (छल करने वाले) हो सकते हैं। यदि कृष्ण किसी से छल करने की सोच लेते हैं तो कोई उनसे पार नहीं पा सकता। उनकी महानता एकांगी न होकर सर्वांगी है।

वे विजयी पुरुषों की विजय हैं। वे तेजस्वियों के तेज हैं। साहसी तथा कर्मठों में वे सर्वाधिक साहसी तथा कर्मठ हैं। वे बलवानों में सर्वाधिक बलवान हैं। जब कृष्ण इस धराधाम में विद्यमान थे तो कोई भी उन्हें बल में हरा नहीं सकता था। यहाँ तक कि अपने बाल्यकाल में उन्होंने गोवर्धन पर्वत उठा लिया था। उन्हें न तो कोई छल में हरा सकता है, न तेज में, न विजय में, न साहस तथा बल में।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ ३७॥

वृष्णीनाम्—वृष्णि कुल में; **वासुदेवः**—द्वारकावासी कृष्ण; **अस्मि**—हूँ; **पाण्डवानाम्**—पाण्डवों में; **धनञ्जयः**—अर्जुन; **मुनीनाम्**—मुनियों में; **अपि**—भी; **अहम्**—मैं हूँ; **व्यासः**—व्यासदेव, समस्त वेदों के संकलनकर्ता; **कवीनाम्**—महान विचारकों में; **उशना**—उशना, शुक्राचार्य; **कविः**—विचारक।

मैं वृष्णिवंशियों में वासुदेव और पाण्डवों में अर्जुन हूँ। मैं समस्त मुनियों में व्यास तथा महान विचारकों में उशना हूँ।

तात्पर्य : कृष्ण आदि भगवान् हैं और बलदेव कृष्ण के निकटतम अंश-विस्तार हैं। कृष्ण तथा बलदेव दोनों ही वसुदेव के पुत्र रूप में उत्पन्न हुए, अतः दोनों को वासुदेव कहा जा सकता है। दूसरी दृष्टि से चूँकि कृष्ण कभी वृन्दावन नहीं त्यागते, अतः उनके जितने भी रूप अन्यत्र पाये जाते हैं वे उनके विस्तार हैं। वासुदेव कृष्ण के निकटतम अंश-विस्तार हैं, अतः वासुदेव कृष्ण से भिन्न नहीं हैं। अतः इस श्लोक में आगत *वासुदेव* शब्द का अर्थ बलदेव या बलराम माना जाना चाहिए क्योंकि वे समस्त अवतारों के उद्गम हैं और इस प्रकार वे वासुदेव के एकमात्र उद्गम हैं। भगवान् के निकटतम अंशों को स्वांश (व्यक्तिगत या स्वकीय अंश) कहते हैं और अन्य प्रकार के भी अंश हैं, जो विभिन्नांश (पृथकीकृत अंश) कहलाते हैं।

पाण्डुपुत्रों में अर्जुन धनञ्जय नाम से विख्यात है। वह समस्त पुरुषों में श्रेष्ठतम है, अतः कृष्णस्वरूप है। मुनियों अर्थात् वैदिक ज्ञान में पटु विद्वानों में व्यास सबसे बड़े हैं, क्योंकि उन्होंने कलियुग में लोगों को समझाने के लिए वैदिक ज्ञान को अनेक प्रकार से प्रस्तुत किया। और व्यास को कृष्ण के एक अवतार भी माने जाते हैं। अतः वे कृष्णस्वरूप हैं। कविगण किसी विषय पर गम्भीरता से विचार करने में समर्थ होते हैं। कवियों में उशना अर्थात् शुक्राचार्य असुरों के गुरु थे, वे अत्यधिक बुद्धिमान तथा दूरदर्शी राजनेता थे। इस प्रकार शुक्राचार्य कृष्ण के ऐश्वर्य के दूसरे स्वरूप हैं।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ ३८॥

दण्डः—दण्ड; **दमयताम्**—दमन के समस्त साधनों में से; **अस्मि**—हूँ; **नीतिः**—सदाचार; **अस्मि**—हूँ; **जिगीषताम्**—विजय की आकांक्षा करने वालों में; **मौनम्**—चुप्पी, मौन; **च**—तथा; **एव**—भी; **अस्मि**—हूँ; **गुह्यानाम्**—रहस्यों में; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **ज्ञान-वताम्**—ज्ञानियों में; **अहम्**—मैं हूँ।

अराजकता को दमन करने वाले समस्त साधनों में से मैं दण्ड हूँ और जो विजय के आकांक्षी हैं उनकी मैं नीति हूँ। रहस्यों में मैं मौन हूँ और बुद्धिमानों में ज्ञान हूँ।

तात्पर्य : वैसे तो दमन के अनेक साधन हैं, किन्तु इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है दुष्टों का नाश। जब दुष्टों को दण्डित किया जाता है तो दण्ड देने वाला कृष्णस्वरूप होता है। किसी भी क्षेत्र में विजय की आकांक्षा करने वाले में नीति की ही विजय होती है। सुनने,

सोचने तथा ध्यान करने की गोपनीय क्रियाओं में मौन धारण ही सबसे महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि मौन रहने से जल्दी उन्नति मिलती है। ज्ञानी व्यक्ति वह है, जो पदार्थ तथा आत्मा में, भगवान् की परा तथा अपरा शक्तियों में भेद कर सके। ऐसा ज्ञान साक्षात् कृष्ण है।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥३९॥

यत्–जो, च–भी, अपि–हो सकता है; सर्व-भूतानाम्–समस्त सृष्टियों में, बीजम्–बीज, तत्–वह, अहम्–मैं हूँ; अर्जुन–हे अर्जुन, न–नहीं, तत्–वह, अस्ति–है, विना–रहित; यत्–जो; स्यात्–हो, मया–मुझसे, भूतम्–जीव, चर-अचरम्–जंगम तथा जड।

यही नहीं, हे अर्जुन! मैं समस्त सृष्टि का जनक बीज हूँ। ऐसा चर तथा अचर कोई भी प्राणी नहीं है, जो मेरे बिना रह सके।

तात्पर्य : प्रत्येक वस्तु का कारण होता है और इस सृष्टि का कारण या बीज कृष्ण हैं। कृष्ण की शक्ति के बिना कुछ भी नहीं रह सकता, अतः उन्हें सर्वशक्तिमान कहा जाता है। उनकी शक्ति के बिना चर तथा अचर, किसी भी जीव का अस्तित्व नहीं रह सकता। जो कुछ कृष्ण की शक्ति पर आधारित नहीं है, वह माया है अर्थात् "वह जो नहीं है।"

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥४०॥

न–न तो, अन्तः–सीमा, अस्ति–है, मम–मेरे, दिव्यानाम्–दिव्य, विभूतीनाम्–ऐश्वर्यों की, परन्तप–हे शत्रुओं के विजेता, एषः–यह सब, तु–लेकिन, उद्देशतः–उदाहरणस्वरूप; प्रोक्तः–कहे गये, विभूतेः–ऐश्वर्यों के; विस्तरः–विशद वर्णन, मया–मेरे द्वारा।

हे परन्तप! मेरी दैवी विभूतियों का अन्त नहीं है। मैंने तुमसे जो कुछ कहा, वह तो मेरी अनन्त विभूतियों का संकेत मात्र है।

तात्पर्य : जैसा कि वैदिक साहित्य में कहा गया है यद्यपि परमेश्वर की शक्तियाँ तथा विभूतियाँ अनेक प्रकार से जानी जाती हैं, किन्तु इन विभूतियों का कोई अन्त नहीं है, अतएव समस्त विभूतियों तथा शक्तियों का वर्णन कर पाना सम्भव नहीं है। अर्जुन की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए केवल थोडे से उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥४१॥

यत् यत्–जो-जो, विभूति–ऐश्वर्य, मत्–युक्त, सत्त्वम्–अस्तित्व, श्री-मत्–सुन्दर, ऊर्जितम्–तेजस्वी; एव–निश्चय ही, वा–अथवा, तत् तत्–वे-वे, एव–निश्चय ही, अवगच्छ–जानो, त्वम्–तुम, मम–मेरे, तेजः–तेज का, अंश–भाग, अश से, सम्भवम्–उत्पन्न।

तुम जान लो कि सारा ऐश्वर्य, सौन्दर्य तथा तेजस्वी सृष्टियाँ मेरे तेज के एक स्फुलिंग मात्र से उद्भूत हैं।

तात्पर्य : किसी भी तेजस्वी या सुन्दर सृष्टि को, चाहे वह अध्यात्म जगत में हो या इस जगत में, कृष्ण की विभूति का अंश रूप ही मानना चाहिए। किसी भी अलौकिक तेजयुक्त वस्तु को कृष्ण की विभूति समझना चाहिए।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ ४२॥

अथवा—या; **बहुना**—अनेक; **एतेन**—इस प्रकार से; **किम्**—क्या; **ज्ञातेन**—जानने से; **तव**—तुम्हारा; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **विष्टभ्य**—व्याप्त होकर; **अहम्**—मैं; **इदम्**—इस; **कृत्स्नम्**—सम्पूर्ण; **एक**—एक; **अंशेन**—अंश के द्वारा; **स्थितः**—स्थित हूँ; **जगत्**—ब्रह्माण्ड में।

किन्तु हे अर्जुन! इस सारे विशद ज्ञान की आवश्यकता क्या है? मैं तो अपने एक अंश मात्र से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर इसको धारण करता हूँ।

तात्पर्य : परमात्मा के रूप में ब्रह्माण्ड की समस्त वस्तुओं में प्रवेश कर जाने के कारण परमेश्वर का सारे भौतिक जगत में प्रतिनिधित्व है। भगवान् यहाँ पर अर्जुन को बताते हैं कि यह जानने की कोई सार्थकता नहीं है कि सारी वस्तुएँ किस प्रकार अपने पृथक-पृथक ऐश्वर्य तथा उत्कर्ष में स्थित हैं। उसे इतना ही जान लेना चाहिए कि सारी वस्तुओं का अस्तित्व इसलिए है क्योंकि कृष्ण उनमें परमात्मा रूप में प्रविष्ट हैं। ब्रह्मा जैसे विराट जीव से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक इसीलिए विद्यमान हैं क्योंकि भगवान् उन सबमें प्रविष्ट होकर उनका पालन करते हैं।

एक ऐसी धार्मिक संस्था (मिशन) भी है जो यह निरन्तर प्रचार करती है कि किसी भी देवता की पूजा करने से भगवान् या परम लक्ष्य की प्राप्ति होगी। किन्तु यहाँ पर देवताओं की पूजा को पूर्णतया निरुत्साहित किया गया है, क्योंकि ब्रह्मा तथा शिव जैसे महानतम देवता भी परमेश्वर की विभूति के अंशमात्र हैं। वे समस्त उत्पन्न जीवों के उद्गम हैं और उनसे बढ़कर कोई भी नहीं है। वे *असमोर्ध्व* हैं जिसका अर्थ है कि न तो कोई उनसे श्रेष्ठ है, न उनके तुल्य। *पद्मपुराण* में कहा गया है कि जो लोग भगवान् कृष्ण को देवताओं की कोटि में चाहे वे ब्रह्मा या शिव ही क्यों न हो, मानते हैं वे पाखण्डी हो जाते हैं, किन्तु यदि कोई ध्यानपूर्वक कृष्ण की विभूतियों एवं उनकी शक्ति के अंशों का अध्ययन करता है तो वह बिना किसी संशय के भगवान् कृष्ण की स्थिति को समझ सकता है और अविचल भाव से कृष्ण की पूजा में स्थिर हो सकता है। भगवान् अपने अंश के विस्तार से परमात्मा रूप में सर्वव्यापी हैं, जो हर विद्यमान वस्तु में प्रवेश करता है। अतः शुद्धभक्त पूर्णभक्ति में कृष्णभावनामृत में अपने मनों को एकाग्र करते हैं। अतएव वे नित्य दिव्य पद में स्थित रहते हैं। इस अध्याय के श्लोक ८ से ११ तक कृष्ण की भक्ति तथा पूजा का स्पष्ट संकेत है। शुद्धभक्ति की यही विधि है। इस अध्याय में इसकी भलीभाँति व्याख्या की गई है कि मनुष्य भगवान् की संगति में किस प्रकार चरम भक्ति-सिद्धि प्राप्त कर सकता है। कृष्ण-परम्परा के महान आचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण इस अध्याय की टीका का समापन इस कथन से करते हैं—

यच्छक्तिलेशात्सूर्याद्या भवन्त्यत्युग्रतेजसः।
यदंशेन धृतं विश्वं स कृष्णो दशमेऽर्च्यते॥

प्रबल सूर्य भी कृष्ण की शक्ति से अपनी शक्ति प्राप्त करता है और सारे संसार का पालन कृष्ण के एक लघु अंश द्वारा होता है। अतः श्रीकृष्ण पूजनीय हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के दसवें अध्याय "श्रीभगवान् का ऐश्वर्य" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।

अध्याय ग्यारह



विराट रूप

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥१॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; मत्-अनुग्रहाय—मुझपर कृपा करने के लिए; परमम्—परम; गुह्यम्—गोपनीय; अध्यात्म—आध्यात्मिक; संज्ञितम्—नाम से जाना जाने वाला, विषयक; यत्—जो; त्वया—आपके द्वारा; उक्तम्—कहे गये; वचः—शब्द; तेन—उससे; मोहः—मोह; अयम्—यह; विगतः—हट गया; मम—मेरा।

अर्जुन ने कहा—आपने जिन अत्यन्त गुह्य आध्यात्मिक विषयों का मुझे उपदेश दिया है, उसे सुनकर अब मेरा मोह दूर हो गया है।

तात्पर्य : इस अध्याय में कृष्ण को समस्त कारणों के कारण के रूप में दिखाया गया है। यहाँ तक कि वे उन महाविष्णु के भी कारण स्वरूप हैं, जिनसे भौतिक ब्रह्माण्डों का उद्भव होता है। कृष्ण अवतार नहीं हैं, वे समस्त अवतारों के उद्गम हैं। इसकी पूर्ण व्याख्या पिछले अध्याय में की गई है।

अब जहाँ तक अर्जुन की बात है, उसका कहना है कि उसका मोह दूर हो गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह कृष्ण को अपना मित्र स्वरूप सामान्य मनुष्य नहीं मानता, अपितु उन्हें प्रत्येक वस्तु का कारण मानता है। अर्जुन अत्यधिक प्रबुद्ध हो चुका है और उसे प्रसन्नता है कि उसे कृष्ण जैसा मित्र मिला है, किन्तु अब वह यह सोचता है कि भले ही वह कृष्ण को हर एक वस्तु का कारण मान ले, किन्तु दूसरे लोग नहीं मानेंगे। अतः इस अध्याय में वह सबों के लिए कृष्ण की अलौकिकता स्थापित करने के लिए कृष्ण से प्रार्थना करता है कि वे अपना विराट रूप दिखलाएँ। वस्तुतः जब कोई अर्जुन की ही तरह कृष्ण के विराट रूप का दर्शन करता है, तो वह डर जाता है, किन्तु कृष्ण इतने दयालु हैं कि इस स्वरूप को दिखाने के तुरन्त बाद वे अपना मूलरूप धारण कर लेते हैं। अर्जुन कृष्ण के इस कथन को बार बार स्वीकार करता है कि वे उसके लाभ के लिए ही सब कुछ बता रहे हैं। अतः अर्जुन इसे स्वीकार करता है कि यह सब कृष्ण की कृपा से घटित हो रहा है। अब उसे पूरा विश्वास हो चुका है कि कृष्ण समस्त कारणों के कारण हैं और परमात्मा के रूप में प्रत्येक जीव के हृदय में विद्यमान हैं।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ २॥

भव–उत्पत्ति, अप्ययौ–लय (प्रलय), हि–निश्चय ही; भूतानाम्–समस्त जीवों का, श्रुतौ–सुना गया है; विस्तरशः–विस्तारपूर्वक; मया–मेरे द्वारा, त्वत्तः–आपसे; कमल-पत्र-अक्ष–हे कमल नयन; माहात्म्यम्–महिमा; अपि–भी, च–तथा; अव्ययम्–अक्षय, अविनाशी।

हे कमलनयन! मैंने आपसे प्रत्येक जीव की उत्पत्ति तथा लय के विषय में विस्तार से सुना है और आपकी अक्षय महिमा का अनुभव किया है।

तात्पर्य : अर्जुन यहाँ पर प्रसन्नता के मारे कृष्ण को कमलनयन (कृष्ण के नेत्र कमल के फूल की पखड़ियों जैसे दिखते हैं) कहकर सम्बोधित करता है क्योंकि उन्होंने किसी पिछले अध्याय में उसे विश्वास दिलाया है–*अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा*–मैं इस सम्पूर्ण भौतिक जगत की उत्पत्ति तथा प्रलय का कारण हूँ। अर्जुन इसके विषय में भगवान् से विस्तारपूर्वक सुन चुका है। अर्जुन को यह भी ज्ञात है कि समस्त उत्पत्ति तथा प्रलय के कारण होने के अतिरिक्त वे इन सबसे पृथक् (असंग) रहते हैं। जैसा कि भगवान् ने नवें अध्याय में कहा है कि वे सर्वव्यापी हैं, तो भी वे सर्वत्र स्वयं उपस्थित नहीं रहते। यही कृष्ण का अचिन्त्य ऐश्वर्य है, जिसे अर्जुन स्वीकार करता है कि उसने भलीभाँति समझ लिया है।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥ ३॥

एवम्–इस प्रकार, एतत्–यह, यथा–जिस प्रकार, आत्थ–कहा है, त्वम्–आपने, आत्मानम्–अपने आपको, परम-ईश्वर–हे परमेश्वर; द्रष्टुम्–देखने के लिए, इच्छामि–इच्छा करता हूँ; ते–आपका; रूपम्–रूप; ऐश्वरम्–दैवी, पुरुष-उत्तम–हे पुरुषों में उत्तम।

हे पुरुषोत्तम, हे परमेश्वर! यद्यपि आपको मैं अपने समक्ष आपके द्वारा वर्णित आपके वास्तविक रूप में देख रहा हूँ, किन्तु मैं यह देखने का इच्छुक हूँ कि आप इस दृश्य जगत में किस प्रकार प्रविष्ट हुए हैं। मैं आपके उसी रूप का दर्शन करना चाहता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् ने यह कहा कि उन्होंने अपने साक्षात् स्वरूप में ब्रह्माण्ड के भीतर प्रवेश किया है, फलतः यह दृश्यजगत सम्भव हो सका है और चल रहा है। जहाँ तक अर्जुन का सम्बन्ध है, वह कृष्ण के कथनों से प्रोत्साहित है, किन्तु भविष्य में उन लोगों को विश्वास दिलाने के लिए, जो कृष्ण को सामान्य पुरुष सोच सकते हैं, अर्जुन चाहता है कि वह भगवान् को उनके विराट रूप में देखे जिससे वे ब्रह्माण्ड के भीतर से काम करते हैं, यद्यपि वे इससे पृथक् हैं। अर्जुन द्वारा भगवान् के लिए *पुरुषोत्तम* सम्बोधन भी महत्त्वपूर्ण है। चूँकि वे भगवान् हैं, इसलिए वे स्वयं अर्जुन के भी भीतर उपस्थित हैं, अतः वे अर्जुन की इच्छा को जानते हैं। वे यह समझते हैं कि अर्जुन को उनके विराट रूप का दर्शन करने की कोई लालसा नहीं है, क्योंकि वह उनको साक्षात् देखकर पूर्णतया संतुष्ट है। किन्तु भगवान् यह भी जानते हैं कि अर्जुन अन्यों को विश्वास दिलाने के लिए ही विराट रूप का दर्शन करना चाहता है। अर्जुन को इसकी पुष्टि के लिए कोई व्यक्तिगत इच्छा न थी। कृष्ण यह भी जानते हैं कि अर्जुन विराट रूप का दर्शन एक आदर्श स्थापित करने के लिए करना चाहता है, क्योंकि भविष्य में ऐसे अनेक धूर्त होंगे जो अपने आपको ईश्वर का अवतार बताएँगे। अतः लोगों को सावधान रहना होगा। जो कोई अपने को कृष्ण कहेगा, उसे अपने दावे की पुष्टि के लिए विराट रूप दिखाने के लिए सन्नद्ध रहना होगा।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ ४॥

मन्यसे—तुम सोचते हो; **यदि**—यदि; **तत्**—वह; **शक्यम्**—समर्थ; **मया**—मेरे द्वारा; **द्रष्टुम्**—देखे जाने के लिए; **इति**—इस प्रकार; **प्रभो**—हे स्वामी; **योग-ईश्वर**—हे योगेश्वर; **ततः**—तब; **मे**—मुझे; **त्वम्**—आप; **दर्शय**—दिखलाइये; **आत्मानम्**—अपने स्वरूप को; **अव्ययम्**—शाश्वत।

हे प्रभु! हे योगेश्वर! यदि आप सोचते हैं कि मैं आपके विश्वरूप को देखने में समर्थ हो सकता हूँ, तो कृपा करके मुझे अपना असीम विश्वरूप दिखलाइये।

तात्पर्य : ऐसा कहा जाता है कि भौतिक इन्द्रियों द्वारा न तो परमेश्वर कृष्ण को कोई देख सकता है, न सुन सकता है और न अनुभव कर सकता है। किन्तु यदि कोई प्रारम्भ से भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा रहे, तो वह भगवान् का साक्षात्कार करने में समर्थ हो सकता है। प्रत्येक जीव आध्यात्मिक स्फुलिंग मात्र है, अतः परमेश्वर को जान पाना या देख पाना सम्भव नहीं है। भक्तरूप में अर्जुन को अपनी चिन्तनशक्ति पर भरोसा नहीं है, वह जीवात्मा होने के कारण अपनी सीमाओं को और कृष्ण की अकल्पनीय स्थिति को स्वीकार करता है। अर्जुन समझ चुका था कि एक क्षुद्रजीव के लिए असीम अनन्त

को समझ पाना सम्भव नहीं है। यदि अनन्त स्वयं प्रकट हो जाए, तो अनन्त की कृपा से ही उसकी प्रकृति को समझा जा सकता है। यहाँ पर *योगेश्वर* शब्द भी अत्यन्त सार्थक है, क्योंकि भगवान् के पास अचिन्त्य शक्ति है। यदि वे चाहें तो असीम होकर भी अपने आपको प्रकट कर सकते हैं। अतः अर्जुन कृष्ण की अकल्पनीय कृपा की याचना करता है। वह कृष्ण को आदेश नहीं देता। जब तक कोई उनकी शरण में नहीं जाता और भक्ति नहीं करता, कृष्ण अपने को प्रकट करने के लिए बाध्य नहीं हैं। अतः जिन्हें अपनी चिन्तनशक्ति (मनोधर्म) का भरोसा है, वे कृष्ण का दर्शन नहीं कर पाते।

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥५॥

श्रीभगवान् उवाच–भगवान् ने कहा; पश्य–देखो; मे–मेरा; पार्थ–हे पृथापुत्र; रूपाणि–रूप; *शतशः*–सैकड़ों; *अथ*–भी; *सहस्रशः*–हजारों; *नाना-विधानि*–नाना रूप वाले; *दिव्यानि*–दिव्य; नाना–नाना प्रकार के; वर्ण–रंग; आकृतीनि–रूप; च–भी।

भगवान् ने कहा—हे अर्जुन, हे पार्थ! अब तुम मेरे ऐश्वर्य को, सैकड़ों-हजारों प्रकार के दैवी तथा विविध रंगों वाले रूपों को देखो।

तात्पर्य : अर्जुन कृष्ण के विश्वरूप का दर्शनाभिलापी था, जो दिव्य होकर भी दृश्य जगत् के लाभार्थ प्रकट होता है। फलतः वह प्रकृति के अस्थाई काल द्वारा प्रभावित है। जिस प्रकार प्रकृति (माया) प्रकट-अप्रकट है, उसी तरह कृष्ण का यह विश्वरूप भी प्रकट तथा अप्रकट होता रहता है। यह कृष्ण के अन्य रूपों की भाँति वैकुण्ठ में नित्य नहीं रहता। जहाँ तक भक्त की बात है, वह विश्वरूप देखने के लिए तनिक भी इच्छुक नहीं रहता, लेकिन चूँकि अर्जुन कृष्ण को इस रूप में देखना चाहता था, अतः वे यह रूप प्रकट करते हैं। सामान्य व्यक्ति इस रूप को नहीं देख सकता। श्रीकृष्ण द्वारा शक्ति प्रदान किये जाने पर ही इसके दर्शन हो सकते हैं।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥६॥

पश्य–देखो; आदित्यान्–अदिति के बारहों पुत्रों को; वसून्–आठों वसुओं को; रुद्रान्–रुद्र के ग्यारह रूपों को; अश्विनौ–दो अश्विनी कुमारों को; मरुतः–उन्चासों मरुतों को; तथा–भी; बहूनि–अनेक; अदृष्ट–न देखे हुए; पूर्वाणि–पहले, इसके पूर्व; पश्य–देखो; आश्चर्याणि–समस्त आश्चर्यों को; भारत–हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ।

हे भारत! लो, तुम आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, अश्विनीकुमारों तथा अन्य देवताओं के विभिन्न रूपों को यहाँ देखो। तुम ऐसे अनेक आश्चर्यमय रूपों को देखो, जिन्हें पहले किसी ने न तो कभी देखा है, न सुना है।

तात्पर्य : यद्यपि अर्जुन कृष्ण का अन्तरंग सखा तथा अत्यन्त विद्वान था, तो भी –

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

अनेक—कई; वक्त्र—मुख; नयनम्—नेत्र; अनेक—अनेक; अद्भुत—विचित्र; दर्शनम्—दृश्य; अनेक—अनेक; दिव्य—दिव्य, अलौकिक; आभरणम्—आभूषण; दिव्य—दैवी; अनेक—विविध; उद्यत—उठाये हुए; आयुधम्—हथियार; दिव्य—दिव्य; माल्य—मालाएँ; अम्बर—वस्त्र; धरम्—धारण किये; दिव्य—दिव्य; गन्ध—सुगन्धियाँ; अनुलेपनम्—लगी थीं; सर्व—समस्त; आश्चर्य-मयम्—आश्चर्यपूर्ण; देवम्—प्रकाशयुक्त; अनन्तम्—असीम; विश्वतः-मुखम्—सर्वव्यापी।

अर्जुन ने उस विश्वरूप में असंख्य मुख, असंख्य नेत्र तथा असंख्य आश्चर्यमय दृश्य देखे। यह रूप अनेक दैवी आभूषणों से अलंकृत था और अनेक दैवी हथियार उठाये हुए था। यह दैवी मालाएँ तथा वस्त्र धारण किये था और उस पर अनेक दिव्य सुगन्धियाँ लगी थीं। सब कुछ आश्चर्यमय, तेजमय, असीम तथा सर्वत्र व्याप्त था।

तात्पर्य : इन दोनों श्लोकों में *अनेक* शब्द का बारम्बार प्रयोग हुआ है, जो यह सूचित करता है कि अर्जुन जिस रूप को देख रहा था उसके हाथों, मुखों, पाँवों की कोई सीमा न थी। ये रूप सारे ब्रह्माण्ड में फैले हुए थे, किन्तु भगवत्कृपा से अर्जुन उन्हें एक स्थान पर बैठे-बैठे देख रहा था। यह सब कृष्ण की अचिन्त्य शक्ति के कारण था।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

दिवि—आकाश में; सूर्य—सूर्य का; सहस्रस्य—हजारों; भवेत्—थे; युगपत्—एकसाथ; उत्थिता—उपस्थित; यदि—यदि; भाः—प्रकाश; सदृशी—के समान; सा—वह; स्यात्—हो; भासः—तेज; तस्य—उस; महात्मनः—परम स्वामी का।

यदि आकाश में हजारों सूर्य एकसाथ उदय हों, तो उनका प्रकाश शायद परमपुरुष के इस विश्वरूप के तेज की समता कर सके।

तात्पर्य : अर्जुन ने जो कुछ देखा वह अकथ्य था, तो भी संजय धृतराष्ट्र को उस महान दर्शन का मानसिक चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न कर रहा है। न तो संजय वहाँ था, न धृतराष्ट्र, किन्तु व्यासदेव के अनुग्रह से संजय सारी घटनाओं को देख सकता है। अतएव इस स्थिति की तुलना वह एक काल्पनिक घटना (हजारों सूर्यों) से कर रहा है, जिससे इसे समझा जा सके।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

तत्र–वहाँ; एक-स्थम्–एकत्र, एक स्थान में, जगत्–ब्रह्माण्ड; कृत्स्नम्–सम्पूर्ण; प्रविभक्तम्–विभाजित; अनेकधा–अनेक में; अपश्यत्–देखा; देव-देवस्य–भगवान् के, शरीरे–विश्वरूप में, पाण्डवः–अर्जुन ने; तदा–तब।

उस समय अर्जुन भगवान् के विश्वरूप में एक ही स्थान पर स्थित हजारों भागों में विभक्त ब्रह्माण्ड के अनन्त अंशों को देख सका।

तात्पर्य : *तत्र* (वहाँ) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे सूचित होता है कि जब अर्जुन ने विश्वरूप देखा, उस समय अर्जुन तथा कृष्ण दोनों ही रथ पर बैठे थे। युद्धभूमि के अन्य लोग इस रूप को नहीं देख सके, क्योंकि कृष्ण ने केवल अर्जुन को दृष्टि प्रदान की थी। वह कृष्ण के शरीर में हजारों लोक देख सका। जैसा कि वैदिक शास्त्रों से पता चलता है कि ब्रह्माण्ड अनेक हैं और लोक भी अनेक हैं। इनमें से कुछ मिट्टी के बने हैं, कुछ सोने के, कुछ रत्नों के, कुछ बहुत बड़े हैं, तो कुछ बहुत बड़े नहीं हैं। अपने रथ पर बैठकर अर्जुन इन सबों को देख सकता था। किन्तु कोई यह नहीं जान पाया कि अर्जुन तथा कृष्ण के बीच क्या चल रहा था।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥ १४॥

ततः–तत्पश्चात्, सः–वह; विस्मय-आविष्टः–आश्चर्यचकित होकर; हृष्ट-रोमा–हर्ष से रोमांचित; धनञ्जयः–अर्जुन; प्रणम्य–प्रणाम करके; शिरसा–शिर के बल; देवम्–भगवान् को, कृत-अञ्जलिः–हाथ जोड़कर, अभाषत–कहने लगा।

तब मोहग्रस्त एवं आश्चर्यचकित रोमांचित हुए अर्जुन ने प्रणाम करने के लिए मस्तक झुकाया और वह हाथ जोड़कर भगवान् से प्रार्थना करने लगा।

तात्पर्य : एक बार दिव्य दर्शन हुआ नहीं कि कृष्ण तथा अर्जुन के पारस्परिक सम्बन्ध तुरन्त बदल गये। अभी तक कृष्ण तथा अर्जुन में मैत्री सम्बन्ध था, किन्तु दर्शन होते ही अर्जुन अत्यन्त आदरपूर्वक प्रणाम कर रहा है और हाथ जोड़कर कृष्ण से प्रार्थना कर रहा है। वह उनके विश्वरूप की प्रशंसा कर रहा है। इस प्रकार अर्जुन का सम्बन्ध मित्रता का न रहकर आश्चर्य का बन जाता है। बड़े-बड़े भक्त कृष्ण को समस्त सम्बन्धों का आगार मानते हैं। शास्त्रों में १२ प्रकार के सम्बन्धों का उल्लेख है और ये सब कृष्ण में निहित हैं। यह कहा जाता है कि वे दो जीवों के बीच, देवताओं के बीच या भगवान् तथा भक्त के बीच के पारस्परिक आदान-प्रदान होने वाले सम्बन्धों के सागर हैं।

यहाँ पर अर्जुन आश्चर्य-सम्बन्ध से प्रेरित है और उसीमें वह अत्यन्त गम्भीर तथा शान्त होते हुए भी अत्यन्त आह्लादित हो उठा। उसके रोम खड़े हो गये और वह हाथ जोड़कर भगवान् की प्रार्थना करने लगा। निस्सन्देह वह भयभीत नहीं था। वह भगवान् के आश्चर्यों से अभिभूत था। इस समय तो उसके समक्ष आश्चर्य था और उसकी प्रेमपूर्ण मित्रता आश्चर्य से अभिभूत थी। अतः उसकी प्रतिक्रिया इस प्रकार हुई।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ १५॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; **पश्यामि**—देखता हूँ; **देवान्**—समस्त देवताओं को; **तव**—आपके; **देव**—हे प्रभु; **देहे**—शरीर में; **सर्वान्**—समस्त; **तथा**—भी; **भूत**—जीव; **विशेष-सङ्घान्**—विशेष रूप से एकत्रित; **ब्रह्माणम्**—ब्रह्मा को; **ईशम्**—शिव को; **कमल-आसन-स्थम्**—कमल के ऊपर आसीन; **ऋषीन्**—ऋषियों को; **च**—भी; **सर्वान्**—समस्त; **उरगान्**—सर्पों को; **च**—भी; **दिव्यान्**—दिव्य।

अर्जुन ने कहा—हे भगवान् कृष्ण! मैं आपके शरीर में सारे देवताओं तथा अन्य विविध जीवों को एकत्र देख रहा हूँ। मैं कमल पर आसीन ब्रह्मा, शिवजी तथा समस्त ऋषियों एवं दिव्य सर्पों को देख रहा हूँ।

तात्पर्य : अर्जुन ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु देखता है, अतः वह ब्रह्माण्ड के प्रथम प्राणी ब्रह्मा को तथा उस दिव्य सर्प को, जिस पर गर्भोदकशायी विष्णु ब्रह्माण्ड के अधोतल में शयन करते हैं, देखता है। इस शेष-शय्या के नाग को वासुकि भी कहते है। अन्य सर्पों को भी वासुकि कहा जाता है। अर्जुन गर्भोदकशायी विष्णु से लेकर कमललोक स्थित ब्रह्माण्ड के शीर्षस्थ भाग को जहाँ ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव ब्रह्मा निवास करते हैं, देख सकता है। इसका अर्थ यह है कि अर्जुन आदि से अन्त तक की सारी वस्तुएँ अपने रथ में एक ही स्थान पर बैठे-बैठे देख सकता था। यह सब भगवान् कृष्ण की कृपा से ही सम्भव हो सका।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ १६॥

अनेक—कई; **बाहु**—भुजाएँ; **उदर**—पेट; **वक्त्र**—मुख; **नेत्रम्**—आँखें; **पश्यामि**—देख रहा हूँ; **त्वाम्**—आपको; **सर्वतः**—चारों ओर; **अनन्त-रूपम्**—असंख्य रूप; **न अन्तम्**—अन्तहीन, कोई अन्त नहीं है; **न मध्यम्**—मध्य रहित; **न पुनः**—न फिर; **तव**—आपका; **आदिम्**—प्रारम्भ; **पश्यामि**—देखता हूँ; **विश्व-ईश्वर**—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; **विश्वरूप**—ब्रह्माण्ड के रूप में।

हे विश्वेश्वर, हे विश्वरूप! मैं आपके शरीर में अनेकानेक हाथ, पेट, मुँह तथा आँखें देख रहा हूँ, जो सर्वत्र फैले हैं और जिनका अन्त नहीं है। आपमें न अन्त दीखता है, न मध्य और न आदि।

तात्पर्य : कृष्ण भगवान् हैं और असीम हैं, अतः उनके माध्यम से सब कुछ देखा जा सकता था।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

किरीटिनम्–मुकुट युक्त, गदिनम्–गदा धारण किये, चक्रिणम्–चक्र समेत; च–तथा; तेजःराशिम्–तेज; सर्वतः–चारों ओर; दीप्ति-मन्तम्–प्रकाश युक्त; पश्यामि–देखता हूँ; त्वाम्–आपको, दुर्निरीक्ष्यम्–देखने में कठिन, समन्तात्–सर्वत्र, दीप्त-अनल–प्रज्ज्वलित अग्नि, अर्क–सूर्य की; द्युतिम्–धूप, अप्रमेयम्–अनन्त।

आपके रूप को उसके चकाचौंध तेज के कारण देख पाना कठिन है, क्योंकि यह प्रज्ज्वलित अग्नि की भाँति अथवा सूर्य के अपार प्रकाश की भाँति चारों ओर फैल रहा है। तो भी मैं इस तेजोमय रूप को सर्वत्र देख रहा हूँ, जो अनेक मुकुटों, गदाओं तथा चक्रों से विभूषित है।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥१८॥

त्वम्–आप; अक्षरम्–अच्युत, परमम्–परम, वेदितव्यम्–जानने योग्य, त्वम्–आप; अस्य–इस, विश्वस्य–विश्व के, परम्–परम; निधानम्–आधार, त्वम्–आप; अव्ययः–अविनाशी, शाश्वत-धर्म-गोप्ता–शाश्वत धर्म के पालक, सनातनः–शाश्वत; त्वम्–आप, पुरुषः–परमपुरुष, मतः मे–मेरा मत है।

आप परम आद्य ज्ञेय वस्तु हैं। आप इस ब्रह्माण्ड के परम आधार (आश्रय) हैं। आप अव्यय तथा पुराण पुरुष हैं। आप सनातन धर्म के पालक भगवान् हैं। यही मेरा मत है।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥१९॥

अनादि–आदिरहित, मध्य–मध्य, अन्तम्–या अन्त, अनन्त–असीम; वीर्यम्–महिमा, अनन्त–असंख्य; बाहुम्–भुजाएँ, शशि–चन्द्रमा; सूर्य–तथा सूर्य, नेत्रम्–आँखें, पश्यामि–देखता हूँ, त्वाम्–आपको, दीप्त–प्रज्ज्वलित; हुताश-वक्त्रम्–आपके मुख से निकलती स्व-तेजसा–अपने तेज से, विश्वम्–विश्व को, इदम्–इस, तपन्तम्–तपाते हुए।

आप आदि, मध्य तथा अन्त से रहित हैं। आपका यश अनन्त है। आपकी असंख्य भुजाएँ हैं और सूर्य तथा चन्द्रमा आपकी आँखें हैं। मैं आपके मुख से प्रज्ज्वलित अग्नि निकलते और आपके तेज से इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को जलते हुए देख रहा हूँ।

तात्पर्य : भगवान् के षड्ऐश्वर्यों की कोई सीमा नहीं है। यहाँ पर तथा अन्यत्र भी पुनरुक्ति पाई जाती है, किन्तु शास्त्रों के अनुसार कृष्ण की महिमा की पुनरुक्ति कोई साहित्यिक दोष नहीं है। कहा जाता है कि मोहग्रस्त होने या परम आह्लाद के समय या आश्चर्य होने पर कथनों की पुनरुक्ति हुआ करती है। यह कोई दोष नहीं है।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

द्यौ—बाह्य आकाश से लेकर; **आ-पृथिव्योः**—पृथ्वी तक; **इदम्**—इस; **अन्तरम्**—मध्य में; **हि**—निश्चय ही; **व्याप्तम्**—व्याप्त; **त्वया**—आपके द्वारा; **एकेन**—अकेला; **दिशः**—दिशाएँ; **च**—तथा; **सर्वाः**—सभी; **दृष्ट्वा**—देखकर; **अद्भुतम्**—अद्भुत; **रूपम्**—रूप को; **उग्रम्**—भयानक; **तव**—आपके; **इदम्**—इस; **लोक**—लोक; **त्रयम्**—तीन; **प्रव्यथितम्**—भयभीत, विचलित; **महा-आत्मन्**—हे महापुरुष।

यद्यपि आप एक हैं, किन्तु आप आकाश तथा सारे लोकों एवं उनके बीच के समस्त अवकाश में व्याप्त हैं। हे महापुरुष! आपके इस अद्भुत तथा भयानक रूप को देखकर सारे लोक भयभीत हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *द्याव्-आ-पृथिव्योः* (धरती तथा आकाश के बीच का स्थान) तथा *लोकत्रयम्* (तीनों संसार) महत्त्वपूर्ण शब्द हैं, क्योंकि ऐसा लगता है कि न केवल अर्जुन ने इस विश्वरूप को देखा, बल्कि अन्य लोकों के वासियों ने भी इसे देखा। अर्जुन द्वारा विश्वरूप का दर्शन स्वप्न न था। भगवान् ने जिन जिनको दिव्य दृष्टि प्रदान की, उन्होंने युद्धक्षेत्र में उस विश्वरूप को देखा।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥२१॥

अमी—वे सब; **हि**—निश्चय ही; **त्वाम्**—आपको; **सुर-सङ्घाः**—देव समूह; **विशन्ति**—प्रवेश कर रहे हैं; **केचित्**—उनमें से कुछ; **भीताः**—भयवश; **प्राञ्जलयः**—हाथ जोड़े; **गृणन्ति**—स्तुति कर रहे हैं; **स्वस्ति**—कल्याण हो; **इति**—इस प्रकार; **उक्त्वा**—कहकर; **महा-ऋषि**—महर्षिगण; **सिद्ध-सङ्घाः**—सिद्ध लोग; **स्तुवन्ति**—स्तुति कर रहे हैं; **त्वाम्**—आपकी; **स्तुतिभिः**—प्रार्थनाओं से; **पुष्कलाभिः**—वैदिक स्तोत्रों से।

देवों का सारा समूह आपकी शरण ले रहा है और आपमें प्रवेश कर रहा है। उनमें से कुछ अत्यन्त भयभीत होकर हाथ जोड़े आपकी प्रार्थना कर रहे हैं। महर्षियों तथा सिद्धों के समूह "कल्याण हो" कहकर वैदिक स्तोत्रों का पाठ करते हुए आपकी स्तुति कर रहे हैं।

तात्पर्य : समस्त लोकों के देवता विश्वरूप की भयानकता तथा प्रदीप्त तेज से इतने भयभीत थे कि वे रक्षा के लिए प्रार्थना करने लगे।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥ २२॥

रुद्र–शिव का रूप, आदित्याः–आदित्यगण; वसवः–सारे वसु; ये–जो; च–तथा, साध्याः–साध्य, विश्वे–विश्वेदेवता, अश्विनौ–अश्विनीकुमार; मरुतः–मरुद्गण, च–तथा; उष्म-पाः–पितर; च–तथा; गन्धर्व–गन्धर्व, यक्ष–यक्ष, असुर–असुर; सिद्ध–तथा सिद्ध देवताओं के; सङ्घाः–समूह, वीक्षन्ते–देख रहे हैं; त्वाम्–आपको, विस्मिताः–आश्चर्यचकित होकर, च–भी, एव–निश्चय ही, सर्वे–सब।

शिव के विविध रूप, आदित्यगण, वसु, साध्य, विश्वेदेव, दोनों अश्विनीकुमार, मरुद्गण, पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, असुर तथा सिद्धदेव सभी आपको आश्चर्यपूर्वक देख रहे हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥ २३॥

रूपम्–रूप, महत्–विशाल, ते–आपका; बहु–अनेक, वक्त्र–मुख, नेत्रम्–तथा आँखें, महा-बाहो–हे बलिष्ठ भुजाओं वाले, बहु–अनेक, बाहु–भुजाएँ; ऊरु–जाँघें, पादम्–तथा पाँव, बहु-उदरम्–अनेक पेट, बहु-दंष्ट्रा–अनेक दाँत, करालम्–भयानक; दृष्ट्वा–देखकर, लोकाः–सारे लोक, प्रव्यथिताः–विचलित; तथा–उसी प्रकार; अहम्–मैं।

हे महाबाहु! आपके इस अनेक मुख, नेत्र, बाहु, जंघा, पाँव, पेट तथा भयानक दाँतों वाले विराट रूप को देखकर देवतागण सहित सभी लोक अत्यन्त विचलित हैं और उन्हीं की तरह मैं भी हूँ।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।

दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥ २४॥

नभःस्पृशम्–आकाश छूता हुआ; दीप्तम्–ज्योतिर्मय; अनेक–कई; वर्णम्–रंग; व्यात्त–खुले हुए; आननम्–मुख; दीप्त–प्रदीप्त; विशाल–बड़ी-बड़ी; नेत्रम्–आँखें; दृष्ट्वा–देखकर; हि–निश्चय ही; त्वाम्–आपको; प्रव्यथितः–विचलित, भयभीत; अन्तः–भीतर; आत्मा–आत्मा; धृतिम्–दृढ़ता या धैर्य को; न–नहीं; विन्दामि–प्राप्त हूँ; शमम्–मानसिक शान्ति को; च–भी; विष्णो–हे विष्णु।

हे सर्वव्यापी विष्णु! नाना ज्योतिर्मय रंगों से युक्त आपको आकाश का स्पर्श करते, मुख फैलाये तथा बड़ी-बड़ी चमकती आँखें निकाले देखकर भय से मेरा मन विचलित है। मैं न तो धैर्य धारण कर पा रहा हूँ, न मानसिक संतुलन ही पा रहा हूँ।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ २५॥

दंष्ट्रा–दाँत; करालानि–विकराल; च–भी; ते–आपके; मुखानि–मुखों को; दृष्ट्वा–देखकर; एव–इस प्रकार; काल-अनल–प्रलय की; सन्नि-भानि–मानो; दिशः–दिशाएँ; न–नहीं; जाने–जानता हूँ; न–नहीं; लभे–प्राप्त करता हूँ; च–तथा; शर्म–आनन्द; प्रसीद–प्रसन्न हों; देव-ईश–हे देवताओं के स्वामी; जगत्-निवास–हे समस्त जगतों के आश्रय।

हे देवेश! हे जगन्निवास! आप मुझ पर प्रसन्न हों। मैं इस प्रकार से आपके प्रलयाग्नि स्वरूप मुखों को तथा विकराल दाँतों को देखकर अपना सन्तुलन नहीं रख पा रहा। मैं सब ओर से मोहग्रस्त हो रहा हूँ।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ २६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥ २७॥

अमी–ये; च–भी; त्वाम्–आपको; धृतराष्ट्रस्य–धृतराष्ट्र के; पुत्राः–पुत्र; सर्वे–सभी; सह–सहित; एव–निस्सन्देह; अवनि-पाल–वीर राजाओं के; सङ्घैः–समूह; भीष्मः–भीष्मदेव; द्रोणः–द्रोणाचार्य; सूत-पुत्रः–कर्ण; तथा–भी; असौ–यह; सह–साथ; अस्मदीयैः–हमारे;

अपि–भी; योध-मुख्यैः–मुख्य योद्धा; वक्त्राणि–मुखों में; ते–आपके; त्वरमाणाः–तेजी से, विशन्ति–प्रवेश कर रहे हैं; दंष्ट्रा–दाँत, करालानि–विकराल; भयानकानि–भयानक, केचित्–उनमें से कुछ; विलग्नाः–लगे रहकर, दशन-अन्तरेषु–दाँतों के बीच में; सन्दृश्यन्ते–दिख रहे हैं, चूर्णितैः–चूर्ण हुए, उत्तम-अङ्गैः–शिरों में।

धृतराष्ट्र के सारे पुत्र अपने समस्त सहायक राजाओं सहित तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण एवं हमारे प्रमुख योद्धा भी आपके विकराल मुख में प्रवेश कर रहे हैं। उनमें से कुछ के शिरों को तो मैं आपके दाँतों के बीच चूर्णित हुआ देख रहा हूँ।

तात्पर्य : एक पिछले श्लोक में भगवान् ने अर्जुन को वचन दिया था कि यदि वह कुछ देखने का इच्छुक हो तो वे उसे दिखा सकते हैं। अब अर्जुन देख रहा है कि विपक्ष के नेता (भीष्म, द्रोण, कर्ण तथा धृतराष्ट्र के सारे पुत्र) तथा उनके सैनिक और अर्जुन के भी सैनिक विनष्ट हो रहे हैं। यह इसका संकेत है कि कुरुक्षेत्र में एकत्र समस्त व्यक्तियों की मृत्यु के बाद अर्जुन विजयी होगा। यहाँ यह भी उल्लेख है कि भीष्म भी, जिन्हें अजेय माना जाता है, ध्वस्त हो जायेंगे। वही गति कर्ण की होनी है। न केवल विपक्ष के भीष्म जैसे महान योद्धा विनष्ट हो जाएँगे, अपितु अर्जुन के पक्ष वाले कुछ महान योद्धा भी नष्ट होंगे।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥ २८॥

यथा–जिस प्रकार; नदीनाम्–नदियों की, बहवः–अनेक, अम्बु-वेगाः–जल की तरंगें, समुद्रम्–समुद्र; एव–निश्चय ही, अभिमुखाः–की ओर, द्रवन्ति–दौड़ती हैं; तथा–उसी प्रकार से; तव–आपके; अमी–ये सब, नर-लोक-वीराः–मानव समाज के राजा, विशन्ति–प्रवेश कर रहे हैं; वक्त्राणि–मुखों में; अभिविज्वलन्ति–प्रज्ज्वलित हो रहे हैं।

जिस प्रकार नदियों की अनेक तरंगें समुद्र में प्रवेश करती हैं, उसी प्रकार ये समस्त महान योद्धा भी आपके प्रज्ज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥ २९॥

यथा–जिस प्रकार; प्रदीप्तम्–जलती हुई; ज्वलनम्–अग्नि में; पतङ्गाः–पतिंगे, कीड़े मकोड़े, विशन्ति–प्रवेश करते हैं; नाशाय–विनाश के लिए, समृद्ध–पूर्ण, वेगाः–वेग, तथा एव–उसी प्रकार से; नाशाय–विनाश के लिए; विशन्ति–प्रवेश कर रहे हैं; लोकाः–सारे लोग; तव–आपके अपि–भी, वक्त्राणि–मुखों में; समृद्ध-वेगाः–पूरे वेग से।

में समस्त लोगों को पूर्ण वेग से आपके मुख में उसी प्रकार प्रविष्ट होते देख रहा हूँ, जिस प्रकार पतिंगे अपने विनाश के लिए प्रज्ज्वलित अग्नि में कूद पड़ते हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

लेलिह्यसे—चाट रहे हैं; ग्रसमानः—निगलते हुए; समन्तात्—समस्त दिशाओं से; लोकान्—लोगों को; समग्रान्—सभी; वदनैः—मुखों से; ज्वलद्भिः—जलते हुए; तेजोभिः—तेज से; आपूर्य—आच्छादित करके; जगत्—ब्रह्माण्ड को; समग्रम्—समस्त; भासः—किरणें; तव—आपकी; उग्राः—भयंकर; प्रतपन्ति—झुलसा रही हैं; विष्णो—हे विश्वव्यापी भगवान्।

हे विष्णु! मैं देखता हूँ कि आप अपने प्रज्ज्वलित मुखों से सभी दिशाओं के लोगों को निगले जा रहे हैं। आप सारे ब्रह्माण्ड को अपने तेज से आपूरित करके अपनी विकराल झुलसाती किरणों सहित प्रकट हो रहे हैं।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

आख्याहि—कृपया बताएँ; मे—मुझको; कः—कौन; भवान्—आप; उग्र-रूपः—भयानक रूप; नमः अस्तु—नमस्कार हो; ते—आपको; देव-वर—हे देवताओं में श्रेष्ठ; प्रसीद—प्रसन्न हों; विज्ञातुम्—जानने के लिए; इच्छामि—इच्छुक हूँ; भवन्तम्—आपको; आद्यम्—आदि; न—नहीं; हि—निश्चय ही; प्रजानामि—जानता हूँ; तव—आपका; प्रवृत्तिम्—प्रयोजन।

हे देवेश! कृपा करके मुझे बतलाइये कि इतने उग्ररूप में आप कौन हैं? मैं आपको नमस्कार करता हूँ, कृपा करके मुझपर प्रसन्न हों। आप आदि-भगवान् हैं। मैं आपको जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं नहीं जान पा रहा हूँ कि आपका प्रयोजन क्या है।

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥

श्रीभगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **कालः**—काल, **अस्मि**—हूँ, **लोक**—लोकों का; **क्षय-कृत्**—नाश करने वाला, **प्रवृद्धः**—महान; **लोकान्**—समस्त लोगों को; **समाहर्तुम्**—नष्ट करने में; **इह**—इस संसार में, **प्रवृत्तः**—लगा हुआ, **ऋते**—बिना, **अपि**—भी; **त्वाम्**—आपको, **न**—कभी नहीं; **भविष्यन्ति**—होंगे; **सर्वे**—सभी, **ये**—जो; **अवस्थिताः**—स्थित; **प्रति-अनीकेषु**—विपक्ष में; **योधाः**—सैनिक।

भगवान् ने कहा—समस्त जगतों को विनष्ट करने वाला काल मैं हूँ और मैं यहाँ समस्त लोगों का विनाश करने के लिए आया हूँ। तुम्हारे (पाण्डवों के) सिवा दोनों पक्षों के सारे योद्धा मारे जाएँगे।

तात्पर्य : यद्यपि अर्जुन जानता था कि कृष्ण उसके मित्र तथा भगवान् हैं, तो भी वह कृष्ण के विविध रूपों को देखकर चकित था। इसलिए उसने इस विनाशकारी शक्ति के उद्देश्य के बारे में पूछताछ की। वेदों में लिखा है कि परम सत्य हर वस्तु को, यहाँ तक कि ब्राह्मणों को भी, नष्ट कर देते हैं। *कठोपनिषद्* का (१.२.२५) वचन है—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥

अन्ततः सारे ब्राह्मण, *क्षत्रिय* तथा अन्य सभी परमेश्वर द्वारा काल-कवलित होते हैं। परमेश्वर का यह रूप सबका भक्षण करने वाला है और यहाँ पर कृष्ण अपने को सर्वभक्षी काल के रूप में प्रस्तुत करते हैं। केवल कुछ पाण्डवों के अतिरिक्त युद्धभूमि में आये सभी लोग उनके द्वारा भक्षित होंगे।

अर्जुन लड़ने के पक्ष में न था, वह युद्ध न करना श्रेयस्कर समझता था, क्योंकि तब किसी प्रकार की निराशा न होती। किन्तु भगवान् का उत्तर है कि यदि वह नहीं लड़ता, तो भी सारे लोग उनके ग्रास बनते, क्योंकि यही उनकी इच्छा है। यदि अर्जुन नहीं लड़ता, तो वे सब अन्य विधि से मरते। मृत्यु रोकी नहीं जा सकती, चाहे वह लड़े या नहीं। वस्तुत. वे पहले से मृत हैं। काल विनाश है और परमेश्वर की इच्छानुसार सारे संसार को विनष्ट होना है। यह प्रकृति का नियम है।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

तस्मात्—अतएव; **त्वम्**—तुम, **उत्तिष्ठ**—उठो; **यशः**—यश, **लभस्व**—प्राप्त करो, **जित्वा**—जीतकर, **शत्रून्**—शत्रुओं को, **भुङ्क्ष्व**—भोग करो, **राज्यम्**—राज्य का, **समृद्धम्**—सम्पन्न, **मया**—मेरे द्वारा, **एव**—निश्चय ही, **एते**—ये सब, **निहताः**—मारे गये, **पूर्वम् एव**—पहले ही, **निमित्त-मात्रम्**—केवल कारण मात्र, **भव**—बनो, **सव्य-साचिन्**—हे सव्यसाची।

अतः उठो! लड़ने के लिए तैयार होओ और यश अर्जित करो। अपने शत्रुओं को जीतकर सम्पन्न राज्य का भोग करो। ये सब मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं और हे सव्यसाची! तुम तो युद्ध में केवल निमित्तमात्र हो सकते हो

तात्पर्य : *सव्यसाची* का अर्थ है वह जो युद्धभूमि में अत्यन्त कौशल के साथ तीर छोड़ सके। इस प्रकार अर्जुन को एक पटु योद्धा के रूप में सम्बोधित किया गया है, जो अपने शत्रुओं को तीर से मारकर मौत के घाट उतार सकता है। *निमित्तमात्रम्*–"केवल कारण मात्र" यह शब्द भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। संसार भगवान् की इच्छानुसार गतिमान है। अल्पज्ञ पुरुष सोचते हैं कि यह प्रकृति बिना किसी योजना के गतिशील है और सारी सृष्टि आकस्मिक है। ऐसे अनेक तथाकथित विज्ञानी हैं, जो यह सुझाव रखते हैं कि सम्भवतया ऐसा था, या ऐसा हो सकता है, किन्तु इस प्रकार के "शायद" या "हो सकता है" का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रकृति द्वारा विशेष योजना संचालित की जा रही है। यह योजना क्या है? यह विराट् जगत् बद्धजीवों के लिए भगवान् के धाम वापस जाने के लिए सुअवसर (सुयोग) है। जब तक उनकी प्रवृत्ति प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व स्थापित करने की रहती है, तब तक वे बद्ध रहते हैं। किन्तु जो कोई भी परमेश्वर की इस योजना (इच्छा) को समझ लेता है और कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करता है, वह परम बुद्धिमान है। दृश्यजगत की उत्पत्ति तथा उसका संहार ईश्वर की परम अध्यक्षता में होता है। इस प्रकार कुरुक्षेत्र का युद्ध ईश्वर की योजना के अनुसार लड़ा गया। अर्जुन युद्ध करने से मना कर रहा था, किन्तु उसे बताया गया कि परमेश्वर की इच्छानुसार उसे लड़ना होगा। तभी वह सुखी होगा। यदि कोई कृष्णभावनामृत से पूरित हो और उसका जीवन भगवान् की दिव्य सेवा में अर्पित हो, तो समझो कि वह कृतार्थ है।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ ३४॥

द्रोणम् च–तथा द्रोण; **भीष्मम् च**–भीष्म भी; **जयद्रथम् च**–तथा जयद्रथ; **कर्णम्**–कर्ण; **तथा**–और; **अन्यान्**–अन्य; **अपि**–निश्चय ही; **योध-वीरान्**–महान योद्धा; **मया**–मेरे द्वारा; **हतान्**–पहले ही मारे गये; **त्वम्**–तुम; **जहि**–मारो; **मा**–मत; **व्यथिष्ठाः**–विचलित होओ; **युध्यस्व**–लड़ो; **जेता असि**–जीतोगे; **रणे**–युद्ध में; **सपत्नान्**–शत्रुओं को।

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य महान योद्धा पहले ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं। अतः तुम उनका वध करो और तनिक भी विचलित न होओ। तुम केवल युद्ध करो। युद्ध में तुम अपने शत्रुओं को परास्त करोगे।

तात्पर्य : प्रत्येक योजना भगवान् द्वारा बनती है, किन्तु वे अपने भक्तों पर इतने कृपालु रहते हैं कि जो भक्त उनकी इच्छानुसार उनकी योजना का पालन करते हैं, उन्हें ही वे उसका श्रेय देते हैं। अतः जीवन को इस प्रकार गतिशील होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति कृष्णभावनामृत में कर्म करे और गुरु के माध्यम से भगवान् को जाने। भगवान् की योजनाएँ उन्हीं की कृपा से समझी जाती हैं और भक्तों की योजनाएँ उनकी ही योजनाएँ हैं। मनुष्य को चाहिए कि ऐसी योजनाओं का अनुसरण करे और जीवन-संघर्ष में विजयी बने।

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥ ३५॥

सञ्जयः उवाच—सञ्जय ने कहा, एतत्—इस प्रकार; श्रुत्वा—सुनकर; वचनम्—वाणी; केशवस्य—कृष्ण की, कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़कर; वेपमानः—काँपते हुए; किरीटी—अर्जुन ने, नमस्कृत्वा—नमस्कार करके; भूयः—फिर, एव—भी; आह—बोला; कृष्णम्—कृष्ण से, स-गद्गदम्—अवरुद्ध स्वर से; भीत-भीतः—डरा-डरा सा, प्रणम्य—प्रणाम करके।

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—हे राजा! भगवान् के मुख से इन वचनों को सुनकर काँपते हुए अर्जुन ने हाथ जोड़कर उन्हें बारम्बार नमस्कार किया। फिर उसने भयभीत होकर अवरुद्ध स्वर में कृष्ण से इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भगवान् के विश्वरूप के कारण अर्जुन आश्चर्यचकित था, अतः वह कृष्ण को बारम्बार नमस्कार करने लगा और अवरुद्ध कंठ से आश्चर्य से वह कृष्ण की प्रार्थना मित्र के रूप में नहीं, अपितु भक्त के रूप में करने लगा।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥ ३६॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; स्थाने—यह ठीक है, हृषीक-ईश—हे इन्द्रियों के स्वामी, तव—आपके, प्रकीर्त्या—कीर्ति से; जगत्—सारा संसार, प्रहृष्यति—हर्षित हो रहा है, अनुरज्यते—अनुरक्त हो रहा है, च—तथा, रक्षांसि—असुरगण; भीतानि—डर से, दिशः—सारी दिशाओं में, द्रवन्ति—भाग रहे हैं; सर्वे—सभी, नमस्यन्ति—नमस्कार करते हैं, च—भी, सिद्ध-सङ्घाः—सिद्धपुरुष।

अर्जुन ने कहा—हे हृषीकेश! आपके नाम के श्रवण से संसार हर्षित होता है और सभी लोग आपके प्रति अनुरक्त होते हैं। यद्यपि सिद्धपुरुष आपको नमस्कार करते हैं, किन्तु असुरगण भयभीत हैं और इधर-उधर भाग रहे हैं। यह ठीक ही हुआ है।

तात्पर्य : कृष्ण से कुरुक्षेत्र युद्ध के परिणाम को सुनकर अर्जुन प्रबुद्ध हो गया और भगवान् के परम भक्त तथा मित्र के रूप में उनसे बोला कि कृष्ण जो कुछ करते हैं, वह सब उचित है। अर्जुन ने पुष्टि की कि कृष्ण ही पालक हैं और भक्तों के आराध्य तथा अवांछित तत्त्वों के संहारकर्ता हैं। उनके सारे कार्य सबों के लिए समान रूप से शुभ होते

हैं। यहाँ पर अर्जुन यह समझ पाता है कि जब युद्ध निश्चित रूप से होना था तो अन्तरिक्ष से अनेक देवता, सिद्ध तथा उच्चतर लोकों के बुद्धिमान प्राणी युद्ध को देख रहे थे, क्योंकि युद्ध में कृष्ण उपस्थित थे। जब अर्जुन ने भगवान् का विश्वरूप देखा तो देवताओं को आनन्द हुआ, किन्तु अन्य लोग जो असुर तथा नास्तिक थे, भगवान् की प्रशंसा सुनकर सहन न कर सके। वे भगवान् के विनाशकारी रूप से डर कर भाग गये। भक्तों तथा नास्तिकों के प्रति भगवान् के व्यवहार की अर्जुन द्वारा प्रशंसा की गई है। भक्त प्रत्येक अवस्था में भगवान् का गुणगान करता है, क्योंकि वह जानता है कि वे जो कुछ भी करते हैं, वह सबों के हित में है।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥३७॥

कस्मात्–क्यों; **च**–भी; **ते**–आपको; **न**–नहीं; **नमेरन्**–नमस्कार करें; **महा-आत्मन्**–हे महापुरुष; **गरीयसे**–श्रेष्ठतर लोग; **ब्रह्मणः**–ब्रह्मा की अपेक्षा; **अपि**–यद्यपि; **आदि-कर्त्रे**–परम स्रष्टा को; **अनन्त**–हे अनन्त; **देव-ईश**–हे ईशों के ईश; **जगत्-निवास**–हे जगत के आश्रय; **त्वम्**–आप हैं; **अक्षरम्**–अविनाशी; **सत्-असत्**–कार्य तथा कारण; **तत्-परम्**–दिव्य; **यत्**–क्योंकि।

हे महात्मा! आप ब्रह्मा से भी बढ़कर हैं, आप आदि स्रष्टा हैं। तो फिर वे आपको सादर नमस्कार क्यों न करें? हे अनन्त, हे देवेश, हे जगन्निवास! आप परम स्रोत, अक्षर, कारणों के कारण तथा इस भौतिक जगत् से परे हैं।

तात्पर्य : अर्जुन इस प्रकार नमस्कार करके यह सूचित करता है कि कृष्ण सबों के पूजनीय हैं। वे सर्वव्यापी हैं और प्रत्येक जीव की आत्मा हैं। अर्जुन कृष्ण को *महात्मा* कहकर सम्बोधित करता है, जिसका अर्थ है कि वे उदार तथा अनन्त हैं। *अनन्त* सूचित करता है कि ऐसा कुछ भी नहीं जो भगवान् की शक्ति और प्रभाव से आच्छादित न हो और *देवेश* का अर्थ है कि वे समस्त देवताओं के नियन्ता हैं और उन सबके ऊपर हैं। वे समग्र विश्व के आश्रय हैं। अर्जुन ने भी सोचा कि यह सर्वथा उपयुक्त है कि सारे सिद्ध तथा शक्तिशाली देवता भगवान् को नमस्कार करते हैं, क्योंकि उनसे बढ़कर कोई नहीं है। अर्जुन विशेष रूप से उल्लेख करता है कि कृष्ण ब्रह्मा से भी बढ़कर हैं, क्योंकि ब्रह्मा उन्हीं के द्वारा उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्मा का जन्म कृष्ण के पूर्ण विस्तार गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से निकले कमलनाल से हुआ। अतः ब्रह्मा तथा ब्रह्मा से उत्पन्न शिव एवं अन्य सारे देवताओं को चाहिए कि उन्हें नमस्कार करें। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि शिव, ब्रह्मा तथा इन जैसे अन्य देवता भगवान् का आदर करते हैं। *अक्षरम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह जगत् विनाशशील है, किन्तु भगवान् इस जगत् से परे हैं। वे समस्त कारणों के कारण हैं, अतएव वे इस भौतिक प्रकृति के तथा इस दृश्यजगत के समस्त बद्धजीवों से श्रेष्ठ हैं। इसलिए वे परमेश्वर हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ ३८॥

त्वम्–आप, आदि-देवः–आदि परमेश्वर; पुरुषः–पुरुष; पुराणः–प्राचीन, सनातन, त्वम्–आप, अस्य–इस, विश्वस्य–विश्व का, परम्–दिव्य, निधानम्–आश्रय; वेत्ता–जानने वाला; असि–हो, वेद्यम्–जानने योग्य, ज्ञेय, च–तथा; परम्–दिव्य, च–और; धाम–वास, आश्रय; त्वया–आपके द्वारा; ततम्–व्याप्त, विश्वम्–विश्व, अनन्त-रूप–हे अनन्त रूप वाले।

आप आदि देव, सनातन पुरुष तथा इस दृश्यजगत के परम आश्रय हैं। आप सब कुछ जानने वाले हैं और आप ही वह सब कुछ हैं, जो जानने योग्य है। आप भौतिक गुणों से परे परम आश्रय हैं। हे अनन्त रूप! यह सम्पूर्ण दृश्यजगत आपसे व्याप्त है।

तात्पर्य : प्रत्येक वस्तु भगवान् पर आश्रित है, अतः वे ही परम आश्रय हैं। *निधानम्* का अर्थ है–ब्रह्म तेज समेत सारी वस्तुएँ भगवान् कृष्ण पर आश्रित हैं। वे इस संसार में घटित होने वाली प्रत्येक घटना को जानने वाले हैं और यदि ज्ञान का कोई अन्त है, तो वे ही समस्त ज्ञान के अन्त हैं। अतः वे ज्ञाता हैं और ज्ञेय (वेद्यं) भी। वे जानने योग्य हैं, क्योंकि वे सर्वव्यापी हैं। वैकुण्ठलोक में कारण स्वरूप होने से वे दिव्य हैं। वे दिव्यलोक में भी प्रधान पुरुष हैं।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ ३९॥

वायुः–वायु; यमः–नियन्ता; अग्निः–अग्नि, वरुणः–जल, शश-अङ्कः–चन्द्रमा, प्रजापतिः–ब्रह्मा, त्वम्–आप; प्र-पितामहः–परबाबा, च–तथा, नमः–मेरा नमस्कार, नमः–पुनः नमस्कार; ते–आपको, अस्तु–हो; सहस्र-कृत्वः–हजार बार; पुनःच–तथा फिर, भूयः–फिर, अपि–भी, नमः–नमस्कार; नमःते–आपको मेरा नमस्कार है।

आप वायु हैं तथा परम नियन्ता भी हैं। आप अग्नि हैं, जल हैं तथा चन्द्रमा हैं। आप आदि जीव ब्रह्मा हैं और आप प्रपितामह हैं। अतः आपको हजार बार नमस्कार है और पुनःपुनः नमस्कार है।

तात्पर्य : भगवान् को वायु कहा गया है, क्योंकि वायु सर्वव्यापी होने के कारण समस्त देवताओं का मुख्य अधिष्ठाता है। अर्जुन कृष्ण को प्रपितामह (परबाबा) कहकर सम्बोधित करता है, क्योंकि वे विश्व के प्रथम जीव ब्रह्मा के पिता हैं।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥ ४०॥

नमः—नमस्कार; **पुरस्तात्**—सामने से; **अथ**—भी; **पृष्ठतः**—पीछे से; **ते**—आपको; **नमःअस्तु**—मैं नमस्कार करता हूँ; **ते**—आपको; **सर्वतः**—सभी दिशाओं से; **एव**—निस्सन्देह; **सर्व**—क्योंकि आप सब कुछ हैं; **अनन्त-वीर्य**—असीम पौरुष; **अमित-विक्रमः**—तथा असीम बल; **त्वम्**—आप; **सर्वम्**—सब कुछ; **समाप्नोषि**—आच्छादित करते हो; **ततः**—अतएव; **असि**—हो; **सर्वः**—सब कुछ।

आपको आगे, पीछे तथा चारों ओर से नमस्कार है। हे असीम शक्ति! आप अनन्त पराक्रम के स्वामी हैं। आप सर्वव्यापी हैं, अतः आप सब कुछ हैं।

तात्पर्य : कृष्ण के प्रेम से अभिभूत उनका मित्र अर्जुन सभी दिशाओं से उनको नमस्कार कर रहा है। वह स्वीकार करता है कि कृष्ण समस्त बल तथा पराक्रम के स्वामी हैं और युद्धभूमि में एकत्र समस्त योद्धाओं से कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। *विष्णुपुराण* में (१.९.६९) कहा गया है—

योऽयं तवागतो देव समीपं देवतागणः।
स त्वमेव जगत्स्रष्टा यतः सर्वगतो भवान्॥

"आपके समक्ष जो भी आता है, चाहे वह देवता ही क्यों न हो, हे भगवान्! वह आपके द्वारा ही उत्पन्न है।"

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥ ४१॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ ४२॥

सखा—मित्र; **इति**—इस प्रकार; **मत्वा**—मानकर; **प्रसभम्**—हठपूर्वक; **यत्**—जो भी; **उक्तम्**—कहा गया; **हे कृष्ण**—हे कृष्ण; **हे यादव**—हे यादव; **हे सखा**—हे मित्र; **इति**—इस प्रकार; **अजानता**—बिना जाने; **महिमानम्**—महिमा को; **तव**—आपकी; **इदम्**—यह; **मया**—मेरे द्वारा; **प्रमादात्**—मूर्खतावश; **प्रणयेन**—प्यार वश; **वा अपि**—या तो; **यत्**—जो; **च**—भी; **अवहास-अर्थम्**—हँसी के लिए; **असत्-कृतः**—अनादर किया गया; **असि**—हो; **विहार**—आराम में; **शय्या**—लेटे रहने पर; **आसन**—बैठे रहने पर; **भोजनेषु**—या भोजन करते समय; **एकः**—अकेले; **अथवा**—या; **अपि**—भी; **अच्युत**—हे अच्युत; **तत्-समक्षम्**—साथियों के बीच; **तत्**—उन सभी; **क्षामये**—क्षमाप्रार्थी हूँ; **त्वाम्**—आपसे; **अहम्**—मैं; **अप्रमेयम्**—अचिन्त्य।

आपको अपना मित्र मानते हुए मैंने हठपूर्वक आपको हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा जैसे सम्बोधनों से पुकारा है, क्योंकि मैं आपकी महिमा को नहीं जानता था। मैंने मूर्खतावश या प्रेमवश जो कुछ भी किया है, कृपया उसके लिए मुझे क्षमा कर दें। यही नहीं, मैंने कई बार आराम करते समय, एकसाथ लेटे हुए या साथ-साथ खाते या बैठे हुए, कभी अकेले तो कभी अनेक मित्रों के समक्ष आपका अनादर किया है। हे अच्युत! मेरे इन समस्त अपराधों को क्षमा करें।

तात्पर्य : यद्यपि अर्जुन के समक्ष कृष्ण अपने विराट रूप में हैं, किन्तु उसे कृष्ण के साथ अपना मैत्रीभाव स्मरण है। इसीलिए वह मित्रता के कारण होने वाले अनेक अपराधों को क्षमा करने के लिए प्रार्थना कर रहा है। वह स्वीकार करता है कि पहले उसे ज्ञान न था कि कृष्ण ऐसा विराट रूप धारण कर सकते हैं, यद्यपि मित्र के रूप में कृष्ण ने उसे यह समझाया था। अर्जुन को यह भी पता नहीं था कि उसने कितनी बार 'हे मेरे मित्र' 'हे कृष्ण' 'हे यादव' जैसे सम्बोधनों के द्वारा उनका अनादर किया है और उनकी महिमा स्वीकार नहीं की। किन्तु कृष्ण इतने कृपालु हैं कि इतने ऐश्वर्यमण्डित होने पर भी अर्जुन से मित्र की भूमिका निभाते रहे। ऐसा होता है भक्त तथा भगवान् के बीच दिव्य प्रेम का आदान-प्रदान। जीव तथा कृष्ण का सम्बन्ध शाश्वत रूप से स्थिर है, इसे भुलाया नहीं जा सकता, जैसा कि हम अर्जुन के आचरण में देखते हैं। यद्यपि अर्जुन विराट रूप का ऐश्वर्य देख चुका है, किन्तु वह कृष्ण के साथ अपनी मैत्री नहीं भूल सकता।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

पिता—पिता, असि—हो, लोकस्य—पूरे जगत के, चर—सचल, अचरस्य—तथा अचलों के, त्वम्—आप हैं, अस्य—इसके, पूज्यः—पूज्य, च—भी, गुरुः—गुरु, गरीयान्—यशस्वी, महिमामय; न—कभी नहीं, त्वत्-समः—आपके तुल्य, अस्ति—है, अभ्यधिकः—बढ़ कर, कुतः—किस तरह सम्भव है, अन्यः—दूसरा; लोक-त्रये—तीनों लोकों में, अपि—भी, अप्रतिम-प्रभाव—हे अचिन्त्य शक्ति वाले।

आप इस चर तथा अचर सम्पूर्ण दृश्यजगत के जनक हैं। आप परम पूज्य महान आध्यात्मिक गुरु हैं। न तो कोई आपके तुल्य है, न ही कोई आपके समान हो सकता है। हे अतुल शक्ति वाले प्रभु! भला तीनों लोकों में आपसे बढ़कर कोई कैसे हो सकता है?

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण उसी प्रकार पूज्य हैं, जिस प्रकार पुत्र द्वारा पिता पूज्य होता है। वे गुरु हैं क्योंकि सर्वप्रथम उन्हीं ने ब्रह्मा को वेदों का उपदेश दिया और इस समय वे अर्जुन को भी *भगवद्गीता* का उपदेश दे रहे हैं, अतः वे आदि गुरु [illegible]

किसी भी प्रामाणिक गुरु को कृष्ण से प्रारम्भ होने वाली गुरु-परम्परा का वंशज होना चाहिए। कृष्ण का प्रतिनिधि हुए विना कोई न तो शिक्षक और न आध्यात्मिक विषयों का गुरु हो सकता है।

भगवान् को सभी प्रकार से नमस्कार किया जा रहा है। उनकी महानता अपरिमेय है। कोई भी भगवान् कृष्ण से वढ़कर नहीं, क्योंकि इस लोक में या वैकुण्ठलोक में कृष्ण के समान या उनसे वड़ा कोई नहीं है। सभी लोग उनसे निम्न हैं। कोई उनको पार नहीं कर सकता। *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में (६.८) कहा गया है कि—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।

भगवान् कृष्ण के भी सामान्य व्यक्ति की तरह इन्द्रियाँ तथा शरीर हैं, किन्तु उनके लिए अपनी इन्द्रियों, अपने शरीर, अपने मन तथा स्वयं में कोई अन्तर नहीं रहता। जो लोग मूर्ख हैं, वे कहते हैं कि कृष्ण अपने आत्मा, मन, हृदय तथा अन्य प्रत्येक वस्तु से भिन्न हैं। कृष्ण तो परम हैं, अतः उनके कार्य तथा शक्तियाँ भी सर्वश्रेष्ठ हैं। यह भी कहा जाता है कि यद्यपि हमारे समान उनकी इन्द्रियाँ नहीं हैं, तो भी वे सारे ऐन्द्रिय कार्य करते हैं। अतः उनकी इन्द्रियाँ न तो सीमित हैं, न ही अपूर्ण हैं। न तो कोई उनसे वढ़ कर है, न उनके तुल्य कोई है। सभी लोग उनसे घट कर हैं।

परम पुरुष का ज्ञान, शक्ति तथा कर्म सभी कुछ दिव्य है। *भगवद्गीता* में (४.९) कहा गया है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

जो कोई कृष्ण के दिव्य शरीर, कर्म तथा पूर्णता को जान लेता है, वह इस शरीर को छोड़ने के वाद उनके धाम को जाता है और फिर इस दुखमय संसार में वापस नहीं आता। अतः मनुष्य को जान लेना चाहिए कि कृष्ण के कार्य अन्यों से भिन्न होते हैं। सर्वश्रेष्ठ मार्ग तो यह है कि कृष्ण के नियमों का पालन किया जाय, इससे मनुष्य सिद्ध वनेगा। यह भी कहा गया है कि कोई ऐसा नहीं जो कृष्ण का गुरु वन सके, सभी तो उनके दास हैं। *चैतन्य चरितामृत* (आदि ५.१४२) से इसकी पुष्टि होती है—*एकले ईश्वर कृष्ण, आर सव भृत्य*—केवल कृष्ण ईश्वर हैं, शेष सभी उनके दास हैं। प्रत्येक व्यक्ति उनके आदेश का पालन करता है। कोई ऐसा नहीं जो उनके आदेश का उल्लंघन कर सके। प्रत्येक व्यक्ति उनकी अध्यक्षता में होने के कारण उनके निर्देश के अनुसार कार्य करता है। जेसा कि *ब्रह्मसंहिता* में कहा गया है कि वे समस्त कारणों के कारण हैं।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ ४४॥

तस्मात्—अतः; **प्रणम्य**—प्रणाम करके; **प्रणिधाय**—प्रणत करके; **कायम्**—शरीर को; **प्रसादये**—कृपा की याचना करता हूँ; **त्वाम्**—आपसे; **अहम्**—मैं; **ईशम्**—भगवान् से; **ईड्यम्**—पूज्य; **पिता इव**—पिता

तुल्यः पुत्रस्य–पुत्र का, सखा इव–मित्रवत्; सख्युः–मित्र का, प्रियः–प्रेमी; प्रियायाः–प्रिया का, अर्हसि–आपको चाहिए, देव–मेरे प्रभु, सोढुम्–सहन करना।

आप प्रत्येक जीव द्वारा पूजनीय भगवान् हैं। अतः मैं गीरकर सादर प्रणाम करता हूँ और आपकी कृपा की याचना करता हूँ। जिस प्रकार पिता अपने पुत्र की ढिठाई सहन करता है, या मित्र अपने मित्र की धृष्टता सह लेता है, या प्रिय अपनी प्रिया का अपराध सहन कर लेता है, उसी प्रकार आप कृपा करके मेरी त्रुटियों को सहन कर लें।

तात्पर्य : कृष्ण के भक्त उनके साथ विविध प्रकार के सम्बन्ध रखते हैं–कोई कृष्ण को पुत्रवत्, कोई पति रूप में, कोई मित्र रूप में या कोई स्वामी के रूप में मान सकता है। कृष्ण और अर्जुन का सम्बन्ध मित्रता का है। जिस प्रकार पिता, पति या स्वामी सब अपराध सहन कर लेते हैं उसी प्रकार कृष्ण सहन करते हैं।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ ४५॥

अदृष्ट-पूर्वम्–पहले कभी न देखा गया, हृषितः–हर्षित; अस्मि–हूँ, दृष्ट्वा–देखकर; भयेन–भय के कारण, च–भी; प्रव्यथितम्–विचलित, भयभीत, मनः–मन, मे–मेरा; तत्–वह, एव–निश्चय ही, मे–मुझको, दर्शय–दिखलाइये, देव–हे प्रभु; रूपम्–रूप; प्रसीद–प्रसन्न होइये; देव-ईश–ईशों के ईश; जगत्-निवास–हे जगत के आश्रय।

पहले कभी न देखे गये आपके इस विराट रूप का दर्शन करके मैं पुलकित हो रहा हूँ, किन्तु साथ ही मेरा मन भयभीत हो रहा है। अतः आप मुझ पर कृपा करें और हे देवेश, हे जगन्निवास! अपना पुरुषोत्तम भगवत् स्वरूप पुनः दिखाएँ।

तात्पर्य : अर्जुन को कृष्ण पर विश्वास है, क्योंकि वह उनका प्रिय मित्र है और मित्र रूप में वह अपने मित्र के ऐश्वर्य को देखकर अत्यन्त पुलकित है। अर्जुन यह देख कर अत्यन्त प्रसन्न है कि उसके मित्र कृष्ण भगवान् हैं और वे ऐसा विराट रूप प्रदर्शित कर सकते हैं। किन्तु साथ ही वह इस विराट रूप को देखकर भयभीत है कि उसने अनन्य मैत्रीभाव के कारण कृष्ण के प्रति अनेक अपराध किये हैं। इस प्रकार भयवश उसका मन विचलित है, यद्यपि भयभीत होने का कोई कारण नहीं है। अतएव अर्जुन कृष्ण से प्रार्थना करता है कि वे अपना नारायण रूप दिखाएँ, क्योंकि वे कोई भी रूप धारण कर सकते हैं। यह विराट रूप भौतिक जगत के ही तुल्य भौतिक एवं नश्वर है। किन्तु वैकुण्ठलोक में नारायण के रूप में उनका शाश्वत चतुर्भुज रूप रहता है। वैकुण्ठलोक में असंख्य लोक हैं और कृष्ण इन सबमें अपने भिन्न नामों से अंश रूप में विद्यमान हैं। इस प्रकार अर्जुन वैकुण्ठलोक के उनके किसी एक रूप को देखना चाहता था। निस्सन्देह प्रत्येक

वैकुण्ठलोक में नारायण का स्वरूप चतुर्भुजी है, किन्तु इन चारों हाथों में वे विभिन्न क्रम में शंख, गदा, कमल तथा चक्र के चिन्ह धारण किये रहते हैं। विभिन्न हाथों में इन चारों चिन्हों के अनुसार नारायण भिन्न-भिन्न नामों से पुकारे जाते हैं। ये सारे रूप कृष्ण के ही हैं, इसलिए अर्जुन कृष्ण के चतुर्भुज रूप का दर्शन करना चाहता है।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥ ४६॥

किरीटिनम्—मुकुट धारण किये; **गदिनम्**—गदाधारी; **चक्रहस्तम्**—चक्रधारण किये; **इच्छामि**—इच्छुक हूँ; **त्वाम्**—आपको; **द्रष्टुम्**—देखना; **अहम्**—मैं; **तथा एव**—उसी स्थिति में; **तेन-एव**—उसी; **रूपेण**—रूप में; **चतुःभुजेन**—चार हाथों वाले; **सहस्र-बाहो**—हे हजार भुजाओं वाले; **भव**—हो जाइये; **विश्व-मूर्ते**—हे विराट रूप।

हे विराट रूप! हे सहस्रभुज भगवान्! मैं आपके मुकुटधारी चतुर्भुज रूप का दर्शन करना चाहता हूँ, जिसमें आप अपने चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण किये हुए हों। मैं उसी रूप को देखने की इच्छा करता हूँ।

तात्पर्य : *ब्रह्मसंहिता* में (५.३९) कहा गया है—*रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्*—भगवान् सैकड़ों हजारों रूपों में नित्य विद्यमान रहते हैं जिनमें से राम, नृसिंह, नारायण उनके मुख्य रूप हैं। रूप तो असंख्य हैं, किन्तु अर्जुन को ज्ञात था कि कृष्ण ही आदि भगवान् हैं, जिन्होंने यह क्षणिक विश्वरूप धारण किया है। अब वह प्रार्थना कर रहा है कि भगवान् अपने नारायण नित्यरूप का दर्शन दें। इस श्लोक से *श्रीमद्भागवत* के कथन की निस्सन्देह पुष्टि होती है कि कृष्ण आदि भगवान् हैं और अन्य सारे रूप उन्हीं से प्रकट होते हैं। वे अपने अंशों से भिन्न नहीं हैं और वे अपने असंख्य रूपों में भी ईश्वर ही बने रहते हैं। इन सारे रूपों में वे तरुण दिखते हैं। यही भगवान् का स्थायी लक्षण है। कृष्ण को जानने वाला इस भौतिक संसार के समस्त कल्मष से मुक्त हो जाता है।

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥ ४७॥

श्रीभगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; **मया**—मेरे द्वारा; **प्रसन्नेन**—प्रसन्न; **तव**—तुमको; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **इदम्**—इस; **रूपम्**—रूप को; **परम्**—दिव्य; **दर्शितम्**—दिखाया गया; **आत्म-योगात्**—अपनी अन्तरंगाशक्ति से; **तेजः-मयम्**—तेज से पूर्ण; **विश्वम्**—समग्र ब्रह्माण्ड को; **अनन्तम्**—असीम;

आद्यम्–आदि, यत्–जो, मे–मेरा, त्वत् अन्येन–तुम्हारे अतिरिक्त अन्य के द्वारा, न दृष्ट-पूर्वम्–किसी ने पहले नहीं देखा।

भगवान् ने कहा–हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर अपनी अन्तरंगा शक्ति के बल पर तुम्हें इस संसार में अपने इस परम विश्वरूप का दर्शन कराया है। इसके पूर्व अन्य किसी ने इस असीम तथा तेजोमय आदि-रूप को कभी नहीं देखा था।

तात्पर्य : अर्जुन भगवान् के विश्वरूप को देखना चाहता था, अतः भगवान् कृष्ण ने अपने भक्त अर्जुन पर अनुकम्पा करते हुए उसे अपने तेजोमय तथा ऐश्वर्यमय विश्वरूप का दर्शन कराया। यह रूप सूर्य की भाँति चमक रहा था और इसके मुख निरन्तर परिवर्तित हो रहे थे। कृष्ण ने यह रूप अर्जुन की इच्छा को शान्त करने के लिए ही दिखलाया। यह रूप कृष्ण की उस अन्तरंगाशक्ति द्वारा प्रकट हुआ जो मानव कल्पना से परे है। अर्जुन से पूर्व भगवान् के इस विश्वरूप का किसी ने दर्शन नहीं किया था, किन्तु जब अर्जुन को यह रूप दिखाया गया तो स्वर्गलोक तथा अन्य लोकों के भक्त भी इसे देख सके। उन्होंने इस रूप को पहले नहीं देखा था, केवल अर्जुन के कारण वे इसे देख पा रहे थे। दूसरे शब्दों में, कृष्ण की कृपा से भगवान् के सारे शिष्य भक्त उस विश्वरूप का दर्शन कर सके, जिसे अर्जुन देख रहा था। किसी ने टीका की है कि जब कृष्ण सन्धि का प्रस्ताव लेकर दुर्योधन के पास गये थे, तो उसे भी इसी रूप का दर्शन कराया गया था। दुर्भाग्यवश दुर्योधन ने शान्ति प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया, किन्तु कृष्ण ने उस समय अपने कुछ रूप दिखाए थे। किन्तु वे रूप अर्जुन को दिखाये गये इस रूप से सर्वथा भिन्न थे। यह स्पष्ट कहा गया है कि इस रूप को पहले किसी ने भी नहीं देखा था।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ ४८॥

न–कभी नहीं, वेद-यज्ञ–यज्ञ द्वारा, अध्ययनैः–या वेदों के अध्ययन से; न–कभी नहीं, दानैः–दान के द्वारा; न–कभी नहीं, च–भी, क्रियाभिः–पुण्य कर्मों से, न–कभी नहीं, तपोभिः–तपस्या के द्वारा, उग्रैः–कठोर; एवम्-रूपः–इस रूप में; शक्यः–समर्थ; अहम्–मैं; नृ-लोके–इस भौतिक जगत में, द्रष्टुम्–देखे जाने में, त्वत्–तुम्हारे अतिरिक्त, अन्येन–अन्य के द्वारा; कुरु-प्रवीर–कुरु योद्धाओं में श्रेष्ठ।

हे कुरुश्रेष्ठ! तुमसे पूर्व मेरे इस विश्वरूप को किसी ने नहीं देखा, क्योंकि मैं न तो वेदाध्ययन के द्वारा, न यज्ञ, दान, पुण्य या कठिन तपस्या के द्वारा इस रूप में, इस संसार में देखा जा सकता हूँ।

तात्पर्य : इस प्रसग में दिव्य दृष्टि को भलीभाँति समझ लेना चाहिए। तो यह दिव्य दृष्टि किसके पास हो सकती है? दिव्य का अर्थ है दैवी। जब तक कोई देवता के रूप में दिव्यता प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त नहीं हो सकती। और देवता

कौन है? वैदिक शास्त्रों का कथन है कि जो भगवान् विष्णु के भक्त हैं, वे देवता हैं (*विष्णुभक्ताः स्मृता देवाः*)। जो नास्तिक हैं, अर्थात् जो विष्णु में विश्वास नहीं करते या जो कृष्ण के निर्विशेष अंश को परमेश्वर मानते हैं, उन्हें यह दिव्य दृष्टि नहीं प्राप्त हो सकती। ऐसा सम्भव नहीं है कि कृष्ण का विरोध करके कोई दिव्य दृष्टि भी प्राप्त कर सके। दिव्य बने बिना दिव्य दृष्टि प्राप्त नहीं की जा सकती। दूसरे शब्दों में, जिन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त है, वे भी अर्जुन की ही तरह विश्वरूप देख सकते हैं।

भगवद्गीता में विश्वरूप का विवरण है। यद्यपि अर्जुन के पूर्व यह विवरण अज्ञात था, किन्तु इस घटना के बाद अब विश्वरूप का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। जो लोग सचमुच ही दिव्य हैं, वे भगवान् के विश्वरूप को देख सकते हैं। किन्तु कृष्ण का शुद्धभक्त बने बिना कोई दिव्य नहीं बन सकता। किन्तु जो भक्त सचमुच दिव्य प्रकृति के हैं, और जिन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त है, वे भगवान् के विश्वरूप का दर्शन करने के लिए उत्सुक नहीं रहते। जैसा कि पिछले श्लोक में कहा गया है, अर्जुन ने कृष्ण के चतुर्भुजी विष्णु रूप को देखना चाहा, क्योंकि विश्वरूप को देखकर वह सचमुच भयभीत हो उठा था।

इस श्लोक में कुछ महत्त्वपूर्ण शब्द हैं, यथा *वेदयज्ञाध्ययनैः* जो वेदों तथा यज्ञानुष्ठानों से सम्बन्धित विषयों के अध्ययन का निर्देश करता है। वेदों का अर्थ है, समस्त प्रकार का वैदिक साहित्य यथा चारों वेद (ऋग्, यजु, साम तथा अथर्व) एवं अठारहों पुराण, सारे उपनिषद् तथा वेदान्त सूत्र। मनुष्य इन सबका अध्ययन चाहे घर में करे या अन्यत्र। इसी प्रकार यज्ञ विधि के अध्ययन करने के अनेक सूत्र हैं—*कल्पसूत्र* तथा *मीमांसा-सूत्र*। *दानैः* सुपात्र को दान देने के अर्थ में आया है; जैसे वे लोग जो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहते हैं, यथा ब्राह्मण तथा वैष्णव। इसी प्रकार *क्रियाभिः* शब्द अग्निहोत्र के लिए है और विभिन्न वर्णों के कर्मों का सूचक है। शारीरिक कष्टों को स्वेच्छा से अंगीकर करना तपस्या है। इस तरह मनुष्य भले ही इन सारे कार्यों—तपस्या, दान, वेदाध्ययन आदि को करे, किन्तु जब तक वह अर्जुन की भाँति भक्त नहीं होता, तब तक वह विश्वरूप का दर्शन नहीं कर सकता। निर्विशेषवादी भी कल्पना करते रहते हैं कि वे भगवान् के विश्वरूप का दर्शन कर रहे हैं, किन्तु *भगवद्गीता* से हम जानते हैं कि निर्विशेषवादी भक्त नहीं हैं। फलतः वे भगवान् के विश्वरूप को नहीं देख पाते।

ऐसे अनेक पुरुष हैं जो अवतारों की सृष्टि करते हैं। वे झूठे ही सामान्य व्यक्ति को अवतार मानते हैं, किन्तु यह मूर्खता है। हमें तो *भगवद्गीता* का अनुसरण करना चाहिए, अन्यथा पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्ति की कोई सम्भावना नहीं है। यद्यपि *भगवद्गीता* को भगवत्तत्त्व का प्राथमिक अध्ययन माना जाता है, तो भी यह इतना पूर्ण है कि कौन क्या है, इसका अन्तर बताया जा सकता है। छद्म अवतार के समर्थक यह कह सकते हैं कि उन्होंने भी ईश्वर के दिव्य अवतार विश्वरूप को देखा है, किन्तु यह स्वीकार्य नहीं, क्योंकि यहाँ पर यह स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि कृष्ण का भक्त बने बिना ईश्वर के विश्वरूप को नहीं देखा जा सकता। अतः पहले कृष्ण का शुद्धभक्त बनना होता है, तभी कोई दावा कर सकता है कि वह विश्वरूप का दर्शन करा सकता है, जिसे उसने देखा है। कृष्ण का भक्त कभी भी छद्म अवतारों को या इनके अनुयायियों को मान्यता नहीं देता।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥ ४९॥

मा–न हो; ते–तुम्हें; व्यथा–पीड़ा, कष्ट; मा–न हो, च–भी; विमूढ-भावः–मोह, दृष्ट्वा–देखकर; रूपम्–रूप को; घोरम्–भयानक; ईदृक्–इस प्रकार का; मम–मेरे; इदम्–इस; व्यपेत-भीः–सभी प्रकार के भय से मुक्त, प्रीत-मनाः–प्रसन्न चित्त; पुनः–फिर; त्वम्–तुम, तत्–उस, एव–इस प्रकार; मे–मेरे; रूपम्–रूप को, इदम्–इस, प्रपश्य–देखो।

तुम मेरे इस भयानक रूप को देखकर अत्यन्त विचलित एवं मोहित हो गये हो। अब इसे समाप्त करता हूँ। हे मेरे भक्त! तुम समस्त चिन्ताओं से पुनः मुक्त हो जाओ। तुम शान्त चित्त से अब अपना इच्छित रूप देख सकते हो।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के प्रारम्भ में अर्जुन अपने पूज्य पितामह भीष्म तथा गुरु द्रोण के वध के विषय में चिन्तित था। किन्तु कृष्ण ने कहा कि उसे अपने पितामह का वध करने से डरना नहीं चाहिए। जब कौरवों की सभा में धृतराष्ट्र के पुत्र द्रौपदी को विवस्त्र करना चाह रहे थे, तो भीष्म तथा द्रोण मौन थे, अतः कर्तव्यविमुख होने के कारण इनका वध होना चाहिए। कृष्ण ने अर्जुन को अपने विश्वरूप का दर्शन यह दिखाने के लिए कराया कि ये लोग अपने कुकृत्यों के कारण पहले ही मारे जा चुके हैं। यह दृश्य अर्जुन को इसलिए दिखलाया गया, क्योंकि भक्त शान्त होते हैं और ऐसे जघन्य कर्म नहीं कर सकते। विश्वरूप प्रकट करने का अभिप्राय स्पष्ट हो चुका था। अब अर्जुन कृष्ण के चतुर्भुज रूप को देखना चाह रहा था। अतः उन्होंने यह रूप दिखाया। भक्त कभी भी विश्वरूप देखने में रुचि नहीं लेता क्योंकि इससे प्रेमानुभूति का आदान-प्रदान नहीं हो सकता। भक्त या तो अपना पूजाभाव अर्पित करना चाहता है या दो भुजा वाले कृष्ण का दर्शन करना चाहता है जिससे वह भगवान् के साथ प्रेमाभक्ति का आदान-प्रदान कर सके।

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥ ५०॥

सञ्जय उवाच–संजय ने कहा, इति–इस प्रकार; अर्जुनम्–अर्जुन को, वासुदेवः–कृष्ण ने, तथा–उस प्रकार से; उक्त्वा–कहकर, स्वकम्–अपना, स्वीय, रूपम्–रूप को, दर्शयाम् आस–दिखलाया, भूयः–फिर, आश्वासयाम् आस–धीरज धराया, च–भी, भीतम्–भयभीत; एनम्–उसको, भूत्वा–होकर; पुनः–फिर; सौम्य वपुः–सुन्दर रूप, महा-आत्मा–महापुरुष।

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा–अर्जुन से इस प्रकार कहने के बाद भगवान् कृष्ण ने

अपना असली चतुर्भुज रूप प्रकट किया और अन्त में दो भुजाओं वाला अपना रूप प्रदर्शित करके भयभीत अर्जुन को धैर्य बँधाया।

तात्पर्य : जब कृष्ण वसुदेव तथा देवकी के पुत्र रूप में प्रकट हुए तो पहले वे चतुर्भुज नारायण रूप में ही प्रकट हुए, किन्तु जब उनके माता-पिता ने प्रार्थना की तो उन्होंने सामान्य बालक का रूप धारण कर लिया। उसी प्रकार कृष्ण को ज्ञात था कि अर्जुन उनके चतुर्भुज रूप को देखने का इच्छुक नहीं है, किन्तु चूँकि अर्जुन ने उनको इस रूप में देखने की प्रार्थना की थी, अतः कृष्ण ने पहले अपना चतुर्भुज रूप दिखलाया और फिर वे अपने दो भुजाओं वाले रूप में प्रकट हुए। *सौम्यवपुः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है अत्यन्त सुन्दर रूप। जब कृष्ण विद्यमान थे तो सारे लोग उनके रूप पर ही मोहित हो जाते थे और चूँकि कृष्ण इस विश्व के निर्देशक हैं, अतः उन्होंने अपने भक्त अर्जुन का भय दूर किया और पुनः उसे अपना सुन्दर (सौम्य) रूप दिखलाया। *ब्रह्मसंहिता* में (५.३८) कहा गया है—*प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्तिविलोचनेन*—जिस व्यक्ति की आँखों में प्रेमरूपी अंजन लगा है, वही कृष्ण के सौम्यरूप का दर्शन कर सकता है।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥५१॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; **दृष्ट्वा**—देखकर; **इदम्**—इस; **मानुषम्**—मानवी; **रूपम्**—रूप को; **तव**—आपके; **सौम्यम्**—अत्यन्त सुन्दर; **जनार्दन**—हे शत्रुओं को दण्डित करने वाले; **इदानीम्**—अब; **अस्मि**—हूँ; **संवृत्तः**—स्थिर; **स-चेताः**—अपनी चेतना में; **प्रकृतिम्**—अपनी प्रकृति को; **गतः**—पुनः प्राप्त हूँ।

जब अर्जुन ने कृष्ण को उनके आदि रूप में देखा तो कहा—हे जनार्दन! आपके इस अतीव सुन्दर मानवी रूप को देखकर मैं अब स्थिरचित्त हूँ और मैंने अपनी प्राकृत अवस्था प्राप्त कर ली है।

तात्पर्य : यहाँ पर प्रयुक्त *मानुषं रूपम्* शब्द स्पष्ट सूचित करते हैं कि भगवान् मूलतः दो भुजाओं वाले हैं। जो लोग कृष्ण को सामान्य व्यक्ति मानकर उनका उपहास करते हैं, उनको यहाँ पर भगवान् की दिव्य प्रकृति से अनभिज्ञ बताया गया है। यदि कृष्ण सामान्य मनुष्य होते तो उनके लिए पहले विश्वरूप और फिर चतुर्भुज नारायण रूप दिखा पाना कैसे सम्भव हो पाता? अतः *भगवद्गीता* में यह स्पष्ट उल्लेख है कि जो कृष्ण को सामान्य व्यक्ति मानता है और पाठक को यह कहकर भ्रान्त करता है कि कृष्ण के भीतर का निर्विशेष ब्रह्म बोल रहा है, वह सबसे बड़ा अन्याय करता है। कृष्ण ने सचमुच अपने विश्वरूप को तथा चतुर्भुज विष्णुरूप को प्रदर्शित किया। तो फिर वे किस तरह सामान्य पुरुष हो सकते हैं? शुद्ध भक्त कभी भी ऐसी गुमराह करने वाली टीकाओं से विचलित नहीं होता, क्योंकि वह वास्तविकता से अवगत रहता है। *भगवद्गीता* के मूल श्लोक सूर्य की भाँति स्पष्ट हैं, मूर्ख टीकाकारों को उन पर प्रकाश डालने की कोई आवश्यकता नहीं है।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥५२॥

श्रीभगवान् उवाच–श्रीभगवान् ने कहा; सु-दुर्दर्शम्–देख पाने में अत्यन्त कठिन; इदम्–इस; रूपम्–रूप को; दृष्टवान् असि–जैसा तुमने देखा; यत्–जो; मम–मेरे; देवाः–देवता; अपि–भी; अस्य–इस; रूपस्य–रूप का; नित्यम्–शाश्वत; दर्शन-काङ्क्षिणः–दर्शनाभिलाषी।

श्रीभगवान् ने कहा–हे अर्जुन! तुम मेरे जिस रूप को इस समय देख रहे हो, उसे देख पाना अत्यन्त दुष्कर है। यहाँ तक कि देवता भी इस अत्यन्त प्रिय रूप को देखने की ताक में रहते हैं।

तात्पर्य : इस अध्याय के ४८वें श्लोक में भगवान् कृष्ण ने अपना विश्वरूप दिखाना बन्द किया और अर्जुन को बताया कि अनेक तप, यज्ञ आदि करने पर भी इस रूप को देख पाना असम्भव है। अब *सुदुर्दर्शम्* शब्द का प्रयोग किया जा रहा है जो सूचित करता है कि कृष्ण का द्विभुज रूप और अधिक गुह्य है। कोई तपस्या, वेदाध्ययन तथा दार्शनिक चिंतन आदि विभिन्न क्रियाओं के साथ थोड़ा सा भक्ति-तत्त्व मिलाकर कृष्ण के विश्वरूप का दर्शन संभवतः कर सकता है, लेकिन 'भक्ति-तत्त्व' के बिना यह संभव नहीं है, इसका वर्णन पहले ही किया जा चुका है। फिर भी विश्वरूप से आगे कृष्ण का द्विभुज रूप है, जिसे ब्रह्मा तथा शिव जैसे बड़े-बड़े देवताओं द्वारा भी देख पाना और भी कठिन है। वे उनका दर्शन करना चाहते हैं और *श्रीमद्भागवत* में प्रमाण है कि जब भगवान् अपनी माता देवकी के गर्भ में थे, तो स्वर्ग के सारे देवता कृष्ण के चमत्कार को देखने के लिए आये और उन्होंने उत्तम स्तुतियाँ कीं, यद्यपि उस समय वे दृष्टिगोचर नहीं थे। वे उनके दर्शन की प्रतीक्षा करते रहे। मूर्ख व्यक्ति उन्हें सामान्य जन समझकर भले ही उनका उपहास कर लें और उनका सम्मान न करके उनके भीतर स्थित किसी निराकार 'कुछ' का सम्मान करें, किन्तु यह सब मूर्खतापूर्ण व्यवहार है। कृष्ण के द्विभुज रूप का दर्शन तो ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवता तक करना चाहते हैं।

भगवद्गीता (९.११) में इसकी पुष्टि हुई है–*अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*–जो लोग उनका उपहास करते हैं, वे उन्हें दृश्य नहीं होते। जैसा कि *ब्रह्मसंहिता* में तथा स्वयं कृष्ण द्वारा *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है, कृष्ण का शरीर सच्चिदानन्द स्वरूप है। उनका शरीर कभी भी भौतिक शरीर जैसा नहीं होता। किन्तु जो लोग *भगवद्गीता* या इसी प्रकार के वैदिक शास्त्रों को पढ़कर कृष्ण का अध्ययन करते हैं, उनके लिए कृष्ण समस्या बने रहते हैं। जो भौतिक विधि का प्रयोग करता है उसके लिए *कृष्ण एक महान ऐतिहासिक पुरुष तथा अत्यन्त विद्वान चिन्तक हैं,* यद्यपि वे सामान्य व्यक्ति हैं और इतने शक्तिमान होते हुए भी उन्हें भौतिक शरीर धारण करना पड़ा। अन्ततोगत्वा वे परमसत्य को निर्विशेष मानते हैं, अतः वे सोचते हैं कि भगवान् ने अपने निराकार रूप से ही साकार रूप धारण किया। परमेश्वर के विषय में ऐसा अनुमान नितान्त भौतिकतावादी है। दूसरा अनुमान भी काल्पनिक है। जो लोग ज्ञान की

खोज में हैं, वे भी कृष्ण का चिन्तन करते हैं और उन्हें उनके विश्वरूप से कम महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इस प्रकार कुछ लोग सोचते हैं कि अर्जुन के समक्ष कृष्ण का जो रूप प्रकट हुआ था, वह उनके साकार रूप से अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार कृष्ण का साकार रूप काल्पनिक है। उनका विश्वास है कि परमसत्य व्यक्ति नहीं है। किन्तु *भगवद्गीता* के चतुर्थ अध्याय में दिव्य विधि का वर्णन है और वह कृष्ण के विषय में प्रामाणिक व्यक्तियों से श्रवण करने की है। यही वास्तविक वैदिक विधि है और जो लोग सचमुच वैदिक परम्परा में हैं, वे किसी अधिकारी से ही कृष्ण के विषय में श्रवण करते हैं और बारम्बार श्रवण करने से कृष्ण उनके प्रिय हो जाते हैं। जैसा कि हम कई बार बता चुके हैं कि कृष्ण अपनी योगमाया शक्ति से आच्छादित हैं। उन्हें हर कोई नहीं देख सकता। वही उन्हें देख पाता है, जिसके समक्ष वे प्रकट होते हैं। इसकी पुष्टि वेदों में हुई है, किन्तु जो शरणागत हो चुका है, वह परमसत्य को सचमुच समझ सकता है। निरन्तर कृष्णभावनामृत से तथा कृष्ण की भक्ति से आध्यात्मिक आँखें खुल जाती हैं और वह कृष्ण को प्रकट रूप में देख सकता है। ऐसा प्राकट्य देवताओं तक के लिए दुर्लभ है, अतः वे भी उन्हें नहीं समझ पाते और उनके द्विभुज रूप के दर्शन की ताक में रहते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि यद्यपि कृष्ण के विश्वरूप का दर्शन कर पाना अत्यन्त दुर्लभ है और हर कोई ऐसा नहीं कर सकता, किन्तु उनके श्यामसुन्दर रूप को समझ पाना तो और भी कठिन है।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥५३॥

न—कभी नहीं; अहम्—मैं; वेदैः—वेदाध्ययन से; न—कभी नहीं; तपसा—कठिन तपस्या द्वारा; न—कभी नहीं; दानेन—दान से; न—कभी नहीं; च—भी; इज्यया—पूजा से; शक्यः—सम्भव है; एवम्-विधः—इस प्रकार से; द्रष्टुम्—देख पाना; दृष्टवान्—देख रहे; असि—तुम हो; माम्—मुझको; यथा—जिस प्रकार।

तुम अपने दिव्य नेत्रों से जिस रूप का दर्शन कर रहे हो, उसे न तो वेदाध्ययन से, न कठिन तपस्या से, न दान से, न पूजा से ही जाना जा सकता है। कोई इन साधनों के द्वारा मुझे मेरे रूप में नहीं देख सकता।

तात्पर्य : कृष्ण पहले अपनी माता देवकी तथा पिता वसुदेव के समक्ष चतुर्भुज रूप में प्रकट हुए थे और तब उन्होंने अपना द्विभुज रूप धारण किया था। जो लोग नास्तिक हैं, या भक्तिविहीन हैं, उनके लिए इस रहस्य को समझ पाना अत्यन्त कठिन है। जिन विद्वानों ने केवल व्याकरण विधि से या कोरी शैक्षिक योग्यताओं के आधार पर वैदिक साहित्य का अध्ययन किया है, वे कृष्ण को नहीं समझ सकते। न ही वे लोग कृष्ण को समझ सकेंगे, जो औपचारिक पूजा करने के लिए मन्दिर जाते हैं। वे भले ही वहाँ जाते रहें, वे कृष्ण के असली रूप को नहीं समझ सकेंगे। कृष्ण को तो केवल भक्तिमार्ग से समझा जा सकता है, जैसा कि कृष्ण ने स्वयं अगले श्लोक में बताया है।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥५४॥

भक्त्या–भक्ति से, तु–लेकिन, अनन्यया–सकामकर्म तथा ज्ञान से रहित; शक्यः–सम्भव; अहम्–मैं, एवम्-विधः–इस प्रकार; अर्जुन–हे अर्जुन; ज्ञातुम्–जानने; द्रष्टुम्–देखने, च–तथा; तत्त्वेन–वास्तव में; प्रवेष्टुम्–प्रवेश करने, च–भी; परन्तप–हे बलिष्ठ भुजाओं वाले।

हे अर्जुन! केवल अनन्य भक्ति द्वारा मुझे उस रूप में समझा जा सकता है, जिस रूप में मैं तुम्हारे समक्ष खड़ा हूँ और इसी प्रकार मेरा साक्षात् दर्शन भी किया जा सकता है। केवल इसी विधि से तुम मेरे ज्ञान के रहस्य को पा सकते हो।

तात्पर्य : कृष्ण को केवल अनन्य भक्तियोग द्वारा समझा जा सकता है। इस श्लोक में वे इसे स्पष्टतया कहते हैं, जिससे ऐसे अनधिकारी टीकाकार जो *भगवद्गीता* को केवल कल्पना के द्वारा समझना चाहते हैं, यह जान सकें कि वे समय का अपव्यय कर रहे हैं। कोई यह नहीं जान सकता कि वे किस प्रकार चतुर्भुज रूप में माता के गर्भ से उत्पन्न हुए और फिर तुरन्त ही दो भुजाओं वाले रूप में बदल गये। ये बातें न तो वेदों के अध्ययन से समझी जा सकती हैं, न दार्शनिक चिन्तन द्वारा। अतः यहाँ पर स्पष्ट कहा गया है कि न तो कोई उन्हें देख सकता है और न इन बातों का रहस्य ही समझ सकता है। किन्तु जो लोग वैदिक साहित्य के अनुभवी विद्यार्थी हैं वे अनेक प्रकार से वैदिक ग्रंथों के माध्यम से उन्हें जान सकते हैं। इसके लिए अनेक विधि-विधान हैं और यदि कोई सचमुच उन्हें जानना चाहता है तो उसे प्रामाणिक ग्रंथों में उल्लिखित विधियों का पालन करना चाहिए। वह इन नियमों के अनुसार तपस्या कर सकता है। उदाहरणार्थ, कठिन तपस्या के हेतु वह कृष्णजन्माष्टमी को, जो कृष्ण का आविर्भाव दिवस है, तथा *मास की दोनों एकादशियों को उपवास कर सकता है। जहाँ तक दान का सम्बन्ध है,* यह बात साफ है कि उन कृष्ण भक्तों को यह दान दिया जाय जो संसार भर में कृष्ण-दर्शन को या कृष्णभावनामृत को फैलाने में लगे हुए हैं। कृष्णभावनामृत मानवता के लिए वरदान है। रूप गोस्वामी ने भगवान् चैतन्य की प्रशंसा परम दानवीर के रूप में की है, क्योंकि उन्होंने कृष्ण प्रेम का मुक्तरीति से विस्तार किया, जिसे प्राप्त कर पाना बहुत कठिन है। अतः यदि कोई *कृष्णभावनामृत* का प्रचार करने वाले व्यक्तियों को अपना धन दान में देता है, तो कृष्णभावनामृत का प्रचार करने के लिए दिया गया यह दान संसार का सबसे बड़ा दान है। और यदि कोई मन्दिर में जाकर विधिपूर्वक पूजा करता है (भारत के मन्दिरों में सदा कोई न कोई मूर्ति, सामान्यतया विष्णु या कृष्ण की मूर्ति रहती है) तो यह भगवान् की पूजा करके तथा उन्हें सम्मान प्रदान करके उन्नति करने का अवसर होता है। नौसिखियों के लिए भगवान् की भक्ति करते हुए मन्दिर-पूजा अनिवार्य है, जिसकी पुष्टि *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में (६.२३) हुई है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

जिसमें भगवान् के लिए अविचल भक्तिभाव होता है और जिसका मार्गदर्शन गुरु

करता है, जिसमें भी उसकी वैसी ही अविचल श्रद्धा होती है, वह भगवान् का दर्शन प्रकट रूप में कर सकता है। मानसिक चिन्तन (मनोधर्म) द्वारा कृष्ण को नहीं समझा जा सकता। जो व्यक्ति प्रामाणिक गुरु से मार्गदर्शन प्राप्त नहीं करता, उसके लिए कृष्ण को समझने का शुभारम्भ कर पाना भी कठिन है। यहाँ पर *तु* शब्द का प्रयोग विशेष रूप से यह सूचित करने के लिए हुआ है कि कोई अन्य विधि न तो बताई जा सकती है, न प्रयुक्त की जा सकती है, न ही कृष्ण को समझने में सफल हो सकती है।

कृष्ण के चतुर्भुज तथा द्विभुज साक्षात् रूप अर्जुन को दिखाये गये क्षणिक विश्वरूप से सर्वथा भिन्न हैं। नारायण का चतुर्भुज रूप तथा कृष्ण का द्विभुज रूप दोनों ही शाश्वत तथा दिव्य हैं, जबकि अर्जुन को दिखलाया गया विश्वरूप नश्वर है। *सुदुर्दर्शम्* शब्द का अर्थ ही है "देख पाने में कठिन", जिससे पता चलता है कि इस विश्वरूप को किसी ने नहीं देखा था। इससे यह भी पता चलता है कि भक्तों को इस रूप को दिखाने की आवश्यकता भी नहीं थी। इस रूप को कृष्ण ने अर्जुन की प्रार्थना पर दिखाया था, जिससे भविष्य में यदि कोई अपने को भगवान् का अवतार कहे तो लोग उससे कह सकें कि तुम अपना विश्वरूप दिखलाओ।

पिछले श्लोक में *न* शब्द की पुनरुक्ति सूचित करती है कि मनुष्य को वैदिक ग्रंथों के पाण्डित्य का गर्व नहीं होना चाहिए। उसे कृष्ण की भक्ति करनी चाहिए। तभी वह *भगवद्गीता* की टीका लिखने का प्रयास कर सकता है।

कृष्ण विश्वरूप से नारायण के चतुर्भुज रूप में और फिर अपने सहज द्विभुज रूप में परिणत होते हैं। इससे यह सूचित होता है कि वैदिक साहित्य में उल्लिखित चतुर्भुज रूप तथा अन्य रूप कृष्ण के आदि द्विभुज रूप ही से उद्भूत हैं। वे समस्त उद्भवों के उद्गम हैं। कृष्ण इनसे भी भिन्न हैं, निर्विशेष रूप की कल्पना का तो कुछ कहना ही नहीं। जहाँ तक कृष्ण के चतुर्भुजी रूपों का सम्बन्ध है, यह स्पष्ट कहा गया है कि कृष्ण का सर्वाधिक निकट चतुर्भुजी रूप (जो महाविष्णु के नाम से विख्यात हैं और जो कारणार्णव में शयन करते हैं तथा जिनके श्वास तथा प्रश्वास में अनेक ब्रह्माण्ड निकलते एवं प्रवेश करते रहते हैं) भी भगवान् का अंश है। जैसा कि *ब्रह्मसंहिता* में (५.४८) कहा गया है—

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य
जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः।
विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥

"जिनके श्वास लेने से ही जिनमें अनन्त ब्रह्माण्ड प्रवेश करते हैं तथा पुनः बाहर निकल आते हैं, वे महाविष्णु कृष्ण के अंश रूप हैं। अतः मैं गोविन्द या कृष्ण की पूजा करता हूँ जो समस्त कारणों के कारण हैं।" अतः मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण के साकार रूप को भगवान् मानकर पूजे, क्योंकि वही सच्चिदानन्द स्वरूप है। वे विष्णु के समस्त रूपों के उद्गम हैं, वे समस्त अवतारों के उद्गम हैं और आदि महापुरुष हैं, जैसा कि *भगवद्गीता* से पुष्ट होता है।

गोपाल-तापनी उपनिषद् में (१.१) निम्नलिखित कथन आया है—

सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे॥

"मैं कृष्ण को प्रणाम करता हूँ जो सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। मैं उनको नमस्कार करता हूँ, क्योंकि उनको जान लेने का अर्थ है, वेदों को जान लेना। अतः वे परम गुरु हैं।" उसी प्रकरण में कहा गया है—*कृष्णो वै परमं दैवतम्*—कृष्ण भगवान् हैं (*गोपाल तापनी उपनिषद्* १.३)। *एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य*—वह कृष्ण भगवान् हैं और पूज्य हैं। *एकोऽपि सन्बहुधा योऽवभाति*—कृष्ण एक हैं, किन्तु वे अनन्त रूपों तथा अंश अवतारों के रूप में प्रकट होते हैं (*गोपाल तापनी* १.२१)।

ब्रह्मसंहिता (५.१) का कथन है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

"भगवान् तो कृष्ण हैं, जो सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। उनका कोई आदि नहीं है, क्योंकि वे प्रत्येक वस्तु के आदि हैं। वे समस्त कारणों के कारण हैं।"

अन्यत्र भी कहा गया है—*यत्रावतीर्णं कृष्णाख्यं परं ब्रह्म नराकृति*—भगवान् एक व्यक्ति है, उसका नाम कृष्ण है और वह कभी-कभी इस पृथ्वी पर अवतरित होता है। इसी प्रकार *श्रीमद्भागवत* में भगवान् के सभी प्रकार के अवतारों का वर्णन मिलता है, जिसमें कृष्ण का भी नाम है। किन्तु तब यह कहा गया है कि यह कृष्ण ईश्वर के अवतार नहीं हैं, अपितु साक्षात् भगवान् हैं (*एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*)।

इसी प्रकार *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं—*मत्तः परतरं नान्यत्*—मुझ भगवान् कृष्ण के रूप से कोई श्रेष्ठ नहीं है। अन्यत्र भी कहा गया है—*अहम् आदिर्हि देवानाम्*—मैं समस्त देवताओं का उद्गम हूँ। कृष्ण से *भगवद्गीता* ज्ञान प्राप्त करने पर अर्जुन भी इन शब्दों में इसकी पुष्टि करता है—*परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्*—अब मैं भलीभाँति समझ गया कि आप परम सत्य भगवान् हैं और प्रत्येक वस्तु के आश्रय हैं। अतः कृष्ण ने अर्जुन को जो विश्वरूप दिखलाया वह उनका आदि रूप नहीं है। आदि रूप तो कृष्ण रूप है। हजारों हाथों तथा हजारों सिरों वाला विश्वरूप तो उन लोगों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए दिखलाया गया, जिनका ईश्वर से तनिक भी प्रेम नहीं है। यह ईश्वर का आदि रूप नहीं है।

विश्वरूप उन शुद्धभक्तों के लिए तनिक भी आकर्षक नहीं होता, जो विभिन्न दिव्य सम्बन्धों में भगवान् से प्रेम करते हैं। भगवान् अपने आदि कृष्ण रूप में ही प्रेम का आदान-प्रदान करते हैं। अतः कृष्ण से घनिष्ठ मैत्री भाव से सम्बन्धित अर्जुन को यह विश्वरूप तनिक भी रुचिकर नहीं लगा, अपितु उसे भयानक लगा। कृष्ण के चिर सखा अर्जुन के पास अवश्य ही दिव्य दृष्टि रही होगी, वह भी कोई सामान्य व्यक्ति न था। इसीलिए वह विश्वरूप से मोहित नहीं हुआ। यह रूप उन लोगों को भले ही अलौकिक लगे, जो अपने को सकाम कर्मों द्वारा ऊपर उठाना चाहते हैं, किन्तु भक्ति में रत व्यक्तियों के लिए तो दोभुजा वाले कृष्ण का रूप ही अत्यन्त प्रिय है।

करता है, जिसमें भी उसकी वैसी ही अविचल श्रद्धा होती है, वह भगवान् का दर्शन प्रकट रूप में कर सकता है। मानसिक चिन्तन (मनोधर्म) द्वारा कृष्ण को नहीं समझा जा सकता। जो व्यक्ति प्रामाणिक गुरु से मार्गदर्शन प्राप्त नहीं करता, उसके लिए कृष्ण को समझने का शुभारम्भ कर पाना भी कठिन है। यहाँ पर *तु* शव्द का प्रयोग विशेष रूप से यह सूचित करने के लिए हुआ है कि कोई अन्य विधि न तो वताई जा सकती है, न प्रयुक्त की जा सकती है, न ही कृष्ण को समझने में सफल हो सकती है।

कृष्ण के चतुर्भुज तथा द्विभुज साक्षात् रूप अर्जुन को दिखाये गये क्षणिक विश्वरूप से सर्वथा भिन्न हैं। नारायण का चतुर्भुज रूप तथा कृष्ण का द्विभुज रूप दोनों ही शाश्वत तथा दिव्य हैं, जवकि अर्जुन को दिखलाया गया विश्वरूप नश्वर है। *सुदुर्दर्शम्* शव्द का अर्थ ही है "देख पाने में कठिन", जिससे पता चलता है कि इस विश्वरूप को किसी ने नहीं देखा था। इससे यह भी पता चलता है कि भक्तों को इस रूप को दिखाने की आवश्यकता भी नहीं थी। इस रूप को कृष्ण ने अर्जुन की प्रार्थना पर दिखाया था, जिससे भविष्य में यदि कोई अपने को भगवान् का अवतार कहे तो लोग उससे कह सकें कि तुम अपना विश्वरूप दिखलाओ।

पिछले श्लोक में *न* शव्द की पुनरुक्ति सूचित करती है कि मनुष्य को वैदिक ग्रंथों के पाण्डित्य का गर्व नहीं होना चाहिए। उसे कृष्ण की भक्ति करनी चाहिए। तभी वह *भगवद्गीता* की टीका लिखने का प्रयास कर सकता है।

कृष्ण विश्वरूप से नारायण के चतुर्भुज रूप में और फिर अपने सहज द्विभुज रूप में परिणत होते हैं। इससे यह सूचित होता है कि वैदिक साहित्य में उल्लिखित चतुर्भुज रूप तथा अन्य रूप कृष्ण के आदि द्विभुज रूप ही से उद्भूत हैं। वे समस्त उद्भवों के उद्गम हैं। कृष्ण इनसे भी भिन्न हैं, निर्विशेष रूप की कल्पना का तो कुछ कहना ही नहीं। जहाँ तक कृष्ण के चतुर्भुजी रूपों का सम्वन्ध है, यह स्पष्ट कहा गया है कि कृष्ण का सर्वाधिक निकट चतुर्भुजी रूप (जो महाविष्णु के नाम से विख्यात हैं और जो कारणार्णव में शयन करते हैं तथा जिनके श्वास तथा प्रश्वास में अनेक व्रह्माण्ड निकलते एवं प्रवेश करते रहते हैं) भी भगवान् का अंश है। जैसा कि *व्रह्मसंहिता* में (५.४८) कहा गया है—

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्व्य
जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः।
विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥

"जिनके श्वास लेने से ही जिनमें अनन्त व्रह्माण्ड प्रवेश करते हैं तथा पुनः वाहर निकल आते हैं, वे महाविष्णु कृष्ण के अंश रूप हैं। अतः मैं गोविन्द या कृष्ण की पूजा करता हूँ जो समस्त कारणों के कारण हैं।" अतः मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण के साकार रूप को भगवान् मानकर पूजे, क्योंकि वही सच्चिदानन्द स्वरूप है। वे विष्णु के समस्त रूपों के उद्गम हैं, वे समस्त अवतारों के उद्गम हैं और आदि महापुरुष हैं, जैसा कि *भगवद्गीता* से पुष्ट होता है।

गोपाल-तापनी उपनिषद् में (१.१) निम्नलिखित कथन आया है—

सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे॥

"मैं कृष्ण को प्रणाम करता हूँ जो सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। मैं उनको नमस्कार करता हूँ, क्योंकि उनको जान लेने का अर्थ है, वेदों को जान लेना। अतः वे परम गुरु हैं।" उसी प्रकरण में कहा गया है—*कृष्णो वै परमं दैवतम्*—कृष्ण भगवान् हैं (*गोपाल तापनी उपनिषद्* १.३)। *एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्यः*—वह कृष्ण भगवान् हैं और पूज्य हैं। *एकोऽपि सन्बहुधा योऽवभाति*—कृष्ण एक हैं, किन्तु वे अनन्त रूपों तथा अंश अवतारों के रूप में प्रकट होते हैं (*गोपाल तापनी* १.२१)।

ब्रह्मसंहिता (५.१) का कथन है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

"भगवान् तो कृष्ण हैं, जो सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। उनका कोई आदि नहीं है, क्योंकि वे प्रत्येक वस्तु के आदि हैं। वे समस्त कारणों के कारण हैं।"

अन्यत्र भी कहा गया है—*यत्रावतीर्णं कृष्णाख्यं परं ब्रह्म नराकृति*—भगवान् एक व्यक्ति है, उसका नाम कृष्ण है और वह कभी-कभी इस पृथ्वी पर अवतरित होता है। इसी प्रकार *श्रीमद्भागवत* में भगवान् के सभी प्रकार के अवतारों का वर्णन मिलता है, जिसमें कृष्ण का भी नाम है। किन्तु तब यह कहा गया है कि यह कृष्ण ईश्वर के अवतार नहीं हैं, अपितु साक्षात् भगवान् हैं (*एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*)।

इसी प्रकार *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं—*मत्तः परतरं नान्यत्*—मुझ भगवान् कृष्ण के रूप से कोई श्रेष्ठ नहीं है। अन्यत्र भी कहा गया है—*अहम् आदिर्हि देवानाम्*—मैं समस्त देवताओं का उद्गम हूँ। कृष्ण से *भगवद्गीता* ज्ञान प्राप्त करने पर अर्जुन भी इन शब्दों में इसकी पुष्टि करता है—*परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्*—अब मैं भलीभाँति समझ गया कि आप परम सत्य भगवान् हैं और प्रत्येक वस्तु के आश्रय हैं। अतः कृष्ण ने अर्जुन को जो विश्वरूप दिखलाया वह उनका आदि रूप नहीं है। आदि रूप तो कृष्ण रूप है। हजारों हाथों तथा हजारों सिरों वाला विश्वरूप तो उन लोगों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए दिखलाया गया, जिनका ईश्वर से तनिक भी प्रेम नहीं है। यह ईश्वर का आदि रूप नहीं है।

विश्वरूप उन शुद्धभक्तों के लिए तनिक भी आकर्षक नहीं होता, जो विभिन्न दिव्य सम्बन्धों में भगवान् से प्रेम करते हैं। भगवान् अपने आदि कृष्ण रूप में ही प्रेम का आदान-प्रदान करते हैं। अतः कृष्ण से घनिष्ठ मैत्री भाव से सम्बन्धित अर्जुन को यह विश्वरूप तनिक भी रुचिकर नहीं लगा, अपितु उसे भयानक लगा। कृष्ण के चिर सखा अर्जुन के पास अवश्य ही दिव्य दृष्टि रही होगी, वह भी कोई सामान्य व्यक्ति न था। इसीलिए वह विश्वरूप से मोहित नहीं हुआ। यह रूप उन लोगों को भले ही अलौकिक लगे, जो अपने को सकाम कर्मों द्वारा ऊपर उठाना चाहते हैं, किन्तु भक्ति में रत व्यक्तियों के लिए तो दोभुजा वाले कृष्ण का रूप ही अत्यन्त प्रिय है।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ ५५॥

मत्-कर्म-कृत्—मेरा कर्म करने में रत; **मत्-परमः**—मुझको परम मानते हुए; **मत्-भक्तः**—मेरी भक्ति में रत; **सङ्ग-वर्जितः**—सकाम कर्म तथा मनोधर्म के कल्मष से मुक्त; **निर्वैरः**—किसी से शत्रुतारहित; **सर्व-भूतेषु**—समस्त जीवों में; **यः**—जो; **सः**—वह; **माम्**—मुझको; **एति**—प्राप्त करता है; **पाण्डव**—हे पाण्डु के पुत्र।

हे अर्जुन! जो व्यक्ति सकाम कर्मों तथा मनोधर्म के कल्मष से मुक्त होकर, मेरी शुद्ध भक्ति में तत्पर रहता है, जो मेरे लिए ही कर्म करता है, जो मुझे ही जीवन-लक्ष्य समझता है और जो प्रत्येक जीव से मैत्रीभाव रखता है, वह निश्चय ही मुझे प्राप्त करता है।

तात्पर्य : जो कोई चिन्मय व्योम के कृष्णलोक में परम पुरुष को प्राप्त करके भगवान् कृष्ण से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है, उसे स्वयं भगवान् द्वारा बताये गये इस मन्त्र को ग्रहण करना होगा। अतः यह श्लोक *भगवद्गीता* का सार माना जाता है। *भगवद्गीता* एक ऐसा ग्रंथ है, जो उन बद्धजीवों की ओर लक्षित है, जो इस भौतिक संसार में प्रकृति पर प्रभुत्व जताने में लगे हुए हैं और वास्तविक आध्यात्मिक जीवन के बारे में नहीं जानते हैं। *भगवद्गीता* का उद्देश्य यह दिखाना है कि मनुष्य किस प्रकार अपने आध्यात्मिक अस्तित्व को तथा भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को समझ सकता है तथा उसे यह शिक्षा देना है कि वह भगवद्धाम को कैसे पहुँच सकता है। यह श्लोक उस विधि को स्पष्ट रूप से बताता है, जिससे मनुष्य अपने आध्यात्मिक कार्य में अर्थात् भक्ति में सफलता प्राप्त कर सकता है। *भक्तिरसामृत सिन्धु* में (२.२५५) कहा गया है—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः।
निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते॥

ऐसा कोई कार्य न करे जो कृष्ण से सम्बन्धित न हो। यह *कृष्णकर्म* कहलाता है। कोई भले ही कितने कर्म क्यों न करे, किन्तु उसे उनके फल के प्रति आसक्ति नहीं होनी चाहिए। यह फल तो कृष्ण को ही अर्पित किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यापार में व्यस्त है, तो उसे इस व्यापार को कृष्णभावनामृत में परिणत करने के लिए, कृष्ण को अर्पित करना होगा। यदि कृष्ण व्यापार के स्वामी हैं, तो इसका लाभ भी उन्हें ही मिलना चाहिए। यदि किसी व्यापारी के पास करोड़ों रुपए की सम्पत्ति हो और यदि वह इसे कृष्ण को अर्पित करना चाहे, तो वह ऐसा कर सकता है। यही *कृष्णकर्म* है। अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए विशाल भवन न बनवाकर, वह कृष्ण के लिए सुन्दर मन्दिर बनवा सकता है, कृष्ण का अर्चाविग्रह स्थापित कर सकता है और भक्ति के प्रामाणिक ग्रंथों में वर्णित अर्चाविग्रह की सेवा का प्रबन्ध करा सकता है। यह सब *कृष्णकर्म* है। मनुष्य को अपने कर्मफल में लिप्त नहीं होना चाहिए, अपितु इसे कृष्ण को अर्पित करके बची हुई वस्तु को केवल प्रसाद रूप में ग्रहण करना चाहिए। यदि कोई कृष्ण के लिए विशाल भवन बनवा देता है और उसमें कृष्ण का अर्चाविग्रह स्थापित कराता है, तो

उसमें उसे रहने की मनाही नहीं रहती, लेकिन कृष्ण को ही इस भवन का स्वामी मानना चाहिए। यही कृष्णभावनामृत है। किन्तु यदि कोई कृष्ण के लिए मन्दिर नहीं बनवा सकता तो वह कृष्ण-मन्दिर की सफाई में तो लग सकता है, यह भी कृष्णकर्म है। वह बगीचे की देखभाल कर सकता है। जिसके पास थोड़ी सी भी भूमि है—जैसा कि भारत के निर्धन से निर्धन व्यक्ति के पास भी होती है—तो वह उसका उपयोग कृष्ण के लिए फूल उगाने के लिए कर सकता है। वह तुलसी के वृक्ष उगा सकता है, क्योंकि तुलसीदल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और *भगवद्गीता* में कृष्ण ने उनको आवश्यक बताया है। *पत्रं पुष्पं फलं तोयम्*। कृष्ण चाहते हैं कि लोग उन्हें पत्र, पुष्प, फल या थोड़ा जल भेंट करें और इस प्रकार की भेंट से वे प्रसन्न रहते हैं। यह पत्र विशेष रूप से तुलसीदल ही है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह तुलसी का पौधा लगाकर उसे सींचे। इस तरह गरीब से गरीब व्यक्ति भी अपने को कृष्णसेवा में लगा सकता है। ये कतिपय उदाहरण हैं, जिस तरह कृष्णकर्म में लगा जा सकता है।

मत्परमः शब्द उस व्यक्ति के लिए आता है जो अपने जीवन का परमलक्ष्य, भगवान् कृष्ण के परमधाम में उनकी संगति करना मानता है। ऐसा व्यक्ति चन्द्र, सूर्य या स्वर्ग जैसे उच्चतर लोकों में अथवा इस ब्रह्माण्ड के उच्चतम स्थान ब्रह्मलोक तक में भी जाने का इच्छुक नहीं रहता। उसे इसकी तनिक भी इच्छा नहीं रहती। उसकी आसक्ति तो आध्यात्मिक आकाश में जाने में रहती है। आध्यात्मिक आकाश में भी वह ब्रह्मज्योति से तादात्म्य प्राप्त करके भी संतुष्ट नहीं रहता, क्योंकि वह तो सर्वोच्च आध्यात्मिक लोक में जाना चाहता है, जिसे कृष्णलोक या गोलोक वृन्दावन कहते हैं। उसे उस लोक का पूरा ज्ञान रहता है, अतः वह अन्य किसी लोक को नहीं चाहता। जैसा कि *मद्भक्तः* शब्द से सूचित होता है, वह भक्ति में पूर्णतया रत रहता है। विशेष रूप से वह श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—भक्ति के इन नौ साधनों में लगा रहता है। मनुष्य चाहे तो इन नवों साधनों में रत रह सकता है अथवा आठ में, सात में, नहीं तो कम से कम एक में तो रत रह सकता है। तब वह निश्चित रूप से कृतार्थ हो जाएगा।

सङ्ग-वर्जितः शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य को चाहिए कि ऐसे लोगों से सम्बन्ध तोड़ ले जो कृष्ण के विरोधी हैं। न केवल नास्तिक लोग कृष्ण के विरुद्ध रहते हैं, अपितु वे भी हैं, जो सकाम कर्मों तथा मनोधर्म के प्रति आसक्त रहते हैं। अतः *भक्तिरसामृत सिन्धु* में (१.१.११) शुद्धभक्ति का वर्णन इस प्रकार हुआ है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

इस श्लोक में श्रील रूप गोस्वामी स्पष्ट कहते हैं कि यदि कोई अनन्य भक्ति करना चाहता है, तो उसे समस्त प्रकार के भौतिक कल्मष से मुक्त होना चाहिए। उसे ऐसे व्यक्तियों से दूर रहना चाहिए जो सकामकर्म तथा मनोधर्म में आसक्त हैं। ऐसी अवांछित संगति तथा भौतिक इच्छाओं के कल्मष से मुक्त होने पर ही वह कृष्ण ज्ञान का अनुशीलन कर सकता है, जिसे शुद्ध भक्ति कहते हैं। *आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्* (हरि भक्ति विलास ११.६७६)। मनुष्य को चाहिए कि अनुकूल भाव से कृष्ण के विषय

में सोचे और उन्हीं के लिए कर्म करे, प्रतिकूल भाव से नहीं। कंस कृष्ण का शत्रु था। वह कृष्ण के जन्म से ही उन्हें मारने की तरह-तरह की योजनाएँ बनाता रहा। किन्तु असफल होने के कारण वह सदैव कृष्ण का चिन्तन करता रहा। इस तरह सोते जगते, काम करते वह सदैव कृष्णभावनाभावित रहा, किन्तु उसकी वह कृष्णभावना अनुकूल न थी, अतः चौबीस घंटे कृष्ण का चिन्तन करते रहने पर भी वह असुर ही माना जाता रहा और अन्त में कृष्ण द्वारा मार डाला गया। निस्सन्देह कृष्ण द्वारा वध किये गये व्यक्ति को तुरन्त मोक्ष मिल जाता है, किन्तु शुद्धभक्त का उद्देश्य यह नहीं है। शुद्धभक्त तो मोक्ष की भी कामना नहीं करता। वह सर्वोच्चलोक, गोलोक वृन्दावन भी नहीं जाना चाहता। उसका एकमात्र उद्देश्य कृष्ण की सेवा करना है, चाहे वह जहाँ भी रहे।

कृष्णभक्त प्रत्येक से मैत्रीभाव रखता है। इसीलिए यहाँ उसे *निर्वैरः* कहा गया है अर्थात् उसका कोई शत्रु नहीं होता। यह कैसे सम्भव है? कृष्णभावनामृत में स्थित भक्त जानता है कि कृष्ण की भक्ति ही मनुष्य को जीवन की समस्त समस्याओं से छुटकारा दिला सकती है। उसे इसका व्यक्तिगत अनुभव रहता है। फलतः वह इस प्रणाली को—कृष्णभावनामृत को—मानव समाज में प्रचारित करना चाहता है। भगवद्भक्तों का इतिहास साक्षी है कि ईश्वर चेतना का प्रचार करने में कई बार भक्तों को अपने जीवन को संकटों में डालना पड़ा। सबसे उपयुक्त उदाहरण जीसस क्राइस्ट का है। उन्हें अभक्तों ने शूली पर चढ़ा दिया, किन्तु उन्होंने अपना जीवन कृष्णभावनामृत के प्रसार में उत्सर्ग किया। निस्सन्देह यह कहना कि वे मारे गये ठीक नहीं है। इसी प्रकार भारत में भी अनेक उदाहरण हैं, यथा प्रह्लाद महाराज तथा ठाकुर हरिदास। ऐसा संकट उन्होंने क्यों उठाया? क्योंकि वे कृष्णभावनामृत का प्रसार करना चाहते थे और यह कठिन कार्य है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति जानता है कि मनुष्य कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को भूलने के कारण ही कष्ट भोग रहा है। अतः मानव समाज की सबसे बड़ी सेवा होगी कि अपने पड़ोसी को समस्त भौतिक समस्याओं से उबारा जाय। इस प्रकार शुद्धभक्त भगवान् की सेवा में लगा रहता है। तभी हम समझ सकते हैं कि कृष्ण उन लोगों पर कितने कृपालु हैं, जो उनकी सेवा में लगे रहकर उनके लिए सभी प्रकार के कष्ट सहते हैं। अतः यह निश्चित है कि ऐसे लोग इस शरीर को छोड़ने के बाद परमधाम को प्राप्त होते हैं।

सारांश यह कि कृष्ण ने अपने क्षणभंगुर विश्वरूप के साथ-साथ काल रूप को जो सब कुछ भक्षण करने वाला है और यहाँ तक कि चतुर्भुज विष्णुरूप को भी दिखलाया। इस तरह कृष्ण इन समस्त स्वरूपों के उद्गम हैं। ऐसा नहीं है कि वे आदि विश्वरूप या विष्णु की ही अभिव्यक्ति हैं। वे समस्त रूपों के उद्गम हैं। विष्णु तो हजारों लाखों हैं, लेकिन भक्त के लिए कृष्ण का कोई अन्य रूप उतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितना कि मूल दोभुजी श्यामसुन्दर रूप। *ब्रह्मसंहिता* में कहा गया है कि जो प्रेम या भक्तिभाव से कृष्ण के श्यामसुन्दर रूप के प्रति आसक्त हैं, वे सदैव उन्हें अपने हृदय में देख सकते हैं, और कुछ भी नहीं देख सकते। अतः मनुष्य को समझ लेना चाहिए कि इस ग्यारहवें अध्याय का तात्पर्य यही है कि कृष्ण का रूप ही सर्वोपरि है एवं परम सार है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के ग्यारहवें अध्याय "विराट रूप" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*

अध्याय बारह



भक्तियोग

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अर्जुनः उवाच–अर्जुन ने कहा; एवम्–इस प्रकार; सतत–निरन्तर; युक्ताः–तत्पर; ये–जो; भक्ताः–भक्तगण; त्वाम्–आपको; पर्युपासते–ठीक से पूजते हैं; ये–जो; च–भी; अपि–पुनः; अक्षरम्–इन्द्रियों से परे; अव्यक्तम्–अप्रकट को; तेषाम्–उनमें से; के–कौन; योगवित्-तमाः–योगविद्या में अत्यन्त निपुण।

अर्जुन ने पूछा—जो आपकी सेवा में सदैव तत्पर रहते हैं, या जो अव्यक्त निर्विशेष ब्रह्म की पूजा करते हैं, इन दोनों में से किसे अधिक पूर्ण (सिद्ध) माना जाय?

तात्पर्य : अब तक कृष्ण साकार, निराकार एवं सर्वव्यापकत्व को समझा चुके हैं और सभी प्रकार के भक्तों और योगियों का भी वर्णन कर चुके हैं। सामान्यतः अध्यात्मवादियों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–निर्विशेषवादी तथा सगुणवादी। सगुणवादी भक्त अपनी सारी शक्ति से परमेश्वर की सेवा करता है। निर्विशेषवादी भी

में सोचे और उन्हीं के लिए कर्म करे, प्रतिकूल भाव से नहीं। कंस कृष्ण का शत्रु था। वह कृष्ण के जन्म से ही उन्हें मारने की तरह-तरह की योजनाएँ बनाता रहा। किन्तु असफल होने के कारण वह सदैव कृष्ण का चिन्तन करता रहा। इस तरह सोते जगते, काम करते वह सदैव कृष्णभावनाभावित रहा, किन्तु उसकी वह कृष्णभावना अनुकूल न थी, अतः चौबीस घंटे कृष्ण का चिन्तन करते रहने पर भी वह असुर ही माना जाता रहा और अन्त में कृष्ण द्वारा मार डाला गया। निस्सन्देह कृष्ण द्वारा वध किये गये व्यक्ति को तुरन्त मोक्ष मिल जाता है, किन्तु शुद्धभक्त का उद्देश्य यह नहीं है। शुद्धभक्त तो मोक्ष की भी कामना नहीं करता। वह सर्वोच्चलोक, गोलोक वृन्दावन भी नहीं जाना चाहता। उसका एकमात्र उद्देश्य कृष्ण की सेवा करना है, चाहे वह जहाँ भी रहे।

कृष्णभक्त प्रत्येक से मैत्रीभाव रखता है। इसीलिए यहाँ उसे *निर्वैरः* कहा गया है अर्थात् उसका कोई शत्रु नहीं होता। यह कैसे सम्भव है? कृष्णभावनामृत में स्थित भक्त जानता है कि कृष्ण की भक्ति ही मनुष्य को जीवन की समस्त समस्याओं से छुटकारा दिला सकती है। उसे इसका व्यक्तिगत अनुभव रहता है। फलतः वह इस प्रणाली को—कृष्णभावनामृत को—मानव समाज में प्रचारित करना चाहता है। भगवद्भक्तों का इतिहास साक्षी है कि ईश्वर चेतना का प्रचार करने में कई बार भक्तों को अपने जीवन को संकटों में डालना पड़ा। सबसे उपयुक्त उदाहरण जीसस क्राइस्ट का है। उन्हें अभक्तों ने शूली पर चढ़ा दिया, किन्तु उन्होंने अपना जीवन कृष्णभावनामृत के प्रसार में उत्सर्ग किया। निस्सन्देह यह कहना कि वे मारे गये ठीक नहीं है। इसी प्रकार भारत में भी अनेक उदाहरण हैं, यथा प्रह्लाद महाराज तथा ठाकुर हरिदास। ऐसा संकट उन्होंने क्यों उठाया? क्योंकि वे कृष्णभावनामृत का प्रसार करना चाहते थे और यह कठिन कार्य है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति जानता है कि मनुष्य कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को भूलने के कारण ही कष्ट भोग रहा है। अतः मानव समाज की सबसे बड़ी सेवा होगी कि अपने पड़ोसी को समस्त भौतिक समस्याओं से उबारा जाय। इस प्रकार शुद्धभक्त भगवान् की सेवा में लगा रहता है। तभी हम समझ सकते हैं कि कृष्ण उन लोगों पर कितने कृपालु हैं, जो उनकी सेवा में लगे रहकर उनके लिए सभी प्रकार के कष्ट सहते हैं। अतः यह निश्चित है कि ऐसे लोग इस शरीर को छोड़ने के बाद परमधाम को प्राप्त होते हैं।

सारांश यह कि कृष्ण ने अपने क्षणभंगुर विश्वरूप के साथ-साथ काल रूप को जो सब कुछ भक्षण करने वाला है और यहाँ तक कि चतुर्भुज विष्णुरूप को भी दिखलाया। इस तरह कृष्ण इन समस्त स्वरूपों के उद्गम हैं। ऐसा नहीं है कि वे आदि विश्वरूप या विष्णु की ही अभिव्यक्ति हैं। वे समस्त रूपों के उद्गम हैं। विष्णु तो हजारों लाखों हैं, लेकिन भक्त के लिए कृष्ण का कोई अन्य रूप उतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितना कि मूल दोभुजी श्यामसुन्दर रूप। *ब्रह्मसंहिता* में कहा गया है कि जो प्रेम या भक्तिभाव से कृष्ण के श्यामसुन्दर रूप के प्रति आसक्त हैं, वे सदैव उन्हें अपने हृदय में देख सकते हैं, और कुछ भी नहीं देख सकते। अतः मनुष्य को समझ लेना चाहिए कि इस ग्यारहवें अध्याय का तात्पर्य यही है कि कृष्ण का रूप ही सर्वोपरि है एवं परम सार है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय "विराट रूप" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।

अध्याय बारह



भक्तियोग

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अर्जुनः उवाच–अर्जुन ने कहा, एवम्–इस प्रकार, सतत–निरन्तर, युक्ताः–तत्पर ये–जो भक्ताः–भक्तगण; त्वाम्–आपको; पर्युपासते–ठीक से पूजते हैं, ये–जो, च–भी अपि–पुन अक्षरम्–इन्द्रियों से परे, अव्यक्तम्–अप्रकट को, तेषाम्–उनमें से, के–कौन योगवित्-तमाः–योगविद्या में अत्यन्त निपुण।

अर्जुन ने पूछा—जो आपकी सेवा में सदैव तत्पर रहते हैं, या जो अव्यक्त निर्विशेष ब्रह्म की पूजा करते हैं, इन दोनों में से किसे अधिक पूर्ण (सिद्ध) माना जाय?

तात्पर्य : अब तक कृष्ण साकार, निराकार एवं सर्वव्यापकत्व को समझा चुके हैं और सभी प्रकार के भक्तों और योगियों का भी वर्णन कर चुके हैं। सामान्यतः अध्यात्मवादियों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–निर्विशेषवादी तथा सगुणवादी। सगुणवादी भक्त अपनी सारी शक्ति से परमेश्वर की सेवा करता है। निर्विशेषवादी भी

कृष्ण की सेवा करता है, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से न करके वह अप्रत्यक्ष निर्विशेष ब्रह्म का ध्यान करता है।

इस अध्याय में हम देखेंगे कि परम सत्य की अनुभूति की विभिन्न विधियों में भक्तियोग सर्वोत्कृष्ट है। यदि कोई भगवान् का सान्निध्य चाहता है, तो उसे भक्ति करनी चाहिए।

जो लोग भक्ति के द्वारा परमेश्वर की प्रत्यक्ष सेवा करते हैं, वे सगुणवादी कहलाते हैं। जो लोग निर्विशेष ब्रह्म का ध्यान करते हैं, वे निर्विशेषवादी कहलाते हैं। यहाँ पर अर्जुन पूछता है कि इन दोनों में से कौन श्रेष्ठ है। यद्यपि परम सत्य के साक्षात्कार के अनेक साधन हैं, किन्तु इस अध्याय में कृष्ण भक्तियोग को सबों में श्रेष्ठ बताते हैं। यह सर्वाधिक प्रत्यक्ष है और ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए सबसे सुगम साधन है।

भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में भगवान् ने बताया है कि जीव भौतिक शरीर नहीं है, वह आध्यात्मिक स्फुलिंग है और परम सत्य परम पूर्ण है। सातवें अध्याय में उन्होंने जीव को परम पूर्ण का अंश बताते हुए पूर्ण पर ही ध्यान लगाने की सलाह दी है। पुनः आठवें अध्याय में कहा है कि जो मनुष्य भौतिक शरीर का त्याग करते समय कृष्ण का ध्यान करता है, वह कृष्ण के धाम को तुरन्त चला जाता है। यही नहीं, छठे अध्याय के अन्त में भगवान् स्पष्ट कहते हैं, कि योगियों में से, जो भी अपने अन्तःकरण में निरन्तर कृष्ण का चिन्तन करता है, वही परम सिद्ध माना जाता है। इस प्रकार प्रायः प्रत्येक अध्याय का यही निष्कर्ष है कि मनुष्य को कृष्ण के सगुण रूप के प्रति अनुरक्त होना चाहिए, क्योंकि वही चरम आत्म-साक्षात्कार है।

इतने पर भी ऐसे लोग हैं जो कृष्ण के साकार रूप के प्रति अनुरक्त नहीं होते। वे दृढ़तापूर्वक विलग रहते है यहाँ तक कि *भगवद्गीता* की टीका करते हुए भी वे अन्य लोगों को कृष्ण से हटाना चाहते हैं, और उनकी सारी भक्ति निर्विशेष ब्रह्मज्योति की ओर मोड़ते हैं। वे परम सत्य के उस निराकार रूप का ही ध्यान करना श्रेष्ठ मानते हैं, जो इन्द्रियों की पहुँच के परे है तथा अप्रकट है।

इस तरह सचमुच में अध्यात्मवादियों की दो श्रेणियाँ हैं। अब अर्जुन यह निश्चित कर लेना चाहता है कि कौन-सी विधि सुगम है, और इन दोनों श्रेणियों में से कौन सर्वाधिक पूर्ण है। दूसरे शब्दों में, वह अपनी स्थिति स्पष्ट कर लेना चाहता है, क्योंकि वह कृष्ण के सगुण रूप के प्रति अनुरक्त है। वह निराकार ब्रह्म के प्रति आसक्त नहीं है। वह जान लेना चाहता है कि उसकी स्थिति सुरक्षित तो है! निराकार स्वरूप, चाहे इस लोक में हो चाहे भगवान् के परम लोक में हो, ध्यान के लिए समस्या बना रहता है। वास्तव में कोई भी परम सत्य के निराकार रूप का ठीक से चिन्तन नहीं कर सकता। अतः अर्जुन कहना चाहता है कि इस तरह से समय गँवाने से क्या लाभ? अर्जुन को ग्यारहवें अध्याय में अनुभव हो चुका है कि कृष्ण के साकार रूप के प्रति आसक्त होना श्रेष्ठ है, क्योंकि इस तरह वह एक ही समय अन्य सारे रूपों को समझ सकता है और कृष्ण के प्रति उसके प्रेम में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं पड़ता। अतः अर्जुन द्वारा कृष्ण से इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के पूछे जाने से परमसत्य के निराकार तथा साकार स्वरूपों का अन्तर स्पष्ट हो जाएगा।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥२॥

श्रीभगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा, मयि—मुझमें, आवेश्य—स्थिर करके, मनः—मन को, ये—जो, माम्—मुझको, नित्य—सदा, युक्ताः—लगे हुए, उपासते—पूजा करते हैं, श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक, परया—दिव्य, उपेताः—प्रदत्त, ते—वे, मे—मेरे द्वारा, युक्त-तमाः—योग में परम सिद्ध, मताः—माने जाते हैं।

श्रीभगवान् ने कहा—जो लोग अपने मन को मेरे साकार रूप में एकाग्र करते हैं, और अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मेरी पूजा करने में सदैव लगे रहते हैं, वे मेरे द्वारा परम सिद्ध माने जाते हैं।

तात्पर्य : अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि जो व्यक्ति उनके साकार रूप में अपने मन को एकाग्र करता है, और जो अत्यन्त श्रद्धा तथा नियमपूर्वक उनको पूजता है, उसे योग में परम सिद्ध मानना चाहिए। जो इस प्रकार कृष्णभावनाभावित होता है, उसके लिए कोई भी भौतिक कार्यकलाप नहीं रह जाते, क्योंकि हर कार्य कृष्ण के लिए किया जाता है। शुद्ध भक्त निरन्तर कार्यरत रहता है—कभी कीर्तन करता है, तो कभी श्रवण करता है, या कृष्ण विषयक कोई पुस्तक पढ़ता है, या कभी-कभी प्रसाद तैयार करता है या बाजार से कृष्ण के लिए कुछ मोल लाता है, या कभी मन्दिर झाड़ता-बुहारता है, तो कभी बर्तन धोता है। वह जो कुछ भी करता है, कृष्ण सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में एक क्षण भी नहीं गँवाता। ऐसा कार्य पूर्ण समाधि कहलाता है।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥३॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥४॥

ये—जो, तु—लेकिन, अक्षरम्—इन्द्रिय अनुभूति से परे, अनिर्देश्यम्—अनिश्चित, अव्यक्तम्—अप्रकट, पर्युपासते—पूजा करने में पूर्णतया संलग्न, सर्वत्र-गम्—सर्वव्यापी, अचिन्त्यम्—अकल्पनीय, च—भी, कूट-स्थम्—अपरिवर्तित, अचलम्—स्थिर, ध्रुवम्—निश्चित, सन्नियम्य—वश में करके, इन्द्रिय-ग्रामम्—सारी इन्द्रियों को, सर्वत्र—सभी स्थानों में, सम-बुद्धयः—समदर्शी, ते—वे, प्राप्नुवन्ति—प्राप्त करते हैं, माम्—मुझको, एव—निश्चय ही, सर्व-भूत-हिते—समस्त जीवों के कल्याण के लिए, रताः—संलग्न।

लेकिन जो लोग अपनी इन्द्रियों को वश में करके तथा सबों के प्रति समभाव रखकर परम सत्य की निराकार कल्पना के अन्तर्गत उस अव्यक्त की पूरी तरह से पूजा करते हैं, जो इन्द्रियों की अनुभूति के परे है, सर्वव्यापी है, अकल्पनीय

अपरिवर्तनीय है, अचल तथा ध्रुव है, वे समस्त लोगों के कल्याण में संलग्न रहकर अन्ततः मुझे प्राप्त करते है।

तात्पर्य : जो लोग भगवान् कृष्ण की प्रत्यक्ष पूजा न करके, अप्रत्यक्ष विधि से उसी उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, वे भी अन्ततः श्रीकृष्ण को प्राप्त होते हैं। "अनेक जन्मों के वाद वुद्धिमान व्यक्ति वासुदेव को ही सव कुछ जानते हुए मेरी शरण में आता है।" जव मनुष्य को अनेक जन्मों के वाद पूर्ण ज्ञान होता है, तो वह कृष्ण की शरण ग्रहण करता है। यदि कोई इस श्लोक में वताई गई विधि से भगवान् के पास पहुँचता है, तो उसे इन्द्रियनिग्रह करना होता है, प्रत्येक प्राणी की सेवा करनी होती है, और समस्त जीवों के कल्याण-कार्य में रत होना होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य को भगवान् कृष्ण के पास पहुँचना ही होता है, अन्यथा पूर्ण साक्षात्कार नहीं हो पाता। प्रायः भगवान् की शरण में जाने के पूर्व पर्याप्त तपस्या करनी होती है।

आत्मा के भीतर परमात्मा का दर्शन करने के लिए मनुष्य को देखना, सुनना, स्वाद लेना, कार्य करना आदि ऐन्द्रिय कार्यों को वन्द करना होता है। तभी वह यह जान पाता है कि परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है। ऐसी अनुभूति होने पर वह किसी जीव से ईर्ष्या नहीं करता—उसे मनुष्य तथा पशु में कोई अन्तर नहीं दिखता, क्योंकि वह केवल आत्मा का दर्शन करता है, वाह्य आवरण का नहीं। लेकिन सामान्य व्यक्ति के लिए निराकार अनुभूति की यह विधि अत्यन्त कठिन सिद्ध होती है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

क्लेशः—कष्ट; **अधिकतरः**—अत्यधिक; **तेषाम्**—उन; **अव्यक्त**—अव्यक्त के प्रति; **आसक्त**—अनुरक्त; **चेतसाम्**—मन वालों का; **अव्यक्ता**—अव्यक्त की ओर; **हि**—निश्चय ही; **गतिः**—प्रगति; **दुःखम्**—दुख के साथ; **देह-वद्भिः**—देहधारी के द्वारा; **अवाप्यते**—प्राप्त किया जाता है।

जिन लोगों के मन परमेश्वर के अव्यक्त, निराकार स्वरूप के प्रति आसक्त हैं, उनके लिए प्रगति कर पाना अत्यन्त कष्टप्रद है। देहधारियों के लिए उस क्षेत्र में प्रगति कर पाना सदैव दुष्कर होता है।

तात्पर्य : अध्यात्मवादियों का समूह, जो परमेश्वर के अचिन्त्य, अव्यक्त, निराकार स्वरूप के पथ का अनुसरण करता है, ज्ञान-योगी कहलाता है, ओर जो व्यक्ति भगवान् की भक्ति में रत रहकर पूर्ण कृष्णभावनामृत में रहते हैं, वे भक्ति-योगी कहलाते हैं। यहाँ पर ज्ञान-योग तथा भक्ति-योग में निश्चित अन्तर वताया गया है। ज्ञान-योग का पथ यद्यपि मनुष्य को उसी लक्ष्य तक पहुँचाता है, किन्तु है अत्यन्त कष्टकारक, जव कि भक्ति-योग भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा होने के कारण सुगम है, और देहधारी के लिए स्वाभाविक भी है। जीव अनादि काल से देहधारी है। सैद्धान्तिक रूप से उसके लिए यह समझ पाना अत्यन्त कठिन है कि वह शरीर नहीं है। अतएव भक्ति-योगी कृष्ण के विग्रह को पूज्य मानता है, क्योंकि उसके मन में कोई न कोई शारीरिक वोध रहता है, जिसे इस रूप में

प्रयुक्त किया जा सकता है। निस्सन्देह मन्दिर में परमेश्वर के स्वरूप की पूजा मूर्तिपूजा नहीं है। वैदिक साहित्य में साक्ष्य मिलता है कि पूजा *सगुण* तथा *निर्गुण* हो सकती है। मन्दिर में विग्रह-पूजा सगुण पूजा है, क्योंकि भगवान् को भौतिक गुणों के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। लेकिन भगवान् के स्वरूप को चाहे पत्थर, लकड़ी या तैलचित्र जैसे भौतिक गुणों द्वारा क्यों न अभिव्यक्त किया जाय वह वास्तव में भौतिक नहीं होता। परमेश्वर की यही परम प्रकृति है।

यहाँ पर एक मोटा उदाहरण दिया जा सकता है। सड़कों के किनारे पत्रपेटिकाएँ होती हैं, जिनमें यदि हम अपने पत्र डाल दें, तो वे बिना किसी कठिनाई के अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाते हैं। लेकिन यदि कोई ऐसी पुरानी पेटिका; या उसकी अनुकृति कहीं दिखे, जो डाकघर द्वारा स्वीकृत न हो, तो उससे वही कार्य नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार ईश्वर ने विग्रहरूप में, जिसे अर्चा-विग्रह कहते हैं, अपना प्रामाणिक (वैध) स्वरूप बना रखा है। यह अर्चा-विग्रह परमेश्वर का अवतार होता है। ईश्वर इसी स्वरूप के माध्यम से सेवा स्वीकार करते हैं। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं, अतएव वे अर्चा-विग्रह रूपी अपने अवतार से भक्त की सेवाएँ स्वीकार कर सकते हैं, जिससे बद्ध जीवन वाले मनुष्य को सुविधा हो।

इस प्रकार भक्त को भगवान् के पास सीधे और तुरन्त ही पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं होती, लेकिन जो लोग आध्यात्मिक साक्षात्कार के लिए निराकार विधि का अनुसरण करते हैं, उनके लिए यह मार्ग कठिन है। उन्हें उपनिषदों जैसे वैदिक साहित्य के माध्यम से अव्यक्त स्वरूप को समझना होता है, उन्हें भाषा सीखनी होती है, इन्द्रियातीत अनुभूतियों को समझना होता है, और इन समस्त विधियों का ध्यान रखना होता है। यह सब एक सामान्य व्यक्ति के लिए सुगम नहीं होता। कृष्णभावनामृत में भक्तिरत मनुष्य मात्र गुरु के पथप्रदर्शन द्वारा, मात्र अर्चाविग्रह के नियमित नमस्कार द्वारा, मात्र भगवान् *की महिमा के श्रवण द्वारा तथा मात्र भगवान् पर चढ़ाये गये उच्छिष्ट भोजन को खाने* से भगवान् को सरलता से समझ लेता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि निर्विशेषवादी व्यर्थ ही कष्टकारक पथ को ग्रहण करते हैं, जिसमें अन्ततः परम सत्य का साक्षात्कार संदिग्ध बना रहता है। किन्तु सगुणवादी बिना किसी संकट, कष्ट या कठिनाई के भगवान् के पास सीधे पहुँच जाते हैं। ऐसा ही सन्दर्भ *श्रीमद्भागवत* में पाया जाता है। वहाँ यह कहा गया है कि यदि अन्ततः भगवान् की शरण में जाना ही है (इस शरण जाने की क्रिया को भक्ति कहते हैं) तो यदि कोई, ब्रह्म क्या है और क्या नहीं है, इसी को समझने का कष्ट आजीवन उठाता रहता है, तो इसका परिणाम अत्यन्त कष्टकारक होता है। अतएव यहाँ पर यह उपदेश दिया गया है कि आत्म-साक्षात्कार के इस कष्टप्रद मार्ग को ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि अन्तिम फल अनिश्चित रहता है।

जीव शाश्वत रूप से व्यष्टि आत्मा है और यदि वह आध्यात्मिक पूर्ण में तदाकार होना चाहता है तो वह अपनी मूल प्रकृति के शाश्वत (सत्) तथा ज्ञेय (चित्) पक्षों का साक्षात्कार तो कर सकता है, लेकिन आनन्दमय अंश की प्राप्ति नहीं हो पाती। ऐसा अध्यात्मवादी जो ज्ञानयोग में अत्यन्त विद्वान होता है, किसी भक्त के अनुग्रह से भक्तियोग को प्राप्त होता है। उस समय निराकारवाद का दीर्घ अभ्यास कष्ट का कारण बन जाता

है, क्योंकि वह उस विचार को त्याग नहीं पाता। अतएव देहधारी जीव, अभ्यास के समय या साक्षात्कार के समय, अव्यक्त की प्राप्ति में सदैव कठिनाई में पड़ जाता है। प्रत्येक जीव अंशतः स्वतन्त्र है और उसे यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि यह अव्यक्त अनुभूति उसके आध्यात्मिक आनन्दमय आत्म (स्व) की प्रकृति के विरुद्ध है। मनुष्य को चाहिए कि इस विधि को न अपनाये। प्रत्येक जीव के लिए कृष्णचेतना की विधि श्रेष्ठ मार्ग है, जिसमें भक्ति में पूरी तरह व्यस्त रहना होता है। यदि कोई भक्ति की उपेक्षा करना चाहता है, तो नास्तिक होने का संकट रहता है। अतएव अव्यक्त विषयक एकाग्रता की विधि को, जो इन्द्रियों की पहुँच के परे है, जैसा कि इस श्लोक में पहले कहा जा चुका है, इस युग में प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए। भगवान् कृष्ण ने इसका उपदेश नहीं दिया।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ ६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७॥

ये–जो; **तु**–लेकिन; **सर्वाणि**–समस्त; **कर्माणि**–कर्मों को; **मयि**–मुझमें; **संन्यस्य**–त्याग कर; **मत्-पराः**–मुझमें आसक्त; **अनन्येन**–अनन्य; **एव**–निश्चय ही; **योगेन**–ऐसे भक्तियोग के अभ्यास से; **माम्**–मुझको; **ध्यायन्तः**–ध्यान करते हुए; **उपासते**–पूजा करते हैं; **तेषाम्**–उनका; **अहम्**–मैं; **समुद्धर्ता**–उद्धारक; **मृत्यु**–मृत्यु के; **संसार**–संसार रूपी; **सागरात्**–समुद्र से; **भवामि**–होता हूँ; **न**–नहीं; **चिरात्**–दीर्घकाल के बाद; **पार्थ**–हे पृथापुत्र; **मयि**–मुझ पर; **आवेशित**–स्थिर; **चेतसाम्**–मन वालों को।

जो अपने सारे कार्यों को मुझमें अर्पित करके तथा अविचलित भाव से मेरी भक्ति करते हुए मेरी पूजा करते हैं और अपने चित्तों को मुझ पर स्थिर करके निरन्तर मेरा ध्यान करते हैं, उनके लिए हे पार्थ! मैं जन्म-मृत्यु के सागर से शीघ्र उद्धार करने वाला हूँ।

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भक्तजन अत्यन्त भाग्यशाली हैं कि भगवान् उनका इस भवसागर से तुरन्त ही उद्धार कर देते हैं। शुद्ध भक्ति करने पर मनुष्य को इसकी अनुभूति होने लगती है कि ईश्वर महान हैं और जीवात्मा उनके अधीन है। उसका कर्तव्य है कि वह भगवान् की सेवा करे और यदि वह ऐसा नहीं करता, तो उसे माया की सेवा करनी होगी।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि केवल भक्ति से परमेश्वर को जाना जा सकता है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह पूर्ण रूप से भक्त बने। भगवान् को प्राप्त करने के लिए वह अपने मन को कृष्ण में पूर्णतया एकाग्र करे। वह कृष्ण के लिए ही कर्म करे। चाहे वह जो भी कर्म करे लेकिन वह कर्म केवल कृष्ण के लिए होना चाहिए। भक्ति का यही आदर्श है। भक्त भगवान् को प्रसन्न करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहता। उसके जीवन का उद्देश्य कृष्ण को प्रसन्न करना होता है और कृष्ण की तुष्टि के लिए

यह सब कुछ उत्सर्ग कर सकता है जिस प्रकार अर्जुन ने कुरुक्षेत्र के युद्ध में किया था। यह विधि अत्यन्त सरल है। मनुष्य अपने कार्य में लगा रह कर *हरे कृष्ण* महामन्त्र का कीर्तन कर सकता है। ऐसे दिव्य कीर्तन से भक्त भगवान् के प्रति आकृष्ट हो जाता है।

यहाँ पर भगवान् वचन देते हैं कि वे ऐसे शुद्ध भक्त का तुरन्त ही भवसागर से उद्धार कर देंगे। जो योगाभ्यास में बढ़े चढ़े हैं, वे योग द्वारा अपनी आत्मा को इच्छानुसार किसी भी लोक में ले जा सकते हैं और अन्य लोग इस अवसर को विभिन्न प्रकार से उपयोग में लाते हैं, लेकिन जहाँ तक भक्त का सम्बन्ध है, उसके लिए यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि स्वयं भगवान् ही उसे ले जाते हैं। भक्त को वैकुण्ठ में जाने के पूर्व अनुभवी बनने के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। *वराह पुराण* में एक श्लोक आया है—

नयामि परमं स्थानमर्चिरादिगतिं विना।
गरुडस्कन्धमारोप्य यथेच्छमनिवारितः॥

तात्पर्य यह है कि वैकुण्ठलोक में आत्मा को ले जाने के लिए भक्त को अष्टांगयोग साधने की आवश्यकता नहीं है। इसका भार भगवान् स्वयं अपने ऊपर लेते हैं। वे यहाँ पर स्पष्ट कह रहे हैं कि वे स्वयं ही उद्धारक बनते हैं। बालक अपने माता-पिता द्वारा अपने आप रक्षित होता रहता है, जिससे उसकी स्थिति सुरक्षित रहती है। इसी प्रकार भक्त को योगाभ्यास द्वारा अन्य लोकों में जाने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती, अपितु भगवान् अपने अनुग्रहवश स्वयं ही अपने पक्षीवाहन गरुड़ पर सवार होकर तुरन्त आते हैं और भक्त को भवसागर से उबार लेते हैं। कोई कितना ही कुशल तैराक क्यों न हो, और कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, किन्तु समुद्र में गिर जाने पर वह अपने को नहीं बचा सकता। किन्तु यदि कोई आकर उसे जल से बाहर निकाल ले, तो वह आसानी से बच जाता है। इसी प्रकार भगवान् भक्त को इस भवसागर से निकाल लेते हैं। *मनुष्य को केवल कृष्णभावनामृत की सुगम विधि का अभ्यास करना होता है,* और अपने आपको अनन्य भक्ति में प्रवृत्त करना होता है। किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह अन्य समस्त मार्गों की अपेक्षा भक्तियोग को चुने।

नारायणीय में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—

या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये।
तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः॥

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि मनुष्य को चाहिए कि वह न तो सकाम कर्म की विभिन्न विधियों में उलझे, न ही कोरे चिन्तन से ज्ञान का अनुशीलन करे। जो परम भगवान् की भक्ति में लीन है, वह उन समस्त लक्ष्यों को प्राप्त करता है जो अन्य योग विधियों, चिन्तन, अनुष्ठानों, यज्ञों, दानपुण्यों आदि से प्राप्त होने वाले हैं। भक्ति का यही विशेष वरदान है।

केवल कृष्ण के पवित्र नाम—*हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे*—का कीर्तन करने से ही भक्त सरलता तथा सुखपूर्वक परम धाम को पहुँच सकता है। लेकिन इस धाम को अन्य किसी धार्मिक विधि द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता।

भगवद्गीता का निष्कर्ष अठारहवें अध्याय में इस प्रकार व्यक्त हुआ है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

आत्म-साक्षात्कार की अन्य समस्त विधियों को त्याग कर केवल कृष्णभावनामृत में भक्ति सम्पन्न करनी चाहिए। इससे जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। मनुष्य को अपने गत जीवन के पाप कर्मों पर विचार करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि उसका उत्तरदायित्व भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। अतएव मनुष्य को व्यर्थ ही आध्यात्मिक अनुभूति में अपने उद्धार का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह परम शक्तिमान ईश्वर कृष्ण की शरण ग्रहण करे। यही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥८॥

मयि—मुझमें; **एव**—निश्चय ही; **मनः**—मन को; **आधत्स्व**—स्थिर करो; **मयि**—मुझमें; **बुद्धिम्**—बुद्धि को; **निवेशय**—लगाओ; **निवसिष्यसि**—तुम निवास करोगे; **मयि**—मुझमें; **एव**—निश्चय ही; **अतःऊर्ध्वम्**—तत्पश्चात्; **न**—कभी नहीं; **संशयः**—सन्देह।

मुझ भगवान् में अपने चित्त को स्थिर करो और अपनी सारी बुद्धि मुझमें लगाओ। इस प्रकार तुम निस्सन्देह मुझमें सदैव वास करोगे।

तात्पर्य : जो भगवान् कृष्ण की भक्ति में रत रहता है, उसका परमेश्वर के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। अतएव इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं कि प्रारम्भ से ही उसकी स्थिति दिव्य होती है। भक्त कभी भौतिक धरातल पर नहीं रहता—वह सदैव कृष्ण में वास करता है। भगवान् का पवित्र नाम तथा भगवान् अभिन्न हैं। अतः जब भक्त *हरे कृष्ण* कीर्तन करता है, तो कृष्ण तथा उनकी अन्तरंगाशक्ति भक्त की जिह्वा पर नाचते रहते हैं। जब वह कृष्ण को भोग चढ़ाता है, तो कृष्ण प्रत्यक्ष रूप से उसे ग्रहण करते हैं और इस तरह भक्त इस उच्छिष्ट (जूठन) को खाकर कृष्णमय हो जाता है। जो इस प्रकार सेवा में नहीं लगता, वह नहीं समझ पाता कि यह सब कैसे होता है, यद्यपि *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक ग्रंथों में इसी विधि की संस्तुति की गई है।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥९॥

अथ—यदि, अतः; **चित्तम्**—मन को; **समाधातुम्**—स्थिर करने में; **न**—नहीं; **शक्नोषि**—समर्थ नहीं हो; **मयि**—मुझ पर; **स्थिरम्**—स्थिर भाव से; **अभ्यास-योगेन**—भक्ति के अभ्यास से; **ततः**—तब; **माम्**—मुझको; **इच्छ**—इच्छा करो; **आप्तुम्**—प्राप्त करने की; **धनम्-जय**—हे सम्पति के विजेता, अर्जुन।

हे अर्जुन, हे धनञ्जय! यदि तुम अपने चित्त को अविचल भाव से मुझ पर स्थिर नहीं कर सकते, तो तुम भक्तियोग के विधि-विधानों का पालन करो। इस प्रकार तुम मुझे प्राप्त करने की चाह उत्पन्न करो।

तात्पर्य : इस श्लोक में भक्तियोग की दो पृथक्-पृथक् विधियाँ बताई गई हैं। पहली विधि उस व्यक्ति पर लागू होती है, जिसने दिव्य प्रेम द्वारा भगवान् कृष्ण के प्रति वास्तविक आसक्ति उत्पन्न कर ली है। दूसरी विधि उसके लिए है जिसने इस प्रकार से भगवान् कृष्ण के प्रति आसक्ति नहीं उत्पन्न की। इस द्वितीय श्रेणी के लिए नाना प्रकार के विधि-विधान हैं, जिनका पालन करके मनुष्य अन्ततः कृष्ण-आसक्ति अवस्था को प्राप्त हो सकता है।

भक्तियोग इन्द्रियों का परिष्कार (संस्कार) है। संसार में इस समय सारी इन्द्रियाँ सदा अशुद्ध हैं, क्योंकि ये इन्द्रियतृप्ति में लगी हुई हैं। लेकिन भक्तियोग के अभ्यास से ये इन्द्रियाँ शुद्ध की जा सकती हैं, और शुद्ध हो जाने पर ये परमेश्वर के सीधे सम्पर्क में आती हैं। इस संसार में रहते हुए मैं किसी अन्य स्वामी की सेवा में रत हो सकता हूँ, लेकिन मैं सचमुच उसकी प्रेमपूर्ण सेवा नहीं करता। मैं केवल धन पाने के लिए सेवा करता हूँ। और वह स्वामी भी मुझसे प्रेम नहीं करता है, वह मुझसे सेवा कराता है और मुझे धन देता है। अतएव प्रेम का प्रश्न ही नहीं उठता। लेकिन आध्यात्मिक जीवन के लिए मनुष्य को प्रेम की शुद्ध अवस्था तक ऊपर उठना होता है। यह प्रेम अवस्था इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा भक्ति के अभ्यास से प्राप्त की जा सकती है।

यह ईश्वरप्रेम अभी प्रत्येक हृदय में सुप्त अवस्था में है। वहाँ पर यह ईश्वरप्रेम अनेक रूपों में प्रकट होता है, लेकिन भौतिक संगति से दूषित हो जाता है। अतएव उस भौतिक संगति से हृदय को विमल बनाना होता है और उस सुप्त स्वाभाविक कृष्ण-प्रेम को जागृत करना होता है। यही भक्तियोग की पूरी विधि है।

भक्तियोग के विधि-विधानों का अभ्यास करने के लिए मनुष्य को किसी सुविज्ञ गुरु के मार्गदर्शन में कतिपय नियमों का पालन करना होता है—यथा ब्राह्ममुहूर्त में जागना, स्नान करना, मन्दिर में जाना तथा प्रार्थना करना एवं *हरे कृष्ण* कीर्तन करना, फिर अर्चा-विग्रह पर चढ़ाने के लिए फूल चुनना, अर्चा-विग्रह पर भोग चढ़ाने के लिए भोजन बनाना, प्रसाद ग्रहण करना आदि। ऐसे अनेक विधि-विधान हैं, जिनका पालन आवश्यक है। मनुष्य को शुद्ध भक्तों से नियमित रूप से *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* सुनना चाहिए। इस अभ्यास से कोई भी ईश्वर-प्रेम के स्तर तक उठ सकता है और तब भगवद्धाम तक उसका पहुँचना ध्रुव है। विधि-विधानों के अन्तर्गत गुरु के आदेशानुसार भक्तियोग का यह अभ्यास करके मनुष्य निश्चय ही भगवत्प्रेम की अवस्था को प्राप्त हो सकेगा।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥१०॥

अभ्यासे–अभ्यास में, **अपि**–भी, **असमर्थः**–असमर्थ, **असि**–हो, **मत्-कर्म**–मेरे कर्म के प्रति, **परमः**–परायण, **भव**–बनो; **मत्-अर्थम्**–मेरे लिए, **अपि**–भी, **कर्माणि**–कर्म, **कुर्वन्**–करते हुए, **सिद्धिम्**–सिद्धि को, **अवाप्स्यसि**–प्राप्त करोगे।

यदि तुम भक्तियोग के विधि-विधानों का भी अभ्यास नहीं कर सकते, तो मेरे लिए

कर्म करने का प्रयत्न करो, क्योंकि मेरे लिए कर्म करने से तुम पूर्ण अवस्था (सिद्धि) को प्राप्त होगे।

तात्पर्य : यदि कोई गुरु के निर्देशानुसार भक्तियोग के विधि-विधानों का अभ्यास नहीं भी कर पाता, तो भी *परमेश्वर के लिए कर्म करके* उसे पूर्णावस्था प्रदान कराई जा सकती है। यह कर्म किस प्रकार किया जाय, इसकी व्याख्या ग्यारहवें अध्याय के पचपनवें श्लोक में पहले ही की जा चुकी है। मनुष्य में कृष्णभावनामृत के प्रचार हेतु सहानुभूति होनी चाहिए। ऐसे अनेक भक्त हैं जो कृष्णभावनामृत के प्रचार कार्य में लगे हैं। उन्हें सहायता की आवश्यकता है। अतः भले ही कोई भक्तियोग के विधि-विधानों का प्रत्यक्ष रूप से अभ्यास न कर सके, उसे ऐसे कार्य में सहायता देने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रत्येक प्रकार के प्रयास में भूमि, पूँजी, संगठन तथा श्रम की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार किसी भी व्यापार में रहने के लिए स्थान, उपयोग के लिए कुछ पूँजी, कुछ श्रम तथा विस्तार करने के लिए कुछ संगठन चाहिए, उसी प्रकार कृष्णसेवा के लिए भी इनकी आवश्यकता होती है। अन्तर केवल इतना ही होता है कि भौतिकवाद में मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के लिए सारा कार्य करता है, लेकिन यही कार्य कृष्ण की तुष्टि के लिए किया जा सकता है। यही दिव्य कार्य है। यदि किसी के पास पर्याप्त धन है, तो वह कृष्णभावनामृत के प्रचार के लिए कोई कार्यालय अथवा मन्दिर निर्मित कराने में सहायता कर सकता है अथवा वह प्रकाशन में सहायता पहुँचा सकता है। कर्म के विविध क्षेत्र हैं और मनुष्य को ऐसे कर्मों में रुचि लेनी चाहिए। यदि कोई अपने कर्मों के फल को नहीं त्याग सकता, तो कम से कम उसका कुछ प्रतिशत कृष्णभावनामृत के प्रचार में तो लगा ही सकता है। इस प्रकार कृष्णभावनामृत की दिशा में स्वेच्छा से सेवा करने से व्यक्ति भगवत्प्रेम की उच्चतर अवस्था को प्राप्त हो सकेगा, जहाँ उसे पूर्णता प्राप्त हो सकेगी।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥११॥

अथ–यद्यपि; एतत्–यह; अपि–भी; अशक्तः–असमर्थ; असि–हो; कर्तुम्–करने में; मत्–मेरे प्रति; योगम्–भक्ति में; आश्रितः–निर्भर; सर्व-कर्म–समस्त कर्मों के; फल–फल का; त्यागम्–त्याग; ततः–तब; कुरु–करो; यत-आत्मवान्–आत्मस्थित।

किन्तु यदि तुम मेरे इस भावनामृत में कर्म करने में असमर्थ हो तो तुम अपने कर्म के समस्त फलों को त्याग कर कर्म करने का तथा आत्म-स्थित होने का प्रयत्न करो।

तात्पर्य : हो सकता है कि कोई व्यक्ति सामाजिक, पारिवारिक या धार्मिक कारणों से या किसी अन्य अवरोधों के कारण कृष्णभावनामृत के कार्यकलापों के प्रति सहानुभूति तक दिखा पाने में अक्षम रहे। यदि वह अपने को प्रत्यक्ष रूप से इन कार्यकलापों के प्रति जोड़ ले तो हो सकता है कि पारिवारिक सदस्य विरोध करें, या अन्य कठिनाइयाँ उठ खड़ी हों। जिस व्यक्ति के साथ ऐसी समस्याएँ लगी हों, उसे यह सलाह दी जाती है कि वह अपने कार्यकलापों के संचित फल को किसी शुभ कार्य में लगा दे। ऐसी विधियाँ

वैदिक नियमों में वर्णित हैं। ऐसे अनेक यज्ञों तथा पुन्य कार्यों अथवा विशेष कार्यों के वर्णन हुए हैं, जिनमें अपने पिछले कार्यों के फलों को प्रयुक्त किया जा सकता है। इससे मनुष्य धीरे-धीरे ज्ञान के स्तर तक उठता है। ऐसा भी पाया गया है कि कृष्णभावनामृत के कार्यकलापों में रुचि न रहने पर भी जब मनुष्य किसी अस्पताल या किसी सामाजिक संस्था को दान देता है, तो वह अपने कार्यकलापों की गाढ़ी कमाई का परित्याग करता है। यहाँ पर इसकी भी संस्तुति की गई है, क्योंकि अपने कार्यकलापों के फल के परित्याग के अभ्यास में मनुष्य क्रमशः अपने मन को स्वच्छ बनाता है, और उस विमल मन स्थिति में वह कृष्णभावनामृत को समझने में समर्थ होता है। कृष्णभावनामृत किसी अन्य अनुभव पर आश्रित नहीं होता, क्योंकि कृष्णभावनामृत स्वयं मन को विमल बनाने वाला है, किन्तु यदि कृष्णभावनामृत को स्वीकार करने में किसी प्रकार का अवरोध हो, तो मनुष्य को चाहिए कि अपने कर्मफल का परित्याग करने का प्रयत्न करे। ऐसी दशा में समाज सेवा, समुदाय सेवा, राष्ट्रीय सेवा, देश के लिए उत्सर्ग आदि कार्य स्वीकार किये जा सकते हैं, जिससे एक दिन मनुष्य भगवान् की शुद्ध भक्ति को प्राप्त हो सके। *भगवद्गीता* में ही (१८.४६) कहा गया है—*यत प्रवृत्तिर्भूतानाम्*—यदि कोई परम कारण के लिए उत्सर्ग करना चाहे, तो भले ही वह यह न जाने कि वह परम कारण कृष्ण हैं, फिर भी वह क्रमशः यज्ञ विधि से समझ जाएगा कि वह परम कारण कृष्ण ही हैं।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

श्रेयः—श्रेष्ठ, हि—निश्चय ही, ज्ञानम्—ज्ञान, अभ्यासात्—अभ्यास से, ज्ञानात्—ज्ञान से, ध्यानम्—ध्यान, विशिष्यते—विशिष्ट समझा जाता है, ध्यानात्—ध्यान से, कर्म-फल-त्यागः—सकाम कर्म के फलों का परित्याग, त्यागात्—ऐसे त्याग से, शान्तिः—शान्ति, अनन्तरम्—तत्पश्चात्।

यदि तुम यह अभ्यास नहीं कर सकते, तो ज्ञान के अनुशीलन में लग जाओ। लेकिन ज्ञान से श्रेष्ठ ध्यान है और ध्यान से भी श्रेष्ठ है कर्म फलों का परित्याग क्योंकि ऐसे त्याग से मनुष्य को मनःशान्ति प्राप्त हो सकती है।

तात्पर्य : जैसा कि पिछले श्लोकों में बताया गया है, भक्ति के दो प्रकार हैं—विधि-विधानों से पूर्ण तथा भगवत्प्रेम की आसक्ति से पूर्ण। किन्तु जो लोग कृष्णभावनामृत के नियमों का पालन नहीं कर सकते, उनके लिए ज्ञान का अनुशीलन करना श्रेष्ठ है, क्योंकि ज्ञान से मनुष्य अपनी वास्तविक स्थिति को समझने में समर्थ होता है। यही ज्ञान क्रमशः ध्यान तक पहुँचाने वाला है, और ध्यान से क्रमशः परमेश्वर को समझा जा सकता है। ऐसी भी विधियाँ हैं जिनसे मनुष्य अपने को परब्रह्म मान बैठता है, और यदि कोई भक्ति करने में असमर्थ है, तो ऐसा ध्यान भी अच्छा है। यदि कोई इस प्रकार से ध्यान नहीं कर सकता, तो वैदिक साहित्य में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के लिए कतिपय कर्तव्यों का आदेश है, जिसे हम *भगवद्गीता* के अन्तिम अध्याय में देखेंगे। लेकिन प्रत्येक दशा में मनुष्य को अपने कर्मफल का त्याग करना होगा—जिसका अर्थ है कर्मफल को किसी अच्छे कार्य में लगाना।

संक्षेपतः, सर्वोच्च लक्ष्य, भगवान् तक पहुँचने की दो विधियाँ हैं–एक विधि है क्रमिक विकास की और दूसरी प्रत्यक्ष विधि। कृष्णभावनामृत में भक्ति प्रत्यक्ष विधि है। अन्य विधि में कर्मों के फल का त्याग करना होता है, तभी मनुष्य ज्ञान की अवस्था को प्राप्त होता है। उसके वाद ध्यान की अवस्था तथा फिर परमात्मा के वोध की अवस्था और अन्त में भगवान् की अवस्था आ जाती है। मनुष्य चाहे तो एक एक पग करके आगे वढ़ने की विधि अपना सकता है, या प्रत्यक्ष विधि ग्रहण कर सकता है। लेकिन प्रत्यक्ष विधि हर एक के लिए सम्भव नहीं है। अतः अप्रत्यक्ष विधि भी अच्छी है। लेकिन यहाँ यह समझ लेना होगा कि अर्जुन के लिए अप्रत्यक्ष विधि नहीं सुझाई गई, क्योंकि वह पहले से परमेश्वर के प्रति प्रेमाभक्ति की अवस्था को प्राप्त था। यह तो उन लोगों के लिए है, जो इस अवस्था को प्राप्त नहीं हैं। उनके लिए तो त्याग, ज्ञान, ध्यान तथा परमात्मा एवं व्रह्म की अनुभूति की क्रमिक विधि ही पालनीय है। लेकिन जहाँ तक *भगवद्गीता* का सम्वन्ध है, उसमें तो प्रत्यक्ष विधि पर ही वल है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्यक्ष विधि ग्रहण करने तथा भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में जाने की सलाह दी जाती है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥१४॥

अद्वेष्टा–ईर्ष्याविहीन; **सर्व-भूतानाम्**–समस्त जीवों के प्रति; **मैत्रः**–मैत्रीभाव वाला; **करुणः**–दयालु; **एव**–निश्चय ही; **च**–भी; **निर्ममः**–स्वामित्व की भावना से रहित; **निरहंकारः**–मिथ्या अहंकार से रहित; **सम**–समभाव; **दुःख**–दुख; **सुखः**–तथा सुख में; **क्षमी**–क्षमावान; **सन्तुष्टः**–प्रसन्न,तुष्ट; **सततम्**–निरन्तर; **योगी**–भक्ति में निरत; **यत-आत्मा**–आत्मसंयमी; **दृढ-निश्चयः**–संकल्प सहित; **मयि**–मुझमें; **अर्पित**–संलग्न; **मनः**–मन को; **वुद्धिः**–तथा वुद्धि को; **यः**–जो; **मत्-भक्तः**–मेरा भक्त; **सः**–वह; **मे**–मेरा; **प्रियः**–प्यारा।

जो किसी से द्वेष नहीं करता, लेकिन सभी जीवों का दयालु मित्र है, जो अपने को स्वामी नहीं मानता और मिथ्या अहंकार से मुक्त है, जो सुख-दुख में समभाव रहता है, सहिष्णु है, सदैव आत्मतुष्ट रहता है, आत्मसंयमी है तथा जो निश्चय के साथ मुझमें मन तथा वुद्धि को स्थिर करके भक्ति में लगा रहता है, ऐसा भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है।

तात्पर्य : शुद्ध भक्ति पर पुनः आकर भगवान् इन दोनों श्लोकों में शुद्ध भक्त के दिव्य गुणों का वर्णन कर रहे हैं। शुद्ध भक्त किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होता, न ही वह किसी के प्रति ईर्ष्यालु होता है। न वह अपने शत्रु का शत्रु वनता है। वह तो सोचता है "यह व्यक्ति मेरे विगत दुष्कर्मों के कारण मेरा शत्रु वना हुआ है, अतएव विरोध करने की अपेक्षा कष्ट सहना अच्छा है।" *श्रीमद्भागवत* में (१०.१४.८) कहा गया है–*तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्*। जव भी कोई भक्त

मुसीबत में पड़ता है, तो वह सोचता है कि यह भगवान् की मेरे ऊपर कृपा ही है। मुझे अपने विगत दुष्कर्मों के अनुसार इससे कहीं अधिक कष्ट भोगना चाहिए था। यह तो भगवत्कृपा है कि मुझे मिलने वाला पूरा दण्ड नहीं मिल रहा है। भगवत्कृपा से थोड़ा ही दण्ड मिल रहा है। अतएव अनेक कष्टपूर्ण परिस्थितियों में भी वह सदैव शान्त तथा धीर बना रहता है। भक्त सदैव प्रत्येक प्राणी पर, यहाँ तक कि अपने शत्रु पर भी, दयालु होता है। निर्मम का अर्थ यह है कि भक्त शारीरिक कष्टों को प्रधानता नहीं प्रदान करता, क्योंकि वह अच्छी तरह जानता है कि वह भौतिक शरीर नहीं है। वह अपने को शरीर नहीं मानता है, अतएव वह मिथ्या अहंकार के बोध से मुक्त रहता है, और सुख तथा दुख में समभाव रखता है। वह सहिष्णु होता है और भगवत्कृपा से जो कुछ प्राप्त होता है, उसी में सन्तुष्ट रहता है। वह ऐसी वस्तु को प्राप्त करने का प्रयास नहीं करता जो कठिनाई से मिले। अतएव वह सदैव प्रसन्नचित्त रहता है। वह पूर्णयोगी होता है, क्योंकि वह अपने गुरु के आदेशों पर अटल रहता है, और चूँकि उसकी इन्द्रियाँ वश में रहती हैं, अतः वह दृढ़निश्चय होता है। वह झूठे तर्कों से विचलित नहीं होता, क्योंकि कोई उसे भक्ति के दृढ़ संकल्प से हटा नहीं सकता। वह पूर्णतया अवगत रहता है कि कृष्ण उसके शाश्वत प्रभु हैं, अतएव कोई भी उसे विचलित नहीं कर सकता। इन समस्त गुणों के फलस्वरूप वह अपने मन तथा बुद्धि को पूर्णतया परमेश्वर पर स्थिर करने में समर्थ होता है। भक्ति का ऐसा आदर्श अत्यन्त दुर्लभ है, लेकिन भक्त भक्ति के विधि-विधानों का पालन करते हुए उसी अवस्था में स्थित रहता है और फिर भगवान् कहते हैं कि ऐसा भक्त उन्हें अति प्रिय है, क्योंकि भगवान् उसकी कृष्णभावना से युक्त कार्यकलापों से सदैव प्रसन्न रहते हैं।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥१५॥

यस्मात्–जिससे; न–कभी नहीं; उद्विजते–उद्विग्न होते हैं; लोकः–लोग; लोकात्–लोगों से; न–कभी नहीं; उद्विजते–विचलित होता है; च–भी; यः–जो; हर्ष–सुख; अमर्ष–दुख; भय–भय; उद्वेगैः–तथा चिन्ता से; मुक्तः–मुक्त; यः–जो; सः–वह; च–भी; मे–मेरा; प्रियः–प्रिय।

जिससे किसी को कष्ट नहीं पहुँचता तथा जो अन्य किसी के द्वारा विचलित नहीं किया जाता, जो सुख-दुख में, भय तथा चिन्ता में समभाव रहता है, वह मुझे अत्यन्त प्रिय है।

तात्पर्य : इस श्लोक में भक्त के कुछ अन्य गुणों का वर्णन हुआ है। ऐसे भक्त द्वारा कोई व्यक्ति कष्ट, चिन्ता, भय या असन्तोष को प्राप्त नहीं होता। चूँकि भक्त सबों पर दयालु होता है, अतएव वह ऐसा कार्य नहीं करता, जिससे किसी को चिन्ता हो। साथ ही, यदि अन्य लोग भक्त को चिन्ता में डालना चाहते हैं, तो वह विचलित नहीं होता। यह भगवत्कृपा ही है कि वह किसी बाह्य उपद्रव से क्षुब्ध नहीं होता। वास्तव में सदैव कृष्णभावनामृत में लीन रहने तथा भक्ति में रत रहने के कारण ही ऐसे भौतिक उपद्रव भक्त को विचलित नहीं कर पाते। सामान्य रूप से विषयी व्यक्ति अपने शरीर तथा

इन्द्रियतृप्ति के लिए किसी वस्तु को पाकर अत्यन्त प्रसन्न होता है, लेकिन जब वह देखता है कि अन्यों के पास इन्द्रियतृप्ति के लिए ऐसी वस्तु है, जो उसके पास नहीं है, तो वह दुख तथा ईर्ष्या से पूर्ण हो जाता है। जब वह अपने शत्रु से बदले की शंका करता है, तो वह भयभीत रहता है, और जब वह कुछ भी करने में सफल नहीं होता, तो निराश हो जाता है। ऐसा भक्त, जो इन समस्त उपद्रवों से परे होता है, कृष्ण को अत्यन्त प्रिय होता है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥१६॥

अनपेक्षः—इच्छारहित; **शुचिः**—शुद्ध; **दक्षः**—पटु; **उदासीनः**—चिन्ता से मुक्त; **गत-व्यथः**—सारे कष्टों से मुक्त; **सर्व-आरम्भ**—समस्त प्रयत्नों का; **परित्यागी**—परित्याग करने वाला; **यः**—जो; **मत्-भक्तः**—मेरा भक्त; **सः**—वह; **मे**—मेरा; **प्रियः**—अतिशय प्रिय।

मेरा ऐसा भक्त जो सामान्य कार्य-कलापों पर आश्रित नहीं है, जो शुद्ध है, दक्ष है, चिन्तारहित है, समस्त कष्टों से रहित है और किसी फल के लिए प्रयत्नशील नहीं रहता, मुझे अतिशय प्रिय है।

तात्पर्य : भक्त को धन दिया जा सकता है, किन्तु उसे धन अर्जित करने के लिए संघर्ष नहीं करना चाहिए। भगवत्कृपा से यदि उसे स्वयं धन की प्राप्ति हो, तो वह उद्विग्न नहीं होता। स्वाभाविक है कि भक्त दिनभर में दो बार स्नान करता है और भक्ति के लिए प्रातःकाल जल्दी उठता है। इस प्रकार वह बाहर तथा भीतर से स्वच्छ रहता है। भक्त सदैव दक्ष होता है, क्योंकि वह जीवन के समस्त कार्यकलापों के सार को जानता है और प्रामाणिक शास्त्रों में दृढ़विश्वास रखता है। भक्त कभी किसी दल में भाग नहीं लेता, अतएव वह चिन्तामुक्त रहता है। समस्त उपाधियों से मुक्त होने के कारण कभी व्यथित नहीं होता, वह जानता है कि उसका शरीर एक उपाधि है, अतएव शारीरिक कष्टों के आने पर वह मुक्त रहता है। शुद्ध भक्त कभी भी ऐसी किसी वस्तु के लिए प्रयास नहीं करता, जो भक्ति के नियमों के प्रतिकूल हो। उदाहरणार्थ, किसी विशाल भवन को बनवाने में काफी शक्ति लगती है, अतएव वह कभी ऐसे कार्य में हाथ नहीं लगाता, जिससे उसकी भक्ति में प्रगति न होती हो। वह भगवान् के लिए मन्दिर का निर्माण करा सकता है और उसके लिए वह सभी प्रकार की चिन्ताएँ उठा सकता है, लेकिन वह अपने परिवार वालों के लिए बड़ा सा मकान नहीं बनाता।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥१७॥

यः—जो; **न**—कभी नहीं; **हृष्यति**—हर्षित होता है; **न**—कभी नहीं; **द्वेष्टि**—शोक करता है; **न**—कभी नहीं; **शोचति**—पछतावा करता है; **न**—कभी नहीं; **काङ्क्षति**—इच्छा करता है; **शुभ**—शुभ; **अशुभ**—तथा अशुभ का; **परित्यागी**—त्याग करने वाला; **भक्ति-मान्**—भक्त; **यः**—जो; **सः**—वह है; **मे**—मेरा; **प्रियः**—प्रिय।

जो न कभी हर्षित होता है, न शोक करता है, जो न तो पछताता है, न इच्छा करता है, तथा जो शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार की वस्तुओं का परित्याग कर देता है, ऐसा भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त भौतिक लाभ से न तो हर्षित होता है और न हानि से दुखी होता है, वह पुत्र या शिष्य की प्राप्ति के लिए न तो उत्सुक रहता है, न ही उन्हें न मिलने पर दुखी होता है। वह अपनी किसी प्रिय वस्तु के खो जाने पर उसके लिए पछताता नहीं। इसी प्रकार यदि उसे अभीप्सित की प्राप्ति नहीं हो पाती तो वह दुखी नहीं होता। वह समस्त प्रकार के शुभ, अशुभ तथा पापकर्मों से सदैव परे रहता है। वह परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए बड़ी से बड़ी विपत्ति सहने को तैयार रहता है। भक्ति के पालन में उसके लिए कुछ भी बाधक नहीं बनता। ऐसा भक्त कृष्ण को अतिशय प्रिय होता है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥१९॥

समः—समान; शत्रौ—शत्रु में; च—तथा; मित्रे—मित्र में; च—भी; तथा—उसी प्रकार; मान—सम्मान; अपमानयोः—तथा अपमान में; शीत—जाड़ा; उष्ण—गर्मी; सुख—सुख; दुःखेषु—तथा दुख में; समः—समभाव; सङ्ग-विवर्जितः—समस्त संगति से मुक्त; तुल्य—समान; निन्दा—अपयश; स्तुतिः—तथा यश में; मौनी—मौन; सन्तुष्टः—सन्तुष्ट; येन केनचित्—जिस किसी तरह; अनिकेतः—बिना घर-बार के; स्थिरः—दृढ़; मतिः—संकल्प; भक्तिमान्—भक्ति में रत; मे—मेरा; प्रियः—प्रिय; नरः—मनुष्य।

जो मित्रों तथा शत्रुओं के लिए समान है, जो मान तथा अपमान, शीत तथा गर्मी, सुख तथा दुख, यश तथा अपयश में समभाव रखता है, जो दूषित संगति से सदैव मुक्त रहता है, जो सदैव मौन और किसी भी वस्तु में संतुष्ट रहता है, जो किसी प्रकार के घर-बार की परवाह नहीं करता, जो ज्ञान में दृढ़ है और जो भक्ति में संलग्न है—ऐसा पुरुष मुझे अत्यन्त प्रिय है।

तात्पर्य : भक्त सदैव कुसंगति से दूर रहता है। मानव समाज का यह स्वभाव है कि कभी किसी की प्रशंसा की जाती है, तो कभी उसकी निन्दा की जाती है। लेकिन भक्त कृत्रिम यश तथा अपयश, दुख या सुख से ऊपर उठा हुआ होता है। वह अत्यन्त धैर्यवान् होता है। वह कृष्णकथा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं बोलता। अतः उसे मौनी कहा जाता है। मौनी का अर्थ यह नहीं कि वह बोले नहीं, अपितु यह कि वह अनर्गल आलाप न करे। मनुष्य को आवश्यकता पर बोलना चाहिए और भक्त के लिए सर्वाधिक अनिवार्य वाणी तो भगवान् के लिए बोलना है। भक्त समस्त परिस्थितियों में सुखी रहता है। कभी उसे स्वादिष्ट भोजन मिलता है तो कभी नहीं, किन्तु वह सन्तुष्ट रहता है। वह आवास की सुविधा की चिन्ता नहीं करता। वह कभी पेड़ के नीचे रह सकता है, तो कभी अत्यन्त

उच्च प्रासाद में, किन्तु वह इनमें से किसी के प्रति आसक्त नहीं रहता। वह स्थिर कहलाता है, क्योंकि वह अपने संकल्प तथा ज्ञान में दृढ़ होता है। भले ही भक्त के लक्षणों की कुछ पुनरावृत्ति हुई हो, लेकिन यह इस बात पर बल देने के लिए है कि भक्त को ये सारे गुण अर्जित करने चाहिए। सद्गुणों के बिना कोई शुद्ध भक्त नहीं बन सकता। *हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणाः*—जो भक्त नहीं है, उसमें सद्गुण नहीं होता। जो भक्त कहलाना चाहता है, उसे सद्गुणों का विकास करना चाहिए। यह अवश्य है कि उसे इन गुणों के लिए अलग से बाह्य प्रयास नहीं करना पड़ता, अपितु कृष्णभावनामृत तथा भक्ति में संलग्न रहने के कारण उसमें ये गुण स्वतः ही विकसित हो जाते हैं।

ये तु धर्मामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥२०॥

ये—जो; **तु**—लेकिन; **धर्म**—धर्म रूपी; **अमृतम्**—अमृत को; **इदम्**—इस; **यथा**—जिस तरह से, जैसा; **उक्तम्**—कहा गया; **पर्युपासते**—पूर्णतया तत्पर रहते हैं; **श्रद्दधानाः**—श्रद्धा के साथ; **मत्-परमाः**—मुझ परमेश्वर को सब कुछ मानते हुए; **भक्ताः**—भक्तजन; **ते**—वे; **अतीव**—अत्यधिक; **मे**—मेरे; **प्रियाः**—प्रिय।

जो इस भक्ति के अमर पथ का अनुसरण करते हैं, और जो मुझे ही अपना चरम लक्ष्य बना कर श्रद्धासहित पूर्णरूपेण संलग्न रहते हैं, वे भक्त मुझे अत्यधिक प्रिय हैं।

तात्पर्य : इस अध्याय में दूसरे श्लोक से अन्तिम श्लोक तक—*मय्यावेश्य मनो ये माम्* (मुझ पर मन को स्थिर करके) से लेकर *ये तु धर्मामृतम् इदम्* (नित्य सेवा इस धर्म को) तक—भगवान् ने अपने पास तक पहुँचने की दिव्य सेवा की विधियों की व्याख्या की है। ऐसी विधियाँ उन्हें अत्यन्त प्रिय हैं, और इनमें लगे हुए व्यक्तियों को वे स्वीकार कर लेते हैं। अर्जुन ने यह प्रश्न उठाया था कि जो निराकार ब्रह्म के पथ में लगा है, वह श्रेष्ठ है या जो साकार भगवान् की सेवा में। भगवान् ने इसका बहुत स्पष्ट उत्तर दिया कि आत्म-साक्षात्कार की समस्त विधियों में भगवान् की भक्ति निस्सन्देह सर्वश्रेष्ठ है। दूसरे शब्दों में, इस अध्याय में यह निर्णय दिया गया है कि सुसंगति से मनुष्य में भक्ति के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है, जिससे वह प्रामाणिक गुरु बनाता है, और तब वह उससे श्रद्धा, आसक्ति तथा भक्ति के साथ सुनता है, कीर्तन करता है और भक्ति के विधि-विधानों का पालन करने लगता है। इस तरह वह भगवान् की दिव्य सेवा में तत्पर हो जाता है। इस अध्याय में इस मार्ग की संस्तुति की गई है। अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि भगवत्प्राप्ति के लिए भक्ति ही आत्म-साक्षात्कार का परम मार्ग है। इस अध्याय में परम सत्य की जो निराकार धारणा वर्णित है, उसकी संस्तुति उस समय तक के लिए की गई है, जब तक मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के लिए अपने आपको समर्पित नहीं कर देता है। दूसरे शब्दों में, जब तक उसे शुद्ध भक्त की संगति करने का अवसर प्राप्त नहीं होता तभी तक निराकार की धारणा लाभप्रद हो सकती है। परम सत्य की निराकार धारणा में मनुष्य कर्मफल के बिना कर्म करता है और आत्मा तथा पदार्थ का

ज्ञान प्राप्त करने के लिए ध्यान करता है। यह तभी तक आवश्यक है, जब तक शुद्ध भक्त की सगति प्राप्त न हो। सोभाग्यवश यदि कोई शुद्ध भक्ति में सीधे कृष्णभावनामृत में लगना चाहता है तो उसे आत्म-साक्षात्कार के इतने सोपान पार नहीं करने होते। *भगवद्गीता* के बीच के छः अध्यायों में जिस प्रकार भक्ति का वर्णन हुआ है, वह अत्यन्त हृदयग्राही है। किसी को जीवन-निर्वाह के लिए वस्तुओं की चिन्ता नहीं करनी होती, क्योंकि भगवत्कृपा से सारी वस्तुएँ स्वतः सुलभ होती हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के बारहवें अध्याय "भक्तियोग" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*

अध्याय तेरह



प्रकृति, पुरुष तथा चेतना

अर्जुन उवाच

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव॥१॥

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥२॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; प्रकृतिम्—प्रकृति; पुरुषम्—भोक्ता; च—भी; एव—निश्चय ही; क्षेत्रम्—क्षेत्र, खेत; क्षेत्र-ज्ञम्—खेत को जानने वाला; एव—निश्चय ही; च—भी; एतत्—यह सारा; वेदितुम्—जानने के लिए; इच्छामि—इच्छुक हूँ; ज्ञानम्—ज्ञान; ज्ञेयम्—ज्ञान का लक्ष्य; च—भी; केशव—हे कृष्ण; श्रीभगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; इदम्—यह; शरीरम्—शरीर; कौन्तेय—हे कुन्तीपुत्र; क्षेत्रम्—खेत; इति—इस प्रकार; अभिधीयते—कहलाता है; एतत्—यह; यः—जो; वेत्ति—जानता है; तम्—उसको; प्राहुः—कहा जाता है; क्षेत्र-ज्ञः—खेत को जानने वाला; इति—इस प्रकार; तत्-विदः—इसे जानने वालों के द्वारा।

अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण! मैं प्रकृति एवं पुरुष (भोक्ता), क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ तथा ज्ञान

एवं ज्ञेय के विषय में जानने का इच्छुक हूँ।

श्री भगवान् ने कहा—हे कुन्तीपुत्र! यह शरीर क्षेत्र कहलाता है और इस क्षेत्र को जानने वाला क्षेत्रज्ञ है।

तात्पर्य : अर्जुन *प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान* तथा *ज्ञेय* के विषय में जानने का इच्छुक था। जब उसने इन सबों के विषय में पूछा, तो कृष्ण ने कहा कि यह शरीर क्षेत्र कहलाता है, और इस शरीर को जानने वाला *क्षेत्रज्ञ* है। यह शरीर बद्धजीव के लिए कर्म-क्षेत्र है। बद्धजीव इस संसार में बँधा हुआ है, और वह भौतिक प्रकृति पर अपना प्रभुत्व प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार प्रकृति पर प्रभुत्व दिखाने की क्षमता के अनुसार उसे कर्म-क्षेत्र प्राप्त होता है। यह कर्म-क्षेत्र शरीर है। और यह शरीर क्या है? शरीर इन्द्रियों से बना हुआ है। बद्धजीव इन्द्रियतृप्ति चाहता है, और इन्द्रियतृप्ति को भोगने की क्षमता के अनुसार ही उसे शरीर या कर्म-क्षेत्र प्रदान किया जाता है। इसीलिए बद्धजीव के लिए यह शरीर *क्षेत्र* अथवा कर्मक्षेत्र कहलाता है। अब, जो व्यक्ति अपने आपको शरीर मानता है, वह *क्षेत्रज्ञ* कहलाता है। क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ अथवा शरीर और शरीर के ज्ञाता (देही) का अन्तर समझ पाना कठिन नहीं है। कोई भी व्यक्ति यह सोच सकता है कि बाल्यकाल से वृद्धावस्था तक उसमें अनेक परिवर्तन होते रहते हैं, फिर भी वह व्यक्ति वही रहता है। इस प्रकार कर्म-क्षेत्र के ज्ञाता तथा वास्तविक कर्म-क्षेत्र में अन्तर है। एक बद्धजीव यह जान सकता है कि वह अपने शरीर से भिन्न है। प्रारम्भ में ही बताया गया है कि *देहिनोऽस्मिन्*—जीव शरीर के भीतर है, और यह शरीर बालक से किशोर, किशोर से तरुण तथा तरुण से वृद्ध के रूप में बदलता जाता है, और शरीरधारी जानता है कि शरीर परिवर्तित हो रहा है। स्वामी स्पष्टतः *क्षेत्रज्ञ* है। कभी कभी हम सोचते हैं "मैं सुखी हूँ," "मैं पुरुष हूँ," "मैं स्त्री हूँ," "मैं कुत्ता हूँ [illegible] मैं बिल्ली हूँ।" ये ज्ञाता की शारीरिक उपाधियाँ हैं, लेकिन ज्ञाता शरीर से भिन्न होता है। भले ही हम तरह-तरह की वस्तुएँ प्रयोग में लाएँ—जैसे कपड़े इत्यादि, लेकिन हम [illegible] ते हैं कि हम इन वस्तुओं से भिन्न हैं। इसी प्रकार, थोड़ा विचार करने पर हम [illegible] भी जानते हैं कि हम शरीर से भिन्न हैं। मैं, तुम या अन्य कोई, जिसने शरीर [illegible] कर रखा है, *क्षेत्रज्ञ* कहलाता है—अर्थात् वह कर्म-क्षेत्र का ज्ञाता है और [illegible] है—साक्षात् कर्म-क्षेत्र है।

भगवद्गीता के प्रथम छह अध्यायों में शरीर के ज्ञाता [illegible] जिस स्थिति में वह भगवान् को समझ सकता है, उसका वर्णन हुआ है [illegible] अध्यायों में भगवान् तथा भगवान् के साथ जीवात्मा के सम्बन्ध एवं [illegible] परमात्मा का [illegible] है। इन अध्यायों में भगवान् की श्रेष्ठता तथा [illegible] को [illegible] से परिभाषा की गई है। जीवात्माएँ सभी प्र[illegible] अपने [illegible] कारण वे कष्ट उठा रही हैं। जब पुण्य कर्म [illegible] है, तो [illegible] परिस्थितियों में—यथा आर्त, धनहीन [illegible] पास पहुँचती हैं, इसका भी वर्णन हुआ है [illegible] हुई है कि किस प्रकार जीवात्मा [illegible]

ज्ञान तथा भक्ति के विभिन्न साधनों के द्वारा परमेश्वर उसका उद्धार करते हैं। यद्यपि जीवात्मा भौतिक शरीर से सर्वथा भिन्न है, लेकिन वह किस तरह उससे सम्बद्ध हो जाता है, इसकी भी व्याख्या की गई है।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥३॥

क्षेत्र-ज्ञम्—क्षेत्र का ज्ञाता; **च**—भी; **अपि**—निश्चय ही; **माम्**—मुझको; **विद्धि**—जानो; **सर्व**—समस्त; **क्षेत्रेषु**—शरीर रूपी क्षेत्रों में; **भारत**—हे भरत के पुत्र; **क्षेत्र**—कर्म-क्षेत्र (शरीर); **क्षेत्र-ज्ञयोः**—तथा क्षेत्र के ज्ञाता का; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **यत्**—जो; **तत्**—वह; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **मतम्**—अभिमत; **मम**—मेरा।

हे भरतवंशी! तुम्हें ज्ञात होना चाहिए कि मैं भी समस्त शरीरों में ज्ञाता भी हूँ और इस शरीर तथा इसके ज्ञाता को जान लेना ज्ञान कहलाता है। ऐसा मेरा मत है।

तात्पर्य : शरीर, शरीर के ज्ञाता, आत्मा तथा परमात्मा विषयक व्याख्या के दौरान हमें तीन विभिन्न विषय मिलेंगे—भगवान्, जीव तथा पदार्थ। प्रत्येक कर्म-क्षेत्र में, प्रत्येक शरीर में दो आत्माएँ होती हैं—आत्मा तथा परमात्मा। चूँकि परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण का स्वांश है, अतः कृष्ण कहते हैं "मैं भी ज्ञाता हूँ, लेकिन मैं शरीर का व्यष्टि ज्ञाता नहीं हूँ। मैं परम ज्ञाता हूँ। मैं शरीर में परमात्मा के रूप में विद्यमान रहता हूँ।"

जो क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का अध्ययन *भगवद्गीता* के माध्यम से सूक्ष्मता से करता है, उसे यह ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

भगवान् कहते हैं, "मैं प्रत्येक शरीर के कर्मक्षेत्र का ज्ञाता हूँ।" व्यक्ति भले ही अपने शरीर का ज्ञाता हो, किन्तु उसे अन्य शरीरों का ज्ञान नहीं होता। समस्त शरीरों में परमात्मा रूप में विद्यमान भगवान् समस्त शरीरों के विषय में जानते हैं। वे जीवन की विविध योनियों के सभी शरीरों को जानने वाले हैं। एक नागरिक अपने भूमि-खण्ड के विषय में सब कुछ जानता है, लेकिन राजा को न केवल अपने महल का, अपितु प्रत्येक नागरिक की भू-सम्पत्ति का, ज्ञान रहता है। इसी प्रकार कोई भले ही अपने शरीर का स्वामी हो, लेकिन परमेश्वर समस्त शरीरों के अधिपति हैं। राजा अपने साम्राज्य का मूल अधिपति होता है और नागरिक गौण अधिपति। इसी प्रकार परमेश्वर समस्त शरीरों के परम अधिपति हैं।

यह शरीर इन्द्रियों से युक्त है। परमेश्वर हृषीकेश हैं जिसका अर्थ है "इन्द्रियों के नियामक"। वे इन्द्रियों के आदि नियामक हैं, जिस प्रकार राजा अपने राज्य की समस्त गतिविधियों का आदि नियामक होता है, नागरिक तो गौण नियामक होते हैं। भगवान् का कथन है, "मैं ज्ञाता भी हूँ।" इसका अर्थ है कि वे परम ज्ञाता हैं, जीवात्मा केवल अपने विशिष्ट शरीर को ही जानता है। वैदिक ग्रन्थों में इस प्रकार का वर्णन हुआ है—

क्षेत्राणि हि शरीराणि बीजं चापि शुभाशुभे।
तानि वेत्ति स योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते॥

यह शरीर *क्षेत्र* कहलाता है, और इस शरीर के भीतर इसके स्वामी तथा साथ ही परमेश्वर का वास है, जो शरीर तथा शरीर के स्वामी दोनों को जानने वाला है। इसलिए

उन्हें समस्त क्षेत्रों का ज्ञाता कहा जाता है। कर्म क्षेत्र, कर्म के ज्ञाता तथा समस्त कर्मों के परम ज्ञाता का अन्तर आगे बतलाया जा रहा है। वैदिक ग्रन्थों में शरीर, आत्मा तथा परमात्मा के स्वरूप की सम्यक जानकारी *ज्ञान* नाम से अभिहित की जाती है। ऐसा कृष्ण का मत है। आत्मा तथा परमात्मा को एक मानते हुए भी पृथक्-पृथक् समझना *ज्ञान* है। जो कर्मक्षेत्र तथा कर्म के ज्ञाता को नहीं समझता, उसे पूर्ण ज्ञान नहीं होता। मनुष्य को *प्रकृति, पुरुष* (प्रकृति का भोक्ता) तथा *ईश्वर* (वह ज्ञाता जो प्रकृति एवं व्यष्टि आत्मा का नियामक है) की स्थिति समझनी होती है। उसे इन तीनों के विभिन्न रूपों में किसी प्रकार का भ्रम पैदा नहीं करना चाहिए। मनुष्य को चित्रकार, चित्र तथा तूलिका में भ्रम नहीं करना चाहिए। यह भौतिक जगत, जो कर्मक्षेत्र के रूप में है, प्रकृति है और इस प्रकृति का भोक्ता जीव है, और इन दोनों के ऊपर परम नियामक भगवान् हैं। वैदिक भाषा में इसे इस प्रकार कहा गया है (श्वेताश्वतर उपनिषद १.१२)—*भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा। सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।* ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं—*प्रकृति* कर्मक्षेत्र के रूप में ब्रह्म है, तथा *जीव* भी ब्रह्म है जो भौतिक प्रकृति को अपने नियन्त्रण में रखने का प्रयत्न करता है, और इन दोनों का नियामक भी ब्रह्म है। लेकिन वास्तविक नियामक वही है।

इस अध्याय में बताया जाएगा कि इन दोनों ज्ञाताओं में से एक अच्युत है, तो दूसरा च्युत। एक श्रेष्ठ है, तो दूसरा अधीन है। जो व्यक्ति क्षेत्र के इन दोनों ज्ञाताओं को एक मान लेता है, वह भगवान् के शब्दों का खण्डन करता है, क्योंकि उनका कथन है "मैं भी कर्मक्षेत्र का ज्ञाता हूँ"। जो व्यक्ति रस्सी को सर्प जान लेता है वह ज्ञाता नहीं है। शरीर कई प्रकार के हैं और इनके स्वामी भी भिन्न-भिन्न हैं। चूँकि प्रत्येक जीव की अपनी निजी सत्ता है, जिससे वह प्रकृति पर प्रभुता की सामर्थ्य रखता है, अतएव शरीर विभिन्न होते हैं। लेकिन भगवान् उन सबमें परम नियन्ता के रूप में विद्यमान रहते हैं। यहाँ पर *च* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह समस्त शरीरों का द्योतक है। यह श्रील बलदेव विद्याभूषण का मत है। आत्मा के अतिरिक्त प्रत्येक शरीर में कृष्ण परमात्मा के रूप में रहते हैं, और यहाँ पर कृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं कि परमात्मा कर्मक्षेत्र तथा विशिष्ट भोक्ता दोनों का नियामक है।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥ ४॥

तत्—वह; क्षेत्रम्—कर्मक्षेत्र; यत्—जो; च—भी; यादृक्—जैसा है; च—भी; यत्—जो; विकारि—परिवर्तन; यतः—जिससे; च—भी; यत्—जो; सः—वह; च—भी; यः—जो; यत्—जो; प्रभावः—प्रभाव; च—भी; तत्—उस; समासेन—संक्षेप में; मे—मुझसे; शृणु—समझो, सुनो।

अब तुम मुझसे यह सब संक्षेप में सुनो कि कर्मक्षेत्र क्या है, यह किस प्रकार का है, इसमें क्या परिवर्तन होते हैं, यह कहाँ से उत्पन्न होता है, इस कर्मक्षेत्र को जानने वाला कौन है और उसके क्या प्रभाव हैं।

तात्पर्य : भगवान् कर्मक्षेत्र (क्षेत्र) तथा कर्मक्षेत्र के ज्ञाता (क्षेत्रज्ञ) की

का वर्णन कर रहे हैं। मनुष्य को यह जानना होता है कि यह शरीर किस प्रकार बना हुआ है, यह शरीर किन पदार्थों से बना है, यह किसके नियन्त्रण में कार्यशील है, इसमें किस प्रकार परिवर्तन होते हैं, ये परिवर्तन कहाँ से आते हैं, वे कारण कौन से हैं, आत्मा का चरम लक्ष्य क्या है, तथा आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है? मनुष्य को आत्मा तथा परमात्मा, उनके विभिन्न प्रभावों, उनकी शक्तियों आदि के अन्तर को भी जानना चाहिए। यदि वह भगवान् द्वारा दिये गये वर्णन के आधार पर *भगवद्गीता* समझ ले, तो ये सारी बातें स्पष्ट हो जाएँगी। लेकिन उसे ध्यान रखना होगा कि प्रत्येक शरीर में वास करने वाले परमात्मा को *जीव* का स्वरूप न मान बैठे। ऐसा तो सक्षम पुरुष तथा अक्षम पुरुष को एकसमान बताने जैसा है।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ५ ॥

ऋषिभिः—बुद्धिमान ऋषियों द्वारा; **बहुधा**—अनेक प्रकार से; **गीतम्**—वर्णित; **छन्दोभिः**—वैदिक मन्त्रों द्वारा; **विविधैः**—नाना प्रकार के; **पृथक्**—भिन्न-भिन्न; **ब्रह्म-सूत्र**—वेदान्त के; **पदैः**—नीतिवचनों द्वारा; **च**—भी; **एव**—निश्चित रूप से; **हेतु-मद्भिः**—कार्य-कारण से; **विनिश्चितैः**—निश्चित।

विभिन्न वैदिक ग्रंथों में विभिन्न ऋषियों ने कार्यकलापों के क्षेत्र तथा उन कार्यकलापों के ज्ञाता के ज्ञान का वर्णन किया है। इसे विशेष रूप से वेदान्त सूत्र में कार्य-कारण के समस्त तर्क समेत प्रस्तुत किया गया है।

तात्पर्य : इस ज्ञान की व्याख्या करने में भगवान् कृष्ण सर्वोच्च प्रमाण हैं। फिर भी विद्वान तथा प्रामाणिक लोग सदेव पूर्ववर्ती आचार्यों का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। कृष्ण आत्मा तथा परमात्मा की द्वैतता तथा अद्वैतता सम्बन्धी इस अतीव विवादपूर्ण विषय की व्याख्या *वेदान्त* नामक शास्त्र का उल्लेख करते हुए कर रहे हैं, जिसे प्रमाण माना जाता है। सर्वप्रथम वे कहते हैं "यह विभिन्न ऋषियों के मतानुसार है।" जहाँ तक ऋषियों का सम्बन्ध है, श्रीकृष्ण के अतिरिक्त व्यासदेव (जो *वेदान्त सूत्र* के रचयिता हैं) महान ऋषि हैं और *वेदान्त सूत्र* में द्वैत की भलीभाँति व्याख्या हुई है। व्यासदेव के पिता पराशर भी महर्षि हैं और उन्होंने धर्म सम्बन्धी अपने ग्रंथों में लिखा है—*अहम् त्वं च तथान्ये*—"तुम, मैं तथा अन्य सारे जीव अर्थात् हम सभी दिव्य हैं, भले ही हमारे शरीर भौतिक हों। हम अपने अपने कर्मों के कारण प्रकृति के तीनों गुणों के वशीभूत होकर पतित हो गये हैं। फलतः कुछ लोग उच्चतर धरातल पर हैं और कुछ निम्नतर धरातल पर हैं। ये उच्चतर तथा निम्नतर धरातल अज्ञान के कारण हैं, और अनन्त जीवों के रूप में प्रकट हो रहे हैं। किन्तु परमात्मा, जो अच्युत है, तीनों गुणों से अदूषित है, और दिव्य है।" इसी प्रकार मूल *वेदों* में, विशेषतया *कठोपनिषद्* में आत्मा, परमात्मा तथा शरीर का अन्तर बताया गया है। इसके अतिरिक्त अनेक महर्षियों ने इसकी व्याख्या की है, जिनमें पराशर प्रमुख माने जाते हैं।

छन्दोभिः शब्द विभिन्न वैदिक ग्रंथों का सूचक है। उदाहरणार्थ, *तैत्तिरीय उपनिषद्* जो *यजुर्वेद* की एक शाखा है, प्रकृति, जीव तथा भगवान् के विषय में वर्णन करती है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है *क्षेत्र* का अर्थ कर्मक्षेत्र है। *क्षेत्रज्ञ* की दो कोटियाँ हैं—जीवात्मा तथा परम पुरुष। जैसा कि *तैत्तिरीय उपनिषद्* में (२.९) कहा गया है—*ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा*। भगवान् की शक्ति का प्राकट्य *अन्नमय* रूप में होता है, जिसका अर्थ है—अस्तित्व के लिए भोजन (अन्न) पर निर्भरता। यह ब्रह्म की भौतिकतावादी अनुभूति है। अन्न में परम सत्य की अनुभूति करने के पश्चात् फिर *प्राणमय* रूप में मनुष्य सजीव लक्षणों या जीवन रूपों में परम सत्य की अनुभूति करता है। *ज्ञानमय* रूप में यह अनुभूति सजीव लक्षणों से आगे बढ़कर चिन्तन, अनुभव तथा आकांक्षा तक पहुँचती है। तब ब्रह्म की उच्चतर अनुभूति होती है, जिसे विज्ञानमय रूप कहते हैं, जिसमें जीव के मन तथा जीवन के लक्षणों को जीव से भिन्न समझा जाता है। इसके पश्चात् परम अवस्था आती है, जो आनन्दमय है, अर्थात् *सर्व-आनन्दमय* प्रकृति की अनुभूति है। इस प्रकार से ब्रह्म अनुभूति की पाँच अवस्थाएँ हैं, जिन्हें *ब्रह्म पुच्छं* कहा जाता है। इनमें से प्रथम तीन—*अन्नमय, प्राणमय* तथा *ज्ञानमय*—अवस्थाएँ जीवों के कार्यकलापों के क्षेत्रों से सम्बन्धित होती हैं। परमेश्वर इन कार्यकलापों के क्षेत्रों से परे है, और *आनन्दमय* है। वेदान्त सूत्र भी परमेश्वर को *आनन्दमयोऽभ्यासात्* कहकर पुकारता है। भगवान् स्वभाव से *आनन्दमय* हैं। अपने दिव्य आनन्द को भोगने के लिए वे *विज्ञानमय, प्राणमय, ज्ञानमय,* तथा *अन्नमय* रूपों में विस्तार करते हैं। कार्यकलापों के क्षेत्र में जीव भोक्ता (क्षेत्रज्ञ) माना जाता है, किन्तु *आनन्दमय* उससे भिन्न होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि जीव *आनन्दमय* का अनुगमन करने में सुख मानता है, तो वह पूर्ण बन जाता है। क्षेत्र के ज्ञाता (क्षेत्रज्ञ) रूप में परमेश्वर की ओर उसके अधीन ज्ञाता के रूप में जीव की तथा कार्यकलापों के क्षेत्र की प्रकृति का यह वास्तविक ज्ञान है। *वेदान्तसूत्र* या *ब्रह्मसूत्र* में इस सत्य की गवेषणा करनी होगी।

यहाँ इसका उल्लेख हुआ है कि *ब्रह्मसूत्र* के नीतिवचन कार्य-कारण के अनुसार सुन्दर रूप में व्यवस्थित हैं। इनमें से कुछ सूत्र इस प्रकार हैं—*न वियदश्रुतेः* (२ ३ २); *नात्मा श्रुतेः* (२.३.१८) तथा *परात्तु तच्छ्रुतेः* (२.३.४०)। प्रथम सूत्र कार्यकलापों के क्षेत्र को सूचित करता है, दूसरा जीव को और तीसरा परमेश्वर को, जो विभिन्न जीवों के आश्रयतत्त्व है।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥६॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥७॥

महा-भूतानि—स्थूल तत्त्व, **अहङ्कारः**—मिथ्या अभिमान, **बुद्धिः**—बुद्धि; **अव्यक्तम्**—अप्रकट, **एव**—निश्चय ही, **च**—भी, **इन्द्रियाणि**—इन्द्रियाँ, **दश-एकम्**—ग्यारह; **च**—भी, **पञ्च**—पाँच **च**—भी, **इन्द्रिय-गो-चराः**—इन्द्रियों के विषय, **इच्छा**—इच्छा, **द्वेषः**—घृणा, **सुखम्**—सुख, **दुःखम्**—दुख, **सङ्घातः**—समूह; **चेतना**—जीवन के लक्षण, **धृतिः**—धैर्य, **एतत्**—यह सारा, **क्षेत्रम्**—कर्मों का क्षेत्र, **समासेन**—संक्षेप में; **स-विकारम्**—अन्त क्रियाओं सहित, **उदाहृतम्**—उदाहरणस्वरूप कहा

पंच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त (तीनों गुणों की अप्रकट अवस्था), दसों इन्द्रियाँ तथा मन, पाँच इन्द्रियविषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, संघात, जीवन के लक्षण तथा धैर्य—इन सब को संक्षेप में कर्म का क्षेत्र तथा उसकी अन्तःक्रियाएँ (विकार) कहा जाता है।

तात्पर्य : महर्षियों, वैदिक सूक्तों (छान्दस) एवं *वेदान्त-सूत्र* (सूत्रों) के प्रामाणिक कथनों के आधार पर इस संसार के अवयवों को इस प्रकार से समझा जा सकता है। पहले तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—ये पाँच महा-भूत हैं। फिर अहंकार, बुद्धि तथा तीनों गुणों की अव्यक्त अवस्था आती है। इसके पश्चात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं—नेत्र, कान, नाक, जीभ तथा त्वचा। फिर पाँच कर्मेन्द्रियाँ—वाणी, पाँव, हाथ, गुदा तथा लिंग—हैं। तब इन इन्द्रियों के ऊपर मन होता है जो भीतर रहने के कारण अन्तःइन्द्रिय कहा जा सकता है। इस प्रकार मन समेत कुल ग्यारह इन्द्रियाँ होती हैं। फिर इन इन्द्रियों के पाँच विषय हैं—गंध, स्वाद, रूप, स्पर्श तथा ध्वनि। इस तरह इन चौवीस तत्त्वों का समूह कार्यक्षेत्र कहलाता है। यदि कोई इन चौवीसों विषयों का विश्लेषण करे तो उसे कार्यक्षेत्र समझ में आ जाएगा। फिर इच्छा, द्वेष, सुख तथा दुख नामक अन्तःक्रियाएँ (विकार) हैं जो स्थूल देह के पाँच महाभूतों की अभिव्यक्तियाँ हैं। चेतना तथा धैर्य द्वारा प्रदर्शित जीवन के लक्षण सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन, अहंकार तथा बुद्धि के प्राकट्य हैं। ये सूक्ष्म तत्त्व भी कर्मक्षेत्र में सम्मिलित रहते हैं।

पंच महाभूत अहंकार की स्थूल अभिव्यक्ति हैं, जो अहंकार की मूल अवस्था को ही प्रदर्शित करती है, जिसे भौतिकवादी बोध या *तामस* बुद्धि कहा जाता है। यह और आगे प्रकृति के तीनों गुणों की अप्रकट अवस्था की सूचक है। प्रकृति के अव्यक्त गुणों को *प्रधान* कहा जाता है।

जो व्यक्ति इन चोवीस तत्त्वों को, उनके विकारों समेत जानना चाहता है, उसे विस्तार से दर्शन का अध्ययन करना चाहिए। *भगवद्गीता* में केवल सारांश दिया गया है।

शरीर इन समस्त तत्त्वों की अभिव्यक्ति है। शरीर में छह प्रकार के परिवर्तन होते हैं—यह उत्पन्न होता है, बढ़ता है, टिकता है, सन्तान उत्पन्न करता है और तब यह क्षीण होता है और अन्त में समाप्त हो जाता है। अतएव क्षेत्र अस्थायी भौतिक वस्तु है लेकिन क्षेत्र का ज्ञाता *क्षेत्रज्ञ* इससे भिन्न रहता है।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ८ ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ९ ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ १० ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥११॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥१२॥

अमानित्वम्–विनम्रता; अदम्भित्वम्–दम्भविहीनता, अहिंसा–अहिंसा; क्षान्तिः–सहनशीलता, सहिष्णुता, आर्जवम्–सरलता, आचार्य-उपासनम्–प्रामाणिक गुरु के पास जाना; शौचम्–पवित्रता; स्थैर्यम्–दृढता; आत्म-विनिग्रहः–आत्म संयम; इन्द्रिय-अर्थेषु–इन्द्रियों के मामले में; वैराग्यम्–वैराग्य, अनहंकारः–मिथ्या अभिमान से रहित; एव–निश्चय ही; च–भी, जन्म–जन्म; मृत्यु–मृत्यु; जरा–बुढ़ापा, व्याधि–तथा रोग का, दुःख–दुख का, दोष–बुराई; अनुदर्शनम्–देखते हुए; असक्तिः–विना आसक्ति के, अनभिष्वङ्गः–विना संगति के, पुत्र–पुत्र; दार–स्त्री; गृह-आदिषु–घर आदि में, नित्यम्–निरन्तर, च–भी, सम-चित्तत्वम्–समभाव, इष्ट–इच्छित; अनिष्ट–अवांछित, उपपत्तिषु–प्राप्त करके; मयि–मुझ में; च–भी, अनन्य-योगेन–अनन्य भक्ति से; भक्तिः–भक्ति, अव्यभिचारिणी–विना व्यवधान के; विविक्त–एकान्त, देश–स्थानों की, सेवित्वम्–आकांक्षा करते हुए; अरतिः–अनासक्त भाव से, जन-संसदि–सामान्य लोगों को, अध्यात्म–आत्मा सम्बन्धी; ज्ञान–ज्ञान में; नित्यत्वम्–शाश्वतता; तत्त्वज्ञान–सत्य के ज्ञान के; अर्थ–हेतु; दर्शनम्–दर्शनशास्त्र; एतत्–यह सारा, ज्ञानम्–ज्ञान, इति–इस प्रकार, प्रोक्तम्–घोषित; अज्ञानम्–अज्ञान; यत्–जो; अतः–इससे; अन्यथा–अन्य, इतर।

विनम्रता, दम्भहीनता, अहिंसा, सहिष्णुता, सरलता, प्रामाणिक गुरु के पास जाना, पवित्रता, स्थिरता, आत्मसंयम, इन्द्रियतृप्ति के विषयों का परित्याग, अहंकार का अभाव, जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा रोग के दोषों की अनुभूति, वैराग्य, सन्तान, स्त्री, घर तथा अन्य वस्तुओं की ममता से मुक्ति, अच्छी तथा बुरी घटनाओं के प्रति समभाव, मेरे प्रति निरन्तर अनन्य भक्ति, एकान्त स्थान में रहने की इच्छा, जन समूह से विलगाव, आत्म-साक्षात्कार की महत्ता को स्वीकारना, तथा परम सत्य की दार्शनिक खोज–इन सबको मैं ज्ञान घोषित करता हूँ और इनके अतिरिक्त जो भी है, वह सब अज्ञान है।

तात्पर्य : कभी-कभी अल्पज्ञ लोग ज्ञान की इस प्रक्रिया को कार्यक्षेत्र की अन्तःक्रिया (विकार) के रूप में मानने की भूल करते हैं। लेकिन वास्तव में यही असली ज्ञान की प्रक्रिया है। यदि कोई इस प्रक्रिया को स्वीकार कर लेता है, तो परम सत्य तक पहुँचने की सम्भावना हो जाती है। यह इसके पूर्व बताये गये चौबीस तत्त्वों का विकार नहीं है। यह वास्तव में इन तत्त्वों के पाश से बाहर निकलने का साधन है। देहधारी आत्मा चौबीस तत्त्वों से बने आवरण रूप शरीर में बन्द रहता है और यहाँ पर ज्ञान की जिस प्रक्रिया का वर्णन है वह इससे बाहर निकलने का साधन है। ज्ञान की प्रक्रिया के सम्पूर्ण वर्णन में से ग्यारहवें श्लोक की प्रथम पंक्ति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है–*मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी*– "ज्ञान की प्रक्रिया का अवसान भगवान् की अनन्य भक्ति में होता है।" अतएव यदि कोई भगवान् की दिव्य सेवा को नहीं प्राप्त कर पाता या प्राप्त करने में असमर्थ है, तो शेष उन्नीस बातें व्यर्थ हैं। लेकिन यदि कोई पूर्ण कृष्णभावना से भक्ति

पंच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त (तीनों गुणों की अप्रकट अवस्था), दसों इन्द्रियाँ तथा मन, पाँच इन्द्रियविषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, संघात, जीवन के लक्षण तथा धैर्य—इन सब को संक्षेप में कर्म का क्षेत्र तथा उसकी अन्तःक्रियाएँ (विकार) कहा जाता है।

तात्पर्य : महर्षियों, वैदिक सूक्तों (छान्दस) एवं *वेदान्त-सूत्र* (सूत्रों) के प्रामाणिक कथनों के आधार पर इस संसार के अवयवों को इस प्रकार से समझा जा सकता है। पहले तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—ये पाँच महा-भूत हैं। फिर अहंकार, बुद्धि तथा तीनों गुणों की अव्यक्त अवस्था आती है। इसके पश्चात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं—नेत्र, कान, नाक, जीभ तथा त्वचा। फिर पाँच कर्मेन्द्रियाँ—वाणी, पाँव, हाथ, गुदा तथा लिंग—हैं। तब इन इन्द्रियों के ऊपर मन होता है जो भीतर रहने के कारण अन्तःइन्द्रिय कहा जा सकता है। इस प्रकार मन समेत कुल ग्यारह इन्द्रियाँ होती हैं। फिर इन इन्द्रियों के पाँच विषय हैं—गंध, स्वाद, रूप, स्पर्श तथा ध्वनि। इस तरह इन चौबीस तत्त्वों का समूह कार्यक्षेत्र कहलाता है। यदि कोई इन चौबीसों विषयों का विश्लेषण करे तो उसे कार्यक्षेत्र समझ में आ जाएगा। फिर इच्छा, द्वेष, सुख तथा दुख नामक अन्तःक्रियाएँ (विकार) हैं जो स्थूल देह के पाँच महाभूतों की अभिव्यक्तियाँ हैं। चेतना तथा धैर्य द्वारा प्रदर्शित जीवन के लक्षण सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन, अहंकार तथा बुद्धि के प्राकट्य हैं। ये सूक्ष्म तत्त्व भी कर्मक्षेत्र में सम्मिलित रहते हैं।

पंच महाभूत अहंकार की स्थूल अभिव्यक्ति हैं, जो अहंकार की मूल अवस्था को ही प्रदर्शित करती है, जिसे भौतिकवादी बोध या *तामस* बुद्धि कहा जाता है। यह और आगे प्रकृति के तीनों गुणों की अप्रकट अवस्था की सूचक है। प्रकृति के अव्यक्त गुणों को *प्रधान* कहा जाता है।

जो व्यक्ति इन चौबीस तत्त्वों को, उनके विकारों समेत जानना चाहता है, उसे विस्तार से दर्शन का अध्ययन करना चाहिए। *भगवद्गीता* में केवल सारांश दिया गया है।

शरीर इन समस्त तत्त्वों की अभिव्यक्ति है। शरीर में छह प्रकार के परिवर्तन होते हैं—यह उत्पन्न होता है, बढ़ता है, टिकता है, सन्तान उत्पन्न करता है और तब यह क्षीण होता है और अन्त में समाप्त हो जाता है। अतएव क्षेत्र अस्थायी भौतिक वस्तु है लेकिन क्षेत्र का ज्ञाता *क्षेत्रज्ञ* इससे भिन्न रहता है।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ८ ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ९ ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ १० ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥११॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥१२॥

अमानित्वम्–विनम्रता; **अदम्भित्वम्**–दम्भविहीनता; **अहिंसा**–अहिसा; **क्षान्तिः**–सहनशीलता, सहिष्णुता, **आर्जवम्**–सरलता, **आचार्य-उपासनम्**–प्रामाणिक गुरु के पास जाना, **शौचम्**–पवित्रता, **स्थैर्यम्**–दृढ़ता, **आत्म-विनिग्रहः**–आत्म सयम, **इन्द्रिय-अर्थेषु**–इन्द्रियों के मामले में; **वैराग्यम्**–वैराग्य; **अनहंकारः**–मिथ्या अभिमान से रहित, एव–निश्चय ही; च–भी; **जन्म**–जन्म; **मृत्यु**–मृत्यु, जरा–बुढ़ापा; **व्याधि**–तथा रोग का, दुःख–दुख का, **दोष**–बुराई, **अनुदर्शनम्**–देखते हुए; **असक्तिः**–विना आसक्ति के, **अनभिष्वङ्गः**–विना संगति के; **पुत्र**–पुत्र, **दार**–स्त्री; **गृह-आदिषु**–घर आदि में; **नित्यम्**–निरन्तर, **च**–भी; **सम-चित्तत्वम्**–समभाव; **इष्ट**–इच्छित; **अनिष्ट**–अवांछित, **उपपत्तिषु**–प्राप्त करके; **मयि**–मुझ में; **च**–भी; **अनन्य-योगेन**–अनन्य भक्ति से; **भक्तिः**–भक्ति, **अव्यभिचारिणी**–विना व्यवधान के; **विविक्त**–एकान्त; **देश**–स्थानों की; **सेवित्वम्**–आकांक्षा करते हुए, **अरतिः**–अनासक्त भाव से, **जन-संसदि**–सामान्य लोगों को, **अध्यात्म**–आत्मा सम्बन्धी; **ज्ञान**–ज्ञान में, **नित्यत्वम्**–शाश्वतता, **तत्त्वज्ञान**–सत्य के ज्ञान के, **अर्थ**–हेतु, **दर्शनम्**–दर्शनशास्त्र; **एतत्**–यह सारा; **ज्ञानम्**–ज्ञान; **इति**–इस प्रकार, **प्रोक्तम्**–घोषित, **अज्ञानम्**–अज्ञान; **यत्**–जो; **अतः**–इससे, **अन्यथा**–अन्य, इतर।

विनम्रता, दम्भहीनता, अहिंसा, सहिष्णुता, सरलता, प्रामाणिक गुरु के पास जाना, पवित्रता, स्थिरता, आत्मसंयम, इन्द्रियतृप्ति के विषयों का परित्याग, अहंकार का अभाव, जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा रोग के दोषों की अनुभूति, वैराग्य, सन्तान, स्त्री, घर तथा अन्य वस्तुओं की ममता से मुक्ति, अच्छी तथा बुरी घटनाओं के प्रति समभाव, मेरे प्रति निरन्तर अनन्य भक्ति, एकान्त स्थान में रहने की इच्छा, जन समूह से विलगाव, आत्म-साक्षात्कार की महत्ता को स्वीकारना, तथा परम सत्य की दार्शनिक खोज–इन सबको मैं ज्ञान घोषित करता हूँ और इनके अतिरिक्त जो भी है, वह सब अज्ञान है।

तात्पर्य : कभी-कभी अल्पज्ञ लोग ज्ञान की इस प्रक्रिया को कार्यक्षेत्र की अन्त क्रिया (विकार) के रूप मे मानने की भूल करते हैं। लेकिन वास्तव मे यही असली ज्ञान की प्रक्रिया है। यदि कोई इस प्रक्रिया को स्वीकार कर लेता हे, तो परम सत्य तक पहुँचने की सम्भावना हो जाती हे। यह इसके पूर्व वताये गये चोवीस तत्त्वो का विकार नही हे। यह वास्तव में इन तत्त्वों के पाश से वाहर निकलने का साधन हे। देहधारी आत्मा चोवीस तत्त्वों से वने आवरण रूप शरीर मे वन्द रहता हे ओर यहाँ पर ज्ञान की जिस प्रक्रिया का वर्णन है वह इससे वाहर निकलने का साधन हे। ज्ञान की प्रक्रिया के सम्पूर्ण वर्णन में से ग्यारहवें श्लोक की प्रथम पंक्ति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हे–*मयि* [illegible] *भक्तिरव्यभिचारिणी*– "ज्ञान की प्रक्रिया का अवसान भगवान् की अनन्य भक्ति [illegible] है।" अतएव यदि कोई भगवान् की दिव्य सेवा को नहीं प्राप्त कर पाता या [illegible] में असमर्थ है, तो शेष उन्नीस बातें व्यर्थ हैं। लेकिन यदि कोई पूर्ण कृष्णभावनामृत [illegible]

ग्रहण करता है, तो अन्य उन्नीस बातें उसके अन्दर स्वयमेव विकसित हो आती हैं। जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में (५.१८.१२) कहा गया है—*यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः*। जिसने भक्ति की अवस्था प्राप्त कर ली है, उसमें ज्ञान के सारे गुण विकसित हो जाते हैं। जैसा कि आठवें श्लोक में उल्लेख हुआ है, गुरु-ग्रहण करने का सिद्धान्त अनिवार्य है। यहाँ तक कि जो भक्ति स्वीकार करते हैं, उनके लिए भी यह अत्यावश्यक है। आध्यात्मिक जीवन का शुभारम्भ तभी होता है, जब प्रामाणिक गुरु ग्रहण किया जाय। भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ पर स्पष्ट कहते हैं कि ज्ञान की यह प्रक्रिया ही वास्तविक मार्ग है। इससे परे जो भी विचार किया जाता है, व्यर्थ होता है।

यहाँ पर ज्ञान की जो रूपरेखा प्रस्तुत की गई है उसका निम्नलिखित प्रकार से विश्लेषण किया जा सकता है। विनम्रता (*अमानित्व*) का अर्थ है कि मनुष्य को, अन्यों द्वारा सम्मान पाने के लिए इच्छुक नहीं रहना चाहिए। हम देहात्मबुद्धि के कारण अन्यों से सम्मान पाने के भूखे रहते हैं, लेकिन पूर्णज्ञान से युक्त व्यक्ति की दृष्टि में, जो यह जानता है कि वह शरीर नहीं है, इस शरीर से सम्बद्ध कोई भी वस्तु, सम्मान या अपमान व्यर्थ होता है। इस भौतिक छल के पीछे-पीछे दौड़ने से कोई लाभ नहीं है। लोग अपने धर्म में प्रसिद्धि चाहते हैं, अतएव यह देखा गया है कि कोई व्यक्ति धर्म के सिद्धान्तों को जाने बिना ही ऐसे समुदाय में सम्मिलित हो जाता है, जो वास्तव में धार्मिक सिद्धान्तों का पालन नहीं करता और इस तरह वह धार्मिक गुरु के रूप में अपना प्रचार करना चाहता है। जहाँ तक आध्यात्मिक ज्ञान में वास्तविक प्रगति की बात है, मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी परीक्षा करे कि वह कहाँ तक उन्नति कर रहा है। वह इन बातों के द्वारा अपनी परीक्षा कर सकता है।

अहिंसा का सामान्य अर्थ वध न करना या शरीर को नष्ट न करना लिया जाता है, लेकिन अहिंसा का वास्तविक अर्थ है, अन्यों को विपत्ति में न डालना। देहात्मबुद्धि के कारण सामान्य लोग अज्ञान द्वारा ग्रस्त रहते हैं और निरन्तर भौतिक कष्ट भोगते रहते हैं। अतएव जब तक कोई लोगों को आध्यात्मिक ज्ञान की ओर ऊपर नहीं उठाता, तब तक वह हिंसा करता रहता होता है। व्यक्ति को लोगों में वास्तविक ज्ञान वितरित करने का भरसक प्रयास करना चाहिए जिससे वे प्रबुद्ध हों और इस भवबन्धन से छूट सकें। यही अहिंसा है।

सहिष्णुता (*क्षान्तिः*) का अर्थ है कि मनुष्य अन्यों द्वारा किये गये अपमान तथा तिरस्कार को सहे। जो आध्यात्मिक ज्ञान की उन्नति करने में लगा रहता है, उसे अन्यों के तिरस्कार तथा अपमान सहने पड़ते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि यह भौतिक स्वभाव है। यहाँ तक कि बालक प्रह्लाद को भी जो पाँच वर्ष के थे और जो आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन में लगे थे संकट का सामना करना पड़ा था, जब उनका पिता उनकी भक्ति का विरोधी बन गया। उनके पिता ने उन्हें मारने के अनेक प्रयत्न किए, किन्तु प्रह्लाद ने सहन कर लिया। अतएव आध्यात्मिक ज्ञान की उन्नति करते हुए अनेक अवरोध आ सकते हैं, लेकिन हमें सहिष्णु बन कर संकल्पपूर्वक प्रगति करते रहना चाहिए।

सरलता (*आर्जवम्*) का अर्थ है कि बिना किसी कूटनीति के मनुष्य इतना सरल

हो कि अपने शत्रु तक से वास्तविक सत्य का उद्घाटन कर सके। जहाँ तक गुरु बनाने का प्रश्न है, (*आचार्योपासनम्*), आध्यात्मिक ज्ञान में प्रगति करने के लिए यह अत्यावश्यक है, क्योंकि बिना प्रामाणिक गुरु के यह सम्भव नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि विनम्रतापूर्वक गुरु के पास जाये और उसे अपनी समस्त सेवाएँ अर्पित करे, जिससे वह शिष्य को अपना आशीर्वाद दे सके। चूँकि प्रामाणिक गुरु कृष्ण का प्रतिनिधि होता है, अतएव यदि वह शिष्य को आशीर्वाद देता है, तो शिष्य तुरन्त ही प्रगति करने लगता है, भले ही वह विधि-विधानों का पालन न करता रहा हो। अथवा जो बिना किसी स्वार्थ के अपने गुरु की सेवा करता है, उसके लिए सारे यम-नियम सरल बन जाते हैं।

आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने के लिए पवित्रता (*शौचम्*) अनिवार्य है। पवित्रता दो प्रकार की होती है—आन्तरिक तथा बाह्य। बाह्य पवित्रता का अर्थ है स्नान करना, लेकिन आन्तरिक पवित्रता के लिए निरन्तर कृष्ण का चिन्तन तथा *हरे कृष्ण* मंत्र का कीर्तन करना होता है। इस विधि से मन में से पूर्व कर्म की संचित धूलि हट जाती है।

दृढ़ता (*स्थैर्यम्*) का अर्थ है कि आध्यात्मिक जीवन में उन्नति करने के लिए मनुष्य दृढ़संकल्प हो। ऐसे संकल्प के बिना मनुष्य ठोस प्रगति नहीं कर सकता। आत्मसंयम (*आत्म-विनिग्रहः*) का अर्थ है कि आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर जो भी बाधक हो, उसे स्वीकार न करना। मनुष्य को इसका अभ्यस्त बन कर ऐसी किसी भी वस्तु को त्याग देना चाहिए, जो आध्यात्मिक उन्नति के पथ के प्रतिकूल हो। यह असली वैराग्य है। इन्द्रियाँ इतनी प्रबल हैं कि वे सदैव इन्द्रियतृप्ति के लिए उत्सुक रहती हैं। अनावश्यक माँगों की पूर्ति नहीं करनी चाहिए। इन्द्रियों की उतनी ही तृप्ति की जानी चाहिए, जिससे आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ने में अपने कर्तव्य की पूर्ति होती हो। सबसे महत्त्वपूर्ण, किन्तु वश में न आने वाली इन्द्रिय जीभ है। यदि जीभ पर संयम कर लिया गया तो समझो अन्य सारी इन्द्रियाँ वशीभूत हो गईं। जीभ का कार्य है, स्वाद ग्रहण करना तथा उच्चारण करना। अतएव नियमित रूप से जीभ को कृष्णार्पित भोग के उच्छिष्ट का स्वाद लेने में तथा *हरे कृष्ण* का कीर्तन करने में प्रयुक्त करना चाहिए। जहाँ तक नेत्रों का सम्बन्ध है, उन्हें कृष्ण के सुन्दर रूप के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं देखने देना चाहिए। इससे नेत्र वश में होंगे। इसी प्रकार कानों को कृष्ण के विषय में श्रवण करने में लगाना चाहिए, और नाक को कृष्णार्पित फूलों को सूँघने में लगाना चाहिए। यह भक्ति की विधि है, और यहाँ यह समझना होगा कि *भगवद्गीता* केवल भक्ति के विज्ञान का प्रतिपादन करती है। भक्ति ही प्रमुख एवं एकमात्र लक्ष्य है। *भगवद्गीता* के बुद्धिहीन भाष्यकार पाठक के ध्यान को अन्य विषयों की ओर मोड़ना चाहते हैं, लेकिन *भगवद्गीता* में भक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई भी विषय नहीं है।

मिथ्या अहंकार का अर्थ है, इस शरीर को आत्मा मानना। जब कोई यह जान जाता है कि वह शरीर नहीं, अपितु आत्मा है तो वह वास्तविक अहंकार को प्राप्त होता है। अहंकार तो रहता ही है। मिथ्या अहंकार की भर्त्सना की जाती है, वास्तविक अहंकार की नहीं। वैदिक साहित्य में (*बृहदारण्यक उपनिषद्* १.४.१०) कहा गया है—*अहं ब्रह्मास्मि*—मैं ब्रह्म हूँ, मैं आत्मा हूँ। "मैं हूँ" ही आत्म भाव है, और यह आत्म साक्षात्कार

की मृत अवस्था में भी पाया जाता है। "मैं हूँ" का भाव ही अहंकार है लेकिन जब "मैं हूँ" भाव को मिथ्या शरीर के लिए प्रयुक्त किया जाता है, तो वह मिथ्या अहंकार होता है। जब इस आत्म भाव (स्वरूप) को वास्तविकता के लिए प्रयुक्त किया जाता है, तो वह वास्तविक अहंकार होता है। ऐसे कुछ दार्शनिक हैं, जो यह कहते हैं कि हमें अपना अहंकार त्यागना चाहिए। लेकिन हम अपने अहंकार को त्यागें कैसे? क्योंकि अहंकार का अर्थ है स्वरूप। लेकिन हमें मिथ्या देहात्मबुद्धि का त्याग करना ही होगा।

जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि को स्वीकार करने के कष्ट को समझना चाहिए। वैदिक ग्रन्थों में जन्म के अनेक वृत्तान्त हैं। *श्रीमद्भागवत* में जन्म से पूर्व की स्थिति, माता के गर्भ में बालक के निवास, उसके कष्ट आदि का सजीव वर्णन हुआ है। यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि जन्म बहुत कष्टपूर्ण है। चूँकि हम यह भूल जाते हैं कि माता के गर्भ में हमें कितना कष्ट मिला है, अतएव हम जन्म तथा मृत्यु की पुनरावृत्ति का कोई हल नहीं निकाल पाते। इसी प्रकार मृत्यु के समय भी सभी प्रकार के कष्ट मिलते हैं, जिनका उल्लेख प्रामाणिक शास्त्रों में हुआ है। इनकी विवेचना की जानी चाहिए। जहाँ तक रोग तथा वृद्धावस्था का प्रश्न है, सबों को इनका व्यावहारिक अनुभव है। कोई भी रोगग्रस्त नहीं होना चाहता, कोई भी बूढ़ा नहीं होना चाहता, लेकिन इनसे बचा नहीं जा सकता। जब तक हम जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के दुखों को देखते हुए इस भौतिक जीवन के प्रति निराशावादी दृष्टिकोण नहीं बना पाते, तब तक आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं रह जाता।

जहाँ तक संतान, पत्नी तथा घर से विरक्ति की बात है, इसका अर्थ यह नहीं कि इनके लिए कोई भावना ही न हो। ये सब स्नेह की प्राकृतिक वस्तुएँ हैं। लेकिन जब ये आध्यात्मिक उन्नति में अनुकूल न हों, तो इनके प्रति आसक्त नहीं होना चाहिए। घर को सुखमय बनाने की सर्वोत्तम विधि कृष्णभावनामृत है। यदि कोई कृष्णभावनामृत से पूर्ण रहे, तो वह अपने घर को अत्यन्त सुखमय बना सकता है, क्योंकि कृष्णभावनामृत की विधि अत्यन्त सरल है। इसमें केवल *हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे*—का कीर्तन करना होता है, कृष्णार्पित भोग का उच्छिष्ट ग्रहण करना होता है, *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे ग्रन्थों पर विचार-विमर्श करना होता है, और अर्चाविग्रह की पूजा करनी होती है। इन चारों बातों से मनुष्य सुखी होगा। मनुष्य को चाहिए कि अपने परिवार के सदस्यों को ऐसी शिक्षा दे। परिवार के सदस्य प्रतिदिन प्रातः तथा सायंकाल बैठ कर साथ-साथ *हरे कृष्ण* मन्त्र का कीर्तन करें। यदि कोई इन चारों सिद्धान्तों का पालन करते हुए अपने पारिवारिक जीवन को कृष्णभावनामृत विकसित करने में ढाल सके, तो पारिवारिक जीवन को त्याग कर विरक्त जीवन बिताने की आवश्यकता नहीं होगी। लेकिन यदि यह आध्यात्मिक प्रगति के लिए अनुकूल न रहे, तो पारिवारिक जीवन का परित्याग कर देना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण के साक्षात्कार करने या उनकी सेवा करने के लिए सर्वस्व न्योछावर कर दे, जिस प्रकार से अर्जुन ने किया था। अर्जुन अपने परिजनों को मारना नहीं चाह रहा था, किन्तु जब वह समझ गया कि ये परिजन कृष्णसाक्षात्कार में बाधक हो रहे हैं, तो उसने कृष्ण के आदेश को स्वीकार किया। वह उनसे लड़ा और उसने उनको मार डाला। इन

सब विषयों में मनुष्य को पारिवारिक जीवन के सुख-दुख में विरक्त रहना चाहिए, क्योंकि इस संसार में कोई कभी भी न तो पूर्ण सुखी रह सकता है, न दुखी।

सुख-दुख भौतिक जीवन को दूषित करने वाले हैं। मनुष्य को चाहिए कि इन्हें सहना सीखे, जैसा कि *भगवद्गीता* में उपदेश दिया गया है। कोई कभी भी सुख-दुख के आने-जाने पर प्रतिबन्ध नहीं लगा सकता, अतः मनुष्य को चाहिए कि भौतिकवादी जीवन-शैली से अपने को विलग कर ले और दोनों ही दशाओं में समभाव बनाये रहे। सामान्यतया जब हमें इच्छित वस्तु मिल जाती है, तो हम अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और जब अनिच्छित घटना घटती है, तो हम दुखी होते हैं। लेकिन यदि हम वास्तविक आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त हों, तो ये बातें हमें विचलित नहीं कर पाएँगी। इस स्थिति तक पहुँचने के लिए हमें अटूट भक्ति का अभ्यास करना होता है। विपथ हुए बिना कृष्णभक्ति का अर्थ होता है भक्ति की नव विधियों—कीर्तन, श्रवण, पूजन आदि में प्रवृत्त होना, जैसा नवें अध्याय के अन्तिम श्लोक में वर्णन हुआ है। इस विधि का अनुसरण करना चाहिए।

यह स्वाभाविक है कि आध्यात्मिक जीवन-शैली का अभ्यस्त हो जाने पर मनुष्य भौतिकवादी लोगों से मिलना नहीं चाहेगा। इससे उसे हानि पहुँच सकती है। मनुष्य को चाहिए कि वह यह परीक्षा करके देख ले कि वह अवांछित संगति के बिना एकान्तवास करने में कहाँ तक सक्षम है। यह स्वाभाविक ही है कि भक्त में व्यर्थ के खेलकूद या सिनेमा जाने या किसी सामाजिक उत्सव में सम्मिलित होने की कोई रुचि नहीं होती, क्योंकि वह यह जानता है कि यह समय को व्यर्थ गँवाना है। कुछ शोध-छात्र तथा दार्शनिक ऐसे हैं जो कामवासनापूर्ण जीवन या अन्य विषय का अध्ययन करते हैं, लेकिन *भगवद्गीता* के अनुसार ऐसा शोध कार्य और दार्शनिक चिन्तन निरर्थक है। यह एक प्रकार से व्यर्थ होता है। *भगवद्गीता* के अनुसार मनुष्य को चाहिए कि अपने दार्शनिक विवेक से वह आत्मा की प्रकृति के विषय में शोध करे। उसे चाहिए कि वह अपने आत्मा को समझने के लिए शोध करे। यहाँ पर इसी की संस्तुति की गई है।

जहाँ तक आत्म-साक्षात्कार का सम्बन्ध है, यहाँ पर स्पष्ट उल्लेख है कि भक्तियोग ही व्यावहारिक है। ज्योंही भक्ति की बात उठे, तो मनुष्य को चाहिए कि परमात्मा तथा आत्मा के सम्बन्ध पर विचार करे। आत्मा तथा परमात्मा कभी एक नहीं हो सकते, विशेषतया भक्तियोग में तो कभी नहीं। परमात्मा के प्रति आत्मा की यह सेवा नित्य है, जैसा कि स्पष्ट किया गया है। अतएव भक्ति शाश्वत (नित्य) है। मनुष्य को इसी दार्शनिक धारणा में स्थित होना चाहिए।

श्रीमद्भागवत में (१.२.११) व्याख्या की गई है—*वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्*—जो परम सत्य के वास्तविक ज्ञाता हैं, वे जानते हैं कि आत्मा का साक्षात्कार तीन रूपों में किया जाता है—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्। परम सत्य के साक्षात्कार में भगवान् पराकाष्ठा होते हैं, अतएव मनुष्य को चाहिए कि भगवान् को समझने के पद तक पहुँचे और भगवान् की भक्ति में लग जाय। यही ज्ञान की पूर्णता है।

विनम्रता से लेकर भगवत्साक्षात्कार तक की विधि भूमि से चल कर ऊप

तक पहुँचने के लिए सीढ़ी के समान है। इस सीढ़ी में कुछ ऐसे लोग हैं, जो अभी पहली सीढ़ी पर हैं, कुछ दूसरी पर, तो कुछ तीसरी पर। किन्तु जब तक मनुष्य ऊपरी मंजिल पर नहीं पहुँच जाता, जो कि कृष्ण का ज्ञान है, तब तक वह ज्ञान की निम्नतर अवस्था में ही रहता है। यदि कोई ईश्वर की बराबरी करते हुए आध्यात्मिक ज्ञान में प्रगति करना चाहता है, तो उसका प्रयास विफल होगा। यह स्पष्ट कहा गया है कि विनम्रता के बिना ज्ञान सम्भव नहीं है। अपने को ईश्वर समझना सर्वाधिक गर्व है। यद्यपि जीव सदैव प्रकृति के कठोर नियमों द्वारा ठुकराया जाता है, फिर भी वह अज्ञान के कारण सोचता है कि "मैं ईश्वर हूँ।" ज्ञान का शुभारम्भ 'अमानित्व' या विनम्रता से होता है। मनुष्य को विनम्र होना चाहिए। परमेश्वर के प्रति विद्रोह के कारण ही मनुष्य प्रकृति के अधीन हो जाता है। मनुष्य को इस सच्चाई को जानना और इससे विश्वस्त होना चाहिए।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥१३॥

ज्ञेयम्–जानने योग्य; **यत्**–जो; **तत्**–वह; **प्रवक्ष्यामि**–अब मैं बतलाऊँगा; **यत्**–जिसे; **ज्ञात्वा**–जानकर; **अमृतम्**–अमृत का; **अश्नुते**–आस्वादन करता है; **अनादि**–आदि रहित; **मत्-परम्**–मेरे अधीन; **ब्रह्म**–आत्मा; **न**–न तो; **सत्**–कारण; **तत्**–वह; **न**–न तो; **असत्**–कार्य,प्रभाव; **उच्यते**–कहा जाता है।

अब मैं तुम्हें ज्ञेय के विषय में बतलाऊँगा, जिसे जानकर तुम नित्य ब्रह्म का आस्वादन कर सकोगे। यह ब्रह्म या आत्मा, जो अनादि है और मेरे अधीन है, इस भौतिक जगत् के कार्य-कारण से परे स्थित है।

तात्पर्य : भगवान् ने क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ की व्याख्या की। उन्होंने क्षेत्रज्ञ को जानने की विधि की भी व्याख्या की। अब वे ज्ञेय के विषय में बता रहे हैं–पहले आत्मा के विषय में, फिर परमात्मा के विषय में। ज्ञाता अर्थात् आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही के ज्ञान से मनुष्य जीवन-अमृत का आस्वादन कर सकता है। जैसा कि द्वितीय अध्याय में कहा गया है, जीव नित्य है। इसकी भी यहाँ पुष्टि हुई है। *जीव* के उत्पन्न होने की कोई निश्चित तिथि नहीं है। न ही कोई परमेश्वर से *जीवात्मा* के प्राकट्य का इतिहास बता सकता है। अतएव वह अनादि है। इसकी पुष्टि वैदिक साहित्य से होती है–*न जायते म्रियते वा विपश्चित्* (*कठोपनिषद्* १.२.१८)। शरीर का ज्ञाता न तो कभी उत्पन्न होता है, और न मरता है। वह ज्ञान से पूर्ण होता है।

वैदिक साहित्य में (*श्वेताश्वतर उपनिषद* ६.१६) भी परमेश्वर को परमात्मा रूप में–*प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः*–शरीर का मुख्य ज्ञाता तथा प्रकृति के गुणों का स्वामी कहा गया है। स्मृति वचन है–*दासभूतो हरेरेव नान्यस्यैव कदाचन*। जीवात्माएँ सदा भगवान् की सेवा में लगी रहती हैं। इसकी पुष्टि भगवान् चैतन्य के अपने उपदेशों में भी है। अतएव इस श्लोक में ब्रह्म का जो वर्णन है, वह आत्मा का है और जब ब्रह्म शब्द जीवात्मा के लिए व्यवहृत होता है, तो यह समझना चाहिए कि वह *आनन्दब्रह्म* न होकर *विज्ञानब्रह्म* है। *आनन्द ब्रह्म* ही *परब्रह्म* भगवान् है।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥१४॥

सर्वतः–सर्वत्र, पाणि–हाथ, पादम्–पैर; तत्–वह, सर्वतः–सर्वत्र, अक्षि–आँखें; शिरः–सिर, मुखम्–मुँह; सर्वतः–सर्वत्र, श्रुति-मत्–कानों से युक्त; लोके–संसार में; सर्वम्–हर वस्तु, आवृत्य–व्याप्त करके; तिष्ठति–अवस्थित है।

उनके हाथ, पाँव, आखें, सिर तथा मुँह तथा उनके कान सर्वत्र हैं। इस प्रकार परमात्मा सभी वस्तुओं में व्याप्त होकर अवस्थित है।

तात्पर्य : जिस प्रकार सूर्य अपनी अनन्त रश्मियों को विकीर्ण करके स्थित है, उसी प्रकार परमात्मा या भगवान् भी हैं। वे अपने सर्वव्यापी रूप में स्थित रहते हैं, और उनमें आदि शिक्षक ब्रह्मा से लेकर छोटी सी चींटी तक के सारे जीव स्थित हैं। उनके अनन्त सिर, हाथ, पाँव तथा नेत्र हैं, और अनन्त जीव हैं। ये सभी परमात्मा में ही स्थित हैं। अतएव परमात्मा सर्वव्यापक है। लेकिन आत्मा यह नहीं कह सकता कि उसके हाथ, पाँव तथा नेत्र चारों दिशाओं में हैं। यह सम्भव नहीं है। यदि वह अज्ञान के कारण यह सोचता है कि उसे इसका ज्ञान नहीं है कि उसके हाथ तथा पैर चतुर्दिक प्रसरित हैं, किन्तु समुचित ज्ञान होने पर वह ऐसी स्थिति में आ जायेगा तो उसका ऐसा सोचना उल्टा है। इसका अर्थ यही होता है कि प्रकृति द्वारा बद्ध होने के कारण आत्मा परम नहीं है। परमात्मा आत्मा से भिन्न है। परमात्मा अपना हाथ असीम दूरी तक फैला सकता है, किन्तु आत्मा ऐसा नहीं कर सकता। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि यदि कोई उन्हें पत्र, पुष्प या जल अर्पित करता है, तो वे उसे स्वीकार करते हैं। यदि भगवान् दूर होते तो फिर इन वस्तुओं को वे कैसे स्वीकार कर पाते? यही भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता है। यद्यपि वे पृथ्वी से बहुत दूर अपने धाम में स्थित हैं, तो भी वे किसी के द्वारा अर्पित कोई भी वस्तु अपना हाथ फैला कर ग्रहण कर सकते हैं। यही उनकी शक्तिमत्ता है। *ब्रह्मसंहिता* में (५.३७) कहा गया है–*गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूत*–यद्यपि वे अपने दिव्य लोक में लीला-रत रहते हैं, फिर भी वे सर्वव्यापी हैं। आत्मा ऐसा घोषित नहीं कर सकता कि वह सर्वव्याप्त है। अतएव इस श्लोक में आत्मा (जीव) नहीं, अपितु परमात्मा या भगवान् का वर्णन हुआ है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥१५॥

सर्व–समस्त, इन्द्रिय–इन्द्रियों का, गुण–गुणों का, आभासम्–मूल स्रोत, सर्व–समस्त, इन्द्रिय–इन्द्रियों से; विवर्जितम्–विहीन; असक्तम्–अनासक्त, सर्वभृत्–प्रत्येक का पालनकर्ता च–भी, एव–निश्चय ही, निर्गुणम्–गुणविहीन, गुण-भोक्तृ–गुणों का स्वामी च–भी।

परमात्मा समस्त इन्द्रियों के मूल स्रोत हैं, फिर भी वे इन्द्रियों से रहित हैं। वे समस्त जीवों के पालनकर्ता होकर भी अनासक्त हैं। वे प्रकृति के गुणों से परे हैं, फिर भी वे भौतिक प्रकृति के समस्त गुणों के स्वामी हैं।

तात्पर्य : यद्यपि परमेश्वर समस्त जीवों की समस्त इन्द्रियों के स्रोत हैं, फिर भी जीवों की तरह उनके भौतिक इन्द्रियाँ नहीं होतीं। वास्तव में जीवों में आध्यात्मिक इन्द्रियाँ होती हैं, लेकिन बद्ध जीवन में वे भौतिक तत्त्वों से आच्छादित रहती हैं, अतएव इन्द्रियकार्यों का प्राकट्य पदार्थ द्वारा होता है। परमेश्वर की इन्द्रियाँ इस तरह आच्छादित नहीं रहतीं। उनकी इन्द्रियाँ दिव्य होती हैं, अतएव निर्गुण कहलाती हैं। गुण का अर्थ है भौतिक गुण, लेकिन उनकी इन्द्रियाँ भौतिक आवरण से रहित होती हैं। यह समझ लेना चाहिए कि उनकी इन्द्रियाँ हमारी इन्द्रियों जैसी नहीं होतीं। यद्यपि वे हमारे समस्त ऐन्द्रिय कार्यों के स्रोत हैं, लेकिन उनकी इन्द्रियाँ दिव्य होती हैं, जो कल्मषरहित होती हैं। इसकी बड़ी ही सुन्दर व्याख्या *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में (३.१९) *अपाणिपादो जवनो ग्रहीता* श्लोक में हुई है। भगवान् के हाथ भौतिक कल्मषों से ग्रस्त नहीं होते, अतएव उन्हें जो कुछ अर्पित किया जाता है, उसे वे अपने हाथों से ग्रहण करते हैं। बद्धजीव तथा परमात्मा में यही अन्तर है। उनके भौतिक नेत्र नहीं होते, फिर भी उनके नेत्र होते हैं, अन्यथा वे कैसे देख सकते? वे सब कुछ देखते हैं—भूत,वर्तमान तथा भविष्य। वे जीवों के हृदय में वास करते हैं, और वे जानते हैं कि भूतकाल में हमने क्या किया, अब क्या कर रहे हैं और भविष्य में क्या होने वाला है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है। वे सब कुछ जानते हैं, किन्तु उन्हें कोई नहीं जानता। कहा जाता है कि परमेश्वर के हमारे जैसे पाँव नहीं हैं, लेकिन वे आकाश में विचरण कर सकते हैं, क्योंकि उनके आध्यात्मिक पाँव होते हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् निराकार नहीं हैं, उनके अपने नेत्र, पाँव, हाथ, सभी कुछ होते हैं, और चूँकि हम सभी परमेश्वर के अंश हैं, अतएव हमारे पास भी ये सारी वस्तुएँ होती हैं। लेकिन उनके हाथ, पाँव, नेत्र तथा अन्य इन्द्रियाँ प्रकृति द्वारा कल्मषग्रस्त नहीं होतीं।

भगवद्गीता से भी पुष्टि होती है कि जब भगवान् प्रकट होते हैं, तो वे अपनी अन्तरंगा शक्ति से यथारूप में प्रकट होते हैं। वे भौतिक शक्ति द्वारा कल्मषग्रस्त नहीं होते, क्योंकि वे भौतिक शक्ति के भी स्वामी हैं। वैदिक साहित्य से हमें पता चलता है कि उनका सारा शरीर आध्यात्मिक है। उनका अपना नित्यस्वरूप होता है, जो सच्चिदानन्द विग्रह है। वे समस्त ऐश्वर्य से पूर्ण हैं। वे सारी सम्पत्ति के स्वामी हैं और सारी शक्ति के स्वामी हैं। वे सर्वाधिक बुद्धिमान तथा ज्ञान से पूर्ण हैं। ये भगवान् के कुछ लक्षण हैं। वे समस्त जीवों के पालक हैं और सारी गतिविधि के साक्षी हैं। जहाँ तक वैदिक साहित्य से समझा जा सकता है, परमेश्वर सदैव दिव्य हैं। यद्यपि हमें उनके हाथ, पाँव, सिर, मुख नहीं दीखते, लेकिन वे होते हैं और जब हम दिव्य पद तक ऊपर उठ जाते हैं, तो हमें भगवान् के स्वरूप के दर्शन होते हैं। कल्मषग्रस्त इन्द्रियों के कारण हम उनके स्वरूप को देख नहीं पाते। अतएव निर्विशेषवादी भगवान् को नहीं समझ सकते, क्योंकि वे भौतिक दृष्टि से प्रभावित होते हैं।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥१६॥

बहिः—बाहर; अन्तः—भीतर; च—भी; भूतानाम्—जीवों का; अचरम्—जड़; चरम्—जंगम; एव—भी; च—तथा; सूक्ष्मत्वात्—सूक्ष्म होने के कारण; तत्—वह; अविज्ञेयम्—अज्ञेय; दूर-स्थम्—दूर स्थित; च—भी; अन्तिके—पास; च—तथा; तत्—वह।

परमसत्य जड़ तथा जंगम समस्त जीवों के बाहर तथा भीतर स्थित हैं। सूक्ष्म होने के कारण वे भौतिक इन्द्रियों के द्वारा जानने या देखने से परे हैं। यद्यपि वे अत्यन्त दूर रहते हैं, किन्तु हम सबों के निकट भी हैं।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य से हम जानते हैं कि परम-पुरुष नारायण प्रत्येक जीव के बाहर तथा भीतर निवास करने वाले हैं। वे भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही जगतों में विद्यमान रहते हैं। यद्यपि वे बहुत दूर हैं, फिर भी वे हमारे निकट रहते हैं। ये वैदिक साहित्य के वचन हैं। *आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः* (कठोपनिषद् १.२.२१)। चूँकि वे निरन्तर दिव्य आनन्द भोगते रहते हैं, अतएव हम यह नहीं समझ पाते कि वे सारे ऐश्वर्य का भोग किस तरह करते हैं। हम इन भौतिक इन्द्रियों से न तो उन्हें देख पाते हैं, न समझ पाते हैं। अतएव वैदिक भाषा में कहा गया है कि उन्हें समझने में हमारा भौतिक मन तथा इन्द्रियाँ असमर्थ हैं। किन्तु जिसने, भक्ति में कृष्णभावनामृत का अभ्यास करते हुए, अपने मन तथा इन्द्रियों को शुद्ध कर लिया है, वह उन्हें निरन्तर देख सकता है। *ब्रह्मसंहिता* में इसकी पुष्टि हुई है कि परमेश्वर के लिए जिस भक्त में प्रेम उपज चुका है, वह निरन्तर उनका दर्शन कर सकता है। और *भगवद्गीता* में (११.५४) इसकी पुष्टि हुई है कि उन्हें केवल भक्ति द्वारा देखा तथा समझा जा सकता है। *भक्त्या त्वनन्यया शक्यः*।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥१७॥

अविभक्तम्—बिना विभाजन के; च—भी; भूतेषु—समस्त जीवों में; विभक्तम्—बँटा हुआ; इव—मानो; च—भी; स्थितम्—स्थित; भूत-भर्तृ—समस्त जीवों का पालक; च—भी; तत्—वह; ज्ञेयम्—जानने योग्य; ग्रसिष्णु—निगलते हुए, संहार करने वाला; प्रभविष्णु—विकास करते हुए; च—भी।

यद्यपि परमात्मा समस्त जीवों के मध्य विभाजित प्रतीत होता है, लेकिन वह कभी भी विभाजित नहीं है। वह एक रूप में स्थित है। यद्यपि वह प्रत्येक जीव का पालनकर्ता है, लेकिन यह समझना चाहिए कि वह सबों का संहारकर्ता है और सबों को जन्म देता है।

तात्पर्य : भगवान् सबों के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित हैं। तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि वे बँट गए हैं? नहीं। वास्तव में वे एक हैं। यहाँ पर सूर्य का उदाहरण दिया जाता है। सूर्य मध्याह्न समय अपने स्थान पर रहता है, लेकिन यदि कोई चारों ओर पाँच हजार मील की दूरी पर घूमे और पूछे कि सूर्य कहाँ है, तो सभी लोग यही कहेंगे कि वह उसके सिर पर चमक रहा है। वैदिक साहित्य में यह उदाहरण यह [illegible] लिए दिया गया है कि यद्यपि भगवान् अविभाजित हैं, लेकिन इस प्रकार वि

विभाजित हों। यही नहीं, वैदिक साहित्य में यह भी कहा गया है कि अपनी सर्वशक्तिमत्ता के द्वारा एक विष्णु सर्वत्र विद्यमान हैं, जिस तरह अनेक पुरुषों को एक ही सूर्य की प्रतीति अनेक स्थानों में होती है। यद्यपि परमेश्वर प्रत्येक जीव के पालनकर्ता हैं, किन्तु प्रलय के समय सवों का भक्षण कर जाते हैं। इसकी पुष्टि ग्यारहवें अध्याय में हो चुकी है, जहाँ भगवान् कहते हैं कि वे कुरुक्षेत्र में एकत्र सारे योद्धाओं का भक्षण करने के लिए आये हैं। उन्होंने यह भी कहा कि वे काल के रूप में सब का भक्षण करते हैं। वे सवके प्रलयकारी और संहारकर्ता हैं। जब सृष्टि की जाती है, तो वे सवों को मूल स्थिति से विकसित करते हैं और प्रलय के समय उन सवको निगल जाते हैं। वैदिक स्तोत्र पुष्टि करते हैं कि वे समस्त जीवों के मूल तथा सवके आश्रय-स्थल हैं। सृष्टि के बाद सारी वस्तुएँ उनकी सर्वशक्तिमत्ता पर टिकी रहती हैं और प्रलय के बाद सारी वस्तुएँ पुनः उन्हीं में विश्राम पाने के लिए लौट आती हैं। ये सब वैदिक स्तोत्रों की पुष्टि करने वाले हैं। *यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्व* (*तैत्तिरीय उपनिषद्* ३.१)।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥१८॥

ज्योतिषाम्–समस्त प्रकाशमान वस्तुओं में; **अपि**–भी; **तत्**–वह; **ज्योतिः**–प्रकाश का स्रोत; **तमसः**–अन्धकार; **परम्**–परे; **उच्यते**–कहलाता है; **ज्ञानम्**–ज्ञान; **ज्ञेयम्**–जानने योग्य; **ज्ञान-गम्यम्**–ज्ञान द्वारा पहुँचने योग्य; **हृदि**–हृदय में; **सर्वस्य**–सब; **विष्ठितम्**–स्थित।

वे समस्त प्रकाशमान वस्तुओं के प्रकाशस्रोत हैं। वे भौतिक अंधकार से परे हैं और अगोचर हैं। वे ज्ञान हैं, ज्ञेय हैं और ज्ञान के लक्ष्य हैं। वे सवके हृदय में स्थित हैं।

तात्पर्य : परमात्मा या भगवान् ही सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्रों जैसी समस्त प्रकाशमान वस्तुओं के प्रकाशस्रोत हैं। वैदिक साहित्य से हमें पता चलता है कि वैकुण्ठ राज्य में सूर्य या चन्द्रमा की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि वहाँ पर परमेश्वर का तेज जो है। भौतिक जगत् में वह ब्रह्मज्योति या भगवान् का आध्यात्मिक तेज महत्तत्त्व अर्थात् भौतिक तत्त्वों से ढका रहता है। अतएव इस जगत् में हमें सूर्य, चन्द्र, विजली आदि के प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है, लेकिन आध्यात्मिक जगत् में ऐसी वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती। वैदिक साहित्य में स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् के प्रकाशमय तेज से प्रत्येक वस्तु प्रकाशित रहती है। अतः यह स्पष्ट है कि वे इस भौतिक जगत् में स्थित नहीं हैं, वे तो आध्यात्मिक जगत् (*वैकुण्ठ लोक*) में स्थित हैं, जो चिन्मय आकाश में बहुत ही दूरी पर है। इसकी भी पुष्टि वैदिक साहित्य से होती है। *आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्* (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ३.८)। वे सूर्य की भाँति अत्यन्त तेजोमय हैं, लेकिन इस भौतिक जगत के अन्धकार से बहुत दूर हैं।

उनका ज्ञान दिव्य है। वैदिक साहित्य पुष्टि करता है कि ब्रह्म घनीभूत दिव्य ज्ञान है। जो वैकुण्ठलोक जाने का इच्छुक है, उसे परमेश्वर द्वारा ज्ञान प्रदान किया जाता है,

जो प्रत्येक हृदय में स्थित हैं। एक वैदिक मन्त्र है (*श्वेताश्वतर-उपनिषद्* ६.१८)—*तं ह देवम् आत्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये*। मुक्ति के इच्छुक मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् की शरण मे जाय। जहाँ तक चरम ज्ञान के लक्ष्य का सम्बन्ध है, वैदिक साहित्य से भी पुष्टि होती है—*तमेव विदित्वाति मृत्युमेति*—उन्हें जान लेने के बाद ही जन्म तथा मृत्यु की परिधि को लाँघा जा सकता है (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ३.८)।

वे प्रत्येक हृदय में परम नियन्ता के रूप में स्थित हैं। परमेश्वर के हाथ-पैर सर्वत्र फैले हैं, लेकिन जीवात्मा के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतएव यह मानना ही पड़ेगा कि कार्य क्षेत्र को जानने वाले दो ज्ञाता हैं—एक जीवात्मा तथा दूसरा परमात्मा। पहले के हाथ-पैर केवल किसी एक स्थान तक सीमित (एकदेशीय) हैं, जबकि कृष्ण के हाथ-पैर सर्वत्र फैले हैं। इसकी पुष्टि *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में (३.१७) इस प्रकार हुई है—*सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्*। वह परमेश्वर या परमात्मा समस्त जीवों का स्वामी या प्रभु है, अतएव वह उन सबका चरम आश्रय है। अतएव इस बात से मना नहीं किया जा सकता कि परमात्मा तथा जीवात्मा सदैव भिन्न होते हैं।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥१९॥

इति—इस प्रकार; क्षेत्रम्—कर्म का क्षेत्र (शरीर), तथा—भी; ज्ञानम्—ज्ञान, ज्ञेयम्—जानने योग्य, च—भी, उक्तम्—कहा गया, समासतः—संक्षेप में, मत्-भक्तः—मेरा भक्त, एतत्—यह सब; विज्ञाय—जान कर; मत्-भावाय—मेरे स्वभाव को, उपपद्यते—प्राप्त करता है।

इस प्रकार मैंने कर्म क्षेत्र (शरीर), ज्ञान तथा ज्ञेय का संक्षेप में वर्णन किया है। इसे केवल मेरे भक्त ही पूरी तरह समझ सकते हैं और इस तरह मेरे स्वभाव को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् ने शरीर, ज्ञान तथा ज्ञेय का संक्षेप में वर्णन किया है। यह ज्ञान तीन वस्तुओं का है—ज्ञाता, ज्ञेय तथा जानने की विधि। ये तीनों मिलकर विज्ञान कहलाते हैं। पूर्ण ज्ञान भगवान् के अनन्य भक्तों द्वारा प्रत्यक्षत. समझा जा सकता है। अन्य इसे समझ पाने में असमर्थ रहते हैं। अद्वैतवादियों का कहना है कि अन्तिम अवस्था में ये तीनों बातें एक हो जाती हैं, लेकिन भक्त इसे नहीं मानते। ज्ञान तथा ज्ञान के विकास का अर्थ है, अपने आपको कृष्णभावनामृत में समझना। हम भौतिक चेतना द्वारा संचालित होते हैं, लेकिन ज्योंही हम अपनी सारी चेतना कृष्ण के कार्यों में स्थानान्तरित कर देते हैं, और इसका अनुभव करते हैं कि कृष्ण ही सब कुछ हैं, तो हम वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, ज्ञान तो भक्ति को पूर्णतया समझने के लिए प्रारम्भिक अवस्था है। पन्द्रहवें अध्याय में इसकी विशद व्याख्या की गई है।

अब हम सारांश रूप में कह सकते हैं कि श्लोक ६ तथा ७ के *महाभूतानि* से लेकर *चेतना धृतिः* तक भौतिक तत्त्वों तथा जीवन के लक्षणों की कुछ अभिव्यक्तियों का विश्लेपण हुआ है। ये सब मिलकर शरीर अथवा कार्यक्षेत्र का निर्माण करते हैं, तथा श्लोक ८ से लेकर १२ तक *अमानित्वम्* से लेकर *तत्त्वज्ञानार्थ-दर्शनम्* तक कार्यक्षेत्र के

विभाजित हों। यही नहीं, वैदिक साहित्य में यह भी कहा गया है कि अपनी सर्वशक्तिमत्ता के द्वारा एक विष्णु सर्वत्र विद्यमान हैं, जिस तरह अनेक पुरुषों को एक ही सूर्य की प्रतीति अनेक स्थानों में होती है। यद्यपि परमेश्वर प्रत्येक जीव के पालनकर्ता हैं, किन्तु प्रलय के समय सबों का भक्षण कर जाते हैं। इसकी पुष्टि ग्यारहवें अध्याय में हो चुकी है, जहाँ भगवान् कहते हैं कि वे कुरुक्षेत्र में एकत्र सारे योद्धाओं का भक्षण करने के लिए आये हैं। उन्होंने यह भी कहा कि वे काल के रूप में सब का भक्षण करते हैं। वे सबके प्रलयकारी और संहारकर्ता हैं। जब सृष्टि की जाती है, तो वे सबों को मूल स्थिति से विकसित करते हैं और प्रलय के समय उन सबको निगल जाते हैं। वैदिक स्तोत्र पुष्टि करते हैं कि वे समस्त जीवों के मूल तथा सबके आश्रय-स्थल हैं। सृष्टि के बाद सारी वस्तुएँ उनकी सर्वशक्तिमत्ता पर टिकी रहती हैं और प्रलय के बाद सारी वस्तुएँ पुनः उन्हीं में विश्राम पाने के लिए लौट आती हैं। ये सब वैदिक स्तोत्रों की पुष्टि करने वाले हैं। *यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्व* (*तैत्तिरीय उपनिषद्* ३.१)।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥१८॥

ज्योतिषाम्—समस्त प्रकाशमान वस्तुओं में; **अपि**—भी; **तत्**—वह; **ज्योतिः**—प्रकाश का स्रोत; **तमसः**—अन्धकार; **परम्**—परे; **उच्यते**—कहलाता है; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **ज्ञेयम्**—जानने योग्य; **ज्ञान-गम्यम्**—ज्ञान द्वारा पहुँचने योग्य; **हृदि**—हृदय में; **सर्वस्य**—सब; **विष्ठितम्**—स्थित।

वे समस्त प्रकाशमान वस्तुओं के प्रकाशस्रोत हैं। वे भौतिक अंधकार से परे हैं और अगोचर हैं। वे ज्ञान हैं, ज्ञेय हैं और ज्ञान के लक्ष्य हैं। वे सबके हृदय में स्थित हैं।

तात्पर्य : परमात्मा या भगवान् ही सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्रों जैसी समस्त प्रकाशमान वस्तुओं के प्रकाशस्रोत हैं। वैदिक साहित्य से हमें पता चलता है कि वैकुण्ठ राज्य में सूर्य या चन्द्रमा की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि वहाँ पर परमेश्वर का तेज जो है। भौतिक जगत् में वह ब्रह्मज्योति या भगवान् का आध्यात्मिक तेज महत्तत्त्व अर्थात् भौतिक तत्त्वों से ढका रहता है। अतएव इस जगत् में हमें सूर्य, चन्द्र, बिजली आदि के प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है, लेकिन आध्यात्मिक जगत् में ऐसी वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती। वैदिक साहित्य में स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् के प्रकाशमय तेज से प्रत्येक वस्तु प्रकाशित रहती है। अतः यह स्पष्ट है कि वे इस भौतिक जगत् में स्थित नहीं हैं, वे तो आध्यात्मिक जगत् (*वैकुण्ठ लोक*) में स्थित हैं, जो चिन्मय आकाश में बहुत ही दूरी पर है। इसकी भी पुष्टि वैदिक साहित्य से होती है। *आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्* (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ३.८)। वे सूर्य की भाँति अत्यन्त तेजोमय हैं, लेकिन इस भौतिक जगत के अन्धकार से बहुत दूर हैं।

उनका ज्ञान दिव्य है। वैदिक साहित्य पुष्टि करता है कि ब्रह्म घनीभूत दिव्य ज्ञान है। जो वैकुण्ठलोक जाने का इच्छुक है, उसे परमेश्वर द्वारा ज्ञान प्रदान किया जाता है,

जो प्रत्येक हृदय में स्थित हैं। एक वैदिक मन्त्र है (*श्वेताश्वतर-उपनिषद्* ६.१८)—*तं ह देवम् आत्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये*। मुक्ति के इच्छुक मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् की शरण में जाय। जहाँ तक चरम ज्ञान के लक्ष्य का सम्बन्ध है, वैदिक साहित्य से भी पुष्टि होती है—*तमेव विदित्वाति मृत्युमेति*—उन्हें जान लेने के बाद ही जन्म तथा मृत्यु की परिधि को लाँघा जा सकता है (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ३.८)।

वे प्रत्येक हृदय में परम नियन्ता के रूप में स्थित हैं। परमेश्वर के हाथ-पैर सर्वत्र फैले हैं, लेकिन जीवात्मा के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतएव यह मानना ही पड़ेगा कि कार्य क्षेत्र को जानने वाले दो ज्ञाता हैं—एक जीवात्मा तथा दूसरा परमात्मा। पहले के हाथ-पैर केवल किसी एक स्थान तक सीमित (एकदेशीय) हैं, जबकि कृष्ण के हाथ-पैर सर्वत्र फैले हैं। इसकी पुष्टि *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में (३.१७) इस प्रकार हुई है—*सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्*। वह परमेश्वर या परमात्मा समस्त जीवों का स्वामी या प्रभु है, अतएव वह उन सबका चरम आश्रय है। अतएव इस बात से मना नहीं किया जा सकता कि परमात्मा तथा जीवात्मा सदैव भिन्न होते हैं।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥१९॥

इति—इस प्रकार; क्षेत्रम्—कर्म का क्षेत्र (शरीर); तथा—भी; ज्ञानम्—ज्ञान; ज्ञेयम्—जानने योग्य; च—भी; उक्तम्—कहा गया; समासतः—संक्षेप में; मत्-भक्तः—मेरा भक्त; एतत्—यह सब; विज्ञाय—जान कर; मत्-भावाय—मेरे स्वभाव को; उपपद्यते—प्राप्त करता है।

इस प्रकार मैंने कर्म क्षेत्र (शरीर), ज्ञान तथा ज्ञेय का संक्षेप में वर्णन किया है। इसे केवल मेरे भक्त ही पूरी तरह समझ सकते हैं और इस तरह मेरे स्वभाव को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् ने शरीर, ज्ञान तथा ज्ञेय का संक्षेप में वर्णन किया है। यह ज्ञान तीन वस्तुओं का है—ज्ञाता, ज्ञेय तथा जानने की विधि। ये तीनों मिलकर विज्ञान कहलाते हैं। पूर्ण ज्ञान भगवान् के अनन्य भक्तों द्वारा प्रत्यक्षतः समझा जा सकता है। अन्य इसे समझ पाने में असमर्थ रहते हैं। अद्वैतवादियों का कहना है कि अन्तिम अवस्था में ये तीनों बातें एक हो जाती हैं, लेकिन भक्त इसे नहीं मानते। ज्ञान तथा ज्ञान के विकास का अर्थ है, अपने आपको कृष्णभावनामृत में समझना। हम भौतिक चेतना द्वारा संचालित होते हैं, लेकिन ज्योंही हम अपनी सारी चेतना कृष्ण के कार्यों में स्थानान्तरित कर देते हैं, और इसका अनुभव करते हैं कि कृष्ण ही सब कुछ हैं, तो हम वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, ज्ञान तो भक्ति को पूर्णतया समझने के लिए प्रारम्भिक अवस्था है। पन्द्रहवें अध्याय में इसकी विशद व्याख्या की गई है।

अब हम साराश रूप में कह सकते हैं कि श्लोक ६ तथा ७ के *महाभूतानि* से *चेतना धृतिः* तक भौतिक तत्त्वों तथा जीवन के लक्षणों की कुछ विश्लेषण हुआ है। ये सब मिलकर शरीर अथवा कार्यक्षेत्र का निर्माण श्लोक ८ से लेकर १२ तक *अमानित्वम्* से लेकर *तत्त्वज्ञानार्थ*

दोनों प्रकार के ज्ञाताओं, अर्थात् आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान की विधि का वर्णन हुआ है। श्लोक १३ से १८ में *अनादि मत्परम्* से लेकर *हृदि सर्वस्य विष्ठितम्* तक जीवात्मा तथा परमात्मा का वर्णन हुआ है।

इस प्रकार तीन बातों का वर्णन हुआ है—कार्यक्षेत्र (शरीर), जानने की विधि तथा आत्मा एवं परमात्मा। यहाँ इसका विशेष उल्लेख हुआ है कि भगवान् के अनन्य भक्त ही इन तीनों बातों को ठीक से समझ सकते हैं। अतएव ऐसे भक्तों के लिए *भगवद्गीता* अत्यन्त लाभप्रद है, वे ही परम लक्ष्य, अर्थात् परमेश्वर कृष्ण के स्वभाव को प्राप्त कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, केवल भक्त ही *भगवद्गीता* को समझ सकते हैं और वांछित फल प्राप्त कर सकते हैं—अन्य लोग नहीं।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ २०॥

प्रकृतिम्—भौतिक प्रकृति को; **पुरुषम्**—जीव को; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **विद्धि**—जानो; **अनादी**—आदिरहित; **उभौ**—दोनों; **अपि**—भी; **विकारान्**—विकारों को; **च**—भी; **गुणान्**—प्रकृति के तीन गुण; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **विद्धि**—जानो; **प्रकृति**—भौतिक प्रकृति से; **सम्भवान्**—उत्पन्न।

प्रकृति तथा जीवों को अनादि समझना चाहिए। उनके विकार तथा गुण प्रकृतिजन्य हैं।

तात्पर्य : इस अध्याय के ज्ञान से मनुष्य शरीर (क्षेत्र) तथा शरीर के ज्ञाता (जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों) को जान सकता है। शरीर क्रियाक्षेत्र है और प्रकृति से निर्मित है। शरीर के भीतर बद्ध तथा उसके कार्यों का भोग करने वाला आत्मा ही पुरुष या जीव है। वह ज्ञाता है और इसके अतिरिक्त भी दूसरा ज्ञाता होता है, जो परमात्मा है। निस्सन्देह यह समझना चाहिए कि परमात्मा तथा आत्मा एक ही भगवान् की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। जीवात्मा उनकी शक्ति है और परमात्मा उनका साक्षात् अंश (स्वांश) है।

प्रकृति तथा जीव दोनों ही नित्य हैं। तात्पर्य यह है कि वे सृष्टि के पहले से विद्यमान हैं। यह भौतिक अभिव्यक्ति परमेश्वर की शक्ति से है, और उसी प्रकार जीव भी हैं, किन्तु जीव श्रेष्ठ शक्ति है। जीव तथा प्रकृति इस ब्रह्माण्ड के उत्पन्न होने के पूर्व से विद्यमान हैं। प्रकृति तो महाविष्णु में लीन हो गई और जब इसकी आवश्यकता पड़ी तो यह महत्-तत्त्व के द्वारा प्रकट हुई। इसी प्रकार से जीव भी उनके भीतर रहते हैं, और चूँकि वे बद्ध हैं, अतएव वे परमेश्वर की सेवा करने से विमुख हैं। इस तरह उन्हें वैकुण्ठ-लोक में प्रविष्ट होने नहीं दिया जाता। लेकिन प्रकृति के व्यक्त होने पर इन्हें भौतिक जगत् में पुनः कर्म करने और वैकुण्ठ-लोक में प्रवेश करने की तैयारी करने का अवसर दिया जाता है। इस भौतिक सृष्टि का यही रहस्य है। वास्तव में जीवात्मा मूलतः परमेश्वर का अंश है, लेकिन अपने विद्रोही स्वभाव के कारण वह प्रकृति के भीतर बद्ध रहता है। इसका कोई महत्त्व नहीं है कि ये जीव या श्रेष्ठ जीव किस प्रकार प्रकृति के सम्पर्क में आये। किन्तु भगवान् जानते हैं कि ऐसा कैसे और क्यों हुआ। शास्त्रों में भगवान् का

वचन है कि जो लोग प्रकृति द्वारा आकृष्ट हैं, वे कठिन जीवन-संघर्ष कर रहे हैं। लेकिन इन कुछ श्लोकों के वर्णनों से यह निश्चित समझ लेना होगा कि प्रकृति के तीन गुणों के द्वारा उत्पन्न विकार प्रकृति की ही उपज हैं। जीवों के सारे विकार तथा प्रकार शरीर के कारण हैं। जहाँ तक आत्मा का सम्बन्ध है, सारे जीव एक से हैं।

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ २१॥

कार्य—कार्य, कारण—तथा कारण का, कर्तृत्वे—सृजन के मामले में; हेतुः—कारण; प्रकृतिः—प्रकृति; उच्यते—कही जाती है, पुरुषः—जीवात्मा; सुख—सुख; दुःखानाम्—तथा दुख का; भोक्तृत्वे—भोग में; हेतुः—कारण, उच्यते—कहा जाता है।

प्रकृति समस्त भौतिक कारणों तथा कार्यों (परिणामों) की हेतु कही जाती है, और जीव (पुरुष) इस संसार में विविध सुख-दुख के भोग का कारण कहा जाता है।

तात्पर्य : जीवों में शरीर तथा इन्द्रियों की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ प्रकृति के कारण हैं। कुल मिलाकर ८४ लाख भिन्न-भिन्न योनियाँ हैं और ये सब प्रकृतिजन्य हैं। जीव के विभिन्न इन्द्रिय-सुखों से ये योनियाँ मिलती हैं जो इस प्रकार इस शरीर या उस शरीर में रहने की इच्छा करता है। जब उसे विभिन्न शरीर प्राप्त होते हैं, तो वह विभिन्न प्रकार के सुख तथा दुख भोगता है। उसके भौतिक सुख-दुख उसके शरीर के कारण होते हैं, स्वयं उसके कारण नहीं। उसकी मूल अवस्था में भोग में कोई सन्देह नहीं रहता, अतएव वही उसकी वास्तविक स्थिति है। वह प्रकृति पर प्रभुत्व जताने के लिए भौतिक जगत् में आता है। वैकुण्ठ-लोक में ऐसी कोई वस्तु नहीं होती। वैकुण्ठ-लोक शुद्ध है, किन्तु भौतिक जगत् में प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न प्रकार के शरीर-सुखों को प्राप्त करने के लिए कठिन संघर्ष में रत रहता है। यह कहने से बात और स्पष्ट हो जाएगी कि यह शरीर इन्द्रियों का कार्य है। इन्द्रियाँ इच्छाओं की पूर्ति का साधन हैं। यह शरीर तथा हेतु रूप इन्द्रियाँ प्रकृति द्वारा प्रदत्त हैं, और जैसा कि अगले श्लोक से स्पष्ट हो जाएगा, जीव को अपनी पूर्व आकांक्षा तथा कर्म के अनुसार परिस्थितियों के वश वरदान या शाप मिलता है। जीव की इच्छाओं तथा कर्मों के अनुसार प्रकृति उसे विभिन्न स्थानों में पहुँचाती है। जीव स्वय ऐसे स्थानों में जाने तथा मिलने वाले सुख-दुख का कारण होता है। एक प्रकार का शरीर प्राप्त हो जाने पर वह प्रकृति के वश में हो जाता है, क्योंकि शरीर, पदार्थ होने के कारण, प्रकृति के नियमानुसार कार्य करता है। उस समय शरीर में ऐसी शक्ति नहीं कि वह उस नियम को बदल सके। मान लीजिये कि जीव को कुत्ते का शरीर प्राप्त हो गया। ज्योंही वह कुत्ते के शरीर में स्थापित किया जाता है, उसे कुत्ते की भाँति आचरण करना होता है। वह अन्यथा आचरण नहीं कर सकता। यदि जीव को सूकर का शरीर प्राप्त होता है, तो वह मल खाने तथा सूकर की भाँति रहने के लिए बाध्य है। इसी प्रकार यदि जीव को देवता का शरीर प्राप्त हो जाता है, तो उसे अपने शरीर के अनुसार कार्य करना होता है। यही प्रकृति का नियम है। लेकिन समस्त परिस्थितियों में परमात्मा जीव के साथ रहता है। वेदों में (*मुण्डक उपनिषद्* ३.१ १) इसकी व्याख्या इस ... की गई

है–*द्वा सुपर्णा सयुजा सखायः*। परमेश्वर जीव पर इतना कृपालु है कि वह सदा जीव के साथ रहता है और सभी परिस्थितियों में परमात्मा रूप में विद्यमान रहता है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २२ ॥

पुरुषः–जीव; **प्रकृतिस्थः**–भौतिक शक्ति में स्थित होकर; **हि**–निश्चय ही; **भुङ्क्ते**–भोगता है; **प्रकृति-जान्**–प्रकृति से उत्पन्न; **गुणान्**–गुणों को; **कारणम्**–कारण; **गुण-सङ्गः**–प्रकृति के गुणों की संगति; **अस्य**–जीव की; **सत्-असत्**–अच्छी तथा बुरी; **योनि**–जीवन की योनियाँ, **जन्मसु**–जन्मों में।

इस प्रकार जीव प्रकृति के तीनों गुणों का भोग करता हुआ प्रकृति में ही जीवन बिताता है। यह उस प्रकृति के साथ उसकी संगति के कारण है। इस तरह उसे उत्तम तथा अधम योनियाँ मिलती रहती हैं।

तात्पर्य : यह श्लोक यह समझने के लिए महत्त्वपूर्ण है कि जीव एक शरीर से दूसरे में किस प्रकार देहान्तरण करता है। दूसरे अध्याय में बताया गया है कि जीव एक शरीर को त्याग कर दूसरा शरीर उसी तरह धारण करता है, जिस प्रकार कोई वस्त्र बदलता है। वस्त्र का परिवर्तन इस संसार के प्रति आसक्ति के कारण है। जब तक जीव इस मिथ्या प्राकट्य पर मुग्ध रहता है, तब तक उसे निरन्तर देहान्तरण करना पड़ता है। प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की इच्छा के फलस्वरूप वह ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में फँसता रहता है। भौतिक इच्छा के वशीभूत हो, उसे कभी देवता के रूप में, तो कभी मनुष्य के रूप में, कभी पशु, कभी पक्षी, कभी कीड़े, कभी जल-जन्तु, कभी सन्त पुरुष, तो कभी खटमल के रूप में जन्म लेना होता है। यह क्रम चलता रहता है और प्रत्येक परिस्थिति में जीव अपने को परिस्थितियों का स्वामी मानता रहता है, जबकि वह प्रकृति के वश में होता है।

यहाँ पर बताया गया है कि जीव किस प्रकार विभिन्न शरीरों को प्राप्त करता है। यह प्रकृति के विभिन्न गुणों की संगति के कारण है। अतएव इन गुणों से ऊपर उठकर दिव्य पद पर स्थित होना होता है। यही कृष्णभावनामृत कहलाता है। कृष्णभावनामृत में स्थित हुए बिना भौतिक चेतना मनुष्य को एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण करने के लिए बाध्य करती रहती है, क्योंकि अनादि काल से उसमें भौतिक आकांक्षाएँ व्याप्त हैं। लेकिन उसे इस विचार को बदलना होगा। यह परिवर्तन प्रामाणिक स्रोतों से सुनकर ही लाया जा सकता है। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण अर्जुन है, जो कृष्ण से ईश्वर-विज्ञान का श्रवण करता है। यदि जीव इस श्रवण-विधि को अपना ले, तो प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की चिर-अभिलषित आकांक्षा समाप्त हो जाय, और क्रमशः ज्यों-ज्यों वह प्रभुत्व जताने की इच्छा को कम करता जाएगा, त्यों-त्यों उसे आध्यात्मिक सुख मिलता जाएगा। एक वैदिक मंत्र में कहा गया है कि ज्यों-ज्यों जीव भगवान् की संगति से विद्वान् बनता जाता है, त्यों-त्यों उसी अनुपात में वह आनन्दमय जीवन का आस्वादन करता है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥२३॥

उपद्रष्टा–साक्षी; अनुमन्ता–अनुमति देने वाला; च–भी, भर्ता–स्वामी; भोक्ता–परम भोक्ता; महा-ईश्वरः–परमेश्वर, परम्-आत्मा–परमात्मा; इति–भी, च–तथा, अपि–निस्सन्देह, उक्तः–कहा गया है; देहे–शरीर में; अस्मिन्–इस; पुरुषः–भोक्ता, परः–दिव्य।

तो भी इस शरीर में एक अन्य दिव्य भोक्ता है, जो ईश्वर है, परम स्वामी है और साक्षी तथा अनुमति देने वाले के रूप में विद्यमान है और जो परमात्मा कहलाता है।

तात्पर्य : यहाँ पर कहा गया है कि जीवात्मा के साथ निरन्तर रहने वाला परमात्मा परमेश्वर का प्रतिनिधि है। वह सामान्य जीव नहीं है। चूँकि अद्वैतवादी चिन्तक शरीर के ज्ञाता को एक मानते हैं, अतएव उनके विचार से परमात्मा तथा जीवात्मा में कोई अन्तर नहीं है। इसका स्पष्टीकरण करने के लिए भगवान् कहते हैं कि वे प्रत्येक शरीर में परमात्मा-रूप में विद्यमान हैं। वे जीवात्मा से भिन्न हैं, वे पर हैं, दिव्य हैं। जीवात्मा किसी विशेष क्षेत्र के कार्यों को भोगता है, लेकिन परमात्मा किसी सीमित भोक्ता के रूप में या शारीरिक कर्मों में भाग लेने वाले के रूप में विद्यमान नहीं रहता, अपितु वह साक्षी, अनुमतिदाता तथा परम भोक्ता के रूप में स्थित रहता है। उसका नाम परमात्मा है, आत्मा नहीं। वह दिव्य है। अतः यह बिल्कुल स्पष्ट है कि आत्मा तथा परमात्मा भिन्न-भिन्न हैं। परमात्मा के हाथ-पैर सर्वत्र रहते हैं, लेकिन जीवात्मा के ऐसा नहीं होता। चूँकि परमात्मा परमेश्वर है, अतएव वह अन्दर से जीव की भौतिक भोग की आकांक्षा पूर्ति की अनुमति देता है। परमात्मा की अनुमति के बिना जीवात्मा कुछ भी नहीं कर सकता। जीव *भुक्त* है और भगवान् *भोक्ता* या पालक हैं। जीव अनन्त हैं और भगवान् उन सबमें मित्र-रूप में निवास करता है।

तथ्य यह है कि प्रत्येक जीव परमेश्वर का नित्य अंश है और दोनों मित्र रूप में घनिष्ठतापूर्वक सम्बन्धित हैं। लेकिन जीव में परमेश्वर के आदेश को अस्वीकार करने की, प्रकृति पर प्रभुत्व जताने के उद्देश्य से स्वतन्त्रतापूर्वक कर्म करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। चूँकि उसमें यह प्रवृत्ति होती है, अतएव वह परमेश्वर की तटस्था शक्ति कहलाता है। जीव या तो भौतिक शक्ति में या आध्यात्मिक शक्ति में स्थित हो सकता है। जब तक वह भौतिक शक्ति द्वारा बद्ध रहता है, तब तक परमेश्वर मित्र रूप में परमात्मा की तरह उसके भीतर रहते हैं, जिससे उसे आध्यात्मिक शक्ति में वापस ले जा सकें। भगवान् उसे आध्यात्मिक शक्ति में वापस ले जाने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं, लेकिन अपनी अल्प स्वतन्त्रता के कारण जीव निरन्तर आध्यात्मिक प्रकाश की संगति ठुकराता है। स्वतन्त्रता का यह दुरुपयोग ही बद्ध प्रकृति में उसके भौतिक संघर्ष का कारण है। अतएव भगवान् निरन्तर बाहर तथा भीतर से आदेश देते रहते हैं। बाहर से वे *भगवद्गीता* के रूप में उपदेश देते हैं और भीतर से वे जीव को यह विश्वास दिलाते हैं कि भौतिक क्षेत्र में उसके कार्यकलाप वास्तविक सुख के लिए अनुकूल नहीं

हैं। उनका वचन है "इसे त्याग दो और मेरे प्रति श्रद्धा करो। तभी तुम सुखी होगे।" इस प्रकार जो बुद्धिमान व्यक्ति परमात्मा में अथवा भगवान् में श्रद्धा रखता है, वह सच्चिदानन्दमय जीवन की ओर प्रगति करने लगता है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥ २४॥

यः—जो; **एवम्**—इस प्रकार; **वेत्ति**—जानता है; **पुरुषम्**—जीव को; **प्रकृतिम्**—प्रकृति को; **च**—तथा; **गुणैः**—प्रकृति के गुणों के; **सह**—साथ; **सर्वथा**—सभी तरह से; **वर्तमानः**—स्थित होकर; **अपि**—के बावजूद; **न**—कभी नहीं; **सः**—वह; **भूयः**—फिर से; **अभिजायते**—जन्म लेता है।

जो व्यक्ति प्रकृति, जीव तथा प्रकृति के गुणों की अन्तःक्रिया से सम्बन्धित इस विचारधारा को समझ लेता है, उसे मुक्ति की प्राप्ति सुनिश्चित है। उसकी वर्तमान स्थिति चाहे जैसी हो, यहाँ पर उसका पुनर्जन्म नहीं होगा।

तात्पर्य : प्रकृति, परमात्मा, आत्मा तथा इनके अन्तःसम्बन्ध की स्पष्ट जानकारी हो जाने पर मनुष्य मुक्त होने का अधिकारी बनता है और वह इस भौतिक प्रकृति में लौटने के लिए बाध्य हुए बिना वैकुण्ठ वापस चले जाने का अधिकारी बन जाता है। यह ज्ञान का फल है। ज्ञान यह समझने के लिए ही होता है कि दैवयोग से जीव इस संसार में आ गिरा है। उसे प्रामाणिक व्यक्तियों, साधु-पुरुषों तथा गुरु की संगति में निजी प्रयास द्वारा अपनी स्थिति समझनी है, और तब जिस रूप में भगवान् ने *भगवद्गीता* कही है, उसे समझ कर आध्यात्मिक चेतना या कृष्णभावनामृत को प्राप्त करना है। तब यह निश्चित है कि वह इस संसार में फिर कभी नहीं आ सकेगा, वह सच्चिदानन्दमय जीवन बिताने के लिए वैकुण्ठ-लोक भेज दिया जायेगा।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ २५॥

ध्यानेन—ध्यान के द्वारा; **आत्मनि**—अपने भीतर; **पश्यन्ति**—देखते हैं; **केचित्**—कुछ लोग; **आत्मानम्**—परमात्मा को; **आत्मना**—मन से; **अन्ये**—अन्य लोग; **साङ्ख्येन**—दार्शनिक विवेचना द्वारा; **योगेन**—योग पद्धति के द्वारा; **कर्म-योगेन**—निष्काम कर्म के द्वारा; **च**—भी; **अपरे**—अन्य।

कुछ लोग परमात्मा को ध्यान के द्वारा अपने भीतर देखते हैं, तो दूसरे लोग ज्ञान के अनुशीलन द्वारा और कुछ ऐसे हैं जो निष्काम कर्मयोग द्वारा देखते हैं।

तात्पर्य : भगवान् अर्जुन को बताते हैं कि जहाँ तक मनुष्य द्वारा आत्म-साक्षात्कार की खोज का प्रश्न है, बद्धजीवों की दो श्रेणियाँ हैं। जो लोग नास्तिक, अज्ञेयवादी तथा संशयवादी हैं, वे आध्यात्मिक ज्ञान से विहीन हैं। किन्तु अन्य लोग, जो आध्यात्मिक जीवन सम्बन्धी अपने ज्ञान के प्रति श्रद्धावान हैं, वे आत्मदर्शी भक्त, दार्शनिक तथा निष्काम कर्मयोगी कहलाते हैं। जो लोग सदेव अद्वैतवाद की स्थापना करना चाहते हैं, उनकी भी गणना नास्तिकों एवं अज्ञेयवादियों में की जाती है। दूसरे शब्दों में, केवल

भगवद्भक्त ही आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त होते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि इस प्रकृति के भी परे वैकुण्ठलोक तथा भगवान् हैं, जिनका विस्तार परमात्मा के रूप में प्रत्येक व्यक्ति में हुआ है, और जो सर्वव्यापी हैं। निस्सन्देह कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो ज्ञान के अनुशीलन द्वारा भगवान् को समझने का प्रयास करते हैं। इन्हें श्रद्धावानों की श्रेणी में गिना जा सकता है। सांख्य दार्शनिक इस भौतिक जगत का विश्लेषण २४ तत्त्वों के रूप में करते हैं, और वे आत्मा को पच्चीसवाँ तत्त्व मानते हैं। जब वे आत्मा की प्रकृति को भौतिक तत्त्वों से परे समझने में समर्थ होते हैं, तो वे यह भी समझ जाते हैं कि आत्मा के भी ऊपर भगवान् हैं, और वह छब्बीसवाँ तत्त्व है। इस प्रकार वे भी क्रमशः कृष्णभावनामृत की भक्ति के स्तर तक पहुँच जाते हैं। जो लोग निष्काम भाव से कर्म करते हैं, उनकी भी मनोवृत्ति सही होती है। उन्हें कृष्णभावनामृत की भक्ति के पद तक बढ़ने का अवसर दिया जाता है। यहाँ पर यह कहा गया है कि कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनकी चेतना शुद्ध होती है, और वे ध्यान द्वारा परमात्मा को खोजने का प्रयत्न करते हैं, और जब वे परमात्मा को अपने अन्दर खोज लेते हैं, तो वे दिव्य पद को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार अन्य लोग हैं, जो ज्ञान के अनुशीलन द्वारा परमात्मा को जानने का प्रयास करते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो *हठयोग* द्वारा, अपने बालकों जैसे क्रियाकलापों द्वारा, भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयास करते हैं।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २६ ॥

अन्ये—अन्य लोग; *तु*—लेकिन; *एवम्*—इस प्रकार; *अजानन्तः*—आध्यात्मिक ज्ञान से रहित, *श्रुत्वा*—सुनकर; *अन्येभ्यः*—अन्यों से, *उपासते*—पूजा करना प्रारम्भ कर देते हैं, *ते*—वे, *अपि*—भी, *च*—तथा, *अतितरन्ति*—पार कर जाते हैं, *एव*—निश्चय ही, *मृत्युम्*—मृत्यु का मार्ग; *श्रुति-परायणाः*—श्रवण विधि के प्रति रुचि रखने वाले।

ऐसे भी लोग हैं जो यद्यपि आध्यात्मिक ज्ञान से अवगत नहीं होते पर अन्यों से परम पुरुष के विषय में सुनकर उनकी पूजा करने लगते हैं। ये लोग भी प्रामाणिक पुरुषों से श्रवण करने की मनोवृत्ति होने के कारण जन्म तथा मृत्यु के पथ को पार कर जाते हैं।

तात्पर्य : यह श्लोक आधुनिक समाज पर विशेष रूप से लागू होता है, क्योंकि आधुनिक समाज में आध्यात्मिक विषयों की शिक्षा नहीं दी जाती। कुछ लोग नास्तिक प्रतीत होते हैं, तो कुछ अज्ञेयवादी तथा दार्शनिक, लेकिन वास्तव में इन्हें दर्शन का कोई ज्ञान नहीं होता। जहाँ तक सामान्य व्यक्ति की बात है, यदि वह पुण्यात्मा है, तो श्रवण द्वारा प्रगति कर सकता है। यह श्रवण विधि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक जगत् में कृष्णभावनामृत का उपदेश करने वाले भगवान् चैतन्य ने श्रवण पर अत्यधिक बल दिया था, क्योंकि यदि सामान्य व्यक्ति प्रामाणिक स्रोतों से केवल श्रवण करे, तो वह प्रगति कर सकता है—विशेषतया चैतन्य महाप्रभु के अनुसार यदि वह *हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/ हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे*

हर-दिव्य ध्वनि को सुने। इसीलिए कहा गया है कि सभी व्यक्तियों को सिद्ध पुरुषों से श्रवण करने का लाभ उठाना चाहिए, और इस तरह क्रम से प्रत्येक वस्तु समझने में समर्थ बनना चाहिए। तब निश्चित रूप से परमेश्वर की पूजा हो सकेगी। भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि इस युग में मनुष्य को अपना पद बदलने की आवश्यकता नहीं है, अपितु उसे चाहिए कि वह मनोधार्मिक तर्क द्वारा परमसत्य को समझने के प्रयास को त्याग दे। उसे उन व्यक्तियों का दास बनना चाहिए, जिन्हें परमेश्वर का ज्ञान है। यदि कोई इतना भाग्यशाली हुआ कि उसे शुद्ध भक्त की शरण मिल सके और वह उससे आत्म-साक्षात्कार के विषय में श्रवण करके उसके पदचिन्हों पर चल सके, तो उसे क्रमशः शुद्ध भक्त का पद प्राप्त हो जाता है। इस श्लोक में श्रवण विधि पर विशेष रूप से बल दिया गया है, और यह सर्वथा उपयुक्त है। यद्यपि सामान्य व्यक्ति तथाकथित दार्शनिकों की भाँति प्रायः समर्थ नहीं होता, लेकिन प्रामाणिक व्यक्ति से श्रद्धापूर्वक श्रवण करने से इस भवसागर को पार करके भगवद्धाम वापस जाने में उसे सहायता मिलेगी।

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ २७॥

यावत्—जो भी; **सञ्जायते**—उत्पन्न होता है; **किञ्चित्**—कुछ भी; **सत्त्वम्**—अस्तित्व; **स्थावर**—अचर; **जङ्गमम्**—चर; **क्षेत्र**—शरीर का; **क्षेत्र-ज्ञ**—तथा शरीर के ज्ञाता के; **संयोगात्**—संयोग (जुड़ने) से; **तत्** **विद्धि**—तुम उसे जानो; **भरत-ऋषभ**—हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ।

हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ! यह जान लो कि चर तथा अचर जो भी तुम्हें अस्तित्व में दीख रहा है, वह कर्मक्षेत्र तथा क्षेत्र के ज्ञाता का संयोग मात्र है।

तात्पर्य : इस श्लोक में ब्रह्माण्ड की सृष्टि के भी पूर्व से अस्तित्व में रहने वाली प्रकृति तथा जीव दोनों की व्याख्या की गई है। जो कुछ भी उत्पन्न किया जाता है, वह जीव तथा प्रकृति का संयोग मात्र होता है। वृक्ष, पर्वत आदि ऐसी अनेक अभिव्यक्तियाँ हैं, जो गतिशील नहीं हैं। इनके साथ ही ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं, जो गतिशील हैं और ये सब भौतिक प्रकृति तथा परा प्रकृति अर्थात् जीव के संयोग मात्र हैं। परा प्रकृति, जीव के स्पर्श के बिना कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता। भौतिक प्रकृति तथा आध्यात्मिक प्रकृति का सम्बन्ध निरन्तर चल रहा है और यह संयोग परमेश्वर द्वारा सम्पन्न कराया जाता है। अतएव वे ही परा तथा अपरा प्रकृतियों के नियामक हैं। अपरा प्रकृति उनके द्वारा सृष्ट है और परा प्रकृति उस अपरा प्रकृति में रखी जाती है। इस प्रकार सारे कार्य तथा अभिव्यक्तियाँ घटित होती हैं।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ २८॥

समम्—समभाव से; **सर्वेषु**—समस्त; **भूतेषु**—जीवों में; **तिष्ठन्तम्**—वास करते हुए; **परम-**

ईश्वरम्–परमात्मा को; विनश्यत्सु–नाशवान; अविनश्यन्तम्–नाशरहित; यः–जो; पश्यति–देखता है; सः–वही; पश्यति–वास्तव में देखता है।

जो परमात्मा को समस्त शरीरों में आत्मा के साथ देखता है और जो यह समझता है कि इस नश्वर शरीर के भीतर न तो आत्मा, न ही परमात्मा कभी भी विनष्ट होता है, वही वास्तव में देखता है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति सत्संगति से तीन वस्तुओं को–शरीर, शरीर का स्वामी या आत्मा, तथा आत्मा के मित्र को–एकसाथ संयुक्त देखता है, वही सच्चा ज्ञानी है। जब तक आध्यात्मिक विषयों के वास्तविक ज्ञाता की संगति नहीं मिलती, तब तक कोई इन तीनों वस्तुओं को नहीं देख सकता। जिन लोगों की ऐसी संगति नहीं होती, वे अज्ञानी हैं, वे केवल शरीर को देखते हैं, और जब यह शरीर विनष्ट हो जाता है, तो समझते हैं कि सब कुछ नष्ट हो गया। लेकिन वास्तविकता यह नहीं है। शरीर के विनष्ट होने पर आत्मा तथा परमात्मा का अस्तित्व बना रहता है, और वे अनेक विविध चर तथा अचर रूपों में सदैव जाते रहते हैं। कभी-कभी संस्कृत शब्द *परमेश्वर* का अनुवाद जीवात्मा के रूप में किया जाता है, क्योंकि आत्मा ही शरीर का स्वामी है और शरीर के विनाश होने पर वह अन्यत्र देहान्तरण कर जाता है। इस तरह वह स्वामी है। लेकिन कुछ लोग इस परमेश्वर शब्द का अर्थ परमात्मा लेते हैं। प्रत्येक दशा में परमात्मा तथा आत्मा दोनों रह जाते हैं। ये विनष्ट नहीं होते। जो इस प्रकार देख सकता है, वही वास्तव में देख सकता है कि क्या घटित हो रहा है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥२९॥

समम्–समान रूप से; पश्यन्–देखते हुए; हि–निश्चय ही; सर्वत्र–सभी जगह; समवस्थितम्–समान रूप से स्थित; ईश्वरम्–परमात्मा को; न–नहीं; हिनस्ति–नीचे गिराता है; आत्मना–मन से; आत्मानम्–आत्मा को; ततः–तब; याति–पहुँचता है; पराम्–दिव्य; गतिम्–गन्तव्य को।

जो व्यक्ति परमात्मा को सर्वत्र तथा प्रत्येक जीव में समान रूप से वर्तमान देखता है, वह अपने मन के द्वारा अपने आपको भ्रष्ट नहीं करता। इस प्रकार वह दिव्य गन्तव्य को प्राप्त करता है।

तात्पर्य : जीव, अपना भौतिक अस्तित्व स्वीकार करने के कारण, अपने आध्यात्मिक अस्तित्व से पृथक् स्थित हो गया है। किन्तु यदि वह यह समझता है कि परमेश्वर अपने परमात्मा स्वरूप में सर्वत्र स्थित है, अर्थात् यदि वह भगवान् की उपस्थिति प्रत्येक वस्तु में देखता है, तो वह विघटनकारी मानसिकता से अपने आपको नीचे नहीं गिराता, और इसलिए वह क्रमशः वैकुण्ठ-लोक की ओर बढ़ता जाता है। सामान्यतया मन इन्द्रियतृप्तिकारी कार्यों में लीन रहता है, लेकिन जब वही मन परमात्मा की ओर उन्मुख होता है, तो मनुष्य आध्यात्मिक ज्ञान में आगे बढ़ जाता है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥३०॥

प्रकृत्या—प्रकृति द्वारा; एव—निश्चय ही; च—भी; कर्माणि—कार्य; क्रियमाणानि—सम्पन्न किये गये; सर्वशः—सभी प्रकार से; यः—जो; पश्यति—देखता है; तथा—भी; आत्मानम्—अपने आपको; अकर्तारम्—अकर्ता; सः—वह; पश्यति—अच्छी तरह देखता है।

जो यह देखता है कि सारे कार्य शरीर द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, जिसकी उत्पत्ति प्रकृति से हुई है, और जो देखता है कि आत्मा कुछ भी नहीं करता, वही यथार्थ में देखता है।

तात्पर्य : यह शरीर परमात्मा के निर्देशानुसार प्रकृति द्वारा वनाया गया है और मनुष्य के शरीर के जितने भी कार्य सम्पन्न होते हैं, वे उसके द्वारा नहीं किये जाते। मनुष्य जो भी करता है, चाहे सुख के लिए करे, या दुख के लिए, वह शारीरिक रचना के कारण उसे करने के लिए वाध्य होता है। लेकिन आत्मा इन शारीरिक कार्यों से विलग रहता है। यह शरीर मनुष्य को पूर्व इच्छाओं के अनुसार प्राप्त होता है। इच्छाओं की पूर्ति के लिए शरीर मिलता है, जिससे वह इच्छानुसार कार्य करता है। एक तरह से शरीर एक यंत्र है, जिसे परमेश्वर ने इच्छाओं की पूर्ति के लिए निर्मित किया है। इच्छाओं के कारण ही मनुष्य दुख भोगता है या सुख पाता है। जव जीव में यह दिव्य दृष्टि उत्पन्न हो जाती है, तो वह शारीरिक कार्यों से पृथक् हो जाता है। जिसमें ऐसी दृष्टि आ जाती है, वही वास्तविक द्रष्टा है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥३१॥

यदा—जव; भूत—जीव के; पृथक्-भावम्—पृथक् स्वरूपों को; एक-स्थम्—एक स्थान पर; अनुपश्यति—किसी अधिकारी के माध्यम से देखने का प्रयास करता है; ततःएव—तत्पश्चात्; च—भी; विस्तारम्—विस्तार को; ब्रह्म—परब्रह्म; सम्पद्यते—प्राप्त करता है; तदा—उस समय।

जव विवेकवान् व्यक्ति विभिन्न भौतिक शरीरों के कारण विभिन्न स्वरूपों को देखना वन्द कर देता है, और यह देखता है कि किस प्रकार से जीव सर्वत्र फैले हुए हैं, तो वह ब्रह्म-वोध को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : जव मनुष्य यह देखता है कि विभिन्न जीवों के शरीर उस जीव की विभिन्न इच्छाओं के कारण उत्पन्न हुए हैं और वे आत्मा से किसी तरह सम्वद्ध नहीं हैं, तो वह वास्तव में देखता है। देहात्मवुद्धि के कारण हम किसी को देवता, किसी को मनुष्य, कुत्ता, विल्ली आदि के रूप में देखते हैं। यह भौतिक दृष्टि है, वास्तविक दृष्टि नहीं है। यह भौतिक भेदभाव देहात्मवुद्धि के कारण है। भौतिक शरीर के विनाश के वाद आत्मा एक रहता है। यही आत्मा भौतिक प्रकृति के सम्पर्क से विभिन्न प्रकार के शरीर धारण करता है। जव कोई इसे देख पाता है, तो उसे आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त होती है। इस प्रकार जो मनुष्य, पशु, ऊँच, नीच आदि के भेदभाव से मुक्त हो जाता है उसकी चेतना

शुद्ध हो जाती है और वह अपने आध्यात्मिक स्वरूप में कृष्णभावनामृत विकसित करने में समर्थ होता है। तब वह वस्तुओं को जिस रूप में देखता है, उसे अगले श्लोक में बताया गया है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥३२॥

अनादित्वात्–नित्यता के कारण; निर्गुणत्वात्–दिव्य होने से; परम–भौतिक प्रकृति से परे; आत्मा–आत्मा; अयम्–यह; अव्ययः–अविनाशी, शरीर-स्थः–शरीर में वास करने वाला, अपि–यद्यपि, कौन्तेय–हे कुन्तीपुत्र, न करोति–कुछ नहीं करता, न लिप्यते–न ही लिप्त होता है।

शाश्वत दृष्टिसम्पन्न लोग यह देख सकते हैं कि अविनाशी आत्मा दिव्य, शाश्वत तथा गुणों से अतीत है। हे अर्जुन! भौतिक शरीर के साथ सम्पर्क होते हुए भी आत्मा न तो कुछ करता है और न लिप्त होता है।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि जीव उत्पन्न होता है, क्योंकि भौतिक शरीर का जन्म होता है। लेकिन वास्तव में जीव शाश्वत है, वह उत्पन्न नहीं होता और शरीर में स्थित रह कर भी, वह दिव्य तथा शाश्वत रहता है। इस प्रकार वह विनष्ट नहीं किया जा सकता। वह स्वभाव से आनन्दमय है। वह किसी भौतिक कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। अतएव भौतिक शरीरों के साथ उसका सम्पर्क होने से जो कार्य सम्पन्न होते हैं, वे उसे लिप्त नहीं कर पाते।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥३३॥

यथा–जिस प्रकार, सर्व-गतम्–सर्वव्यापी, सौक्ष्म्यात्–सूक्ष्म होने के कारण, आकाशम्–आकाश, न–कभी नहीं, उपलिप्यते–लिप्त होता है, सर्वत्र–सभी जगह, अवस्थितः–स्थित, देहे–शरीर में, तथा–उसी प्रकार, आत्मा–आत्मा,स्व, न–कभी नहीं, उपलिप्यते–लिप्त होता है।

यद्यपि आकाश सर्वव्यापी है, किन्तु अपनी सूक्ष्म प्रकृति के कारण, किसी वस्तु से लिप्त नहीं होता। इसी तरह ब्रह्मदृष्टि में स्थित आत्मा, शरीर में स्थित रहते हुए भी, शरीर से लिप्त नहीं होता।

तात्पर्य : वायु जल, कीचड़, मल तथा अन्य वस्तुओं में प्रवेश करती है, फिर भी वह किसी वस्तु से लिप्त नहीं होती। इसी प्रकार से जीव विभिन्न प्रकार के शरीरों में स्थित होकर भी अपनी सूक्ष्म प्रकृति के कारण उनसे पृथक बना रहता है। अतः इन भौतिक आँखों से यह देख पाना असम्भव है कि जीव किस प्रकार इस शरीर के सम्पर्क में है और शरीर के विनष्ट हो जाने पर वह उससे कैसे विलग हो जाता है। कोई भी विज्ञानी इसे निश्चित नहीं कर सकता।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥३४॥

यथा–जिस तरह; प्रकाशयति–प्रकाशित करता है; एकः–एक; कृत्स्नम्–सम्पूर्ण; लोकम्–ब्रह्माण्ड को; इमम्–इस; रविः–सूर्य; क्षेत्रम्–इस शरीर को; क्षेत्री–आत्मा; तथा–उसी तरह; कृत्स्नम्–समस्त; प्रकाशयति–प्रकाशित करता है; भारत–हे भरतपुत्र।

हे भरतपुत्र! जिस प्रकार सूर्य अकेले इस सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार शरीर के भीतर स्थित एक आत्मा सारे शरीर को चेतना से प्रकाशित करता है।

तात्पर्य : चेतना के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। यहाँ पर *भगवद्गीता* में सूर्य तथा धूप का उदाहरण दिया गया है। जिस प्रकार सूर्य एक स्थान पर स्थित रहकर ब्रह्माण्ड को आलोकित करता है, उसी तरह आत्मा रूप सूक्ष्म कण शरीर के हृदय में स्थित रहकर चेतना द्वारा सारे शरीर को आलोकित करता है। इस प्रकार चेतना ही आत्मा का प्रमाण है, जिस तरह धूप या प्रकाश सूर्य की उपस्थिति का प्रमाण होता है। जब शरीर में आत्मा वर्तमान रहता है, तो सारे शरीर में चेतना रहती है। किन्तु ज्योंही शरीर से आत्मा चला जाता है त्योंही चेतना लुप्त हो जाती है। इसे बुद्धिमान् व्यक्ति सुगमता से समझ सकता है। अतएव चेतना पदार्थ के संयोग से नहीं बनी होती। यह जीव का लक्षण है। जीव की चेतना यद्यपि गुणात्मक रूप से परम चेतना से अभिन्न है, किन्तु परम नहीं है, क्योंकि एक शरीर की चेतना दूसरे शरीर से सम्बन्धित नहीं होती है। लेकिन परमात्मा, जो आत्मा के सखा रूप में समस्त शरीरों में स्थित हैं, समस्त शरीरों के प्रति सचेष्ट रहते हैं। परमचेतना तथा व्यष्टि-चेतना में यही अन्तर है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥३५॥

क्षेत्र–शरीर; क्षेत्र-ज्ञयोः–तथा शरीर के स्वामी के; एवम्–इस प्रकार; अन्तरम्–अन्तर को; ज्ञान-चक्षुषा–ज्ञान की दृष्टि से; भूत–जीव का; प्रकृति–प्रकृति से; मोक्षम्–मोक्ष को; च–भी; ये–जो; विदुः–जानते हैं; यान्ति–प्राप्त होते हैं; ते–वे; परम्–परब्रह्म को।

जो लोग ज्ञान के चक्षुओं से शरीर तथा शरीर के ज्ञाता के अन्तर को देखते हैं और भव-बन्धन से मुक्ति की विधि को भी जानते हैं, उन्हें परमलक्ष्य प्राप्त होता है।

तात्पर्य : इस तेरहवें अध्याय का तात्पर्य यही है कि मनुष्य को शरीर, शरीर के स्वामी तथा परमात्मा के अन्तर को समझना चाहिए। उसे श्लोक ८ से लेकर श्लोक १२ तक में वर्णित मुक्ति की विधि को जानना चाहिए। तभी वह परमगति को प्राप्त हो सकता है।

श्रद्धालु को चाहिए कि सर्वप्रथम वह ईश्वर का श्रवण करने के लिए सत्संगति करे, और धीरे-धीरे प्रबुद्ध बने। यदि गुरु स्वीकार कर लिया जाये, तो पदार्थ तथा आत्मा के

अन्तर को समझा जा सकता है और यही अग्रिम आत्म-साक्षात्कार के लिए शुभारम्भ बन जाता है। गुरु अनेक प्रकार के उपदेशों से अपने शिष्यों को देहात्मबुद्धि से मुक्त होने की शिक्षा देता है। उदाहरणार्थ—*भगवद्गीता* में कृष्ण अर्जुन को भौतिक बातों से मुक्त होने के लिए शिक्षा देते हैं।

मनुष्य यह तो समझ सकता है कि यह शरीर पदार्थ है और इसे चौबीस तत्त्वों में विश्लेषित किया जा सकता है; शरीर स्थूल अभिव्यक्ति है और मन तथा मनोवैज्ञानिक प्रभाव सूक्ष्म अभिव्यक्ति हैं। जीवन के लक्षण इन्हीं तत्त्वों की अन्तःक्रिया (विकार) हैं, किन्तु इनसे भी ऊपर आत्मा और परमात्मा हैं। आत्मा तथा परमात्मा दो हैं। यह भौतिक जगत् आत्मा तथा चौबीस तत्त्वों के संयोग से कार्यशील है। जो सम्पूर्ण भौतिक जगत् की इस रचना को आत्मा तथा तत्त्वों के संयोग से हुई मानता है और परमात्मा की स्थिति को भी देखता है, वही वैकुण्ठ-लोक जाने का अधिकारी बन पाता है। ये बातें चिन्तन तथा साक्षात्कार की हैं। मनुष्य को चाहिए कि गुरु की सहायता से इस अध्याय को भली-भाँति समझ ले।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय "प्रकृति, पुरुष तथा चेतना" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।

अध्याय चौदह



प्रकृति के तीन गुण

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥१॥

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; परम्—दिव्य; भूयः—फिर; प्रवक्ष्यामि—कहूँगा; ज्ञानानाम्—समस्त ज्ञान का; ज्ञानम्—ज्ञान; उत्तमम्—सर्वश्रेष्ठ; यत्—जिसे; ज्ञात्वा—जानकर; मुनयः—मुनि लोग; सर्वे—समस्त; पराम्—दिव्य; सिद्धिम्—सिद्धि को; इतः—इस संसार से; गताः—प्राप्त किया।

भगवान् ने कहा—अब मैं तुमसे समस्त ज्ञानों में सर्वश्रेष्ठ इस परम ज्ञान को पुनः कहूँगा, जिसे जान लेने पर समस्त मुनियों ने परम सिद्धि प्राप्त की है।

तात्पर्य : सातवें अध्याय से लेकर बारहवें अध्याय तक श्रीकृष्ण परम सत्य भगवान् के

विषय में विस्तार से बताते हैं। अब भगवान् स्वयं अर्जुन को और आगे ज्ञान दे रहे हैं। यदि कोई इस अध्याय को दार्शनिक चिन्तन द्वारा भलीभाँति समझ ले तो उसे भक्ति का ज्ञान हो जाएगा। तेरहवें अध्याय में यह स्पष्ट बताया जा चुका है कि विनयपूर्वक ज्ञान का विकास करते हुए भवबन्धन से छूटा जा सकता है। यह भी बताया जा चुका है कि प्रकृति के गुणों की संगति के फलस्वरूप ही जीव इस भौतिक जगत् में बद्ध है। अब इस अध्याय में भगवान् स्वयं बताते हैं कि वे प्रकृति के गुण कौन-कौन से हैं, वे किस प्रकार क्रिया करते हैं, किस तरह बाँधते हैं और किस प्रकार मोक्ष प्रदान करते हैं। इस अध्याय में जिस ज्ञान का प्रकाश किया गया है उसे अन्य पूर्ववर्ती अध्यायों में दिये गये ज्ञान से श्रेष्ठ बताया गया है। इस ज्ञान को प्राप्त करके अनेक मुनियों ने सिद्धि प्राप्त की और वे वैकुण्ठलोक के भागी हुए। अब भगवान् उसी ज्ञान को और अच्छे ढंग से बताने जा रहे हैं। यह ज्ञान अभी तक बताये गये समस्त ज्ञानयोग से कहीं अधिक श्रेष्ठ है और इसे जान लेने पर अनेक लोगों को सिद्धि प्राप्त हुई है। अतः यह आशा की जाती है कि जो भी इस अध्याय को समझेगा उसे सिद्धि प्राप्त होगी।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥२॥

इदम्–इस; **ज्ञानम्**–ज्ञान को; **उपाश्रित्य**–आश्रय बनाकर; **मम**–मेरा; **साधर्म्यम्**–समान प्रकृति को; **आगताः**–प्राप्त करके; **सर्गे अपि**–सृष्टि में भी; **न**–कभी नहीं; **उपजायन्ते**–उत्पन्न होते हैं; **प्रलये**–प्रलय में; **न**–न तो; **व्यथन्ति**–विचलित होते हैं; **च**–भी।

इस ज्ञान में स्थिर होकर मनुष्य मेरी जैसी दिव्य प्रकृति (स्वभाव) को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार स्थित हो जाने पर वह न तो सृष्टि के समय उत्पन्न होता है और न प्रलय के समय विचलित होता है।

तात्पर्य : पूर्ण दिव्य ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद मनुष्य भगवान् से गुणात्मक समता प्राप्त कर लेता है और जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। लेकिन जीवात्मा के रूप में उसका वह स्वरूप समाप्त नहीं होता। वैदिक ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि जो मुक्तात्माएँ वैकुण्ठ जगत् में पहुँच चुकी हैं, वे निरन्तर परमेश्वर के चरणकमलों के दर्शन करती हुई उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लगी रहती हैं। अतएव मुक्ति के बाद भी भक्तों का अपना निजी स्वरूप नहीं समाप्त होता।

सामान्यतया इस संसार में हम जो भी ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह प्रकृति के तीन गुणों द्वारा दूषित रहता है। जो ज्ञान इन गुणों से दूषित नहीं होता वह दिव्य ज्ञान कहलाता है। जब कोई व्यक्ति इस दिव्य ज्ञान को प्राप्त होता है, तो वह परमपुरुष के समकक्ष पद पर पहुँच जाता है। जिन लोगों को चिन्मय आकाश का ज्ञान नहीं है, वे मानते हैं कि भौतिक स्वरूप के कार्यकलापों से मुक्त होने पर यह आध्यात्मिक पहचान बिना किसी विविधता के निराकार हो जाती है। लेकिन जिस प्रकार इस संसार में विविधता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक जगत में भी है। जो लोग इससे परिचित नहीं हैं, वे सोचते हैं कि आध्यात्मिक जगत इस भौतिक जगत् की विविधता

से उल्टा है। लेकिन वास्तव में होता यह है कि आध्यात्मिक जगत् (चिन्मय आकाश) में मनुष्य को आध्यात्मिक रूप प्राप्त हो जाता है। वहाँ के सारे कार्यकलाप आध्यात्मिक होते हैं और यह आध्यात्मिक स्थिति भक्तिमय जीवन कहलाती है। यह वातावरण अदूषित होता है और यहाँ पर व्यक्ति गुणों की दृष्टि से परमेश्वर के समकक्ष होता है। ऐसा ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनुष्य को समस्त आध्यात्मिक गुण उत्पन्न करने होते हैं। जो इस प्रकार से आध्यात्मिक गुण उत्पन्न कर लेता है, वह भौतिक जगत् के सृजन या उसके विनाश से प्रभावित नहीं होता।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ ३॥

मम–मेरा; **योनिः**–जन्म-स्रोत; **महत्**–सम्पूर्ण भौतिक जगत्; **ब्रह्म**–परम; **तस्मिन्**–उसमें; **गर्भम्**–गर्भ; **दधामि**–उत्पन्न करता हूँ; **अहम्**–मैं; **सम्भवः**–सम्भावना; **सर्व-भूतानाम्**–समस्त जीवों का; **ततः**–तत्पश्चात्; **भवति**–होता है; **भारत**–हे भरत पुत्र।

हे भरतपुत्र! ब्रह्म नामक समग्र भौतिक वस्तु जन्म का स्रोत है और मैं इसी ब्रह्म को गर्भस्थ करता हूँ, जिससे समस्त जीवों का जन्म सम्भव होता है।

तात्पर्य : यह संसार की व्याख्या है—जो कुछ घटित होता है वह *क्षेत्र* (शरीर) तथा *क्षेत्रज्ञ* (आत्मा) के संयोग से होता है। प्रकृति और जीव का यह संयोग स्वयं भगवान् द्वारा सम्भव बनाया जाता है। महत्-तत्त्व ही समग्र ब्रह्माण्ड का सम्पूर्ण कारण है और भौतिक कारण की समग्र वस्तु, जिसमें प्रकृति के तीनों गुण रहते हैं, कभी-कभी ब्रह्म कहलाती है। परमपुरुष इसी समग्र वस्तु को गर्भस्थ करते हैं, जिससे असंख्य ब्रह्माण्ड सम्भव हो सके हैं। वैदिक साहित्य में (*मुण्डक उपनिषद्* १.१.९) इस समग्र भौतिक वस्तु को ब्रह्म कहा गया है—*तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते*। परमपुरुष उस ब्रह्म को जीवों के बीजों के साथ गर्भस्थ करता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि चौबीसों तत्त्व भौतिक शक्ति हैं और वे *महद् ब्रह्म* अर्थात् भौतिक प्रकृति के अवयव हैं। जैसा कि सातवें अध्याय में बताया जा चुका है कि इससे परे एक अन्य परा प्रकृति—*जीव*—होती है। भगवान् की इच्छा से यह परा-प्रकृति भौतिक (अपरा) प्रकृति में मिला दी जाती है, जिसके बाद इस भौतिक प्रकृति से सारे जीव उत्पन्न होते हैं।

विच्छू अपने अंडे धान के ढेर में देती है और कभी-कभी यह कहा जाता है कि विच्छू धान से उत्पन्न हुई। लेकिन धान विच्छू के जन्म का कारण नहीं। वास्तव में अंडे माता विच्छू ने दिए थे। इसी प्रकार भौतिक प्रकृति जीवों के जन्म का कारण नहीं होती। बीज भगवान् द्वारा प्रदत्त होता है और वे प्रकृति से उत्पन्न होते प्रतीत होते हैं। इस तरह प्रत्येक जीव को उसके पूर्वकर्मों के अनुसार भिन्न शरीर प्राप्त होता है, जो इस भौतिक प्रकृति द्वारा रचित होता है, जिसके कारण जीव अपने पूर्व कर्मों के अनुसार सुख या दुख भोगता है। इस भौतिक जगत् के जीवों की समस्त अभिव्यक्तियों के कारण भगवान् हैं।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ ४॥

सर्व-योनिषु–समस्त योनियों में; कौन्तेय–हे कुन्तीपुत्र; मूर्तयः–स्वरूप; सम्भवन्ति–प्रकट होते हैं, याः–जो; तासाम्–उन सबों का, ब्रह्म–परम; महत् योनिः–जन्म स्रोत, अहम्–मैं, बीज-प्रदः–बीजप्रदाता; पिता–पिता।

हे कुन्तीपुत्र! तुम यह समझ लो कि समस्त प्रकार की जीव-योनियाँ इस भौतिक प्रकृति में जन्म द्वारा सम्भव हैं और मैं उनका बीज-प्रदाता पिता हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट बताया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण समस्त जीवों के आदि पिता हैं। सारे जीव भौतिक प्रकृति तथा आध्यात्मिक प्रकृति के संयोग हैं। ऐसे जीव केवल इस लोक में ही नहीं, अपितु प्रत्येक लोक में, यहाँ तक कि सर्वोच्च लोक में भी, जहाँ ब्रह्मा आसीन हैं, पाये जाते हैं। जीव सर्वत्र हैं–पृथ्वी, जल तथा अग्नि के भीतर भी जीव हैं। ये सारे जीव माता भौतिक प्रकृति तथा बीजप्रदाता कृष्ण के द्वारा प्रकट होते हैं। तात्पर्य यह है कि भौतिक जगत् जीवों को गर्भ में धारण किये है, जो सृष्टिकाल में अपने पूर्वकर्मों के अनुसार विविध रूपों में प्रकट होते हैं।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ ५॥

सत्त्वम्–सतोगुण, रजः–रजोगुण, तमः–तमोगुण, इति–इस प्रकार, गुणाः–गुण, प्रकृति–भौतिक प्रकृति से, सम्भवाः–उत्पन्न, निबध्नन्ति–बाँधते हैं, महा-बाहो–हे बलिष्ठ भुजाओं वाले; देहे–इस शरीर में, देहिनम्–जीव को; *अव्ययम्–नित्य, अविनाशी।*

भौतिक प्रकृति तीन गुणों से युक्त है। ये हैं–सतो, रजो तथा तमोगुण। हे महाबाहु अर्जुन! जब शाश्वत जीव प्रकृति के संसर्ग में आता है, तो वह इन गुणों से बँध जाता है।

तात्पर्य : दिव्य होने के कारण जीव को इस भौतिक प्रकृति से कुछ भी लेना-देना नहीं है। फिर भी भौतिक जगत् द्वारा बद्ध हो जाने के कारण वह प्रकृति के तीनों गुणों के जादू के वशीभूत होकर कार्य करता है। चूँकि जीवों को प्रकृति की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीर मिले हुए हैं, अतएव वे उसी प्रकृति के अनुसार कर्म करने के लिए प्रेरित होते हैं। यही अनेक प्रकार के सुख-दुख का कारण है।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ ६॥

तत्र–वहाँ, सत्त्वम्–सतोगुण, निर्मलत्वात्–भौतिक जगत् में शुद्धतम होने के कारण, प्रकाशकम्–प्रकाशित करता हुआ, अनामयम्–किसी पापकर्म के बिना, सुख–सुख की, सङ्गेन–संगति के द्वारा, बध्नाति–बाँधता है, ज्ञान–ज्ञान की, सङ्गेन–संगति से, च–भी, अनघ–हे पापरहित।

हे निष्पाप! सतोगुण अन्य गुणों की अपेक्षा अधिक शुद्ध होने के कारण प्रकाश प्रदान करने वाला और मनुष्यों को सारे पाप कर्मों से मुक्त करने वाला है। जो लोग इस गुण में स्थित होते हैं, वे सुख तथा ज्ञान के भाव से बँध जाते हैं।

तात्पर्य : प्रकृति द्वारा बद्ध किये गये जीव कई प्रकार के होते हैं। कोई सुखी है और कोई अत्यन्त कर्मठ है, तो दूसरा असहाय है। इस प्रकार के मनोभाव ही प्रकृति में जीव की बद्धावस्था के कारणस्वरूप हैं। *भगवद्गीता* के इस अध्याय में इसका वर्णन हुआ है कि वे किस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार से बद्ध हैं। सर्वप्रथम सतोगुण पर विचार किया गया है। इस जगत् में सतोगुण विकसित करने का लाभ यह होता है कि मनुष्य अन्य बद्धजीवों की तुलना में अधिक चतुर हो जाता है। सतोगुणी पुरुष को भौतिक कष्ट उतना पीड़ित नहीं करते और उसमें भौतिक ज्ञान की प्रगति करने की सूझ होती है। इसका प्रतिनिधि ब्राह्मण है, जो सतोगुणी माना जाता है। सुख का यह भाव इस विचार के कारण है कि सतोगुण में पापकर्मों से प्रायः मुक्त रहा जाता है। वास्तव में वैदिक साहित्य में यह कहा गया है कि सतोगुण का अर्थ ही है अधिक ज्ञान तथा सुख का अधिकाधिक अनुभव।

सारी कठिनाई यह है कि जब मनुष्य सतोगुण में स्थित होता है, तो उसे ऐसा अनुभव होता है कि वह ज्ञान में आगे है और अन्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। इस प्रकार वह बद्ध हो जाता है। इसके उदाहरण वैज्ञानिक तथा दार्शनिक हैं। इनमें से प्रत्येक को अपने ज्ञान का गर्व रहता है और चूँकि वे अपने रहन-सहन को सुधार लेते हैं, अतएव उन्हें भौतिक सुख की अनुभूति होती है। बद्ध जीवन में अधिक सुख का यह भाव उन्हें भौतिक प्रकृति के गुणों से बाँध देता है। अतएव वे सतोगुण में रहकर कर्म करने के प्रति आकृष्ट होते हैं। और जब तक इस प्रकार कर्म करते रहने का आकर्षण बना रहता है, तब तक उन्हें किसी न किसी प्रकार का शरीर धारण करना होता है। इस प्रकार उनकी मुक्ति की या वैकुण्ठलोक जाने की कोई सम्भावना नहीं रह जाती। वे बारम्बार दार्शनिक, वैज्ञानिक या कवि बनते रहते हैं और बारम्बार जन्म-मृत्यु के उन्हीं दोषों में बँधते रहते हैं। लेकिन माया-मोह के कारण वे सोचते हैं कि इस प्रकार का जीवन आनन्दप्रद है।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ ७॥

रजो—रजोगुण; **राग-आत्मकम्**—आकांक्षा या काम से उत्पन्न; **विद्धि**—जानो; **तृष्णा**—लोभ से; **सङ्ग**—संगति से; **समुद्भवम्**—उत्पन्न; **तत्**—वह; **निबध्नाति**—बाँधता है; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **कर्म-सङ्गेन**—सकाम कर्म की संगति से; **देहिनम्**—देहधारी को।

हे कुन्तीपुत्र! रजोगुण की उत्पत्ति असीम आकांक्षाओं तथा तृष्णाओं से होती है और इसी के कारण से यह देहधारी जीव सकाम कर्मों से बँध जाता है।

तात्पर्य : रजोगुण की विशेषता है, पुरुष तथा स्त्री का पारस्परिक आकर्षण। स्त्री पुरुष के प्रति और पुरुष स्त्री के प्रति आकर्षित होता है। यह रजोगुण कहलाता है। जब इस रजोगुण में वृद्धि हो जाती है, तो मनुष्य भौतिक भोग के लिए लालायित होता है।

वह इन्द्रियतृप्ति चाहता है। इस इन्द्रियतृप्ति के लिए वह रजोगुणी मनुष्य समाज में या राष्ट्र में सम्मान चाहता है और सुन्दर सन्तान, स्त्री तथा घर सहित सुखी परिवार चाहता है। ये सब रजोगुण के प्रतिफल हैं। जब तक मनुष्य इनकी लालसा करता रहता है, तब तक उसे कठिन श्रम करना पड़ता है। अतः यहाँ पर यह स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य अपने कर्मफलों से सम्बद्ध होकर ऐसे कर्मों से बँध जाता है। अपनी स्त्री, पुत्रों तथा समाज को प्रसन्न करने तथा अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए मनुष्य को कर्म करना होता है। अतएव सारा संसार ही न्यूनाधिक रूप से रजोगुणी है। आधुनिक सभ्यता में रजोगुण का मानदण्ड ऊँचा है। प्राचीन काल में सतोगुण को उच्च अवस्था माना जाता था। यदि सतोगुणी लोगों को मुक्ति नहीं मिल पाती, तो जो रजोगुणी हैं उनके विषय में क्या कहा जाये?

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥८॥

तमः—तमोगुण; तु—लेकिन, अज्ञान-जम्—अज्ञान से उत्पन्न, विद्धि—जानो, मोहनम्—मोह; सर्व-देहिनाम्—समस्त देहधारी जीवों का; प्रमाद—पागलपन, आलस्य—आलस, निद्राभिः—तथा नींद द्वारा; तत्—वह; निबध्नाति—बाँधता है, भारत—हे भरतपुत्र।

हे भरतपुत्र! तुम जान लो कि अज्ञान से उत्पन्न तमोगुण समस्त देहधारी जीवों का मोह है। इस गुण के प्रतिफल पागलपन (प्रमाद), आलस तथा नींद हैं, जो बद्धजीव को बाँधते हैं।

तात्पर्य: इस श्लोक में *तु* शब्द का प्रयोग उल्लेखनीय है। इसका अर्थ है कि तमोगुण देहधारी जीव का अत्यन्त विचित्र गुण है। यह सतोगुण के सर्वथा विपरीत है। सतोगुण में ज्ञान के विकास से मनुष्य यह जान सकता है कि कौन क्या है, लेकिन तमोगुण तो इसके सर्वथा विपरीत होता है। जो भी तमोगुण के फेर में पड़ता है, वह पागल हो जाता है और पागल पुरुष यह नहीं समझ पाता कि कौन क्या है। वह प्रगति करने के बजाय अधोगति को प्राप्त होता है। वैदिक साहित्य में तमोगुण की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—*वस्तुयाथात्म्यज्ञानावरकं विपर्ययज्ञानजनकं तमः*—अज्ञान के वशीभूत होने पर कोई मनुष्य किसी वस्तु को यथारूप में नहीं समझ पाता। उदाहरणार्थ, प्रत्येक व्यक्ति देखता है कि उसका बाबा मरा है, अतएव वह भी मरेगा, मनुष्य मर्त्य है। उसकी सन्तानें भी मरेंगी। अतएव मृत्यु ध्रुव है। फिर भी लोग पागल होकर धन संग्रह करते हैं और नित्य आत्मा की चिन्ता किये बिना अहर्निश कठोर श्रम करते रहते हैं। यह पागलपन ही तो है। अपने पागलपन में वे आध्यात्मिक ज्ञान में कोई उन्नति नहीं कर पाते। ऐसे लोग अत्यन्त आलसी होते हैं। जब उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया जाता है, तो वे अधिक रुचि नहीं दिखाते। वे रजोगुणी व्यक्ति की तरह भी सक्रिय नहीं रहते। अतएव तमोगुण में लिप्त व्यक्ति का एक अन्य गुण यह भी है कि वह आवश्यकता से अधिक सोता है। छह घंटे की नींद पर्याप्त है, लेकिन ऐसा व्यक्ति दिन भर में दस-बारह घंटे तक सोता है। ऐसा व्यक्ति सदैव निराश प्रतीत होता है और

भौतिक द्रव्यों तथा निद्रा के प्रति व्यसनी बन जाता है। ये हैं तमोगुणी व्यक्ति के लक्षण।

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥९॥

सत्त्वम्—सतोगुण; सुखे—सुख में; सञ्जयति—बाँधता है; रजः—रजोगुण; कर्मणि—सकाम कर्म में; भारत—हे भरतपुत्र; ज्ञानम्—ज्ञान को; आवृत्य—ढक कर; तु—लेकिन; तमः—तमोगुण; प्रमादे—पागलपन में; सञ्जयति—बाँधता है; उत—ऐसा कहा जाता है।

हे भरतपुत्र! सतोगुण मनुष्य को सुख से बाँधता है, रजोगुण सकाम कर्म से बाँधता है और तमोगुण मनुष्य के ज्ञान को ढक कर उसे पागलपन से बाँधता है।

तात्पर्य : सतोगुणी पुरुष अपने कर्म या बौद्धिक वृत्ति से उसी तरह सन्तुष्ट रहता है, जिस प्रकार दार्शनिक, वैज्ञानिक या शिक्षक अपनी अपनी विद्याओं में निरत रहकर सन्तुष्ट रहते हैं। रजोगुणी व्यक्ति सकाम कर्म में लग सकता है, वह यथासम्भव धन प्राप्त करके उसे उत्तम कार्यों में व्यय करता है। कभी-कभी वह अस्पताल खोलता है और धर्मार्थ संस्थाओं को दान देता है। ये लक्षण हैं, रजोगुणी व्यक्ति के, लेकिन तमोगुण तो ज्ञान को ढक लेता है। तमोगुण में रहकर मनुष्य जो भी करता है, वह न तो उसके लिए, न किसी अन्य के लिए हितकर होता है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥१०॥

रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण को; च—भी; अभिभूय—पार करके; सत्त्वम्—सतोगुण; भवति—प्रधान बनता है; भारत—हे भरतपुत्र; रजः—रजोगुण; सत्त्वम्—सतोगुण को; तमः—तमोगुण; च—भी; एव—उसी तरह; तमः—तमोगुण; सत्त्वम्—सतोगुण को; रजः—रजोगुण; तथा—इस प्रकार।

हे भरतपुत्र! कभी-कभी सतोगुण रजोगुण तथा तमोगुण को परास्त करके प्रधान बन जाता है तो कभी रजोगुण सतो तथा तमोगुणों को परास्त कर देता है और कभी ऐसा होता है कि तमोगुण सतो तथा रजोगुणों को परास्त कर देता है। इस प्रकार श्रेष्ठता के लिए निरन्तर स्पर्धा चलती रहती है।

तात्पर्य : जब रजोगुण प्रधान होता है, तो सतो तथा तमोगुण परास्त रहते हैं। जब सतोगुण प्रधान होता है तो रजो तथा तमोगुण परास्त हो जाते हैं। जब तमोगुण प्रधान होता है तो रजो तथा सतोगुण परास्त हो जाते हैं। यह प्रतियोगिता निरन्तर चलती रहती है। अतएव जो कृष्णभावनामृत में वास्तव में उन्नति करने का इच्छुक है, उसे इन तीनों गुणों को लाँघना पड़ता है। प्रकृति के किसी एक गुण की प्रधानता मनुष्य के आचरण में, उसके कार्यकलापों में, उसके खान-पान आदि में प्रकट होती रहती है। इन सबकी व्याख्या अगले अध्यायों में की जाएगी। लेकिन यदि कोई चाहे तो वह अभ्यास द्वारा सतोगुण विकसित कर सकता है और इस प्रकार रजो तथा तमोगुणों को परास्त कर सकता है। इस प्रकार से रजोगुण विकसित करके तमो तथा सतो गुणों को परास्त कर

सकता है। अथवा कोई चाहे तो वह तमोगुण को विकसित करके रजो तथा सतोगुणों को परास्त कर सकता है। यद्यपि प्रकृति के ये तीन गुण होते हैं, किन्तु यदि कोई संकल्प कर ले तो उसे सतोगुण का आशीर्वाद तो मिल ही सकता है और वह इसे लाँघ कर शुद्ध सतोगुण में स्थित हो सकता है, जिसे *वासुदेव* अवस्था कहते हैं, जिसमें वह ईश्वर के विज्ञान को समझ सकता है। विशिष्ट कार्यों को देख कर ही समझा जा सकता है कि कौन व्यक्ति किस गुण में स्थित है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥११॥

सर्व-द्वारेषु–सारे दरवाजों में; देहे अस्मिन्–इस शरीर में; प्रकाशः–प्रकाशित करने का गुण; उपजायते–उत्पन्न होता है; ज्ञानम्–ज्ञान; यदा–जब; तदा–उस समय; विद्यात्–जानो; विवृद्धम्–बढ़ा हुआ; सत्त्वम्–सतोगुण; इति उत–ऐसा कहा गया है।

सतोगुण की अभिव्यक्ति को तभी अनुभव किया जा सकता है, जब शरीर के सारे द्वार ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं।

तात्पर्य : शरीर में नौ द्वार हैं—दो आँखें, दो कान, दो नथुने, मुँह, गुदा तथा उपस्थ। जब प्रत्येक द्वार सत्त्व के लक्षण से दीपित हो जाये, तो समझना चाहिए कि उसमें सतोगुण विकसित हो चुका है। सतोगुण में सारी वस्तुएँ अपनी सही स्थिति में दिखती हैं, सही-सही सुनाई पड़ता है और सही ढंग से उन वस्तुओं का स्वाद मिलता है। मनुष्य का अन्तः तथा बाह्य शुद्ध हो जाता है। प्रत्येक द्वार में सुख के लक्षण उत्पन्न दिखते हैं और यही स्थिति होती है सत्त्वगुण की।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥१२॥

लोभः–लोभ; प्रवृत्तिः–कार्य; आरम्भः–उद्यम; कर्मणाम्–कर्मों में; अशमः–अनियन्त्रित; स्पृहा–इच्छा; रजसि–रजोगुण में; एतानि–ये सब; जायन्ते–प्रकट होते हैं; विवृद्धे–अधिकता होने पर; भरत-ऋषभ–हे भरतवंशियों में प्रमुख।

हे भरतवंशियों में प्रमुख! जब रजोगुण में वृद्धि हो जाती है, तो अत्यधिक आसक्ति, सकाम कर्म, गहन उद्यम तथा अनियन्त्रित इच्छा एवं लालसा के लक्षण प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : रजोगुणी व्यक्ति कभी भी पहले से प्राप्त पद से संतुष्ट नहीं होता, वह अपना पद बढ़ाने के लिए लालायित रहता है। यदि उसे मकान बनवाना है, तो वह महल बनवाने के लिए भरसक प्रयत्न करता है, मानो वह उस महल में सदा रहेगा। वह इन्द्रियतृप्ति के लिए अत्यधिक लालसा विकसित कर लेता है। उसमें इन्द्रियतृप्ति की कोई सीमा नहीं है। वह सदैव अपने परिवार के बीच तथा अपने घर में रह कर इन्द्रियतृप्ति करते रहना चाहता है। इसका कोई अन्त नहीं है। इन सारे लक्षणों को रजोगुण की विशेषता मानना चाहिए।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥१३॥

अप्रकाशः—अँधेरा; **अप्रवृत्तिः**—निष्क्रियता; **च**—तथा; **प्रमादः**—पागलपन; **मोहः**—मोह; **एव**—निश्चय ही; **च**—भी; **तमसि**—तमोगुण; **एतानि**—ये; **जायन्ते**—प्रकट होते हैं; **विवृद्धे**—बढ़ जाने पर; **कुरु-नन्दन**—हे कुरुपुत्र।

जब तमोगुण में वृद्धि हो जाती है, तो हे कुरुपुत्र! अँधेरा, जड़ता, प्रमत्तता तथा मोह का प्राकट्य होता है।

तात्पर्य : जहाँ प्रकाश नहीं होता, वहाँ ज्ञान अनुपस्थित रहता है। तमोगुणी व्यक्ति किसी नियम में बँधकर कार्य नहीं करता। वह अकारण ही अपनी सनक के अनुसार कार्य करना चाहता है। यद्यपि उसमें कार्य करने की क्षमता होती है, किन्तु वह परिश्रम नहीं करता। यह मोह कहलाता है। यद्यपि चेतना रहती है, लेकिन जीवन निष्क्रिय रहता है। ये तमोगुण के लक्षण हैं।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥१४॥

यदा—जब; **सत्त्वे**—सतोगुण में; **प्रवृद्धे**—बढ़ जाने पर; **तु**—लेकिन; **प्रलयम्**—संहार, विनाश को; **याति**—जाता है; **देह-भृत्**—देहधारी; **तदा**—उस समय; **उत्तम-विदाम्**—ऋषियों के; **लोकान्**—लोकों को; **अमलान्**—शुद्ध; **प्रतिपद्यते**—प्राप्त करता है।

जब कोई सतोगुण में मरता है, तो उसे महर्षियों के विशुद्ध उच्चतर लोकों की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य : सतोगुणी व्यक्ति ब्रह्मलोक या जनलोक जैसे उच्च लोकों को प्राप्त करता है और वहाँ दैवी सुख भोगता है। *अमलान्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है, "रजो तथा तमोगुणों से मुक्त"। भौतिक जगत् में अशुद्धियाँ हैं, लेकिन सतोगुण सर्वाधिक शुद्ध रूप है। विभिन्न जीवों के लिए विभिन्न प्रकार के लोक हैं। जो लोग सतोगुण में मरते हैं, वे उन लोकों को जाते हैं, जहाँ महर्षि तथा महान भक्तगण रहते हैं।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥१५॥

रजसि—रजोगुण में; **प्रलयम्**—प्रलय को; **गत्वा**—प्राप्त करके; **कर्म-सङ्गिषु**—सकाम कर्मियों की संगति में; **जायते**—जन्म लेता है; **तथा**—उसी प्रकार; **प्रलीनः**—विलीन होकर; **तमसि**—अज्ञान में; **मूढ-योनिषु**—पशुयोनि में; **जायते**—जन्म लेता है।

जब कोई रजोगुण में मरता है, तो वह सकाम कर्मियों के बीच में जन्म ग्रहण करता है और जब कोई तमोगुण में मरता है, तो वह पशुयोनि में जन्म धारण करता है।

तात्पर्य : कुछ लोगों का विचार है कि एक बार मनुष्य जीवन को प्राप्त करके आत्मा कभी नीचे नहीं गिरता। यह ठीक नहीं है। इस श्लोक के अनुसार, यदि कोई तमोगुणी बन जाता है, तो वह मृत्यु के बाद पशुयोनि को प्राप्त होता है। वहाँ से मनुष्य को विकास प्रक्रम द्वारा पुनः मनुष्य जीवन तक आना पड़ता है। अतएव जो लोग मनुष्य जीवन के विषय में सचमुच चिन्तित हैं, उन्हें सतोगुणी बनना चाहिए और अच्छी संगति में रहकर गुणों को लाँघ कर कृष्णभावनामृत में स्थित होना चाहिए। यही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है। अन्यथा इसकी कोई गारंटी (निश्चितता) नहीं कि मनुष्य को फिर से मनुष्ययोनि प्राप्त हो।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥१६॥

कर्मणः–कर्म का, सु-कृतस्य–पुण्य; आहुः–कहा गया है; सात्त्विकम्–सात्त्विक, निर्मलम्–विशुद्ध; फलम्–फल, रजसः–रजोगुण का, तु–लेकिन; फलम्–फल; दुःखम्–दुख; अज्ञानम्–व्यर्थ; तमसः–तमोगुण का, फलम्–फल।

पुण्यकर्म का फल शुद्ध होता है और सात्त्विक कहलाता है। लेकिन रजोगुण में सम्पन्न कर्म का फल दुख होता है और तमोगुण में किये गये कर्म मूर्खता में प्रतिफलित होते हैं।

तात्पर्य : सतोगुण में किये गये पुण्यकर्मों का फल शुद्ध होता है, अतएव वे मुनिगण, जो समस्त मोह से मुक्त हैं, सुखी रहते हैं। लेकिन रजोगुण में किये गये कर्म दुख के कारण बनते हैं। भौतिकसुख के लिए जो भी कार्य किया जाता है, उसका विफल होना निश्चित है। उदाहरणार्थ, यदि कोई गगनचुम्बी प्रासाद बनवाना चाहता है, तो उसके बनने के पूर्व अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ता है। मालिक को धन-संग्रह के लिए कष्ट उठाना पड़ता है और प्रासाद बनाने वाले श्रमियों को शारीरिक श्रम करना होता है। इस प्रकार कष्ट तो होते ही हैं। अतएव *भगवद्गीता* का कथन है कि रजोगुण के अधीन होकर जो भी कर्म किया जाता है, उसमें निश्चित रूप से महान कष्ट भोगने होते हैं। इससे यह मानसिक तुष्टि हो सकती है कि मैंने यह मकान बनवाया या इतना धन कमाया, लेकिन यह कोई वास्तविक सुख नहीं है। जहाँ तक तमोगुण का सम्बन्ध है, कर्ता को कुछ ज्ञान नहीं रहता, अतएव उसके समस्त कार्य उस समय दुखदायक होते हैं और बाद में उसे पशु जीवन में जाना होता है। पशु जीवन सदैव दुखमय है, यद्यपि माया के वशीभूत होकर वे इसे समझ नहीं पाते। पशुओं का वध भी तमोगुण के कारण है। पशु-वधिक यह नहीं जानते कि भविष्य में इस पशु को ऐसा शरीर प्राप्त होगा, जिसमें वह उनका वध करेगा। यही प्रकृति का नियम है। मानव समाज में यदि कोई किसी मनुष्य का वध कर दे तो उसे प्राणदण्ड मिलता है। यह राज्य का नियम है। अज्ञानवश लोग यह अनुभव नहीं करते कि परमेश्वर द्वारा नियन्त्रित एक पूरा राज्य है। प्रत्येक जीवित प्राणी परमेश्वर की सन्तान है और उन्हें एक चींटी तक का मारा जाना सह्य नहीं है। इसके लिए मनुष्य को दण्ड भोगना पड़ता है। अतएव स्वाद के लिए पशु-वध में रत रहना घोर अज्ञान है।

मनुष्य को पशुओं के वध की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ईश्वर ने अनेक अच्छी वस्तुएँ प्रदान कर रखी हैं। यदि कोई किसी कारण से मांसाहार करता है, तो यह समझना चाहिए कि वह अज्ञानवश ऐसा कर रहा है और अपने भविष्य को अंधकारमय बना रहा है। समस्त प्रकार के पशुओं में से गोवध सर्वाधिक अधम है, क्योंकि गाय हमें दूध देकर सभी प्रकार का सुख प्रदान करने वाली है। गोवध एक प्रकार से सबसे अधम कर्म है। वैदिक साहित्य में (*ऋग्वेद* ९.४.६४) *गोभिः प्रीणित-मत्सरम्* सूचित करता है कि जो व्यक्ति दूध पीकर गाय को मारना चाहता है, वह सबसे बड़े अज्ञान में रहता है। वैदिक ग्रन्थों में (*विष्णु-पुराण* १.१९.६५) एक प्रार्थना भी है, जो इस प्रकार है—

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥

"हे प्रभु! आप गायों तथा ब्राह्मणों के हितैषी हैं और आप समस्त मानव समाज तथा विश्व के हितैषी हैं।" तात्पर्य यह है कि इस प्रार्थना में गायों तथा ब्राह्मणों की रक्षा का विशेष उल्लेख है। ब्राह्मण आध्यात्मिक शिक्षा के प्रतीक हैं और गाएँ महत्त्वपूर्ण भोजन की, अतएव इन दोनों जीवों, ब्राह्मणों तथा गायों, को पूरी सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए। यही सभ्यता की वास्तविक प्रगति है। आधुनिक मानव समाज में आध्यात्मिक ज्ञान की उपेक्षा की जाती है और गोवध को प्रोत्साहित किया जाता है। इससे यही ज्ञात होता है कि मानव-समाज विपरीत दिशा में जा रहा है और अपनी भर्त्सना का पथ प्रशस्त कर रहा है। जो सभ्यता अपने नागरिकों को अगले जन्मों में पशु बनने के लिए मार्गदर्शन करती हो, वह निश्चित रूप से मानव सभ्यता नहीं है। निस्सन्देह, आधुनिक मानव-सभ्यता रजोगुण तथा तमोगुण के कारण कुमार्ग पर जा रही है। यह अत्यन्त घातक युग है और समस्त राष्ट्रों को चाहिए कि मानवता को महानतम संकट से बचाने के लिए कृष्णभावनामृत की सरलतम विधि प्रदान करें।

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥१७॥

सत्त्वात्—सतोगुण से; **सञ्जायते**—उत्पन्न होता है; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **रजसः**—रजोगुण से; **लोभः**—लालच; **एव**—निश्चय ही; **च**—भी; **प्रमाद**—पागलपन; **मोहौ**—तथा मोह; **तमसः**—तमोगुण से; **भवतः**—होता है; **अज्ञानम्**—अज्ञान; **एव**—निश्चय ही; **च**—भी।

सतोगुण से वास्तविक ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता है और तमोगुण से अज्ञान, प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : चूँकि वर्तमान सभ्यता जीवों के लिए अधिक अनुकूल नहीं है, अतएव उनके लिए कृष्णभावनामृत की संस्तुति की जाती है। कृष्णभावनामृत के माध्यम से समाज में सतोगुण विकसित होगा। सतोगुण विकसित हो जाने पर लोग वस्तुओं को असली रूप में देख सकेंगे। तमोगुण में रहने वाले लोग पशु-तुल्य होते हैं और वे वस्तुओं को स्पष्ट रूप में नहीं देख पाते। उदाहरणार्थ, तमोगुण में रहने के कारण लोग यह नहीं देख पाते कि जिस पशु का वे वध कर रहे हैं, उसी के द्वारा वे अगले जन्म में मारे जाएँगे।

वास्तविक ज्ञान की शिक्षा न मिलने के कारण वे अनुत्तरदायी बन जाते हैं। इस उच्छृंखलता को रोकने के लिए जनता में सतोगुण उत्पन्न करने वाली शिक्षा देना आवश्यक है। सतोगुण में शिक्षित हो जाने पर वे गम्भीर बनेंगे और वस्तुओं को उनके सही रूप में जान सकेंगे। तब लोग सुखी तथा सम्पन्न हो सकेंगे। भले ही अधिकांश लोग सुखी तथा समृद्ध न बन पायें, लेकिन यदि जनता का कुछ भी अंश कृष्णभावनामृत विकसित कर लेता है और सतोगुणी बन जाता है, तो सारे विश्व में शान्ति तथा सम्पन्नता की सम्भावना है। नहीं तो, यदि विश्व के लोग रजोगुण तथा तमोगुण में लगे रहे तो शान्ति और सम्पन्नता नहीं रह पायेगी। रजोगुण में लोग लोभी बन जाते हैं और इन्द्रिय-भोग की उनकी लालसा की कोई सीमा नहीं होती। कोई भी यह देख सकता है कि भले ही किसी के पास प्रचुर धन तथा इन्द्रियतृप्ति के लिए पर्याप्त साधन हों, लेकिन उसे न तो सुख मिलता है, न मनःशान्ति। ऐसा सम्भव भी नहीं है, क्योंकि वह रजोगुण में स्थित है। यदि कोई रंचमात्र भी सुख चाहता है, तो धन उसकी सहायता नहीं कर सकता, उसे कृष्णभावनामृत के अभ्यास द्वारा अपने आपको सतोगुण में स्थित करना होगा। जब कोई रजोगुण में रत रहता है, तो वह मानसिक रूप से ही अप्रसन्न नहीं रहता अपितु उसकी वृत्ति तथा उसका व्यवसाय भी अत्यन्त कष्टकारक होते हैं। उसे अपनी मर्यादा बनाये रखने के लिए अनेकानेक योजनाएँ बनानी होती हैं। यह सब कष्टकारक है। तमोगुण में लोग पागल (प्रमत्त) हो जाते हैं। अपनी परिस्थितियों से ऊब कर के मद्य-सेवन की शरण ग्रहण करते हैं और इस प्रकार वे अज्ञान के गर्त में अधिकाधिक गिरते हैं। जीवन में उनका भविष्य-जीवन अन्धकारमय होता है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥१८॥

ऊर्ध्वम्–ऊपर, गच्छन्ति–जाते हैं, सत्त्व-स्थाः–जो सतोगुण में स्थित हैं, मध्ये–मध्य में, तिष्ठन्ति–निवास करते हैं, राजसाः–रजोगुणी, जघन्य–गर्हित, गुण–गुण, वृत्ति-स्थाः–जिनकी वृत्तियाँ या व्यवसाय, अधः–नीचे, निम्न, गच्छन्ति–जाते हैं, तामसाः–तमोगुणी लोग।

सतोगुणी व्यक्ति क्रमशः उच्च लोकों को ऊपर जाते हैं, रजोगुणी इसी पृथ्वीलोक में रह जाते हैं, और जो अत्यन्त गर्हित तमोगुण में स्थित हैं, वे नीचे नरक लोकों को जाते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में तीनों गुणों के कर्मों के फल को स्पष्ट रूप से बताया गया है। ऊपर के लोकों या स्वर्गलोकों में, प्रत्येक व्यक्ति अत्यन्त उन्नत होता है। जीवों में जिस मात्रा में सतोगुण का विकास होता है, उसी के अनुसार उसे विभिन्न स्वर्ग-लोकों में भेजा जाता है। सर्वोच्च-लोक सत्य-लोक या ब्रह्मलोक है, जहाँ इस ब्रह्माण्ड के प्रधान व्यक्ति, ब्रह्माजी निवास करते हैं। हम पहले ही देख चुके हैं कि ब्रह्मलोक में जिस प्रकार जीवन की आश्चर्यजनक परिस्थिति है, उसका अनुमान करना कठिन है। तो भी सतोगुण नामक जीवन की सर्वोच्च अवस्था हमें वहाँ तक पहुँचा सकती है।

रजोगुण मिश्रित होता है। यह सतो तथा तमोगुणों के मध्य में होता है। मनुष्य

शुद्ध नहीं होता, लेकिन यदि वह पूर्णतया रजोगुणी हो, तो वह इस पृथ्वी पर केवल राजा या धनी व्यक्ति के रूप में रहता है। लेकिन गुणों का मिश्रण होते रहने से वह नीचे भी जा सकता है। इस पृथ्वी पर रजो या तमोगुणी लोग बलपूर्वक किसी मशीन के द्वारा उच्चतर-लोकों में नहीं पहुँच सकते। रजोगुण में इसकी भी सम्भावना है कि अगले जीवन में कोई प्रमत्त हो जाये।

यहाँ पर निम्नतम गुण, तमोगुण, को अत्यन्त गर्हित (जघन्य) कहा गया है। अज्ञानता (तमोगुण) विकसित करने का परिणाम अत्यन्त भयावह होता है। यह प्रकृति का निम्नतम गुण है। मनुष्य-योनि से नीचे पक्षियों, पशुओं, सरीसृपों, वृक्षों आदि की अस्सी लाख योनियाँ हैं, और तमोगुण के विकास के अनुसार ही लोगों को ये अधम योनियाँ प्राप्त होती रहती हैं। यहाँ पर *तामसाः* शब्द अत्यन्त सार्थक है। यह उनका सूचक है, जो उच्चतर गुणों तक ऊपर न उठ कर निरन्तर तमोगुण में ही बने रहते हैं। उनका भविष्य अत्यन्त अंधकारमय होता है।

तमोगुणी तथा रजोगुणी लोगों के लिए सतोगुणी बनने का सुअवसर है और यह कृष्णभावनामृत विधि से मिल सकता है। लेकिन जो इस सुअवसर का लाभ नहीं उठाता, वह निम्नतर गुणों में बना रहेगा।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥१९॥

न—नहीं; **अन्यम्**—दूसरा; **गुणेभ्यः**—गुणों के अतिरिक्त; **कर्तारम्**—कर्ता; **यदा**—जब; **द्रष्टा**—देखने वाला; **अनुपश्यति**—ठीक से देखता है; **गुणेभ्यः**—गुणों से; **च**—तथा; **परम्**—दिव्य; **वेत्ति**—जानता है; **मत्-भावम्**—मेरे दिव्य स्वभाव को; **सः**—वह; **अधिगच्छति**—प्राप्त होता है।

जब कोई यह अच्छी तरह जान लेता है कि समस्त कार्यों में प्रकृति के तीनों गुणों के अतिरिक्त अन्य कोई कर्ता नहीं है और जब वह परमेश्वर को जान लेता है, जो इन तीनों गुणों से परे है, तो वह मेरे दिव्य स्वभाव को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : समुचित महापुरुषों से केवल समझकर तथा समुचित ढंग से सीख कर मनुष्य प्रकृति के गुणों के सारे कार्यकलापों को लाँघ सकता है। वास्तविक गुरु कृष्ण हैं और वे अर्जुन को यह दिव्य ज्ञान प्रदान कर रहे हैं। इसी प्रकार जो लोग पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हैं, उन्हीं से प्रकृति के गुणों के कार्यों के इस ज्ञान को सीखना होता है। अन्यथा मनुष्य का जीवन कुमार्ग में चला जाता है। प्रामाणिक गुरु के उपदेश से जीव अपनी आध्यात्मिक स्थिति, अपने भौतिक शरीर, अपनी इन्द्रियों, तथा प्रकृति के गुणों के अपनी बद्धावस्था होने के बारे में जान सकता है। वह इन गुणों की जकड़ में होने से असहाय होता है लेकिन अपनी वास्तविक स्थिति देख लेने पर वह दिव्य स्तर को प्राप्त कर सकता है, जिसमें आध्यात्मिक जीवन के लिए अवकाश होता है। वस्तुतः जीव विभिन्न कर्मों का कर्ता नहीं होता। उसे बाध्य होकर कर्म करना पड़ता है, क्योंकि वह विशेष प्रकार के शरीर में स्थित रहता है, जिसका संचालन प्रकृति का कोई गुण करता है। जब तक मनुष्य को किसी आध्यात्मिक मान्यता प्राप्त व्यक्ति की सहायता नहीं मिलती, तब तक वह यह

नहीं समझ सकता कि वह वास्तव में कहाँ स्थित है। प्रामाणिक गुरु की संगति से वह अपनी वास्तविक स्थिति समझ सकता है और इसे समझ लेने पर, वह पूर्ण कृष्णभावनामृत में स्थिर हो सकता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी भी प्रकृति के गुणों के चमत्कार से नियन्त्रित नहीं होता। सातवें अध्याय में बताया जा चुका है कि जो कृष्ण की शरण में जाता है, वह प्रकृति के कार्यों से मुक्त हो जाता है। जो व्यक्ति वस्तुओं को यथारूप में देख सकता है, उस पर प्रकृति का प्रभाव क्रमशः घटता जाता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

गुणान्–गुणों को, एतान्–इन सब, अतीत्य–लाँघ कर; त्रीन्–तीन; देही–देहधारी; देह–शरीर; समुद्भवान्–उत्पन्न; जन्म–जन्म; मृत्यु–मृत्यु; जरा–बुढ़ापे का; दुःखैः–दुखों से; विमुक्तः–मुक्त, अमृतम्–अमृत, अश्नुते–भोगता है।

जब देहधारी जीव भौतिक शरीर से सम्बद्ध इन तीनों गुणों को लाँघने में समर्थ होता है, तो वह जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा तथा उनके कष्टों से मुक्त हो सकता है और इसी जीवन में अमृत का भोग कर सकता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में बताया गया है कि किस प्रकार इसी शरीर में कृष्णभावनाभावित होकर दिव्य स्थिति में रहा जा सकता है। संस्कृत शब्द *देही* का अर्थ है देहधारी। यद्यपि मनुष्य इस भौतिक शरीर के भीतर रहता है, लेकिन अपने आध्यात्मिक ज्ञान की उन्नति के द्वारा वह प्रकृति के गुणों के प्रभाव से मुक्त हो सकता है। वह इसी शरीर में आध्यात्मिक जीवन का सुखोपभोग कर सकता है, क्योंकि इस शरीर के बाद उसका वैकुण्ठ जाना निश्चित है। लेकिन वह इसी शरीर में आध्यात्मिक सुख उठा सकता है। दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनामृत में भक्ति करना भव-पाश से मुक्ति का संकेत है और अध्याय १८ में इसकी व्याख्या की जायेगी। जब मनुष्य प्रकृति के गुणों के प्रभाव से मुक्त हो जाता है, तो वह भक्ति में प्रविष्ट होता है।

अर्जुन उवाच
कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥२१॥

अर्जुनः उवाच–अर्जुन ने कहा, कैः–किन, लिङ्गैः–लक्षणों से, त्रीन्–तीनों, गुणान्–गुणों को, एतान्–ये सब, अतीतः–लाँघा हुआ, भवति–है, प्रभो–हे प्रभु किम्–क्या, आचारः–आचरण, कथम्–कैसे; च–भी, एतान्–ये, त्रीन्–तीनों, गुणान्–गुणों का, अतिवर्तते–लाँघता है।

अर्जुन ने पूछा–हे भगवान्! जो इन तीनों गुणों से परे है, वह किन लक्षणों के द्वारा जाना जाता है? उसका आचरण कैसा होता है? और वह प्रकृति के गुणों को किस प्रकार लाँघता है?

तात्पर्य : इस श्लोक में अर्जुन के प्रश्न अत्यन्त उपयुक्त हैं। वह उस पुरुष के लक्षण

जानना चाहता है, जिसने भौतिक गुणों को लाँघ लिया है। सर्वप्रथम वह ऐसे दिव्य पुरुष के लक्षणों के विषय में जिज्ञासा करता है कि कोई कैसे समझे कि उसने प्रकृति के गुणों के प्रभाव को लाँघ लिया है? उसका दूसरा प्रश्न है कि ऐसा व्यक्ति किस प्रकार रहता है और उसके कार्यकलाप क्या हैं? क्या वे नियमित होते हैं, या अनियमित? फिर अर्जुन उन साधनों के विषय में पूछता है, जिससे वह दिव्य स्वभाव (प्रकृति) प्राप्त कर सके। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब तक कोई उन प्रत्यक्ष साधनों को नहीं जानता, जिनसे वह सदैव दिव्य पद पर स्थित रहे, तब तक लक्षणों के दिखने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव अर्जुन द्वारा पूछे गये ये सारे प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और भगवान् उनका उत्तर देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥ २२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ २३॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ २४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ २५॥

श्रीभगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **प्रकाशम्**—प्रकाश; **च**—तथा; **प्रवृत्तिम्**—आसक्ति; **च**—तथा; **मोहम्**—मोह; **एव च**—भी; **पाण्डव**—हे पाण्डुपुत्र; **न द्वेष्टि**—घृणा नहीं करता; **सम्प्रवृत्तानि**—यद्यपि विकसित होने पर; **न निवृत्तानि**—न ही विकास के रुकने पर; **काङ्क्षति**—चाहता है; **उदासीन-वत्**—निरपेक्ष की भाँति; **आसीनः**—स्थित; **गुणैः**—गुणों के द्वारा; **यः**—जो; **न**—कभी नहीं; **विचाल्यते**—विचलित होता है; **गुणाः**—गुण; **वर्तन्ते**—कार्यशील होते हैं; **इति एवम्**—इस प्रकार जानते हुए; **यः**—जो; **अवतिष्ठति**—रहा आता है; **न**—कभी नहीं; **इङ्गते**—हिलता डुलता है; **सम**—समान; **दुःखः**—दुख; **सुखः**—तथा सुख में; **स्व-स्थः**—अपने में स्थित; **सम**—समान रूप से; **लोष्ट**—मिट्टी का ढेला; **अश्म**—पत्थर; **काञ्चनः**—सोना; **तुल्य**—समभाव; **प्रिय**—प्रिय; **अप्रियः**—तथा अप्रिय को; **धीरः**—धीर; **तुल्य**—समान; **निन्दा**—बुराई; **आत्म-संस्तुतिः**—तथा अपनी प्रशंसा में; **मान**—सम्मान; **अपमानयोः**—तथा अपमान में; **तुल्यः**—समान; **तुल्यः**—समान; **मित्र**—मित्र; **अरि**—तथा शत्रु के; **पक्षयोः**—पक्षों या दलों को; **सर्व**—सबों का; **आरम्भ**—प्रयत्न, उद्यम; **परित्यागी**—त्याग करने वाला; **गुण-अतीतः**—प्रकृति के गुणों से परे; **सः**—वह; **उच्यते**—कहा जाता है।

भगवान् ने कहा—हे पाण्डुपुत्र! जो प्रकाश, आसक्ति तथा मोह के उपस्थित होने पर न तो उनसे घृणा करता है और न लुप्त हो जाने पर उनकी इच्छा करता है, जो भौतिक गुणों की इन समस्त प्रतिक्रियाओं से निश्चल तथा अविचलित रहता है और यह जानकर कि केवल गुण ही क्रियाशील हैं, उदासीन तथा दिव्य बना रहता है, जो अपने आपमें स्थित है और सुख तथा दुख को एकसमान मानता है, जो मिट्टी

के ढेले, पत्थर एवं स्वर्ण के टुकड़े को समान दृष्टि से देखता है, जो अनुकूल तथा प्रतिकूल के प्रति समान बना रहता है, जो धीर है और प्रशंसा तथा बुराई, मान तथा अपमान में समान भाव से रहता है, जो शत्रु तथा मित्र के साथ समान व्यवहार करता है और जिसने सारे भौतिक कार्यों का परित्याग कर दिया है, ऐसे व्यक्ति को प्रकृति के गुणों से अतीत कहते हैं।

तात्पर्य : अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से तीन प्रश्न पूछे और उन्होंने क्रमश: एक-एक का उत्तर दिया। इन श्लोकों में कृष्ण पहले यह संकेत करते हैं कि जो व्यक्ति दिव्य पद पर स्थित है, वह न तो किसी से ईर्ष्या करता है और न किसी वस्तु के लिए लालायित रहता है। जब कोई जीव इस संसार में भौतिक शरीर से युक्त होकर रहता है, तो यह समझना चाहिए कि वह प्रकृति के तीन गुणों में से किसी एक के वश में है। जब वह इस शरीर से बाहर हो जाता है, तो वह प्रकृति के गुणों से छूट जाता है। लेकिन जब तक वह शरीर से बाहर नहीं आ जाता, तब तक उसे उदासीन रहना चाहिए। उसे *भगवान् की भक्ति में लग जाना चाहिए जिससे भौतिक देह से उसका ममत्व स्वत:* विस्मृत हो जाय। जब मनुष्य भौतिक शरीर के प्रति सचेत रहता है तो वह केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करता है, लेकिन जब वह अपनी चेतना कृष्ण में स्थानान्तरित कर देता है, तो इन्द्रियतृप्ति स्वतः रुक जाती है। मनुष्य को इस भौतिक शरीर की आवश्यकता नहीं रह जाती है और न उसे इस भौतिक शरीर के आदेशों का पालन करने की आवश्यकता रह जाती है। शरीर के भौतिक गुण कार्य करेंगे, लेकिन आत्मा ऐसे कार्यों से पृथक् रहेगा। वह किस तरह पृथक् होता है? वह न तो शरीर का भोग करना चाहता है, न उससे बाहर जाना चाहता है। इस प्रकार दिव्य पद पर स्थित भक्त स्वयमेव मुक्त हो जाता है। उसे प्रकृति के गुणों के प्रभाव से मुक्त होने के लिए किसी प्रयास की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

अगला प्रश्न दिव्य पद पर आसीन व्यक्ति के व्यवहार के सम्बन्ध में है। भौतिक पद पर स्थित व्यक्ति शरीर को मिलने वाले तथाकथित मान तथा अपमान से प्रभावित होता है, लेकिन दिव्य पद पर आसीन व्यक्ति कभी ऐसे मिथ्या मान तथा अपमान से प्रभावित नहीं होता। वह कृष्णभावनामृत में रहकर अपना कर्तव्य निबाहता है और इसकी चिन्ता नहीं करता कि कोई व्यक्ति उसका सम्मान करता है या अपमान। वह उन बातों को स्वीकार कर लेता है, जो कृष्णभावनामृत में उसके कर्तव्य के अनुकूल हैं, अन्यथा उसे किसी भौतिक वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती, चाहे वह पत्थर हो या सोना। वह प्रत्येक व्यक्ति को जो कृष्णभावनामृत के सम्पादन में उसकी सहायता करता है, अपना मित्र मानता है और वह अपने तथाकथित शत्रु से भी घृणा नहीं करता। वह समभाव वाला होता है और सारी वस्तुओं को समान धरातल पर देखता है, क्योंकि वह इसे भलीभाँति जानता है कि उसे इस संसार से कुछ भी लेना-देना नहीं है। उसे सामाजिक तथा राजनीतिक विषय तनिक भी प्रभावित नहीं कर पाते, क्योंकि वह क्षणिक उथल-पुथल तथा उत्पातों की स्थिति से अवगत रहता है। वह अपने लिए कोई कर्म नहीं करता। कृष्ण के लिए वह कुछ भी कर सकता है, लेकिन अपने लिए वह किसी प्रकार

जानना चाहता है, जिसने भौतिक गुणों को लाँघ लिया है। सर्वप्रथम वह ऐसे दिव्य पुरुष के लक्षणों के विषय में जिज्ञासा करता है कि कोई कैसे समझे कि उसने प्रकृति के गुणों के प्रभाव को लाँघ लिया है? उसका दूसरा प्रश्न है कि ऐसा व्यक्ति किस प्रकार रहता है और उसके कार्यकलाप क्या हैं? क्या वे नियमित होते हैं, या अनियमित? फिर अर्जुन उन साधनों के विषय में पूछता है, जिससे वह दिव्य स्वभाव (प्रकृति) प्राप्त कर सके। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब तक कोई उन प्रत्यक्ष साधनों को नहीं जानता, जिनसे वह सदैव दिव्य पद पर स्थित रहे, तब तक लक्षणों के दिखने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव अर्जुन द्वारा पूछे गये ये सारे प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और भगवान् उनका उत्तर देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥ २२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ २३॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ २४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ २५॥

श्रीभगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **प्रकाशम्**—प्रकाश; **च**—तथा; **प्रवृत्तिम्**—आसक्ति; **च**—तथा; **मोहम्**—मोह; **एव च**—भी; **पाण्डव**—हे पाण्डुपुत्र; **न द्वेष्टि**—घृणा नहीं करता; **सम्प्रवृत्तानि**—यद्यपि विकसित होने पर; **न निवृत्तानि**—न ही विकास के रुकने पर; **काङ्क्षति**—चाहता है; **उदासीन-वत्**—निरपेक्ष की भाँति; **आसीनः**—स्थित; **गुणैः**—गुणों के द्वारा; **यः**—जो; **न**—कभी नहीं; **विचाल्यते**—विचलित होता है; **गुणाः**—गुण; **वर्तन्ते**—कार्यशील होते हैं; **इति एवम्**—इस प्रकार जानते हुए; **यः**—जो; **अवतिष्ठति**—रहा आता है; **न**—कभी नहीं; **इङ्गते**—हिलता डुलता है; **सम**—समान; **दुःखः**—दुख; **सुखः**—तथा सुख में; **स्व-स्थः**—अपने में स्थित; **सम**—समान रूप से; **लोष्ट**—मिट्टी का ढेला; **अश्म**—पत्थर; **काञ्चनः**—सोना; **तुल्य**—समभाव; **प्रिय**—प्रिय; **अप्रियः**—तथा अप्रिय को; **धीरः**—धीर; **तुल्य**—समान; **निन्दा**—बुराई; **आत्म-संस्तुतिः**—तथा अपनी प्रशंसा में; **मान**—सम्मान; **अपमानयोः**—तथा अपमान में; **तुल्यः**—समान; **तुल्यः**—समान; **मित्र**—मित्र; **अरि**—तथा शत्रु के; **पक्षयोः**—पक्षों या दलों को; **सर्व**—सबों का; **आरम्भ**—प्रयत्न, उद्यम; **परित्यागी**—त्याग करने वाला; **गुण-अतीतः**—प्रकृति के गुणों से परे; **सः**—वह; **उच्यते**—कहा जाता है।

भगवान् ने कहा—हे पाण्डुपुत्र! जो प्रकाश, आसक्ति तथा मोह के उपस्थित होने पर न तो उनसे घृणा करता है और न लुप्त हो जाने पर उनकी इच्छा करता है, जो भौतिक गुणों की इन समस्त प्रतिक्रियाओं से निश्चल तथा अविचलित रहता है और यह जानकर कि केवल गुण ही क्रियाशील हैं, उदासीन तथा दिव्य बना रहता है, जो अपने आपमें स्थित है और सुख तथा दुख को एकसमान मानता है, जो मिट्टी

के ढेले, पत्थर एवं स्वर्ण के टुकड़े को समान दृष्टि से देखता है, जो अनुकूल तथा प्रतिकूल के प्रति समान बना रहता है, जो धीर है और प्रशंसा तथा बुराई, मान तथा अपमान में समान भाव से रहता है, जो शत्रु तथा मित्र के साथ समान व्यवहार करता है और जिसने सारे भौतिक कार्यों का परित्याग कर दिया है, ऐसे व्यक्ति को प्रकृति के गुणों से अतीत कहते हैं।

तात्पर्य : अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से तीन प्रश्न पूछे और उन्होंने क्रमशः एक-एक का उत्तर दिया। इन श्लोकों में कृष्ण पहले यह संकेत करते हैं कि जो व्यक्ति दिव्य पद पर स्थित है, वह न तो किसी से ईर्ष्या करता है और न किसी वस्तु के लिए लालायित रहता है। जब कोई जीव इस संसार में भौतिक शरीर से युक्त होकर रहता है, तो यह समझना चाहिए कि वह प्रकृति के तीन गुणों में से किसी एक के वश में है। जब वह इस शरीर से बाहर हो जाता है, तो वह प्रकृति के गुणों से छूट जाता है। लेकिन जब तक वह शरीर से बाहर नहीं आ जाता, तब तक उसे उदासीन रहना चाहिए। उसे भगवान् की भक्ति में लग जाना चाहिए जिससे भौतिक देह से उसका ममत्व स्वतः विस्मृत हो जाय। जब मनुष्य भौतिक शरीर के प्रति सचेत रहता है तो वह केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करता है, लेकिन जब वह अपनी चेतना कृष्ण में स्थानान्तरित कर देता है, तो इन्द्रियतृप्ति स्वतः रुक जाती है। मनुष्य को इस भौतिक शरीर की आवश्यकता नहीं रह जाती है और न उसे इस भौतिक शरीर के आदेशों का पालन करने की आवश्यकता रह जाती है। शरीर के भौतिक गुण कार्य करेंगे, लेकिन आत्मा ऐसे कार्यों से पृथक् रहेगा। वह किस तरह पृथक् होता है? वह न तो शरीर का भोग करना चाहता है, न उससे बाहर जाना चाहता है। इस प्रकार दिव्य पद पर स्थित भक्त स्वयमेव मुक्त हो जाता है। उसे प्रकृति के गुणों के प्रभाव से मुक्त होने के लिए किसी प्रयास की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

अगला प्रश्न दिव्य पद पर आसीन व्यक्ति के व्यवहार के सम्बन्ध में है। भौतिक पद पर स्थित व्यक्ति शरीर को मिलने वाले तथाकथित मान तथा अपमान से प्रभावित होता है, लेकिन दिव्य पद पर आसीन व्यक्ति कभी ऐसे मिथ्या मान तथा अपमान से प्रभावित नहीं होता। वह कृष्णभावनामृत में रहकर अपना कर्तव्य निबाहता है और इसकी चिन्ता नहीं करता कि कोई व्यक्ति उसका सम्मान करता है या अपमान। वह उन बातों को स्वीकार कर लेता है, जो कृष्णभावनाभृत में उसके कर्तव्य के अनुकूल हैं, अन्यथा उसे किसी भौतिक वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती, चाहे वह पत्थर हो या सोना। वह प्रत्येक व्यक्ति को जो कृष्णभावनामृत के सम्पादन में उसकी सहायता करता है, अपना मित्र मानता है और वह अपने तथाकथित शत्रु से भी घृणा नहीं करता। वह समभाव वाला होता है और सारी वस्तुओं को समान धरातल पर देखता है, क्योंकि वह इसे भलीभाँति जानता है कि उसे इस संसार से कुछ भी लेना-देना नहीं है। उसे सामाजिक तथा राजनीतिक विषय तनिक भी प्रभावित नहीं कर पाते, क्योंकि वह क्षणिक उथल-पुथल तथा उत्पातों की स्थिति से अवगत रहता है। वह अपने लिए कोई कर्म नहीं करता। कृष्ण के लिए वह कुछ भी कर सकता है, लेकिन अपने लिए वह किसी प्रकार

का प्रयास नहीं करता। ऐसे आचरण से मनुष्य वास्तव में दिव्य पद पर स्थित हो सकता है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ २६॥

माम्–मेरी; **च**–भी; **यः**–जो व्यक्ति; **अव्यभिचारेण**–विना विचलित हुए; **भक्ति-योगेन**–भक्ति से; **सेवते**–सेवा करता है; **सः**–वह; **गुणान्**–प्रकृति के गुणों को; **समतीत्य**–लाँघ कर; **एतान्**–इन सब; **ब्रह्म-भूयाय**–ब्रह्म पद तक ऊपर उठा हुआ; **कल्पते**–हो जाता है।

जो समस्त परिस्थितियों में अविचलित भाव से पूर्ण भक्ति में प्रवृत्त होता है, वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को लाँघ जाता है और इस प्रकार ब्रह्म के स्तर तक पहुँच जाता है।

तात्पर्य : यह श्लोक अर्जुन के तृतीय प्रश्न के उत्तरस्वरूप है। प्रश्न है—दिव्य स्थिति प्राप्त करने का साधन क्या है? जैसा कि पहले वताया जा चुका है, यह भौतिक जगत् प्रकृति के गुणों के चमत्कार के अन्तर्गत कार्य कर रहा है। मनुष्य को गुणों के कर्मों से विचलित नहीं होना चाहिए, उसे चाहिए कि अपनी चेतना ऐसे कार्यों में न लगाकर उसे कृष्ण-कार्यों में लगाए। कृष्णकार्य भक्तियोग के नाम से विख्यात हैं, जिनमें सदैव कृष्ण के लिए कार्य करना होता है। इसमें न केवल कृष्ण ही आते हैं, अपितु उनके विभिन्न पूर्णांश भी सम्मिलित हैं—यथा राम तथा नारायण। उनके असंख्य अंश हैं। जो कृष्ण के किसी भी रूप या उनके पूर्णांश की सेवा में प्रवृत्त होता है, उसे दिव्य पद पर स्थित समझना चाहिए। यह ध्यान देना होगा कि कृष्ण के सारे रूप पूर्णतया दिव्य और सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। ईश्वर के ऐसे रूप सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ होते हैं और उनमें समस्त दिव्यगुण पाये जाते हैं। अतएव यदि कोई कृष्ण या उनके पूर्णांशों की सेवा में दृढ़संकल्प के साथ प्रवृत्त होता है, तो यद्यपि प्रकृति के गुणों को जीत पाना कठिन है, लेकिन वह उन्हें सरलता से जीत सकता है। इसकी व्याख्या सातवें अध्याय में पहले ही की जा चुकी है। कृष्ण की शरण ग्रहण करने पर तुरन्त ही प्रकृति के गुणों के प्रभाव को लाँघा जा सकता है। कृष्णभावनामृत या कृष्ण-भक्ति में होने का अर्थ है, कृष्ण के साथ समानता प्राप्त करना। भगवान् कहते हैं कि उनकी प्रकृति सच्चिदानन्द स्वरूप है और सारे जीव परम के अंश हैं, जिस प्रकार सोने के कण सोने की खान के अंश हैं। इस प्रकार जीव अपनी आध्यात्मिक स्थिति में सोने के समान या कृष्ण के समान ही गुण वाला होता है। किन्तु व्यष्टित्व का अन्तर वना रहता है अन्यथा भक्तियोग का प्रश्न ही नहीं उठता। भक्तियोग का अर्थ है कि भगवान् हैं, भक्त है तथा भगवान् और भक्त के वीच प्रेम का आदान-प्रदान चलता रहता है। अतएव भगवान् में और भक्त में दो व्यक्तियों का व्यष्टित्व वर्तमान रहता है, अन्यथा भक्तियोग का कोई अर्थ नहीं है। यदि कोई भगवान् जैसे दिव्य स्तर पर स्थित नहीं है, तो वह भगवान् की सेवा नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ, राजा का निजी सहायक वनने के लिए कुछ योग्यताएँ आवश्यक हैं। इस तरह भगवत्सेवा के लिए योग्यता है कि ब्रह्म वना जाय या भौतिक कल्मष से मुक्त हुआ जाय। वैदिक साहित्य

में कहा गया है *ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति*। इसका अर्थ है कि गुणात्मक रूप से मनुष्य को ब्रह्म से एकाकार हो जाना चाहिए। लेकिन ब्रह्मत्व प्राप्त करने पर मनुष्य व्यष्टि आत्मा के रूप में अपने शाश्वत ब्रह्म-स्वरूप को खोता नहीं।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥२७॥

ब्रह्मणः–निराकार ब्रह्मज्योति का; हि–निश्चय ही; प्रतिष्ठा–आश्रय; अहम्–मैं हूँ; अमृतस्य–अमर्त्य का, अव्ययस्य–अविनाशी का, च–भी, शाश्वतस्य–शाश्वत का; च–तथा, धर्मस्य–स्वाभाविक स्थिति (स्वरूप) का; सुखस्य–सुख का, ऐकान्तिकस्य–चरम, अन्तिम; च–भी।

और मैं ही उस निराकार ब्रह्म का आश्रय हूँ, जो अमर्त्य, अविनाशी तथा शाश्वत है और चरम सुख का स्वाभाविक पद है।

तात्पर्य : ब्रह्म का स्वरूप है अमरता, अविनाशिता, शाश्वतता तथा सुख। ब्रह्म तो दिव्य साक्षात्कार का शुभारम्भ है। परमात्मा इस दिव्य साक्षात्कार की मध्य या द्वितीय अवस्था है और भगवान् परम सत्य के चरम साक्षात्कार हैं। अतएव परमात्मा तथा निराकार ब्रह्म दोनों ही परम पुरुष के भीतर रहते हैं। सातवें अध्याय में बताया जा चुका है कि प्रकृति परमेश्वर की अपरा शक्ति की अभिव्यक्ति है। भगवान् इस अपरा प्रकृति में परा प्रकृति को गर्भस्थ करते हैं और भौतिक प्रकृति के लिए यह आध्यात्मिक स्पर्श है। जब इस प्रकृति द्वारा बद्धजीव आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन करना प्रारम्भ करता है, तो वह इस भौतिक जगत् के पद से ऊपर उठने लगता है और क्रमशः परमेश्वर के ब्रह्म-बोध तक उठ जाता है। ब्रह्म-बोध की प्राप्ति आत्म-साक्षात्कार की दिशा में प्रथम अवस्था है। इस अवस्था में ब्रह्मभूत व्यक्ति भौतिक पद को पार कर जाता है, लेकिन वह ब्रह्म-साक्षात्कार में पूर्णता प्राप्त नहीं कर पाता। यदि वह चाहे तो इस ब्रह्मपद पर बना रह सकता है और धीरे-धीरे परमात्मा के साक्षात्कार को और फिर भगवान् के साक्षात्कार को प्राप्त हो सकता है। वैदिक साहित्य में इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। चारों कुमार पहले निराकार ब्रह्म में स्थित थे, लेकिन क्रमशः वे भक्तिपद तक उठ गए। जो व्यक्ति निराकार ब्रह्मपद से ऊपर नहीं उठ पाता, उसके नीचे गिरने का डर बना रहता है। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि भले ही कोई निराकार ब्रह्म की अवस्था को प्राप्त कर ले, किन्तु इससे ऊपर उठे बिना तथा परम पुरुष के विषय में सूचना प्राप्त किये बिना उसकी बुद्धि विमल नहीं हो पाती। अतएव ब्रह्मपद तक उठ जाने के बाद भी यदि भगवान् की भक्ति नहीं की जाती, तो नीचे गिरने का भय बना रहता है। वैदिक भाषा में यह भी कहा गया है–*रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति*–रस के आगार भगवान् श्रीकृष्ण को जान लेने पर मनुष्य वास्तव में दिव्य आनन्दमय हो जाता है (*तैत्तिरीय-उपनिषद्* २.७.१)। परमेश्वर छहों ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं और जब भक्त निकट पहुँचता है तो इन छह ऐश्वर्यों का आदान-प्रदान होता है। राजा का सेवक लगभग राजा के ही समान पद का भोग करता है। इस प्रकार के शाश्वत सुख, अविनाशी सुख तथा शाश्वत जीवन भक्ति के साथ-साथ चलते हैं। अतएव भक्ति में ब्रह्म-साक्षात्कार या शाश्वतता या अमरता

सम्मिलित रहते हैं। भक्ति में प्रवृत्त व्यक्ति में ये पहले से ही प्राप्त रहते हैं।

जीव यद्यपि स्वभाव से ब्रह्म होता है, लेकिन उसमें भौतिक जगत् पर प्रभुत्व जताने की इच्छा रहती है, जिसके कारण वह नीचे गिरता है। अपनी स्वाभाविक स्थिति में जीव तीनों गुणों से परे होता है। लेकिन प्रकृति के संसर्ग से वह अपने को तीनों गुणों—सतो, रजो तथा तमोगुण—में बाँध लेता है। इन्हीं तीनों गुणों के संसर्ग के कारण उसमें भौतिक जगत् पर प्रभुत्व जताने की इच्छा होती है। पूर्ण कृष्णभावनामृत में भक्ति में प्रवृत्त होने पर वह तुरन्त दिव्य पद को प्राप्त होता है और उसमें प्रकृति को वश में करने की जो अवैध इच्छा है, वह दूर हो जाती है। अतएव भक्तों की संगति कर के भक्ति की नौ विधियों—श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि का अभ्यास करना चाहिए। धीरे-धीरे ऐसी संगति से तथा गुरु के प्रभाव से मनुष्य की प्रभुता जताने वाली इच्छा समाप्त हो जाएगी और वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में दृढ़तापूर्वक स्थित हो सकेगा। इस विधि की संस्तुति इस अध्याय के बाइसवें श्लोक से लेकर इस अन्तिम श्लोक तक की गई है। भगवान् की भक्ति अतीव सरल है, मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की सेवा में लगे, श्रीविग्रह को अर्पित भोजन का उच्छिष्ट खाए, भगवान् के चरणकमलों पर चढ़ाये गये पुष्पों की सुगंध सूँघे, भगवान् के लीलास्थलों का दर्शन करे, भगवान् के विभिन्न कार्यकलापों और उनके भक्तों के साथ प्रेम-विनिमय के बारे में पढ़े, सदा *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥* इस महामन्त्र की दिव्य ध्वनि का कीर्तन करे और भगवान् तथा उनके भक्तों के आविर्भाव तथा तिरोधानों को मनाने वाले दिनों में उपवास करे। ऐसा करने से मनुष्य समस्त भौतिक गतिविधियों से विरक्त हो जायेगा। इस प्रकार जो व्यक्ति अपने को ब्रह्मज्योति या ब्रह्म-बोध के विभिन्न प्रकारों में स्थित कर सकता है, वह गुणात्मक रूप में भगवान् के तुल्य है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के चौदहवें अध्याय "प्रकृति के तीन गुण" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*

अध्याय पन्द्रह



पुरुषोत्तम योग

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥१॥

श्रीभगवान् उवाच–भगवान् ने कहा; ऊर्ध्व-मूलम्–ऊपर की ओर जड़ें; अधः–नीचे की ओर; शाखम्–शाखाएँ; अश्वत्थम्–अश्वत्थ वृक्ष को; प्राहुः–कहा गया है; अव्ययम्–शाश्वत; छन्दांसि–वैदिक स्तोत्र; यस्य–जिसके; पर्णानि–पत्ते; यः–जो कोई; तम्–उसको; वेद–जानता है; सः–वह; वेदवित्–वेदों का ज्ञाता।

भगवान् ने कहा–कहा जाता है कि एक शाश्वत अश्वत्थ वृक्ष है, जिसकी जड़ें तो ऊपर की ओर हैं और शाखाएँ नीचे की ओर तथा पत्तियाँ वैदिक स्तोत्र हैं। जो इस वृक्ष को जानता है, वह वेदों का ज्ञाता है।

तात्पर्य : भक्तियोग की महत्ता की विवेचना के बाद यह पूछा जा सकता है, "वेदों का

क्या प्रयोजन है?" इस अध्याय में बताया गया है कि वैदिक अध्ययन का प्रयोजन कृष्ण को समझना है। अतएव जो कृष्णभावनाभावित है, जो भक्ति में रत है, वह वेदों को पहले से जानता है।

इस भौतिक जगत् के बन्धन की तुलना अश्वत्थ के वृक्ष से की गई है। जो व्यक्ति सकाम कर्मों में लगा है, उसके लिए इस वृक्ष का कोई अन्त नहीं है। वह एक शाखा से दूसरी में और दूसरी से तीसरी में घूमता रहता है। इस जगत् रूपी वृक्ष का कोई अन्त नहीं है और जो इस वृक्ष में आसक्त है, उसकी मुक्ति की कोई सम्भावना नहीं है। वैदिक स्तोत्र, जो आत्मोन्नति के लिए हैं, वे ही इस वृक्ष के पत्ते हैं। इस वृक्ष की जड़ें ऊपर की ओर बढ़ती हैं, क्योंकि वे इस ब्रह्माण्ड के सर्वोच्चलोक से प्रारम्भ होती हैं, जहाँ पर ब्रह्मा स्थित हैं। यदि कोई इस मोह रूपी अविनाशी वृक्ष को समझ लेता है, तो वह इससे बाहर निकल सकता है।

बाहर निकलने की इस विधि को जानना आवश्यक है। पिछले अध्यायों में बताया जा चुका है कि भवबन्धन से निकलने की कई विधियाँ हैं। हम तेरहवें अध्याय तक यह देख चुके हैं कि भगवद्भक्ति ही सर्वोत्कृष्ट विधि है। भक्ति का मूल सिद्धान्त है—भौतिक कार्यों से विरक्ति तथा भगवान् की दिव्य सेवा में अनुरक्ति। इस अध्याय के प्रारम्भ में संसार से आसक्ति तोड़ने की विधि का वर्णन हुआ है। इस संसार की जड़ें ऊपर को बढ़ती हैं। इसका अर्थ है कि ब्रह्माण्ड के सर्वोच्चलोक से पूर्ण भौतिक पदार्थ से यह प्रक्रिया शुरू होती है। वहीं से सारे ब्रह्माण्ड का विस्तार होता है, जिसमें अनेक लोक उसकी शाखाओं के रूप में होते हैं। इसके फल जीवों के कर्मों के फल के, अर्थात् धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के, द्योतक हैं।

यद्यपि इस संसार में ऐसे वृक्ष का, जिसकी शाखाएँ नीचे की ओर हों तथा जड़ें ऊपर की ओर हों, कोई अनुभव नहीं है, किन्तु बात कुछ ऐसी ही है। ऐसा वृक्ष जलाशय के निकट पाया जा सकता है। हम देख सकते हैं—जलाशय के तट पर उगे वृक्ष का प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है, तो उसकी जड़ें ऊपर तथा शाखाएँ नीचे की ओर दिखती हैं। दूसरे शब्दों में, यह जगत् रूपी वृक्ष आध्यात्मिक जगत् रूपी वास्तविक वृक्ष का प्रतिबिम्ब मात्र है। इस आध्यात्मिक जगत् का प्रतिबिम्ब हमारी इच्छाओं में स्थित है, जिस प्रकार वृक्ष का प्रतिबिम्ब जल में रहता है। इच्छा ही इस प्रतिबिम्बित भौतिक प्रकाश में वस्तुओं के स्थित होने का कारण है। जो व्यक्ति इस भौतिक जगत् से बाहर निकलना चाहता है, उसे वैश्लेषिक अध्ययन के माध्यम से इस वृक्ष को भलीभाँति जान लेना चाहिए। फिर वह इस वृक्ष से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर सकता है।

यह वृक्ष वास्तविक वृक्ष का प्रतिबिम्ब होने के कारण वास्तविक प्रतिरूप है। आध्यात्मिक जगत् में सब कुछ है। ब्रह्म को निर्विशेषवादी इस भौतिक वृक्ष का मूल मानते हैं और सांख्य दर्शन के अनुसार इसी मूल से पहले प्रकृति, पुरुष और तब तीन गुण निकलते हैं और फिर पाँच स्थूल तत्त्व (पंच महाभूत), फिर दस इन्द्रियाँ (दशेन्द्रिय), मन आदि। इस प्रकार वे सारे संसार को चौबीस तत्त्वों में विभाजित करते हैं। यदि ब्रह्म समस्त अभिव्यक्तियों का केन्द्र है, तो एक प्रकार से यह भौतिक जगत् १८० अंश (गोलार्द्ध) में है और दूसरे १८० अंश (गोलार्द्ध) में आध्यात्मिक जगत् है। चूँकि यह

भौतिक जगत् उल्टा प्रतिबिम्ब है, अतः आध्यात्मिक जगत् में भी इसी प्रकार की विविधता होनी चाहिये। प्रकृति परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति है और पुरुष साक्षात् परमेश्वर है। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* में हो चुकी है। चूँकि यह अभिव्यक्ति भौतिक है, अतः क्षणिक है। प्रतिबिम्ब भी क्षणिक होता है, क्योंकि कभी वह दिखता है और कभी नहीं दिखता। परन्तु वह स्रोत जहाँ से यह प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित होता है, शाश्वत है। वास्तविक वृक्ष के भौतिक प्रतिबिम्ब का विच्छेदन करना होता है। जब कोई कहता है कि अमुक व्यक्ति वेद जानता है, तो इससे समझा जाता है कि वह इस जगत् की आसक्ति से विच्छेद करना जानता है। यदि वह इस विधि को जानता है, तो समझिये कि वह वास्तव में वेदों को जानता है। जो व्यक्ति वेदों के कर्मकाण्ड द्वारा आकृष्ट होता है, वह इस वृक्ष की सुन्दर हरी पत्तियों से आकृष्ट होता है। वह वेदों के वास्तविक उद्देश्य को नहीं जानता। वेदों का उद्देश्य, भगवान् ने स्वयं प्रकट किया है और वह है इस प्रतिबिम्बित वृक्ष को काट कर आध्यात्मिक जगत् के वास्तविक वृक्ष को प्राप्त करना।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ २॥

अधः–नीचे, च–तथा, ऊर्ध्वम्–ऊपर की ओर, प्रसृताः–फैली हुई, तस्य–उसकी, शाखाः–शाखाएँ, गुण–प्रकृति के गुणों द्वारा, प्रवृद्धाः–विकसित, विषय–इन्द्रियविषय, प्रवालाः–टहनियाँ, अधः–नीचे की ओर; च–तथा, मूलानि–जड़ों को, अनुसन्ततानि–विस्तृत, कर्म–कर्म करने के लिए, अनुबन्धीनि–बँधा; मनुष्य-लोके–मानव समाज के जगत् में।

इस वृक्ष की शाखाएँ ऊपर तथा नीचे फैली हुई हैं और प्रकृति के तीन गुणों द्वारा पोषित हैं। इसकी टहनियाँ इन्द्रियविषय हैं। इस वृक्ष की जड़ें नीचे की ओर भी जाती हैं, जो मानवसमाज के सकाम कर्मों से बँधी हुई हैं।

तात्पर्य : अश्वत्थ वृक्ष की यहाँ और भी व्याख्या की गई है। इसकी शाखाएँ चतुर्दिक फैली हुई हैं। निचले भाग में जीवों की विभिन्न योनियाँ हैं, यथा मनुष्य, पशु, घोड़े, गाय, कुत्ते, बिल्लियाँ आदि। ये सभी वृक्ष की शाखाओं के निचले भाग में स्थित हैं। लेकिन ऊपरी भाग में जीवों की उच्चयोनियाँ हैं—यथा देव, गन्धर्व तथा अन्य बहुत सी उच्चतर योनियाँ। जिस प्रकार सामान्य वृक्ष का पोषण जल से होता है, उसी प्रकार यह वृक्ष प्रकृति के तीन गुणों द्वारा पोषित है। कभी-कभी हम देखते हैं कि जलाभाव से कोई-कोई भूखण्ड वीरान हो जाता है, तो कोई खण्ड लहलहाता है, इसी प्रकार जहाँ प्रकृति के किन्हीं विशेष गुणों का आनुपातिक आधिक्य होता है, वहाँ उसी के अनुरूप जीवों की योनियाँ प्रकट होती हैं।

वृक्ष की टहनियाँ इन्द्रियविषय हैं। विभिन्न गुणों के विकास से हम विभिन्न प्रकार की इन्द्रियों का विकास करते हैं और इन इन्द्रियों के द्वारा हम विभिन्न इन्द्रियविषयों का भोग करते हैं। शाखाओं के सिरे इन्द्रियाँ हैं—यथा कान, नाक, आँख आदि, जो वि-

इन्द्रियविषयों के भोग में आसक्त हैं। टहनियाँ शब्द, रूप, स्पर्श आदि इन्द्रिय विषय हैं। सहायक जड़ें राग तथा द्वेष हैं, जो विभिन्न प्रकार के कष्ट तथा इन्द्रियभोग के विभिन्न रूप हैं। धर्म-अधर्म की प्रवृत्तियाँ इन्हीं गौण जड़ों से उत्पन्न हुई मानी जाती हैं, जो चारों दिशाओं में फैली हैं। वास्तविक जड़ तो ब्रह्मलोक में है, किन्तु अन्य जड़ें मर्त्यलोक में हैं। जब मनुष्य उच्चलोकों में पुण्यकर्मों का फल भोग चुकता है, तो वह इस धरा पर उतरता है और उन्नति के लिए सकाम कर्मों का नवीनीकरण करता है। यह मनुष्यलोक कर्मक्षेत्र माना जाता है।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ ३॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ ४॥

न—नहीं; **रूपम्**—रूप; **अस्य**—इस वृक्ष का; **इह**—इस संसार में; **तथा**—भी; **उपलभ्यते**—अनुभव किया जा सकता है; **न**—कभी नहीं; **अन्तः**—अन्त; **न**—कभी नहीं; **च**—भी; **आदिः**—प्रारम्भ; **न**—कभी नहीं; **च**—भी; **सम्प्रतिष्ठा**—नींव; **अश्वत्थम्**—अश्वत्थ वृक्ष को; **एनम्**—इस; **सु-विरूढ**—अत्यन्त दृढ़ता से; **मूलम्**—जड़वाला; **असङ्ग-शस्त्रेण**—विरक्ति के हथियार से; **दृढेन**—दृढ़; **छित्त्वा**—काट कर; **ततः**—तत्पश्चात्; **पदम्**—स्थिति को; **तत्**—उस; **परिमार्गितव्यम्**—खोजना चाहिए; **यस्मिन्**—जहाँ; **गताः**—जाकर; **न**—कभी नहीं; **निवर्तन्ति**—वापस आते हैं; **भूयः**—पुनः; **तम्**—उसको; **एव**—ही; **च**—भी; **आद्यम्**—आदि; **पुरुषम्**—भगवान् की; **प्रपद्ये**—शरण में जाता हूँ; **यतः**—जिससे; **प्रवृत्तिः**—प्रारम्भ; **प्रसृता**—विस्तीर्ण; **पुराणी**—अत्यन्त पुरानी।

इस वृक्ष के वास्तविक स्वरूप का अनुभव इस जगत् में नहीं किया जा सकता। कोई भी नहीं समझ सकता कि इसका आदि कहाँ है, अन्त कहाँ है या इसका आधार कहाँ है? लेकिन मनुष्य को चाहिए कि इस दृढ़ मूल वाले वृक्ष को विरक्ति के शस्त्र से काट गिराए। तत्पश्चात् उसे ऐसे स्थान की खोज करनी चाहिए जहाँ जाकर लौटना न पड़े और जहाँ उस भगवान् की शरण ग्रहण कर ली जाये, जिससे अनादि काल से प्रत्येक वस्तु का सूत्रपात तथा विस्तार होता आया है।

तात्पर्य : अब यह स्पष्ट कह दिया गया है कि इस अश्वत्थ वृक्ष के वास्तविक स्वरूप को इस भौतिक जगत् में नहीं समझा जा सकता। चूँकि इसकी जड़ें ऊपर की ओर हैं, अतः वास्तविक वृक्ष का विस्तार विरुद्ध दिशा में होता है। जब वृक्ष के भौतिक विस्तार में कोई फँस जाता है, तो उसे न तो यह पता चल पाता है कि यह कितनी दूरी तक फैला है और न वह इस वृक्ष के शुभारम्भ को ही देख पाता है। फिर भी मनुष्य को कारण

की खोज करनी ही होती है। "मैं अमुक पिता का पुत्र हूँ, जो अमुक का पुत्र है, आदि"— इस प्रकार अनुसन्धान करने से मनुष्य को ब्रह्मा प्राप्त होते हैं, जिन्हें गर्भोदकशायी विष्णु ने उत्पन्न किया। इस प्रकार अन्ततः भगवान् तक पहुँचा जा सकता है, जहाँ सारी गवेषणा का अन्त हो जाता है। मनुष्य को इस वृक्ष के उद्गम, परमेश्वर, की खोज ऐसे व्यक्तियों की संगति द्वारा करनी होती है, जिन्हें उस परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त है। इस प्रकार ज्ञान से मनुष्य धीरे-धीरे वास्तविकता के इस छद्म प्रतिबिम्ब से विलग हो जाता है और सम्बन्ध-विच्छेद होने पर वह वास्तव में मूलवृक्ष में स्थित हो जाता है।

इस प्रसंग में *असङ्ग* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि विषयभोग की आसक्ति तथा भौतिक प्रकृति पर प्रभुता अत्यन्त प्रबल होती है। अतएव प्रामाणिक शास्त्रों पर आधारित आत्म-ज्ञान की विवेचना द्वारा विरक्ति सीखनी चाहिए और ज्ञानी पुरुषों से श्रवण करना चाहिए। भक्तों की संगति में रहकर ऐसी विवेचना से भगवान् की प्राप्ति होती है। तब सर्वप्रथम जो करणीय है, वह है भगवान् की शरण ग्रहण करना। यहाँ पर उस स्थान (पद) का वर्णन किया गया है, जहाँ जाकर मनुष्य इस छद्म प्रतिबिम्बित वृक्ष में कभी वापस नहीं लौटता। भगवान् कृष्ण वह आदि मूल हैं, जहाँ से प्रत्येक वस्तु निकली है। उस भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए केवल उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिए, जो श्रवण, कीर्तन आदि द्वारा भक्ति करने के फलस्वरूप प्राप्त होती है। वे ही भौतिक जगत् के विस्तार के कारण हैं। इसकी व्याख्या पहले ही स्वयं भगवान् ने की है। *अहं सर्वस्य प्रभवः*—मैं प्रत्येक वस्तु का उद्गम हूँ। अतएव इस भौतिक जीवन रूपी प्रबल अश्वत्थ के वृक्ष के बन्धन से छूटने के लिए कृष्ण की शरण ग्रहण की जानी चाहिए। कृष्ण की शरण ग्रहण करते ही मनुष्य स्वतः इस भौतिक विस्तार से विलग हो जाता है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥५॥

निः—रहित; मान—झूठी प्रतिष्ठा; मोहाः—तथा मोह; जित—जीता गया; सङ्ग—संगति की; दोषाः—त्रुटियाँ; अध्यात्म—आध्यात्मिक ज्ञान में; नित्याः—शाश्वतता में; विनिवृत्त—विलग; कामाः—काम से; द्वन्द्वैः—द्वैत से; विमुक्ताः—मुक्त; सुख-दुःख—सुख तथा दुख; संज्ञैः—नामक; गच्छन्ति—प्राप्त करते हैं; अमूढाः—मोहरहित; पदम्—पद, स्थान को; अव्ययम्—शाश्वत; तत्—उस।

जो झूठी प्रतिष्ठा, मोह तथा कुसंगति से मुक्त हैं, जो शाश्वत तत्त्व को समझते हैं, जिन्होंने भौतिक काम को नष्ट कर दिया है, जो सुख तथा दुख के द्वन्द्व से मुक्त हैं और जो मोहरहित होकर परम पुरुष के शरणागत होना जानते हैं, वे उस शाश्वत राज्य को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर शरणागति का अत्यन्त सुन्दर वर्णन हुआ है। इसके लिए जिस प्रथम योग्यता की आवश्यकता है, वह है मिथ्या अहंकार से मोहित न होना। चूँकि

अपने को प्रकृति का स्वामी मानकर गर्वित रहता है, अतएव उसके लिए भगवान् की शरण में जाना कठिन होता है। उसे वास्तविक ज्ञान के अनुशीलन द्वारा यह जानना चाहिए कि वह प्रकृति का स्वामी नहीं है, उसका स्वामी तो परमेश्वर है। जब मनुष्य अहंकार से उत्पन्न मोह से मुक्त हो जाता है, तभी शरणागति की प्रक्रिया प्रारम्भ हो सकती है। जो व्यक्ति इस संसार में सदैव सम्मान की आशा रखता है, उसके लिए भगवान् के शरणागत होना कठिन है। अहंकार तो मोह के कारण होता है, क्योंकि यद्यपि मनुष्य यहाँ आता है, कुछ काल तक रहता है और फिर चला जाता है, तो भी मूर्खतावश यह समझ बैठता है कि वही इस संसार का स्वामी है। इस तरह वह सारी परिस्थिति को जटिल बना देता है और सदैव कष्ट उठाता रहता है। सारा संसार इसी भ्रान्तधारणा के अन्तर्गत आगे बढ़ता है। लोग सोचते हैं कि यह भूमि या पृथ्वी मानव समाज की है और उन्होंने भूमि का विभाजन इस मिथ्या धारणा से कर रखा है कि वे इसके स्वामी हैं। मनुष्य को इस भ्रम से मुक्त होना चाहिए कि मानव समाज ही इस जगत् का स्वामी है। जब मनुष्य इस प्रकार की भ्रान्तधारणा से मुक्त हो जाता है, तो वह पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय स्नेह से उत्पन्न कुसंगतियों से मुक्त हो जाता है। ये त्रुटि-पूर्ण संगतियाँ ही उसे इस संसार से बाँधने वाली हैं। इस अवस्था के बाद उसे आध्यात्मिक ज्ञान विकसित करना होता है। उसे ऐसे ज्ञान का अनुशीलन करना होता है कि वास्तव में उसका क्या है और क्या नहीं है। और जब उसे वस्तुओं का सही-सही ज्ञान हो जाता है तो वह सुख-दुख, हर्ष-विषाद जैसे द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है। वह ज्ञान से परिपूर्ण हो जाता है और तब भगवान् का शरणागत बनना सम्भव हो पाता है।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ ६॥

न—नहीं; **तत्**—वह; **भासयते**—प्रकाशित करता है; **सूर्यः**—सूर्य; **न**—न तो; **शशाङ्कः**—चन्द्रमा; **न**—न तो; **पावकः**—अग्नि, बिजली; **यत्**—जहाँ; **गत्वा**—जाकर; **न**—कभी नहीं; **निवर्तन्ते**—वापस आते हैं; **तत्-धाम**—वह धाम; **परमम्**—परम; **मम**—मेरा।

वह मेरा परम धाम न तो सूर्य या चन्द्र के द्वारा प्रकाशित होता है और न अग्नि या बिजली से। जो लोग वहाँ पहुँच जाते हैं, वे इस भौतिक जगत् में फिर से लौट कर नहीं आते।

तात्पर्य : यहाँ पर आध्यात्मिक जगत् अर्थात् भगवान् कृष्ण के धाम का वर्णन हुआ है, जिसे कृष्णलोक या गोलोक वृन्दावन कहा जाता है। चिन्मय आकाश में न तो सूर्यप्रकाश की आवश्यकता है, न चन्द्रप्रकाश अथवा अग्नि या बिजली की, क्योंकि सारे लोक स्वयं प्रकाशित हैं। इस ब्रह्माण्ड में केवल एक लोक, सूर्य, ऐसा है जो स्वयं प्रकाशित है। लेकिन आध्यात्मिक आकाश में सभी लोक स्वयं प्रकाशित हैं। उन समस्त लोकों के (जिन्हें वैकुण्ठ कहा जाता है) चमचमाते तेज से चमकीला आकाश बनता है, जिसे ब्रह्मज्योति कहते हैं। वस्तुतः यह तेज कृष्णलोक, गोलोक वृन्दावन से निकलता है। इस तेज का एक अंश महत्-तत्त्व अर्थात् भौतिक जगत् से आच्छादित रहता है। इसके

सूक्ष्म अंश है। ऐसा नहीं है कि वद्ध जीवन में वह एक व्यष्टित्व धारण करता है और मुक्त अवस्था में वह परमेश्वर से एकाकार हो जाता है। वह सनातन का अंश रूप है। यहाँ पर स्पष्टतः *सनातन* कहा गया है। वेदवचन के अनुसार परमेश्वर अपने आप को असंख्य रूपों में प्रकट करके विस्तार करते हैं, जिनमें से व्यक्तिगत विस्तार *विष्णुतत्त्व* कहलाते हैं और गौण विस्तार जीव कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में, विष्णु तत्त्व निजी विस्तार (स्वांश) हैं और जीव विभिन्नांश (पृथकीकृत अंश) हैं। अपने स्वांश द्वारा वे भगवान् राम, नृसिंह देव, विष्णुमूर्ति तथा वैकुण्ठलोक के प्रधान देवों के रूप में प्रकट होते हैं। विभिन्नांश अर्थात् जीव, सनातन सेवक होते हैं। भगवान् के स्वांश सदैव विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार जीवों के विभिन्नांशों के अपने स्वरूप होते हैं। परमेश्वर के विभिन्नांश होने के कारण जीवों में भी उनके आंशिक गुण पाये जाते हैं, जिनमें से स्वतन्त्रता एक है। प्रत्येक जीव का आत्मा रूप में, अपना व्यष्टित्व और सूक्ष्म स्वातंत्र्य होता है। इसी स्वातंत्र्य के दुरुपयोग से जीव वद्ध वनता है और उसके सही उपयोग से वह मुक्त वनता है। दोनों ही अवस्थाओं में वह भगवान् के समान ही सनातन होता है। मुक्त अवस्था में वह इस भौतिक अवस्था से मुक्त रहता है और भगवान् की दिव्य सेवा में निरत रहता है। वद्ध जीवन में प्रकृति के गुणों द्वारा अभिभूत होकर वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति को भूल जाता है। फलस्वरूप उसे अपनी स्थिति वनाये रखने के लिए इस संसार में अत्यधिक संघर्ष करना पड़ता है।

न केवल मनुष्य तथा कुत्ते-विल्ली जैसे जीव, अपितु इस भौतिक जगत् के वड़े-वड़े नियन्ता—यथा व्रह्मा-शिव तथा विष्णु तक, परमेश्वर के अंश हैं। ये सभी सनातन अभिव्यक्तियाँ हैं, क्षणिक नहीं। *कर्षति* (संघर्ष करना) शब्द अत्यन्त सार्थक है। वद्धजीव मानो लौह शृंखलाओं से वँधा हो। वह मिथ्या अहंकार से वँधा रहता है और मन मुख्य कारण है जो उसे इस भवसागर की ओर धकेलता है। जव मन सतोगुण में रहता है, तो उसके कार्यकलाप अच्छे होते हैं। जव रजोगुण में रहता है, तो उसके कार्यकलाप कष्टकारक होते हैं और जव वह तमोगुण में होता है, तो वह जीवन की निम्नयोनियों में चला जाता है। लेकिन इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि वद्धजीव मन तथा इन्द्रियों समेत भौतिक शरीर से आवरित है और जव वह मुक्त हो जाता है तो यह भौतिक आवरण नष्ट हो जाता है। लेकिन उसका आध्यात्मिक शरीर अपने व्यष्टि रूप में प्रकट होता है। *माध्यान्दिनायन श्रुति* में यह सूचना प्राप्त है—*स वा एष ब्रह्मनिष्ठ इदं शरीरं मर्त्यमतिसृज्य ब्रह्माभिसम्पद्य ब्रह्मणा पश्यति ब्रह्मणा शृणोति ब्रह्मणैवेदं सर्वमनुभवति*। यहाँ यह वताया गया है कि जव जीव अपने इस भौतिक शरीर को त्यागता है और आध्यात्मिक जगत् में प्रवेश करता है, तो उसे पुनः आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होता है, जिससे वह भगवान् का साक्षात्कार कर सकता है। यह उनसे आमने-सामने वोल सकता है और सुन सकता है तथा जिस रूप में भगवान् हैं, उन्हें समझ सकता है। स्मृति से भी यह ज्ञात होता है—*वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठ-मूर्तयः*—वैकुण्ठ में सारे जीव भगवान् जैसे शरीरों में रहते हैं। जहाँ तक शारीरिक वनावट का प्रश्न है, अंश रूप जीवों तथा विष्णुमूर्ति के विस्तारों (अंशों) में कोई अन्तर नहीं होता। दूसरे शब्दों में, भगवान् की कृपा से मुक्त होने पर जीव को आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होता है।

ममैवांशः शब्द भी अत्यन्त सार्थक है, जिसका अर्थ है भगवान् के अंश। भगवान् का अंश ऐसा नहीं होता, जैसे किसी पदार्थ का टूटा खंड (अंश)। हम द्वितीय अध्याय में देख चुके हैं कि आत्मा के खंड नहीं किये जा सकते। इस खंड की भौतिक दृष्टि से अनुभूति नहीं हो पाती। यह पदार्थ की भाँति नहीं है, जिसे चाहो तो जितने भी खण्ड कर दो और उन्हें पुनः जोड़ दो। ऐसी विचारधारा यहाँ पर लागू नहीं होती, क्योंकि संस्कृत के *सनातन* शब्द का प्रयोग हुआ है। विभिन्नांश सनातन है। द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में यह भी कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में भगवान् का अंश विद्यमान है (*देहिनोऽस्मिन्यथा देहे*)। यह अंश जब शारीरिक बन्धन से मुक्त हो जाता है, तो आध्यात्मिक आकाश में वैकुण्ठलोक में अपना आदि आध्यात्मिक शरीर प्राप्त कर लेता है, जिससे वह भगवान् की संगति का लाभ उठाता है। किन्तु ऐसा समझा जाता है कि जीव भगवान् का अंश होने के कारण गुणात्मक दृष्टि से भगवान् के ही समान है, जिस प्रकार स्वर्ण के अंश भी स्वर्ण होते हैं।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ ८॥

शरीरम्–शरीर को, यत्–जिस, अवाप्नोति–प्राप्त करता है, यत्–जिस, च–तथा, अपि–भी, उत्क्रामति–त्यागता है; ईश्वरः–शरीर का स्वामी, गृहीत्वा–ग्रहण करके; एतानि–इन सबको; संयाति–चला जाता है, वायुः–वायु, गन्धान्–महक को; इव–सदृश, आशयात्–स्रोत से।

इस संसार में जीव अपनी देहात्मबुद्धि को एक शरीर से दूसरे में उसी तरह ले जाता है, जिस तरह वायु सुगन्धि को ले जाता है। इस प्रकार वह एक शरीर धारण करता है और फिर इसे त्याग कर दूसरा शरीर धारण करता है।

तात्पर्य : यहाँ पर जीव को ईश्वर अर्थात् अपने शरीर का नियामक कहा गया है। यदि वह चाहे तो अपने शरीर को त्याग कर उच्चतर योनि में जा सकता है और चाहे तो निम्नयोनि में जा सकता है। इस विषय में उसे थोड़ी स्वतन्त्रता प्राप्त है। शरीर में जो परिवर्तन होता है, वह उस पर निर्भर करता है। मृत्यु के समय वह जैसी चेतना बनाये रखता है, वही उसे दूसरे शरीर तक ले जाती है। यदि वह कुत्ते या बिल्ली जैसी चेतना बनाता है, तो उसे कुत्ते या बिल्ली का शरीर प्राप्त होता है। यदि वह अपनी चेतना दैवी गुणों में स्थित करता है, तो उसे देवता का स्वरूप प्राप्त होता है। और यदि वह कृष्णभावनामृत में होता है, तो वह आध्यात्मिक जगत में कृष्णलोक को जाता है, जहाँ उसका सान्निध्य कृष्ण से होता है। यह दावा मिथ्या है कि इस शरीर के नाश होने पर सब कुछ समाप्त हो जाता है। आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में देहान्तरण करता है, और वर्तमान शरीर तथा वर्तमान कार्यकलाप ही अगले शरीर का आधार बनते हैं। कर्म के अनुसार भिन्न शरीर प्राप्त होता है और समय आने पर यह शरीर त्यागना होता है। यहाँ यह कहा गया है कि सूक्ष्म शरीर, जो अगले शरीर का बीज वहन करता है, अगले जीवन में दूसरा शरीर निर्माण करता है। एक शरीर से दूसरे शरीर में देहान्तरण की प्रक्रिया तथा शरीर में रहते हुए संघर्ष करने को *कर्षति* अर्थात् जीवन संघर्ष कहते हैं।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ ९॥

श्रोत्रम्—कान; **चक्षुः**—आँखें; **स्पर्शनम्**—स्पर्श; **च**—भी; **रसनम्**—जीभ; **घ्राणम्**—सूँघने की शक्ति; **एव**—भी; **च**—तथा; **अधिष्ठाय**—स्थित होकर; **मनः**—मन; **च**—भी; **अयम्**—यह; **विषयान्**—इन्द्रियविषयों को; **उपसेवते**—भोग करता है।

इस प्रकार दूसरा स्थूल शरीर धारण करके जीव विशेष प्रकार का कान, आँख, जीभ, नाक तथा स्पर्श इन्द्रिय (त्वचा) प्राप्त करता है, जो मन के चारों ओर संपुंजित हैं। इस प्रकार वह इन्द्रियविषयों के एक विशिष्ट समुच्चय का भोग करता है।

तात्पर्य : दूसरे शब्दों में, यदि जीव अपनी चेतना को कुत्तों तथा बिल्लियों के गुणों जैसा बना देता है, तो उसे अगले जन्म में कुत्ते या बिल्ली का शरीर प्राप्त होता है, जिसका वह भोग करता है। चेतना मूलतः जल के समान विमल होती है, लेकिन यदि हम जल में रंग मिला देते हैं, तो उसका रंग बदल जाता है। इसी प्रकार से चेतना भी शुद्ध है, क्योंकि आत्मा शुद्ध है लेकिन भौतिक गुणों की संगति के अनुसार चेतना बदलती जाती है। वास्तविक चेतना तो कृष्णभावनामृत है, अतः जब कोई कृष्णभावनामृत में स्थित होता है, तो वह शुद्धतर जीवन बिताता है। लेकिन यदि उसकी चेतना किसी भौतिक प्रवृत्ति से मिश्रित हो जाती है, तो अगले जीवन में उसे वैसा ही शरीर मिलता है। यह आवश्यक नहीं है कि उसे पुनः मनुष्य शरीर प्राप्त हो—वह कुत्ता, बिल्ली, सूकर, देवता या चौरासी लाख योनियों में से कोई भी रूप प्राप्त कर सकता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥ १०॥

उत्क्रामन्तम्—शरीर त्यागते हुए; **स्थितम्**—शरीर में रहते हुए; **वा अपि**—अथवा; **भुञ्जानम्**—भोग करते हुए; **वा**—अथवा; **गुण-अन्वितम्**—प्रकृति के गुणों के अधीन; **विमूढाः**—मूर्ख व्यक्ति; **न**—कभी नहीं; **अनुपश्यन्ति**—देख सकते हैं; **पश्यन्ति**—देख सकते हैं; **ज्ञान-चक्षुषः**—ज्ञान रूपी आँखों वाले।

मूर्ख न तो समझ पाते हैं कि जीव किस प्रकार अपना शरीर त्याग सकता है, न ही वे यह समझ पाते हैं कि प्रकृति के गुणों के अधीन वह किस तरह के शरीर का भोग करता है। लेकिन जिसकी आँखें ज्ञान में प्रशिक्षित होती हैं, वह यह सब देख सकता है।

तात्पर्य : *ज्ञान-चक्षुषः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बिना ज्ञान के कोई न तो यह समझ सकता है कि जीव इस शरीर को किस प्रकार त्यागता है, न ही यह कि वह अगले जीवन में कैसा शरीर धारण करने जा रहा है, अथवा यह कि वह विशेष प्रकार के शरीर में क्यों रह रहा है। इसके लिए पर्याप्त ज्ञान की आवश्यकता होती है, जिसे प्रामाणिक गुरु से *भगवद्गीता* तथा अन्य ऐसे ही ग्रंथों को सुन कर समझा जा सकता

है। जो इन बातों को समझने के लिए प्रशिक्षित है, वह भाग्यशाली है। प्रत्येक जीव किन्हीं परिस्थितियों में शरीर त्यागता है, जीवित रहता है और प्रकृति के अधीन होकर भोग करता है। फलस्वरूप वह इन्द्रियभोग के भ्रम में नाना प्रकार के सुख-दुख सहता रहता है। ऐसे व्यक्ति जो काम तथा इच्छा के कारण निरन्तर मूर्ख बनते रहते हैं, अपने शरीर-परिवर्तन तथा विशेष शरीर में अपने वास को समझने की सारी शक्ति खो बैठते हैं। वे इसे नहीं समझ सकते। किन्तु जिन्हें आध्यात्मिक ज्ञान हो चुका है, वे देखते हैं कि आत्मा शरीर से भिन्न है और यह अपना शरीर बदल कर विभिन्न प्रकार से भोगता रहता है। ऐसे ज्ञान से युक्त व्यक्ति समझ सकता है कि इस संसार में बद्धजीव किस प्रकार कष्ट भोग रहे हैं। अतएव जो लोग कृष्णभावनामृत में अत्यधिक आगे बढ़े हुए हैं, वे इस ज्ञान को सामान्य लोगों तक पहुँचाने में प्रयत्नशील रहते हैं, क्योंकि उनका बद्ध जीवन अत्यन्त कष्टप्रद रहता है। उन्हें इसमें से निकल कर कृष्णभावनाभावित होकर आध्यात्मिक लोक में जाने के लिए अपने को मुक्त करना चाहिए।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥११॥

यतन्तः–प्रयास करते हुए; योगिनः–अध्यात्मवादी, योगी; च–भी; एनम्–इसे; पश्यन्ति–देख सकते हैं; आत्मनि–अपने में; अवस्थितम्–स्थित; यतन्तः–प्रयास करते हुए; अपि–यद्यपि; अकृत-आत्मानः–आत्म-साक्षात्कार से विहीन; न–नहीं; एनम्–इसे; पश्यन्ति–देखते हैं; अचेतसः–अविकसित मनों वाले, अज्ञानी।

आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त प्रयत्नशील योगीजन यह सब स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। लेकिन जिनके मन विकसित नहीं हैं और जो आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त नहीं हैं, वे प्रयत्न करके भी यह नहीं देख पाते कि क्या हो रहा है।

तात्पर्य : अनेक योगी आत्म-साक्षात्कार के पथ पर होते हैं, लेकिन जो आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त नहीं है, वह यह नहीं देख पाता कि जीव के शरीर में कैसे-कैसे परिवर्तन हो रहे हैं। इस प्रसंग में *योगिनः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। आजकल ऐसे अनेक तथाकथित योगी हैं और योगियों के तथाकथित संगठन हैं, लेकिन आत्म-साक्षात्कार के मामले में ये शून्य हैं। ये केवल कुछ आसनों में व्यस्त रहते हैं और यदि उनका शरीर सुगठित तथा स्वस्थ हो गया, तो वे सन्तुष्ट हो जाते हैं। उन्हें इसके अतिरिक्त कोई जानकारी नहीं रहती। वे *यतन्तोऽप्यकृतात्मानः* कहलाते हैं। यद्यपि वे तथाकथित योगपद्धति का प्रयास करते हैं, लेकिन वे स्वरूपसिद्ध नहीं हो पाते। ऐसे व्यक्ति आत्मा के देहान्तरण को नहीं समझ सकते। केवल वे ही ये सभी बातें समझ पाते हैं जो सचमुच योग पद्धति में रमते हैं और जिन्हें आत्मा, जगत् तथा परमेश्वर की अनुभूति हो चुकी है। दूसरे शब्दों में, जो भक्तियोगी हैं वे ही समझ सकते हैं कि किस प्रकार से सब कुछ घटित होता है।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥१२॥

यत्–जो; **आदित्य-गतम्**–सूर्यप्रकाश में स्थित; **तेजः**–तेज; **जगत्**–सारा संसार; **भासयते**–प्रकाशित होता है; **अखिलम्**–सम्पूर्ण; **यत्**–जो; **चन्द्रमसि**–चन्द्रमा में; **यत्**–जो; **च**–भी; **अग्नौ**–अग्नि में; **तत्**–वह; **तेजः**–तेज; **विद्धि**–जानो; **मामकम्**–मुझसे।

सूर्य का तेज, जो सारे विश्व के अंधकार को दूर करता है, मुझसे ही निकलता है। चन्द्रमा तथा अग्नि के तेज भी मुझसे उत्पन्न हैं।

तात्पर्य : अज्ञानी मनुष्य यह नहीं समझ पाता कि यह सब कुछ कैसे घटित होता है। लेकिन भगवान् ने यहाँ पर जो कुछ बतलाया है, उसे समझ कर ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि तथा बिजली देखता है। उसे यह समझने का प्रयास करना चाहिए कि चाहे सूर्य का तेज हो, या चन्द्रमा, अग्नि अथवा बिजली का तेज, ये सब भगवान् से ही उद्भूत हैं। कृष्णभावनामृत का प्रारम्भ इस भौतिक जगत् में बद्धजीव को उन्नति करने के लिए काफी अवसर प्रदान करता है। जीव मूलतः परमेश्वर के अंश हैं और भगवान् यहाँ पर इंगित कर रहे हैं कि जीव किस प्रकार भगवद्धाम को प्राप्त कर सकते हैं।

इस श्लोक से हम यह समझ सकते हैं कि सूर्य सम्पूर्ण सौर मण्डल को प्रकाशित कर रहा है। ब्रह्माण्ड अनेक हैं और सौर मण्डल भी अनेक हैं। सूर्य, चन्द्रमा तथा लोक भी अनेक हैं, लेकिन प्रत्येक ब्रह्माण्ड में केवल एक सूर्य है। *भगवद्गीता* में (१०.२१) कहा गया है कि चन्द्रमा भी एक नक्षत्र है (*नक्षत्राणामहं शशी*)। सूर्य का प्रकाश परमेश्वर के आध्यात्मिक आकाश में आध्यात्मिक तेज के कारण है। सूर्योदय के साथ ही मनुष्य के कार्यकलाप प्रारम्भ हो जाते हैं। वे भोजन पकाने के लिए अग्नि जलाते हैं और फैक्टरियाँ चलाने के लिए भी अग्नि जलाते हैं। अग्नि की सहायता से अनेक कार्य किये जाते हैं। अतएव सूर्योदय, अग्नि तथा चन्द्रमा की चाँदनी जीवों को अत्यन्त सुहावने लगते हैं। उनकी सहायता के बिना कोई जीव नहीं रह सकता। अतएव यदि मनुष्य यह जान ले कि सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि का प्रकाश तथा तेज भगवान् श्रीकृष्ण से उद्भूत हो रहा है, तो उसमें कृष्णभावनामृत का सूत्रपात हो जाता है। चन्द्रमा के प्रकाश से सारी वनस्पतियाँ पोषित होती हैं। चन्द्रमा का प्रकाश इतना आनन्दप्रद है कि लोग सरलता से समझ सकते हैं कि वे भगवान् कृष्ण की कृपा से ही जी रहे हैं। उनकी कृपा के बिना न तो सूर्य होगा, न चन्द्रमा, न अग्नि और सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि के बिना हमारा जीवित रहना असम्भव है। बद्धजीव में कृष्णभावनामृत जगाने वाले ये ही कतिपय विचार हैं।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥१३॥

गाम्–लोक में; **आविश्य**–प्रवेश करके; **च**–भी; **भूतानि**–जीवों को; **धारयामि**–धारण करता हूँ; **अहम्**–मैं; **ओजसा**–अपनी शक्ति से; **पुष्णामि**–पोषण करता हूँ; **च**–तथा; **औषधीः**–वनस्पतियों

का, सर्वाः—समस्त; सोमः—चन्द्रमा; भूत्वा—बनकर; रस-आत्मकः—रस प्रदान करनेवाला।

मैं प्रत्येक लोक में प्रवेश करता हूँ और मेरी शक्ति से सारे लोक अपनी कक्षा में स्थित रहते हैं। मैं चन्द्रमा बनकर समस्त वनस्पतियों को जीवन-रस प्रदान करता हूँ।

तात्पर्य : ऐसा ज्ञात है कि सारे लोक केवल भगवान् की शक्ति से वायु में तैर रहे हैं। भगवान् प्रत्येक अणु, प्रत्येक लोक तथा प्रत्येक जीव में प्रवेश करते हैं। इसकी विवेचना *ब्रह्मसंहिता* में की गई है। उसमें कहा गया है—परमेश्वर का एक अंश, परमात्मा, लोकों में, ब्रह्माण्ड में, जीव में तथा अणु तक में प्रवेश करता है। अतएव उनके प्रवेश करने से प्रत्येक वस्तु ठीक से दिखती है। जब आत्मा होता है तो जीवित मनुष्य पानी में तैर सकता है। लेकिन जब जीवित स्फुलिंग इस देह से निकल जाता है और शरीर मृत हो जाता है तो शरीर डूब जाता है। निस्सन्देह सड़ने के बाद यह शरीर तिनके तथा अन्य वस्तुओं के समान तैरता है। लेकिन मरने के तुरन्त बाद शरीर पानी में डूब जाता है। इसी प्रकार ये सारे लोक शून्य में तैर रहे हैं और यह सब उनमें भगवान् की परम शक्ति के प्रवेश के कारण है। उनकी शक्ति प्रत्येक लोक को उसी तरह थामे रहती है, जिस प्रकार धूल को मुट्ठी। मुट्ठी में बन्द रहने पर धूल के गिरने का भय नहीं रहता, लेकिन ज्योंही धूल को वायु में फेंक दिया जाता है, वह नीचे गिर पड़ती है। इसी प्रकार ये सारे लोक, जो वायु में तैर रहे हैं, वास्तव में भगवान् के विराट रूप की मुट्ठी में बँधे हैं। उनके बल तथा शक्ति से सारी चर तथा अचर वस्तुएँ अपने-अपने स्थानों पर टिकी हैं। वैदिक मन्त्रों में कहा गया है कि भगवान् के कारण सूर्य चमकता है और सारे लोक लगातार घूमते रहते हैं। यदि ऐसा उनके कारण न हो तो सारे लोक वायु में धूल के समान बिखर कर नष्ट हो जाएँ। इसी प्रकार से भगवान् के ही कारण चन्द्रमा समस्त वनस्पतियों का पोषण करता है। चन्द्रमा के प्रभाव से सब्जियाँ सुस्वादु बनती हैं। चन्द्रमा के प्रकाश के बिना सब्जियाँ न तो बढ़ सकती हैं और न स्वादिष्ट हो सकती हैं। वास्तव में मानवसमाज भगवान् की कृपा से काम करता है, सुख से रहता है और भोजन का आनन्द लेता है। अन्यथा मनुष्य जीवित न रहता। *रसात्मकः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक वस्तु चन्द्रमा के प्रभाव से परमेश्वर के द्वारा स्वादिष्ट बनती है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ १४॥

अहम्—मैं; वैश्वानरः—पाचक-अग्नि के रूप में मेरा पूर्ण अंश; भूत्वा—बन कर; प्राणिनाम्—समस्त जीवों के; देहम्—शरीरों में; आश्रितः—स्थित; प्राण—उच्छ्वास, निश्वास; अपान—श्वास; समायुक्तः—सन्तुलित रखते हुए; पचामि—पचाता हूँ; अन्नम्—अन्न को; चतुः-विधम्—चार प्रकार के।

मैं समस्त जीवों के शरीरों में पाचन-अग्नि (वैश्वानर) हूँ और मैं श्वास-प्रश्वास (प्राण वायु) में रह कर चार प्रकार के अन्नों को पचाता हूँ।

तात्पर्य : *आयुर्वेद शास्त्र* के अनुसार आमाशय (पेट) में अग्नि होती है, जो वहाँ पहुँ

भोजन को पचाती है। जव यह अग्नि प्रज्ज्वलित नहीं रहती तो भूख नहीं जगती और जव यह अग्नि ठीक रहती है, तो भूख लगती है। कभी-कभी जव अग्नि मन्द हो जाती है तो उपचार की आवश्यकता होती है। जो भी हो, यह अग्नि भगवान् का प्रतिनिधि स्वरूप है। वैदिक मन्त्रों से भी (*बृहदारण्यक उपनिषद्* ५.९.१) पुष्टि होती है कि परमेश्वर या ब्रह्म अग्निरूप में आमाशय के भीतर स्थित हैं और समस्त प्रकार के अन्न को पचाते हैं (*अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते*)। चूँकि भगवान् सभी प्रकार के अन्नों के पाचन में सहायक होते हैं, अतएव जीव भोजन करने के मामले में स्वतन्त्र नहीं है। जव तक परमेश्वर पाचन में उसकी सहायता नहीं करते, तव तक खाने की कोई सम्भावना नहीं है। इस प्रकार भगवान् ही अन्न को उत्पन्न करते और वे ही पचाते हैं और उनकी ही कृपा से हम जीवन का आनन्द उठाते हैं। *वेदान्तसूत्र* में (१.२.२७) भी इसकी पुष्टि हुई है। *शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च*—भगवान् शव्द के भीतर, शरीर के भीतर, वायु के भीतर तथा यहाँ तक कि पाचन शक्ति के रूप में आमाशय में भी उपस्थित हैं। अन्न चार प्रकार का होता है—कुछ निगले जाते हैं (पेय), कुछ चवाये जाते हैं (*भोज्य*), कुछ चाटे जाते हैं (*लेह्य*) तथा कुछ चूसे जाते हैं (*चोष्य*)। भगवान् सभी प्रकार के अन्नों की पाचक शक्ति हैं।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥१५॥

सर्वस्य—समस्त प्राणियों; **च**—तथा; **अहम्**—मैं; **हृदि**—हृदय में; **सन्निविष्टः**—स्थित; **मत्तः**—मुझ से; **स्मृतिः**—स्मरणशक्ति; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **अपोहनम्**—विस्मृति; **च**—तथा; **वेदैः**—वेदों के द्वारा; **च**—भी; **सर्वैः**—समस्त; **अहम्**—मैं हूँ; **एव**—निश्चय ही; **वेद्यः**—जानने योग्य, ज्ञेय; **वेदान्त-कृत्**—वेदान्त के संकलनकर्ता; **वेदवित्**—वेदों के ज्ञाता; **एव**—निश्चय ही; **च**—तथा; **अहम्**—मैं।

मैं प्रत्येक जीव के हृदय में आसीन हूँ और मुझ से ही स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति होती है। मैं ही वेदों के द्वारा जानने योग्य हूँ। निस्सन्देह मैं वेदान्त का संकलनकर्ता तथा समस्त वेदों का जानने वाला हूँ।

तात्पर्य : परमेश्वर परमात्मा रूप में प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं और उन्हीं के कारण सारे कर्म प्रेरित होते हैं। जीव अपने विगत जीवन की सारी वातें भूल जाता है, लेकिन उसे परमेश्वर के निर्देशानुसार कार्य करना होता है, जो उसके सारे कर्मों का साक्षी है। अतएव वह अपने विगत कर्मों के अनुसार कार्य करना प्रारम्भ करता है। इसके लिए आवश्यक ज्ञान तथा स्मृति उसे प्रदान की जाती है। लेकिन वह विगत जीवन के विषय में भूलता रहता है। इस प्रकार भगवान् न केवल सर्वव्यापी हैं, अपितु वे प्रत्येक हृदय में अन्तर्यामी भी हैं। वे विभिन्न कर्मफल प्रदान करने वाले हैं। वे न केवल निराकार ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में पूजनीय हैं, अपितु वे वेदों के अवतार के रूप में भी पूजनीय हैं। वेद लोगों को सही दिशा वताते हैं, जिससे वे समुचित ढंग से अपना

जीवन ढाल सकें और भगवान् के धाम को वापस जा सकें। वेद भगवान् कृष्ण विषयक ज्ञान प्रदान करते हैं और अपने अवतार व्यासदेव के रूप में कृष्ण ही वेदान्तसूत्र के संकलनकर्ता हैं। व्यासदेव द्वारा *श्रीमद्भागवत* के रूप में किया गया वेदान्तसूत्र का भाष्य वेदान्तसूत्र की वास्तविक सूचना प्रदान करता हे। भगवान् इतने पूर्ण हैं कि बद्धजीवों के उद्धार हेतु वे उसके अन्न के प्रदाता एवं पाचक हैं, उसके कार्यकलापों के साक्षी हैं तथा वेदों के रूप में ज्ञान के प्रदाता हैं। वे भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में *भगवद्गीता* के शिक्षक हैं। वे बद्धजीव द्वारा पूज्य हैं। इस प्रकार ईश्वर सर्वकल्याणप्रद तथा सर्वदयामय हैं।

अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्। जीव ज्योंही अपने इस शरीर को छोडता हे, इसे भूल जाता है, लेकिन परमेश्वर द्वारा प्रेरित होने पर वह फिर से काम करने लगता हे। यद्यपि जीव भूल जाता है, लेकिन भगवान् उसे वुद्धि प्रदान करते हैं, जिससे वह अपने पूर्वजन्म के अपूर्ण कार्य को फिर से करने लगता हे। अतएव जीव अपने हृदय में स्थित परमेश्वर के आदेशानुसार इस जगत् में सुख या दुख का केवल भोग ही नहीं करता हे, अपितु उनसे वेद समझने का अवसर भी प्राप्त करता हे। यदि कोई ठीक से वेदिक ज्ञान पाना चाहे तो कृष्ण उसे आवश्यक वुद्धि प्रदान करते हैं। वे किसलिए वेदिक ज्ञान प्रस्तुत करते हैं? इसलिए कि जीव को कृष्ण को समझने की आवश्यकता हे। इसकी पुष्टि वेदिक साहित्य से होती है—*योऽसौ सर्वैर्वेदैर्गीयते*। चारो *वेदो, वेदान्त सूत्र* तथा *उपनिषदों* एवं *पुराणों* समेत सारे वैदिक साहित्य में परमेश्वर की कीर्ति का गान हे। उन्हे वेदिक अनुष्ठानों द्वारा, वैदिक दर्शन की व्याख्या द्वारा तथा भगवान् की भक्तिमय पूजा द्वारा प्राप्त किया जाता है। अतएव वेदों का उद्देश्य कृष्ण को समझना है। वेद हमें निर्देश देते हैं, जिससे कृष्ण को जाना जा सकता है ओर उनकी अनुभूति की जा सकती हे। भगवान् ही चरम लक्ष्य हैं। *वेदान्तसूत्र* (१.१.४)में इसकी पुष्टि इन शब्दों में हुई हे—*तत्तु समन्वयात्*। मनुष्य तीन अवस्थाओं में सिद्धि प्राप्त करता हे। वेदिक साहित्य के ज्ञान से भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को समझा जा सकता हे, विभिन्न विधियों को सम्पन्न करके उन तक पहुँचा जा सकता है और अन्त मे उस परम लक्ष्य श्रीभगवान् की प्राप्ति की जा सकती है। इस श्लोक में वेदों के प्रयोजन, वेदों के ज्ञान तथा वेदों के लक्ष्य को स्पष्टतः परिभाषित किया गया है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥१६॥

द्वौ—दो; **इमौ**—ये; **पुरुषौ**—जीव, **लोके**—संसार में; **क्षरः**—च्युत, **च**—तथा; **अक्षरः**—अच्युत, **एव**—निश्चय ही; **च**—तथा; **क्षरः**—च्युत, **सर्वाणि**—समस्त, **भूतानि**—जीवों को, **कूट-स्थः**—एकत्व में, **अक्षरः**—अच्युत; **उच्यते**—कहा जाता है।

जीव दो प्रकार के हैं—च्युत तथा अच्युत। भौतिक जगत् में प्रत्येक जीव च्युत (क्षर) होता है और आध्यात्मिक जगत् में प्रत्येक जीव अच्युत (अक्षर) कहलाता है।

तात्पर्य : जैसा कि पहले वताया जा चुका है, भगवान् ने अपने व्यासदेव अवतार में *ब्रह्मसूत्र* का संकलन किया। भगवान् ने यहाँ पर *वेदान्तसूत्र* की विषयवस्तु का सार-संक्षेप

दिया है। उनका कहना है कि जीव जिनकी संख्या अनन्त है, दो श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते हैं—च्युत (क्षर) तथा अच्युत (अक्षर)। जीव भगवान् के सनातन पृथक्कीकृत अंश (विभिन्नांश) हैं। जव उनका संसर्ग भौतिक जगत् से होता है तो वे जीवभूत कहलाते हैं। यहाँ पर *क्षरः सर्वाणि भूतानि* पद प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है कि जीव च्युत हैं। लेकिन जो जीव परमेश्वर से एकत्व स्थापित कर लेते हैं वे अच्युत कहलाते हैं। एकत्व का अर्थ यह नहीं है कि उनकी अपनी निजी सत्ता नहीं है, वल्कि यह कि दोनों में भिन्नता नहीं है। वे सव सृजन के प्रयोजन को मानते हैं। निस्सन्देह आध्यात्मिक जगत् में सृजन जैसी कोई वस्तु नहीं है, लेकिन चूँकि, जैसा कि *वेदान्तसूत्र* में कहा गया है, भगवान् समस्त उद्भवों के स्रोत हैं, अतएव यहाँ पर इस विचारधारा की व्याख्या की गई है।

भगवान् श्रीकृष्ण के कथनानुसार जीवों की दो श्रेणियाँ हैं। वेदों में इसके प्रमाण मिलते हैं, अतएव इसमें सन्देह करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस संसार में संघर्ष-रत सारे जीव मन तथा पाँच इन्द्रियों से युक्त शरीर वाले हैं जो परिवर्तनशील हैं। जव तक जीव वद्ध है, तव तक उसका शरीर पदार्थ के संसर्ग से वदलता रहता है। चूँकि पदार्थ वदलता रहता है, इसलिए जीव वदलते प्रतीत होते हैं। लेकिन आध्यात्मिक जगत् में शरीर पदार्थ से नहीं वना होता, अतएव उसमें परिवर्तन नहीं होता। भौतिक जगत् में जीव छः परिवर्तनों से गुजरता है—जन्म, वृद्धि, अस्तित्व, प्रजनन, क्षय तथा विनाश। ये भौतिक शरीर के परिवर्तन हैं। लेकिन आध्यात्मिक जगत् में शरीर-परिवर्तन नहीं होता, वहाँ न जरा है, न जन्म और न मृत्यु। वे सव एकावस्था में रहते हैं। *क्षरः सर्वाणि भूतानि*—जो भी जीव, आदि जीव व्रह्मा से लेकर क्षुद्र चींटी तक भौतिक प्रकृति के संसर्ग में आता है, वह अपना शरीर वदलता है। अतएव ये सव *क्षर* या *च्युत* हैं। किन्तु आध्यात्मिक जगत् में वे मुक्त जीव सदा एकावस्था में रहते हैं।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ १७॥

उत्तमः—श्रेष्ठ; **पुरुषः**—व्यक्ति, पुरुष; **तु**—लेकिन; **अन्यः**—अन्य; **परम**—परम; **आत्मा**—आत्मा; **इति**—इस प्रकार; **उदाहृतः**—कहा जाता है; **यः**—जो; **लोक**—व्रह्माण्ड के; **त्रयम्**—तीन विभागों में; **आविश्य**—प्रवेश करके; **बिभर्ति**—पालन करता है; **अव्ययः**—अविनाशी; **ईश्वरः**—भगवान्।

इन दोनों के अतिरिक्त, एक परम पुरुष परमात्मा है, जो साक्षात् अविनाशी भगवान् है और जो तीनों लोकों में प्रवेश करके उनका पालन कर रहा है।

तात्पर्य : इस श्लोक का भाव *कठोपनिषद्* (२.२.१३) तथा *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में (६.१३) अत्यन्त सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है। वहाँ यह कहा गया है कि असंख्य जीवों के नियन्ता, जिनमें से कुछ वद्ध हैं और कुछ मुक्त हैं, एक परम पुरुष है जो परमात्मा है। उपनिषद् का श्लोक इस प्रकार है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*। सारांश यह है कि वद्ध तथा मुक्त दोनों प्रकार के जीवों में से एक परम पुरुष भगवान् होता है, जो उन सवका पालन करता है और उन्हें उनके कर्मों के अनुसार भोग की सुविधा प्रदान

करता है। वह भगवान् परमात्मा रूप में सबके हृदय में स्थित है। जो बुद्धिमान व्यक्ति उन्हें समझ सकता है, वही पूर्ण शान्ति-लाभ कर सकता है, अन्य कोई नहीं।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥१८॥

यस्मात्–चूँकि; क्षरम्–च्युत; अतीतः–दिव्य; अहम्–मैं हूँ, अक्षरात्–अक्षर से परे; अपि–भी; च–तथा, उत्तमः–सर्वश्रेष्ठ, अतः–अतएव, अस्मि–मैं हूँ; लोके–संसार में; वेदे–वैदिक साहित्य में; च–तथा; प्रथितः–विख्यात; पुरुष-उत्तमः–परम पुरुष के रूप में।

चूँकि मैं क्षर तथा अक्षर दोनों के परे हूँ और चूँकि मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ, अतएव मैं इस जगत् में तथा वेदों में परम पुरुष के रूप में विख्यात हूँ।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण से बढ़कर कोई नहीं है—न तो बद्धजीव न मुक्त जीव। अतएव वे पुरुषोत्तम हैं। अब यह स्पष्ट हो चुका है कि जीव तथा भगवान् व्यष्टि हैं। अन्तर इतना है कि जीव चाहे बद्ध अवस्था में रहे या मुक्त अवस्था में, वह शक्ति में भगवान् की अकल्पनीय शक्तियों से बढ़कर नहीं हो सकता। यह सोचना गलत है कि भगवान् तथा जीव समान स्तर पर हैं या सब प्रकार से एकसमान हैं। इनके व्यक्तित्वों में सदैव श्रेष्ठता तथा निम्नता बनी रहती है। *उत्तम* शब्द अत्यन्त सार्थक है। भगवान् से बढ़कर कोई नहीं है।

लोके शब्द "*पौरुष आगम* (स्मृति-शास्त्र) में" के लिए आया है। जैसा कि निरुक्ति कोश में पुष्टि की गई है—*लोक्यते वेदार्थोऽनेन*—"वेदों का प्रयोजन स्मृति-शास्त्रों में विवेचित है।"

भगवान् के अन्तर्यामी परमात्मा स्वरूप का भी वेदों में वर्णन हुआ है। निम्नलिखित श्लोक वेदों में (*छान्दोग्य उपनिषद्* ८.१२.३) आया है—*तावदेष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपं सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः।* "शरीर से निकल कर परम आत्मा का प्रवेश निराकार *ब्रह्मज्योति* में होता है। तब वे अपने इस आध्यात्मिक स्वरूप में बने रहते हैं। यह परम आत्मा ही परम पुरुष कहलाता है।" इसका अर्थ यह हुआ कि परम पुरुष अपना आध्यात्मिक तेज प्रकट करते तथा प्रसारित करते रहते हैं और यही चरम प्रकाश है। उस परम पुरुष का एक स्वरूप है अन्तर्यामी परमात्मा। भगवान् सत्यवती तथा पराशर के पुत्ररूप में अवतार ग्रहण कर व्यासदेव के रूप में वैदिक ज्ञान की व्याख्या करते हैं।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥१९॥

यः–जो; माम्–मुझको; एवम्–इस प्रकार, असम्मूढः–संशयरहित, जानाति–जानता है; पुरुष-उत्तमम्–भगवान्, सः–वह, सर्व-वित्–सब कुछ जानने वाला, भजति–भक्ति करता है; माम्–मुझको, सर्व-भावेन–सभी प्रकार से, भारत–हे भरतपुत्र।

जो कोई भी मुझे संशयरहित होकर पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में जानता है, वह सब कुछ जानने वाला है। अतएव हे भरतपुत्र! वह व्यक्ति मेरी पूर्ण भक्ति में रत होता है।

तात्पर्य : जीव तथा भगवान् की स्वाभाविक स्थिति के विषय में अनेक दार्शनिक ऊहापोह करते हैं। इस श्लोक में भगवान् स्पष्ट वताते हैं कि जो भगवान् कृष्ण को परम पुरुष के रूप में जानता है, वह सारी वस्तुओं का ज्ञाता है। अपूर्ण ज्ञाता परम सत्य के विषय में केवल चिन्तन करता जाता है, जवकि पूर्ण ज्ञाता समय का अपव्यय किये विना सीधे कृष्णभावनामृत में लग जाता है, अर्थात् भगवान् की भक्ति करने लगता है। सम्पूर्ण *भगवद्गीता* में पग-पग पर इस तथ्य पर वल दिया गया है। फिर भी *भगवद्गीता* के ऐसे अनेक कट्टर भाष्यकार हैं, जो परमेश्वर तथा जीव को एक ही मानते हैं।

वैदिक ज्ञान *श्रुति* कहलाता है, जिसका अर्थ है श्रवण करके सीखना। वास्तव में वैदिक सूचना कृष्ण तथा उनके प्रतिनिधियों जैसे अधिकारियों से ग्रहण करनी चाहिए। यहाँ कृष्ण ने हर वस्तु का अंतर सुन्दर ढंग से वताया है, अतएव इसी स्रोत से सुनना चाहिए। लेकिन केवल सूकरों की तरह सुनना पर्याप्त नहीं है, मनुष्य को चाहिए कि अधिकारियों से समझे। ऐसा नहीं कि केवल शुष्क चिन्तन ही करता रहे। मनुष्य को विनीत भाव से *भगवद्गीता* से सुनना चाहिए कि सारे जीव सदैव भगवान् के अधीन हैं। जो भी इसे समझ लेता है, वही श्रीकृष्ण के कथनानुसार वेदों के प्रयोजन को समझता है, अन्य कोई नहीं समझता।

भजति शव्द अत्यन्त सार्थक है। कई स्थानों पर *भजति* का सम्वन्ध भगवान् की सेवा के अर्थ में व्यक्त हुआ है। यदि कोई व्यक्ति पूर्ण कृष्णभावनामृत में रत है, अर्थात् भगवान् की भक्ति करता है, तो यह समझना चाहिए कि उसने सारा वैदिक ज्ञान समझ लिया है। वैष्णव *परम्परा* में यह कहा जाता है कि यदि कोई कृष्ण-भक्ति में लगा रहता है, तो उसे भगवान् को जानने के लिए किसी अन्य आध्यात्मिक विधि की आवश्यकता नहीं रहती। भगवान् की भक्ति करने के कारण वह पहले से लक्ष्य तक पहुँचा रहता है। वह ज्ञान की समस्त प्रारम्भिक विधियों को पार कर चुका होता है। लेकिन यदि कोई लाखों जन्मों तक चिन्तन करने पर भी इस लक्ष्य पर नहीं पहुँच पाता कि श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं और उनकी ही शरण ग्रहण करनी चाहिए, तो उसका अनेक जन्मों का चिन्तन व्यर्थ जाता है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥ २०॥

इति—इस प्रकार; **गुह्य-तमम्**—सर्वाधिक गुप्त; **शास्त्रम्**—शास्त्र; **इदम्**—यह; **उक्तम्**—प्रकट किया गया; **मया**—मेरे द्वारा; **अनघ**—हे पापरहित; **एतत्**—यह; **बुद्ध्वा**—समझ कर; **बुद्धिमान्**—वुद्धिमान; **स्यात्**—हो जाता है; **कृत-कृत्यः**—अपने प्रयत्नों में परम पूर्ण; **च**—तथा; **भारत**—हे भरतपुत्र।

हे अनघ! यह वैदिक शास्त्रों का सर्वाधिक गुप्त अंश है, जिसे मैंने अब प्रकट किया

है। जो कोई इसे समझता है, वह बुद्धिमान हो जाएगा और उसके प्रयास पूर्ण होंगे।

तात्पर्य : *भगवान् ने यहाँ स्पष्ट किया है कि यही सारे शास्त्रों का सार है ओर भगवान्* ने इसे जिस रूप में कहा है उसे उसी रूप में समझा जाना चाहिए। इस तरह मनुष्य बुद्धिमान तथा दिव्य ज्ञान में पूर्ण हो जाएगा। दूसरे शब्दों में, भगवान् के इस दर्शन को समझने तथा उनकी दिव्य सेवा में प्रवृत्त होने से प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के गुणों के समस्त *कल्मष से मुक्त हो सकता है।* भक्ति आध्यात्मिक ज्ञान की एक विधि है। जहाँ भी भक्ति होती है, वहाँ भौतिक कल्मष नहीं रह सकता। भगवद्भक्ति तथा स्वयं भगवान् एक हैं, क्योंकि दोनों आध्यात्मिक हैं। भक्ति परमेश्वर की अन्तरंगा शक्ति के भीतर होती है। भगवान् सूर्य के समान हैं और अज्ञान अंधकार है। जहाँ सूर्य विद्यमान है, वहाँ अंधकार *का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव जब भी प्रामाणिक गुरु के मार्गदर्शन के अन्तर्गत भक्ति की जाती है, तो अज्ञान का प्रश्न ही नहीं उठता।*

प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि इस कृष्णभावनामृत को ग्रहण करे और बुद्धिमान तथा शुद्ध बनने के लिए भक्ति करे। जब तक कोई *कृष्ण* को इस प्रकार नहीं समझता और *भक्ति में प्रवृत्त नहीं होता, तब तक सामान्य मनुष्य की दृष्टि में कोई कितना बुद्धिमान* क्यों न हो, वह पूर्णतया बुद्धिमान नहीं है।

जिस *अनघ* शब्द से अर्जुन को सम्बोधित किया गया है, वह सार्थक है। अनघ अर्थात् "हे निष्पाप" *का अर्थ है कि जब तक मनुष्य* समस्त पापकर्मों से मुक्त नहीं हो *जाता, तब तक कृष्ण को समझ पाना कठिन है। उसे समस्त कल्मष, समस्त पापकर्मों* से मुक्त होना होता है, तभी वह समझ सकता है। लेकिन भक्ति इतनी शुद्ध तथा शक्तिमान् होती है कि एक बार भक्ति में प्रवृत्त होने पर मनुष्य स्वतः निष्पाप हो जाता है।

शुद्ध भक्तों की संगति में रहकर पूर्ण कृष्णभावनामृत में भक्ति करते हुए कुछ बातों *को बिल्कुल ही दूर कर देना चाहिए। सबसे महत्त्वपूर्ण बात जिस पर विजय पानी है,* वह है हृदय की दुर्बलता। पहला पतन प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की इच्छा के कारण होता है। इस तरह मनुष्य भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति को त्याग देता है। दूसरी हृदय की दुर्बलता है कि जब कोई अधिकाधिक प्रभुत्व जताने की इच्छा करता है, तो वह भौतिक पदार्थ के स्वामित्व के प्रति आसक्त हो जाता है। इस संसार की सारी समस्याएँ इन्हीं हृदय की दुर्बलताओं के कारण हैं। इस अध्याय के प्रथम पाँच श्लोकों में हृदय की इन्हीं दुर्बलताओं से अपने को मुक्त करने की विधि का वर्णन हुआ है और छठे श्लोक से अन्तिम श्लोक तक *पुरुषोत्तम योग* की विवेचना हुई है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय "पुरुषोत्तम योग" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।

अध्याय सोलह



दैवी तथा आसुरी स्वभाव

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥१॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥२॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥३॥

श्रीभगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **अभयम्**—निर्भयता; **सत्त्व-संशुद्धिः**—अपने अस्तित्व की शुद्धि; **ज्ञान**—ज्ञान में; **योग**—संयुक्त होने की; **व्यवस्थितिः**—स्थिति; **दानम्**—दान; **दमः**—मन का निग्रह; **च**—तथा; **यज्ञः**—यज्ञ की सम्पन्नता; **च**—तथा; **स्वाध्यायः**—वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन; **तपः**—तपस्या; **आर्जवम्**—सरलता; **अहिंसा**—अहिंसा; **सत्यम्**—सत्यता; **अक्रोधः**—क्रोध से मुक्ति; **त्यागः**—त्याग;

शान्तिः–मन शान्ति; अपैशुनम्–छिद्रान्वेषण में अरुचि; दया–करुणा; भूतेषु–समस्त जीवों के प्रति; अलोलुप्त्वम्–लोभ से मुक्ति; मार्दवम्–भद्रता; ह्रीः–लज्जा; अचापलम्–संकल्प, तेजः–तेज, बल; क्षमा–क्षमा; धृतिः–धैर्य, शौचम्–पवित्रता; अद्रोहः–ईर्ष्या से मुक्ति; न–नहीं, अति-मानिता–सम्मान की आशा, भवन्ति–हैं; सम्पदम्–गुण; दैवीम्–दिव्य स्वभाव, अभिजातस्य–उत्पन्न हुए का, भारत–हे भरतपुत्र।

भगवान् ने कहा–हे भरतपुत्र! निर्भयता, आत्मशुद्धि, आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन, दान, आत्म-संयम, यज्ञपरायणता, वेदाध्ययन, तपस्या, सरलता, अहिंसा, सत्यता, क्रोधविहीनता, त्याग, शान्ति, छिद्रान्वेषण में अरुचि, समस्त जीवों पर करुणा, लोभविहीनता, भद्रता, लज्जा, संकल्प, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, ईर्ष्या तथा सम्मान की अभिलाषा से मुक्ति–ये सारे दिव्य गुण हैं, जो दैवी प्रकृति से सम्पन्न देवतुल्य पुरुषों में पाये जाते हैं।

तात्पर्य : पन्द्रहवें अध्याय के प्रारम्भ में इस भौतिक जगत् रूपी अश्वत्थ वृक्ष की व्याख्या की गई थी। उससे निकलने वाली अतिरिक्त जड़ों की तुलना जीवों के शुभ तथा अशुभ कर्मों से की गई थी। नवें अध्याय में भी *देवों* तथा *असुरों* का वर्णन हुआ है। अब, वैदिक अनुष्ठानों के अनुसार, सतोगुण में किये गये सारे कार्य मुक्तिपथ में प्रगति करने के लिए शुभ माने जाते हैं और ऐसे कार्यों को दैवी प्रकृति कहा जाता है। जो लोग इस *दैवीप्रकृति* में स्थित होते हैं, वे मुक्ति के पथ पर अग्रसर होते हैं। इसके विपरीत उन लोगों के लिए, जो रजो तथा तमोगुण में रहकर कार्य करते हैं, मुक्ति की कोई सम्भावना नहीं रहती। उन्हें या तो मनुष्य की तरह इसी भौतिक जगत् में रहना होता है या फिर वे पशुयोनि में या इससे भी निम्न योनियों में अवतरित होते हैं। इस सोलहवें अध्याय में भगवान् दैवीप्रकृति तथा उसके गुणों एवं आसुरी प्रकृति तथा उसके गुणों का समान रूप से वर्णन करते हैं। वे इन गुणों के लाभों तथा हानियों का भी वर्णन करते हैं।

दिव्यगुणों या दैवीप्रवृत्तियों से युक्त उत्पन्न व्यक्ति के प्रसंग में प्रयुक्त *अभिजातस्य* शब्द बहुत *सार-गर्भित* है। दैवी परिवेश में सन्तान उत्पन्न करने को वैदिक शास्त्रों में *गर्भाधान संस्कार* कहा गया है। यदि माता-पिता चाहते हैं कि दिव्यगुणों से युक्त सन्तान उत्पन्न हो, तो उन्हें सामाजिक जीवन में मनुष्यों के लिए बताये गये दस नियमों का पालन करना चाहिए। *भगवद्गीता* में हम पहले ही पढ़ चुके हैं कि अच्छी सन्तान उत्पन्न करने के निमित्त मैथुन-जीवन साक्षात् कृष्ण है। मैथुन-जीवन गर्हित नहीं है, यदि इसका कृष्णभावनामृत में प्रयोग किया जाय। जो लोग कृष्णभावनामृत में हैं, कम से कम उन्हें तो कुत्ते-बिल्लियों की तरह सन्तानें उत्पन्न नहीं करनी चाहिए। उन्हें ऐसी सन्तानें उत्पन्न करनी चाहिए जो जन्म लेने के पश्चात् कृष्णभावनाभावित हो सकें। कृष्णभावनामृत में तल्लीन माता-पिता से उत्पन्न सन्तानों को इतना लाभ तो मिलना ही चाहिए।

वर्णाश्रमधर्म नामक सामाजिक संस्था–जो समाज को सामाजिक जीवन के चार विभागों एवं काम-धन्धों अथवा वर्णों के चार विभागों में विभाजित करती है–मानव समाज को जन्म के अनुसार विभाजित करने के उद्देश्य से नहीं है। ऐसा विभाजन शैक्षिक योग्यताओं के आधार पर किया जाता है। ये विभाजन समाज में शान्ति तथा सम्पन्नता

वनाये रखने के लिए हैं। यहाँ पर जिन गुणों का उल्लेख हुआ है, उन्हें दिव्य कहा गया है और वे आध्यात्मिक ज्ञान में प्रगति करने वाले व्यक्तियों के निमित्त हैं, जिससे वे भौतिक जगत् से मुक्त हो सकें।

वर्णाश्रम संस्था में संन्यासी को समस्त सामाजिक वर्णों तथा आश्रमों में प्रधान या गुरु माना जाता है। ब्राह्मण को समाज के तीन वर्णों—क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों—का गुरु माना जाता है, लेकिन संन्यासी इस संस्था के शीर्ष पर होता है और ब्राह्मणों का भी गुरु माना जाता है। संन्यासी की पहली योग्यता निर्भयता होनी चाहिए। चूँकि संन्यासी को किसी सहायक के विना एकाकी रहना होता है, अतएव भगवान् की कृपा ही उसका एकमात्र आश्रय होता है। जो यह सोचता है कि सारे सम्वन्ध तोड़ लेने के वाद मेरी रक्षा कौन करेगा, तो उसे संन्यास आश्रम स्वीकार नहीं करना चाहिए। उसे यह पूर्ण विश्वास होना चाहिए कि कृष्ण या अन्तर्यामी स्वरूप परमात्मा सदैव अन्तर में रहते हैं, वे सव कुछ देखते रहते हैं और जानते हैं कि कोई क्या करना चाहता है। इस तरह मनुष्य को दृढविश्वास होना चाहिए कि परमात्मा स्वरूप कृष्ण शरणागत व्यक्ति की रक्षा करेंगे। उसे सोचना चाहिए "मैं कभी अकेला नहीं हूँ, भले ही मैं गहनतम जंगल में क्यों न रहूँ। मेरा साथ कृष्ण देंगे और सव तरह से मेरी रक्षा करेंगे।" ऐसा विश्वास *अभयम्* या निर्भयता कहलाता है। संन्यास आश्रम में व्यक्ति की ऐसी मनोदशा आवश्यक है।

तव उसे अपने अस्तित्व को शुद्ध करना होता है। संन्यास आश्रम में पालन किये जाने के लिए अनेक विधि-विधान हैं। इनमें सवसे महत्त्वपूर्ण यह है कि संन्यासी को किसी स्त्री के साथ घनिष्ठ सम्वन्ध नहीं रखना चाहिए। उसे एकान्त स्थान में स्त्री से वातें करने तक की मनाही है। भगवान् चैतन्य आदर्श संन्यासी थे और जव वे पुरी में रह रहे थे, तो उनकी भक्तिनों को उनके पास नमस्कार करने तक के लिए नहीं आने दिया जाता था। उन्हें दूर से ही प्रणाम करने के लिए आदेश था। यह स्त्री जाति के प्रति घृणाभाव का चिह्न नहीं था, अपितु संन्यासी पर लगाया गया प्रतिवन्ध था कि उसे स्त्रियों से निकट सम्पर्क नहीं रखना चाहिए। मनुष्य को अपने अस्तित्त्व को शुद्ध वनाने के लिए जीवन की विशेष परिस्थिति (स्तर) में विधि-विधानों का पालन करना होता है। संन्यासी के लिए स्त्रियों के साथ घनिष्ठ सम्वन्ध तथा इन्द्रियतृप्ति के लिए धन-संग्रह वर्जित हैं। आदर्श संन्यासी तो स्वयं भगवान् चैतन्य थे और उनके जीवन से हमें यह सीख लेनी चाहिए कि वे स्त्रियों के विषय में कितने कठोर थे। यद्यपि वे भगवान् के सवसे वदान्य अवतार माने जाते हैं, क्योंकि वे अधम से अधम वद्ध जीवों को स्वीकार करते थे, लेकिन जहाँ तक स्त्रियों की संगति का प्रश्न था, वे संन्यास आश्रम के विधि-

यदि भौतिक सम्पत्ति तथा स्त्री की ओर इन्द्रियतृप्ति के लिए देखता है—भले ही वह उनका भोग न करे, केवल उनकी ओर इच्छा-दृष्टि से देखे, तो भी वह इतना गर्हित है कि उसके लिए श्रेयस्कर होगा कि वह ऐसी अवैध इच्छाएँ करने के पूर्व आत्महत्या कर ले।" इस तरह शुद्धि की ये विधियाँ हैं।

अगला गुण है, *ज्ञानयोग व्यवस्थिति*—ज्ञान के अनुशीलन में संलग्न रहना। संन्यासी का जीवन गृहस्थों तथा उन सबों को, जो आध्यात्मिक उन्नति के वास्तविक जीवन को भूल चुके हैं, ज्ञान वितरित करने के लिए होता है। संन्यासी से आशा की जाती है कि वह अपनी जीविका के लिए द्वार-द्वार भिक्षाटन करे, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वह भिक्षुक है। विनयशीलता भी आध्यात्मिकता में स्थित मनुष्य की एक योग्यता है। *संन्यासी मात्र विनयशीलता वश द्वार-द्वार जाता है, भिक्षाटन के उद्देश्य से नहीं जाता,* अपितु गृहस्थों को दर्शन देने तथा उनमें कृष्णभावनामृत जगाने के लिए जाता है। यह सन्यासी का कर्तव्य है। यदि वह वास्तव में उन्नत है और उसे गुरु का आदेश प्राप्त है, तो उसे तर्क तथा ज्ञान द्वारा कृष्णभावनामृत का उपदेश करना चाहिए और यदि वह इतना उन्नत नहीं है, तो उसे संन्यास आश्रम ग्रहण नहीं करना चाहिए। लेकिन यदि किसी ने पर्याप्त ज्ञान के बिना ही सन्यास आश्रम स्वीकार कर लिया है, तो उसे ज्ञान अनुशीलन के लिए प्रामाणिक गुरु से श्रवण में रत होना चाहिए। सन्यासी को निर्भीक होना चाहिए, उसे *सत्त्वसंशुद्धि* तथा *ज्ञानयोग* में स्थित होना चाहिए।

अगला गुण *दान* है। दान गृहस्थों के लिए है। गृहस्थों को चाहिए कि वे निष्कपटता से जीवनयापन करना सीखें और कमाई का पचास प्रतिशत विश्व भर में कृष्णभावनामृत के प्रचार में खर्च करें। इस प्रकार से गृहस्थ को चाहिए कि ऐसे कार्य में लगे सम्थान-समितियों को दान दें। दान योग्य पात्र को दिया जाना चाहिए। जैसा आगे वर्णन किया जाएगा, दान भी कई तरह का होता है—यथा सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण में दिया गया दान। सतोगुण में दिये जाने वाले दान की संस्तुति शास्त्रों ने की है, लेकिन रजो तथा तमोगुण में दिये गये दान की संस्तुति नहीं है, क्योंकि यह धन का अपव्यय मात्र है। संसार भर में कृष्णभावनामृत के प्रसार हेतु ही दान दिया जाना चाहिए। ऐसा दान सतोगुणी होता है।

जहाँ तक दम (आत्मसंयम) का प्रश्न है, यह धार्मिक समाज के अन्य आश्रमों के ही लिए नहीं है, अपितु गृहस्थ के लिए विशेष रूप से है। यद्यपि उसके पत्नी होती है, लेकिन उसे चाहिए कि व्यर्थ ही अपनी इन्द्रियों को विषयभोग की ओर न मोडे। गृहस्थों पर भी मैथुन-जीवन के लिए प्रतिबन्ध है और इसका उपयोग केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए किया जाना चाहिए। यदि वह सन्तान नहीं चाहता, तो उसे अपनी पत्नी के साथ विषय-भोग में लिप्त नहीं होना चाहिए। आधुनिक समाज मैथुन-जीवन का भोग करने के लिए निरोध-विधियों का या अन्य घृणित विधियों का उपयोग करता है, जिसमें सन्तान का उत्तरदायित्व न उठाना पड़े। *यह दिव्य गुण नहीं, अपितु आसुरी गुण है।* यदि कोई व्यक्ति, चाहे वह गृहस्थ ही क्यों न हो, आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करना चाहता है, तो उसे अपने मैथुन-जीवन पर संयम रखना होगा और उसे [illegible]न नहीं उत्पन्न करनी चाहिए, जो कृष्ण की सेवा में काम न आए। यदि [illegible]

उत्पन्न करता है, जो कृष्णभावनाभावित हो सके, तो वह सैकड़ों सन्तानें उत्पन्न कर सकता है। लेकिन ऐसी क्षमता के विना किसी को इन्द्रियसुख के लिए काम-भोग में लिप्त नहीं होना चाहिए।

गृहस्थों को यज्ञ भी करना चाहिए, क्योंकि यज्ञ के लिए पर्याप्त धन चाहिए। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम वालों के पास धन नहीं होता। वे तो भिक्षाटन करके जीवित रहते हैं। अतएव विभिन्न प्रकार के यज्ञ गृहस्थों के दायित्व हैं। उन्हें चाहिए कि वैदिक साहित्य द्वारा आदिष्ट अग्निहोत्र यज्ञ करें, लेकिन आज-कल ऐसे यज्ञ अत्यन्त खर्चीले हैं और हर किसी गृहस्थ के लिए इन्हें सम्पन्न कर पाना कठिन है। इस युग के लिए संस्तुत सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है—संकीर्तनयज्ञ। यह संकीर्तनयज्ञ—*हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे*—का जप सर्वोत्तम और सवसे कम खर्च वाला यज्ञ है और प्रत्येक व्यक्ति इसे करके लाभ उठा सकता है। अतएव दान, इन्द्रियसंयम तथा यज्ञ करना—ये तीन वातें गृहस्थ के लिए हैं।

स्वाध्याय या वेदाध्ययन ब्रह्मचर्य आश्रम या विद्यार्थी जीवन के लिए है। ब्रह्मचारियों का स्त्रियों से किसी प्रकार का सम्वन्ध नहीं होना चाहिए। उन्हें ब्रह्मचर्यजीवन विताना चाहिए और आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन हेतु, अपना मन वेदों के अध्ययन में लगाना चाहिए। यही स्वाध्याय है।

तपस् या तपस्या वानप्रस्थों के लिए है। मनुष्य को जीवन भर गृहस्थ ही नहीं वने रहना चाहिए। उसे स्मरण रखना होगा कि जीवन के चार विभाग हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। अतएव गृहस्थ रहने के वाद उसे विरक्त हो जाना चाहिए। यदि कोई एक सौ वर्ष जीवित रहता है, तो उसे २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य, २५ वर्ष तक गृहस्थ, २५ वर्ष तक वानप्रस्थ तथा २५ वर्ष तक संन्यास का जीवन विताना चाहिए। ये वैदिक धार्मिक अनुशासन के नियम हैं। गृहस्थ जीवन से विरक्त होने पर मनुष्य को शरीर, मन तथा वाणी का संयम वरतना चाहिए। यही तपस्या है। समग्र वर्णाश्रमधर्म समाज ही तपस्या के निमित्त है। तपस्या के विना किसी को मुक्ति नहीं मिल सकती। इस सिद्धान्त की संस्तुति न तो वैदिक साहित्य में की गई है, न *भगवद्गीता* में कि जीवन में तपस्या की आवश्यकता नहीं है और कोई कल्पनात्मक चिन्तन करता रहे तो सव कुछ ठीक हो जायगा। ऐसे सिद्धान्त तो उन दिखावटी अध्यात्मवादियों द्वारा वनाये जाते हैं, जो अधिक से अधिक अनुयायी वनाना चाहते हैं। यदि प्रतिवन्ध हों, विधि-विधान हों तो लोग इस प्रकार आकर्पित न हों। अतएव जो लोग धर्म के नाम पर अनुयायी चाहते हैं, वे केवल दिखावा करते हैं, वे अपने विद्यार्थियों के जीवनों पर कोई प्रतिवन्ध नहीं लगाते और न ही अपने जीवन पर। लेकिन वेदों में ऐसी विधि को स्वीकृति प्रदान नहीं की गई।

जहाँ तक व्राह्मणों की सरलता (*आर्जवम्*) का सम्वन्ध है, इसका पालन न केवल किसी एक आश्रम में किया जाना चाहिए, अपितु चारों आश्रमों के प्रत्येक सदस्य को करना चाहिए चाहे वह ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा संन्यास आश्रम में हो। मनुष्य को अत्यन्त सरल तथा सीधा होना चाहिए।

अहिंसा का अर्थ है किसी जीव के प्रगतिशील जीवन को न रोकना। किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि चूँकि शरीर के वध किये जाने के वाद भी आत्मा-स्फुलिंग नहीं

मरता, इसलिए इन्द्रियतृप्ति के लिए पशुवध करने में कोई हानि नहीं है। प्रचुर अन्न, फल तथा दुग्ध की पूर्ति होते हुए भी आजकल लोगों में पशुओं का मांस खाने की लत पड़ी हुई है। लेकिन पशुओं के वध की कोई आवश्यकता नहीं है। यह आदेश हर एक के लिए है। जब कोई विकल्प न रहे, तभी पशुवध किया जाय। लेकिन इसकी यज्ञ में बलि की जाय। जो भी हो, जब मानवता के लिए प्रचुर भोजन हो, तो जो लोग आध्यात्मिक साक्षात्कार में प्रगति करने के इच्छुक हैं, उन्हें पशुहिंसा नहीं करनी चाहिए। वास्तविक अहिंसा का अर्थ है कि किसी के प्रगतिशील जीवन को रोका न जाय। पशु भी अपने विकास काल में एक पशुयोनि से दूसरी पशुयोनि में देहान्तरण करके प्रगति करते हैं। यदि किसी विशेष पशु का वध कर दिया जाता है, तो उसकी प्रगति रुक जाती है। यदि कोई पशु किसी शरीर में बहुत दिनों से या वर्षों से रह रहा हो और उसे असमय ही मार दिया जाय तो उसे पुन: उसी जीवन में वापस आकर शेष दिन पूरे करने के बाद ही दूसरी योनि में जाना पड़ता है। अतएव अपने स्वाद की तुष्टि के लिए किसी की प्रगति को नहीं रोकना चाहिए। यही अहिंसा है।

सत्यम् का अर्थ है कि मनुष्य को अपने स्वार्थ के लिए सत्य को तोड़ना-मरोड़ना नहीं चाहिए। वैदिक साहित्य में कुछ अंश अत्यन्त कठिन हैं, लेकिन उनका अर्थ किसी प्रामाणिक गुरु से जानना चाहिए। वेदों को समझने की यही विधि है। श्रुति का अर्थ है, किसी अधिकारी से सुनना। मनुष्य को चाहिए कि अपने स्वार्थ के लिए कोई विवेचना न गढ़े। *भगवद्गीता* की अनेक टीकाएँ हैं, जिसमें मूलपाठ की गलत व्याख्या की गई है। शब्द का वास्तविक भावार्थ प्रस्तुत किया जाना चाहिए और इसे प्रामाणिक गुरु से ही सीखना चाहिए।

अक्रोध का अर्थ है, क्रोध को रोकना। यदि कोई क्षुब्ध बनावे तो भी सहिष्णु बने रहना चाहिए, क्योंकि एक बार क्रोध करने पर सारा शरीर दूषित हो जाता है। क्रोध रजोगुण तथा काम से उत्पन्न होता है। अतएव जो योगी है उसे क्रोध पर नियन्त्रण रखना चाहिए। *अपैशुनम्* का अर्थ है कि दूसरे के दोष न निकाले और व्यर्थ ही उन्हें सही न करे। निस्सन्देह चोर को चोर कहना छिद्रान्वेषण नहीं है, लेकिन निष्कपट व्यक्ति को चोर कहना उस व्यक्ति के लिए परम अपराध होगा जो आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करना चाहता है। *ह्री* का अर्थ है कि मनुष्य अत्यन्त लज्जाशील हो और कोई गर्हित कार्य न करे। *अचापलम्* या संकल्प का अर्थ है कि मनुष्य किसी प्रयास से विचलित या उदास न हो। किसी प्रयास में भले ही असफलता क्यों न मिले, किन्तु मनुष्य को उसके लिए खिन्न नहीं होना चाहिए। उसे धैर्य तथा संकल्प के साथ प्रगति करनी चाहिए।

यहाँ पर प्रयुक्त *तेजस्* शब्द क्षत्रियों के निमित्त है। क्षत्रियों को अत्यन्त बलशाली होना चाहिए, जिससे वे निर्बलों की रक्षा कर सकें। उन्हें अहिंसक होने का दिखावा नहीं करना चाहिए। यदि हिंसा की आवश्यकता पड़े, तो हिंसा दिखानी चाहिए। लेकिन जो व्यक्ति अपने शत्रु का दमन कर सकता है, उसे चाहिए कि कुछ विशेष परिस्थितियों में क्षमा कर दे। वह छोटे अपराधों के लिए क्षमा-दान कर सकता है।

शौचम् का अर्थ है पवित्रता, जो न केवल मन तथा शरीर की हो, अपितु व्यवहार में भी हो। यह विशेष रूप से वणिक वर्ग के लिए है। उन्हें चाहिए कि वे काला बाजारी

न करें। *नाति-मानिता* अर्थात् सम्मान की आशा न करना शूद्रों अर्थात् श्रमिक वर्ग के लिए है, जिन्हें वैदिक आदेशों के अनुसार चारों वर्णों में सबसे निम्न माना जाता है। उन्हें वृथा सम्मान या प्रतिष्ठा से फूलना नहीं चाहिए, वल्कि अपनी मर्यादा में बने रहना चाहिए। शूद्रों का कर्तव्य है कि सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए वे उच्चवर्णों का सम्मान करें।

यहाँ पर वर्णित छब्बीसों गुण दिव्य हैं। वर्णाश्रमधर्म के अनुसार इनका आचरण होना चाहिए। सारांश यह है कि भले ही भौतिक परिस्थितियाँ शोचनीय हों, यदि सभी वर्णों के लोग इन गुणों का अभ्यास करें, तो वे क्रमशः आध्यात्मिक अनुभूति के सर्वोच्च पद तक उठ सकते हैं।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥ ४॥

दम्भः—अहंकार; **दर्पः**—घमण्ड; **अभिमानः**—गर्व; **च**—भी; **क्रोधः**—क्रोध, गुस्सा; **पारुष्यम्**—निष्ठुरता; **एव**—निश्चय ही; **च**—तथा; **अज्ञानम्**—अज्ञान; **च**—तथा; **अभिजातस्य**—उत्पन्न हुए के; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **सम्पदम्**—गुण; **आसुरीम्**—आसुरी प्रकृति।

हे पृथापुत्र! दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता तथा अज्ञान—ये आसुरी स्वभाव वालों के गुण हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में नरक के राजमार्ग का वर्णन है। आसुरी स्वभाव वाले लोग धर्म तथा आत्मविद्या की प्रगति का आडम्बर रचना चाहते हैं, भले ही वे उनके सिद्धान्तों का पालन न करते हों। वे सदैव किसी शिक्षा या प्रचुर सम्पत्ति का अधिकारी होने का दर्प करते हैं। वे चाहते हैं कि अन्य लोग उनकी पूजा करें और सम्मान दिखलाएँ, भले ही वे सम्मान के योग्य न हों। वे छोटी-छोटी वातों पर क्रुद्ध हो जाते हैं खरी-खोटी सुनाते हैं और नम्रता से नहीं वोलते। वे यह नहीं जानते कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। वे अपनी इच्छानुसार, सनकवश, सारे कार्य करते हैं, वे किसी प्रमाण को नहीं मानते। वे ये आसुरी गुण तभी से प्राप्त करते हैं, जव वे अपनी माताओं के गर्भ में होते हैं और ज्यों-ज्यों वे वढ़ते हैं, त्यों-त्यों ये अशुभ गुण प्रकट होते हैं।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ ५॥

दैवी—दिव्य; **सम्पत्**—सम्पत्ति; **विमोक्षाय**—मोक्ष के लिए; **निबन्धाय**—वन्धन के लिए; **आसुरी**—आसुरी गुण; **मता**—माने जाते हैं; **मा**—मत; **शुचः**—चिन्ता करो; **सम्पदम्**—सम्पत्ति; **दैवीम्**—दिव्य; **अभिजातः**—उत्पन्न; **असि**—हो; **पाण्डव**—हे पाण्डुपुत्र।

दिव्य गुण मोक्ष के लिए अनुकूल हैं और आसुरी गुण बन्धन दिलाने के लिए हैं। हे पाण्डुपुत्र! तुम चिन्ता मत करो, क्योंकि तुम दैवी गुणों से युक्त होकर जन्मे हो।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण अर्जुन को यह कह कर प्रोत्साहित करते हैं कि वह आसुरी गुणों के साथ नहीं जन्मा है। युद्ध में उसका सम्मिलित होना आसुरी नहीं है, क्योंकि वह उसके

गुण-दोषों पर विचार कर रहा था। वह यह विचार कर रहा था कि भीष्म तथा द्रोण जैसे प्रतिष्ठित महापुरुषों का वध किया जाये या नहीं, अतएव वह न तो क्रोध के वशीभूत होकर कार्य कर रहा था, न झूठी प्रतिष्ठा या निष्ठुरता के अधीन होकर। अतएव वह आसुरी स्वभाव का नहीं था। क्षत्रिय के लिए शत्रु पर बाण बरसाना दिव्य माना जाता है और ऐसे कर्तव्य से विमुख होना आसुरी। अतएव अर्जुन के लिए शोक (संताप) करने का कोई कारण न था। जो कोई भी जीवन के विभिन्न आश्रमों के विधानों का पालन करता है, वह दिव्य पद पर स्थित होता है।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥ ६॥

द्वौ–दो; **भूत-सर्गौ**–जीवों की सृष्टियाँ, **लोके**–संसार में, **अस्मिन्**–इस, **दैवः**–दैवी, **आसुरः**–आसुरी, **एव**–निश्चय ही, **च**–तथा, **दैवः**–दैवी, **विस्तरशः**–विस्तार से, **प्रोक्तः**–कहा गया; **आसुरम्**–आसुरी, **पार्थ**–हे पृथापुत्र, **मे**–मुझसे, **शृणु**–सुनो।

हे पृथापुत्र! इस संसार में सृजित प्राणी दो प्रकार के हैं—दैवी तथा आसुरी। मैं पहले ही विस्तार से तुम्हें दैवी गुण बतला चुका हूँ। अब मुझसे आसुरी गुणों के विषय में सुनो।

तात्पर्य : अर्जुन को यह कह कर कि वह दैवीगुणों से सम्पन्न होकर जन्मा है, भगवान् कृष्ण अब उसे आसुरी गुण बताते हैं। इस संसार में बद्धजीव दो श्रेणियों में बँटे हुए हैं। जो जीव दिव्यगुणों से सम्पन्न होते हैं, वे नियमित जीवन बिताते हैं, अर्थात् वे शास्त्रों तथा विद्वानों द्वारा बताये गये आदेशों का निर्वाह करते हैं। मनुष्य को चाहिए कि प्रामाणिक शास्त्रों के अनुसार ही कर्तव्य निभाए, यह प्रकृति दैवी कहलाती है। जो शास्त्रविहित विधानों को नहीं मानता और अपनी सनक के अनुसार कार्य करता रहता है, वह आसुरी कहलाता है। शास्त्र के विधिविधानों के प्रति आज्ञा-भाव ही एकमात्र कसौटी है, अन्य नहीं। वैदिक साहित्य में उल्लेख है कि देवता तथा असुर दोनों ही प्रजापति से उत्पन्न हुए, अन्तर इतना ही है कि एक श्रेणी के लोग वैदिक आदेशों को मानते हैं और दूसरे नहीं मानते।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ ७॥

प्रवृत्तिम्–ठीक से कर्म करना, **च**–भी, **निवृत्तिम्**–अनुचित ढंग से कर्म न करना, **च**–तथा, **जनाः**–लोग, **न**–कभी नहीं, **विदुः**–जानते, **आसुराः**–आसुरी गुण के, **न**–कभी नहीं **शौचम्**–पवित्रता, **न**–न तो, **अपि**–भी, **च**–तथा, **आचारः**–आचरण, **न**–कभी नहीं, **सत्यम्**–सत्य, **तेषु**–उनमें, **विद्यते**–होता है।

जो आसुरी हैं, वे यह नहीं जानते कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। उनमें न तो पवित्रता, न उचित आचरण और न ही सत्य पाया जाता है।

तात्पर्य : प्रत्येक सभ्य मानव समाज में कुछ आचार-संहिताएँ होती हैं, जिनका प्रारम्भ से पालन करना होता है। विशेपतया आर्यगण, जो वैदिक सभ्यता को मानते हैं और अत्यन्त सभ्य माने जाते हैं, इनका पालन करते हैं। किन्तु जो शास्त्रीय आदेशों को नहीं मानते, वे असुर समझे जाते हैं। इसीलिए यहाँ पर कहा गया है कि असुरगण न तो शास्त्रीय नियमों को जानते हैं, न उनमें इनके पालन करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। उनमें से अधिकांश इन नियमों को नहीं जानते और जो थोड़े से लोग जानते भी हैं, उनमें इनके पालन करने की प्रवृत्ति नहीं होती। उन्हें न तो वैदिक आदेशों में कोई श्रद्धा होती है, न ही वे उसके अनुसार कार्य करने के इच्छुक होते हैं। असुरगण न तो वाहर से, न भीतर से स्वच्छ होते हैं। मनुष्य को चाहिए कि स्नान करके, दंतमंजन करके, वाल वना कर, वस्त्र वदल कर शरीर को स्वच्छ रखे। जहाँ तक आन्तरिक स्वच्छता की वात है, मनुष्य को चाहिए कि वह सदैव ईश्वर के पवित्र नामों का स्मरण करे और *हरे कृष्ण* महामन्त्र का कीर्तन करे। असुरगण वाह्य तथा आन्तरिक स्वच्छता के इन नियमों को न तो चाहते हैं, न इनका पालन ही करते हैं।

जहाँ तक आचरण की वात है, मानव आचरण का मार्गदर्शन करने वाले अनेक विधि-विधान हैं, जैसे *मनु-संहिता,* जो मानवजाति का अधिनियम है। यहाँ तक कि आज भी सारे हिन्दू मनुसंहिता का ही अनुगमन करते हैं। इसी ग्रंथ से उत्तराधिकार तथा अन्य विधि सम्वन्धी वातें ग्रहण की जाती हैं। मनुसंहिता में स्पप्ट कहा गया है कि स्त्री को स्वतन्त्रता न प्रदान की जाय। इसका अर्थ यह नहीं होता कि स्त्रियों को दासी वना कर रखा जाय। वे तो वालकों के समान हैं। वालकों को स्वतन्त्रता नहीं दी जाती, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वे दास वना कर रखे जाते हैं। लेकिन असुरों ने ऐसे आदेशों की उपेक्षा कर दी है और वे सोचने लगे हैं कि स्त्रियों को पुरुपों के समान ही स्वतन्त्रता प्रदान की जाय। लेकिन इससे संसार की सामाजिक स्थिति में सुधार नहीं हुआ। वास्तव में स्त्री को जीवन की प्रत्येक अवस्था में सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए। उसके वाल्यकाल में पिता द्वारा संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए, तारुण्य में पति द्वारा और वुढ़ापे में वड़े पुत्रों द्वारा। मनु-संहिता के अनुसार यही उचित सामाजिक आचरण है। लेकिन आधुनिक शिक्षा ने नारी जीवन का एक अतिरंजित अहंकारपूर्ण वोध उत्पन्न कर दिया है, अतएव अव विवाह एक कल्पना वन चुका है। स्त्री की नैतिक स्थिति भी अव वहुत अच्छी नहीं रह गई है। अतएव असुरगण कोई ऐसा उपदेश ग्रहण नहीं करते, जो समाज के लिए अच्छा हो। चूँकि वे महर्पियों के अनुभवों तथा उनके द्वारा निर्धारित विधि-विधानों का पालन नहीं करते, अतएव आसुरी लोगों की सामाजिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय है।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥ ८॥

असत्यम्—मिथ्या; **अप्रतिष्ठम्**—आधाररहित; **ते**—वे; **जगत्**—दृश्य जगत्; **आहुः**—कहते हैं; **अनीश्वरम्**—विना नियामक के; **अपरस्पर**—विना कारण के; **सम्भूतम्**—उत्पन्न; **किम्-अन्यत्**—अन्य कोई कारण नहीं है; **काम-हैतुकम्**—केवल काम के कारण।

वे कहते हैं कि यह जगत् मिथ्या है, इसका कोई आधार नहीं है और इसका नियमन किसी ईश्वर द्वारा नहीं होता। उनका कहना है कि यह कामेच्छा से उत्पन्न होता है और काम के अतिरिक्त कोई अन्य कारण नहीं है।

तात्पर्य : आसुरी लोग यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यह जगत् मायाजाल है। इसका न कोई कारण है, न कार्य, न नियामक, न कोई प्रयोजन—हर वस्तु मिथ्या है। उनका कहना है कि यह दृश्य जगत् आकस्मिक भौतिक क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं के कारण है। वे यह नहीं सोचते कि ईश्वर ने किसी प्रयोजन से इस संसार की रचना की है। उनका अपना सिद्धान्त है कि यह ससार अपने आप उत्पन्न हुआ है और यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं कि इसके पीछे किसी ईश्वर का हाथ है। उनके लिए आत्मा तथा पदार्थ में कोई अन्तर नहीं होता और वे परम आत्मा को स्वीकार नहीं करते। उनके लिए हर वस्तु पदार्थ मात्र है और यह पूरा जगत् मानो अज्ञान का पिण्ड हो। उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु शून्य है और जो भी सृष्टि दिखती है, वह केवल दृष्टि-भ्रम के कारण है। वे इसे सच मान बैठते हैं कि विभिन्नता से पूर्ण यह सारी सृष्टि अज्ञान का प्रदर्शन है। जिस प्रकार स्वप्न मे हम ऐसी अनेक वस्तुओं की सृष्टि कर सकते हैं, जिनका वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं होता, अतएव जब हम जाग जाते हैं, तो देखते हैं कि सब कुछ स्वप्नमात्र था। लेकिन वास्तव में, यद्यपि असुर यह कहते हैं कि जीवन स्वप्न है, लेकिन वे इस स्वप्न को भोगने में बड़े कुशल होते है। अतएव वे ज्ञानार्जन करने के बजाय अपने स्वप्नलोक में अधिकाधिक उलझ जाते है। उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार शिशु केवल स्त्रीपुरुष के सम्भोग का फल है, उसी तरह यह ससार बिना किसी आत्मा के उत्पन्न हुआ है। उनके लिए यह पदार्थ का सयोगमात्र है, जिसने जीवों को उत्पन्न किया, अतएव आत्मा के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता। जिस प्रकार अनेक जीवित प्राणी अकारण पसीने ही से (स्वेदज) तथा मृत शरीर से उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार यह सारा जीवित ससार दृश्य जगत् के भौतिक सयोगों से प्रकट हुआ है। अतएव प्रकृति ही इस संसार की कारणस्वरूपा है, इसका कोई अन्य कारण नहीं है। वे *भगवद्गीता* में कहे गये कृष्ण के इन वचनों को नहीं मानते—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*—सारा भौतिक जगत् मेरे ही निर्देश के अन्तर्गत गतिशील है। दूसरे शब्दों में, असुरों को संसार की सृष्टि के विषय में पूरा-पूरा ज्ञान नहीं है, प्रत्येक का अपना कोई न कोई सिद्धान्त है। उनके अनुसार शास्त्रों की कोई एक व्याख्या दूसरी व्याख्या के ही समान है, क्योंकि वे शास्त्रीय आदेशों के मानक ज्ञान में विश्वास नहीं करते।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

एताम्—इस, **दृष्टिम्**—दृष्टि को, **अवष्टभ्य**—स्वीकार करके, **नष्ट**—खोकर, **आत्मानः**—अपने आप, **अल्प-बुद्धयः**—अल्पज्ञानी, **प्रभवन्ति**—फूलते-फलते है, **उग्र-कर्माणः**—कष्टकारक कर्मों में प्रवृत्त, **क्षयाय**—विनाश के लिए, **जगतः**—संसार का, **अहिताः**—अनुपयोगी।

ऐसे निष्कर्षों का अनुगमन करते हुए आसुरी लोग, जिन्होंने आत्म-ज्ञान खो दिया

है और जो बुद्धिहीन हैं, ऐसे अनुपयोगी एवं भयावह कार्यों में प्रवृत्त होते हैं जो संसार का विनाश करने के लिए होता है।

तात्पर्य : आसुरी लोग ऐसे कार्यों में व्यस्त रहते हैं जिनसे संसार का विनाश हो जाये। भगवान् यहाँ कहते हैं कि वे कम वुद्धि वाले हैं। भौतिकवादी, जिन्हें ईश्वर का कोई वोध नहीं होता, सोचते हैं कि वे प्रगति कर रहे हैं। लेकिन *भगवद्गीता* के अनुसार वे वुद्धिहीन तथा समस्त विचारों से शून्य होते हैं। वे इस भौतिक जगत् का अधिक से अधिक भोग करने का प्रयत्न करते हैं, अतएव इन्द्रियतृप्ति के लिए वे कुछ न कुछ नया आविष्कार करते रहते हैं। ऐसे भौतिक आविष्कारों को मानवसभ्यता का विकास माना जाता है, लेकिन इसका दुष्परिणाम यह होता है कि लोग अधिकाधिक हिंसक तथा क्रूर होते जाते हैं—वे पशुओं के प्रति क्रूर हो जाते हैं और अन्य मनुष्यों के प्रति भी। उन्हें इसका कोई ज्ञान नहीं कि एक दूसरे से किस प्रकार व्यवहार किया जाय। आसुरी लोगों में पशुवध अत्यन्त प्रधान होता है। ऐसे लोग संसार के शत्रु समझे जाते हैं, क्योंकि वे अन्ततः ऐसा आविष्कार कर लेंगे या कुछ ऐसी सृष्टि कर देंगे जिससे सवका विनाश हो जाय। अप्रत्यक्षतः यह श्लोक नाभिकीय अस्त्रों के आविष्कार की पूर्व सूचना देता है, जिसका आज सारे विश्व को गर्व है। किसी भी क्षण युद्ध हो सकता है और ये परमाणु हथियार विनाशलीला उत्पन्न कर सकते हैं। ऐसी वस्तुएँ संसार के विनाश के उद्देश्य से ही उत्पन्न की जाती हैं और यहाँ पर इसका संकेत किया गया है। ईश्वर के प्रति अविश्वास के कारण ही ऐसे हथियारों का आविष्कार मानव समाज में किया जाता है—वे संसार की शान्ति तथा सम्पन्नता के लिए नहीं होते।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥१०॥

कामम्—काम, विषयभोग की; **आश्रित्य**—शरण लेकर; **दुष्पूरम्**—अपूरणीय, अतृप्त; **दम्भ**—गर्व; **मान**—तथा झूठी प्रतिष्ठा का; **मद-अन्विताः**—मद में चूर; **मोहात्**—मोह से; **गृहीत्वा**—ग्रहण करके; **असत्**—क्षणभंगुर; **ग्राहान्**—वस्तुओं को; **प्रवर्तन्ते**—फलते फूलते हैं; **अशुचि**—अपवित्र; **व्रताः**—व्रत लेने वाले।

कभी न संतुष्ट होने वाले काम का आश्रय लेकर तथा गर्व के मद एवं मिथ्या प्रतिष्ठा में डूबे हुए आसुरी लोग इस तरह मोहग्रस्त होकर सदैव क्षणभंगुर वस्तुओं के द्वारा अपवित्र कर्म का व्रत लिए रहते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर आसुरी मनोवृत्ति का वर्णन हुआ है। असुरों में काम कभी तृप्त नहीं होता। वे भौतिक भोग के लिए अपनी अतृप्त इच्छाएँ वढ़ाते चले जाते हैं। यद्यपि वे क्षणभंगुर वस्तुओं को स्वीकार करने के कारण सदैव चिन्तामग्न रहते हैं, तो भी वे मोहवश ऐसे कार्य करते जाते हैं। उन्हें कोई ज्ञान नहीं होता, अतएव वे यह नहीं कह पाते कि वे गलत दिशा में जा रहे हैं। क्षणभंगुर वस्तुओं को स्वीकार करने के कारण वे अपना निजी ईश्वर निर्माण कर लेते हैं, अपने निजी मन्त्र वना लेते हैं और तदनुसार कीर्तन करते हैं। इसका फल यह होता है कि वे दो वस्तुओं की ओर अधिकाधिक

आकृष्ट होते हैं—काममोग तथा सम्पत्ति संचय। इस प्रसंग में अशुचि-व्रताः शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है 'अपवित्र व्रत'। ऐसे आसुरी लोग मद्य, स्त्रियों, द्यूत क्रीड़ा तथा मांसाहार के प्रति आसक्त होते हैं—ये ही उनकी अशुचि अर्थात् अपवित्र (गंदी) आदतें हैं। दर्प तथा अहंकार से प्रेरित होकर वे ऐसे धार्मिक सिद्धान्त बनाते हैं, जिनकी अनुमति वैदिक आदेश नहीं देते। यद्यपि ऐसे आसुरी लोग अत्यन्त निन्दनीय होते हैं, लेकिन संसार में कृत्रिम साधनों से ऐसे लोगों का झूठा सम्मान किया जाता है। यद्यपि वे नरक की ओर बढ़ते रहते हैं, लेकिन वे अपने को बहुत बड़ा मानते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥१२॥

चिन्ताम्–भय तथा चिन्ताओं का, अपरिमेयाम्–अपार; च–तथा, प्रलय-अन्ताम्–मरणकाल तक, उपाश्रिताः–शरणागत; काम-उपभोग–इन्द्रियतृप्ति, परमाः–जीवन का परम लक्ष्य, एतावत्–इतना; इति–इस प्रकार; निश्चिताः–निश्चित करके; आशा-पाश–आशा रूप बन्धन, शतैः–सैकड़ों के द्वारा, बद्धाः–बँधे हुए; काम–काम, क्रोध–तथा क्रोध में, परायणाः–सदैव स्थित, ईहन्ते–इच्छा करते हैं; काम–काम; भोग–इन्द्रियभोग, अर्थम्–के निमित्त, अन्यायेन–अवैध रूप से, अर्थ–धन का, सञ्चयान्–संग्रह।

उनका विश्वास है कि इन्द्रियों की तुष्टि ही मानव सभ्यता की मूल आवश्यकता है। इस प्रकार मरणकाल तक उनको अपार चिन्ता होती रहती है। वे लाखों इच्छाओं के जाल में बँधकर तथा काम और क्रोध में लीन होकर इन्द्रियतृप्ति के लिए अवैध ढंग से धनसंग्रह करते हैं।

तात्पर्य : आसुरी लोग मानते हैं कि इन्द्रियों का भोग ही जीवन का चरमलक्ष्य है और ये आमरण इसी विचारधारा को धारण किये रहते हैं। वे मृत्यु के बाद जीवन में विश्वास नहीं करते। वे यह नहीं मानते कि मनुष्य को इस जगत् में अपने कर्म के अनुसार विविध प्रकार के शरीर धारण करने पड़ते हैं। जीवन के लिए उनकी योजनाओं का अन्त नहीं होता और वे एक के बाद एक योजना बनाते रहते हैं जो कभी समाप्त नहीं होतीं। हमें ऐसे एक व्यक्ति की ऐसी आसुरी मनोवृत्ति का निजी अनुभव है, जो मरणकाल तक अपने वैद्य से अनुनय-विनय करता रहा कि वह किसी तरह उसके जीवन की अवधि चार वर्ष बढ़ा दे, क्योंकि उसकी योजनाएँ तब भी अधूरी थीं। ऐसे मूर्ख लोग यह नहीं जानते कि वैद्य क्षणभर भी जीवन को नहीं बढ़ा सकता। जब मृत्यु का बुलावा आ जाता है, तो मनुष्य की इच्छा पर ध्यान नहीं दिया जाता। प्रकृति के नियम किसी को निश्चित अवधि के आगे क्षणभर भी भोग करने की अनुमति प्रदान नहीं करते।

आसुरी मनुष्य, जो ईश्वर या अपने अन्तर में स्थित परमात्मा में श्रद्धा नहीं रखता, केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए सभी प्रकार के पापकर्म करता रहता है। वह नहीं जानता कि उसके हृदय के भीतर एक साक्षी बैठा है। परमात्मा प्रत्येक जीवात्मा के कार्यों को

देखता रहता है। जैसा कि *उपनिषदों* में कहा गया है कि एक वृक्ष में दो पक्षी वैठे हैं, एक पक्षी कर्म करता हुआ टहनियों में लगे सुख-दुख रूपी फलों को भोग रहा है और दूसरा उसका साक्षी है। लेकिन आसुरी मनुष्य को न तो वैदिकशास्त्र का ज्ञान है, न कोई श्रद्धा है। अतएव वह इन्द्रियभोग के लिए कुछ भी करने के लिए अपने को स्वतन्त्र मानता है, उसे परिणाम की परवाह नहीं रहती।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥ १४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥

इदम्—यह; **अद्य**—आज; **मया**—मेरे द्वारा; **लब्धम्**—प्राप्त; **इमम्**—इसे; **प्राप्स्ये**—प्राप्त करूँगा; **मनः-रथम्**—इच्छित; **इदम्**—यह; **अस्ति**—है; **इदम्**—यह; **अपि**—भी; **मे**—मेरा; **भविष्यति**—भविष्य में वढ़ जायगा; **पुनः**—फिर; **धनम्**—धन; **असौ**—वह; **मया**—मेरे; **हतः**—मारा गया; **शत्रुः**—शत्रु; **हनिष्ये**—मारूँगा; **च**—भी; **अपरान्**—अन्यों को; **अपि**—निश्चय ही; **ईश्वरः**—प्रभु, स्वामी; **अहम्**—मैं हूँ; **अहम्**—मैं हूँ; **भोगी**—भोक्ता; **सिद्धः**—सिद्ध; **अहम्**—मैं हूँ; **बलवान्**—शक्तिशाली; **सुखी**—प्रसन्न; **आढ्यः**—धनी; **अभिजन-वान्**—कुलीन सम्वन्धियों से घिरा; **अस्मि**—मैं हूँ; **कः**—कौन; **अन्यः**—दूसरा; **अस्ति**—है; **सदृशः**—समान; **मया**—मेरे द्वारा; **यक्ष्ये**—मैं यज्ञ करूँगा; **दास्यामि**—दान दूँगा; **मोदिष्ये**—आमोद-प्रमोद मनाऊँगा; **इति**—इस प्रकार; **अज्ञान**—अज्ञानतावश; **विमोहिताः**—मोहग्रस्त।

आसुरी व्यक्ति सोचता है, आज मेरे पास इतना धन है और अपनी योजनाओं से मैं और अधिक धन कमाऊँगा। इस समय मेरे पास इतना है किन्तु भविष्य में यह बढ़कर और अधिक हो जायेगा। वह मेरा शत्रु है और मैंने उसे मार दिया है और मेरे अन्य शत्रु भी मार दिए जाएंगे। मैं सभी वस्तुओं का स्वामी हूँ। मैं भोक्ता हूँ। मैं सिद्ध, शक्तिमान् तथा सुखी हूँ। मैं सबसे धनी व्यक्ति हूँ और मेरे आसपास मेरे कुलीन सम्बन्धी हैं। कोई अन्य मेरे समान शक्तिमान तथा सुखी नहीं है। मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और इस तरह आनन्द मनाऊँगा। इस प्रकार ऐसे व्यक्ति अज्ञानवश मोहग्रस्त होते रहते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६॥

अनेक—कई; **चित्त**—चिन्ताओं से; **विभ्रान्ताः**—उद्विग्न; **मोह**—मोह में; **जाल**—जाल से; **समावृताः**—घिरे हुए; **प्रसक्ताः**—आसक्त; **काम-भोगेषु**—इन्द्रियतृप्ति में; **पतन्ति**—गिर जाते हैं; **नरके**—नरक में; **अशुचौ**—अपवित्र।

इस प्रकार अनेक चिन्ताओं से उद्विग्न होकर तथा मोहजाल में बँधकर वे इन्द्रियभोग में अत्यधिक आसक्त हो जाते हैं और नरक में गिरते हैं।

तात्पर्य : आसुरी व्यक्ति धन अर्जित करने की इच्छा की कोई सीमा नहीं जानता। उसकी इच्छा असीम बनी रहती है। वह केवल यही सोचता रहता है कि उसके पास इस समय कितनी सम्पत्ति है और ऐसी योजना बनाता है कि सम्पत्ति का संग्रह बढ़ता ही जाय। इसीलिए वह किसी भी पापपूर्ण साधन को अपनाने में झिझकता नहीं और अवैध तृप्ति के लिए कालाबाजारी करता है। वह पहले से अपनी अधिकृत सम्पत्ति, यथा भूमि, परिवार, घर तथा बैंक पूँजी पर मुग्ध रहता है और उनमें वृद्धि के लिए सदैव योजनाएँ बनाता रहता है। *उसे अपनी शक्ति पर ही विश्वास रहता है और वह यह नहीं जानता* कि उसे जो लाभ हो रहा है वह उसके पूर्वजन्म के पुण्यकर्मों का फल है। उसे ऐसी *वस्तुओं का संचय करने का अवसर इसीलिए मिला है, लेकिन उसे पूर्वजन्म के कारणों* का कोई बोध नहीं होता। वह यही सोचता है कि उसकी सारी सम्पत्ति उसके निजी उद्योग से है। आसुरी व्यक्ति अपने बाहु-बल पर विश्वास करता है, कर्म के नियम पर नहीं। कर्म-नियम के अनुसार पूर्वजन्म में उत्तम कर्म करने के फलस्वरूप मनुष्य उच्चकुल में जन्म लेता है, या धनवान बनता है या सुशिक्षित बनता है, या बहुत सुन्दर शरीर प्राप्त करता है। आसुरी व्यक्ति सोचता है कि ये चीजें आकस्मिक हैं और उसके बाहुबल (सामर्थ्य) के फलस्वरूप हैं। उसे विभिन्न प्रकार के लोगों, सुन्दरता तथा शिक्षा के पीछे किसी प्रकार की योजना (व्यवस्था) नहीं प्रतीत होती। ऐसे आसुरी मनुष्य की प्रतियोगिता में जो भी सामने आता है, वह उसका शत्रु बन जाता है। ऐसे अनेक आसुरी व्यक्ति होते हैं और इनमें से प्रत्येक अन्यों का शत्रु होता है। यह शत्रुता पहले मनुष्यों के बीच, फिर परिवारों के बीच, तब समाजों में और अन्ततः राष्ट्रों के बीच बढ़ती जाती है। अतएव विश्वभर में निरन्तर संघर्ष, युद्ध तथा शत्रुता बनी हुई है।

प्रत्येक आसुरी व्यक्ति सोचता है कि वह अन्य सभी लोगों की बलि करके रह सकता है। सामान्यतया ऐसा व्यक्ति स्वयं को परम ईश्वर मानता है और आसुरी उपदेशक अपने अनुयायियों से कहता है कि, "तुम लोग ईश्वर को अन्यत्र क्यों ढूँढ रहे हो? तुम स्वयं अपने ईश्वर हो! तुम जो चाहो सो कर सकते हो। ईश्वर पर विश्वास मत करो। ईश्वर को दूर करो। ईश्वर मृत है।" ये ही आसुरी लोगों के उपदेश हैं।

यद्यपि आसुरी मनुष्य अन्यों को अपने ही समान या अपने से बढ़कर धनी तथा प्रभावशाली देखता है, तो भी वह सोचता है कि उससे बढ़कर न तो कोई धनी है और न प्रभावशाली। जहाँ तक उच्चलोकों में जाने की बात है वे यज्ञों को सम्पन्न करने में विश्वास नहीं करते। वे सोचते हैं कि वे अपनी यज्ञ-विधि का निर्माण करेंगे और कोई ऐसी मशीन बना लेंगे जिससे वे किसी भी उच्चलोक तक पहुँच जाएँगे। ऐसे आसुरी व्यक्ति का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण रावण था। उसने लोगों के समक्ष ऐसी योजना प्रस्तुत की थी, जिसके द्वारा वह एक ऐसी सीढ़ी बनाने वाला था, जिससे कोई भी व्यक्ति वेदों में वर्णित यज्ञों को सम्पन्न किये बिना स्वर्गलोक को जा सकता था। उसी प्रकार से आधुनिक युग के ऐसे ही आसुरी लोग यान्त्रिक विधि से उच्चतर लोकों तक पहुँचने

का प्रयास कर रहे हैं। ये सब मोह के उदाहरण हैं। परिणाम यह होता है कि बिना जाने हुए वे नरक की ओर बढ़ते जाते हैं। यहाँ पर *मोहजाल* शब्द अत्यन्त सार्थक है। जाल का तात्पर्य है मनुष्य मछली की भाँति मोह रूपी जाल में फँस कर उससे निकल नहीं पाता।

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ १७॥

आत्म-सम्भाविताः—अपने को श्रेष्ठ मानने वाले; **स्तब्धाः**—घमण्डी; **धन-मान**—धन तथा झूठी प्रतिष्ठा के; **मद**—मद में; **अन्विताः**—लीन; **यजन्ते**—यज्ञ करते हैं; **नाम**—नाम मात्र के लिए; **यज्ञैः**—यज्ञों के द्वारा; **ते**—वे; **दम्भेन**—घमंड से; **अविधि-पूर्वकम्**—विधि-विधानों का पालन किये बिना।

अपने को श्रेष्ठ मानने वाले तथा सदैव घमंड करने वाले, सम्पत्ति तथा मिथ्या प्रतिष्ठा से मोहग्रस्त लोग किसी विधि-विधान का पालन न करते हुए कभी-कभी नाममात्र के लिए बड़े ही गर्व के साथ यज्ञ करते हैं।

तात्पर्य : अपने को सब कुछ मानते हुए, किसी प्रमाण या शास्त्र की परवाह न करके आसुरी लोग कभी-कभी तथाकथित धार्मिक या याज्ञिक अनुष्ठान करते हैं। चूँकि वे किसी प्रमाण में विश्वास नहीं करते, अतएव वे अत्यन्त घमंडी होते हैं। थोड़ी सी सम्पत्ति तथा झूठी प्रतिष्ठा पा लेने के कारण जो मोह (भ्रम) उत्पन्न होता है, उसी के कारण ऐसा होता है। कभी-कभी ऐसे असुर उपदेशक की भूमिका निभाते हैं, लोगों को भ्रान्त करते हैं और धार्मिक सुधारक या ईश्वर के अवतारों के रूप में प्रसिद्ध हो जाते हैं। वे यज्ञ करने का दिखावा करते हैं, या देवताओं की पूजा करते हैं, या अपने निजी ईश्वर की सृष्टि करते हैं। सामान्य लोग उनका प्रचार ईश्वर कह कर करते हैं, उन्हें पूजते हैं और मूर्ख लोग उन्हें धर्म या आध्यात्मिक ज्ञान के सिद्धान्तों में बढ़ा-चढ़ा मानते हैं। वे संन्यासी का वेश धारण कर लेते हैं और उस वेश में सभी प्रकार का अधर्म करते हैं। वास्तव में इस संसार से विरक्त होने वाले पर अनेक प्रतिबन्ध होते हैं। लेकिन ये असुर इन प्रतिबन्धों की परवाह नहीं करते। वे सोचते हैं जो भी मार्ग बना लिया जाय, वही अपना मार्ग है। उनके समक्ष आदर्श मार्ग जैसी कोई वस्तु नहीं, जिस पर चला जाय। यहाँ पर *अविधिपूर्वकम्* शब्द पर बल दिया गया है जिसका अर्थ है विधि-विधानों की परवाह न करते हुए। ये सारी बातें सदैव अज्ञान तथा मोह के कारण होती हैं।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ १८॥

अहङ्कारम्—मिथ्या अभिमान; **बलम्**—बल; **दर्पम्**—घमंड; **कामम्**—काम, विषयभोग; **क्रोधम्**—क्रोध; **च**—भी; **संश्रिताः**—शरणागत, आश्रय लेते हुए; **माम्**—मुझको; **आत्म**—अपने; **पर**—तथा पराये; **देहेषु**—शरीरों में; **प्रद्विषन्तः**—निन्दा करते हुए; **अभ्यसूयकाः**—ईर्ष्यालु।

मिथ्या अहंकार, बल, दर्प, काम तथा क्रोध से मोहित होकर आसुरी व्यक्ति अपने

शरीर में तथा अन्यों के शरीर में स्थित भगवान् से ईर्ष्या और वास्तविक धर्म की निन्दा करने लगते हैं।

तात्पर्य : आसुरी व्यक्ति भगवान् की श्रेष्ठता का विरोधी होने के कारण शास्त्रों में विश्वास करना पसन्द नहीं करता। वह शास्त्रों तथा भगवान् के अस्तित्व इन दोनों से ही ईर्ष्या करता है। यह ईर्ष्या उसकी तथाकथित प्रतिष्ठा तथा धन एवं शक्ति के संग्रह से उत्पन्न होती है। वह यह नहीं जानता कि वर्तमान जीवन अगले जीवन की तैयारी है। इसे न जानते हुए वह वास्तव में अपने प्रति तथा अन्यों के प्रति भी द्वेष करता है। वह अन्य जीवधारियों की तथा स्वयं अपनी हिंसा करता है। वह भगवान् के परम नियन्त्रण की चिन्ता नहीं करता, क्योंकि उसे ज्ञान नहीं होता। शास्त्रों तथा भगवान् से ईर्ष्या करने के कारण वह ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध झूठे तर्क प्रस्तुत करता है और शास्त्रीय प्रमाण को अस्वीकार करता है। वह प्रत्येक कार्य में अपने को स्वतन्त्र तथा शक्तिमान मानता है। वह सोचता है कि कोई भी शक्ति, बल या सम्पत्ति में उसकी समता नहीं कर सकता, अतः वह चाहे जिस तरह कर्म करे, उसे कोई रोक नहीं सकता। यदि उसका कोई शत्रु उसे ऐन्द्रिय कार्यों में आगे बढ़ने से रोकता है, तो वह उसे अपनी शक्ति से छिन्न-भिन्न करने की योजनाएँ बनाता है।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥१९॥

तान्–उन, अहम्–मैं, द्विषतः–ईर्ष्यालु, क्रूरान्–शरारती लोगों को, संसारेषु–भवसागर में; नर-अधमान्–अधम मनुष्यों को; क्षिपामि–डालता हूँ, अजस्रम्–सदैव; अशुभान्–अशुभ, आसुरीषु–आसुरी, एव–निश्चय ही, योनिषु–गर्भ में।

जो लोग ईर्ष्यालु तथा क्रूर हैं और नराधम हैं, उन्हें मैं निरन्तर विभिन्न आसुरी योनियों में, भवसागर में डालता रहता हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट इंगित हुआ है कि किसी जीव को किसी विशेष शरीर में रखने का परमेश्वर को विशेष अधिकार प्राप्त है। आसुरी लोग भले ही भगवान् की श्रेष्ठता को न स्वीकार करें और वे अपनी निजी सनकों के अनुसार कर्म करें, लेकिन उनका अगला जन्म भगवान् के निर्णय पर निर्भर करेगा, उन पर नहीं। *श्रीमद्भागवत* के तृतीय स्कंध में कहा गया है कि मृत्यु के बाद जीव को माता के गर्भ में रखा जाता है, जहाँ उच्च शक्ति के निरीक्षण में उसे विशेष प्रकार का शरीर प्राप्त होता है। यही कारण है कि संसार में जीवों की इतनी योनियाँ प्राप्त होती हैं—यथा पशु, कीट, मनुष्य आदि। ये सब परमेश्वर द्वारा व्यवस्थित हैं। ये अकस्मात् नहीं आईं। जहाँ तक असुरों की बात है, यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि ये असुरों के गर्भ में निरन्तर रखे जाते हैं। इस प्रकार ये ईर्ष्यालु बने रहते हैं और मानवों में अधम हैं। ऐसे आसुरी योनि वाले मनुष्य सदैव काम से पूरित रहते हैं, सदैव उग्र, घृणास्पद तथा अपवित्र होते हैं। जंगलों के अनेक शिकारी मनुष्य आसुरी योनि से सम्बन्धित माने जाते हैं।

का प्रयास कर रहे हैं। ये सब मोह के उदाहरण हैं। परिणाम यह होता है कि बिना जाने हुए वे नरक की ओर बढ़ते जाते हैं। यहाँ पर *मोहजाल* शब्द अत्यन्त सार्थक है। जाल का तात्पर्य है मनुष्य मछली की भाँति मोह रूपी जाल में फँस कर उससे निकल नहीं पाता।

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥१७॥

आत्म-सम्भाविताः—अपने को श्रेष्ठ मानने वाले; **स्तब्धाः**—घमण्डी; **धन-मान**—धन तथा झूठी प्रतिष्ठा के; **मद**—मद में; **अन्विताः**—लीन; **यजन्ते**—यज्ञ करते हैं; **नाम**—नाम मात्र के लिए; **यज्ञैः**—यज्ञों के द्वारा; **ते**—वे; **दम्भेन**—घमंड से; **अविधि-पूर्वकम्**—विधि-विधानों का पालन किये बिना।

अपने को श्रेष्ठ मानने वाले तथा सदैव घमंड करने वाले, सम्पत्ति तथा मिथ्या प्रतिष्ठा से मोहग्रस्त लोग किसी विधि-विधान का पालन न करते हुए कभी-कभी नाममात्र के लिए बड़े ही गर्व के साथ यज्ञ करते हैं।

तात्पर्य : अपने को सब कुछ मानते हुए, किसी प्रमाण या शास्त्र की परवाह न करके आसुरी लोग कभी-कभी तथाकथित धार्मिक या याज्ञिक अनुष्ठान करते हैं। चूँकि वे किसी प्रमाण में विश्वास नहीं करते, अतएव वे अत्यन्त घमंडी होते हैं। थोड़ी सी सम्पत्ति तथा झूठी प्रतिष्ठा पा लेने के कारण जो मोह (भ्रम) उत्पन्न होता है, उसी के कारण ऐसा होता है। कभी-कभी ऐसे असुर उपदेशक की भूमिका निभाते हैं, लोगों को भ्रान्त करते हैं और धार्मिक सुधारक या ईश्वर के अवतारों के रूप में प्रसिद्ध हो जाते हैं। वे यज्ञ करने का दिखावा करते हैं, या देवताओं की पूजा करते हैं, या अपने निजी ईश्वर की सृष्टि करते हैं। सामान्य लोग उनका प्रचार ईश्वर कह कर करते हैं, उन्हें पूजते हैं और मूर्ख लोग उन्हें धर्म या आध्यात्मिक ज्ञान के सिद्धान्तों में बढ़ा-चढ़ा मानते हैं। वे संन्यासी का वेश धारण कर लेते हैं और उस वेश में सभी प्रकार का अधर्म करते हैं। वास्तव में इस संसार से विरक्त होने वाले पर अनेक प्रतिबन्ध होते हैं। लेकिन ये असुर इन प्रतिबन्धों की परवाह नहीं करते। वे सोचते हैं जो भी मार्ग बना लिया जाय, वही अपना मार्ग है। उनके समक्ष आदर्श मार्ग जैसी कोई वस्तु नहीं, जिस पर चला जाय। यहाँ पर *अविधिपूर्वकम्* शब्द पर बल दिया गया है जिसका अर्थ है विधि-विधानों की परवाह न करते हुए। ये सारी बातें सदैव अज्ञान तथा मोह के कारण होती हैं।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥१८॥

अहङ्कारम्—मिथ्या अभिमान; **बलम्**—बल; **दर्पम्**—घमंड; **कामम्**—काम, विषयभोग; **क्रोधम्**—क्रोध; **च**—भी; **संश्रिताः**—शरणागत, आश्रय लेते हुए; **माम्**—मुझको; **आत्म**—अपने; **पर**—तथा पराये; **देहेषु**—शरीरों में; **प्रद्विषन्तः**—निन्दा करते हुए; **अभ्यसूयकाः**—ईर्ष्यालु।

मिथ्या अहंकार, बल, दर्प, काम तथा क्रोध से मोहित होकर आसुरी व्यक्ति अपने

शरीर में तथा अन्यों के शरीर में स्थित भगवान् से ईर्ष्या और वास्तविक धर्म की निन्दा करने लगते हैं।

तात्पर्य : आसुरी व्यक्ति भगवान् की श्रेष्ठता का विरोधी होने के कारण शास्त्रों में विश्वास करना पसन्द नहीं करता। वह शास्त्रों तथा भगवान् के अस्तित्व इन दोनों से ही ईर्ष्या करता है। यह ईर्ष्या उसकी तथाकथित प्रतिष्ठा तथा धन एवं शक्ति के संग्रह से उत्पन्न होती है। वह यह नहीं जानता कि वर्तमान जीवन अगले जीवन की तैयारी है। इसे न जानते हुए वह वास्तव में अपने प्रति तथा अन्यों के प्रति भी द्वेष करता है। वह अन्य जीवधारियों की तथा स्वयं अपनी हिंसा करता है। वह भगवान् के परम नियन्त्रण की चिन्ता नहीं करता, क्योंकि उसे ज्ञान नहीं होता। शास्त्रों तथा भगवान् से ईर्ष्या करने के कारण वह ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध झूठे तर्क प्रस्तुत करता है और शास्त्रीय प्रमाण को अस्वीकार करता है। वह प्रत्येक कार्य में अपने को स्वतन्त्र तथा शक्तिमान मानता है। वह सोचता है कि कोई भी शक्ति, बल या सम्पत्ति में उसकी समता नहीं कर सकता, अतः वह चाहे जिस तरह कर्म करे, उसे कोई रोक नहीं सकता। यदि उसका कोई शत्रु उसे ऐन्द्रिय कार्यों में आगे बढ़ने से रोकता है, तो वह उसे अपनी शक्ति से छिन्न-भिन्न करने की योजनाएँ बनाता है।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १९॥

तान्–उन; **अहम्**–मैं; **द्विषतः**–ईर्ष्यालु, **क्रूरान्**–शरारती लोगों को, **संसारेषु**–भवसागर में, **नर-अधमान्**–अधम मनुष्यों को, **क्षिपामि**–डालता हूँ; **अजस्रम्**–सदैव; **अशुभान्**–अशुभ, **आसुरीषु**–आसुरी, **एव**–निश्चय ही, **योनिषु**–गर्भ में।

जो लोग ईर्ष्यालु तथा क्रूर हैं और नराधम हैं, उन्हें मैं निरन्तर विभिन्न आसुरी योनियों में, भवसागर में डालता रहता हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट इंगित हुआ है कि किसी जीव को किसी विशेष शरीर में रखने का परमेश्वर को विशेष अधिकार प्राप्त है। आसुरी लोग भले ही भगवान् की श्रेष्ठता को न स्वीकार करें और वे अपनी निजी सनकों के अनुसार कर्म करें, लेकिन उनका अगला जन्म भगवान् के निर्णय पर निर्भर करेगा, उन पर नहीं। *श्रीमद्भागवत* के तृतीय स्कंध में कहा गया है कि मृत्यु के बाद जीव को माता के गर्भ में रखा जाता है, जहाँ उच्च शक्ति के निरीक्षण में उसे विशेष प्रकार का शरीर प्राप्त होता है। यही कारण है कि संसार में जीवों की इतनी योनियाँ प्राप्त होती हैं—यथा पशु, कीट, मनुष्य आदि। ये सब परमेश्वर द्वारा व्यवस्थित हैं। ये अकस्मात् नहीं आईं। जहाँ तक असुरों की बात है, यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि ये असुरों के गर्भ में निरन्तर रखे जाते हैं। इस प्रकार ये ईर्ष्यालु बने रहते हैं और मानवों में अधम हैं। ऐसे आसुरी योनि वाले मनुष्य सदैव काम से पूरित रहते हैं, सदैव उग्र, घृणास्पद तथा अपवित्र होते हैं। जंगलों के अनेक शिकारी मनुष्य आसुरी योनि से सम्बन्धित माने जाते हैं।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥२०॥

आसुरीम्—आसुरी; **योनिम्**—योनि को; **आपन्नाः**—प्राप्त हुए; **मूढाः**—मूर्ख; **जन्मनि जन्मनि**—जन्मजन्मान्तर में; **माम्**—मुझ को; **अप्राप्य**—पाये विना; **एव**—निश्चय ही; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **ततः**—तत्पश्चात्; **यान्ति**—जाते हैं; **अधमाम्**—अधम, निन्दित; **गतिम्**—गन्तव्य को।

हे कुन्तीपुत्र! ऐसे व्यक्ति आसुरी योनि में वारम्वार जन्म ग्रहण करते हुए कभी भी मुझ तक पहुँच नहीं पाते। वे धीरे-धीरे अत्यन्त अधम गति को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य : यह विख्यात है कि ईश्वर अत्यन्त दयालु हैं, लेकिन यहाँ पर हम देखते हैं कि वे असुरों पर कभी भी दया नहीं करते। यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि आसुरी लोगों को जन्मजन्मान्तर तक उनके समान असुरों के गर्भ में रखा जाता है और ईश्वर की कृपा प्राप्त न होने से उनका अधःपतन होता रहता है, जिससे अन्त में उन्हें कुत्तों, विल्लियों तथा सूकरों जैसा शरीर मिलता है। यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि ऐसे असुर जीवन की किसी भी अवस्था में ईश्वर की कृपा के भाजन नहीं वन पाते। *वेदों* में भी कहा गया है कि ऐसे व्यक्ति अधःपतन होने पर कूकर-सूकर वनते हैं। इस प्रसंग में यह तर्क किया जा सकता है कि यदि ईश्वर ऐसे असुरों पर कृपालु नहीं हैं तो उन्हें सर्वकृपालु क्यों कहा जाता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि *वेदान्तसूत्र* से पता चलता है कि परमेश्वर किसी से घृणा नहीं करते। असुरों को निम्नतम (अधम) योनि में रखना उनकी कृपा की अन्य विशेषता है। कभी-कभी परमेश्वर असुरों का वध करते हैं, लेकिन यह वध भी उनके लिए कल्याणकारी होता है, क्योंकि वैदिक साहित्य से पता चलता है कि जिस किसी का वध परमेश्वर द्वारा होता है, उसको मुक्ति मिल जाती है। इतिहास में ऐसे असुरों के अनेक उदाहरण प्राप्त हैं—यथा रावण, कंस, हिरण्यकशिपु, जिन्हें मारने के लिए भगवान् ने विविध अवतार धारण किये। अतएव असुरों पर ईश्वर की कृपा तभी होती है, जव वे इतने भाग्यशाली होते हैं कि ईश्वर उनका वध करें।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥२१॥

त्रिविधम्—तीन प्रकार का; **नरकस्य**—नरक का; **इदम्**—यह; **द्वारम्**—द्वार; **नाशनम्**—विनाशकारी; **आत्मनः**—आत्मा का; **कामः**—काम; **क्रोधः**—क्रोध; **तथा**—और; **लोभः**—लोभ; **तस्मात्**—अतएव; **एतत्**—इन; **त्रयम्**—तीनों को; **त्यजेत्**—त्याग देना चाहिए।

इस नरक के तीन द्वार हैं—काम, क्रोध तथा लोभ। प्रत्येक वुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि इन्हें त्याग दे, क्योंकि इनसे आत्मा का पतन होता है।

तात्पर्य : यहाँ पर आसुरी जीवन आरम्भ होने का वर्णन हुआ है। मनुष्य अपने काम को तुष्ट करना चाहता है, किन्तु जव उसे पूरा नहीं कर पाता तो क्रोध तथा लोभ उत्पन्न होता है। जो वुद्धिमान मनुष्य आसुरी योनि में नहीं गिरना चाहता, उसे चाहिए कि वह

इन तीनों शत्रुओं का परित्याग कर दे, क्योंकि ये आत्मा का हनन इस हद तक कर देते हैं कि इस भवबन्धन से मुक्ति की सम्भावना नहीं रह जाती।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥२२॥

एतैः–इनसे; विमुक्तः–मुक्त होकर; कौन्तेय–हे कुन्तीपुत्र; तमः-द्वारैः–अज्ञान के द्वारों से, त्रिभिः–तीन प्रकार के; नरः–व्यक्ति; आचरति–करता है; आत्मनः–अपने लिए; श्रेयः–मंगल, कल्याण, ततः–तत्पश्चात्; याति–जाता है; पराम्–परम, गतिम्–गन्तव्य को।

हे कुन्तीपुत्र! जो व्यक्ति इन तीनों नरक-द्वारों से बच पाता है, वह आत्म-साक्षात्कार के लिए कल्याणकारी कार्य करता है और इस प्रकार क्रमशः परम गति को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : मनुष्य को मानव-जीवन के तीन शत्रुओं–काम, क्रोध तथा लोभ–से अत्यन्त सावधान रहना चाहिए। जो व्यक्ति जितना ही इन तीनों से मुक्त होगा, उतना ही उसका जीवन शुद्ध होगा। तब वह वैदिक साहित्य में आदिष्ट विधि-विधानों का पालन कर सकता है। इस प्रकार मानव जीवन के विधि-विधानों का पालन करते हुए वह अपने आपको धीरे-धीरे आत्म-साक्षात्कार के पद पर प्रतिष्ठित कर सकता है। यदि वह इतना भाग्यशाली हुआ कि इस अभ्यास से कृष्णभावनामृत के पद तक उठ सके तो उसकी सफलता निश्चित है। वैदिक साहित्य में कर्म तथा कर्मफल की विधियों का आदेश है, जिससे मनुष्य शुद्धि की अवस्था (संस्कार) तक पहुँच सके। सारी विधि काम, क्रोध तथा लोभ के परित्याग पर आधारित है। इस विधि का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के उच्चपद तक उठ सकता है और इस आत्म-साक्षात्कार की पूर्णता भक्ति में है। *भक्ति में बद्धजीव की मुक्ति निश्चित है। इसीलिए वैदिक पद्धति के अनुसार चार* आश्रमों तथा चार वर्णों का विधान किया गया है। विभिन्न जातियों (वर्णों) के लिए विभिन्न विधि-विधानों की व्यवस्था है। यदि मनुष्य उनका पालन कर पाता है, तो वह स्वतः ही आत्म-साक्षात्कार के सर्वोच्चपद को प्राप्त कर लेता है। तब उसकी मुक्ति में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥२३॥

यः–जो, शास्त्र-विधिम्–शास्त्रों की विधियों को, उत्सृज्य–त्याग कर, वर्तते–करता रहता है, काम-कारतः–काम के वशीभूत होकर मनमाने ढग से, न–कभी नहीं, सः–वह, सिद्धिम्–सिद्धि को, अवाप्नोति–प्राप्त करता है, न–कभी नहीं, सुखम्–सुख को, न–कभी नहीं, पराम्–परम, गतिम्–सिद्ध अवस्था को।

जो शास्त्रों के आदेशों की अवहेलना करता है और मनमाने ढंग से कार्य करता है, उसे न तो सिद्धि, न सुख, न ही परमगति की प्राप्ति हो पाती है।

तात्पर्य : जैसा कि पहले कहा जा चुका है मानव समाज के विभिन्न आश्रमों

के लिए शास्त्रविधि दी गयी है। प्रत्येक व्यक्ति को इन विधि-विधानों का पालन करना होता है। यदि कोई इनका पालन न करके काम, क्रोध और लोभवश स्वेच्छा से कार्य करता है, तो उसे जीवन में कभी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में, भले ही मनुष्य ये सारी बातें सिद्धान्त के रूप में जानता रहे, लेकिन यदि वह इन्हें अपने जीवन में नहीं उतार पाता, तो वह अधम जाना जाता है। मनुष्ययोनि में जीव से आशा की जाती है कि वह बुद्धिमान बने और सर्वोच्चपद तक जीवन को ले जाने वाले विधानों का पालन करे। किन्तु यदि वह इनका पालन नहीं करता, तो उसका अधःपतन हो जाता है। लेकिन फिर भी जो विधि-विधानों तथा नैतिक सिद्धान्तों का पालन करता है, किन्तु अन्ततोगत्वा परमेश्वर को समझ नहीं पाता, तो उसका सारा ज्ञान व्यर्थ जाता है। और यदि वह ईश्वर के अस्तित्व को मान भी ले, किन्तु यदि वह भगवान् की सेवा नहीं करता, तो भी उसके प्रयास निष्फल हो जाते हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि अपने आप को कृष्णभावनामृत तथा भक्ति के पद तक ऊपर ले जाये। तभी वह परम सिद्धावस्था को प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं।

काम-कारतः शब्द अत्यन्त सार्थक है। जो व्यक्ति जानबूझ कर नियमों का अतिक्रमण करता है, वह काम के वश में होकर कर्म करता है। वह जानता है कि ऐसा करना मना है, लेकिन फिर भी वह ऐसा करता है। इसी को स्वेच्छाचार कहते हैं। यह जानते हुए भी कि अमुक काम करना चाहिए, फिर भी वह उसे नहीं करता है, इसीलिए उसे स्वेच्छाचारी कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति अवश्य ही भगवान् द्वारा दंडित होते हैं। ऐसे व्यक्तियों को मनुष्य जीवन की सिद्धि प्राप्त नहीं हो पाती। मनुष्य जीवन तो अपने आपको शुद्ध बनाने के लिए है, किन्तु जो व्यक्ति विधि-विधानों का पालन नहीं करता, वह अपने को न तो शुद्ध बना सकता है, न ही वास्तविक सुख प्राप्त कर सकता है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ २४॥

तस्मात्–इसलिए; **शास्त्रम्**–शास्त्र; **प्रमाणम्**–प्रमाण; **ते**–तुम्हारा; **कार्य**–कर्तव्य; **अकार्य**–निषिद्ध कर्म; **व्यवस्थितौ**–निश्चित करने में; **ज्ञात्वा**–जानकर; **शास्त्र**–शास्त्र का; **विधान**–विधान; **उक्तम्**–कहा गया; **कर्म**–कर्म; **कर्तुम्**–करना; **इह**–इस संसार में; **अर्हसि**–तुम्हें चाहिए।

अतएव मनुष्य को यह जानना चाहिए कि शास्त्रों के विधान के अनुसार क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है। उसे ऐसे विधि-विधानों को जानकर कर्म करना चाहिए जिससे वह क्रमशः ऊपर उठ सके।

तात्पर्य : जैसा कि पन्द्रहवें अध्याय में कहा जा चुका है वेदों के सारे विधि-विधान कृष्ण को जानने के लिए हैं। यदि कोई *भगवद्गीता* से कृष्ण को जान लेता है और भक्ति में प्रवृत्त होकर कृष्णभावनामृत को प्राप्त होता है, तो वह वैदिक साहित्य द्वारा प्रदत्त ज्ञान की चरम सिद्धि तक पहुँच जाता है। भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने इस विधि को अत्यन्त सरल बनाया–उन्होंने लोगों से केवल *हरे कृष्ण* महामन्त्र जपने तथा भगवान् की भक्ति में प्रवृत्त होने और अर्चाविग्रह को अर्पित भोग का उच्छिष्ट खाने के लिए कहा। जो

व्यक्ति इन भक्तिकार्यों में संलग्न रहता है, उसे वैदिक साहित्य से अवगत और सारतत्त्व को प्राप्त हुआ माना जाता है। निस्सन्देह, उन सामान्य व्यक्तियों के लिए, जो कृष्णभावनाभावित नहीं हैं, या भक्ति में प्रवृत्त नहीं हैं, करणीय तथा अकरणीय कर्म का निर्णय वेदों के आदेशों के अनुसार किया जाना चाहिए। मनुष्य को तर्क किये विना तदनुसार कर्म करना चाहिए। इसी को शास्त्र के नियमों का पालन करना कहा जाता है। शास्त्रों में ये चार मुख्य दोष नहीं पाये जाते, जो बद्धजीव में होते हैं। ये हैं–अपूर्ण इन्द्रियाँ, कपटता, त्रुटि करना तथा मोहग्रस्त होना। इन चार दोषों के कारण बद्धजीव विधि-विधान बनाने के लिए अयोग्य होता है, अतएव विधि-विधान, जिनका उल्लेख शास्त्र में होता है जो इन दोषों से परे होते हैं, सभी बड़े-बड़े महात्माओं, आचार्यों तथा महापुरुषों द्वारा बिना किसी परिवर्तन के स्वीकार कर लिए जाते हैं।

भारत में आध्यात्मिक विद्या के कई दल हैं, जिन्हें प्रायः दो श्रेणियों में रखा जाता है–निराकारवादी तथा साकारवादी। दोनों ही दल वेदों के नियमों के अनुसार अपना जीवन बिताते हैं। शास्त्रों के नियमों का पालन किये बिना कोई सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव जो शास्त्रों के तात्पर्य को वास्तव में समझता है, वह भाग्यशाली माना जाता है।

मानवसमाज में समस्त पतनों का मुख्य कारण भागवतविद्या के नियमों के प्रति द्वेष है। यह मानवजीवन का सर्वोच्च अपराध है। अतएव भगवान् की भौतिक शक्ति अर्थात् माया त्रयतापों के रूप में हमें सदैव कष्ट देती रहती है। यह भौतिक शक्ति प्रकृति के तीन गुणों से बनी है। इसके पूर्व कि भगवान् के ज्ञान का मार्ग खुले, मनुष्य को कम से कम सतोगुण तक ऊपर उठना होता है। सतोगुण तक उठे बिना वह तमो तथा रजोगुणों में रहता है, जो आसुरी जीवन के कारणस्वरूप हैं। रजो तथा तमोगुणी व्यक्ति शास्त्रों, पवित्र मनुष्यों तथा भगवान् के समुचित ज्ञान की खिल्ली उड़ाते हैं। वे गुरु के आदेशों का उल्लघन करते हैं और शास्त्रों के विधानों की परवाह नहीं करते। वे भक्ति की महिमा का श्रवण करके भी उसके प्रति आकृष्ट नहीं होते। इस प्रकार वे अपनी उन्नति का अपना निजी मार्ग बनाते हैं। मानव समाज के ये ही कतिपय दोष हैं, जिनके कारण आसुरी जीवन बिताना पड़ता है। किन्तु यदि उपयुक्त तथा प्रामाणिक गुरु का मार्गदर्शन प्राप्त हो जाता है, तो उसका जीवन सफल हो जाता है क्योंकि गुरु उच्चपद की ओर उन्नति का मार्ग दिखा सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय "दैवी तथा आसुरी स्वभाव" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।